आज का भारत

रजनी पाम दत्त

Purchased at Delhi
Feb- March — 1987

आज का भारत

आज का भारत

रजनी पाम दत्त

अनुवाद : आनंदस्वरूप वर्मा

मैकमिलन इंडिया लिमिटेड
दिल्ली बंबई मद्रास पटना
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

"इंडिया टुडे" का अनुवाद

प्रथम हिंदी संस्करण 1977
पुनर्मुद्रण 1985

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रवर्तित

एस जी वसानी द्वारा मैकमिलन इंडिया लिमिटेड 2/10 अंसारी रोड,
नई दिल्ली 110 002 के लिए प्रकाशित तथा कोणार्क प्रेस,
लक्ष्मीनगर दिल्ली 110 092 में मुद्रित

Rajani Palmedutt : AAJ KA BHARAT

मेरे पिता

उपेंद्र कृष्ण दत्त की स्मृति को

(जन्म : कलकत्ता, भारत, 17 अक्तूबर 1857

मृत्यु : लेदरहेड, इंग्लैंड, 12 मई 1939)

जिन्होंने मुझे राजनीतिक समझ का

पहला पाठ पढ़ाया, भारतीय जनता

और आजादी के लिए संघर्षरत

सारी जनता को प्यार

करना सिखाया.

अनुसंधान परिषद की ओर से

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के अनेक उद्देश्यों में एक है शोध की उपलब्धियों को उस पाठकवर्ग तक पहुंचाना जो हमसे यह अपेक्षा रखता है कि हम भारतीय भाषाओं में इतिहास संबंधी रचनाएं तैयार तथा प्रकाशित करें। अंगरेजी भाषा के माध्यम से भारतीय इतिहासविद अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पहुंच सकते हैं, नाम और प्रतिष्ठा अर्जित कर सकते हैं, किंतु भारतीय पाठकवर्ग का यह छोटा अंश ही इससे लाभ उठा पाता है। शिक्षण और अनुसंधान के माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग की प्रकृति बल पकड़ रही है। ऐसी स्थिति में इतिहास की स्तरीय पुस्तकों की कमी गंभीर रूप से अनुभव की जा रही है। सबसे पहले हमें भारतीय इतिहास की ओर ध्यान देना है। अतः भा०इ०अ० प० ने कुछ गौरवग्रंथों (क्लासिक्स) तथा इतिहास विषयक शोध की निर्दोष पद्धतियों पर आधृत और इतिहास की समकालीन प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करने वाली कुछ अन्य पुस्तकों का अनुवाद कराने का निश्चय किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'आज का भारत' मार्क्सवादी इतिहास लेखन का एक मार्गदर्शक उदाहरण है। इसमें भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की कार्यप्रणाली की प्रकृति का विश्लेषण किया गया है तथा यह दिखाया गया है कि इससे भारत किस तरह ब्रिटिश पूंजीवाद का कृषि-पिछलग्गू बनकर रह गया और भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन कितनी बुरी तरह पिछड़ेपन का शिकार हुआ। इसके साथ ही पुस्तक में स्वाधीनतासंग्राम में सर्वहारावर्ग की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। हालांकि 'आज का भारत' प्रकाशित होने के बाद दत्त का अनुसरण करते हुए अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं फिर भी वे किसी भी रूप में इस पुस्तक से आगे नहीं बढ़ पाई हैं और यह आज भी अपनी तरह का गौरवग्रंथ है।

इस पुस्तक का प्रकाशन पटना यूनिट के प्रयासों का परिणाम है जिसके लिए हम अनुवादक श्री आनंदस्वरूप वर्मा, नगेंद्रप्रसाद वर्मा तथा अन्य सभी सहयोगियों को धन्यवाद ज्ञापन करते हैं।

रामशरण शर्मा
अध्यक्ष
भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद

26 जनवरी 1977
नई दिल्ली

अनुक्रम

खण्ड चार

भारतीय जनता का आंदोलन

खण्ड पांच

साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय मुक्ति

खण्ड छः

निष्कर्ष

1970 के संस्करण की भूमिका

'आज का भारत' पुस्तक को लिखे लगभग तीस वर्ष और भारत में इसे पहली बार प्रकाशित हुए लगभग पच्चीस वर्ष बीत चुके हैं। बीच के इन वर्षों में भारत को आजादी मिलने के साथ साथ नए घटनाक्रमों का एक पूरा युग गुजर चुका है और नई नई खोजों से ऐसे तमाम मसलों पर और भी रोशनी पड़ी है जिनपर इस पुस्तक में विचार करने का काफी हद तक पहली बार प्रयास किया गया था। इसलिए 'आज का भारत' को महज अपने काल की एक ऐतिहासिक कृति के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए जिसमें मार्क्सवादी दृष्टि से भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास का और आजादी मिलने के समय तक भारतीय जनता के संघर्ष का सर्वेक्षण किया गया है जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन और मेहनतकश वर्ग का आंदोलन शामिल है, फिर भी ऐसा लगता है कि इस पुस्तक की मांग आज भी है और इसीलिए 1947 के मूल भारतीय संस्करण का पुन: प्रकाशन किया गया है।

पुस्तक का मूल पाठ वही है जो 1947 के संस्करण में था। इसमें जानबूझकर कोई सुधार या परिवर्तन नहीं किया गया है। हां, उन कुछ अंशों को इस पुस्तक में जरूर शामिल कर लिया गया है जिसे ब्रिटेन में प्रकाशक के सेंसर की वजह से निकाल देना पड़ा था। उन अंशों को यहां पहली बार प्रकाशित किया गया है। इन निकाले गए अंशों के बारे में दो शब्द कहना काफी उपयोगी होगा क्योंकि ये ब्रिटेन में आज भी जारी राजनीतिक सेंसरशिप की एक अद्‌भुत मिसाल पेश करते हैं।

'आज का भारत' की पांडुलिपि मूलत: 1936-39 ई० में लेफ्ट बुक क्लब के लिए लिखी गई थी। इस संस्था की पुस्तकें विक्टर गोलांज प्रकाशित करते थे। पुस्तक लिखने का

अनुबंध 1936 में ही हुआ था पर अंतिम तौर से पांडुलिपि नवंबर 1939 यानी विश्व-युद्ध छिड़ने के बाद तक नहीं दी जा सकी। कारण यह था कि इस पुस्तक के सिलसिले में मुझे बहुत काम करना पड़ा और इसके लिए अपनी व्यस्तताओं के बीच बड़ी मुश्किल से किसी तरह रुक रुक कर समय निकालना पड़ता था। इन वर्षों में मेरे ऊपर अनेक जिम्मेदारियां थीं, मैं उन दिनों 'डेली वर्कर' और 'लेबर मंथली' का संपादन करता था, कम्युनिस्ट पार्टी की पोलिट ब्यूरो का सदस्य था, 1937 के प्रारंभ में गठित क्रिप्स, बेवन, मैक्सटन, ब्राकवे, और पालिट के साथ संयुक्त मोर्चा समिति में मैं शामिल था और विभिन्न चरणों में इसकी नियमित बैठक चला करती थी। साथ ही मैं कुछ अन्य गति-विधियों में भी लगा था। चैंबरलेन डेलेडियर के कृत्रिम युद्ध का हमने विश्लेषण किया और उसके साम्राज्यवादी चरित्र का उद्‌घाटन किया. जिसके कारण गोलांज ने अक्तूबर से कम्युनिस्ट पार्टी के साथ अपना संबंध तोड़ लिया। नतीजा यह हुआ कि वे इस पुस्तक को प्रकाशित करने से कतराने लगे पर मैंने उन्हें अनुबंध की याद दिलाई। इसपर उन्होंने कहा कि इसे प्रकाशित करना कानूनी तौर से बेहद खतरनाक है। मैंने उन्हें बतलाया कि यह किताब कानूनी तौर पर प्रसारित होने के लिए लिखी गई है और मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे आपत्तिजनक अंशों पर निशान लगा दें ताकि वैधानिक दृष्टि से जहां सुधार करना जरूरी हो, मैं कर दूं। फिर उन्होंने मेरी पांडुलिपि अपने वकील के पास भेज दी। उनके वकील ने पूरी पुस्तक देखने के बाद बताया कि पुस्तक का एक भी अंश ऐसा नहीं है जो कानून की दृष्टि से आपत्तिजनक हो, हालांकि इसमें कोई संदेह नहीं कि पुस्तक का संपूर्ण प्रभाव बेहद उत्तेजना पैदा करने वाला है ('इसका सीधा उद्देश्य जनमत को इस सीमा तक भड़काना है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य का तख्ता पलटने का प्रयास करे')। अपने वकील द्वारा पुस्तक के एक भी अंश को या एक भी वाक्य को कानूनी तौर से आपत्तिजनक न बताने पर गोलांज ने यह काम स्वयं करने का निश्चय किया और जिन अंशों को वह प्रकाशन के लिए खतरनाक समझते थे उनपर उन्होंने लाल पैंसिल से निशान लगा दिया। जितनी बार 'क्रांति' शब्द का इस्तेमाल हुआ था उनकी पैंसिल इस शब्द को घेर कर निशान बनाती रही, यहां तक कि एक जगह इंग्लैंड के संदर्भ में 18वीं सदी की 'औद्योगिक क्रांति' की बात जहां लिखी थी वहां भी क्रांति शब्द पर उन्होंने निशान लगा दिया। हम दोनों पांडुलिपि सामने रखकर दिन भर विचार विमर्श करते रहे, हर चिह्नित अंश को ज्यों का त्यों रखने के लिए मुझे कठिन संघर्ष करना पड़ा लेकिन तकरीबन एक सौ ऐसे स्थल थे जिन्हें बदलने के लिए मुझे मजबूर होना पड़ा ताकि मैं पुस्तक का प्रकाशन कर सकूं। इसलिए अब तक प्रकाशित पाठ में बार बार 'रूप परिवर्तन' और 'निर्णायक तबदीलियां' करनी पड़ी हैं।

1947 में इस पुस्तक का दूसरा संशोधित संस्करण भारत में प्रकाशित हुआ। (इस प्रकाशन से पूर्व भारत में इसे कानूनी तौर से प्रकाशित करना संभव नहीं हो सका था हालांकि गैरकानूनी ढंग से इसके कुछ हिस्से या कुछ अंशों के अनुवाद छापकर वितरित किए जा चुके थे) इसमें 1946 तक की घटनाओं को शामिल कर लिया गया और इस

प्रकार पुस्तक को विस्तार दिया गया। 1946 में मैंने भारत की यात्रा की (भारत में मेरे प्रवेश पर लगा प्रतिबंध हटाए जाने के बाद पहली बार) और इस यात्रा के अनुभवों को भी अतिरिक्त सामग्री के रूप में इस संस्करण में शामिल कर लिया गया। लेकिन इन तमाम चीजों को जोड़ने के बावजूद सामान्य तौर से मूल पाठ वही रहने दिया गया जो 1940 के सेंसर किए गए अंगरेजी संस्करण का था।

अब जबकि 1947 के भारतीय संस्करण का पुनर्मुद्रण किया जा रहा है, इसकी तैयारी के दौरान गोलांज को सेंसर के लिए दी जाने से पहले की मूल पांडुलिपि पर और गोलांज द्वारा थोपे गए परिवर्तनों और आपत्तिजनक अंशों पर हाथ लगा सका हूं। तदनुसार, यद्यपि मुद्रण का काम आगे बढ़ रहा था फिर भी यह पता चलते ही मैंने कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किए और कुछ जरूरी अंश पुस्तक में शामिल किए। पुस्तक में ऐसे परिवर्तनों परिवर्धनों की संख्या लगभग पचास है। इस प्रकार वर्तमान संस्करण में पहली बार वे सारे अंश शामिल किए गए हैं जिन्हें अंगरेज प्रकाशक ने सेंसर लागू करके निकाल दिया था।

यहां एक सवाल पूछा जा सकता है कि 1970 में जब यह नया संस्करण प्रकाशित हो रहा है तो मैंने 1946 से 1970 के दौरान की घटनाओं के बारे में लिखने के अवसर का फायदा क्यों नहीं उठाया।

इसका जवाब यह है कि आजादी के बाद से आज के युग के घटनाक्रमों का विकास इतना गंभीर और व्यापक रहा और इस दौरान उत्पन्न समस्याएं इतनी दूरगामी रहीं कि इनपर उचित ढंग से विचार करने के लिए एक सर्वथा नई पुस्तक की जरूरत है, पुरानी किताब को ही जोड़ घटाकर काम नहीं चल सकता। 1946 से 1969 तक की घटनाओं का ब्यौरा प्रस्तुत करने के लिए अंत में जोड़े गए कुछ अध्यायों से साफ पता चल जाता है कि पैबंद लगाया गया है क्योंकि इस पुस्तक में विवेचित अधिकांश मसले अब पश्च-दृष्टि से प्रभावित होंगे। यह चाहे पूर्ण ज्ञान के जरिए हो अथवा अन्य अनुभवों के जरिए या पुराने प्रश्नों का नए रूपों में रूपांतरण करके किया जाए। परिणामत: 1947 के पाठ को अपनी खामियों और अपूर्णताओं के साथ ज्यों का त्यों रखने में जानबूझकर एक आत्मनिषेधात्मक अध्यादेश का पालन किया गया है।

कुल मिलाकर इस पुस्तक में साम्राज्यवाद के इतिहास और जन आंदोलन के विकास का सामान्य तौर पर जो निरूपण और विश्लेषण किया गया है वह अब तक समय की कसौटी पर खरा उतरा है। लेकिन अनेक विशिष्ट मसले जिनका यहां जिक्र किया गया है, बाद के अनुभवों से प्रभावित हुए हैं या उन्होंने नए रूप धारण किए हैं और उनपर यदि आज लिखा जाए तो उसके लिए एकदम भिन्न ढंग से काम करना होगा। इस सिलसिले में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

पहले गांधी की भूमिका को ही लें। गांधी की भूमिका का समान रूप से सकारात्मक और नकारात्मक चरित्र कुल मिलाकर बाद के ऐतिहासिक शोध और विवेचन के परीक्षण पर आधारित है। राष्ट्रीय आंदोलन और कांग्रेस के समूचे स्तर को पहले के संकीर्ण दायरे से उठाकर राष्ट्रव्यापी जन आंदोलन के स्तर तक पहुंचा देने और अत्यंत पिछड़ी निष्क्रिय जनता के अंदर राष्ट्रीय चेतना का संचार करने एवं संघर्ष के लिए उन्हें प्रेरित करने में गांधी की रचनात्मक भूमिका पर बल दिया जाना ऐसे समय काफी महत्वपूर्ण था जब कुछ वामपंथी आलोचक कठमुल्लेपन के साथ गांधी का एकपक्षीय मूल्यांकन करके उन्हें जन आंदोलन का दुश्मन और कभी कभी तो ब्रिटिश एजेंट यानी अंगरेजों का दलाल कहने लगे थे। लेकिन इसी के समानांतर गांधी की नकारात्मक भूमिका पर भी ऐसे समय प्रकाश डालना जरूरी था जब उनके समर्थक उन्हें निरपराध्य संत और पैगंबर के रूप में पेश कर रहे थे (यह प्रवृत्ति आज भी कुछ क्षेत्रों में पाई जाती है)। गांधी की नकारात्मक भूमिका के संदर्भ में देखें तो गांधी ने अहिंसा के नाम पर हमेशा जमींदारों और संपत्तिवान वर्ग के हितों की रक्षा की। सामाजिक तौर से वह घोर रूढ़िवादी थे। जिस किसी जनसंघर्ष की शुरुआत उन्होंने की, उसे उस समय तत्काल रोक दिया जब संघर्ष ने संपत्तिवान वर्ग और साम्राज्यवाद के हितों के विरुद्ध क्रांतिकारी रूप लेना शुरू किया। ऐसे समय गांधी को हमेशा यह भय रहता था कि आंदोलन कहीं जनप्रिय क्रांति का रूप न ले ले। लेकिन चौथे दशक के उत्तरार्ध में, जिस समय यह पुस्तक मूल रूप में लिखी गई, गांधी की भूमिका और नीतियों के मूल्यांकन से संबद्ध मसलों पर काफी बहस चल रही थी। इसीलिए गांधी के चरित्र के बारे में इस पुस्तक में जो विश्लेषण किया गया है वह तथ्य के रूप में सच होने के बावजूद वादविवाद की संभावनाओं से भरपूर है।

आज इस महान ऐतिहासिक व्यक्तित्व का अपेक्षाकृत संतुलित मूल्यांकन करना ज्यादा उचित होगा हालांकि आज भी हमारा विश्लेषण अनिवार्य रूप से उसी पुरानी पद्धति पर ही होगा। इस मूल्यांकन के लिए उनके अंतिम दिनों के कार्यों के उच्च स्तर और श्रेष्ठता को भी ध्यान में रखना होगा जब उन्होंने सार्वजनिक रूप से माउंटबेटन समझौते की भर्त्सना की और कहा कि यह उनके सपनों के स्वराज्य का मजाक है, अपनी जान की परवाह किए बिना खुद को सांप्रदायिक दंगों और नरसंहार की आग बुझाने में लगा दिया, इस आधार पर खुद को कम्युनिस्टों के ज्यादा करीब पाया और अंत में दक्षिणपंथी दुराग्रहियों की गोली के शिकार हुए।

भाषा के प्रश्न पर (पृ० 295-98) '222 पृथक भाषाओं' के साम्राज्यवादी मिथक के खंडन का औचित्य तो बना रहता है लेकिन कांग्रेस सिद्धांत की इस अंतर्निहित स्वीकृति पर कि हिंदी भारत के लिए एक आम भाषा का समाधान प्रस्तुत करेगी, उन कठिनाइयों ने प्रश्नचिह्न लगा दिया है जो इस नीति को लागू करने के दौरान पैदा हुई। और इस अनुच्छेद में प्रस्तुत निष्कर्ष कि 'भारत में भाषाओं की समस्या तकरीबन 12 या 13 विभिन्न भाषाओं की समस्या है', संभवत: सही आकलन के काफी करीब है।

'बहुराष्ट्रवाद और पाकिस्तान' (पृ० 464-81) के प्रश्न पर यह अनुच्छेद, बेशक, ऐसे समय लिखा गया था जब पाकिस्तान अभी एक राजनीतिक योजना का अंग था और एक राष्ट्र के रूप में उसकी स्थापना नहीं हुई थी। उस समय विश्लेषण के जो सामान्य सिद्धांत निर्दिष्ट किए गए थे उनकी दिशा इस प्रकार थी : राजनीतिक क्षेत्र में सांप्रदायिक विभाजन को मजबूत करने तथा राष्ट्रीय आंदोलन को विफल करने एवं उसमें फूट डालने के उद्देश्य से मुस्लिम लीग की स्थापना को प्रोत्साहन देने में साम्राज्यवाद की जिम्मेदारी; व्यवहारतः हिंदूवाद को साथ लेकर राष्ट्रीय प्रचार करने और इस प्रकार हिंदू-मुस्लिम सहयोग पर आघात करने में कांग्रेस के नेतृत्व की जिम्मेदारी; यह मान लिया जाना कि बाद के दौर में मुस्लिम लीग को उल्लेखनीय जनसमर्थन प्राप्त हुआ और भारत के विभाजन की मांग तथा अलग राज्य की स्थापना, विकृत रूप में ही सही, वास्तविक राष्ट्रीय मांग थी जो भारत के बहुराष्ट्रवादी स्वरूप के अनुरूप थी; राष्ट्रीयता को धर्म पर आधारित करने के किसी भी प्रयास की भर्त्सना क्योंकि यह प्रतिक्रियावादी और विभाजनकारी प्रवृत्ति है तथा इससे अनेक नुकसानदेह विनाशकारी दुष्परिणामों की आशंका है।

तब से पाकिस्तान नामक राज्य की स्थापना हो चुकी है; 1956 में उसने 'इस्लामिक गणराज्य' की घोषणा की और आज दो दशकों से भी अधिक समय से उसका अस्तित्व बना हुआ है। तदनुसार नई राज्य सीमाओं के अंदर लोकप्रिय संघर्ष विकसित हुआ है। विश्लेषण के सामान्य सिद्धांतों की वैधता बनी रहती है। पाकिस्तान की स्थापना की बुनियाद कितनी अस्थिर थी और इसका शासन संभालने वाला वर्ग कितना संकीर्ण विचारधारा वाला था, इसका जायजा इन तूफानी वर्षों की घटनाओं तथा निरंतर अशांति एवं दमन, 1958 से लागू मार्शल ला और अयूब खां की सैनिक तानाशाही से मिल जाता है। इस पुस्तक के लिखने के समय तक अयूब खां के पतन और पश्चिमी पाकिस्तान के प्रभुत्व की समाप्ति की मांग को लेकर पूर्वी पाकिस्तान में तेज हो रहे लोकप्रिय आंदोलन के साथ वर्तमान संकट पराकाष्ठा पर पहुंच चुका है।

अंतिम अध्याय 'भविष्य' को मूल के अनुसार ही पुनर्मुद्रित किया गया है। इस अध्याय में स्वतंत्रता की पूर्वसंध्या 1946 में, आजादी की प्राप्ति की भावी स्थितियों का आकलन करने का प्रयास किया गया है और इसलिए यह अध्याय कुछ हद तक अब भी महत्वपूर्ण है। बाद की घटनाओं की रोशनी में देखें तो मुख्य विषयवस्तु का आज भी कुछ महत्व है। प्रथम साम्राज्यवाद द्वारा नेपथ्य से जहां तक हो सके अपना नियंत्रण बनाए रखने की निरंतर कोशिशों का आभास मिलता है। सबसे पहले तो आजादी देने जैसी प्रारंभिक प्रतिबंधक शर्तों के जरिए करने की कोशिश और फिर इन तरीकों के विफल हो जाने पर ब्रिटिश वित्तीय पूंजी के संचालन की रक्षा करने और यहां तक कि उसके क्षेत्र का इस आशा के साथ विस्तार करने की कोशिश कि 'भले ही अब भारतीय ध्वज फहराता हो पर इस नए युग में वास्तविक सारांश और शोषण से पैदा मुनाफे का सर्वोत्तम

भाग तथा निर्णायक शक्ति, जहां तक हो सके, ब्रिटिश पूंजीवाद के हाथों में बनी रहे।' दूसरे, साम्राज्यवाद की इस निरंतर जकड़ को तोड़ने के लिए भारतीय जनता के संघर्ष की प्रत्याशित प्रगति और सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यों, कृषि के क्षेत्र में दिन ब दिन गंभीर होते संकट और वर्गों के संबंध के साथ इस संघर्ष का एक अविच्छिन्न संपर्क। तीसरे, आजादी मिलने के बाद भारत के सामने बुर्जुआ के विभिन्न हिस्सों की भावी भूमिका और वैकल्पिक रास्ते : (अ) दकियानूसी शक्तियों का रास्ता (ब) आर्थिक दृष्टि से आगे बढ़ रहे पूंजीवादी भारत के विकास और संभवत: 'भारतीय समाजवाद' का नाममात्र का लेबल लगाकर नियंत्रित पूंजीवाद के लिए राष्ट्रीय बुर्जुआ का रास्ता और अंतत: (स) जनतांत्रिक क्रांति का काम पूरा करने, साम्राज्यवाद का सफाया करने, जमींदारी प्रथा को समाप्त करने तथा अर्थव्यवस्था के प्रमुख क्षेत्र पर कब्जा करने के लिए आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण करने, पिछड़ेपन और सामूहिक गरीबी की स्थितियों को समाप्त करने और इस प्रकार समाजवाद की दिशा में वास्तविक प्रगति की आधार-शिला रखने के लिए मजदूरों, किसानों और लोकप्रिय शक्तियों के बढ़ते दस्ते का रास्ता।

आज उस परिदृश्य को लिखे जाने के बाद से 22 वर्षों के अनुभव ने तफसील, पेचीदगी, उतार-चढ़ाव तथा व्यक्तित्वों के कौतुक की कहीं अधिक विपुलता के साथ उन महान विषयों को आगे बढ़ाया है जिन्हें उस समय महज सामान्य सिद्धांतों के रूप में प्रस्तुत किया जा सका था।

15 अगस्त 1947 को भारत का आजाद होना, जो शुरू में तो ब्रिटिश डोमीनियन रहा पर बाद में 26 जून 1950 को जिसने भारतीय गणराज्य की घोषणा की, विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी और भारतीय जनता के कई पीढ़ियों के संघर्ष का फल था। यह विजय, फासीवाद के विरुद्ध सोवियत संघ की अगुवाई में विश्व की जनता के मुक्ति मोर्चे की 1945 की जीत के बाद, विश्व भर में राष्ट्रीय मुक्ति, समाजवाद और जनता की प्रगति की सबसे पहली विजय थी। इसके बाद ही 1949 में चीनी जनता की क्रांति की सफलता ने पुराने उपनिवेशवाद पर मरणांतक प्रहार किया और विश्वसंतुलन में अप्रत्यावर्ती परिवर्तन हुआ।

किंतु भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति के बाद साम्राज्यवाद द्वारा अपने प्रभाव का इस्तेमाल करने और आजाद भारत में शोषण के अपने हितों की रक्षा करने की कोशिशें समाप्त नहीं हुई। इसकी झलक 1947 के समझौते की नकारात्मक विशिष्टताओं में आ गई थी जिसे ब्रिटिश वायसराय लार्ड माउंटबेटन के मार्गदर्शन में तैयार किया गया था। इसमें उस जबर्दस्त सांप्रदायिक फूट का फायदा उठाया गया जिसे ब्रिटिश साम्राज्य-वाद ने हमेशा प्रोत्साहित किया और स्वाधीनता की मान्यता को दो स्वतंत्र देशों, भारत और पाकिस्तान के रूप में भारत के विभाजन के साथ जोड़ दिया गया।

1947 का माउंटबेटन समझौता, जिसने भारतीय स्वाधीनता की मान्यता को वैधानिक स्वरूप दिया, दरअस्ल साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उच्च नेतृत्व वर्ग के बीच हुआ एक सुलह समझौता था जिसके लिए, लोकप्रिय जनक्रांति की आशंका के बारे में मतभेदों के बावजूद दोनों पक्षों ने कुछ सर्वमान्य आधार ढूंढ़ लिए थे। परंपरागत सरकारी मिथ के विपरीत भारत और पाकिस्तान को प्राप्त आजादी न तो गांधीवादी तरीके की जीत थी और न ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा दिया गया यह कोई स्वार्थहीन 'उपहार' ही था।

यह अहिंसा की विजय नहीं थी। 1946 के जनविद्रोह ने, जिसमें रायल इंडियन नेवी के लोगों ने विद्रोह करके यूनियन जैक के स्थान पर कांग्रेस, मुस्लिम लीग और लाल झंडा तीनों की संयुक्त पताका फहराई और इस विद्रोह की गंभीरता से लोगों को अवगत कराया, तथा सेना की अन्य इकाइयों में इसी तरह की घटनाओं तथा जबर्दस्त हड़तालों और सड़कों पर चल रहे युद्ध ने साम्राज्यवादियों को तेजी से पीछे हटने को मजबूर किया। 19 फरवरी 1946 का लार्ड एटली का घोषणापत्र, जिसमें भारत के संबंध में एक नए दृष्टिकोण का एलान किया गया था और जिसमें भारतीय स्वशासन के सिलसिले में बातचीत शुरू करने के फैसले की घोषणा की गई थी, 18 फरवरी के नौसैनिक विद्रोह के ठीक एक दिन के भीतर आया। लेकिन इस विख्यात विजय का नेतृत्व कांग्रेस ने नहीं किया था। कांग्रेस के पहले के अहिंसात्मक अभियानों में, जो सारे के सारे बुरी तरह विफल हो गए थे, और इस विद्रोह में कहीं कोई समानता नहीं थी। उल्टे, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेतागण इस जनविद्रोह से बुरी तरह भयभीत थे। वे इस विद्रोह पर काबू पाने के लिए रोजाना ब्रिटिश कमांडर इन चीफ और ब्रिटिश अधिकारियों से सलाह मशविरा करते थे। उन्होंने सार्वजनिक रूप से इसे अहिंसा के विरुद्ध पाप कह कर और एक अपवित्र किस्म की हिन्दू-मुस्लिम एकता का नाम देकर इस विद्रोह की भर्त्सना की तथा सैनिकों को आत्मसमर्पण के लिए आवश्यक निर्देश जारी किए। इस प्रकार वह लंबी बातचीत शुरू हुई जिसके फलस्वरूप अगस्त 1947 का सुलह समझौता हुआ। लोकप्रिय क्रांतिकारी लहर की विफलता, नेतृत्व द्वारा इंकार करने से और यहां तक कि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के विरोधी रवैये से पैदा हुई थी। इसके साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन का दौर होने के बावजूद कहीं कोई पर्याप्त विकसित वैकल्पिक राजनीतिक नेतृत्व काम करने की स्थिति में नहीं था। इन कमियों के कारण जनता की क्रांतिकारी शक्तियां घृणित सांप्रदायिक नरसंहार में लग गईं। इसे उस लंबी बातचीत द्वारा काफी तीव्रता मिल गई थी जिसमें घोषित रूप से सांप्रदायिक या धार्मिक आधार पर भारत के बंटवारे की तैयारी हो रही थी और इस बातचीत का समूचा स्वरूप सांप्रदायिक राजनीतिक था। इस प्रकार 1946-47 के क्रांतिकारी विप्लव का लाभ कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उच्च बुर्जुआ नेतृत्व को मिला हालांकि इस नेतृत्व ने व्यवहार रूप में क्रांतिकारी लहर का विरोध किया था और साम्राज्यवाद के साथ घनिष्ठ सहयोग किया था। स्वतंत्रता के प्रारंभ के इस परस्पर विरोधी स्वरूप की तह में अनेक कठिनाइयां दबी पड़ी थीं जो बाद के वर्षों में उभर कर सामने आईं।

स्वतंत्रता ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा दी गई भेंट भी नहीं थी। ब्रिटिश सरकार के तर्कों को बड़े साफ शब्दों में क्रिप्स ने 5 मार्च 1947 को पार्लियामेंट में पेश किया था :

> हमारे सामने कौन से विकल्प थे ? बुनियादी तौर पर हमारे सामने दो विकल्प थे। पहला यह था कि हम विदेश मंत्रालय की सेवा में और अधिक अधिकारियों की नियुक्ति करके तथा ब्रिटिश सेना को उल्लेखनीय ढंग से मजबूत बनाकर भारत में ब्रिटिश शासन को दृढ़ बनाने की कोशिश करते। इस नीति के साथ यह निर्णय लेना आवश्यक हो जाता है कि हमें कम से कम 15 से 20 वर्षों तक भारत में बने रहना चाहिए। दूसरा विकल्प यह था कि हम इस सच्चाई को मान लें कि पहला विकल्प संभव नहीं था।

इस प्रकार 'दोनों विकल्प' यथार्थ रूप में केवल एक थे क्योंकि 'ब्रिटिश सेना को उल्लेखनीय ढंग से मजबूत' बनाना संभव नहीं था जो कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बने रहने के लिए आवश्यक था। यह वही ब्रिटिश सरकार थी जिसने 60 लाख मलय लोगों के दमन के लिए ब्रिटिश सैनिकों को भेजने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं दिखलाई और जनता के मुक्ति आंदोलनों को विफल करने के लिए वर्षों तक अत्यंत बर्बर युद्ध का संचालन किया। लेकिन जहां तक भारत की 40 करोड़ की आबादी का प्रश्न था, सेना तक लोकप्रिय विद्रोह के फैल जाने के बाद ब्रिटिश सरकार के सामने इसके सिवाय कोई दूसरा विकल्प नहीं था कि वह भारत से अपना शासन समाप्त कर ले और राष्ट्रीय आंदोलन के उच्च वर्ग के साथ जहां तक संभव हो अच्छे से अच्छा समझौता कर ले। इसी प्रकार भारत में लार्ड माउंटबेटन के सेनापति लार्ड इस्मे ने अनिवार्य रूप से भारत से चले जाने का अपना फैसला दिया। (इसका उल्लेख एलेन कैंपबेल जान्सन की पुस्तक 'मिशन विद माउंटबेटन' में मिलता है।) :

> मार्च 1947 में भारत, समुद्र के बीच में खड़े एक ऐसे जहाज की तरह था जिसमें आग लग गई हो और जिसके खाब पर हथियार लदे पड़े हों, उस समय तात्कालिक मसला हथियारों तक आग को पहुंचने से पहले ही बुझा देना था। दरअस्ल, हमने जो कुछ किया उसके अलावा हमारे सामने और कोई चारा नहीं था।

साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय बुर्जुआजी, दोनों का हित इसी में था कि लोकप्रिय जनक्रांति को रोका जाए और इन दोनों के बीच एक सौदे के रूप में माउंटबेटन समझौते के सुलहवादी चरित्र ने अनिवार्य रूप से उपलब्ध स्वाधीनता के स्वरूप और शर्तों का प्रारंभ में ही गंभीर रूप से परिसीमन कर दिया। इस बात में संदेह की गुंजाइश नहीं है कि गांधी ने इस समझौते को यह कहकर नामंजूर कर दिया कि वह (समझौता) स्वराज्य की उनकी धारणा के अनुकूल नहीं है। उनके जीवनी लेखक ने अगस्त 1947 के हर्षोल्लासपूर्ण

समारोहों में उनके भाग लेने से इंकार करने का जिक्र किया है :

> देश भर में समारोह मनाए जा रहे थे। लेकिन उस व्यक्ति ने जिसकी भारत को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाने में किसी से भी ज्यादा भूमिका थी, इन समारोहों में हिस्सा नहीं लिया। जब भारत सरकार के सूचना और प्रसारण विभाग का एक अधिकारी गांधी के पास उनके संदेश के लिए आया तो गांधी ने जवाब दिया कि 'मैंने मैदान छोड़ दिया है।' जब उनसे फिर कहा गया कि उनका कोई संदेश नहीं देना अच्छा नहीं लगता है तो उन्होंने जवाब दिया 'मुझे कुछ भी संदेश नहीं देना है। यदि ऐसा करना बुरा है तो होता रहे।' (डी० जी० तेंदुलकर : 'महात्मा : लाइफ आफ मोहनदास करमचंद गांधी', खंड 8, पृष्ठ 95-96)।

अपनी हत्या के चार दिन पूर्व, 1948 के स्वाधीनता दिवस के अवसर पर बोलते हुए उन्होंने इन शब्दों में अपनी मोहभंग की स्थिति का वर्णन किया :

> '26 जनवरी का यह दिन स्वाधीनता दिवस है। इस दिवस को मनाना उस समय काफी उपयुक्त था जब हम उस स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे थे जिसे न हमने देखा था और न जिसका संचालन किया था। अब हमने इसका संचालन कर लिया और हमारा मोह भंग हो गया। कम से कम मेरी तो यही स्थिति है, आपकी चाहे हो या न हो।' (वही, खंड 8, पृष्ठ 333)

इस सुलह समझौते के लिए चुकाई गई कीमतों में सबसे बड़ी कीमत भारत के विभाजन के रूप में अदा करनी पड़ी। भारत और पाकिस्तान ने नाम से दो प्रभुसत्तासंपन्न राज्यों की स्थापना करके भारत का बंटवारा कर दिया गया। यह बंटवारा राष्ट्रीयता पर नहीं बल्कि धर्म पर आधारित था जिसे राष्ट्रीयता के समतुल्य माना गया था। चूंकि इससे संबद्ध दोनों धर्मों के लोग यानी हिंदू और मुसलमान व्यवहार रूप में भारत के प्रत्येक हिस्से में घुले-मिले थे, इसलिए इस बंटवारे का काम बेहद कृत्रिम सीमाएं खींचकर ही करना पड़ा (पाकिस्तान का निर्माण दो पृथक हिस्सों में करना पड़ा जिसके बीच भारत का हजारों मील का क्षेत्र पड़ता था)। इसके परिणामस्वरूप भारी संख्या में लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाना पड़ा, खून खराबा हुआ, सांप्रदायिक हत्याएं हुईं और बड़े पैमाने पर शरणार्थियों को एक हिस्से से दूसरे हिस्से में ले जाना पड़ा। दोनों देशों के बीच चिरकालिक संघर्ष ने समूचे अनुवर्ती वर्षों के दौरान दोनों को कमजोर बनाया, उनके बजट को सैनिक खर्च पर लगाया और साम्राज्यवादी घुसपैठ को आसान बनाया। शुरू के दिनों में ही, जब अभी भारत और पाकिस्तान की सेनाओं का नियंत्रण ब्रिटिश कमांडर इन चीफ कर रहे थे, काश्मीर के प्रश्न पर दोनों देशों के बीच इस संघर्ष ने बाकायदा युद्ध का रूप धारण कर लिया। लगभग दो दशक बाद 1965 में फिर दोनों देशों

के बीच बाकायदा युद्ध हुआ और सोवियत संघ की मध्यस्थता के जरिए ही एक अस्थाई युद्ध विराम कायम होने में सफलता मिल सकी। जैसाकि आयरलैंड तथा ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन से निकले अनेक देशों के साथ हुआ, यहां भी विदा होते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने देश के बंटवारे का अपना सुपरिचित उपहार दिया जिसके भयंकर परिणामों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की पूर्ति को एवं जनता की प्रगति को कमजोर बनाया तथा दो नए राष्ट्रों के बीच परस्पर वैमनस्य और फूट का फायदा उठाने के लिए साम्राज्यवाद को सुविधाजनक अवसर दिया।

माउंटबेटन समझौते के सुलहवादी चरित्र का एक और नकारात्मक परिणाम यह था कि नए राज्यों को राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व के अधीन प्रभुसत्तासंपन्न और स्वतंत्र राष्ट्र की मान्यता तो दी गई फिर भी प्रारंभ में ही इन दोनों देशों को काफी हद तक पुराने साम्राज्यवादी शासन के सिलसिले के रूप में चित्रित किया गया। साम्राज्यवाद के समूचे प्रशासन तंत्र को ही लेकर आगे बढ़ाया गया, वही नौकरशाही और न्यायपालिका तथा पुराने साम्राज्यवादी एजेंटों और चापलूसों की पुलिस, दमन के वही पुराने तरीके, पुलिस द्वारा निहत्थे लोगों पर गोली वर्षा, लाठी चार्ज, सभा करने पर प्रतिबंध, समाचारपत्रों पर प्रतिबंध या बिना आरोप लगाए अथवा मुकदमा चलाए लोगों को हिरासत में रखना। भारत में साम्राज्यवाद की विशाल संपत्ति—लागत पूंजी और वित्तीय हितों की उत्साहपूर्वक रक्षा की गई और साम्राज्यवादी शोषण का अविकल प्रवाह जारी रहा। प्रारंभ में सैनिक नियंत्रण व्यवहार रूप में साम्राज्यवादी हाई कमान के हाथों में ही रहा और दोनों देशों की सेनाओं के सेनाध्यक्ष, सैनिक सलाहकार तथा सैकड़ों की संख्या में अफसरों के पदों पर अंगरेज बने रहे। सैनिक कर्मचारियों का प्रशिक्षण ब्रिटेन में दिया जाना जारी रहा। यहां तक कि शुरू में तो ब्रिटिश गर्वनर जनरल भी संघ के प्रधान के रूप में अपने पुराने पद पर ही बना रहा और दोनों देशों के महत्वपूर्ण प्रांतों में भी ब्रिटिश गवर्नर अपना पद संभाले रहे।

इस प्रारंभिक दौर में जुझारू मेहनतकश वर्ग के और किसानों के असंतोष का दमन करने के लिए जबर्दस्त हमला किया गया। 1949 तक अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने बताया कि मजदूरों और किसानों के 25,000 नेता जेलों में पड़े हैं और इनमें से अधिकांश बिना किसी आरोप या मुकदमे के गिरफ्तार किए गए हैं। भारत की नई सरकार द्वारा प्रकाशित सरकारी आंकड़ों के अनुसार 15 अगस्त 1947 से 1 अगस्त 1950 तक यानी अपने शासन के तीन वर्षों के अंदर उसकी पुलिस या सेना ने कम से कम 1982 बार जनता के प्रदर्शनों पर गोली चलाई, 3,784 व्यक्तियों को भून डाला और लगभग 10,000 व्यक्तियों को घायल किया, 50,000 लोगों को जेल के अंदर डाला और 82 कैदियों को जेल के अंदर गोली मार दी गई।

फिर भी 1947 के समझौते और पुराने साम्राज्यवादी शासन से काफी कुछ विरासत में

प्राप्त शासनतंत्र और शासन पद्धति वाली इस नई सरकार के नकारात्मक पहलुओं की वजह से हमें अनुकूल महती उपलब्धियों की अनदेखी नहीं कर देनी चाहिए। ये उपलब्धियां थीं—जनतांत्रिक क्रांति के कुछ नियत कार्यों की पूर्ति, आंतरिक सुधार और आर्थिक पुनर्निर्माण की शुरुआत, और भारत की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका का रूपांतरण जिसका निष्पादन आजादी के बाद के 15 वर्षों में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व और खासतौर से प्रधानमंत्री नेहरू की महत्वपूर्ण भूमिका के अंतर्गत हुआ।

भारत की स्थापना एक धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक राज्य और 1950 से एक गणराज्य के रूप में हुई। इससे जुड़ी बातें थीं, सार्वभौम मताधिकार, कार्य संपादन करने वाली एक संसद, नियमित चुनाव जिसमें तमाम पार्टियां भाग लेती हैं, और (विशेष अधिकारों तथा खासतौर से पुलिस कार्यवाहियों के पूर्व उल्लिखित नकारात्मक पहलुओं के बावजूद) वाक् स्वातंत्र्य, समाचारपत्रों, सभाओं और संगठन बनाने के अधिकारों का अपेक्षाकृत उच्च स्तर। कुछ उल्लेखनीय अपवाद भी थे, केरल में जब एक कम्युनिस्ट सरकार निर्वाचित हुई तो 1959 में उसे केंद्र सरकार ने अपदस्थ कर दिया। लेकिन 40 करोड़ (अब 56 करोड़) की विशाल और विविध आबादी वाले किसी नवस्वाधीन एशियाई देश में, जहां का बहुमत अभी भी निरक्षर है, बुर्जुआ (पूंजीवादी) संसदीय जनतंत्र के कार्य का सामान्य तौर पर जो स्तर था, वह एक उल्लेखनीय उपलब्धि थी। पाकिस्तान को यह उपलब्धि नहीं मिली। वहां पश्चिमी पाकिस्तान के मुट्ठी भर समृद्ध बड़े जमींदार परिवारों और सरकारी और सैनिक उच्च अधिकारियों ने सभी जनतांत्रिक आकांक्षाओं को विफल कर दिया, पूर्वी पाकिस्तान को गुलाम देश की तरह रखा और उसका जमकर शोषण किया तथा कमजोर संसदीय संस्थाओं को समाप्त कर उनके स्थान पर शीघ्र ही निर्द्वंद्व सैनिक तानाशाही स्थापित कर दी।

शाही रियासतें, जिन्होंने राष्ट्रीय विद्रोह के खिलाफ साम्राज्यवाद को मुख्य सहारा दिया था, तत्काल ही भारत और पाकिस्तान दोनों जगह प्रभुसत्तासंपन्न स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भंग कर दी गई और राज्य के सामान्य ढांचे में शामिल कर ली गईं हालांकि राजों महाराजों को अपनी पदवी धारण किए रहने की अनुमति दे दी गई, उन्हें भारी मात्रा में राजस्व प्रदान किया गया, और इस आधार पर वे बाद में प्रतिक्रियावादी राजनीतिक भूमिका निभाने में समर्थ हो सके; इसका उदाहरण भारत की स्वतंत्र पार्टी की भूमिका है।

भारत में नागरिक अधिकारों के दायरे में जाति के आधार पर भेदभाव का कानूनी तौर से उन्मूलन शामिल किया गया जो खासतौर से उन लाखों, करोड़ों 'अछूतों' के प्रति भेदभाव बरते जाने के बारे में था जिनपर दकियानूस हिंदू व्यवस्था ने यह थोप दिया था। हालांकि भारत के अनेक हिस्सों में अधिकारों की इस कानूनी मान्यता का पालन नहीं हुआ।

कृषि संबंधी सुधार के उपाय अपनाए गए जिनसे भूमि संबंधी संकट का समाधान या

जमींदारी प्रथा का उन्मूलन तो नहीं हुआ और न जोतने वाले को जमीन ही मिली पर ब्रिटेन द्वारा स्थापित बड़े जमींदारों और जागीरदारों की व्यापक जमींदारी प्रथा समाप्त हो गई। फिर भी कानून में भरपूर बचाव का रास्ता होने की वजह से जिन जमींदारों और उनके परिवारों की संपत्ति ले ली गई थी, वे उल्लेखनीय सीमा तक अपनी जागीर बचाए रखने में समर्थ हो सके। इसके अलावा मुआवजे की राशि बहुत अधिक थोप दिए जाने से केवल धनी या मध्यम दर्जे के किसानों को ही भूमि के व्यापक वितरण का लाभ मिल सका और गांव की उस गरीब जनता को जिनके पास केवल अपने गुजारे भर की जमीन थी और जो मुस्तकिल रूप से कर्ज में दबी थी तथा लाखों-करोड़ों भूमिहीन खेतिहर मजदूरों को कोई राहत न मिल सकी। सातवें दशक के पूर्वार्ध के सर्वेक्षणों से पता चलता है कि गांवों में 3.6 प्रतिशत परिवारों के पास कुल खेती योग्य जमीन का 36 प्रतिशत और शेष एक चौथाई परिवार के पास कुल 84 प्रतिशत हिस्सा था। गुन्नार मिरडल ने अपनी कृति 'एशियन ड्रामा' (3 खंडों में, एलेन लेन, 1968) में 1965 में भारत के बारे में लिख रहे एक अमरीकी विशेषज्ञ का उद्धरण दिया है: 'हालांकि अन्य उपादान भी महत्वपूर्ण हैं, लेकिन जब तक जमीन पर काम करने वाले उस ज़मीन के मालिक नहीं बनते या कम से कम उन्हें काश्तकार के रूप में सुरक्षा नहीं मिलती. तब तक सारी बातें व्यर्थ ही साबित होंगी।

अपने विस्तृत विश्लेषण में मिरडल ने दिखाया है कि किस प्रकार महंगे आधुनिक रासायनिक और वैज्ञानिक उपकरणों की शुरुआत से, जिसे केवल अच्छे खाते-पीते किसान ही खरीद सकते हैं और इस्तेमाल कर सकते हैं, कुल कृषि उत्पादन में वृद्धि तो की जा सकती है और की गई है, तथा किस प्रकार सुधार संबंधी तमाम उपायों ने सरकार और वर्तमान वर्ग संबंधों को सहारा देने के लिए समृद्ध किसानों का एक स्तर तैयार कर राजनीतिक मकसद तो पूरा किया है लेकिन इन उपायों ने कृषि संबंधी संकट की वास्तविक समस्याएं हल करने के लिए कुछ भी नहीं किया है। इन उपायों की तुलना जार के शासनकाल में स्तोलिपिन द्वारा किए गए कृषि संबंधी सुधारों से करना प्रासंगिक होगा। स्तोलिपिन के सुधारों का भी उद्देश्य वर्तमान शासन को एक सामाजिक आधार देने के लिए समृद्ध किसानों का एक ठोस वर्ग तैयार करना था, लेकिन इन सुधारों से दिनोंदिन गंभीर होता कृषि संकट रुक न सका और अंततः इसका विस्फोट 1917 की क्रांति के रूप में हुआ।

आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ने भारत में मौजूदा साम्राज्यवादी आर्थिक हितों की रक्षा करने तथा प्रारंभ में दस वर्षों तक राष्ट्रीयकरण न करने की गारंटी देकर विदेशी पूंजी को अपने देश में लगाने के लिए आकर्षित करने की कोशिश के जरिए पुनर्निर्माण और उद्योगीकरण के व्यापक और महत्वाकांक्षी कार्यक्रम का प्रयास किया। इससे उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। कोरिया युद्ध के शांतिपूर्ण समाधान के लिए और इसमें मध्यस्थता करने के संयुक्त प्रयास के लिए 1950 में नेहरू और स्तालिन के बीच पत्राचार हुए। सोवियत संघ के साथ इस सहयोग के आधार पर पंचवर्षीय योजना की पद्धति

अपनाई गई। बताया जाता है कि 1951 से 1966 के बीच की प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान कुल उत्पादन में 159 प्रतिशत की वृद्धि हुई। आर्थिक विकास के कार्य में मदद देने में सोवियत संघ, साम्राज्यवाद से स्वतंत्र एक महत्वपूर्ण कारक साबित हुआ। 1955 में सोवियत संघ ने पूरी तरह नया विशाल इस्पात कारखाना बनाकर उद्योगीकरण के काम में प्रत्यक्ष सहायता देने का सूत्रपात किया। साम्राज्यवाद ने ऐसा कोई विकास कार्य कभी नहीं किया था। सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड ने विकासशील देशों में आधुनिक भारी इंजीनियरिंग कारखानों के विशालतम समूह के निर्माण में सहायता पहुंचाई। बाद के वर्षों में इस उदाहरण ने पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों को भी नए इस्पात कारखानों के निर्माण के लिए बाध्य किया और पश्चिमी जर्मनी तथा ब्रिटेन ने एक एक कारखाना बनाया। इस्पात का उत्पादन 1950 में 15 लाख टन से बढ़कर 1964 में 65 लाख टन हो गया। इस अवधि में विद्युत शक्ति का उत्पादन भी दुगना हो गया।

फिर भी पूंजीवाद के मूल आधार पर ध्यान दें तो इस आर्थिक प्रगति का एक नकारात्मक पहलू था। यह सही है कि दिसंबर 1954 के संसदीय प्रस्ताव और 1955 के अवाड़ी कांग्रेस प्रस्ताव में निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार सरकार और कांग्रेस ने आधिकारिक रूप से 'समाजवाद' या 'समाजवादी ढांचे का समाज' की स्थापना का सिद्धांत घोषित किया। लेकिन जैसा कि अत्यंत समृद्ध इजारेदार और कांग्रेस के मुख्य समर्थक घनश्यामदास बिड़ला ने, 1966 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी और कांग्रेस को अपना समर्थन दिए जाने के बारे में लिखा है उसके अनुसार :

> 'हमारा नारा जनतांत्रिक समाजवाद है। कोई भी नहीं जानता कि इसका ठीक ठीक अर्थ क्या है। प्रधानमंत्री ने अपने रेडियो प्रसारण में कहा है कि निजी क्षेत्र को सहयोग और प्रोत्साहन दिया जाएगा। यह काफी उत्साहवर्द्धक बात है।'
> (जी०डी० बिड़ला, 'प्राब्लम्स आफ इंडिया टुडे'— लंदन स्थित उच्चायोग के मुखपत्र 'इंडिया वीकली' के 10 मार्च 1966 के अंक में प्रकाशित लेख)

दरअस्ल पूंजी का केंद्रीकरण तेजी से होता गया और बड़े इजारेदारों की न्यून संख्या ने भारतीयों के स्वामित्व वाले उद्योगों पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। इसके साथ ही विदेशी पूंजी ने अपनी घुसपैठ और अनेक क्षेत्रों में पहले से ही अपनी प्रबल स्थिति को और मजबूत कर लिया और भारतीय इजारेदारों के साथ अपना संपर्क भी विकसित कर लिया। 1963 के प्रारंभिक दिनों में 'सैटरडे इवनिंग पोस्ट' को दी गई एक भेंट में नेहरू ने दावा किया : 'ब्रिटेन की कंपनियां ब्रिटिश के शासन के दिनों में कमाए गए मुनाफे की तुलना में आज ज्यादा मुनाफा कमा रही हैं। यहां तक कि सर विंसटन चर्चिल ने भी इस पर काफी संतोष प्रकट किया है।'

अप्रैल 1968 में कांग्रेस 'फारेम फार सोशलिस्ट ऐक्शन' में अपने भाषण में नेहरू ने इस बात पर खेद प्रकट कि : .क तमाम कोशिशों के बावजूद भारत में धनी और गरीब वर्ग के बीच की खाई बढ़ती जा रही है :

> ऐसा लगता है कि विकास की प्रक्रिया का फायदा मुख्यत: उन्हें मिल रहा है जो इसका लाभ उठा सकते हैं क्योंकि उनके पास अपेक्षाकृत अधिक साधन हैं। इसका नतीजा कुछ हद तक यह हो रहा है कि धनी व्यक्ति और समृद्ध होता जा रहा है जबकि गरीब लोगों की स्थिति में कोई तबदीली नहीं आ रही है।

विदेशी सहायता पर निर्भरता काफी बढ़ गई और विदेशी सहायता का वर्धमान अंश पहले मिली सहायता के शुल्क को अदा करने में ही चुक गया। बेरोजगारों की संख्या पहली योजना की समाप्ति तक 53 लाख थी जो दूसरी योजना के अंत तक बढ़कर 71 लाख और तीसरी योजना के अंत तक बढ़कर 96 लाख हो गई। अनुमान है कि चौथी योजना की समाप्ति तक यह संख्या 1 करोड़ 40 लाख से 1 करोड़ 80 लाख के बीच पहुंच जाएगी। 1962 तक भारतीय योजना आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि 'भारत की दो तिहाइ जनता भुखमरी के बिंदु पर गुजारा कर रही है।' (स्टेट्समैन, 29 जनवरी 1963)

प्रगति के उपायों को सामाजिक क्षेत्र, खासतौर से शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में लागू करने के प्रयास किए गए। 1931 में कुल आबादी के 92 प्रतिशत लोग निरक्षर थे (जैसा कि इस पुस्तक में उल्लिखित है) लेकिन 1961 की जनगणना में बताया गया कि इस संख्या में कमी हुई है और अब केवल 76 प्रतिशत लोग निरक्षर हैं। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में वृद्धि हुई। मृत्यु दर में कमी हुई। यह 1931-41 में 31.2 व्यक्ति प्रति हजार से घट कर 1960 में अनुमानत: 16.2 व्यक्ति प्रति हजार हो गई।

सबसे बढ़कर, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में विश्व के संदर्भ में भारत की भूमिका का अत्यंत विशिष्ट रूपांतरण हुआ और इस कार्य का निष्पादन छठे दशक में नेहरू सरकार द्वारा किया गया। ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में भारत का आविर्भाव एक अधिराज्य (डोमीनियन) के रूप में हुआ लेकिन प्रारंभ से ही उसने 'गुटनिरपेक्षता' की नीति को व्यक्त किया अर्थात 'सेंटो' (प्रारंभ में बगदाद संधि) या 'सीटो' (1954 में गठित) जिसमें पाकिस्तान शामिल हो गया जैसे वर्गीय साम्राज्यवादी गठबंधनों में वह नहीं शामिल होगा। 1950 में, जब भारत ने ब्रिटिश राज्य के प्रति अपनी निष्ठा को तिरोहित करके गणराज्य की स्थापना की और ब्रिटिश सम्राज्ञी को केवल राष्ट्रमंडल के प्रधान के रूप में मान्यता दी, विश्वशांति के संदर्भ में नई रचनात्मक भूमिका ने भारत को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की अग्रिम पंक्ति में ला खड़ा किया। तथापि 1950 की गर्मियों में भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र में अमरीका के अवैधानिक प्रस्ताव के पक्ष में मत देकर कोरिया के विरुद्ध अमरीकी सैनिक आक्रमण का औचित्य ठहराया था। लेकिन इस स्थल से

पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के आक्रमण तथा एशियाई देशों के विनाश से जुड़ने के विरुद्ध भारत में लोकप्रिय होती भावना तथा 1949 में चीन जनवादी गणराज्य विजय के बाद एशिया में नए शक्ति संतुलन से भारतीय विदेश नीति के स्थिति निर्धारण में उल्लेखनीय प्रगति हुई।

विश्वशांति के लिए भारत की सक्रिय भूमिका की शुरुआत जुलाई 1950 में नेहरू और स्तालिन के बीच हुए पत्राचार तथा कोरिया युद्ध के शांतिपूर्ण समाधान के लिए किए गए निरंतर प्रयासों के साथ हुई। 1954 के दक्षिण पूर्व एशिया संकट में, भारत ने हस्तक्षेप न करने और वियतनाम की जनता की राष्ट्रीय स्वाधीनता के आधार पर शांति स्थापित करने के पक्ष में पांच बड़े राष्ट्रों का कोलंबो सम्मेलन आयोजित किया। जून 1954 में भारत और चीन की सरकारों ने 'पंचशील' या शांति के पांच सिद्धांतों पर दृढ़ रहने के बारे में एक संयुक्त घोषणापत्र तैयार किया। अप्रैल 1955 में भारत सरकार और चीन सरकार ने मिलकर बांडुंग में प्रथम अफ्रो-एशियाई सम्मेलन आयोजित किया जिसमें अफ्रीका और एशिया के 29 देशों ने भाग लिया। इसमें कुल डेढ़ अरब की संयुक्त आबादी यानी विश्व की आबादी के बहुमत का प्रतिनिधित्व हुआ और विश्वशांति तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता के लक्ष्यों की घोषणा की गई। निश्चित रूप से यह विश्व के नए संतुलन का एक रहस्योद्घाटन था। 1955 की समाप्ति तक सोवियत नेताओं की भारत यात्रा से अभूतपूर्व जनउत्साह की झलक मिलती है। 1956 में भारत ने स्वेज युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति का सार्वजनिक रूप से विरोध किया। यह युद्ध अरब देशों की मुक्ति के खिलाफ इसराइल के साथ साठगांठ करके आंग्ल-फ्रांसीसी साम्राज्यवाद द्वारा संचालित था।

बांडुंग सम्मेलन से उद्घाटित नए विश्व संतुलन से पश्चिमी साम्राज्यवाद, खासतौर से ब्रिटिश और अमरीकी साम्राज्यवाद, चौंक पड़ा। उन्होंने देखा कि राष्ट्रीय स्वाधीनता और समाजवाद के पक्ष में तथा साम्राज्यवाद के विरोध में नवस्वाधीन देशों के उभरते समूह को नेतृत्व देने के लिए विश्व की सर्वाधिक आबादी वाले दो देशों, भारत और चीन के बीच मैत्री और सहयोग साम्राज्यवाद के भविष्य के लिए कितना घातक हो सकता है, इस मैत्री और सहयोग में उन्हें विश्व समाजवाद की अनिवार्य विजय का मार्ग दिखाई पड़ा। इसलिए उनका समूचा प्रयास, भारत में प्रतिक्रियावादी इजारेदार शक्तियों के साथ मिलकर भारत और चीन सरकार की मैत्री को तोड़ने पर केंद्रित हो गया। इस उद्देश्य के लिए भारत-चीन सीमा समस्या का अनुचित लाभ उठाया गया तथा मैत्री और सहयोग के स्थान पर संघर्ष और युद्ध को स्थापित करने के लिए समूचे मसले को भड़काया गया।

1962 का भारत-चीन सीमा युद्ध एक अप्रिय घटना थी। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में तथा भारत में इसके हानिप्रद नतीजे हुए। व्यवहार रूप में यह युद्धविराम के साथ समाप्त

हुआ पर कोई समझौता न हो सका। फिर भी, पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों और भारत में बड़े व्यापारी वर्ग के बीच उनके प्रतिक्रियावादी सहयोगियों का मुख्य उद्देश्य पूरा हो गया, उन्होंने अपने निजी हितों के लिए इस मसले का अनुचित लाभ उठाया। भारत सरकार और चीन सरकार के बीच मैत्री और सहयोग समाप्त हो गया और उसका स्थान संघर्ष ने ले लिया। अमरीकी और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भारत में अपनी स्थिति मजबूत करने का अवसर मिला। भारत के अंदर वामपंथी प्रगति को रुकावट का सामना करना पड़ा और अंधराष्ट्रवाद के उन्माद की लहर चल पड़ी। वामपंथी आंदोलन छिन्न-भिन्न हो गया। कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन हो गया, अनेक लोग जेलों में डाल दिए गए और बाद के वर्षों में इस विभाजन ने फूट का रूप ले लिया। मंत्रिमंडल में नेहरू के प्रमुख वामपंथी सहयोगी रक्षामंत्री कृष्ण मेनन के विरुद्ध दुष्प्रचार किया गया और उन्हें मंत्रिमंडल से निकाल दिया गया। दरअस्ल उन्हें संसद में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने मे भी वंचित कर दिया गया। 1969 में पश्चिम बंगाल में वे संयुक्त मोर्चे की मदद से निर्दलीय सदस्य के रूप में चुनाव जीतकर संसद में आ सके। यह दक्षिणपंथी अभियान नेहरू के भी विरुद्ध दिशा लेने लगा था पर इसी बीच उनकी मृत्यु हो गई।

इस प्रकार नेहरू के अंतिम दिनों पर अप्रिय अनुभवों के बादल छाए थे : बांडुंग के उत्साह का स्थान चीन के साथ हुए संघर्ष ने ले लिया; गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के बीच भारत की प्रतिष्ठा और नेतृत्व कमजोर पड़ गया और सीमा के प्रश्न पर इनमें से अधिकांश ने भारत को अपना समर्थन नहीं दिया; आर्थिक और वित्तीय क्षेत्र में साम्राज्यवादी घुसपैठ बढ़ती गई। साथ ही विदेशी ऋणदाताओं ने 'सहायता संघ' (कंसोर्टियम) बनाकर खुलेआम सरकार की नीति को प्रभावित करने का दावा किया; आर्थिक ह्रास होता गया, बेरोज-गारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई और आम जनता की हालत बदतर होती गई; स्वयं कांग्रेस संगठन के अंदर गुटबाजी और भ्रष्टाचार पनपने लगा तथा दक्षिणपंथी प्रति-क्रियावादी शक्तियों की चुनौती बढ़ती गई। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व के अंतर्गत अनुकूल उपलब्धि की संभावनाएं भरपूर ढंग से नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल के सफल वर्षों में महसूस कर ली गई थीं। उनकी सीमाओं और उनके नकारात्मक पहलुओं का अब तेजी से अनुभव किया जा रहा था। स्थितियां एक नए युग के लिए तैयार हो रही थीं और इसके लिए भारतीय जनता के एक नए प्रयास की आवश्यकता थी।

1964 में नेहरू के निधन के बाद आर्थिक स्थिति में तथा कांग्रेस से संबद्ध पुरानी सत्ता-रूढ़ संस्थाओं में और भी तेजी से गिरावट आई। विदेशी सहायता पर बढ़ती निर्भरता; घाटे का बजट; मुद्रास्फीति; खाद्यान्नों का भारी मात्रा में आयात; उत्पादन की गति में धीमापन; तेजी से बढ़ती बेरोजगारी; वास्तविक मजदूरी में गिरावट और आम जनता के उपभोक्ता स्तरों का बिगड़ते जाना, इन सारी बातों से संकेत मिलता था कि भारत अत्यंत गंभीर स्थिति में प्रवेश कर रहा है और ये स्थितियां जनता की व्यापक हलचल का नेतृत्व करेंगी तथा इनके दूरगामी राजनीतिक प्रभाव होंगे।

सरकारी तालिका में दर्ज औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि 1960 में 11 प्रतिशत से घटकर 1964 में 7 प्रतिशत, 1965 में 5.4 प्रतिशत और 1966 में 2.5 प्रतिशत हो गई। नेहरू ने अपने अंतिम दिनों में इसपर खेद प्रकट ही किया था कि धनी और गरीब के बीच खाई बढ़ती जा रही है। 1953-57 और 1960-61 के बीच आय के वितरण के बारे में रिजर्व बैंक आफ इंडिया के एक सर्वेक्षण से पता चला कि इस अवधि के दौरान आबादी के सर्वोच्च 10 प्रतिशत लोगों की राष्ट्रीय आय में 28 से 37 प्रतिशत की हिस्सेदारी बढ़ी है जबकि निम्न आयवर्ग के 40 प्रतिशत लोगों की हिस्सेदारी में 20 से 13 प्रतिशत की कमी हुई है। इंडियन लेबर जर्नल द्वारा अंकित वास्तविक आय तालिका (1951 को 100 मानकर) देखने से पता चलता है कि 1956 में यह 115.4 थी जो में 1960 में 113.8 और 1964 में 104.1 हो गई। खाद्यान्नों की वार्षिक खपत 1961-62 में 375 पौंड प्रति व्यक्ति से घटकर 1666-67 में 233 पौंड प्रति व्यक्ति हो गई। 1961-62 में प्रति व्यक्ति 16.2 गज सूती कपड़ा इस्तेमाल हुआ; 1966-67 में यह घटकर 15.1 गज हो गया।

जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन हुआ जिसने पहले से ही चली आ रही ह्रासोन्मुख स्थिति पर जबरदस्त प्रहार किया। यह अवमूल्यन आश्चर्यजनक रूप से $36\frac{1}{2}$ प्रतिशत की ऊंची दर से हुआ। इसके फलस्वरूप पौंड की विनिमय दर 13 रुपये से बढ़कर 21 रुपये हो गई। यह जबरदस्त अवमूल्यन अमरीकी साहूकारों (बैंकरों) के दबाव से किया गया था जिन्हें विश्वबैंक द्वारा खुलेआम स्वर दिया गया था। इसके नतीजे विध्वंसकारी थे। चूंकि अब भी भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली चीजों में मुख्यतया प्राथमिक वस्तुएं (प्राइमरी कमोडिटी) थीं जिनसे विश्व बाजार पहले से ही भरा पड़ा था इसलिए भारतीय निर्यात को कोई उल्लेखनीय प्रतिसंतुलनकारी लाभ नहीं मिला। लेकिन निर्यात की बढ़ती हुई लागत काफी थी और इसकी अभिव्यक्ति कीमतों में बेतहाशा वृद्धि तथा मुद्रास्फीति में हुई जिसके फलस्वरूप पहले से ही भुखमरी की स्थिति में गुजर कर रही आम जनता पर और भी भार पड़ा। अवमूल्यन के जरिए विदेशी ऋण पर ब्याज और चुकौती की दर बढ़कर 13 अरब 69 करोड़ रुपये या 65 करोड़ पौंड हो गई।

भारतीय स्थिति की इन कठिनाइयों का फायदा उठाने के लिए पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों और खासकर अमरीकी सरकार तथा अमरीकी साहूकारों (बैंकर्स) ने अपना फंदा और कस दिया। 'सहायता' के नाम पर अधिक से अधिक खगोलीय आकृतियों को थोड़ा थोड़ा करके बांटा गया जो व्यवहार में दानकर्ता के पास ही वापस पहुंच गया और उसे पहले की सहायता की दर पर भुगतान कहा गया। दरअसल हिसाब लगाने से पता चला कि कुछ ही वर्षों के अंदर ब्याज और चुकौती की राशि कुल सहायता से अधिक हो जाएगी।

> 'वर्तमान परिप्रेक्ष्य के आधार पर, जो 1980-81 तक जाएगी, भारत को समूचे 15 वर्षों में लगभग 18 अरब डालर की विदेशी सहायता की जरूरत पड़ेगी। इसी अवधि के दौरान भुगतान की जाने वाली ब्याज राशि और चुकौती

राशि 14 अरब डालर हो जाएगी। वस्तुत: 1975 के बाद संभावित चुकौती राशि पूंजी के संभावित अंतर्वाह को पीछे छोड़ देगी।' (इकनोमिस्ट, 8 अप्रैल 1967)

जैसे जैसे दबाव बढ़ता गया शर्तें और कठोर हो गईं : अमरीकी उत्पादन के मानदंडों (भारत जिसे दबाव कहता है), जो भविष्य में सहायता संबंधी वायदों को संचालित करेंगे…भारतीय और विदेशी निजी उद्योगों की और बड़ी भूमिका, अपेक्षाकृत कम नियंत्रण, अमरीकी (और विश्वबैंक) निर्धारणों के अनुरूप आर्थिक क्षेत्र में सुधार करने की इच्छा की बात खुलकर करता रहा है। ('दि टाइम्स' के वाशिंगटन संवाददाता की टिप्पणी, 3 मई 1966)

इसी प्रकार 'टाइम्स' के वाशिंगटन स्थित संवाददाता ने लिखा कि 'अमरीका को अब इस बात की चिंता नहीं है कि वह जबरदस्त दबाव के होने की बात का खंडन करे।' उक्त संवाददाता ने अपने लेख में 'भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी निजी पूंजी के स्थान' पर और वर्तमान कानून एवं नियंत्रणों में परवर्ती संशोधन की बात पर विशेष बल दिया। अमरीकी कांग्रेस ने कुख्यात फूड ऐक्ट पी० एल०-480 को भारत में अमरीकी उद्देश्यों के लिए उपलब्ध पूरक राशि की सुविधा के साथ स्वीकार करके कानून में निश्चित रूप से यह बात शामिल कर दी कि इसका लक्ष्य भारत में 'निजी उद्योग और पूंजीनिवेश के लिए अनुकूल वातावरण' तैयार करना होना चाहिए।

यह वह स्थिति थी जिसने वर्तमान शासन और कांग्रेस सरकार के विरुद्ध तेज होते जनविद्रोह को जन्म दिया जो 1967 के आम चुनाव के समय बहुत स्पष्ट रूप में सामने आ गया। जनता के अंदर काफी दिनों से गुस्सा दबा पड़ा था और विगत 12 महीनों में लगातार हो रही आम हड़तालों, सामूहिक रूप से काम बंद करने, संसद तक जुलूस ले जाने और विशाल प्रदर्शनों तथा पुलिस के साथ मुठभेड़ों में इस गुस्से की अभिव्यक्ति हो चुकी थी। इसी अभिव्यक्ति को 1967 के आम चुनाव में और भी प्रकट होने का अवसर मिला और जनता ने अनेक कांग्रेस मंत्रियों और नेताओं का चुनाव में सफाया कर दिया तथा कई स्थानों पर कांग्रेस के बहुमत को समाप्त कर दिया। लोगों के गुस्से की यह अभिव्यक्ति चुनाव संबंधी संसदीय प्रतिनिधित्व के मसले पर आंशिक रूप से भटकाव में पड़ गई क्योंकि इसी समय कम्युनिस्ट पार्टी में फूट पड़ गई और उसके टुकड़े हो गए। इससे पहले चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी को हमेशा दूसरा स्थान मिलता रहा था और उसे लोग इस रूप में मानने लगे थे कि वह कांग्रेस को चुनौती दे सकती है और भविष्य में कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत कर सकती है। पार्टी में फूट पड़ जाने से राष्ट्रीय स्तर पर कोई ऐसी संयुक्त वामपंथी शक्ति नहीं बच रही जो एक साथ मिलकर जनता की मांगों को और उनके विद्रोह को आगे बढ़ाने में शक्तिशाली भूमिका अदा कर सके। फलस्वरूप इस

फूट से विभिन्न दलों ने लाभ उठाया हालांकि कांग्रेस की भूतपूर्व एकाधिकारी स्थिति से वामपंथ की तरफ झुकाव देखा गया हालांकि यह झुकाव भी एकजुटता के साथ नहीं था। लेकिन कुछ अन्य राज्यों में अपेक्षाकृत नई दक्षिणपंथी पार्टियों के पक्ष में झुकाव की घटनाएं मुख्य रूप से सामने आईं। इन विविध नतीजों से कुल मिलाकर यह निष्कर्ष निकला कि किसी एक संयुक्त वामपंथी दल के अभाव में मतदाताओं ने उस पार्टी को समर्थन देना शुरू किया जिसके बारे में उनका ख्याल था कि वह कांग्रेस के एकाधिकारपूर्ण प्रभुत्व को समाप्त करने में प्रभावशाली होंगी। पहले के चुनाव समझौतों के आधार पर जहां संयुक्त मोर्चे की सरकार थी, जैसे कि केरल में, वहां उन्हें पूरी तरह सफलता मिली। 1969 के मध्यावधि चुनाव में यह बात पश्चिमी बंगाल में बहुत खुलकर सामने आई। इस अनुभव ने प्रगति के भावी पथ का संकेत दिया और लोगों ने यह महसूस किया कि यदि वामपंथी एकता हो तो यह प्रगति उपलब्ध की जा सकती है।

कम्युनिस्ट पार्टी का दो दलों में (बाद में तीन दलों में) अस्थाई विघटन वामपंथी एकता की प्रगति के मार्ग में सबसे गंभीर बाधा बना। इसकी वजह यह थी कि कम्युनिस्टों की संख्या अन्य वामपंथी दलों के सदस्यों की संख्या की तुलना में सबसे ज्यादा थी और वे सबसे अधिक शक्तिशाली थे। 1967 के आम चुनाव में दोनों दलों के मिलेजुले कम्युनिस्ट सदस्यों की कुल संख्या 44 थी जबकि 1962 के चुनाव में इनकी संख्या 30 ही थी। इससे यह पता चलता है कि यदि पार्टी में फूट नहीं पड़ी होती तो कम्युनिस्टों का स्थान अब भी कांग्रेस के बाद पहले नंबर पर होता। लेकिन बंटवारा होने के परिणामस्वरूप दक्षिणपंथी दल स्वतंत्र पार्टी को दूसरा स्थान मिला। इसके सदस्यों की संख्या 18 से बढ़कर 42 हो गई और इस प्रकार इसे आधिकारिक तौर पर विपक्षी दल का दर्जा मिल गया। इसके बाद दूसरी मुख्य प्रतिक्रियावादी पार्टी जनसंघ का स्थान रहा और इसके सदस्यों की संख्या 14 से बढ़कर 35 हो गई। ऐसे समय में, जबकि, अब तक की प्रबल कांग्रेस नीतियों के विरुद्ध व्यापक असंतोष से एक नई दिशा की मांग जोर पकड़ती जा रही थी, दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद की यह प्रगति संभावित खतरे का सूचक थी। दो प्रमुख दक्षिणपंथी पार्टियों, स्वतंत्र और जनसंघ को कुल 3 करोड़ वोट मिले जबकि दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों को प्राप्त मतों की संख्या 1 करोड़ 30 लाख थी।

ये दक्षिणपंथी पार्टियां, पुरानी दकियानूस प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करती थीं और ये अपेक्षाकृत नई पार्टियां थीं जिनका उद्देश्य कांग्रेस के विघटन से फायदा उठाना था। स्वतंत्र पार्टी की स्थापना 1959 में हुई और इसकी स्थापना कांग्रेस के उन अत्यंत दकियानूस तत्वों ने की थी जो कांग्रेस द्वारा घोषित 'समाजवाद' के कार्यक्रम और सार्वजनिक क्षेत्र पर बल दिए जाने से असंतुष्ट थे। इस पार्टी को इजारेदारों का समर्थन प्राप्त था जिनकी साठगांठ पुराने सामंती राजाओं के साथ थी। इन महाराजाओं और महारानियों ने, पिछड़े क्षेत्रों की अपनी भूतपूर्व शासित जनता से चुनाव में खुद वोट लेने के लिए फिर अपना सर उठाना शुरू कर दिया। यह पार्टी अत्याधुनिक अमरीका प्रशंसक बड़े व्यापारियों

और अति पुरातन फैशनेबुल राजकुमारों का सही अर्थों में एक रूढ़िवादी संगठन थी। जनसंघ ने पुराने प्रतिक्रियावादी हिंदू सांप्रदायिकता के ताजा नतीजों का प्रतिनिधित्व किया। जनता में फूट डालने के लिए साम्राज्यवादियों ने इस प्रवृत्ति को काफी बढ़ावा दिया था। सांप्रदायिक आतंकवादी संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर, जिसके सदस्य गोडसे ने गांधी की हत्या की, जब 1948 में प्रतिबंध लगाया गया तो इसके राजनीतिक बाजू हिंदू महासभा की काफी बदनामी हुई। 1951 में जनसंघ की स्थापना उन्हीं लोगों ने की जो उस परंपरा को आगे बढ़ा रहे थे। इसके कार्यक्रम में जो बातें शामिल थीं वे थीं : अंध देशभक्ति ('हारे हुए क्षेत्रों को वापस लेना)', सेना का विस्तार, परमाणु हथियारों का शस्त्रीकरण। साधुओं के सांप्रदायिकतावादी जनोत्तेजक प्रदर्शनों का आयोजन और गो-हत्या पर प्रतिबंध लगाने के लिए (इस नारे की गांधी ने काफी पहले भर्त्सना की थी) संघीय कानून की मांग। साथ में सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करने के लिए महत्वपूर्ण आर्थिक मांग भी शामिल थी : 'राज्य द्वारा अनावश्यक दखलंदाजी किए बगैर निजी उद्योग को आगे बढ़ने दिया जाना चाहिए।'

दक्षिणपंथ के आक्रामक खतरे को देखते हुए हाल के वर्षों में वामपंथी एकता की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है और लोकप्रिय जनतांत्रिक शक्तियों में एकजुटता आई है। राज्यों के महत्वपूर्ण चुनावों में संयुक्त मोर्चे को सफलताएं मिलीं और संयुक्त मोर्चा सरकारों की स्थापना हुई जिनमें दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों तथा कांग्रेस के अंदर के जनतांत्रिक तत्वों ने भाग लिया। इसके बाद 1969 के ग्रीष्म में कांग्रेस सरकार की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने 'सिंडीकेट' या पुरानी कांग्रेस के संस्थापित प्रतिक्रियावादी नेताओं की खुलेआम अवहेलना करके 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया और दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों के सार्वजनिक समर्थन तथा वामपंथ के जन आंदोलन के जरिए राष्ट्रपति गिरि का चुनाव कराया।

नई राजनीतिक मंजिल की दिशा में व्यापक जनतांत्रिक प्रगति की ये शुरुआतें अब भी अनिश्चितता से भरी हैं और संक्रमण के इस अस्थिर दौर के खतरे स्पष्ट हैं। प्रतिक्रियावाद विभिन्न रूपों में जवाबी हमले की तैयारी कर रहा है। इन रूपों में प्रतिक्रियावादी पार्टियों और कांग्रेस के दक्षिणपंथी खेमे के एक वैकल्पिक गठजोड़ की योजना और यहां तक की जनतंत्र के मूल आधार के लिए खतरे का संकेत भी शामिल है।

भारत की जनता अब उठ चुकी है। भारत आज महान संघर्षों और दूरगामी रूपांतरणों के एक नए युग में प्रवेश कर रहा है। उसे तूफानी अग्नि परीक्षाओं और चुनौतियों से होकर गुजरना है। अभी तक अपूर्ण भारतीय क्रांति तथा भारतीय जनता की आर्थिक और राजनीतिक मुक्ति के सभी महान कार्य मजबूती के साथ जमते जा रहे हैं और मौजूदा अस्थिर तथा तेजी से बदलते संक्रमण काल और गंभीर राजनीतिक अंतर्विरोधों को रेखांकित कर रहे हैं। जनता की इस प्रगति के समानांतर ही दक्षिणपंथ का खतरा

भी चल रहा है। आर्थिक स्थिति, कृषि के क्षेत्र में संकट, व्यापक भूख और बेरोजगारी, समृद्धि और निर्धनता के बीच की बढ़ती खाई, ये सारी तात्कालिक समस्याएं आज समाधान के लिए फरियाद कर रही हैं। कम्युनिस्ट आंदोलन एवं सभी जनतांत्रिक तथा प्रगतिशील तत्वों की मिलीजुली ताकत से ही आम जनता को एकजुट किया जा सकता है ताकि वह अपने सामने खड़े खतरों को शिकस्त दे सके, अपनी समस्याओं को हल करने का रास्ता अख्तियार कर सके और आगामी कल के भारत का, मेहनतकशों के भारत का निर्माण कर सके।

रजनी पाम दत्त

2 अक्तूबर 1969

1
आधुनिक विश्व में भारत

> मानवीय घटनाओं के क्रम में जब किसी एक जन समुदाय के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उन राजनीतिक बंधनों को रद्द कर दे जिसने उन्हें दूसरे से जोड़ा है और पृथ्वी की शक्तियों में से पृथक और समान स्थान ग्रहण कर ले जिसके लिए प्रकृति के नियमों और प्रगति के नियंता ने उन्हें अधिकार दिया है तो मानव जाति के अभिमत को मर्यादित सम्मान देने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वे उन कारणों की घोषणा करें जिन्होंने उन्हें पृथक रहने के लिए प्रेरित किया है (अमरीकी स्वाधीनता की घोषणा।)

भारत का भविष्य आज विश्व राजनीति के समक्ष अनेक ज्वलंत प्रश्नों में से एक है। भारत की 40 करोड़ जनसंख्या, समूची मानव जाति का लगभग पांचवां हिस्सा है। पिछले दो सौ वर्षों से भारत की जनता विदेशी शासन के अधीन है। आज उस विदेशी शासन की समाप्ति की घड़ी नजदीक आ गई है।

विश्व स्तर पर देखें तो आधुनिक जगत में साम्राज्यवादी प्रभुत्व बने रहने का सबसे बड़ा और सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार है, भारत की गुलामी। सदियों से इस विशाल भूभाग की संपत्ति और स्रोत, यहां की जनता का जीवन और उसका श्रम, पश्चिमी पूंजीवाद की घुसपैठ, आक्रमण और विस्तार तथा अंततः पूर्ण प्रभुत्व और जबरदस्त शोषण का लक्ष्य रहा है। इस व्यवस्था की समाप्ति संपूर्ण मानवजाति के पांचवे हिस्से के लिए मात्र एक नए भविष्य का सूत्रपात ही नहीं करेगी बल्कि वह विश्व संबंधों के संतुलन में निर्णायक परिवर्तन लाएगी। साथ ही वह साम्राज्यवाद की व्यवस्था को और कमजोर तथा समूचे

विश्व में जनता के स्वातंत्र्य संग्राम को और अधिक मजबूत भी करेगी। भारत की मुक्ति के साथ स्वतंत्र चीन का उदय, एशिया की जनता तथा अन्य सभी उपनिवेशों की जनता की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा।

आधुनिक विश्व की सभी समस्याओं और संघर्षों को भारत में अपना केंद्रबिंदु मिलता है। यहां आधुनिक विजेताओं के दुर्दम्य भार के नीचे पिस गई और निष्क्रिय हो गई प्राचीन ऐतिहासिक सभ्यता के अवशेषों के बीच आदिम अर्थव्यवस्था, गरीबी और गुलामी के निकृष्टतम रूप के साथ साथ महाजनी पूंजी के शोषण का अत्याधुनिक स्वरूप भी मिलेगा। यहां कृषि के क्षेत्र में गंभीर संकट तथा अकाल की स्थिति है; लोग कर्ज का पैसा चुकता न कर पाने के कारण गुलामी करने पर मजबूर होते हैं; जाति और कुजात की बेड़ियों में लोग जकड़े हुए हैं; औद्योगिक क्षेत्र में असीम शोषण है तथा अमीर और गरीब के बीच इतनी चौड़ी खाई है जितनी विश्व के किसी भी देश में नहीं मिलेगी; सामाजिक एवं धार्मिक संघर्ष, वर्गसंघर्ष तथा भारत के अंदर उभरते राष्ट्रीय मसले, ये सारी समस्याएं अपने अनेक पहलुओं में किसी गुलाम देश के पिछड़ेपन और अवरुद्ध विकास को प्रतिबिंबित करती हैं तथा विदेशी प्रभुत्व के दबाव के फलस्वरूप साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति की मुख्य समस्या के साथ स्वयं को सामने लाती हैं और मुक्ति के लिए संघर्ष की स्थितियों को जटिल बनाती हैं।

भारत आज जबरदस्त आर्थिक, राजनीतिक क्रांति के युग में प्रवेश कर रहा है। इस क्रांति का पहला चरण होगा, विदेशी शासन से मुक्ति और पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति। लेकिन यह निकट आती जा रही मुक्ति उन भीषण आंतरिक समस्याओं, सामाजिक तनावों और संघर्षों को सामने ला देगी जो सदियों के विदेशी प्रभुत्व के कारण इकट्ठे हो गए हैं, जिन्होंने विकास की गति को अवरुद्ध कर दिया है और जो आज समाधान के लिए फरियाद कर रहे हैं। भारत की जनता को आज राष्ट्रीय और सामाजिक पुनरुद्धार का महत्वपूर्ण कार्य पूरा करना है।

1. स्वाधीनता की पूर्व संध्या में भारत

फासिस्ट शक्तियों पर संयुक्त राष्ट्र की विजय के फलस्वरूप नई विश्व परिस्थिति ने भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न को विश्व राजनीति की अग्रिम पंक्ति में ला खड़ा किया है।

1914-18 के प्रथम विश्वयुद्ध ने और उसी अनुक्रम में विश्व भर में फैली क्रांतिकारी लहर ने अन्य उपनिवेशों की तरह भारत में भी महान परिवर्तनों के युग का सूत्रपात किया। 1919-22 में जबरदस्त जनसंघर्षों नें भारत को झकझोर दिया और 1930-34 में (विश्व आर्थिक संकट के बाद जिसका सबसे अधिक असर भारत पर पड़ा) पहले से भी ज्यादा तेजी के साथ इसकी पुनरावृत्ति हुई। ब्रिटिश शासन ने इस उफनते राष्ट्रीय आंदोलन का मुकाबला कभी सुधारों और कभी दमन के द्वारा करना चाहा। भावी स्वाशसन के वायदों

के साथ सांविधानिक रियायतें पेश की गई जिनसे वास्तविक सत्ता संबंधों में कोई तबदीली नहीं आई। इन सांविधानिक रियायतों के फलस्वरूप 1937 में ग्यारह में से आठ प्रांतों में राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रांतीय मंत्रिमंडल का गठन हुआ, लेकिन इससे दिनोंदिन बढ़ता असंतोष कम नहीं हुआ; उल्टे उसे और प्रोत्साहन मिला। 1939 में युद्ध छिड़ने के समय, जनता पर थोपने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा तैयार किए जा रहे संघीय संविधान के विरुद्ध आजादी के लिए एक जबरदस्त संघर्ष का वातावरण बन चुका था। किसी सलाह-मशविरे या जनता के अनुमोदन का दिखावा किए बिना युद्ध में भारत को घसीट लाने तथा आपात-कालीन युद्ध तानाशाही से शासकों और जनता के बीच की खाई और बढ़ी।

द्वितीय विश्व युद्ध से भारतीय मुक्ति के प्रश्न को नया महत्व मिला। संयुक्त राष्ट्र ने आधि-कारिक तौर पर अपने इस लक्ष्य की घोषणा की कि, 'प्रत्येक देश की जनता को अपनी सरकार स्वयं चुनने का अधिकार है।' प्रथम विश्वयुद्ध के विपरीत, संयुक्त राष्ट्र के संगठन ने चार बड़ी शक्तियों के नेतृत्व में एक संयुक्त निकाय का गठन किया जिसमें दो साम्राज्यवादी राष्ट्र ब्रिटेन और अमरीका के अलावा दो गैर साम्राज्यवादी शक्तियों, राष्ट्रवादी चीन और समाजवादी सोवियत संघ को शामिल किया गया। समूची दुनिया में शक्तिशाली राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन फासीवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी विश्व परिस्थिति में भारतीय जनता भी पूरी शिद्दत के साथ उसी राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मांग करती जिसके लिए तमाम लोग संघर्ष कर रहे थे और जिसमें प्राणों की आहुति देने के लिए भारतीय सैनिकों को बुलाया जा रहा था।

एशिया में युद्ध की विशेष परिस्थितियों ने इस आवश्यकता को और बढ़ा दिया। एशिया में ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रभुत्व ने जब तक अपनी आत्मघाती मूर्खता के कारण जापानी आक्रमण और विस्तार को बढ़ावा दिया था, लेकिन वही आक्रमण जब पर्ल हार्बर के बाद सीधे आगे बढ़ने लगा तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव हिल गई। प्राचीन उपनिवेशवादी व्यवस्था के दिवालियेपन और भीतरी खोखलेपन की उस समय सबके सामने पोल खुल गई जब दक्षिण पूर्व एशिया के बड़े बड़े इलाके लगभग बिना किसी प्रतिरोध के आक्रामकों के हाथ में आ गए। हां, कुछ स्थानों पर विदेशों से बुलाए गए सैनिकों ने उन इलाकों को बचाने का प्रयास किया पर उन्हें सफलता नहीं मिली क्योंकि विदेशी शासक उस जनता को, जिसपर वे शासन करते थे, आंदोलित करने में पूरी तरह अक्षम साबित हुए।

इस रहस्योद्घाटन का भारतीय जनमानस पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन को अप-राजेय शक्ति मानने का भ्रम टूट ही गया। जापानी सैनिक आगे बढ़ते गए और उन्होंने भारत की सीमा को रौंद डाला। धुरी शक्तियों ने भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष सुभाष बोस, जिन्होंने खुद को उनके हाथों में सौंप दिया था, और 'इंडियन नेशनल आर्मी' का बड़ी कुशलता से इस्तेमाल किया और अपने आक्रमण तथा विजय के इरादों पर इस ढोंग का

नकाब चढ़ा लिया कि वे भारत के लिए चिंतित हैं। स्वाधीन भारत के विरुद्ध इस तरह के प्रचार का कोई असर नहीं होता, लेकिन गुलाम भारत के संदर्भ में देखने से पता चलता है कि इस प्रकार के प्रचार का अनिवार्य रूप से एक हद तक असर पड़ा।

इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिसमें केवल जनतंत्र के सिद्धांतों के लिए ही नहीं बल्कि भारत और संयुक्त राष्ट्र के समूचे युद्धस्थल की रक्षा के लिए भारतीय मुक्ति का कार्य तेजी से होना आवश्यक हो गया। भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने दुनिया भर में फासिस्ट गठबंधन के खिलाफ जनतांत्रिक संघर्षों में शामिल लोगों के हित और भारत के हित को समान हित मान लिया था। उन्होंने उस समान हित को मान्यता दी, और ऐसे समय में भी जब ब्रिटेन के शासक फासिस्ट आक्रमण को मदद दे रहे थे और उसे शह दे रहे थे, उन्होंने फासीवाद का समर्थन करने वाली प्रतिक्रियावादी नीतियों का सक्रिय रूप से विरोध किया। उन्होंने इस बात को मान्यता दी कि धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र के युद्ध में भारत का हित फासीवाद की पराजय और उस खेमे की विजय के साथ जुड़ा हुआ है जिसमें राष्ट्रवादी चीन, समाजवादी सोवियत संघ तथा यूरोप के जनतांत्रिक मुक्ति आंदोलन शामिल हैं। लेकिन उन्होंने यह मांग की, जो बिल्कुल ठीक थी, कि भारत को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और यह स्वतंत्रता भारतीय राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो; साथ ही उसके पास पूर्ण और कारगर अधिकार होने चाहिए ताकि वह संयुक्त राष्ट्र के गठबंधन में स्वेच्छा से बने भागीदार के रूप में भारतीय जनता की शक्ति को एकजुट कर सके। यह मांग संयुक्त राष्ट्र के हितों के अनुकूल थी। इसको संयुक्त राष्ट्र के सभी देशों के जनतांत्रिक विचारधारा वालों ने ही समर्थन नहीं दिया बल्कि ब्रिटेन के मित्रों, खासतौर से राष्ट्रपति रूजवेल्ट और मार्शल च्यांग काई शेक, ने अपने अपने आधिकारिक क्षेत्रों से इसका समर्थन किया।

किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति भी भारत में आजादी नहीं ला पाई। ब्रिटेन में टोरीवाद (अनुदार दलीय सरकार) के दिन थे और टोरी शासकों ने भारत को आजादी देने के हर प्रस्ताव का दुराग्रहपूर्ण ढंग से विरोध किया। यहां तक कि युद्धकालीन स्थिति को देखते हुए किसी ऐसे अस्थाई समझौते के प्रस्ताव का भी उन्होंने विरोध किया जिसमें भारत के लोकप्रिय नेताओं के हाथ में प्रभावकारी सत्ता पहुंच सकती थी। चर्चिल का सूत्र वाक्य कि वे 'ब्रिटिश साम्राज्य के समापन की अध्यक्षता करने के लिए ब्रिटेन के प्रधानमंत्री पद पर नहीं बैठे हैं' खतरों और कठिनाइयों से भरे अत्यंत संकटपूर्ण दिनों में भी ब्रिटिश नीति को संचालित करता रहा। 1942 का क्रिप्स समझौता भंग हो गया। तत्कालीन परिस्थिति से उत्पन्न दुविधा में हताश और बिखरा हुआ राष्ट्रीय आंदोलन अगस्त प्रस्ताव के बाद पैदा हुए गतिरोध के दलदल में फंस गया। भारत के राष्ट्रीय नेता जेलों में डाल दिए गए और नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में अनधिकारिक तौर पर जो छिटपुट आंदोलन हुए और उनसे जो अव्यवस्था फैली उसे आसानी से दबा दिया गया। युद्ध के बाद भी भारत की हैसियत गुलाम देश की ही रही और राजनीतिक गतिरोध की स्थिति बनी रही।

लेकिन फासीवाद पर संयुक्त राष्ट्र की विजय ने एक नई परिस्थिति को जन्म दिया। समूची दुनिया में फासिस्ट शक्तियों की सैनिक पराजय और उनका पूरी तरह धराशायी होना 1917 के दिनों के बाद प्रतिक्रियाबाद पर हुआ सर्वाधिक जबरदस्त प्रहार था। सभी देशों में जन आंदोलनों की लहर उमड़ पड़ी। साम्राज्यवाद बेहद कमजोर हो गया। जर्मन, इतालवी और जापानी साम्राज्यवाद का दुनिया के नक्शे से सफाया हो गया। बस केवल दो बड़े साम्राज्यवादी देश, ब्रिटेन और अमरीका, कायम रह सके और इनके साथ फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड और पुर्तगाल जैसे अधीनस्थ उपनिवेशवादी साम्राज्यों का अस्तित्व बना रह सका। यूरोप में नई जनतांत्रिक सरकारों ने उन पुरानी दकियानूसी सरकारों का स्थान ले लिया जिन्होंने फासीवाद के समक्ष या तो आत्मसमर्पण कर दिया था या फासीवाद के साथ गठबंधन कर लिया था। ब्रिटेन में टोरीवाद को चुनाव में करारी हार मिली और उसके स्थान पर पहली बार लेबर पार्टी के बहुमत की सरकार ने सत्ता संभाली। समूचे एशिया में उपनिवेशवाद विरोधी मुक्ति आंदोलन तेज होते गए; और इंडोनेशियाई गणराज्य आंग्ल-डच साम्राज्यवाद तथा उसकी जापानी सेना के सैनिक प्रहार के विरुद्ध डटा रहा। भारत में आजादी की व्यापक मांग तथा राष्ट्रीय विद्रोह का आंदोलन 1945-46 की सर्दियों में पराकाष्ठा पर पहुंच गया और इसकी अभिव्यक्ति हिंदू-मुस्लिम एकता संबंधी जनप्रदर्शनों में तथा सेना तक राष्ट्रीय विद्रोह के विस्तार में हुई।

इस परिस्थिति ने नई लेबर सरकार के निर्देशन में ब्रिटिश नीति को तेजी से एक मोड़ लेने के लिए मजबूर किया। 19 फरवरी 1946 को लेबर सरकार के प्रधानमंत्री श्री एटली ने कैबिनेट मिशन को भारत भेजने के निर्णय की घोषणा की। 15 मार्च को इस मिशन की रवानगी के अवसर पर श्री एटली ने एलान किया :

> अतीत के फार्मूले को वर्तमान स्थिति पर लागू करना हितकर नहीं है। 1946 का तापमान वही तापमान नहीं है जो 1920 में, 1930 में या यहां तक कि 1942 में था…
>
> जनमत की गति और वेग को महायुद्ध से ज्यादा कोई भी चीज तेज नहीं करती है। कोई भी व्यक्ति जिसका युद्ध के प्रारंभिक दिनों में इस प्रश्न से कुछ भी सरोकार रहा होगा उसे यह पता है कि 1914-18 के युद्ध का भारतीय आकांक्षाओं और विचारों पर क्या प्रभाव पड़ा। जो लहर शांतिकाल में अपेक्षाकृत मंद गति से उठती है वह युद्धकाल में प्रचंड हो जाती है और ऐसा खासतौर से युद्ध के तत्काल बाद होता है क्योंकि युद्ध के दौरान वह लहर कुछ हद तक कगारों से बंधी रहती है। मुझे पक्का यकीन है कि इस समय राष्ट्रीयता की लहर भारत में और सच कहें तो समूचे एशिया में बड़े वेग से बह रही है…
>
> भारत को खुद यह तय करना चाहिए कि उसकी भावी स्थिति क्या होगी और

> विश्व में उसका क्या स्थान होगा। मुमकिन है कि संयुक्त राष्ट्र के जरिए या राष्ट्रमंडल के जरिए एकता स्थापित हो जाए लेकिन कोई भी महान राष्ट्र विश्व की घटनाओं में हिस्सा बटाए बगैर अकेले टिका नहीं रह सकता।
>
> मुझे आशा है कि भारत शायद ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत रहना चाहे। मुझे विश्वास है कि ऐसा करने में उसे काफी फायदा होगा लेकिन यदि वह ऐसा करता है तो उसे अपनी ही मर्जी से करना चाहिए क्योंकि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल और ब्रिटिश साम्राज्य एक दूसरे के साथ किसी बाहरी बाध्यता से नहीं बंधे हैं। यह स्वतंत्र लोगों का स्वतंत्र संगठन है।
>
> दूसरी तरफ, यदि वह स्वतंत्रता चाहता है, और मेरे विचार से यह चाहने का उसे पूरा हक है, तो हमें चाहिए कि हम इस हस्तांतरण को यथासंभव आसान और बाधारहित बनाएं।

यह बात ज्यादा से ज्यादा लोगों की जानकारी में आई कि ब्रिटेन की सरकारी अभिव्यंजना में, भारत के संभावित लक्ष्य के संदर्भ में 'स्वतंत्रता' शब्द का पहली बार इस्तेमाल किया गया।

फिर भी भारत के अंदर और भारत के बाहर अनेक क्षेत्रों में की जाने वाली सहज आशाएं कि कैबिनेट मिशन की रवानगी और इससे पहले ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों का अर्थ भारत को स्वतंत्रता देना है, बिल्कुल अधूरी आशाएं थीं। कैबिनेट मिशन और तदनंतर नए सांविधानिक प्रस्तावों के इतिहास की जांच हम अगले पृष्ठों में करेंगे। इन समझौतों और उपायों का अंतिम नतीजा व्यावहारिक अनुभव में प्रदर्शित किया जाएगा। लेकिन यह संभाव्य है कि ऐतहासिक निर्णय से यह निष्कर्ष निकलेगा कि वास्तव में ये प्रस्ताव भारतीय स्वाधीनता की शुरुआत के बजाय ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा सांविधानिक रूपांतर और समझौते के प्रयत्नों की लंबी शृंखला की अंतिम कड़ी थे।

1946 में अब भी भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग है। भविष्य में स्वतंत्रता का चुनाव करने के अधिकार के संदर्भ में औपचारिक रियायत, संविधान बनाने वाले निकाय के केवल उसी को अधिकार का इस्तेमाल करना है—पूर्वनिर्धारित और अप्रातिनिधिक चरित्र, संरचना तथा कार्यविधि के कारण अधिकांशतः निष्प्रभाव कर दी गई है।

इस प्रकार आने वाले दिनों में साम्राज्यवाद को कुछ दिन और टिके रहने तथा नए रूपों में भी साम्राज्यवादी प्रभुत्व कारगर ढंग से बनाए रखने का प ्टा मिल जाएगा। भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई अभी जीतनी है।

लेकिन आज किसी भी क्षेत्र के व्यक्ति को यह संदेह नहीं है कि ऐतिहासिक घटनाक्रम की समूची धारा अब भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में है और यह कि निकट भविष्य में भारतीयों को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जाएगी।

यही वह संदर्भ है जिसके द्वारा हम आज के भारत, साम्राज्यवादी शासन के अंतिम दिन, साम्राज्यवादी प्रभुत्व की लंबी कहानी तथा भारतीय जनता की उफनती अग्रगति की जांच कर सकते हैं।

2. साम्राज्यवाद और भारत

सदियों से भारत आधुनिक साम्राज्यवादी विस्तार और प्रभुत्व का मुख्य आधार रहा है। भारत का क्षेत्रफल 1,808,679 वर्गमील है जो ब्रिटिश द्वीप समूह के क्षेत्रफल का पंद्रह गुना और ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल का बीस गुना है। भारत की जनसंख्या 1941 की जन-गणना के अनुसार 38 करोड़ 90 लाख है और अनुमानतः अब लगभग 56 करोड़ होगी जो संपूर्ण मानव जाति का लगभग पांचवा हिस्सा है।

भारत की 56 करोड़ आबादी ब्रिटिश साम्राज्य की कुल आबादी का तीन चौथाई हिस्सा ब्रिटिश साम्राज्य के समुद्रपारीय आबादी का 4/5 हिस्सा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन औपनिवेशिक आबादी का लगभग 9/10 हिस्सा है।

वर्तमान युद्ध से पहले के आठ प्रमुख उपनिवेशवादी साम्राज्यों के विस्तार की तुलना करें तो पता चलेगा कि 1938 में ब्रिटिश शासन के अधीन भारतीय जनता, विश्व के अन्य उपनिवेशों में रहने वाले लोगों के आधे से अधिक हिस्से का तथा शेष अन्य उपनिवेशवादी साम्राज्यों, फ्रांस, जापान, हालैंड, अमरीका, बेल्जियम, इटली और पुर्तगाल की कुल औपनिवेशिक आबादी के डेढ़ गुने हिस्से से भी अधिक का प्रतिनिधित्व करती थी।

साम्राज्यवाद द्वारा प्रत्यक्ष उपनिवेश बनाए गए देशों में भारत सबसे बड़ा ही नहीं है। यह सबसे पुराना और सबसे ज्यादा समय तक अनेक पीढ़ियों से शासित और शोषित है इसीलिए यह औपनिवेशिक व्यवस्था की कायपद्धति और उसके परिणाम का मुकम्मल रूप पेश करता है।

यूरोप की सभी उपनिवेशवादी शक्तियों ने अपनी पहली कोशिश भारत और भारत की संपदा को हथियाने की की; भारत के लिए नए समुद्री मार्ग की तलाश में वे अमरीका और वेस्टइंडीज के आरपार ठोकरें खाते रहे; बाद में कहीं जाकर वे अफ्रीका, आस्ट्रे-लिया, चीन तथा एशिया के अन्य हिस्सों तक अपना विस्तार कर पाए।

यदि हम नक्शे पर निगाह डालें तो आसानी से देख सकते हैं किस प्रकार भारत साम्राज्य-

वादी प्रभुत्व का केंद्र बिंदु रहा है। यह साम्राज्यवाद भारत को प्रभावशाली केंद्र बनाकर हिंद महासागर के चारों ओर तथा फारस की खाड़ी तक; पश्चिम में नए मध्यपूर्वी साम्राज्य और अरब त ; फिर लाल सागर और मिस्र तक, तथा दक्षिण पश्चिम में अफ्रीका के समस्त भूभाग तक; पूर्व में बर्मा, मलय राज्य और ईस्टइंडीज तक; दक्षिण पूर्व में आस्ट्रेलिया तक और सिंगापुर के प्रवेश द्वार के साथ साथ हाल ही में नए बर्मा-यूनान मार्ग होते हुए चीन के रास्ते तक फैला हुआ है।

उत्तर में अभेद्य पर्वत के अवरोध (जो केवल उत्तर पश्चिम में आक्रमण के लिए खुला है) और समुद्र पर नियंत्रण के कारण भारत इस समूचे क्षेत्र पर आधिपत्य के लिए एक दुर्ग का काम करता है, साथ ही वह स्वयं में संपत्ति और शोषण का समृद्धतम स्रोत है।

भारत में यूरोपीय पूंजी की घुसपैठ आज से चार सौ वर्ष से भी पहले उस समय शुरू हुई जब 1500 ई० में पुर्तगाल ने कालीकट में अपना कारखाना लगाया और 1506 में गोवा पर विजय हासिल की। सन 1600 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी, 1602 में डच ईस्ट इंडिया कंपनी और 1664 में फ्रेंच कंपनी द इंदीज की स्थापना हुई। व्यापार समझौतों से अलग हटकर जो विजय के प्रारंभिक छोर थे, भारत में ब्रिटेन का प्रत्यक्ष क्षेत्रीय शासन 18वीं सदी के मध्य से शुरू होता है। 1757 में प्लासी के युद्ध को परंपरागत प्रस्थान बिंदु मानें तो भारत में ब्रिटिश शासन के दो सौ वर्षों का निकट से परिचय मिलता है।

पश्चिमी सभ्यता द्वारा भारत की विजय ने यूरोप में पूंजीवादी विकास के प्रमुख स्तंभों में से एक की सृष्टि की, विश्व में ब्रिटेन की सर्वश्रेष्ठता को स्थापित किया तथा आधुनिक साम्राज्यवाद की समूची संरचना का निर्माण किया। दो शताब्दियों तक यूरोप का इतिहास, जितना स्वीकार किया जाता है उससे कहीं अधिक सीमा तक भारत पर प्रभुत्व के आधार पर निर्मित होता रहा। ब्रिटेन का स्पेन और पुर्तगाल, हालैंड, फ्रांस, रूस और जर्मनी के साथ एक के बाद एक जो संघर्ष होता रहा उसके पीछे भारत तक पहुंचने का रास्ता और भारत के प्रभुत्व का प्रश्न ही मुख्य था इसका पता लगाया जा सकता है। इंग्लैंड में आंतरिक राजनीति के दौर के पीछे तथा समूचे सामाजिक और आर्थिक ढांचे को पूरी मेहनत तथा अनिश्चितता के साथ सहारा देने के पीछे भी इसी प्रभुत्व की भूमिका की खोज की जा सकती है।

भारत को काफी पहले से ब्रिटिश साम्राज्य की धुरी मान लिया गया है। जैसाकि उस समय भी भारत में फैल रहे साम्राज्यवाद के अंतिम महत्वपूर्ण वायसराय लार्ड कर्जन ने 1894 में लिखा था (वायसराय बनने से पहले) :

> 'जिस प्रकार डी तोक्वेल ने कहा था कि भारत की सरकार और भारत पर
> विजय ही वस्तुतः वे उपलब्धियां हैं जिन्होंने विश्व के अभिनय में इंग्लैंड को

> उसका उचित स्थान दिलाया है, उसी प्रकार एशिया में उसकी स्थिति से उत्पन्न वैभव और सम्मान ही ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिला हैं। प्राचीन एशियाई महाद्वीप के केंद्रस्थल पर वह उस सिंहासन पर आरूढ़ हैं जिसने हमेशा पूर्व पर शासन किया। उसका राजदंड पृथ्वी और समुद्र पर दूर दूर तक फैला हुआ है। 'ईश्वर की तरह उसके हाथ में त्रिशूल है और सम्राट की तरह उसके मस्तक पर ताज सुशोभित है।' (माननीय एच० एन० कर्जन प्राबलम्स आफ दि फार ईस्ट' 1894, पृ० 419)

चार वर्ष बाद 1898 में साम्राज्यवाद के इस मदहोश प्रशस्तिगायक ने एक नया राग छेड़ा: भारत हमारे साम्राज्य की धुरी है—यदि ब्रिटिश साम्राज्य अपने अधिराज्य का कोई दूसरा हिस्सा गवां देता है तो भी हम जीवित रह सकते हैं पर यदि हमने भारत को खो दिया तो हमारे साम्राज्य का सूरज अस्त हो जाएगा।

शब्दाडंबरपूर्ण बहुधा उद्धृत किए जाने वाले इस वाक्य से आभास मिलता है कि उन्हें अपने अंतिम दिनों का एहसास होने लगा था।

ऐतिहासिक तथ्यों को देखने से पता चलता है कि ब्रिटेन के लिए तथा ब्रिटिश पूंजीवाद की समूची संरचना और उसके विकास के लिए भारत का आर्थिक और वित्तीय महत्व बहुत अधिक रहा है। यह महत्व अब कम हो रहा है तथापि अब भी उल्लेखनीय तो है। भारतीय बाजार पर चला आ रहा पुराना एकाधिकार, जो 19वीं सदी में 4/5 हिस्से से भी ज्यादा तक पहुंच गया था और 1914-18 के युद्ध की पूर्वसंध्या तक भी दो तिहाई था, अब समाप्त हो गया है, फिर कभी वापस न आने के लिए। 1929 के बाद से भारत ब्रिटिश सामानों का एकमात्र सबसे बड़ा बाजार नहीं है और 1938 तक उसका स्थान तीसरा हो गया था। फिर भी भारतीय व्यापार का बहुत बड़ा हिस्सा आज भी ब्रिटेन के हाथ में है। 1933 में भारत कुल अनुमानित ब्रिटिश पूंजी 1 अरब पौंड थी। (इंडियन चैंबर आफ कामर्स अनुमान)। यह राशि ब्रिटेन द्वारा समुद्रपारीय देशों में लगाई गई कुल पूंजी का एक चौथाई थी। इस समूची राशि में अब कमी आ गई है हालांकि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद से जो परिवर्तन हुए हैं उनके प्रभावों के बारे में कोई आधिकारिक आकलन अभी तक नहीं किया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि युद्ध के दबाव के कारण जबकि दूसरे देशों में ब्रिटेन का समुद्रपारीय पूंजीनिवेश स्वतंत्र रूप से बेचा गया, भारत में लगी पूंजी को दृढ़ता के साथ बनाए रखा गया। कागज-पत्रों पर कुल संपत्ति का वर्तमान योग उस क्षतिपूर्ति से अधिक है जो युद्ध के दौरान भारत से, बिना भुगतान किए सामानों की प्राप्ति से जमा स्टर्लिंग संतुलनों के रूप में थी। लेकिन उनके भविष्य का निबटारा होना अब भी बाकी है। भारत से, किसी न किसी रूप में, ब्रिटेन जाने वाले वार्षिक कर की राशि अनुमानतः 15 करोड़ पौंड (यह गणना वर्ष 1921-22 पर आधारित है जो शाह और संबाटा की पुस्तक 'वेल्थ ऐंड टैक्सेबल कैपेसिटी इन इंडिया' के पृष्ठ

234 पर उल्लिखित है ।) या उसी तिथि में समूचे भारतीय बजट के योग से अधिक और ब्रिटेन की जनसंख्या के हिसाब से प्रति व्यक्ति 3 पौंड प्रतिवर्ष की राशि से अधिक के बराबर या आकलन के समय सुपर टैक्स देने वाले प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक के लिए लगभग 1700 पौंड प्रतिवर्ष के बराबर है ।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए भारत का सामरिक महत्व भी कम नहीं है । इसका महत्व दो तरह से है, एक तो इससे ब्रिटेन को अनेक हिस्सों में अपने साम्राज्य के विस्तार का आधार मिलता है, नकदी संपत्ति मिलती है और असंख्य समुद्रपारीय युद्धों और अभियानों के लिए सैनिक मिलते हैं, दूसरे उसे एक ऐसा केंद्रीय स्थल मिलता है जहां से लगातार सामरिक जोड़ तोड़ (भूमध्य सागर, स्वेज नहर और लाल सागर, फारस की खाड़ी और मध्य पूर्व साम्राज्य तथा सिंगापुर का नियंत्रण) संचालित होते हैं । द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत के सामरिक महत्व का और भी ज्यादा प्रमाण मिला ।

3. भारत में साम्राज्यवाद का दिवालियापन

भारत में साम्राज्यवादी शासन का नतीजा क्या निकला है ? प्रेक्षकों के सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण कितने भी भिन्न क्यों न रहे हों, लेकिन एक मुद्दे पर दक्षिणपंथी और वामपंथी, सभी सहमत हैं । साम्राज्यवादी शासन के दो सौ वर्षों के बाद, भारत यहां की जनता की भीषण गरीबी और कष्ट की जो तस्वीर पेश करता है वह दुनिया में बेमिसाल है ।

यह देश के प्रकृतया गरीब होने या संसाधनों की कमी का मसला नहीं है । जिन विशाल क्षेत्रों में लोग रहते हैं वे प्राकृतिक संपदा और साधनों की दृष्टि से काफी समृद्ध हैं । यह समृद्धि केवल भूमि की उर्वरता और कृषि उत्पादन की संभाव्यता के ही मामले में नहीं है बल्कि कच्चे माल के मामले में भी है जिसका इस्तेमाल विशेष रूप से कोयला, लोहा और जलशक्ति जैसे बेहद विकसित औद्योगिक उत्पादन के साथ साथ जनता की प्रतिभा और तकनीकी अभिरुचि तथा दक्षता (जो तब से जब भारत साम्राज्यवादी शासन से पूर्व तकनीकी दृष्टि से अन्य देशों की तुलना में आगे था, अब तक पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ) के लिए किया जा सकता है । वैसे यदि कृषि उत्पादन की संभाव्यता और जमीन की उर्वरता की जांच की जाए तो पता चलेगा कि यदि इसका पूरी तरह इस्तेमाल किया जाए तो मौजूदा आबादी से कहीं अधिक आबादी के लिए भरपूर अनाज पैदा हो सकता है ।

फिर भी ये साधन और संभावनाएं मुख्यतया अविकसित हैं । पूंजीवाद के बारे में यदि सामान्य तौर पर हम यह मानते हैं कि उसमें उत्पादन की बरबादी होती है और उत्पादन की संपूर्ण क्षमताओं का इस्तेमाल करने में पूंजीवाद विफल होता है, तो भारत में यह

विफलता अपनी चरम सीमा तक पहुंची है और यह स्थिति उसे अपने स्वरूप में किसी अन्य साम्राज्यवादी देश से बुनियादी तौर पर भिन्न बनाती है।

हाल ही में एक अमरीकी पर्यवेक्षक प्रोफेसर बुशनान ने 1934 तक के भारत के आर्थिक और औद्योगिक विकास का अत्यंत महत्वपूर्ण सर्वेक्षण किया और उन्होंने बहुत ही निराशाजनक नतीजे निकाले :

> यह ऐसा देश है जहां वह सारा कच्चा माल मौजूद है जिसपर उत्पादन निर्भर करता है फिर भी पिछले सौ वर्षों से भी अधिक समय में इसने कारखानों में बने सामानों का भारी मात्रा में आयात किया है और महज कुछ अति साधारण उद्योगों का जिनके लिए अन्य देशों में बेहद उन्नत मशीनें और संगठन हैं, विकास किया है। यहां प्रचुर मात्रा में कपास, पटसन, आसानी से निकाला जा सकने लायक कोयला, आसनी से प्राप्य और उच्चकोटि का कच्चा लोहा है; यहां तमाम लोग ऐसे हैं जो लाभदायक रोजगार न पाने के कारण प्रायः भुखमरी की स्थिति में रहते हैं; यहां सोना और चांदी का जितना जखीरा है उतना शायद ही किसी दूसरे देश में हो…देश की सीमाओं के अंदर उत्कृष्ट बाजार है जिसमें दूसरे लोग ब; पैमाने पर अपने बनाए सामान बेच रहे हैं, इन सारे लाभों के बावजूद भारत एक सौ वर्ष बाद भी कारखाना उद्योग से अपनी आबादी के केवल दो प्रतिशत हिस्से को सहारा दे रहा था।
> (डी० एच० बुशनान 'दि डेवलपमेंट आफ कैपिटलिस्ट एंटरप्राइज इन इंडिया', 1934, पृष्ठ 450)।

भारतीय अर्थशास्त्र के प्रमुख ब्रिटिश विशेषज्ञ और लंदन विश्वविद्यालय के वाणिज्य विभाग में प्राख्याता डाक्टर वेरा एंसटे ने भारत में अवरुद्ध आर्थिक विकास की तस्वीर खींची। उन्होंने इसे अलंत 'विचित्र' माना।

> क्योंकि 18वीं सदी तक भारत में आर्थिक विकास की गति अपेक्षाकृत काफी तेज थी और उत्पादन तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक संगठन की भारतीय पद्धति इतनी सुदृढ़ थी कि वह विश्व के किसी भी हिस्से में प्रचलित पद्धति का मुकाबला कर सकती थी…
>
> वस्तुतः यह दावा नहीं किया जा सकता कि ब्रिटिश शासनकाल के दौरान कोई आर्थिक प्रगति नहीं हुई। ब्रिटिश संयोजन के परिणामस्वरूप भारत को सस्ते विदेशी सामान मिले, अनेक तरह के भारतीय उत्पादनों के लिए लोगों की मांग बढ़ी और जनता को उस कार्यपद्धति और प्रशासन प्रणाली से परिचय हुआ जिससे वह काफी बढ़ी हुई मात्रा में अनाज

का उत्पादन करने (खास तौर से विस्तृत सिचाई साधनों द्वारा) तथा अन्य सामानों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने (रेल और पानी के जहाज द्वारा) योग्य हो सकी। खास तौर से 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत का कुल उत्पादन और व्यापार दिन दूनी रात चौगुनी दर से बढ़ा।

लेकिन इन परिवर्तनों ने भारत और पश्चिमी देशों की एक दूसरे पर निर्भरता बढ़ा दी जिससे भारत की प्रवृत्ति प्रमुख कच्चे मालों और खाद्य पदार्थों का उत्पादन करने एवं उनका निर्यात करने तथा कपड़ों, लोहे और इस्पात के बने सामानों, मशीनों और अनेक तरह के सामानों का आयात करने की प्रवृत्ति और बढ़ी। इसके अलावा जनसंख्या में संगामी वृद्धि ने कुल उत्पादन में हुई वृद्धि को इस सीमा तक व्यर्थ कर दिया कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि का पता नहीं लगाया जा सका। इन तथ्यों से निश्चय ही यह दृष्टिकोण बना कि भारत में आर्थिक विकास 'अवरुद्ध' हो गया है…

19वीं सदी के अंत तक जनता की समृद्धि पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव असंदिग्ध रूप से निराशाजनक था। (वी० एंसटे दि इकोनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया, तीसरा संस्करण, 1936, प्रस्तावना, पृष्ठ 5)

इधर हाल के वर्षों की क्या स्थिति है जिनमें कभी कभी यह कहा गया है कि यह स्थिति अब बदल गई है और उद्योगीकरण का काम ठीक ढंग से आगे बढ़ रहा है? वी० एंसटे ने ही 1931 की जनगणना के आंकड़ों की जांच पड़ताल की और इस नकारात्मक निष्कर्ष पर पहुंचे :

इन आंकड़ों का तेजी के साथ विकसित हो रहे उद्योगीकरण के साथ सामंजस्य बैठाना कठिन है। कृषीय विकास की तुलना में औद्योगिक विकास न केवल नगण्य है बल्कि भारत अब भी उन तमाम सामानों और सेवाओं की व्यवस्था के लिए, जो भौतिक दृष्टि से विकसित किसी भी देश के लिए अनिवार्य हैं, विदेशियों पर बेहद निर्भर है…सुव्यवस्थित आर्थिक जीवन की उपलब्धि अब भी नहीं हो पाई है और जनसामान्य का जीवनस्तर अत्यंत निम्न है। (वही, पृष्ठ 8)

इस विरोधाभास का क्या जवाब है जो संभाव्य प्रचुरता के बीच अवर्णनीय गरीबी में (जो किसी सामान्य पूंजीवादी देश में पाए जाने वाले इस तरह के विरोधाभास से काफी अधिक हो), तथा तकनीक के क्षेत्र में सर्वाधिक संपन्न और अत्यधिक विकसित राष्ट्र के दो सौ वर्षों के शासन के बावजूद अवरुद्ध आर्थिक विकास में दिखाई देती है?

इस विरोधाभास को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम भारतीय जनता की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के संदर्भ में साम्राज्यवाद की वास्तविक कार्यप्रणाली का निकटता से अध्ययन कर।

भारत के उत्पादक साधनों को विकसित करने में विफल होने के कारण ही भारत में आज साम्राज्यवाद के आने वाले अंतिम दिनों का संकेत मिलने लगा है। ठीक वैसे ही जैसे सामंती राजाओं की शासन प्रणाली की तुलना में ब्रिटिश पूंजीवादी आक्रामकों की अपेक्षाकृत आर्थिक श्रेष्ठता ने ही (उस आक्रमण के दौरान बड़े पैमाने पर विनाश और लूटमार के बावजूद) उन्हें दो सौ वर्ष पूर्व भारत पर विजय दिलाई।

भारत में पुरानी व्यवस्था के दिवालिएपन और नई व्यवस्था के जन्म की सामाजिक-राजनीतिक अभिव्यक्ति ही साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध, जिसने बीसवीं सदी में भारतीय परिदृश्य पर अधिक से अधिक आधिपत्य कायम किया, भारत की जनता का सक्रिय विद्रोह है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि स्थितियां उस रूपांतरण के लिए परिपक्व हो चुकी हैं जो भारत में साम्राज्यवादी अपकर्ष से उत्पन्न निश्चलता को समाप्त कर देगा और इसके स्थान पर जनता के आधुनिक गतिशील भारत का निर्माण करेगा।

भारत का जागरण

साम्राज्यवादी शासन की इस पतनशील और दिवालिया प्रणाली के विरुद्ध ही भारत की जनता इतने व्यापाक अ।र सर्वतोमुखी विद्रोह के लिए उठ खड़ी हुई है।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन[1] पिछली शताब्दी के दौरान अनेक चरणों से गुजरकर और 19वीं सदी के अंतिम पच्चीस वर्षों से आधुनिक स्वरूपों में विकसित हुआ है। इसका विकास कानूनी और गैरकानूनी, सांविधानिक और क्रांतिकारी, कई रूपों में हुआ है। इसने अपने भीतर रूढ़िवादी और जातीय तथा आधुनिक युग में समाजवादी और साम्यवादी, अनेक धाराओं को समाविष्ट किया। आज से 50 वर्ष पहले तक वैधानिक आंदोलन की मांगें साम्राज्यवादी ढांचे के अंतर्गत महज सामान्य सुधारों के लिए थीं। संगठित आंदोलन मुट्ठी भर शिक्षित मध्यवर्ग तक ही सीमित था। लेकिन बीसवीं सदी से आंदोलन का क्षेत्र और लक्ष्य लगातार व्यापक होता गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीय आंदोलन ने पूरी तरह व्यापक स्वरूप ग्रहण कर लिया, अब पूर्ण स्वशासन की मांग की जाने लगी जिसकी व्याख्या अंततः 1929 ई० और बाद के वर्षों में की गई और इस मांग को पूर्ण स्वाधीनता तथा ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने की मांग कहा गया।

भारत जग रहा है। भारत, जो हजारों वर्षों से एक के बाद एक विजेताओं की जीत का

शिकार रहा है, अब अपने स्वतंत्र अस्तित्व की स्थापना का उद्‌बोधन कर रहा है जिसमें स्वतंत्र जनसमुदाय विश्व रंगमंच पर अपनी खुद की भूमिकाएं अदा करे। इस जागरण ने हमारे जीवनकाल में ही लंबी छलांगें लगाई हैं। पिछले 25 वर्षों में एक नए भारत का उदय हुआ है। चाहे कितने भी अवरोधों पर अभी विजय क्यों न प्राप्त करनी हो पर स्वतंत्रता के मार्ग पर भारत की प्रगति को आज समूचे विश्व के लोग निकट भविष्य में उपलब्ध होने वाली विजय के रूप में स्वीकार कर रहे हैं। लेकिन भारत के स्वतंत्र होने का अर्थ गुलाम कौमों पर आधुनिक साम्राज्यवादी प्रभुत्व के मुख्य आधार का समाप्त हो जाना है।

विगत संपूर्ण अवधि के दौरान ब्रिटिश नीति ने राष्ट्रीय आंदोलन का मुकाबला करने, उसे रोकने, उसमें फूट डालने, उसे भ्रष्ट करने या उसका विरोध करने तथा आंदोलन की प्रगति का डटकर सामना करने का भरपूर प्रयास किया। इसके लिए उसने अपने शस्त्रागार के सारे हथियारों का इस्तेमाल किया, वह हथियार चाहे जबरदस्त दमन का रहा हो या सांविधानिक रियायतों का, चाहे फूट डालने के कुशल संचालन का रहा हो या आंदोलन के नेतृत्व वर्ग तक पहुंच का। ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति ने, जो साम्राज्यवादी नीति की बेहद कुशल, लचीली और अनुभवी अभिव्यक्ति थी, सुधारों के साथ बल प्रयोग को जोड़कर और ऊपरी तौर पर दूरगामी रियायतें देकर हर तरह से अपने को नई स्थिति के अनुकूल ढालने और अपनी सत्ता तथा शोषण की असलियत को बरकरार रखने की कोशिश की। साम्राज्यवाद के ढांचे के अंतर्गत स्वशासन और स्वतंत्रता की दिशा में उपनिवेशों की जनता की क्रमिक और शांतिपूर्ण प्रगति की संभावना की बात करने वाले उदार साम्राज्यवादी और सुधारवादी सिद्धांतों को यहां व्यवहार की कसौटी पर उतरना पड़ा। इतिहास इस संघर्ष के अंतिम परिणाम का निर्धारण करेगा जो मात्र भारतीय जनता के भविष्य के लिए ही नहीं बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के भविष्य के लिए निर्णायक भूमिका अदा करेगा।

पिछले 25 वर्षों की घटनाओं ने दिखा दिया है कि नई स्थितियों के अनुकूल अपने को ढालने के साम्राज्यवाद के सभी प्रयास तथा इस अवधि की खास बात यानी बल प्रयोग और रियायत की प्रत्यावर्ती लहरें न तो राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते प्रवाह को रोक सकीं और न भारत की समस्या का कोई समाधान दे सकीं।

साम्राज्यवादी शासन के अधीन भारत की राजनीतिक स्थिति के साथ साथ सामाजिक और आर्थिक स्थितियों में बद्धमूल उदीयमान अंतर्विरोधों ने बार बार एकता के प्रयासों को विफल कर दिया है। ऊपर अत्यधिक विकसित एवं विस्तृत महाजनी पूंजी का शोषण और प्रभुत्व तथा नीचे निम्नतम स्तर की सामाजिक दुर्दशा और पिछड़ापन ये दोनों स्तर कारण और प्रभाव के जाल में एक दूसरे से गुंथे हुए हैं। इनको विरोधी स्तरों के बीच अर्थात ऊपरी सिरे पर साम्राज्यवादी शोषकों तथा निचले सिरे पर असहायों की संख्या

बढ़ाने वाली जनता की दो परस्पर विरोधी पराकाष्ठाओं के बीच संक्रमणकारी रूप विधानों, बिचवई परोपजीविता, शोषण के अधीनस्थ रचनातंत्र, पुरानी अपघटित होती हुई शक्तियों और नई प्रगामी शक्तियों का जमघट है। इनका प्रतिवर्ष विस्तार हो रहा है और इन सबके माध्यम से भारतीय जनता की उदीयमान राष्ट्रीय चेतना का तथा भारत की क्षुधित आम जनता की उदीयमान आर्थिक मांगों का विकास हो रहा है। यह ऐसी स्थिति है जिसके हर मोड़ पर सामाजिक विस्फोट का बारूद दबा पड़ा है।

भारत की बुनियादी समस्या केवल राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि सामाजिक है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता की चुनौती का सीधा अर्थ समूची मानवता के पांचवें हिस्से द्वारा विदेशी आधिपत्य से मुक्ति पाने का दावा है। लेकिन राजनीतिक स्वाधीनता के दावे की तुलना में, जिसमें उसे राजनीतिक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है, स्वतंत्रता की यह मांग ज्यादा गहराई तक प्रहार करती है। यह अपने मूल में, दूर तक संस्थापित उस शोषण व्यवस्था के विरुद्ध चुनौती है जिसका आश्रयस्थल तो लंदन शहर है लेकिन जो भारत के अंदर स्थापित विशेषाधिकार और शोषण की अधीनस्थ प्रणाली के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी है। दूसरे को परे रखकर पहले को क्षति नहीं पहुंचाई जा सकती, इसके लिए दोनों पर एक साथ प्रहार करना होगा।

इस अर्थ में भारत की समस्या अंतिम विश्लेषण में एक सामाजिक समस्या है। भारत की मूल समस्या 40 करोड़ मनुष्यों की समस्या है। यह उनकी समस्या है जो बेहद गरीबी की स्थिति में जीवन बिता रहे हैं और जिनकी आबादी का एक विशाल बहुमत अर्ध भुखमरी की स्थिति में है। इसके साथ ही वे एक ऐसे विदेशी शासन के अधीन हैं जिसका उनके जीवन पर पूरा नियंत्रण है और जो इस तरह की भयावह स्थितिां पैदा करने वाली समान व्यवस्था को ताकत के बल पर बरकरार रखे हैं। ये करोड़ों लोग जीवन के लिए, जीवन के साधनों के लिए और प्रारंभिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनके संघर्ष की समस्या और उनके लक्ष्यों को प्राप्त करने के तरीके की समस्या ही भारत की समस्या है।

भारतीय जनता के संघर्ष का तात्कालिक उद्देश्य है : राष्ट्रीय मुक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति और स्वशासन का जनतांत्रिक अधिकार। लेकिन यह उद्देश्य भारत के अंदर एक गंभीरतम सामाजिक संघर्ष और एक गतिवान सामाजिक क्रांति के पहले चरण को चित्रित करता है। राष्ट्रीय और सामाजिक मसले एक दूसरे के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए हैं और इस अंत:संबंध की समझदारी ही भारतीय स्थिति के समझने की कुंजी है।

सामाजिक रूढ़िवादिता आज भी भारत में जड़ जमाए हुए है और यह राष्ट्रीय आंदोलन की समस्याओं और उसके चरित्र को बुरी तरह प्रभावित करती है। इस तरह की सामाजिक रूढ़िवादिता और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के प्रभाव से राष्ट्रीय आंदोलन का

विकास कमजोर पड़ता है तथा उसमें विघटन पैदा होता है। साम्राज्यवाद ने लूटमार के अपने असली कारनामों पर परदा डालने के लिए खुद को 'सभ्यता का प्रसार करने वाले के रूप में प्रस्तुत किया, इसलिए हमें अब दूसरी दिशा में प्रचारित की जाने वाली सदृश पूर्वधारणाओं तथा कृत्रिम मिथकों के प्रति सचेत रहने की जरूरत है।

क्योंकि साम्राज्यवाद की कृत्रिम मिथक कथाओं के विरोध में, भारत में कुछ ऐसे लोगों के वर्ग ने, जिसकी दृष्टि हमेशा पीछे की तरफ लगी रहती है, जवाबी मिथक कथाएं गढ़ने का प्रयास किया है। साम्राज्यवादी प्रभुत्व की बुराइयों की प्रतिक्रिया में इन लोगों ने भारत में ब्रिटिश शासन से पूर्व के काल को स्वर्ण युग के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। उन्होंने उस सड़ी गली समाज व्यवस्था की बुराइयों को कम आंकने का प्रयास किया है जो ब्रिटिश शासन से पूर्व पतन के गर्त में जा चुकी थीं। उन्होंने भारत के अतीत के उन प्रतिक्रियावादी अवशेषों को, जिन्होंने प्रगति को रोका, जनता की चेतना को दबाया और एकता में बाधा पहुंचाई, इतिहास के दृष्टांतों से महज सही ठहराने का ही नहीं बल्कि उन्हें गौरवान्वित और आदर्श स्थिति के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। वे इन प्रतिक्रियावादी अवशेषों के आधार पर राष्ट्रीय चेतना के निर्माण की कोशिश करते हैं। इस प्रकार उन्होंने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को सामान्यतया 'पश्चिमी सभ्यता' के विरुद्ध संघर्ष में तबदील करने की कोशिश की। उन्होंने अपनी दृष्टि हमेशा आगे के बजाय पीछे रखी।

इससे राष्ट्रीय मोर्चा मजबूत नहीं बल्कि कमजोर ही हुआ है। भारतीय समाज की ये बुराइयां केवल साम्राज्यवादी शासन से नहीं व्युत्पन्न हुई हैं बल्कि वे भारत के इतिहास प्रसिद्ध अतीत से भी विरासत में मिली हैं। उलटे, यदि उन बुराइयों के विरुद्ध लड़ने में राष्ट्रीय मोर्चा साम्राज्यवाद के मुकाबले खुद को ज्यादा समर्थ दिखा सके तो वह मजबूत होता जाएगा। जहां तक साम्राज्यवाद की बात है वह अपनी भूमिका और अपने सामाजिक आधार की मूल प्रकृति के अनुसार इन बुराइयों को जारी रखने और यहां तक कि उन्हें और बढ़ावा देने के लिए विवश होता है।

जब तक साम्राज्यवाद अपेक्षाकृत अधिक विकसित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के प्रतिनिधि के रूप में अपने को प्रदर्शित कर सका, तब तक अपनी तमाम आनुषंगिक क्रूरताओं और बर्बादी के बावजूद वह अपना प्रभुत्व कायम रख सका। आज राष्ट्रीय मोर्चे की शक्तियों और भारतीय जनता की उन्नतिशील सामाजिक शक्तियों के बीच जितनी ही स्पष्टता के साथ तादात्म्य स्थापित होता जा रहा है—और वे साम्राज्यवाद के मुकाबले एक श्रेष्ठ सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के प्रतिनिधि के रूप में स्पष्ट दीख सकती हैं—उतनी ही स्पष्टता के साथ उनकी भावी विजय भी निश्चित हो रही है।

भारत में बढ़ रहे संकट के कारण तमाम आंतरिक सामाजिक संघर्ष और समस्याएं सामने

आ रही है। भारतीय जनता के सामने आज जो बुनियादी क्रांतिकारी कार्य हैं वे मानवता के और किसी हिस्से के सामने नहीं हैं। भारत के पिछड़ेपन के कारण उत्पन्न गंभीर समस्याएं, सदियों की दासता से उत्पन्न गंदगी को साफ करने का काम, अवरुद्ध विकास और दकियानूस सामाजिक रीति-रिवाज, इन सबका समाधान राष्ट्रीय मुक्ति के साथ ही नहीं हो जाएगा। उस समय ये सारी समस्याएं अपने पूरे आयाम में सामने आएंगी और उनके समाधान के लिए आवश्यक परिस्थितियों की तैयारी का पहला चरण पूरा होगा।

भारत की मेहनतकश जनता की चेतना के विकसित होने तथा अपने भाग्य की बागडोर उसके द्वारा स्वयं अपने हाथ में लेने के साथ ही इन संघर्षों और समस्याओं का समाधान होता जाएगा तथा भारत अपने वर्तमान आर्थिक एवं सांस्कृतिक पिछड़ेपन से उबरकर विश्व के सर्वाधिक उन्नत देशों के स्तर तक पहुंच जाएगा। भारत की जनता को आज आने वाले दिनों में विश्व समाजवाद की स्थापना करने में और पूर्व तथा पश्चिम के बीच और उन्नत एवं पिछड़े राष्ट्रों के बीच भेदभाव को अंतिम रूप से समाप्त करने के महान काम में अत्यंत प्रमुख भूमिका निभानी है।

वर्ग समाज की सीमा में, सर्वाधिक आदिम से सर्वाधिक उन्नत तक, सभ्यता और संस्कृति की प्रत्येक अवस्था भारत में विद्यमान है। इसीलिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की व्यापक और विविध समस्याओं को भारतीय परिस्थितियों में अत्यंत स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। असमान जातियों और धर्मों के बीच संबंधों और सह अस्तित्व की समस्याएं, पुराने अंधविश्वासपूर्ण और पतनशील सामाजिक रूपों और परंपराओं के विरुद्ध संघर्ष; शिक्षा के लिए संघर्ष, महिलाओं की मुक्ति के लिए संघर्ष, कृषि के पुनर्गठन और उद्योग के विकास तथा गांव और शहर के बीच संबंध का मसला; अत्यंत विविध और प्रखर रूपों में वर्ग संघर्ष के मसले; राष्ट्रवाद और समाजवाद के संबंध की समस्याएं, आधुनिक विश्व के ये विविध मसले भारत में विशेष सुस्पष्टता और आग्रह के साथ आगे बढ़ रहे हैं।

इन विविध समस्याओं को अलग करके नहीं हल किया जा सकता। इन्हें निश्चित रूप से नए भारत के निर्माण के लिए भौतिक और मानवीय शक्तियों को मुक्त करके, राष्ट्रीय मुक्ति की प्रमुख समस्या के साथ जोड़ना होगा। भारत की समस्याओं के समाधान का अर्थ अपने जटिलतम रूप में उन अत्यंत विचित्र और गंभीर समस्याओं का समाधान है जिसका सामना समान रूप से विश्व की जनता को करना पड़ रहा है।

भारत की जनता ने पहले भी विश्व के इतिहास में एक महान भूमिका अदा की है, विजेताओं के रूप में नहीं बल्कि संस्कृति, चिंतन, कला और उद्योग के क्षेत्र में। भारतीय जनता की राष्ट्रीय और सामाजिक मुक्ति से मानवता को महान और नए सौभाग्य की प्राप्ति होगी।

टिप्पणी

1. 'भारतीय राष्ट्र' और 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' शब्दावली का इस्तेमाल यहां और बाद के पृष्ठों में, भारतीय जनता द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ और अपने राजनीतिक भविष्य का निर्माण स्वयं करने के पक्ष में चलाए जा रहे संघर्ष की एकता को वर्णित करने के लिए किया गया है। इस शब्दावली के इस्तेमाल में स्वतंत्र भारत द्वारा अपनाए जाने वाले संभावित भावी राजनीतिक रूपों के प्रश्न पर या भावी स्वतंत्र भारत के बहुराष्ट्रवादी चरित्र (जो राजनीतिक संस्थाओं के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है) के अभ्युदय के संकेतों पर निर्णय देना नहीं निहित है। इस विशेष मसले पर अलग से बाद में विचार किया जाएगा।

खण्ड एक

भारत जैसा है और जैसा होना चाहिए

2
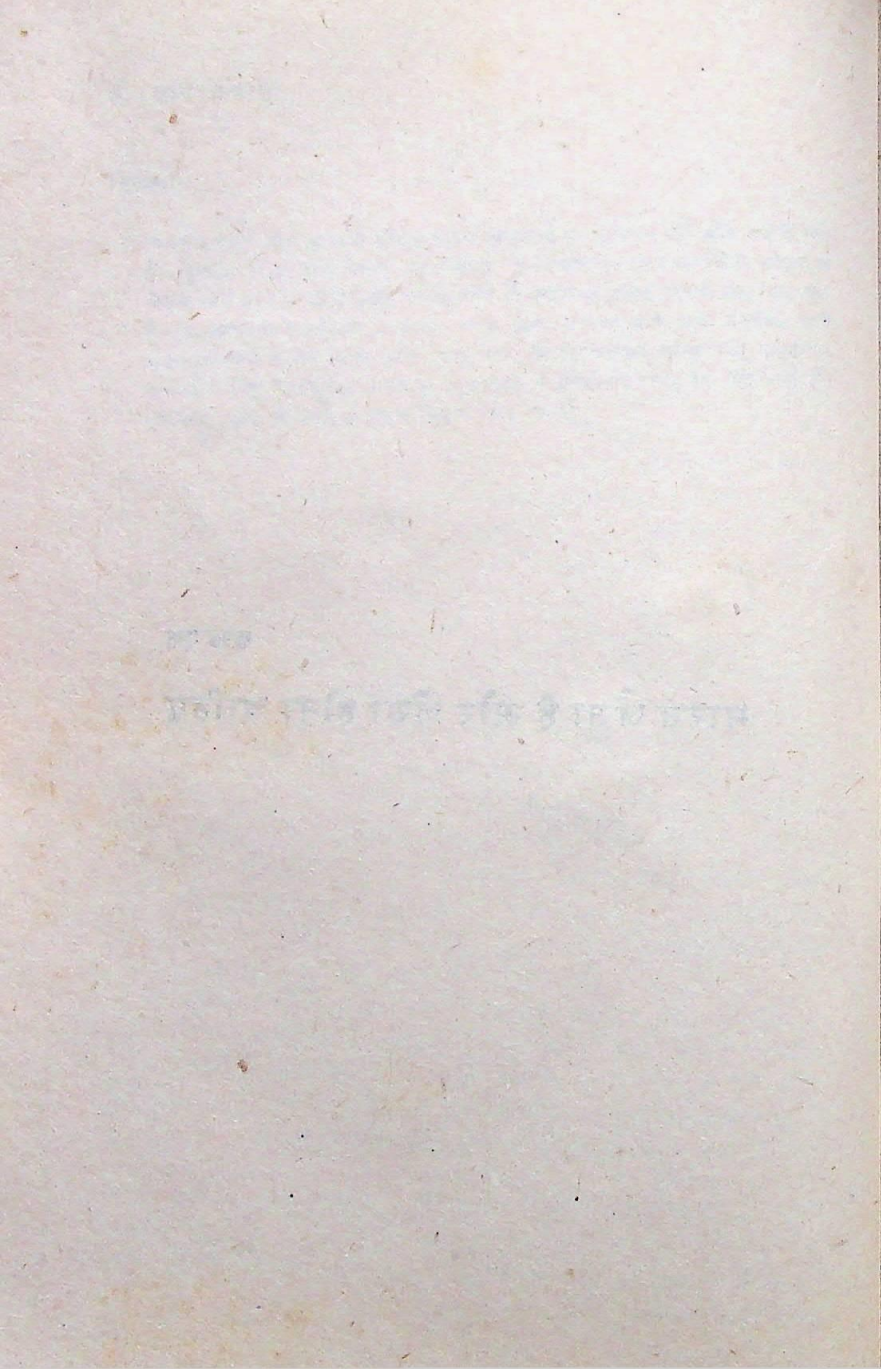
भारत का वैभव और उसकी गरीबी

'भारत के बारे में सर्वाधिक दिलचस्प तथ्य यह है कि उसकी धरती समृद्ध है और लोग गरीब।' (एम० एल० डालिंग : 'दि पंजाब पीजेंट इन प्रास्पेरिटी ऐंड डेब्ट', 1925, पृष्ठ 73.) भारत की वर्तमान स्थिति के संदर्भ में दो तथ्य स्पष्ट दिखाई देते हैं। पहला तथ्य है भारत का वैभव, उसकी प्राकृतिक संपदा, उसके प्रचुर साधन, उसकी अंतर्निहित समृद्धि जिसमें उसकी संपूर्ण वर्तमान आबादी को और उससे भी बड़ी आबादी को सुखी बनाने की क्षमता है।

दूसरा तथ्य है भारत की गरीबी, उसकी आबादी के बहुत बड़े हिस्से की निर्धनता, ऐसी निर्धनता जिसकी वे लोग कल्पना भी नहीं कर सकते जो पश्चिमी जगत की परिस्थितियों को देखने के अभ्यस्त हैं। इन दो वास्तविकताओं के बीच है भारत की वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की समस्या।

भारत का वैभव

भारत गरीब लोगों का देश है लेकिन वह गरीब देश नहीं है। भारत के प्राकृतिक साधन इतने ज्यादा अनुकूल हैं कि यदि खेतीबाड़ी और उद्योग का मिलाजुला विकास किया जाए तो यहां के लोग समृद्धि के शिखर पर पहुंच सकते हैं। साथ ही यह भी सच है कि ब्रिटिश शासन से पहले भारत विश्वस्तर पर आर्थिक विकास के क्षेत्र में अग्रिम पंक्ति में था।

यह सभी लोग जानते हैं कि पुराने जमाने में, दूसरे देशों के लोगों की दृष्टि में, भारत

विशाल धन-संपदा वाला देश माना जाता था। इस तरह के विवरणों को उचित संदेह के साथ देखा जाना चाहिए क्योंकि जिन प्रेक्षकों ने उन दिनों ये विवरण प्रस्तुत किए थे उन्होंने संपत्ति के वितरण पर ध्यान देने के बजाय धनी और शक्तिशाली लोगों के पास जमा संपत्ति पर ज्यादा ध्यान दिया था। इस तरह के प्रेक्षकों का विशिष्ट उदाहरण क्लाइव है जिसने 1757 में बंगाल की पुरानी राजधानी मुर्शिदाबाद को देखने के बाद लिखा था :

'यह शहर उतना ही विस्तृत, उतनी ही अधिक आबादी वाला और उतना ही समृद्ध है जितना लंदन। फर्क इतना है कि यहां ऐसे लोग हैं जिनके पास लंदन की तुलना में असीम संपत्ति है।' (इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट के पृष्ठ 249 पर उद्धृत)

इस तरह के उपलब्ध वर्णनों में काफी भिन्नता और अतिशयोक्ति है और इनकी जांच के लिए हमारे पास कोई संभावित वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं है फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि 17वीं सदी और 18वीं सदी के प्रारंभ में भारत आने वाले विदेशी यात्रियों ने प्रायः इस बात का उल्लेख किया है कि उन दिनों गांवों में भी लोग आमतौर पर समृद्ध थे जबकि आज स्थिति बिलकुल विपरीत है।[1] इस प्रकार 17वीं सदी में भारत की यात्रा का विवरण लिखते समय तेवर्नियर ने टिप्पणी की कि :

'छोटे से छोटे गांव में भी चावल, आटा, मक्खन, दूध, सेम तथा अन्य सब्जियां, चीनी तथा सूखी और शीरेवाली अन्य मिठाइयां प्रचुर मात्रा में प्राप्त की जा सकती हैं।' (तेवर्नियर : 'ट्रवल्स इन इंडिया' आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस संस्करण, 1925, खंड 1, पृष्ठ 238)

वेनिस निवासी मनूची ने, जो 17वीं सदी में औरंगजेब का मुख्य चिकित्सक बना, अपने संस्मरणों में अत्यंत भाव-विभोर होकर अलग-अलग प्रांतों के हिसाब से भारत के वैभव का वर्णन किया है। इसका ठेठ उदाहरण उसका बंगाल का वर्णन है। बाद के वर्षों में क्लाइव और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में हुई इसकी बरबादी और वर्तमान भयंकर गरीबी को ध्यान में रखते हुए मनूची का यह वर्णन देखने योग्य है :

मुगल शासकों के सभी राज्यों में से बंगाल फ्रांस में सबसे अधिक मशहूर है। बंगाल की बेहद उर्वरता का सबूत उसकी अपूर्व संपदा है जो वहां से यूरोप भेजी जाती थी। हम बेझिझक कह सकते हैं कि वह किसी भी मामले में मिस्र से कम नहीं है, बल्कि सिल्क, कपास, चीनी और नील के उत्पादन के मामले में तो वह मिस्र से भी आगे है। यहां फल, दाल, अनाज, मलमल और जरी तथा रेशम के कपड़े, सभी चीजें भरी पड़ी हैं। (एफ० एफ० कालू :

'दि जनरल हिस्ट्री आफ दि मुगल एंपायर', वेनिस वासी मनूची के 'मेमायर्स' से उद्धृत। मनूची लगभग 40 वर्षों तक औरंगजेब का मुख्य चिकित्सक रहा', जान बायर, लंदन द्वारा 1709 में प्रकाशित)

इसी तरह फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने, 17वीं सदी के मध्य में, 1660 के आसपास दो बार बंगाल की यात्रा की और उसने मुगल साम्राज्य की समाप्ति से पूर्व जो कुछ देखा उसका वर्णन किया :

अपनी दो बार की यात्रा में बंगाल के बारे में मैं जो कुछ जान सका हूं उससे मुझे विश्वास होने लगा है कि यह मिस्र की तुलना में अधिक धनी है। यह भारी मात्रा में सिल्क और कपास, चावल, चीनी और मक्खन का निर्यात करता है। यह अपने उपभोग के लिए प्रचुर मात्रा में गेहूं, साग-सब्जियां, अनाज, मुरगे-मुरगियां, बतखें और कलहंस पैदा करता है। इसके पास ढेर सारे सूअर, भेड़ें और बकरे हैं। हर तरह की मछलियों का इसके पास बाहुल्य है। राजमहल से लेकर समुद्र तक असंख्य नहरें हैं जिन्हें बहुत मेहनत से काटकर बनाया गया है ताकि नौसंचालन और सिंचाई का काम लिया जा सके। (सर विलियम विलकाक्स की पुस्तक 'लेक्चर्स आन दि एंशिएंट सिस्टम आफ इरिगेशन इन बंगाल' में बर्नियर का उद्धरण; कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1930, पृष्ठ 18-19)

ब्रिटिश शासन से पहले के भारत में आम जनता के जीवन स्तर से संबंधित सामान्य मसलों पर अनिवार्य रूप से विवाद पैदा होते हैं हालांकि साक्ष्यों और जनश्रुतियों से निस्संदेह रूप से यह संकेत मिलता है कि काफी लोग खुशहाल थे।

फिर भी यह तथ्य विवाद से परे और सर्वमान्य है कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत का औद्योगिक विकास समकालीन विश्व स्तर के संदर्भ में काफी अधिक था। 1916-18 के भारतीय औद्योगिक आयोग ने इस वक्तव्य के साथ अपनी रिपोर्ट शुरू की :

ऐसे समय जबकि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के जन्म स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य जनजातियां बसी हुई थीं, भारत अपने शासकों की समृद्धि और अपने शिल्पियों की अत्यंत कलात्मक कारीगरी के लिए विख्यात था। और काफी समय बाद भी जब पश्चिम के साहसी सौदागर पहली बार भारत पहुंचे, इस देश का औद्योगिक विकास किसी भी कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक विकसित यूरोपीय देशों से कम नहीं था (इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 6)

आयोग क अध्यक्ष और भारत की खनिज संपदा के अधिकारी विद्वान सर थोमस हालैंड ने 1908 में अपनी रिपोर्ट में कहा :

> देश में तैयार लोहे की श्रेष्ठ किस्म, उच्च स्तर का इस्पात तैयार करने के लिए आज यूरोप में अपनाए जा रहे तरीके का पूर्वज्ञान, और तांबे तथा पीतल के बने कलात्मक सामानों ने एक समय में भारत को धातुकर्मीय जगत में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था। ('दि मिनरल रिसोर्सेज आफ इंडिया', टी० एच० हालैंड की रिपोर्ट, 1908)

यह ध्यान देने की बात है कि भारत में आधुनिक उद्योग के विकास के लिए भौतिक परिस्थितियां इस हद तक तैयारै थीं कि लोहे और इस्पात का उत्पादन काफी ऊंचे स्तर तक विकसित हो चुका था। हम आगे के अध्यायों में उन कारणों की खोजबीन करेंगे जिनकी वजह से ब्रिटिश शासनकाल में भारत की इस महत्वपूर्ण स्थिति का विनाश हुआ और उसका अपकर्ष पिछड़ी आर्थिक स्थिति में हुआ।

इस तथ्य को भी सभी लोग स्वीकार करते हैं कि भारत में वे सभी प्राकृतिक साधन मौजूद हैं जो सर्वोच्च आधुनिक आर्थिक विकास के लिए जरूरी हैं। कृषि के संदर्भ में, भारत सरकार को आर्थिक उत्पादनों के बारे में रिपोर्ट देने वाले सर जार्ज वाट के निष्कर्ष को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा :

> यह स्वीकार कर लेना ज्यादा निरापद लगता है कि सिंचाई के विस्तार, परिवहन की सम्यक और पूर्ण सुविधाएं, कृषि के सामान और तरीकों में विकास तथा कृषियोग्य क्षेत्र का विस्तार करके—भारत की उत्पादकता को कम से कम 50 प्रतिशत तक आसानी से बढ़ाया जा सकता है। निश्चय ही, यदि केवल अविकसित साधनों के अंतर्भूत मूल्य और उनकी सीमा को देखा जाए तो विश्व में बहुत कम ऐसे देश हैं जिनमें कृषि का इतने शानदार ढंग से विकास करने की संभावना है जितनी भारत में है। (सर जार्ज वाट : मेमोरेंडम आन दि रिसोर्सेज आफ ब्रिटिश इंडिया, कलकत्ता, 1894, पृष्ठ 5)

इससे भी ज्यादा बड़ी मात्रा में औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक साधन मौजूद हैं। भारत के पास कोयला, लोहा, तेल, मैगनीज, सोना, चांदी और तांबा प्रचुर मात्रा में है। (तेल के मामले में, नए संविधान के अंतर्गत बर्मा के राजनीतिक पृथक्करण ने वर्तमान मुख्य सप्लाई को काट दिया है; और इसमें कोई संदेह नहीं कि इस पृथक्करण के मुख्य कारणों में एक कारण यह भी था कि बर्मा के तेल पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रभुत्व बना

रहे। लेकिन जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे संकेत मिलता है कि भारत में काफी मात्रा में अप्रयुक्त तेल स्रोत मौजूद हैं जिनकी अभी शायद खोज भी नहीं शुरू हुई है।

1942 में एक अमरीकी तकनीकी मिशन[3] भारत आया था। उसकी यात्रा का उद्देश्य 'भारत के औद्योगिक साधनों की जांच करना तथा उन तरीकों और साधनों की सिफारिश करना था जिससे अमरीकी सरकार युद्ध संबंधी सामानों का उत्पादन बढ़ाने में भारत की सहायता कर सके।' उसने अपनी रिपोर्ट में कहा :

> बंगाल और बिहार में अनुमानत: 60 अरब टन कोयला मौजूद है जिसमें से 20 अरब टन काम में आ सकता है और मध्य प्रांत तथा बरार में 17 अरब टन का भंडार है जिसमें से 5 अरब 15 करोड़ टन काम में आ सकता है। इसके अलावा असम के लांगरिन पठार में 6 करोड़ से 8 करोड़ टन के बीच तथा नांगस्तोइन में 7 करोड़ टन कोयला है। अनुमान है कि धातुकर्मीय कोक तैयार करने योग्य 50 करोड़ टन कोयले का भंडार है जिसमें से तकरीबन 50 प्रतिशत वर्तमान तरीकों से खान से निकालने में नष्ट हो जाएगा। इनकी खपत प्रतिवर्ष लगभग डेढ़ करोड़ टन की दर से हो रही है, और इनका इस्तेमाल अधिकांशत: उन कामों में हो रहा है जिनसे कोक के निर्माण का कोई संबंध नहीं है। कोक के निर्माण के लिए उपयुक्त कोयले का इस्तेमाल यदि केवल उसी काम के लिए किया जाए तो यह कई वर्षों तक समाप्त नहीं होगा। यहां तक कि लोहा और इस्पात का उत्पादन भी काफी बढ़ाया जा सकता है। (रिपोर्ट आफ दि अमेरिकन टेकनिकल मिशन, अगस्त 1942, पृष्ठ 25)

अमरीकी तकनीकी मिशन ने यह भी अनुमान लगाया था कि भारत में 25 करोड़ टन बाक्साइट मौजूद है। भारत में 'विश्व में कुल उत्पादित कच्चे मैंगनीज का 30 प्रतिशत हिस्सा है', पिंड और पत्तर के रूप में अभ्रक के विश्व भंडार का तीन चौथाई हिस्सा है, और 'भारत दुनिया में लाख का सबसे बड़ा उत्पादक है।'

सबसे ज्यादा महत्व कच्चे लोहे के भंडार का है जो एक परिमित अनुमान के अनुसार 3 अरब टन है जबकि ग्रेट ब्रिटेन में यह केवल 2 अरब 25 करोड़ 40 लाख टन और जर्मनी में 1 अरब 37 करोड़ 40 लाख टन है। केवल अमरीका और फ्रांस में भारत से ज्यादा कच्चा लोहा उपलब्ध है। अमरीका में 9 अरब 88 करोड़ 50 लाख टन और फ्रांस में 4 अरब 36 करोड़ 90 लाख टन लोहा है। (जियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया के सेसिल जोन्स : 'कैपिटल' परिशिष्ट, 19 दिसंबर 1929)।

भारत का खनिज लोहा परिमाण में इतना अधिक है और उसमें लोहे की

मात्रा इतनी ज्यादा है कि यदि उनका इस समय इस्तेमाल नहीं किया गया तो इसे उनकी बरबादी ही कहा जाएगा क्योंकि उनके इस्तेमाल से भारत में भी लोहे का उत्पादन उतना ही होता जितना अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, स्वीडन, स्पेन और रूस जैसे देशों में औसतन होता है। इन देशों में औसत उत्पादन 1 करोड़ 62 लाख टन है जबकि भारत में मात्रा 18 लाख टन। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत में लोहे का उत्पादन कुल उत्पादन जितना होना चाहिए था उससे 11 प्रतिशत से थोड़ा अधिक था और 89 प्रतिशत का अपव्यय माना जाना चाहिए। (आर० के० दास : 'दि इंडस्ट्रियल एफिसिएंसी इन इंडिया, 1930, पृष्ठ 17)

भारत के खनिज लौह भंडार के बारे में ताजा अनुमान अमरीकी तकनीकी मिशन ने पेश किया है। मिशन की रिपोर्ट से पता चलता है :

भारत में कच्चे लोहे के भंडार संभवतः दुनिया में सबसे बड़े हैं और इसकी किस्म अन्य किसी देश के लोहे की तुलना में श्रेष्ठ है। अकेले सिंहभूम जिले में, 60 प्रतिशत अधिक लोहे के अंशवाले कच्चे लोहे के भंडार अनुमानतः 3 अरब टन से कम नहीं और मुमकिन है कि यह 20 अरब टन तक हो। अनुमान लगाया गया है कि बस्तर राज्य में इन भंडारों में उत्तम किस्म का 72 करोड़ 40 लाख टन कच्चा लोहा है। मध्य प्रांत के पड़ोसी जिलों में भी महत्वपूर्ण भंडार हैं। इनमें से एक राजहाना पहाड़ियों में है जिसमें अनुमानतः 25 लाख टन खनिज लोहा है और उसमें लोहे की मात्रा $67\frac{1}{2}$ प्रतिशत है। (रिपोर्ट आफ दि अमेरिकन टेक्निकल मिशन टु इंडिया, अगस्त 1942 पृष्ठ 24)

1918 की औद्योगिक आयोग रिपोर्ट के अनुसार :

'भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग ने भारत की खनिज संपदा की प्रकृति और मात्रा की व्यवस्थित ढंग से जांच-पड़ताल की है हालांकि पूर्वेक्षण उपकरणों तथा व्यवस्था पर व्यय हेतु सीमित धनराशि के कारण उस सिरे तक छानबीन के लिए काम करना असंभव ही रहा है जहां और जांच किए बगैर व्यापारिक कार्यों के लिए उसको उचित ठहराया जा सके, बहुत खास मामलों की बात और है।

'देश के खनिज भंडार तमाम तथाकथित 'महत्वपूर्ण' उद्योगों को बनाए रखने के लिए पर्याप्त हैं। वे उद्योग इनमें शामिल नहीं हो सकते जिनके लिए वैनेडियम, निकल और संभवतः मालीबडेनम की जरूरत पड़ती है।

> भारतीय महाद्वीप में कई हिस्सों में कच्चा लोहा पाया जाता है। लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत ज्यादा नहीं हैं जिनमें अच्छे किस्म के खनिज और कोयले की संतोषजनक आपूर्ति के बीच पर्याप्त निकटता है हालांकि सभी संभावनाओं के साथ वर्तमान लोहा और इस्पात के काम का व्यापक विस्तार उचित ठहराया जा सकता है। (इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 36)

भारत के भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के स्थानापन्न सुपरिंटेंडेंट डाक्टर सी० एस० फाक्स ने अमरीकी खान इंजीनियर सी० पी० पेरिन के अनुमान को उद्धृत किया है। सी० पी० पेरिन पिछले लगभग 25 वर्षों से इंडियन आयरन एंड स्टील इंडस्ट्री के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। उनका कहना है कि यदि एक चतुर्भुज बनाएं जिसका उत्तर-पूर्व कोण कलकत्ता हो तो इस शहर से 400 मील पश्चिम और 200 मील दक्षिण में उत्तम कोटि का 20 अरब टन खनिज लोहा है जो बंगाल के कोयला-क्षेत्रों से औसतन 125 मील की दूरी पर है। (इस्पात उद्योग को सुरक्षा देने के संबंध में इंडियन टेरिफ बोर्ड की रिपोर्ट, 1924)

यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'प्रबंध के खर्चे चलाने और पूर्वेक्षण उपकरणों के लिए सीमित धनराशि' इसीलिए दी गई है वह खोजबीन का काम इतना न बढ़ा ले जिससे इस अपार प्राकृतिक संपदा का उपयोग भारत की समृद्धि बढ़ाने के लिए होने लगे। इस प्रकार इसका ब्यौरा केवल कागजों पर ही दर्ज है—ठीक वैसे जैसे कोई खगोल वैज्ञानिक अपने कागजों में तारों, नक्षत्रों का नक्शा खींच रखा हो। 1933-34 में संपूर्ण 'वैज्ञानिक विभागों' पर कुल व्यय समूचे सरकारी खर्चे के 1 प्रतिशत का एक तिहाई हिस्सा तथा सैनिक व्यय के $\frac{1}{7}$ वें हिस्से से भी कम था। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह रिपोर्ट बड़े अनिश्चित ढंग से मात्र इतना संकेत दे देती है कि कोयला और लोहा 'अपनी सारी संभाव्यता में इतने पर्याप्त हैं कि वर्तमात लोहा और इस्पात के काम का व्यापक विस्तार उचित ठहराया जा सकता है।'

जलशक्ति साधन

	(दस लाख हार्स पावर में)		प्रतिशत
देश	संभावित	विकसित	विकसित
अमरीका	35.0	11.7	33
कनाडा	18.2	4.5	25
फ्रांस	5.4	2.1	37
जापान	4.5	1.7	37
इटली	3.8	1.8	47
स्विटजरलैंड	2.5	1.8	72
जर्मनी	2.0	1.1	55
भारत	27.0	0.8	3

इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण चीज भारत की जलशक्ति है। भारत के बिजलीकरण के लिए इसकी क्षमताओं का उपयोग किया जा सकता है लेकिन इन क्षमताओं की अवहेलना की जा रही है। पृष्ठ 49 पर दी हुई तालिका में भारत के साथ तुलना करते हुए दुनिया के प्रमुख देशों के जलशक्ति साधनों और उनके इस्तेमाल के अनुपात को (वर्ल्ड अलमनाक, 1932) में दिखाया गया है।

जलशक्ति के मामले में अमरीका के बाद भारत का ही स्थान है फिर भी वह अपने इन साधनों के केवल 3 प्रतिशत का ही उपयोग करता है जबकि उसकी तुलना में स्विटजरलैंड 72 प्रतिशत, जर्मनी 55 प्रतिशत, इटली 47 प्रतिशत, फ्रांस और जापान 33 प्रतिशत और अमरीका 33 प्रतिशत भाग इस्तेमाल कर रहे हैं।

भारत की अर्थव्यवस्था का चाहे जो भी पहलू लें, यही तस्वीर सामने उभरती है कि यहां असीम संभावनाओं से युक्त संपदा है लेकिन वर्तमान शासन व्यवस्था में उसकी वस्तुतः अवहेलना की गई है और विकास का काम नहीं हुआ है। इस स्थिति के खतरे को स्वयं साम्राज्यवादियों ने महसूस किया है हालांकि उनके पास इसका कोई समाधान नहीं है। कलकत्ता से प्रकाशित भारत के प्रमुख अंगरेजी अखबार 'स्टेट्समैन' के संपादक और 'दि टाइम्स' के कलकत्ता स्थित संवाददाता सर अल्फ्रेड ने 1933 में रायल इंपायर सोसायटी की एक बैठक में आगाह किया था :

> सर अल्फ्रेड वाटसन ने कहा कि भारत खोए हुए अवसरों का देश है और इसकी मुख्य जिम्मेदारी ब्रिटिश शासन पर है···यद्यपि भारत के पास वे सारी दशाएं प्रचुर मात्रा में हैं जिनसे कोई देश महान औद्योगिक देश बनता है, लेकिन वह आज आर्थिक दृष्टि से दुनिया के पिछड़े देशों में से एक है और उद्योग के क्षेत्र में अत्यंत पिछड़ा हुआ है हमने उद्योग के मामले मे भारत की असंदिग्ध क्षमता को विकसित करने की समस्या पर कभी गंभीरता से काम नहीं किया···
>
> यदि आने वाले वर्षों में भारत अपनी विशाल आबादी की बढ़ी हुई मांग के आधार पर बिलकुल ही अभूतपूर्व ढंग से अपना औद्योगिक विकास नहीं करता, तो देश का जीवननिर्वाह स्तर, जो अभी ही भयानक रूप से नीचा है, भुखमरी के स्तर से भी नीचे गिर जाएगा। (सर अल्फ्रेड वाटसन, रायल इंपायर सोसायटी में भाषण, 'दि टाइम्स', 4 जनवरी 1933)

भारत की गरीबी

भारत की वास्तविक अंतर्निहित संपदा और उसे विकसित करने से विफलता की इस

पृष्ठभूमि में भारतीय जनता की भयानक गरीबी अपने अनिष्टकारी महत्व के साथ स्पष्ट दिखाई दे रही है।

भारतीय आंकड़े प्रशासन तंत्र को संचालित करने की दृष्टि से तो बेहद भारी भरकम है लेकिन जब उन आंकड़ों से जनता की हालत की स्थिति का पता लगाने का प्रश्न उठता है तो वे बिलकुल व्यर्थ और अनुपयोगी साबित होते हैं। राष्ट्रीय् आय अथवा औसत आय के बारे में कोई आधिकारिक आकलन नहीं है। (विभिन्न सरकारी जांच-पड़तालों के नतीजों को निजी और गोपनीय रखा गया है।) यह ठीक वैसे ही है जैसे भारत या समूचे ब्रिटिश भारत के लिए कोई नियमित आंकड़े नहीं हैं जो कुल उत्पादन, वेतन दरों या मजदूरी के औसत स्तर, काम के घंटों या मजदूरी की शर्तों की जानकारी दें। स्वास्थ्य के बारे में कोई पर्याप्त आंकड़े नहीं हैं और न ही आवास के बारे में आंकड़े उपलब्ध हैं।

प्रतिव्यक्ति औसत आय के आकलनों का एक अनुक्रम तैयार किया गया है और उसपर तीव्र विवाद पैदा हुआ है। इनमें 1868 से युद्ध के बाद तक के आकलन शामिल हैं :

प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का आकलन

आकलनकर्ता	सरकारी या गैरसरकारी	जिस वर्ष किया गया	वर्ष से संबंधित	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय रु०	शि०
डी० नौरोजी[3]	गैरसरकारी	1876	1968	20	40
बेरिंग ऐंड बारबर	सरकारी	1882	1881	27	45
लार्ड कर्जन	सरकारी	1901	1997-98	30	40
डब्ल्यू० डिग्बी[4]	गैरसरकारी	1902	1899	18	24
फिंडले सिराज[5]	सरकारी	1924	1911	49	65
वाडिया ऐंड जोशी[6]	गैरसरकारी	1925	1913-14	44½	59
शाह ऐंड खंबाता[7]	गैरसरकारी	1924	1921-22	74	95
साइमन रिपोर्ट	सरकारी	1930	1921-22	116	155
वी० के० आर० वी० राव[8]	गैरसरकारी	1939	1925-29	78	117
सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी (केवल कृषीय-आबादी के लिए)	सरकारी	1931	1928	42	63
फिंडले सिराज़[9]	सरकारी	1932	1931	63	94½
सर जेम्स ग्रिग[10]	सरकारी	1938	1937-38	56	84
वी० के० आर० वी० राव[11]	गैरसरकारी	1940	1931-32	62	93

संगणना के आधार में भिन्नताओं तथा साथ ही मूल्यों के स्तर में दूरगामी परिवर्तनों के कारण इन अंकों का मिलान नहीं किया जा सकता। भारतीय कीमतों का सूचक अंक, जो 1873 में 100 था (39 सामान अभारित, लेकिन इसमें 1897 तक खाद्यान्न नहीं शामिल थे), 1900 तक बढ़कर 116, 1913 तक 143 और 1920 तक 281 हो गया। इसके बाद इसमें गिरावट आई और 1931 में यह 236, 1925 में 227, 1930 में 171 और 1936 में 125 हो गया।

गणना के आधार से काफी व्यापक उतार-चढ़ाव का भी पता चलता है और विभिन्न आकलनों को मात्र प्रारंभिक संकेतों के रूप में लिया जा सकता है। इससे पुराने सरकारी आकलन खेतीबाड़ी से हुई आमदनी के कुल मूल्य (प्राय: निश्चित रूप से वास्तविकता से अधिक मूल्यांकन) पर आधारित थे। डिग्बी के आंकड़ों में से आय की राशि को सेवा के लिए निकाल दिया गया है। सबसे अधिक मशहूर और प्राय: सामान्य रूप से स्वीकृत आंकड़े नौरोजी तथा मेजर बेरिंग (बाद में लार्ड क्रोमर) के थे। नौरोजी का आकलन 1868 के लिए था जिसमें प्रति व्यक्ति आय 2 पौंड बताई गई थी। मेजर बेरिंग ने अपने आकलन की घोषणा 1882 में की थी और इसमें प्रति व्यक्ति आय 2 पौंड 5 शिलिंग थी। ये आंकड़े खुद ही बताते हैं कि एक सौ से भी अधिक समय तक ब्रिटिश सरकार द्वारा शासन किए जाने के बाद भी भारत की स्थिति स्वयं सरकारी आंकड़ों के अनुसार क्या थी।

बाद के आंकड़ों से ज्यादा उतार-चढ़ाव का पता चलता है। आंशिक रूप से यह कीमतों की बेहद अस्थिरता की झलक देता है। 1912 से 1920 के दौरान कीमतों में दुगने से भी ज्यादा वृद्धि हो गई और फिर एक दशक बाद, 1931 से उसमें गिरावट आई जो युद्धपूर्व के स्तर तक पहुंच गई। प्रोफेसर फिंडले शिराज के युद्धोत्तर आकलनों में भी यह माना गया है कि युद्ध के बाद गैर-कृषीय आय के अनुपात में वृद्धि हुई है। प्रोफेसर शिराज 1914 से 1921 तक भारत सरकार के सांख्यिकी निदेशक के पद पर रह चुके हैं।

1930 में साइमन कमीशन ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसका पहला भाग, भारत में साम्राज्यवादी शासन की सफाई के लिए बड़ी संख्या में वितरित करने के उद्देश्य से लिखा गया था। इसमें औसत भारतीय आय को काफी बढ़ा-चढ़ाकर लगभग 8 पौंड प्रतिबर्ष बताया गया। इस अनुमान का बाद में खूब प्रचार किया गया। चूंकि इस अनुमान में बताई गई राशि इससे पहले पेश किए गए किसी भी अनुमान की तुलना में अधिक थी, इस लिए उसके आधार की जांच करनी चाहिए।

साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट 1930 में तैयार की थी। प्रथम विश्व युद्ध हुए उस समय लगभग दस वर्ष बीते थे, लेकिन उसने अपनी गणना का आधार विश्व-युद्ध के तत्काल बाद के वर्षों को बनाया जब चीज़ों की कीमतें काफी बढ़ गई थीं।

इसने 1919-20, 1920-21 और 1921-22 के दौरान औसत आय के, जो 74 रुपये से 116 रुपये के बीच था। तमाम आकलनों का हवाला दिया। इसके बाद कमीशन ने इन वर्षों की सबसे ऊंची संख्या को चुनकर उसे 'उपर्युक्त आकलनों में सर्वाधिक आशावादी' संख्या (खंड 1, पृष्ठ 334) का नाम दिया। फिर उसने बाद की गणनाओं में इस असाधारण संख्या का इस्तेमाल किया और इसे पूरी अवधि की प्रतिनिधि संख्या मान लिया हालांकि इसने उस संख्या का प्रतिनिधित्व किया था जो युद्ध के बाद हुई सहसा वृद्धि के काफी निकट थी ('यह मानकर कि इस बीच मूल्यों में गिरावट आ गई है, इन्हें आज उच्च अंशों में नहीं पेश किया जा सकता', खंड 2, पृष्ठ 207—दरअस्ल मूल्य सूचक अंक 1920 में 281 से घटकर 1930 में 171 और 1934 तक 119 हो गया था) और इस अतिशयोक्तिपूर्ण संख्या को उसने अंगरेजी मुद्रा में लगभग 8 पौंड ('8 पौंड से कम') प्रतिवर्ष के बराबर रखकर इसे औसत भारतीय की वार्षिक आय कहा जबकि औसत अंगरेजी की आय 95 पौंड प्रतिवर्ष थी।

> इस सबके बावजूद साइमन कमीशन ने 1921-22 में भारतीयों की औसत आय का जो 'सबसे अधिक आशावादी' अनुमान लगाया वह प्रतिदिन 5 पेंस के बराबर था। फिर भी वास्तविक तथ्यों के ज्यादा करीब पहुंचने के लिए यह जरूरी है कि गणना के समय जिन बातों पर ध्यान नहीं दिया गया उनपर हम ध्यान दें और आवश्यक सुधार कर लें।

भारतीय कीमतों का भारत सरकार द्वारा निर्धारित सूचक अंक 1921 में 236 से घटकर 1936 में 125 हो गया अर्थात लगभग आधा हो गया। इस मंदी से सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ कृषि-उत्पादन जो भारतीयों की आय का मुख्य आधार है। 1921 और 1936 के बीच अनाज की फुटकर कीमतों का सूचक अंक सामान्य तौर पर आधे से भी ज्यादा कम रह गया। यह अंक चावल के लिए 355 से 178, गेहूं के लिए 360 से 152, चना के लिए 406 से 105 और जौ के लिए 325 से 134 हो गया।

> इस प्रकार यदि अनाज की कीमतों में हुई गिरावट को भी ध्यान में रखा जाए तो 1921-22 में साइमन कमीशन ने 5 पेंस प्रतिदिन की औसत आय का जो अनुमान लगाया था, वह युद्ध से पूर्व की अवधि में ढाई पेंस प्रतिदिन ही रह गया।

किंतु यह भी विशाल बहुमत की वास्तविक आय नहीं बल्कि कुल औसत आय है। इसमें से वह राशि घटानी होगी जो साम्राज्यवाद द्वारा घरेलू खर्च के नाम पर और नजराने के नाम पर वसूल की जाती थी (इनमें ऋण पर ब्याज, ब्रिटिश पूंजी निवेश पर लाभांश, बैंकों तथा महाजनों का कमीशन शामिल है) और भारत से बाहर भेज दी जाती थी तथा बदले में ब्रिटेन से भारत में कोई माल नहीं आता था। शाह और खंबाता का अनुमान है

कि इस तरह कुल राष्ट्रीय आय का दसवें से कुछ अधिक भाग देश के बाहर चला जाता है। इस प्रकार जो आय प्रतिदिन ढाई पेंस थी वह केवल सवा दो पेंस प्रतिदिन रह जाती है।

इसके बाद हमें इस औसत आय में शामिल आय की बेहद असमानता पर भी ध्यान देना पड़ेगा। उदाहरण के लिए यदि साइमन कमीशन के इस आंकड़े को सही मानें कि ब्रिटेन में औसत आय प्रति व्यक्ति 95 पौंड है तो इसका अर्थ यह हुआ कि एक पत्नी और तीन बच्चों वाले औसत मजदूर को साल भर में 475 पौंड मिलते हैं। वस्तुत: जो मजदूर इसका आधा प्राप्त करता है वह बेहद लाभप्रद स्थिति में है और औसत मजदूर को अधिक से अधिक एक तिहाई, आमतौर से एक तिहाई से कम ही प्राप्त होता है। वितरण की यही असमानता भारत पर भी लागू होती है। प्रोफेसर के०टी० शाह और के० जे० खंबाता ने अपनी पुस्तक 'वैल्थ ऐंड टैक्सेबल कैपेसिटी आफ इंडिया' (1924) में बताया है कि आबादी के 1 प्रतिशत हिस्से को राष्ट्रीय आय का एक तिहाई भाग मिलता है जबकि कुल आबादी के 60 प्रतिशत को राष्ट्रीय आय का सिर्फ 30 प्रतिशत हिस्सा मिलता है। इसका अर्थ यह है कि आबादी के 60 प्रतिशत भाग या आबादी के बहुमत की वास्तविक औसत आय का पता लगाने के लिए प्रति व्यक्ति कुल औसत राष्ट्रीय आय को आधा करना पड़ेगा।[12]

> इस प्रकार यदि हम साइमन कशीशन के सबसे अधिक आशावादी अनुमान पर आय के वितरण के आंकड़ों को लागू करें तथा बाद में आने वाली मंदी तथा साम्राज्यवाद द्वारा वसूले गए घरेलू खर्च और नजराने के रूप में देश से बाहर जाने वाली राशि पर ध्यान दें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्तमान समय में भारत की आबादी के अधिकांश के औसत व्यक्ति की दैनिक आय एक पेंस से सवा पेंस तक है।

यह हिसाब लगाने में हर उस बात पर ध्यान दिया गया है जो साम्राज्यवाद के अनुकूल है और इसका आधार खुद साम्राज्यवाद के आकलन हैं।

सामान्य तौर पर जो अनुमान लगाया गया है (ठीक ठीक आंकड़ों के अभाव में इतना ही किया जा सकता है) उसकी पुष्टि हाल ही में सरकारी सूत्रों से प्राप्त दो और आकलनों से होती है। 1931 में भारतीय केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया था :

> प्रांतीय समितियों की रिपोर्टों तथा अन्य प्रकाशित सांख्यिकीय सूचनाओं से पता चलता है कि 1928 के मूल्य स्तरों के आधार पर वार्षिक कृषि उत्पादन का कुल मूल्य 12 अरब रुपया है। कुछ सहायक व्यवसायों से हुई संभावित आय को, जो अनुमानत: कृषि आय की 20 प्रतिशत है, ध्यान में रखकर और

> आधार बनाकर तथा पिछले दशक में हुई जनसंख्या वृद्धि एवं 1929 से कीमतों में आई गिरावट की उपेक्षा करके देखें तो ब्रिटिश भारत में किसी खेतिहर की औसत आय लगभग 42 रुपये प्रतिवर्ष से अधिक नहीं आती जो 3 पौंड प्रतिवर्ष से थोड़ा ही अधिक है। (रिपोर्ट आफ दि इंडियन सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी, 1931 खंड 1, पृष्ठ 39)

इससे पता चलता है कि कृषि के काम में लगे लोगों की कुल आय प्रतिव्यक्ति 2 पेंस है। यह आंकड़ा 1928 के मूल्य स्तर पर आधारित है। 1928 और 1936 के बीच कीमतों का सूचक अंक 201 से घटकर 125 हो गया। इससे 2 पेंस प्रतिदिन की आय घटकर संप्रति सवा पेंस प्रतिदिन हो जाएगी।

अप्रैल 1938 में भारत सरकार के वित्तमंत्री सर जेम्स ग्रिग ने अनुमान लगाया कि भारत की कुल राष्ट्रीय आय 16 अरब रुपये या 1 अरब 20 करोड़ पौंड है। ये आंकड़े कुल राष्ट्रीय आय तथा करारोपण के बीच अनुपात दिखाने के उद्देश्य से पेश किए गए थे। यदि यह मानकर चलें कि ये आंकड़े केवल ब्रिटिश भारत पर लागू होते हैं (यदि ये आंकड़े समूचे भारत के लिए हैं, तो निश्चित रूप से प्रति व्यक्ति आय यथानुपात और भी कम होगी) और इस राशि को ब्रिटिश भारत की जनसंख्या से विभाजित कर दें, जो 1938 में अनुमानतः 28 करोड़ 50 लाख थी, तो हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि प्रतिव्यक्ति कुल औसत आय 56 रुपये या 84 शिलिंग थी। आमदनी के इस वितरण के आंकड़े को इस कुल राशि पर लागू करें (अर्थात 60 प्रतिशत आबादी जो 30 प्रतिशत की आमदनी की हिस्सेदार है) तो हम फिर इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि ब्रिटिश भारत में आबादी के विशाल हिस्से के औसत भारतीय की आय 1.38 पेंस प्रतिदिन या 1.25 पेंस प्रतिदिन से थोड़ी अधिक थी। डाक्टर वी० के० आर० वी० राव ने कुल आय 62 रुपये या 93 शिलिंग प्रतिव्यक्ति प्रतिवर्ष का अनुमान लगाया है।[13] प्रोफेसर शाह और खंबाता द्वारा सिद्ध किए गए अनुपात को फिर लागू करने पर हमें पता चलता है कि भारतीय जनता की अधिकांश आबादी की औसत आय लगभग डेढ़ पेंस प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति है।

ये आंकड़े महज इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि इनसे हमें भारत की गरीबी की भयंकरता का एक प्रारंभिक आभास मिल जाता है। रहन-सहन की परिस्थितियों के रूप में इन आंकड़ों का क्या महत्व है? प्रमुख भारतीय अर्थशास्त्री शाह और खंबाता ने इसको इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

> औसत भारतीय की आय महज इतनी है कि जिसमें या तो हर तीन व्यक्तियों में से दो को खाना मिल सके या उन सबको आवश्यक तीन वक्त के भोजन के स्थान पर दो वक्त का भोजन दिया जा सके बशर्ते वे सब इस बात पर सहमत हों कि उन्हें बिना कोई कपड़ा पहने रहना है, पूरा वर्ष घर के

बाहर आसमान के नीचे बिताना है, किसी प्रकार का आमोद-प्रमोद या मनोरंजन नहीं करना है और सबसे घटिया, सबसे रद्दी और सबसे कम पौष्टिक भोजन के अलावा और किसी चीज की मांग नहीं करनी है। (शाह और खंबाता : दि वेल्थ ऐंड टैक्सेबल कैपेसिटी आफ इंडिया, 1924, पृष्ठ 253)

जेल संहिता (जेल कोड) और अकाल संहिता (फैमीन कोड) के खर्चों की तुलना से अभिप्राय का कुछ पता लगाया जा सकता है। 1939 में भारत में एक कैदी की देखरेख पर प्रतिवर्ष 116.67 रुपये खर्च होता था जो बैंकिंग जांच समिति द्वारा अनुमानित भारतीय खेतिहर की औसत आमदनी का लगभग तीन गुना है। 1923 में बंबई में मजदूर वर्ग के आय-व्यय की सरकारी जांच से मजदूरों के जीवनस्तर और जेलसंहिता तथा अकाल संहिता के जीवनस्तर के अग्रांकित साम्य का पता चलता है :

प्रतिवयस्क पुरुष द्वारा दैनिक उपभोग

	बंबई के मजदूरों का बजट	बंबई की जेलें		बंबई अकाल संहिता (बेलदार)
		कठोर श्रम	हल्का श्रम	
अनाज	1.29 पौंड	1.05 पौंड	1.38 पौंड	1.29 पौंड
दाल	0.09 ,,	0.27 ,,	0.21 ,,	—
मांस	0.03 ,,	0.04 ,,	0.04 ,,	आंकड़े
नमक	0.04 ,,	0.03 ,,	0.03 ,,	उपलब्ध
तेल	0.02 ,,	0.03 ,,	0.03 ,,	नहीं हैं
अन्य चीजें	0.07 ,,	—	—	
	1.54 पौंड	1.42 पौंड	1.69 पौंड	

(रिपोर्ट आन ऐन इंक्वायरी इंटु वर्किंग क्लास बजट्स इन बांबे, बांबे लेबर आफिस, 1923)

बंबई का मजदूर, जो गांवों में रहने वाली आम जनता से बेहतर स्थिति में है, अकाल के मिलने वाले राशन के स्तर पर और कैदियों को मिलने वाले जेल राशन से भी नीचे के स्तर पर अपनी रोटी चला पाता पाता है।[14]

जहां तक साल दर साल आम जनता की स्थिति का प्रश्न है सरकारी रिपोर्टों से ऐसी ही तस्वीर सामने आती है :

'भारत में अत्यंत कुशल कामगरों को छोड़कर अन्य कामगरों को जो मजदूरी मिलती है वह उनके रोटी-कपड़े के खर्च को चला पाने के लिए मुश्किल से पर्याप्त है। चारों तरफ बेहद भीड़, गंदगी, फटेहाली तथा कंगाली देखी जा सकती है।' ('इंडिया इन 1927-28')

'भारत की आबादी का एक बड़ा हिस्सा आज भी इस तरह की निर्धनता से ग्रस्त है जिसकी तुलना समूचे पश्चिमी जगत के किसी भी देश से नहीं की जा सकती। यहां की अधिकांश जनता किसी तरह अपना अस्तित्व बनाए है।' ('इंडिया इन 1929-30')

आज भी 70 प्रतिशत से 80 प्रतिशत लोग किसी तरह जी रहे हैं।' (सर अल्फ्रेड चैटर्टन: जर्नल आफ दि ईस्ट इंडिया एसोसिएशन, जुलाई 1930)

1933 में भारतीय चिकित्सा सेवा के निदेशक मेजर जनरल सर जान मेगा ने जन स्वास्थ्य के बारे में एक रिपोर्ट जारी की जिसमें उन्होंने अनुमान लगाया कि कुल आबादी के 39 प्रतिशत लोगों का अच्छी तरह पोषण होता है, 41 प्रतिशत लोगों का बुरी तरह पोषण होता है और 20 प्रतिशत लोगों का अत्यंत बुरी तरह पोषण होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि 61 प्रतिशत लोग या दो तिहाई हिस्सा अल्पपोषण का शिकार हैं। बंगाल के लिए यह संख्या क्रमशः 22 प्रतिशत, 47 प्रतिशत और 31 प्रतिशत है अर्थात बंगाल में 78 प्रतिशत लोग या पांच में से लगभग चार लोग अल्पपोषण के शिकार हैं। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में आगे बताया कि 'भारत भर में बीमारी फैली है और यह लगातार बहुत तेजी से बढ़ रही है।'

पोषक आहार विशेषज्ञ डा० ऐक्रायड का कहना है कि भारत में 'कुल आबादी का लगभग एक तिहाई हिस्सा लगातार अल्पपोषण का शिकार रहा है।' (फूड ग्रेन्स पालिसी कमेटी की रिपोर्ट में उद्धृत, 1943, पृष्ठ 33)

1926 में सरकार ने भारत में कृषि के लिए एक राज आयोग नियुक्त किया था। हालांकि विषयों की सीमा के कारण उसने जमीन की मिल्कियत एवं काश्तकारी, लगान और भू-राजस्व की वसूली की असल समस्याओं पर, जिनके कारण गरीबी व्याप्त है, विचार ही नहीं किया लेकिन स्वयं सरकारी अधिकारियों ने आयोग के कार्यालय में किसानों की भयानक हालत के प्रमाणों का अंबार लगा दिया। भारत सरकार के कृषि सलाहकार और आयोग के समक्ष प्रथम गवाह डाक्टर डी० क्लाउस्टन ने बताया कि 'गांवों की जनता शारीरिक रूप से कमजोर है और आसानी से महामारियों का शिकार हो जाती है।' कर्नल ग्राह्म ने आयोग को बताया कि 'कृषि के क्षेत्र में सुधार के रास्ते में सबसे बड़ी कठिनाई किसानों को पौष्टिक आहार का न मिलना है।' कूनूर के पैस्चयर इंस्टीट्यूट

में अभावजन्य बीमारियों की जांच-पड़ताल के संचालक लेफ्टिनेंट कर्नल आर० मैक हैरिसन ने तो और भी जोरदार शब्दों में कहा :

> भारत में जनता जिन अनेक असमर्थताओं से ग्रस्त है उनमें शायद सबसे बड़ी चीज है पौष्टिक आहार का अभाव···भारत में बीमारियों के जितने भी कारण हैं उनमें सबसे व्यापक कारण कुपोषण है। (लेफ्टिनेंट कर्नल आर० मैक हैरिसन : मेमोरेंडम आन मालन्यूट्रिशन ऐज ए काज आफ फिजिकल इनएफिसिएंसी एेंड इल हेल्थ एमंग दि मासेज इन इंडिया, कृषि संबंधी राज आयोग के समक्ष साक्ष्य। (पृष्ठ 95)

1929 में सरकार ने भारत के मजदूरों की हालत की जांच के लिए एक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने पता लगाया कि 'अधिकांश औद्योगिक केंद्रों में कर्ज के बोझ से दबे व्यक्तियों और परिवारों की संख्या, कुल आबादी की दो तिहाई से कम नहीं है··· अधिकांश व्यक्तियों पर जितना कर्ज है वह उनकी तीन महीने की तनख्वाह से ज्यादा है और प्रायः काफी ज्यादा है। (पृष्ठ 224)

इसने पाया कि विभिन्न उद्योगों में लगे मजदूरों के वेतन में काफी अंतर है। बंबई की सूती कपड़ा मिल का पुरुष मजदूर 56 शिलिंग प्रतिमाह और महिला मजदूर 26 शिलिंग प्रतिमाह पाती है; बंबई के अकुशल मजदूरों का वेतन 30 शिलिंग प्रतिमाह; मुख्य झरिया कोयला खान में खदान मजदूरों का वेतन औसतन 15 शिलिंग से 22 शिलिंग प्रतिमाह है; मौसमी कारखानों में पुरुषों की मजदूरी 6 पेंस से 1 शिलिंग प्रतिदिन और महिलाओं की 4 पेंस से 9 पेंस प्रतिदिन है; बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अकुशल मजदूरों को 9 पेंस प्रतिदिन और महिलाओं को 6 पेंस प्रतिदिन तथा बच्चों को 4 पेंस प्रतिदिन के हिसाब से मजदूरी मिलती है; मद्रास और संयुक्त प्रांत में पुरुषों को मिलने वाली मजदूरी 5 पेंस प्रतिदिन तक है। उसने देखा कि 'अनियंत्रित' कारखानों और उद्योगों में, जहां भारत के औद्योगिक मजदूरों की काफी बड़ी संख्या नौकरी में है, कुछ स्थानों में 5 वर्ष की उम्र तक के बच्चे मजदूरी करते हैं। उन सर्वाधिक सुकुमार वर्षों में उन्हें न तो खाने के लिए पर्याप्त छुट्टी मिलती है और न हफ्ते में एक दिन के लिए अवकाश मिलता है, महज दो आने (2.25 पेंस) के लिए उन्हें प्रतिदिन 10 से 12 घंटे काम करना पड़ता है। (पृष्ठ 96)

जहां तक लोगों के रहने के लिए मकान का संबंध है औसत मजदूर परिवार के पास एक कोठरी भी नहीं है; प्रायः एक ही कोठरी में कई परिवार अपनी गुजर करते हैं। 1911 में बंबई की समूची आबादी 69 प्रतिशत हिस्सा एक कमरे में रहता था (जबकि उसी वर्ष लंदन में इस तरह रहने वालों की संख्या 6 प्रतिशत थी)और प्रत्येक कमरे में औसतन 4.5 व्यक्ति रहते थे। 1931 की जनगणना के अनुसार बंबई की कुल आबादी का 74 प्रतिशत

हिस्सा एक कमरे की चाल में रहता था, इससे पता चलता है कि बीस वर्षों के बाद अति-संकुलता में वृद्धि ही हुई। आबादी का एक तिहाई भाग एक कोठरी में पांच आदमियों के हिसाब से रहता था : 2,56,379 व्यक्ति एक कोठरी में 6 से लेकर 9 आदमियों तक के हिसाब से रहते थे; 8,133 व्यक्ति एक कोठरी में 10 से लेकर 19 आदमियों तक के हिसाब से रहते थे; 15,490 व्यक्ति एक कोठरी में 20 या इससे अधिक आदमियों के हिसाब से रहते थे। यह भयानक जनसंकुलता उस समय और स्पष्ट दिखाई देती है जब सर्वहारा की दशाएं औसत में शामिल करके नहीं अपितु अलग से देखी जाती हैं।

1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने सूती कपड़ा मजदूरों की स्थिति की जांच के लिए एक समिति नियुक्त की जिसने 1940 में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में बताया :

> बंबई में जांच का काम ई, एफ और जी वार्ड तक सीमित था क्योंकि यही मुख्य रूप से मजदूरों की बस्तियां थीं। एकत्रित आंकड़े बताते हैं कि जांच के दौरान जिन परिवारों से संपर्क किया गया उनमें से 91.24 प्रतिशत एक कोठरी की चाल में रहते हैं और इस तरह की प्रत्येक चाल में औसतन 3.84 व्यक्ति रहते हैं। प्रति व्यक्ति उपलब्ध फर्श और चाल का क्षेत्रफल क्रमशः 26.86 और 103.23 वर्ग फीट है। (टैक्सटाइल लेबर इंक्वायरी कमेटी रिपोर्ट, खंड-2, 1940, पृष्ठ 273)

व्हिटले कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि कराची में समूची आबादी का एक तिहाई भाग एक कमरे में 6 से 9 व्यक्तियों के हिसाब से है। अहमदाबाद में 73 प्रतिशत मजदूर वर्ग एक कमरे के मकान में रहता था।

रहन-सहन की स्थिति 1931 के बाद और खासतौर से युद्ध के बाद और भी ज्यादा खराब हो गई। बंबई की आबादी 1945 में बढ़कर 23 लाख हो गई जबकि 1931 में यह 11 लाख और 1941 में 14 लाख 81 हजार थी। लेकिन इसके साथ ही 1931 के बाद से मकानों की संख्या में केवल 83,828 की ही वृद्धि हुई। प्रति मकान कुल औसत 7.01 है, जबकि 1931 में यह 4.01 था। वेशक एक कोठरी की चाल की तुलना में बड़ी चाल में भीड़भाड़ काफी अधिक है।

आवास समिति (बंबई नगरपालिका द्वारा नियुक्त समिति) ने बंबई में प्रतिव्यक्ति औसत उपलब्ध धरातल 12 वर्गफीट निर्धारित किया जबकि बंबई कारागार मैनुअल के अनुसार कैदियों तक को प्रतिव्यक्ति 40 वर्गफीट की जगह देने की व्यवस्था है। (रिपोर्ट आफ दि हाउसिंग पैनल, जनवरी 1946)

इसके अलावा बंबई की आबादी का 13 प्रतिशत भाग आज सड़कों पर सो रहा है। जब

कि युद्ध से पूर्व सड़कों पर सोने वालों की संख्या 5 प्रतिशत थी। जहां तक सफा ईका संबंध है व्हिटले कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया :

> सफाई की तरफ बरती जा रही लापरवाही का सबूत प्रायः सड़ते हुए कूड़े के ढेरों और गंदे पानी के गड्ढों से मिल जाती है जबकि शौचालयों के अभाव में सामान्यतः हवा और मिट्टी का दूषण बढ़ जाता है। मकानों में भी अधिकांश ऐसे हैं जिनकी न तो कोई नींव है और जिनमें न तो कोई खिड़की है; केवल उसी ओर कमरा खुला होता है जिस ओर दरवाजा होता है और वह भी इतना नीचा होता है कि बिना झुके उसमें से होकर अंदर नहीं जाया जा सकता। पर्दा करने के लिए मिट्टी के तेल के पुराने कनस्तरों और पुरानी बोरियों का इस्तेमाल किया जाता है जिनसे रोशनी और हवा आने में और भी रुकावट पैदा होती है। इस तरह की कोठरियों में लोग पैदा होते हैं; सोते हैं; खाते-पीते हैं, जिंदगी बिताते हैं और मर जाते हैं। (पृष्ठ 271)

बंबई के श्रम कार्यालय ने 1932-33 में मजदूरों के बजट की जांच की और पाया कि इनके घरों में से 26 प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें आठ या उससे कम घरों के लिए पानी का एक नल है, 44 प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें 9 से 15 घरों के लिए एक नल है और 29 प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें 16 या इससे अधिक घरों के लिए एक नल है (रिपोर्ट आफ इंक्वायरी इंटु वर्किंग क्लास बजट्स इन बांबे, 1935)। इनमें 85 प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें 8 या इससे कम घरों के लिए एक शौचालय है; 12 प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें 9 से 15 घरों के लिए एक शौचालय है और 24 प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें 16 या इससे अधिक घरों के लिए एक शौचालय है। 1935 में अहमदाबाद सूती मिल मजदूर संघ ने औद्योगिक आवास के बारे में एक जांच की और पाया कि जिन 23,706 मकानों की जांच की गई उनमें से 5,669 के पास किसी भी पानी की किसी भी तरह की व्यवस्था नहीं थी जबकि वे लोग, जिन्हें पानी की सप्लाई की जाती थी, उनके पास 200 या इससे अधिक परिवारों द्वारा अधिकृत क्षेत्र में एक दो नल थे; 5,000 मकानों में पाखाने की कोई व्यवस्था नहीं थी; सफाई या जल निकासी का कोई इंतजाम नहीं था। औद्योगिक आयोग के समक्ष एक गवाह ने अपने बयान में कहा :

> हालांकि मैंने अपनी जिंदगी में और अनेक देशों में पर्याप्त गरीबी देखी है और हालांकि मैंने गरीबी के बारे में काफी कुछ पढ़ा भी है···तथापि बंबई के इन बेहद गरीब लोगों के तथाकथित घरों को देखने से पहले कभी मैंने इसकी हृदयविदारकता और चरम बदनसीबी का अनुभव नहीं किया था··· (मजदूर को) उसके परिवार के साथ उसके घर में देखते ही खुद अपने से अनायास ही सवाल पूछना पड़ता है : क्या यह भी मनुष्य है या मैं ही पाताल लोक के किसी काल्पनिक निर्जीव प्राणी को जादू से बुला रहा हूं ? इस 10 फीट लंबे और 10 फीट चौड़े कमरे में, जहां हिलने डुलने की जगह भी

> मुश्किल से ही हो, पूरा परिवार सोता है, पलता है, गोबर की तीखी गंधवाले उपलों की मदद से खाना बनाता है, अपने पारिवारिक जीवन के सभी समारोह मनाता है, बस केवल उनका सामूहिक शौचालय उनसे अलग रहता है। पुराने मकानों की तथाकथित ऊपरी मंजिल पर के कुछ कमरे जिनमें सीधा खड़ा नहीं हुआ जा सकता, एक ढलवां छत के नीचे बने सूराख से ज्यादा कुछ नहीं हैं। पीछे के कमरे आमतौर से अंधेरे और उदास हैं और काफी गौर से देखने पर तथा उस अंधकार से आंखों के अभ्यस्त हो जाने पर ही उन कमरों में रहने वाले लोगों को देखा जा सकता है। (ए० ई० माइरम्स : एविडेंस बिफोर दि इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन, 4, पृष्ठ 354)

इन स्थितियों की जांच के लिए बंबई सरकार द्वारा नियुक्त एक भारतीय महिला डाक्टर ने अपनी रिपोर्ट में बताया :

> एक चाल की दूसरी मंजिल पर 15 फीट लंबे और 12 फीट चौड़े कमरे में मैंने छः परिवारों को रहते देखा। कमरे में इन छः परिवारों के अलग अलग चूल्हे बने हुए थे। जांच करने पर मुझे पता चला कि इस कमरे में रहने वाले वयस्कों और बच्चों की असली संख्या तीस है।···इसमें रहने वाली छः महिलाओं में से तीन को कुछ ही दिनों में बच्चा पैदा होने वाला था··· रात में पूरा कमरा छः चूल्हों के धुएं से भर उठता था और इसके साथ ही तमाम गंदगियां भी कमरे में मौजूद दिखाई देती थीं जो निश्चित रूप से प्रसव से पूर्व और प्रसव के बाद किसी भी मां और बच्चे के स्वास्थ्य के लिए घातक थीं। इस तरह के तमाम कमरे मैंने देखे। एक मकान के तहखाने के कमरों की हालत और भी बदतर थी। यहां दिन की रोशनी मुश्किल से ही पहुंच पाती थी, सूरज की रोशनी तो इन कमरों में कभी पहुंची ही नहीं। (बांबे लेबर गजट, दिसंबर 1922, पृष्ठ 31)

21 अप्रैल 1946 को मैं बंबई के निषिद्ध इलाके परेल के केंद्र में स्थित सूती मिल मजदूरों की चाल को देखने गया। यहां 12 फीट लंबी और 10 फीट चौड़ी एक दूसरे से सटी झोपड़ियों की तमाम कतारें थीं। इनमें कोई खिड़की नहीं थी। जब हम इस तरह की चाल के अंदर गए तो हमने देखा कि चारों तरफ अंधेरा फैला हुआ है और एक ढिबरी की कांपती लौ से अंधेरा कुछ कम हो रहा था जबकि कमरे में जल रहे स्टोव के कारण काफी गरमी महसूस हो रही थी। जिस पहली झोंपड़ी में हमने प्रवेश किया उसमें 10 लोग रह रहे थे। इसका किराया सात रुपये प्रतिमाह था। एक दूसरी झोंपड़ी में मैंने 13 छोटे छोटे स्टोव और बर्नर देखे जिनसे पता चला कि यहां 13 परिवार रहते हैं। मेरा गाइड भी उसी इलाके का था और उसने बताया कि यहां कम से कम 20 लोग या इससे अधिक लोग रहते हैं। लेकिन उस कमरे में रहने वाले लोगों ने इस डर से मुझे सही-सही संख्या नहीं बताई कि

कहीं किराया बढ़ा न दिया जाए। इन मकानों की पहली तीन कतारों में 30 कमरे थे जिनमें तकरीबन 300 लोग रहते थे लेकिन उनके लिए केवल तीन नल लगे हुए थे और इन नलों में सुबह और शाम के वक्त रुक-रुककर पानी आता था। एक नाली के ऊपर सूराख बनाकर तीन शौचालय तैयार किए गए थे। इनमें से एक पूरी तरह भर गया था और इस्तेमाल करने लायक नहीं था। अगली कतार में 160 मकान थे और इनके इस्तेमाल के लिए केवल छः नल थे। पानी की कमी के कारण सुबह एकदम तड़के और शाम को दो दो घंटे तक नल चलता था जबकि बंबई के समृद्ध इलाकों में बने मकानों में पानी दिन भर उपलब्ध था।

इस अर्धभुखमरी, बेहद भीड़भाड़ और सफाई की व्यवस्था न होने का लोगों के स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ता होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। इन स्थितियों की झलक उस समय की मृत्यु दर में देखी जा सकती है। 1937 में मृत्यु दर 22.4 व्यक्ति प्रति हजार पाई गई जबकि इसी अवधि में इंग्लैंड और वेल्स में यह दर 12.4 व्यक्ति प्रति हजार थी। इंग्लैंड और वेल्स में रहने वाला व्यक्ति औसतन जितनी आयु की आशा करता है, भारत में रहने वाला व्यक्ति उसके केवल आधे समय तक जीवित रहता है।

> भारत में औसत आयु अधिकांश पश्चिमी देशों की तुलना में काफी कम है। 1921 की जनगणना के अनुसार पुरुषों और महिलाओं के लिए यह औसत क्रमशः 24.8 और 24.7 वर्ष था। इसका अर्थ यह हुआ यह इंग्लैंड और वेल्स की औसत आयु 55.6 की तुलना में भारत में 24.75 थी। 1931 में इसमें और कमी आई और यह पुरुषों तथा महिलाओं के लिए क्रमशः 23.2 और 22.8 हो गई। ('इंडस्ट्रियल लेबर इन इंडिया', इंटरनेशनल लेबर आफिस 1938, पृष्ठ 8, 1931 में की गई भारत की जनगणना पर आधारित, पृष्ठ 98)[15]

इन स्थितियों की झलक इस बात से मिल जाती है कि भारत में पैदा होने वाले प्रति एक हजार बच्चों पर, प्रसव के दौरान मरने वाली माताओं की संख्या 24.5 है जबकि उसके मुकाबले में इंग्लैंड और वेल्स में माताओं की मृत्यु का अनुपात 4.1 प्रति हजार है। इनकी झलक इस विषमतापूर्ण वास्तविकता से भी मिल जाती है कि अहमदाबाद शहर में, जहां लोग ऊपर वर्णित स्थितियों में रहते हैं मृत्यु दर 41.05 प्रति हजार थी जबकि अहमदाबाद छावनी में स्वास्थ्य और आराम की सभी सुविधाओं से लैस यूरोपियनों की मृत्यु दर 12.84 प्रति हजार थी। इस स्थिति की झलक इस तथ्य से भी मिल जाती है कि भारत में एक साल के अंदर पैदा हुए प्रति हजार बच्चों में से 163 बच्चे शैशवकाल में ही मर जाते हैं जबकि इंग्लैंड और वेल्स में यह संख्या 46 थी। कलकत्ता में यह संख्या 239, बंबई में 248 और मद्रास में 227 थी (एक कमरे के मकान में रहने वालों में मृत्यु दर और भी ज्यादा देखी गई। इस प्रकार 1926 में बंबई में एक कमरे के मकान में प्रति

हजार पर मरने वाले नवजात बच्चों की संख्या 577 थी, दो कमरेवाले मकान में 254 थी और अस्पतालों में प्रति हजार पर यह संख्या 107 थी)।

भारत में, सरकारी कागजों में मौत का कारण प्रायः 'बुखार' बताया जाता है (ब्रिटिश भारत में 1932-4 में प्रतिवर्ष 62 लाख मौतों में से 36 लाख मौतों का कारण बुखार ही बताया गया है)। अर्धभुखमरी की अवस्था में रहने और निर्धनता का जीवन बिताने के बुरे स्वास्थ्य के रूप में जो नतीजे होते हैं उनपर परदा डालने के लिए बुखार जैसे गोलमोल शब्द का इस्तेमाल किया जाता रहा है। भारत की आर्थिक परिस्थितियों के आधिकारिक विद्वान और साम्राज्यवाद के हमदर्द वी० एनस्टे ने कहा है कि भारत में जितने लोग मरते हैं उनमें चार में तीन व्यक्ति गरीबी की बीमारियों से मरते हैं :

> 1926 में कुल मृत्यु दर 26.7 व्यक्ति प्रति हजार में से 20.5 व्यक्तियों की मृत्यु हैजा, चेचक, प्लेग, 'बुखार', पेचिश और दस्त से हुई। इनमें से लगभग सभी बीमारियां 'गरीबी की बीमारियों' के अंतर्गत आती हैं और इन सभी बीमारियों को रोका जा सकता था। पर्याप्त चिकित्सा और चिकित्सा संबंधी सलाह तथा संस्थागत उपचार के साथ साथ सफाई की बेहतर व्यवस्था (जिसमें शुद्ध जल की सप्लाई, भोजन को दूषित होने से रोकना, गंदे पानी और मल-मूत्र के निकासी की पर्याप्त व्यवस्था और रहने के लिए आवास की बेहतर मकान की सुविधा शामिल है) के जरिए निश्चित रूप से शहरों में मरने वालों की इतनी बड़ी संख्या को और तपेदिक तथा श्वास संबंधी रोगों से होने वाली मृत्यु को काफी बड़े पैमाने पर कम किया जा सकता है। भारत में बीमारी के कारण मृत्यु (और बुरे स्वास्थ्य) को बड़े पैमाने पर उन साधनों के द्वारा रोका जा सकता है जो अधिकांश पश्चिमी देशों में अपनाए जा चुके हैं और सफल साबित हुए हैं। (वी० एनस्टे : 'दि इकनोमिक डेवलपमेंट आफ इंडिया', पृष्ठ 69)

अक्तूबर, 1943 में भारत सरकार ने सर जोसेफ भ्होर की अध्यक्षता में स्वास्थ्य सर्वेक्षण एवं विकास समिति का गठन किया जिसने 1946 में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में बड़े साफ शब्दों में कहा :

> 'जन स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए कुछ बुनियादी शर्तों को पूरा करना आवश्यक है। इसमें स्वस्थ जीवन के लिए सहायक परिवेश की सुविधा, पर्याप्त पौष्टिक आहार की सुविधा तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए[18] रोगों के निदान और चिकित्सा से संबंधित सुविधाएं शामिल हैं। ये सुविधाएं समुदाय के सभी सदस्यों को मिलनी चाहिए चाहे वे इसके बदले में कुछ धन दे सकें या नहीं। इसके साथ ही अपने स्वास्थ्य को बनाए रखने के काम

> में जनता का भी सक्रिय सहयोग प्राप्त होना चाहिए। बड़ी संख्या में निदानयोग्य बीमारियों और मृत्यु दर का जिसका उल्लेख अभी किया गया है, मुख्य कारण यह है कि इन बुनियादी शर्तों के सिलसिले में व्यवस्था अपर्याप्त है। देश के अधिकतर हिस्सों में परिवेश संबंधी सफाई का स्तर बहुत निम्न है, अपोषण और अल्पपोषण से आबादी के एक उल्लेखनीय हिस्से की जीवनशक्ति में और प्रतिरोध क्षमता में कमी आती है। इसके अलावा मौजूदा स्वास्थ्य सेवाएं जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एकदम अपर्याप्त हैं जबकि सामान्य शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा का अभाव होने से जनता की उस उदासीनता को दूर करने में कठिनाई काफी बढ़ जाती है जिसकी वजह से लोग अपने आसपास की गंदगी भरी स्थिति को बर्दाश्त करते हैं, बड़े पैमाने पर मौजूद बीमारियों को झेलते रहते हैं। (रिपोर्ट आफ दि हैल्थ सर्वे ऐंड डेवलपमेंट कमेटी, 1946 खंड 1, पृष्ठ 11)

विश्व में निम्नतम स्तर की गरीबी और दुर्दशा का यह चित्र सभी गैरसरकारी प्रेक्षकों ने प्रस्तुत किया है। यहां एक अमरीकी के विचार पेश किए जा रहे हैं जिसने भारत के एक गांव में कुछ दिन बिताए थे। उसने महसूस किया कि ग्रामीणों को चिकित्सा संबंधी सहायता या दूसरी तरह की सहायता देने की सभी कोशिशें गरीबी की बुनियादी समस्या के सामने व्यर्थ हो गईं :

> आबादी के तीन करोड़ से चार करोड़ लोगों को दिन भर में एक वक्त से अधिक खाना नहीं मिलता है और वे निरंतर भुखमरी की स्थिति में जिंदगी गुजारते हैं। जो मरीज मेरे पास आते थे उनके लिए अच्छी खुराक का निर्देश देना एक निराशाजनक स्थिति थी।
>
> यदि उनसे यह कहा जाता था कि हजे के मरीज के मैले कपड़ों को जला दो तो उनका जवाब होता था कि अगर वह नहीं मरा तो बाद में क्या पहनेगा। गरीबी के कारण वे इस तरह की 'फिजूलखर्ची' को नहीं झेल सकते थे।
>
> भारत के गांवों की जनता को दवा की गोलियों की नहीं बल्कि भोजन और शिक्षा की जरूरत है। (जी० इमरसन : 'वायसलेस इंडिया' 1931)

'दि टाइम्स' समाचारपत्र के कलकत्ता स्थित दकियानूस साम्राज्यवादी संवाददाता को भी कुछ इसी तरह की बात कहनी पड़ी। उसे यह कहना पड़ा कि नजदीक से देखने पर भारत 'अर्धभुखमरी' की ऐसी तस्वीर प्रस्तुत करता है जो जबरन निगाहों में कौंध जाती है' :

> भारत के विभिन्न भागों से गुजरते समय कोई भी व्यक्ति अपोषण और अर्धभुखमरी के दर्दनाक दृश्यों को देखने से अपने को नहीं बचा सकता। ये दृश्य आंखों में चुभने लगते हैं। किसी भी व्यक्ति को इस बात में भी कोई संदेह नहीं हो सकता कि भारत के तमाम लोग यह बिलकुल नहीं जानते कि उनके पास ऐसी कौन सी चीज है जिसे वे भरपेट खा सकें।

> जिस प्रांत से मैं सबसे ज्यादा परिचित हूं उसका उदाहरण देना चाहूंगा। बंगाल के स्वास्थ्य अधिकारियों का दावा है कि भारतवासियों का पोषण आज उतने अच्छे ढंग से नहीं हो रहा है जितने अच्छे ढंग से एक पीढ़ी पूर्व होता था। (दि टाइम्स के कलकत्ता संवाददाता, 1 फरवरी 1927)

साम्राज्यवादी शासन के 180 वर्षों बाद भारत की जनता की यह स्थिति है।

यह ध्यान देने की बात है कि गरीबी की यह स्थिति स्थिर नहीं है। यह एक गतिशील स्थिति है और इसका विकास होता जाता है। 'दि टाइम्स' के संवाददाता की इस टिप्पणी से कि आधुनिक भारत की स्थितियां खराब होती जा रही हैं, अनेक समर्थ प्रेक्षक सहमत हैं। बंगाल के स्वास्थ्य संचालक ने 1927-28 में अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि 'काफी बड़ी संख्या में बंगाल के मौजूदा किसान ऐसा भोजन खाने लगे हैं जिसे खाकर चूहे भी पांच सप्ताह से ज्यादा जिंदा नहीं रह सकते।' और यह कि 'अपर्याप्त भोजन के कारण उनके शरीर में जीवनशक्ति इतनी कम हो गई है कि वे गंभीर रोगों के संपर्क में आते ही उनके शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार 1933 में भारतीय चिकित्सा सेवा (इंडियन मेडिकल सर्विस) के निदेशक ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि जैसा पहले ही देखा गया है 'समूचे भारत में बीमारियां लगातार बल्कि बहुत तेजी से बढ़ रही हैं।' स्थिति के इस तरह बिगड़ते जाने का संबंध साम्राज्यवादी शासन की परिस्थितियों में कृषि का संकट तेजी से बढ़ते जाने से है जो सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए एक जबरदस्त प्रेरक शक्ति है।

अत्यधिक आबादी होने की भ्रांतियां

भारतीय जनता की इस भयंकर गरीबी का क्या कारण है?

इसके वास्तविक कारणों की खोज शुरू करने से पूर्व हमें उन वर्तमान सतही दलीलों को अपने रास्ते से हटा देना होगा जिसके कारण प्रायः समस्या का गंभीरता के साथ विश्लेषण नहीं हो पाता।

इसकी एक खास मिसाल यह दलील है कि भारतीय जनता की गरीबी का कारण सामाजिक पिछड़ापन, आम जनता की अज्ञानता और उसका अंधविश्वास (तकनीक में रूढ़ि-

वादिता, जातपात के बंधन, गो पूजा, स्वास्थ्य विज्ञान की उपेक्षा, महिलाओं की स्थिति इत्यादि) है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत की गरीबी में इन बातों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है और इस तरह की प्रतिगामी चीजों पर विजय पाना भारतीय जनता के सामने पुनर्निर्माण के काम का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन जब इन कारणों को भारत की गरीबी का मूल कारण घोषित किया जाता है तब वस्तुतः गाड़ी को घोड़े के आगे रख दिया जाता है। सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन जनता की निम्न आर्थिक स्थिति तथा राजनीतिक दासता का परिणाम और उसकी अभिव्यक्ति है न कि जनता की निम्न आर्थिक स्थिति तथा राजनीतिक दासता उसके सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का परिणाम तथा अभिव्यक्ति है। निरक्षरता के लिए उस सरकार की भर्त्सना की जा सकती है जो जनता को अज्ञान में रखती है और उन्हें शिक्षा देने से इंकार करती है लेकिन हम उस जनता की भर्त्सना नहीं करेंगे जिसे सीखने का अवसर दिया ही नहीं गया। मूल समस्या आर्थिक-राजनीतिक है और सांस्कृतिक समस्या इस मूल समस्या पर टिकी है। सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन को ऐसे समय जबकि भयंकर गरीबी बनी हो, अपनी उन्नति करने का उपदेश देकर और स्वास्थ्य पर भाषण पिलाकर नहीं दूर किया जा सकता। इस पिछड़ेपन को संगठन के भौतिक आधार में परिवर्तन के जरिए ही दूर किया जा सकता है और यही अन्य सभी रास्तों की कुंजी है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जरूरत है वर्ग संबंधों में परिवर्तन की, जिसका अर्थ है राज्य के स्वरूप में परिवर्तन। साम्राज्यवादी और सामंती संबंधों के जुए को उतार फेंक एक शक्तिशाली जन आंदोलन ही भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए एक साथ मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

इस विश्लेषण की सत्यता का पता सोवियत संघ के उदाहरण से चल जाता है। जारशाही के अंतर्गत जनता की गरीबी और निम्न जीवन स्तर की व्याख्या करते समय आमतौर पर विद्वान लोग इसे रूसी कृषक समुदाय के तथाकथित सहज पिछड़ेपन का अनिवार्य परिणाम बताते हैं। लेकिन जब वहां के मजदूरों और किसानों ने एक बार मिलकर अपने शोषकों को उखाड़ फेंका तो उन्होंने अपने आपको तकनीकी और सांस्कृतिक प्रगति के क्षेत्र में इतना समर्थ दिखाया कि दुनिया के सर्वाधिक विकसित देश भी पीछे छूट गए। भारत में भी ऐसी ही स्थिति आएगी भले ही इस प्रक्रिया को किन्हीं दूसरे रूपों और मंजिलों से गुजरना पड़े। भारतीय किसानों का वास्तविक पिछड़ापन महज तकनीक और संस्कृति के क्षेत्र में ऊपर से दिखाई देने वाले निम्न स्तर तक (जो दासता और अवरुद्ध विकास के प्रत्यक्ष चिह्न हैं) ही नहीं है बल्कि सबसे बढ़कर यह साम्राज्यवादियों और जमींदारों के सामने आत्मसमर्पण करने तक है। इन साम्राज्यवादियों और जमींदारों का प्रभुत्व विकास को रोकता है। लेकिन यह एक ऐसा पिछड़ापन है जो निकट भविष्य में समाप्त होने जा रहा है और यहीं से आने वाले दिनों के प्रति आशा पैदा होती है।

भारत की गरीबी के बारे में प्रायः दोहराए जाने वाले एक कारण का प्रचार कम नहीं है वह कारण है 'अत्यधिक आबादी' के तथाकथित परिणाम। यह दृष्टिकोण इतना ज्यादा

प्रचलित है और बार बार इसे दोहराने से यह पश्चिमी देशों के 10 पाठकों में से, जिन्हें वास्तविकताओं से परिचित होने का अवसर नहीं मिला, 1 के दिमाग में इतनी तेजी से बैठ जाता है कि हमारे लिए यह जरूरी हो गया है कि हम इसपर और भी विस्तार से विचार करें और यह दिखाएं कि ज्ञात तथ्यों के आधार पर कैसे इसका पूरी तरह खंडन हो जाता है।

क्रूर लोगों की मदद के लिए जितने झूठ गढ़े गए हैं उनमें सबसे बड़ा झूठ यह है कि आबादी के अत्यधिक बढ़ जाने से पूंजीवाद के अंतर्गत जनता की गरीबी बढ़ जाती है। आधुनिक युग में यह झूठ माल्थस नामक उस प्रतिक्रियावादी पादरी के समय से प्रचारित हुआ है जिसने वस्तुत: कोई नई बात तो नहीं कही लेकिन जिसने 1798 में फ्रांस की क्रांति और उदारतावादी सिद्धांतों के खिलाफ प्रचार करने के लिए एक राजनीतिक हथियार के रूप में (जैसा उसकी पुस्तक के टाइटिल में घोषित है) अपने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था और जिसको इसके पुरस्कारस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी के कालेज में प्रोफेसर-शिप मिली। उसके सिद्धांत का 'इंग्लैंड के कुलीनतंत्र ने आनंदविभोर होकर स्वागत किया और मानवजाति के विकास के विषय में सभी उत्कंठाओं को समाप्त कर देने वाली एक महान शक्ति' कहा। (मार्क्स : 'पूंजी', खंड 1, 25वां अध्याय) माल्थस का सिद्धांत आज भी प्रतिक्रियावादियों का बहुत प्रिय दर्शन है हालांकि सभी मतों के वैज्ञानिकों और अर्थशास्त्रियों ने इसका मजाक उड़ाया है। यह सिद्धांत उत्पादन के विकास की संभावनाओं पर मनमाने तौर पर कुछ जबरदस्त सीमाएं लगा देता है और यह भी ऐसे समय जब उत्पादन का विकास सर्वाधिक तीव्र विस्तार के युग में प्रवेशकर रहा हो। 19वीं सदी के अनुभव ने माल्थस के सिद्धांत की उस समय धज्जियां उड़ा दीं जब आबादी की रफ्तार से भी ज्यादा तेजी के साथ संपत्ति का विस्तार हुआ और यह बात बहुत साफतौर पर उद्घाटित हो गई कि गरीबी की वजह जनसंख्या वृद्धि नहीं बल्कि कुछ और है। 20वीं सदी में खासतौर से प्रथम महायुद्ध के बाद और विश्वव्यापी आर्थिक संकट के आने पर इस सिद्धांत को फिर से जीवित करने की कोशिश की गई। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय आंकड़ों की मौजूदगी ने उसे फिर समाप्त कर दिया। लोगों ने इस तथ्य को देखा कि युद्ध के दौरान हुए संपूर्ण और व्यापक विनाश के बावजूद दुनिया में विश्व स्तर पर खाद्य पदार्थों, कच्चे मालों और औद्योगिक सामानों के उत्पादन में लगातार इतनी वृद्धि हुई कि वह विश्व की जनसंख्या से आगे निकल गई। इस तथ्य ने लोगों को यह सोचने पर विवश किया कि उनके दुखों का कारण समाज व्यवस्था में ही कहीं निहित है। शासक वर्ग के सामने यह समस्या पैदा होने लगी कि संपत्ति की वृद्धि को कैसे रोका जाए और इसके लिए उसने कई उम्दा तरीके निकाले। साथ ही आबादी के संदर्भ में उसे यह शिकायत होने लगी कि यूरोप और अमरीका के लोग युद्धबलि की पूर्ति के लिए काफी बच्चे पैदा नहीं कर रहे हैं। आधुनिक शासक वर्ग ने माल्थस के सिद्धांत को उलट दिया और यह नारा अपनाया कि संपत्ति कम और बच्चे ज्यादा पैदा करो।

पुराने ढंग के प्रतिक्रियावाद का यह बदनाम सिद्धांत यूरोप और अमरीका से खदेड़े जाने के बाद अब एशिया में अपना अंतिम आश्रय स्थल ढूंढ रहा है। भारत और चीन की गरीबी के बारे में एकमात्र कारण यह बताया जाता है कि यह गरीबी वहां की समाज व्यवस्था की नहीं बल्कि 'जरूरत से ज्यादा आबादी' की वजह से है। यह कहा जाता है कि साम्राज्यवादी शासन के जनहितकारी प्रभावों ने भारतीय महाद्वीप से युद्ध को समाप्त कर दिया है और महामारी तथा अकाल की सीमा में तथाकथित कमी करके उसने दुर्भाग्यवश आबादी की वृद्धि को रोकने के 'प्राकृतिक उपायों' को खत्म कर दिया और इस प्रकार भारत की अदूरदर्शी और बहुप्रज जनता को पेट भरने तक की रोटी भी दुर्लभ हो गई है। (1770 से 20वीं शताब्दी की शुरुआत तक ब्रिटिश शासनकाल के दौरान भयंकर अकाल पड़े। 1918 में इन्फ्लूएंजा से एक करोड़ चालीस लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। बंगाल के हाल के अकाल के दौरान 35 लाख व्यक्ति मारे गए और आज आबादी का बहुमत 'चूहे के खाने लायक आहार' की स्थितियों पर निर्भर है) इसलिए भूमि पर बढ़ता हुआ दबाव और अर्धभुखमरी की स्थितियां ब्रिटिश शासन की परोपकारिता के अनिवार्य स्वाभाविक परिणाम हैं। इन स्थितियों में तबदीली तभी लाई जा सकती है जब भारत की जनता जनसंख्या वृद्धि की दर को यूरोप की बुद्धिमान जनता की वृद्धि दर के अनुपात से भी कम करे।

जैसे जैसे भारत की समस्या अधिक भीषण होती जा रही है, साम्राज्यवादी क्षेत्रों में इस तरह के तर्क देने का फैशन अधिक से अधिक बढ़ता जा रहा है। साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र के एक प्रमुख विशेषज्ञ ने बड़े नाटकीय ढंग से चीख कर कहा कि 'वह भारतीय माल्थस कहां है जो भारत के बच्चों की विनाशकारी बाढ़ को रोक सके?' (एंस्टे : 'इकनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया,' पृष्ठ 475)। साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र के ही एक दूसरे प्रवक्ता ने घोषित किया कि 'ऐसा लगता है कि भारत माल्थस के इस सिद्धांत को कार्यान्वित कर रहा है कि जब जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए युद्ध, महामारी अथवा अकाल नहीं होते तब वह इस सीमा तक बढ़ जाती है कि लोगों को जिंदा रहने लायक भी खाना नहीं मिलता।' (एल०सी० नावेल्सः, 'दि इकनोमिक डेवलपमेंट आफ दि ब्रिटिश ओवरसीज इंपायर, पृष्ठ 351) यह दृष्टिकोण उन वामपंथी, 'प्रगतिशील' क्षेत्रों में भी फैला जो साम्राज्यवादी चाल की गिरफ्त में आ चुके हैं। 1933 में जन्म निरोध अंतर्राष्ट्रीय केंद्र के तत्वावधान में लंदन स्कूल आफ हाइजिन ऐंड ट्रापिकल मेडीसिन में 'एशिया में जन्म निरोध' विषय पर एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का उद्देश्य यह था कि केवल चिकित्सा विज्ञान के एक मसले के रूप में ही नहीं बल्कि एशिया की गरीबी की समस्याओं के समाधान के एक आर्थिक उपाय के रूप में जन्म निरोध का समर्थन किया जाए। ('बर्थ कंट्रोल आफ एशिया' की रिपोर्ट देखें, इसे बर्थ कंट्रोल इंटरनेशनल इनफार्मेशन सेंटर ने 1935 में प्रकाशित किया था।) इसका प्रसार सरकारी रिपोर्टों में भी हुआ :

'अनाज का बढ़ा हुआ उत्पादन लोगों के जीवनस्तर में कोई सुधार या उपलब्ध खाद्य पदार्थों की मात्रा में वृद्धि नहीं कर सका। क्योंकि इन अनुकूल स्थितियों में आबादी तेजी से बढ़ जाती है। पहले युद्ध, अकाल और महामारी ये तीनों जनसंख्या में कमी करने के लिए सक्रिय थीं। युद्ध और अकाल को सक्रिय प्रभावकारी के रूप में प्रायः नकार दिया गया है जबकि महामारी से होने वाली मौतों में उल्लेखनीय कमी आई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश पर दबाव बढ़ता चला गया।···हमारे अलावा और लोगों की भी यह राय है कि जनसंख्या का मसला सामान्य जीवनस्तर को निम्न बनाने में एक भूमिका अदा करता है' (व्हिटले कमीशन रिपोर्ट आन लेबर इन इंडिया, 1931, पृष्ठ 249)

सरकारी राज आयोग की अध्यक्षता करते हुए और हाउस आफ कामन्स के भूतपूर्व स्पीकर के मुख से बोलते हुए संपूर्ण प्रभामंडल से परिपूर्ण माल्थस को देखिए। तथ्य क्या हैं ?

पहली बात तो यह है कि ऊपर दी गई तमाम दलीलों से कुछ ऐसी धारणा बनती है गोया ब्रिटिश शासनकाल में भारत की जनसंख्या दूसरे देशों की तुलना में बेहद तेजी से बढ़ती गई है और इसीलिए ऐसी हालत आ गई है कि यह देश हद से ज्यादा गरीब हो गया है। लेकिन कितने लोग यह जानते हैं कि ब्रिटिश शासनकाल के अंतर्गत भारत के इतिहास की वास्तविक सचाइयां देखने से बिलकुल उलटी तस्वीर सामने आती है।

ब्रिटिश शासनकाल के अंतर्गत जनसंख्या वृद्धि की वास्तविक दर यूरोप के किसी भी देश की तुलना में उल्लेखनीय रूप से कम रही है और विश्व स्तर पर जनसंख्या वृद्धि के सामान्य पैमाने पर देखें तो यह सबसे निम्न स्तर पर रही है। यह बात समान रूप से अंगरेजों के संपूर्ण शासनकाल या पिछले पचास वर्षों की अवधि पर लागू होती है।

समूची अवधि के लिए केवल अटकलों का सहारा लिया जा सकता है क्योंकि भारत में 1872 तक कोई जनगणना नहीं हुई थी। मोरलैंड ने अनुमान लगाया था कि 16वीं सदी के अंत में भारत की आबादी 10 करोड़ थी ('इंडिया ऐट दि डेथ आफ अकबर' पृष्ठ 22) आज यह संख्या 35 करोड़ है। इससे पता चलता है कि 300 से अधिक वर्षों में जनसंख्या में साढ़े तीन गुना की वृद्धि हुई है। सावधानीपूर्वक किए गए पहले अनुमान (सेंसस रिटर्न्स आफ 1931 की भूमिका में सरकार के बीमा विशेषज्ञ फिनलाइजेन) के अनुसार इंग्लैंड और वेल्स की जनसंख्या 1700 में 51 लाख थी। आज यह संख्या 4 करोड़ 4 लाख हो गई है। इसका अर्थ लगभग दो सौ तैंतीस वर्षों की अल्प अवधि में आठ गुना वृद्धि हुई है। इंग्लैंड में जनसंख्या वृद्धि भारत की तुलना में दुगने से भी ज्यादा दर से हुई।[17]

शताब्दी का उत्तरार्ध अधिक महत्वपूर्ण है, जब औद्योगिक क्रांति के साथ जोड़े जाने वाले, यूरोप के विशेष विस्तार में कमी आनी प्रारंभ हो गई थी। हम सबसे पहले 1914 के पूर्व के भारत और यूरोप की तुलना करें ताकि हमारे विवरण में वे जटिलताएं न आएं जो यूरोपीय देशों में सीमागत परिवर्तन के कारण पैदा हुई हैं। भारत में और प्रमुख यूरोपीय देशों में 1870 और 1910 के बीच जनसंख्या में वृद्धि की दर के निम्नांकित आंकड़े देखने से बात साफ होती है।

जनसंख्या में वृद्धि, 1870-1910

देश	प्रतिशत वृद्धि
भारत ··· ··· ··· ···	18.9
इंग्लैंड और वेल्स ··· ··· ···	58.0
जर्मनी ··· ··· ···	59.0
बेल्जियम ··· ··· ···	47.8
हालैंड ··· ··· ···	62.0
रूस ··· ··· ···	73.9
यूरोप (औसत) ··· ··· ···	45.4

(बी॰ नारायण: 'पापुलेशन आफ इंडिया,' 1925, पृ॰ 11)

फ्रांस को छोड़कर अन्य सभी यूरोपीय देशों की में भारत में जनसंख्या वृद्धि की रफ्तार कम रही है।

1872 से 1931 तक की अवधि की जांच करने से हमें तथ्यों का पता चलता है : इस अवधि के दौरान भारत में यह दर 30 प्रतिशत थी जबकि इंग्लैंड और वेल्स में यह 77 प्रतिशत पाई गई। पिछले 60 वर्षों में इंग्लैंड और वेल्स में जनसंख्या वृद्धि की दर भारत की तुलना में दुगनी से भी ज्यादा रही।[18]

महज 1921 से 1940 की अवधि में भारत में जनसंख्या वृद्धि की दर इंग्लैंड और पश्चिमी यूरोप के देशों की तुलना में अधिक रही (यह दर 21 प्रतिशत थी जबकि इसी अवधि में अमरीका में यह दर 24 प्रतिशत थी)। लेकिन भारत में गरीबी की समस्या की शुरुआत 1921 के बाद से ही नहीं हुई है।[19]

1931 में केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति ने अपनी एक रिपोर्ट जारी की जिसमें काफी व्यापक क्षेत्र में भारत की आर्थिक स्थितियों का आधिकारिक और अत्यंत विस्तृत सर्वेक्षण किया गया था। इस समिति ने विवश होकर भारतीय गरीबी की परंपरागत व्याख्या 'अत्यधिक आबादी' की भ्रांति का पर्दाफाश कर दिया :

जमीन से होने वाला प्रति व्यक्ति उत्पादन और प्रति एकड़ उत्पादन अन्य तमाम देशों की तुलना में कम है· · ·औसत किसान आज भी अनाज और आहार की अपर्याप्त मात्रा पर निर्भर है जो उसके काम करने की शारीरिक क्षमता पर असर डालती है—साथ ही देश की मृत्यु दर में उल्लेखनीय वृद्धि करती है· · ·इन स्थितियों की जिम्मेदारी हम पूरी तरह जनसंख्या में अनुचित वृद्धि तथा उसके कारण जमीन पर पड़ने वाले भार पर नहीं डाल सकते। हमें भारत में जनसंख्या के विकास की तुलना इंग्लैंड की जनसंख्या के विकास के साथ करनी चाहिए। हमारे पास दोनों देशों के 30 वर्षों के आंकड़े मौजूद हैं जिन्हें देखने से पता चलता है कि इंग्लैंड और वेल्स की आबादी में 1891 और 1901 के बीच 12.17 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, 1901 और 1911 के बीच 10.91 प्रतिशत और 1911 तथा 1921 के बीच 4.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसकी तुलना में इन्हीं वर्षों में ब्रिटिश भारत की आबादी में क्रमश: 2.4 प्रतिशत, 5.5 प्रतिशत और 1.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।' (रिपोर्ट आफ दि सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी, 1921, पृष्ठ 40-41)

अब आबादी के घनत्व पर विचार कर लें। 1941 में पूरे भारत में जनसंख्या का घनत्व 246 व्यक्ति प्रति वर्ग मील था जबकि इंग्लैंड और वेल्स में यह घनत्व 703, बेल्जियम में 702, हालैंड में 639 और जर्मनी में 348 व्यक्ति वर्गमील था। विभिन्न जिलों में जनसंख्या के असमान घनत्व को ध्यान में रखते हुए इन आंकड़ों का महत्व सीमित है। लेकिन फिर भी यदि हम सबसे ज्यादा घनी आबादी वाले प्रांत बंगाल को लें तो हम पाएंगे कि वहां यह संख्या 779 व्यक्ति प्रति वर्गमील है जो इंग्लैंड या वेल्स या बेल्जियम के स्तर से थोड़ा ही ऊंचा है। यह सही है कि बंगाल के कुछ खास जिलों में आबादी का घनत्व बहुत ज्यादा है जैसे ढाका में यह 1542 व्यक्ति प्रति वर्गमील, टिपरा में 1525 या फरीदपुर में 1024 व्यक्ति प्रति वर्गमील आबादी का घनत्व है। लेकिन अत्यधिक घनी आबादीवाले इन जिलों से संबद्ध विशेष सवाल पर, और इस प्रश्न पर कि उपलब्ध तथ्य यह मानने कि कोई गारंटी देते हैं कि अत्यधिक घनी आबादीवाले बंगाल में भी जनसंख्या ने जीवन के साधनों को पीछे छोड़ दिया है (शेष भारत का उल्लेख किए बिना), 1931 के 'बंगाल सेंसस रिपोर्ट' के फैसले का उल्लेख किया जा सकता है।

क्या जनसंख्या वृद्धि ने खाद्य पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि को पीछे छोड़ दिया है? कृषि के विकास में निंदनीय उपेक्षा के बावजूद और खेती योग्य जमीन के केवल आंशिक हिस्से के इस्तेमाल के बावजूद आधुनिक काल के जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनसे यह पता नहीं चलता कि आबादी की वृद्धि खाद्य पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि से आगे निकल गई हो। देश में पैदा होने वाले खाद्य पदार्थों की कुल मात्रा अब भी बहुत अपर्याप्त है और इसपर भी इस अपर्याप्त मात्रा का हिस्सा निर्यात कर दिया जाता है लेकिन इस अपर्याप्तता का कारण यह नहीं है कि जनसंख्या वृद्धि ने खाद्यान्नों की वृद्धि को पीछे छोड़ दिया है बल्कि

इसका कारण यह है कि भारत में अब भी उत्पादन की पिछड़ी तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है, यहां जमीन की मिलकियत की पुरानी प्रणाली अब भी कायम है और अनेक तरह के भारी बोझों ने कृषि की कमर तोड़ रखी है।

1891 और 1921 के बीच जनसंख्या में 9.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी अवधि में अनाज का उत्पादन करने योग्य भूमि के क्षेत्रफल में 19 प्रतिशत की वृद्धि हुई अर्थात जनसंख्या की वृद्धि की तुलना में दुगनी रफ्तार से वृद्धि हुई।

1921 से 1931 के दौरान हमारे पास प्रोफेसर पी० जे० थामस के आंकड़े उपलब्ध हैं जो उन्होंने 1935 में जारी 'पापुलेशन ऐंड प्रोडक्शन' में शामिल किए थे। वर्ष 1920-21 और 1921-22 के औसत को 100 मानकर उन्होंने 1930-31 और 1931-32 के औसत के लिए सूचक अंक जनसंख्या के लिए अनुमानत: 110.4, कृषि उत्पादन के लिए 116 और औद्योगिक उत्पादन के लिए 151 निर्धारित किया। दूसरे शब्दों में कहें तो जिस दशक में जनसंख्या की वृद्धि का सबसे उच्च आंकड़ा रिकार्ड किया गया उस दशक के दौरान आबादी में जहां 10.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई वहीं कृषि उत्पादन में 16 प्रतिशत और औद्योगिक उत्पादन में 51 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

माल्थस के पक्के चेले और दुर्भाग्य के पैगंबर प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी को भी अपनी हाल की पुस्तक 'फूड प्लेनिंग फार फोर हंड्रेड मिलियन्स' (1938) में यह स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ा कि 'कुल कृषि उत्पादन में वृद्धि से जनसंख्या वृद्धि को पीछे छोड़ दिया है' (पृष्ठ 18) और अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उन्हें आंकड़े प्रस्तुत करने पड़े हैं।

भारत में आबादी और उत्पादन की प्रवृत्ति
(1910-1933)

(1910-11 से 1914-15 के औसत के आधार पर सूचक अंक)

	आबादी	सभी फसलें	खाद्य फसलें	अखाद्य फसलें	औद्योगिक उत्पादन
1910-11 से 1914-15 का औसत	100	100	100	100	100
1932-33	117	127	134	121	156

(राधाकमल मुखर्जी: 'फूड प्लैनिंग फार फोर हंड्रेड मिलियन्स', 1938, पृष्ठ 17 और 27)

खाद्यान्न का उत्पादन आबादी की तुलना में दुगनी रफ्तार से बढ़ा है और औद्योगिक उत्पादन की मात्रा में तिगुनी रफ्तार से वृद्धि हुई है। 1900 से 1930 तक के पूरे तीन दशकों का सारांश प्रस्तुत करते हुए प्रोफेसर थामस ने लिखा :

1900 और 1930 के बीच भारत की आबादी में 19 प्रतिशत की वृद्धि हुई लेकिन खाद्य पदार्थों और कच्चे माल के उत्पादन में लगभग 30 प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन में 189 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1921-30 के दशक में जनसंख्या में बेशक आकस्मिक वृद्धि हुई लेकिन उत्पादन की भी प्रगति बनी रही। व्यापार में मंदी की स्थिति के बावजूद बाद के वर्षों में भी यह प्रगति बनी रही; औद्योगिक उत्पादन का सूचक (1928 में 100) 1934-35 में 144 रहा और चालू वर्ष में इससे भी ज्यादा हो सकता है।

इन सारी बातों से पता चलता है कि जनसंख्या में वृद्धि उत्पादन में वृद्धि की तुलना में कम रही···आंकड़ों ने इस खतरे का समर्थन नहीं किया कि जनसंख्या वृद्धि उत्पादन वृद्धि को पीछे छोड़ देगी। जो लोग भारत में 'बच्चों की विनाशकारी बाढ़' से खतरा महसूस करते हैं वे यदि राष्ट्रीय आय के वितरण, उपभोग की किस्म, और जनसंख्या के भौगोलिक वितरण एवं अन्य संबद्ध मसलों की स्थिति में सुधार पर अपना ध्यान केंद्रित करें तो इससे देश का काफी भला होगा। (प्रोफेसर पी० जे० थामस का 'दि टाइम्स', 24 अक्तूबर 1935 में लेख)

इस प्रकार तथ्यों को देखने से पता चलता है कि इस बात को भारत की गरीबी का कारण नहीं कहा जा सकता कि यहां जीवन निर्वाह के साधनों के उत्पादन में वृद्धि की तुलना में जनसंख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है। आंकड़ों को देखने से हमें जीवन निर्वाह के साधनों के उत्पादन में ही वृद्धि का पता चलता है, इसलिए गरीबी के कारणों की तलाश कहीं और की जानी चाहिए।[20]

कहने का मतलब यह नहीं कि स्वामित्व, पट्टा, तकनीक, परजीविता, और उपलब्ध श्रम शक्ति की बरबादी की वर्तमान स्थितियों के अंतर्गत जीवन निर्वाह साधनों का वर्तमान उत्पादन लोगों की जरूरतों के लिए पर्याप्त है। यह बेहद अपर्याप्त है। चाहे पुरुष हो या महिला, यदि कोई व्यक्ति बिना मेहनत किए साधारण जीवन बिता रहा हो तो उसे भोजन के रूप में प्रतिदिन 2400 कैलोरी शक्ति मिलनी चाहिए। जो लोग थोड़ा बहुत काम करते हैं उन्हें 2500 से 2600 कैलोरी की जरूरत है और जो लोग ऐसे कामों में लगे हैं जिसमें अत्यधिक शारीरिक श्रम करना पड़ता है उन्हें 2800 से 3000 कैलोरी जीवन शक्ति चाहिए। कुन्नूर के पौष्टिक आहार अनुसंधान प्रयोगशाला के निदेशक डाक्टर एक्रायड ने 'दि न्युट्रिटिव वैल्यू आफ इंडियन फूड्स ऐंड दि प्लानिंग आफ सैटिसफैक्टरी डायट्स' नामक स्वास्थ्य बुलेटिन नंबर 23 (1941) में लिखा है कि भारत में लाखों करोड़ों लोग ऐसे हैं जिनको अपर्याप्त और संतुलित आहार के जरिए दिन भर में केवल 1750 कैलोरी शक्ति मिलती है।[21] (रिपोर्ट आफ हैल्थ सर्वे ऐंड डेवलपमेंट कमेटी, खंड 1, पृष्ठ 69-70) इसके अतिरिक्त वसा (चरबी), प्रोटीन और सामान्य तौर पर जीवन रक्षक

खाद्य पदार्थों की खासतौर से गंभीर कमी है। दूध का कुल उत्पादन अनुमानतः 113 अरब पौंड है जो संतुलित आहार के लिए आवश्यक माला से आधे से भी ज्यादा कम है।

इन तथ्यों से वर्तमान सामाजिक और आर्थिक संगठन के दिवालियेपन का पता चलता है जो जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भारत के अपार प्राकृतिक साधनों के इस्तेमाल और विकास में असफल रहा है। लेकिन इस बात के प्रमाण नहीं हैं कि भारत में जरूरत से ज्यादा लोग हैं। इसके विपरीत दुनिया भर के विशेषज्ञों ने यह स्वीकार किया है कि यदि भारत के साधनों का ठीक ढंग से इस्तेमाल किया जाए तो समूचे देश की आज जितनी आबादी है, या निकट भविष्य में जितनी हो सकती है उससे कहीं अधिक आबादी इन साधनों के सहारे बड़े आराम की जिंदगी बिता सकती है। भारत में कृषि योग्य जितनी जमीन है उसका लगभग एक तिहाई भाग अभी तक इस्तेमाल में नहीं आया है। जिस भाग पर खेती होती भी है वहां खेती करने का तरीका इतना अधिक आदिम है कि उसमें प्रति एकड़ जितनी पैदावार होती है उससे तीन गुना अधिक पैदावार उतनी ही जमीन और कम श्रम शक्ति लगाकर ब्रिटेन में की जा सकती है (पैदावार के लिए गेहूं की उपज से तुलना की गई है)। भारत की गरीबी की समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब हम भारतीय साधनों के पूरे पूरे इस्तेमाल के मार्ग में आने वाली रुकावटों पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

इस स्थल पर आकर साम्राज्यवादी अर्थशास्त्री और उसके प्रचारक वास्तविक समस्या से कतरा जाते हैं। उनका कहना है कि 'वर्तमान परिस्थितियों में अर्थात वर्तमान साम्राज्यवादी और सामंती दबावों, सूदखोरों द्वारा की जाने वाली वसूली, विकास के मार्ग में बाधा पहुंचाने और ईश्वर प्रदत्त प्राकृतिक आवश्यकताओं के रूप में आर्थिक विघटन की स्थिति में, मौजूदा उत्पादन अपर्याप्त है और इसीलिए भारत की आबादी 'जरूरत से ज्यादा' है। इस प्रकार उन्हीं डाक्टर एंस्टे ने, जिन्होंने 'बच्चों की विनाशकारी बाढ़' को रोकने के लिए 'भारतीय माल्थस' की चीख मचाई थी और जिनका हमने पहले उल्लेख भी किया है, बड़े शांत ढंग से निम्न शब्दों में अपनी दलील पेश की है :

> 'यह दलील दी जाती है कि भारत की आबादी जरूरत से ज्यादा नहीं है बल्कि यदि उत्पादन, वितरण और उपभोग के ज्ञात साधनों का उत्कृष्टतम ढंग से इस्तेमाल किया जाए तो मौजूदा आबादी से भी बड़ी आबादी का काम चल सकता है। इस बात से इंकार नहीं किया जा रहा है कि इस तरह की परिस्थितियों में इससे भी बड़ी आबादी का काम चल सकता है लेकिन इससे यह प्रश्न बेमानी नहीं रह जाता कि कम से कम आबादी कितनी हो। मौजूदा परिस्थितियों के अंतर्गत यह निश्चित है कि यदि आबादी कम होती तो प्रति व्यक्ति उत्पादन ज्यादा होता। (वी० एंस्टे: 'इकनोमिक डेवलपमेंट आफ इंडिया,' 1936, पृष्ठ 40 रेखांकन मेरा है)

'मौजूदा परिस्थितियों के अंतर्गत' शब्द का इस्तेमाल ध्यान देने योग्य है क्योंकि यह ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है जैसे तथ्यों को एक व्यावहारिक और वस्तुगत ढंग से लिया गया हो लेकिन सच्चाई यह है कि इसके जरिए साम्राज्यवाद और जमींदार द्वारा किए जा रहे शोषण के समूचे ढांचे और उसके नतीजों की आवश्यकता को मान लिया गया है।

इसी प्रकार भारत में कृषि की जांच करने के लिए जो भारी भरकम राज आयोग नियुक्त किया गया था और जिसने 'रिपोर्ट ऐंड एवीडेंस' के मोटे मोटे ग्रंथ निकाले उसे जमीन के स्वामित्व, किसानों के अधिकारों तथा लगानों और मालगुजारी की व्यवस्था जैसे बुनियादी सवालों की जांच करने की मनाही कर दी गई थी। इस छोटी सी अवधारणा के आधार पर इस समस्या को बहुत जटिल मान लिया गया और भारत को अत्यधिक आबादी वाला देश घोषित कर दिया गया।

यदि उत्पादन का वर्तमान संगठन, जो साम्राज्यवाद के अंतर्गत है, जनता की जरूरतों को पूरा करने के लिए अपर्याप्त पाया जाता है—जिसे निश्चित रूप से संगठन में सुधार करके ठीक किया जा सकता है—तो जो निष्कर्ष निकलता है वह यह नहीं है कि संगठन में सुधार की आवश्यकता है बल्कि यह है कि आबादी को कम किया जाना चाहिए। 'उसके पैर ..ट दो क्योंकि उसकी लंबाई चारपाई से ज्यादा है।'

1933 में लंदन स्कूल आफ हाइजिन ऐंड ट्रापिकल मेडीसिन में 'एशिया में जन्म निरोध' विषय पर आयोजित सम्मेलन में डा० कुक्जिस्की ने भारत संबंधी इस गलत धारणा का निर्ममता से खंडन किया था। डा० कुक्जिस्की को सम्मेलन के अध्यक्ष एवं सांख्यिकीय अर्थशास्त्रियों के अग्रणी ने कहा था कि वह 'आबादी की समस्याओं के जीवित विद्वानों में सबसे अधिक प्रतिष्ठित और अधिकारी व्यक्ति हैं।' अपने भाषण में डा० कुक्जिस्की ने कहा :

> 'इन चीजों की तरफ हमें अपरिवर्तनीय दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। हमें यह बताया गया है कि भारत में इस समय बीस करोड़ एकड़ जमीन पर खेती हो रही है और समूची आबादी को भोजन देने के लिए 35.3 करोड़ एकड़ जमीन पर खेती करने की जरूरत है। लेकिन हमें इतनी ज्यादा जमीन की क्या जरूरत है और किन परिस्थितियों में इतनी सारी जमीन पर खेती आवश्यक है ? यह तभी आवश्यक है जब हम रासायनिक खादों का इस्तेमाल न करें और जब हम खेती में सुधार न करें। जिस किसी व्यक्ति को आधुनिक खेती का थोड़ा भी ज्ञान है वह इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि भारतीय किसानों को बहुत ज्यादा शिक्षा दिए बिना भी बीस करोड़ एकड़ जमीन पर सभी भारतीयों के लिए पर्याप्त मात्रा में

> खाने की चीजें पैदा की जा सकती हैं। जिस प्रकार स्वास्थ्य रक्षा के उपायों के जरिए भारत में बढ़ी हुई मृत्यु दर को नीचे लाया जा सकता है उसी प्रकार कृषि में सुधार करके खाने-पीने की चीजों के अभाव को दूर किया जा सकता है।'

इसी प्रकार हम सर जार्ज वाट्स के फैसले को स्मरण कर सकते हैं जो उन्होंने 1894 में 'मेमोरेंडम आन दि रिसोर्सेज आफ ब्रिटिश इंडिया' में (पृष्ठ 24 पर उद्धृत) किया था। उन्होंने कहा था कि कृषि के क्षेत्र में 'भारत की उत्पादन क्षमता को आसानी के साथ कम से कम पचास प्रतिशत बढ़ाया जा सकता है' और साथ ही उन्होंने यह भी कहा था 'कि यदि अंतर्भूत मूल्यों और अविकसित साधनों की मात्रा पर ही ध्यान दें तो कह सकते हैं कि दुनिया में कम ही ऐसे देश हैं जिनमें कृषि की इतनी जबरदस्त संभावना है जितनी भारत में है।'

यहां तक कि साम्राज्यवाद समर्थक कुछ ब्रिटिश विशेषज्ञों ने हाल ही में जो योजना तैयार की है उसने माल्थस के जनसंख्या संबंधी समूचे सिद्धांत की धज्जियां उड़ा दी हैं। जैसा प्रोफेसर ए० वी० हिल ने अपनी प्रस्तावना में कहा है, इस योजना का उद्देश्य 'ऐसी संभावित व्यवस्था का संगठन करना है जिसके द्वारा साधारण, व्यावहारिक तथा ठोस परिणामों के देने योग्य अनुभव पर आधारित उपाय निकाले जा सकें और उन्हें इतने बड़े पैमाने पर लागू किया जा सके कि भारत में कुल अनाज उत्पादन अगले सात वर्षों में सवा गुना से लेकर डेढ़ गुना तक बढ़ाया जा सके।' (ए फूड प्लान फार इंडिया, 1945)

इस सिलसिले में 1931 में हुई बंगाल की जनगणना रिपोर्ट के निष्कर्ष भी काफी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसकी परिचयात्मक टिप्पणी में खाद्यान्न की सप्लाई और जनसंख्या की समस्या पर विचार किया गया है :

> 'पहले से ही दुनिया की सबसे घनी आबादीवाले इस प्रांत बंगाल में इतनी बड़ी मात्रा में जनसंख्या वृद्धि की संभावना से यह धारणा बनती है कि बंगाल की आबादी तेजी के साथ उस सीमा तक पहुंच जाएगी जब जीवन निर्वाह के साधन किसी भी कीमत पर जनता की मांग पूरी नहीं कर सकेंगे···इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बंगाल की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा जीवन निर्वाह के निम्नतम स्तर पर गुजर कर रहा है। इस प्रांत की क्षमताओं का यदि विकास नहीं किया गया तो जनसंख्या में किसी प्रकार की वृद्धि से निराशा और घुटन की स्थितियां बढ़ेंगी। कहने का मतलब यह है कि ये क्षमताएं इतनी ज्यादा हैं कि आबादी की भावी स्थिति के बारे में निराशा का रुख अपनाना उचित नहीं है। भारत के शेष भाग की तरह बंगाल भी अपने अल्पविकसित साधनों और इन साधनों के इस्तेमाल की अक्षमता के लिए प्रसिद्ध है। इस बात

की संभावना नहीं है कि यहां की धरती अब पहले से ज्यादा खराब होगी और बंगाल जैसे इलाकों के बारे में, जहां छोटी से छोटी फसल के लिए भी खाद की जरूरत है, आम राय यह है कि उपज का न्यूनतम स्तर बहुत पहले ही प्राप्त किया जा चुका है और उसका इस दर से अनुकूलन हो चुका है जिससे पौधे मौसम से अपना आहार प्राप्त करते हैं। बंगाल का किसान व्यवहार रूप में अपने खेत में कभी खाद नहीं डालता और यदि वह खाद का इस्तेमाल करे, साथ ही कृषि के विकसित औजार काम में लाए तो उसके खेत की उत्पादन क्षमता में काफी वृद्धि हो सकती है। अनुमान लगाया गया है कि (जी० क्लार्क-17वें भारतीय विज्ञान सम्मेलन की कार्यवाही) यदि विकसित साधनों का इस्तेमाल किया जाए तो समूचे भारतवर्ष में खाद्यान्नों के उत्पादन में लगभग तीस प्रतिशत की वृद्धि हो जाएगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि और सघन किस्म की खेती के अंतर्गत आवश्यक किसी भी श्रम की प्राप्ति आसानी से की जा सकती है क्योंकि बंगाल के खेतिहर कुल मिलाकर संभवत: दुनिया के किसी भी हिस्से के खेतिहर से कम काम करते हैं। पूरक तालिका I में यह भी दिखाया गया है कि कृषि योग्य कुल भूमि में से इस समय वस्तुत: केवल 67 प्रतिशत भूमि में ही खेती होती है। यदि कुल कृषि योग्य भूमि पर खेती की जा सके और यदि खेती के उन्नत तरीके अपनाए जाएं जिससे वर्तमान उपज में 30 प्रतिशत की वृद्धि हो जाए तो यह बात बहुत स्पष्ट है कि बंगाल में मौजूदा जीवनस्तर पर 1931 की जनसंख्या की लगभग दुगुनी आबादी का काम चल सकता है।' (बंगाल सेंसस रिपोर्ट, 1931, खंड I, पृष्ठ 63)

भारत और यूरोप के देशों के बीच निर्णायक अंतर आबादी के बढ़ने की दर नहीं है। जनसंख्या वृद्धि की दर यूरोपीय देशों में ज्यादा रही है। भारत और यूरोपीय देशों की स्थितियों के बीच फर्क यह है कि यूरोपीय देशों में आर्थिक विकास और उत्पादन का जो विस्तार हुआ है और जिसने आबादी को और तेजी से बढ़ने में सहायता पहुंचाई है, आर्थिक विकास और उत्पादन का वह विस्तार भारत में नहीं हुआ। जैसा हम आगे देखेंगे उसे ब्रिटिश पूंजीवाद की कार्य प्रणाली और उसकी जरूरतों ने कृत्रिम ढंग से रोक दिया जिसके फलस्वरूप आबादी के एक बड़े हिस्से को आदिम ढंग की और अनेक तरह के बोझों से दबी खेती पर निर्भर रहना पड़ा। एक ओर तो देश की धन-दौलत का शोषण करके बाहर भेज दिया गया है और औद्योगिक तथा अन्य विकास के सभी रास्ते बंद कर दिए गए हैं और दूसरी तरफ अधिकांश जनता के जीवन निर्वाह के एकमात्र साधन खेती को भी अपाहिज बना दिया गया है और उसे उपेक्षा तथा पतन के लिए अभिशप्त बना दिया गया है।

भारत की अत्यंत गरीबी का रहस्य कोई ऐसा प्राकृतिक कारण नहीं है जो मनुष्य की पहुंच

या उसके नियंत्रण से परे कोई चीज हो, अत्यधिक जनसंख्या की काल्पनिक कहानी से भी इसका कोई ताल्लुक नहा है बल्कि इसका कारण साम्राज्यवादी शासन से पैदा सामाजिक आर्थिक स्थितियां हैं। इसका प्रमाण बाद के अध्यायों में प्रस्तुत किया जाएगा। इस प्रमाण से जो राजनीतिक निष्कर्ष निकलते हैं उनसे पता चलता है कि भारतीय जनता को जीवन निर्वाह के साधन देने के लिए यहां सामाजिक, राजनीतिक रूपांतरण जरूरी हैं और इस विश्लेषण से पता चलता है कि यह अवश्यंभावी है।

टिप्पणियां

1. डब्ल्यू० एच० मूरलैंड ने अपनी पुस्तक 'इंडिया ऐट दि डेथ आफ अकबर' (1920) और 'फ्राम अकबर टु औरंगजेब' (1923) में उन तमाम नकारात्मक प्रमाणों को इकट्ठा करने की कोशिश की है ताकि वह यह दिखा सकें कि 17वीं सदी में भी भारत की जनता काफी गरीब थी। फिर भी जब वह 'इंडिया ऐट दि डेथ आफ अकबर' के 'वेल्थ आफ इंडिया' नामक अपने अध्याय में निष्कर्ष निकालते हैं तो वह इसी नतीजे पर पहुंचने को मजबूर होते हैं :
   यह असंभाव्य है कि यदि संपूर्ण भारत के संदर्भ में प्रति व्यक्ति कुल आय देखें तो इस अनुपात में कोई ज्यादा तब्दीली मिले, यह संभव है कि यह तब्दीली अपेक्षाकृत कम ही हो और ज्यादा संभावना इस बात की है जिससे कि यह पहले की तुलना में अधिक हो लेकिन किसी भी स्थिति में यह अंतर इतना बड़ा नहीं होगा कि आर्थिक स्थिति में किसी निश्चित फेर-बदल का संकेत मिले' (पृष्ठ 286).
   'जहां तक बुनियादी सामानों के उत्पादन का संबंध है, कृषि से औसत आय लगभग उतनी ही होती थी जितनी आज है, जंगलों से भी यह आय लगभग उतनी ही थी, मछली पालन से शायद कुछ आय होती थी, और खनिज पदार्थों से निश्चित रूप से आज की अपेक्षा कम आय होती थी। जहां तक उद्योगों का संबंध है कृषि उद्योगों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं दिखाई देता; जहाज निर्माण के अलावा हस्तशिल्प के विविध सामानों, ऊन से बने सामानों और यातायात उत्पादन से हुई औसत आय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है लेकिन रेशम की बुनाई से हुई आय में गिरावट आई है।···खनिज और परिवहन उत्पादन तथा हस्तशिल्प के विविध सामानों से हुआ लाभ इतना अधिक नहीं था जो इन घाटों को काफी हद तक प्रतिसंतुलित कर सके। लेकिन ये फायदे ठोस होने के बावजूद उस समय बहुत छोटे हो जाते हैं जब हम उन्हें कृषि से हुई आय के समक्ष देखते हैं' (पृष्ठ 287).
   'आय के तीन अन्य स्रोतों, जहाज निर्माण, विदेश वाणिज्य और वस्त्र निर्माण (सूती और पटसन) की विस्तृत जांच करने से इस निष्कर्ष का औचित्य महसूस होता है कि इन उद्योगों ने देश की औसत आय का स्तर वर्तमान स्तर से ऊंचा उठाने में आज की तुलना में उस समय ज्यादा योगदान नहीं किया होगा' (पृष्ठ 293).
   'निश्चित रूप से भारत आज की तुलना में उस समय (अकबर के शासनकाल में) ज्यादा समृद्ध नहीं था और संभवतः आज की तुलना में वह गरीब था.' (पृष्ठ 294)
   जब दूसरे पक्ष के अत्यंत श्रम साध्य तर्क 300 वर्षों के बाद भी आर्थिक प्रगति में ठहराव का दावा कर सकते है (इन्हीं 300 वर्षों में यूरोपियन देशों में हुए परिवर्तनों को देखें) तो जाहिर है कि विश्व के पैमाने पर कितना सापेक्षिक ह्रास हुआ होगा.
2. पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस कमीशन के नतीजों और रिपोर्ट को ब्रिटिश सरकार ने अत्यंत गोपनीय ठहराया और उन्हें न तो प्रकाशित किया न उनपर अमल किया.

3. डी० नौरोजी : 'पावर्टी ऐंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' 1876.
4. डब्ल्यू० डिगबी : 'प्रास्पेरस ब्रिटिश इंडिया', 1902
5. जी० फिंडले सिराज : 'दि साइंस आफ पब्लिक फिनांस', 1924.
6. वाडिया और जोशी : 'दि वैल्थ आफ इंडिया', 1925.
7. शाह और खंबाता : 'वैल्थ ऐंड टैक्सेबल कैपेसिटी आफ इंडिया', 1924.
8. वी० के० आर० वी० राव : 'इंडियाज नेशनल इन्कम', 1939.
9. जी० फिंडले शिराज : 'पावर्टी ऐंड किंडर्ड इकोनोमिक प्राब्लम्स इन इंडिया', 1932.
10. भारत सरकार के वित्त सदस्य सर जेम्स ग्रिग का अप्रैल 1938 में केंद्रीय 'विधानसभा में बजट भाषण.
11. वी०के०आर०वी० राव : 'दि नेशनल इन्कम आफ ब्रिटिश इंडिया', 1940.
12. 'दि टाइम्स ट्रेड ऐंड इंजीनियरिंग इंडियन सप्लीमेंट के अप्रैल 1939 अंक में 'दि इंडियन मार्केट' के व्यापारिक अनुमान के अंतर्गत भारत में आमदनी के बंटवारे और आमदनी की न्यूनता पर कुछ रोशनी डाली गई है। यह गैरसरकारी आंकड़े ब्रिटिश पूंजीपतियों ने अपने इस्तेमाल के लिए तैयार किए थे और इसमें साम्राज्यवादी शोषण के परिणामों की कोई खूबसूरत तस्वीर प्रचार के उद्देश्य से पेश करने की कोशिश नहीं की गई है बल्कि व्यापारिक उद्देश्यों के लिए वास्तविक तथ्यों को रखा गया है ताकि उपभोक्ताओं की श्रेणियों के बारे में जानकारी हासिल की जा सके। इसके परिणाम साइमन कमीशन के परिणामों से आश्चर्यजनक रूप से भिन्न हैं। भारतीय परिवारों की आय की अनुमानित श्रेणियां निम्न हैं :

आय रुपयों में	ब्रिटिश मुद्रा	परिवारों की संख्या
100,000 से अधिक	7,500 पौंड	6,000
औसत 5,000	375 पौंड	270,000
औसत 1,000	75 पौंड	250,000
औसत 200	15 पौंड	35,000,000
औसत 50	3 पौंड 10 शि०	शेष बचे लोग

ब्रिटिश पूंजीपतियों द्वारा अपने निजी इस्तेमाल के लिए तैयार की गई तालिका खुद ही सारी कहानी कह देती है।

13. डा० राव के अनुसार शहरी आय प्रति व्यक्ति ग्रामीण आय की तुलना में तीन गुना से भी अधिक है। गांवों में प्रति व्यक्ति आय 51 रुपये या 77 शिलिंग है जबकि शहरों में यह 166 रुपये या 249 शिलिंग है। गांवों और शहरों में रहने वाले लोगों की आर्थिक स्थिति में बहुत बड़ा फर्क है और यही फर्क जनता के विभिन्न वर्गों की स्थितियों के बीच है।
बेशक, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, गांवों में लगभग समूची फसल जमींदार और सूदखोर महाजन ले लेते हैं।
शहरी इलाकों में भी आमदनी का लगभग आधा हिस्सा कुल आबादी के दसवें हिस्से से भी कम के पास रहता है। यहां तक कि जो लोग अपेक्षाकृत संपन्न हैं और जिनकी आय प्रतिवर्ष दो हजार रुपये से अधिक है उनमें भी 38 प्रतिशत लोगों के पास कुल आय का केवल 17 प्रतिशत हिस्सा आता है जबकि 1 प्रतिशत से कुछ अधिक लोग कुल आय का 10 प्रतिशत हिस्सा पाते हैं। (वी०के०आर०वी० राव : 'दि नेशनल इन्कम आफ ब्रिटिश इंडिया, 1931-32', पृष्ठ 189).
14 उपर्युक्त आश्चर्यजनक परिणाम की बाद में आलोचना हुई और कहा गया कि इसमें उन अतिरिक्त पदार्थों का हिसाब नहीं लगाया गया है जिन्हें मजदूर इस्तेमाल करते हैं मसलन सस्ती मिठाइयां, मसाले, मछली, सब्जियां या फल आदि। इन्हीं कारणों से 1925 में सरकारी तौर पर फिर हिसाब लगाया गया। इससे पता चला कि उपरोक्त तालिका में खाद्य पदार्थों की सूची में जो उल्लेख किया गया है उसका यह मात्र 406 प्रतिशत ही है। अर्थात बंबई के वयस्क मजदूर द्वारा प्रतिदिन

उपभोग की जाने वाली कुल 2.450 कैलोरी में 113 कैलोरी की और वृद्धि हुई और इस प्रकार कुल योग 2.563 कैलोरी हो गया (बांबे लेबर गजट, अप्रैल 1925 पृ० 841-42)। पौष्टिक आहार के बारे में ब्रिटिश मैडिकल एसोसिएशन की उपसमिति ने न्यूनतम राशि 3,390 कैलोरी और प्रो० आर० मुखर्जी ने भारतीय परिस्थितियों में 2,800 कैलोरी निर्धारित की थी। ('फूड प्लानिंग फार फोर हंड्रेड मिलियन्स', 1938)। इन अनुमानों को देखने से पता चलता है कि बंबई का एक वयस्क मजदूर कितनी कम कैलोरी प्रतिदिन ग्रहण करता है।

15. भारत में जन्म-मरण के आंकड़े अत्यंत अशुद्ध हैं। 1931 की जनगणना रिपोर्ट ने गलती की गुंजाइश 20 प्रतिशत रखी है। प्रत्याशित आयु के बारे में सरकारी विवरण से 1881 से 1911 तक के निम्न आंकड़े मिलते हैं:

	1881	1891	1901	1911
पुरुष	23.67	24.59	23.63	22.59
महिलाएं	25.58	25.54	23.96	23.31

1921 के जनगणना कमिश्नरों द्वारा प्रस्तुत इन विवरणों के अनुसार 1881 से 1911 के बीच प्रत्याशित आयु में गिरावट आई; 1921 के लिए कोई आंकड़ा नहीं तैयार किया गया। पिछले 50 वर्षों में भारत की यह स्थिति, इंग्लैंड और वेल्स की स्थिति से काफी विपरीत है जहां 1881-90 से 1933 के बीच प्रत्याशित आयु क्रमशः 45.4 से बढ़कर 60.8 हो गई।

1931 के लिए की गई एक वैकल्पिक गणना में पुरुषों के लिए 26.9 वर्ष और महिलाओं के लिए 26.6 वर्ष की प्रत्याशित आयु कराई गई है। इससे मामूली वृद्धि का संकेत मिलता है परंतु इन आंकड़ों की अशुद्धि का उस समय पता चल जाता है जब हम प्रत्याशित आयु और दर्ज की गई मृत्यु दर के विवरणों की तुलना करते है। अब हम 1931 के आंकड़े में उल्लिखित प्रत्याशित आयु के अपेक्षाकृत अनुकूल अंक को भी ध्यान में रखकर मृत्यु दर की गणना करते हैं तो पता चलता है कि पुरुषों के लिए यह प्रति हजार .37 और महिलाओं के लिए प्रति हजार 38 है जबकि दर्ज की गई मृत्यु दर महज २३ है। 'प्रत्याशित आयु के आंकड़े अपने आप में गलत हैं लेकिन वे जो भी हैं उनसे इसी निष्कर्ष को समर्थन मिलता है कि भारत में सामान्य मृत्यु दर को कम से कम प्रति हजार पर 33 मानना ही सही है।' (जी० चंद : 'इंडियाज टीमिंग मिलियन्स', पृष्ठ 113)

16. ब्रिटिश भारत में, सामान्य और विशेष रोगों की चिकित्सा सहित अस्पतालों में रोगियों के लिए कुल उपलब्ध शय्या की तुलना अन्य देशों से की जा सकती है:

अमरीका	1000 जनसंख्या पर 10.48 शय्या
इंग्लैंड और वेल्स	1000 जनसंख्या पर 7.14 शय्या
ब्रिटिश भारत	1000 जनसंख्या पर 0.24 शय्या

17. यह जानकारी काफी दिलचस्प है कि विश्व जनसंख्या के बारे में प्रो० कार-सांडर्स ने हाल की अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक ('वर्ल्ड पापुलेशन : पास्ट ग्रोथ ऐंड प्रेजेंट ट्रेंड्स'—ए०एम० कार-सांडर्स, 1936) में इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि 1650 से 1933 के बीच विश्व की कुल जनसंख्या में जो वृद्धि हुई उसमें यूरोप का योगदान 18.3 प्रतिशत से बढ़कर 25.2 प्रतिशत हो गया जबकि एशिया का योगदान 60.6 से घटकर 54.5 प्रतिशत हुआ। आज भी बहुप्रचारित काल्पनिक कथाओं के विपरीत प्रचुरता की ओर बढ़ता यूरोप विश्व इतिहास के बुर्जुआ काल के दौरान, एशिया की अपेक्षाकृत कम होती आबादी का स्थान लिया है।

18. फैमिन इंक्वायरी कमीशन, समापक रिपोर्ट, 1945, पृ० 75.

19. प्रमुख सांख्यविद् डा० आर० आर० कुक्जिस्की ने 1921 से 1931 के बीच भारत में प्रत्यक्षतः जनसंख्या में हुई अचानक भारी वृद्धि के कारण आमतौर से निकाले जाने वाले निष्कर्षों के महत्व

पर कुछ संदेह प्रकट किया है। इन्हीं निष्कर्षों के आधार पर 'अत्यधिक आबादी' की भविष्य-वाणियां की गई हैं। उनका कथन है कि :

अनेक देशों के बारे में जहां जनगणना की जाती है, हम वहां की वर्तमान आबादी के बारे में अनुमान लगा सकते हैं पर जन्म और मृत्यु के पर्याप्त आंकड़े न मिलने के कारण हम जनसंख्या की प्रवृत्ति के बारे में लगभग कुछ भी नहीं जानते हैं। इस प्रकार भारत की जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि 1921 से 1931 के बीच जनसंख्या में वृद्धि 3 करोड़ 40 लाख अर्थात 10.6 प्रतिशत हुई। लेकिन 1931 की जन्म-मरण संबंधी तालिका के अनुसार, मृत्युदर काफी अधिक लगती है जबकि विवाह के पश्चात उत्पन्न बच्चों की संख्या और मां बनने में असमर्थ विधवा महिलाओं की संख्या देखने से पता चलता है कि जनन क्षमता अपेक्षाकृत कम हुई है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि 1921 से 1931 के बीच भारत में जनसंख्या में जो प्रकट रूप में वृद्धि हुई है यह वास्तविक वृद्धि नहीं है। इस वृद्धि के आभास का कारण 1931 में की गई अपेक्षाकृत ज्यादा ठीक ठीक गणना और आयु की स्थाई संरचना के कारण है जिससे जन्म संख्या बढ़ी और मृत्यु संख्या में कमी देखी गई। (डा० आर० आर० कुक्जिस्की, 'पापुलेशन ट्रेंड्स इन दि वर्ल्ड',—25 दिसंबर 1937 के स्टेटिस्ट में प्रकाशित) यह ध्यान देने की बात है कि भारत में जन्म दर में प्रत्यक्षतः गिरावट आ रही है। 1901-10 के दशक में जन्म दर प्रति हजार पर 38 दर्ज की गई थी जो 1931-40 के दशक में 34 हो गई और 1943 में 26 हो गई।

20. भारत में साम्राज्यवाद द्वारा थोपी गई सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के कारण ही किसान जनता तेजी से गरीब होती जा रही है और अनाज के उत्पादन में गिरावट आ रही है। इस तथ्य को भारत सरकार के एक अधिकारी डब्ल्यू० बर्न्स ने ब्रिटिश भारत के लिए तैयार किए गए निम्न-लिखित आंकड़े में और भी ज्यादा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है।

वर्ष	प्रमुख खाद्यान्नों वाले इलाके (करोड़ एकड़)	प्रमुख खाद्यान्नों का उत्पादन (करोड़ टन)	जनसंख्या (करोड़ व्यक्ति)
1921-22	15.86	5.43	23.36
1631-32	15.69	5.01	25.68
1941-42	15.65	4.57	29.58

(डब्ल्यू० बर्न्स : टैक्नालाजिकल पासिबिलिटीज आफ ऐग्रीकल्चरल डेवलपमेंट इन इंडिया', 1944)

1921-22 से 1941-42 के दौरान ब्रिटिश भारत में जहां जनसंख्या में 6 करोड़ 22 लाख की वृद्धि हुई वहीं प्रमुख खाद्यान्नोंवाली कृषि भूमि के क्षेत्रफल में 20 लाख एकड़ से ज्यादा की कमी आई। उत्पादन के आंकड़े और भी ज्यादा चौंकाने वाले हैं। उत्पादन में 86 लाख टन की कमी आई।

21. राशन में जबरदस्त कटौती के फलस्वरूप फिलहाल औसतन एक भारतीय महज 960 कैलोरी का उपयोग करता है जबकि एक अमरीकी 3150 कैलोरी और एक ब्रिटिश 3000 कैलोरी की शक्ति प्राप्त करता है।

3

दो संसारों की विषमता

मैंने स्वयं देखा है कि सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन के बाद भी भारत के गांवों में भोजन और पानी की गंभीर कमी, स्वच्छता और चिकित्सा सुविधा का अभाव, संचार साधनों की उपेक्षा, शिक्षा संबंधी सुविधाओं की दरिद्रता, और हर तरफ निराशा की भावना है। इन स्थितियों से मुझे यह नहीं लगता कि ब्रिटिश शासन किसी के लिए उपकारी सिद्ध होगा। इस देश में सोवियत रूस के बारे में बात करना लगभग अपराध है फिर भी मैं सोवियत तथा भारत के बीच के अंतर का उल्लेख करने से खुद को रोक नहीं पाता हूं। मुझे यह साफ शब्दों में स्वीकार करना पड़ता है कि सोवियत संघ में अनाज उत्पादन, शिक्षा प्रदान करने तथा बीमारी के विरुद्ध संघर्ष करने की दिशा में जो उत्साहपूर्ण तथा असाधारण उपाय अपनाए गए हैं उन्हें देखकर मुझे ईर्ष्या होती है। सोवियत-यूरोप और सोवियत-एशिया के बीच अविश्वास अथवा अपमानजनक भेदभाव की कोई भी विभाजन रेखा नहीं है। मैं केवल वहां और यहां घटित हो रही स्थितियों की तुलना कर रहा हूं जिन्हें मैंने स्वयं देखा है। मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि तथाकथित ब्रिटिश साम्राज्य में हमारी इस स्थिति की जिम्मेदारी शासक और शासित वर्ग के बीच की बढ़ती खाई पर है। (रवीन्द्रनाथ टैगोर, 1936)

'भारत वर्तमान और भावी' की मूल तस्वीर को पूरा करने के लिए व्यावहारिक निरूपण की आवश्यकता है।

अभी पिछले बीस वर्ष पहले तक यह तर्क देना संभव था कि भारतीय साधनों के विकसित करने में या जनता का जीवनस्तर ऊंचा उठाने में साम्राज्यवाद की असफलता की किसी भी सैद्धांतिक भर्त्सना का अर्थ एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से साम्राज्यवाद की आलोचना करना और एशिया के एक देश की स्थितियों में व्याप्त उन तमाम अवरोधों को देखने में विफल रहना है जो अत्यंत निम्न तकनीक तथा पिछड़ेपन और मुख्यत: निरक्षरता से ग्रस्त आबादी के कारण पैदा होते हैं। वर्तमान स्थितियां अथाह हैं और इस तथ्य को साम्राज्यवाद के समर्थकों ने भी स्वीकार किया है फिर भी साम्राज्यवाद के पक्ष में बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि ऐसी स्थिति में कोई भी दूसरा शासन इससे अधिक उपलब्धियां प्राप्त नहीं सकता था या नहीं कर सकता।

आज इस तरह के तर्क संगत नहीं प्रतीत होते। आधुनिक युग के अनुभव ने अत्यंत पिछड़ी स्थितियों के अंतर्गत भी तेजी के साथ रूपांतरण की संभावनाओं को काफी विस्तृत बना दिया है। इस संदर्भ में युद्ध के बाद टर्की के पुनरुत्थान और आत्मोन्नति का उदाहरण काफी शिक्षाप्रद है और भारत के लिए इससे अच्छा सबक मिल सकता है। किंतु खास तौर से सोवियत संघ में समाजवादी क्रांति ने पिछले बीस वर्षों के दौरान जो सफलताएं प्राप्त की हैं, और एक ऐसे विशाल देश में जहां उत्पादन की तकनीक बहुत पिछड़ी हुई थी, लोग काफी असंगठित थे और अधिकांशत: निरक्षर थे, और जहां यूरोपीय तथा एशियाई दोनों तरह के लोग रहते थे, उसने जैसे महान परिवर्तन कर दिखाए हैं उनसे सभी देशों की जनता की आंखें खुल गई हैं। साथ ही इस बात का एक व्यावहारिक उदाहरण भी सामने आया है कि ऐसे देशों में भी क्या किया जा सकता है। सोवियत संघ का अनुभव भारत की जनता के लिए भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि इस तुलना को हम कुछ और विस्तार के साथ सामने रखें तो काफी लाभप्रद होगा। इससे भारत की वर्तमान जड़ स्थिति पर रोशनी तो पड़ेगी ही, साथ ही इस बात का आशाजनक संकेत भी मिलेगा कि यदि उचित सामाजिक और राजनीतिक स्थितियां पैदा की जाएं तो बहुत कुछ उपलब्ध किया जा सकता है।

1. समाजवाद और साम्राज्यवाद के बीस वर्ष

संयोग की बात है कि 1937 में सोवियत समाजवादी गणराज्य की स्थापना के 20 वर्ष पूरे हुए और उसी वर्ष भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के एक सौ अस्सी वर्ष पूरे हुए (बशर्ते ब्रिटिश शासन की स्थापना हम प्लासी के युद्ध से मानें)। इस प्रकार समाजवाद ने रूस में जो कुछ कर दिखाया और जितने समय में कर दिखाया उससे 9 गुना अधिक समय साम्राज्यवाद को भारत में कुछ कर दिखाने के लिए मिला।

इन दोनों विशाल देशों की पूर्ववर्ती स्थितियों में जो अंतर है वह काफी महत्वपूर्ण है (खास तौर से एक स्वतंत्र साम्राज्यवादी देश और एक उपनिवेश के बीच का अंतर) फिर भी दोनों देशों को विरासत में जो स्थिति मिली है उसमें कुछ समानता भी है, मसलन

समूची आबादी के एक बड़े हिस्से का निरक्षर होना तथा अधिकांश किसानों का पिछड़ा होना, सभ्यता के भिन्न भिन्न चरणों में एक के बाद एक अलग अलग जातियों तथा राष्ट्रीयता के लोगों द्वारा बसे भूभाग की विशालता, अपेक्षाकृत अविकसित प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता, ग्रामीण व्यवस्था के घटक को छोड़कर और किसी भी तरह के जनतांत्रिक रूप के अनुभव से शून्य निरंकुश शासन की परिपाटी। इन समानताओं को मद्दे-नजर रखते हुए यह तुलना करने की जरूरत पड़ती है कि एक सौ अस्सी वर्षों में साम्राज्य-वाद ने भारत को क्या दिया और बीस वर्षों में समाजवाद ने रूस को क्या दिया।

शोषण की पूर्ववर्ती प्रणालियों के स्थान पर समाजवाद या उत्पादन के सामूहिक संगठन की अवधारणा एक आधुनिक अवधारणा है जो आधुनिक परिस्थितियों से उपजी है। इस धारणा को कल्पनालोक के क्षेत्र से गुजर कर विज्ञान के क्षेत्र तक पहुंचने में सौ वर्ष से भी कम समय लगा और नई सामाजिक व्यवस्था की व्यावहारिक सिद्धि के अनुभव के जरिए यह विज्ञान हमारे ही युग में अपना पूर्ण स्वरूप प्राप्त कर सका है। आज व्यवहार रूप में समाजवाद की प्राप्ति हो गई है। इसलिए केवल सिद्धांत के स्तर पर ही नहीं बल्कि व्यवहार के स्तर पर भी साम्राज्यवाद और समाजवाद की उपलब्धियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम जारशाही रूस को ले सकते हैं। लेकिन हम 1917 के उस रूस को नहीं लेंगे जिसकी सारी व्यवस्था गड़बड़ हो गई थी, हालांकि समाजवादी शासन को रूस इसी हालत में मिला था। अपने अध्ययन के लिए हम जार के ही शासन-काल के 1913-14 के रूस को लेंगे जब उसकी उपलब्धियां सर्वोच्च शिखर पर पहुंच चुकी थीं, और उसकी तुलना हम 1937 के रूस से करके देखेंगे कि 20 वर्षों में समाजवाद ने उस देश को क्या बना दिया है। इसी प्रकार हम 1914 के अर्थात प्रथम विश्वयुद्ध से पहले के भारत को लेंगे और देखेंगे कि 20 वर्षों में यानी 1934 तक इस देश में साम्राज्यवाद की क्या उपलब्धियां रहीं। अंत में हम इसी अवधि में सोवियत संघ के मध्य एशियाई गणराज्यों में हुए विकास की और भी उपयोगी तुलना करेंगे। इन गणराज्यों में वे तमाम विशेष कठिनाइयां और समस्याएं मौजूद थीं जो भारत में पाई जाती हैं और वहां की जनता के विकास का सामान्य स्तर शुरू में भारत से कहीं ज्यादा पिछड़ा हुआ था।

उत्पादन शक्तियों के विकास की जो बुनियादी कसौटी है, उसी से हम अपनी बात शुरू करें।

सोवियत संघ में औद्योगिक उत्पादन (बड़े उद्योग का) का सूचक अंक 1913 में 100 से बढ़कर 1937 में 816.4 हो गया। यह 8 गुनी वृद्धि थी। यह वृद्धि एक ऐसी प्रगति की द्योतक है जिसकी तुलना किसी भी देश के आर्थिक इतिहास से नहीं की जा सकती। इसने रूस में निर्णायक उद्योगीकरण, भारी उद्योग और मशीन निर्माण की स्थापना, विदेशी

पूंजी से स्वतंत्र स्थिति और साथ ही हल्के उद्योग की स्थापना का ही प्रतिनिधित्व नहीं किया बल्कि एक पिछड़े देश से रूपांतरण करके, उस रूस को जिसे पहले 'ग्रामीण महाद्वीप' और विदेशी पूंजी के आधिपत्य में, उद्योग की दृष्टि से अल्पविकसित देश के रूप में जाना जाता था, यूरोप के प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र और विश्व के दूसरे सर्वाधिक शक्तिशाली औद्योगिक देश का दर्जा दिया। देश की कुल पैदावार की तुलना में औद्योगिक उत्पादन का अनुपात 1913 में 42 प्रतिशत से बढ़कर 1937 से 77 प्रतिशत हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि रूस जो पहले मुख्य रूप से कृषिप्रधान देश था अब प्रमुख रूप से उद्योगप्रधान देश बन गया। देश में कुल जितने काम करने वाले लोग थे, 1913 में उनके सोलह प्रतिशत लोग औद्योगिक कामगर थे और 1937 में इनकी संख्या बढ़कर 31 प्रतिशत हो गई। 1913 में राष्ट्रीय आय (1926-27 के मूल्यों को आधार मानकर) 21 अरब रूबल थीं जो 1937 तक बढ़कर 96 अरब रूबल अर्थात पहले से साढ़े चार गुनी अधिक हो गई।

प्रारंभ में ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में औद्योगिक उत्पादन का या कुल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय का सामान्य सूचक अंक निकालने का कोई प्रयास ही नहीं किया गया। मुख्य उद्योगों में औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक निकालने का एक गैरसरकारी प्रयास डी०बी० मीक ने किया था। उन्होंने यह प्रयास अपने एक लेख 'इंडियन एक्सटर्नल ट्रेड' में किया था जिसे अप्रैल, 1936 में रायल सोसायटी आफ आर्ट्स के भारतीय अनुभाग के समक्ष पढ़ा गया था। अपने लेख में उन्होंने निष्कर्ष के रूप में 1910-11 से लेकर 1914-15 तक के पांच वर्षों के सूचक अंक को 100 मानकर यह आंकड़ा प्रस्तुत किया था कि 1932-33 का सूचक अंक 156 था, अर्थात कुल वृद्धि 56 प्रतिशत हुई थी जोकि अपेक्षाकृत निम्न अंक से हुई सोवियत संघ की वृद्धि की दर का 16वां हिस्सा है। 1911 और 1921 में एक औद्योगिक जनगणना हुई थी हालांकि 1931 में वह नहीं हुई। उससे पता चला था कि 'संगठित उद्योगों' में अथवा उन कारखानों में जहां 20 से अधिक मजदूर काम कर रहे हों, 1911 में 21 लाख आदमी काम करते थे। 1921 तक यह संख्या बढ़कर 26 लाख हो गई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रति वर्ष 2.4 प्रतिशत की दर से वृद्धि होती थी। यह वृद्धि यदि 20 वर्ष तक बराबर इसी दर से होती रहती तो कुल 48 प्रतिशत की वृद्धि के बराबर होती (दरअसल युद्ध और उसके तुरंत बाद के वर्षों में वृद्धि की यह दर बनी नहीं रह सकी)। सोवियत संघ की वृद्धि की दर का यह 19वां भाग होती है। 1911 में उद्योग धंधों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या 175 लाख बताई गई थी और 1931 में 153 लाख। इसका मतलब यह हुआ कि जनसंख्या की वृद्धि के बावजूद उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में 12.6 प्रतिशत की पूरी पूरी कमी हो गई। यह इस बात का प्रतीक था कि छोटे-मोटे हाथ के उद्योग लगातार नष्ट होते जा रहे थे और उनके अनुरूप आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हो रहा था। इसका नतीजा यह हुआ कि जहां कृषि पर निर्भर रहने वालों की संख्या 1911 में 72 प्रतिशत से बढ़कर 1921 में 73 प्रतिशत हो गई और 1931 में भी इसी स्तर पर बनी

रही, वहां औद्योगिक मजदूरों की संख्या 1911 के 11.7 प्रतिशत से घटकर 1931 में 10 प्रतिशत पर आ गई। साम्राज्यवाद द्वारा 20 वर्षों में हुई उपलब्धि की ऐसी ही 'प्रगति' थी।

इस सामान्य तस्वीर को और महत्वपूर्ण बनाने के लिए दोनों देशों के सर्वाधिक उल्लेखनीय भौतिक उत्पादनों के आंकड़ों की और भी ज्यादा ठीक ठीक तुलना करना जरूरी है। भारत में कोयले का उत्पादन 1914 में 1 करोड़ 64 लाख टन से बढ़कर 1934 में 2 करोड़ 20 लाख टन हो गया। अर्थात 20 वर्षों में 55 लाख टन की वृद्धि हुई जो 34 प्रतिशत वृद्धि थी। रूस में कोयले का उत्पादन 1913 में 2 करोड़ 90 लाख टन से बढ़कर 1937 में 12 करोड़ 80 लाख टन हो गया अर्थात 9 करोड़ 90 लाख टन की वृद्धि हुई जो 340 प्रतिशत वृद्धि थी। यह भारत में हुई वृद्धि की तुलना में पूरे दस गुना अधिक थी। इस्पात का उत्पादन जो भारत में युद्ध से पहले अभी शुरू ही हुआ था 1934-35 तक 10 लाख टन नहीं पहुंचा था (यह 8 लाख 34 हजार टन था)। सोवियत संघ में इस्पात का उत्पादन 1937 तक 1 करोड़ 75 लाख टन तक पहुंच गया था जो युद्ध से पहले की तुलना में 1 करोड़ 30 लाख टन से अधिक की वृद्धि का द्योतक है। सोवियत संघ में 1913 में 1 अरब 90 करोड़ किलोवाट घंटे बिजली तैयार होती थी जो 1937 में बढ़कर 36 अरब 50 करोड़ किलोवाट घंटे हो गई अर्थात कुल 18 गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई। इस अवधि में भारत में विद्युत उत्पादन की क्या स्थिति थी इसका कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है हालांकि 1935 में अनुमानतः भारत में ढाई अरब किलोवाट घंटे बिजली पैदा होती थी। यह संख्या सोवियत संघ के विद्युत उत्पादन के 14वें हिस्से से भी कम और सोवियत संघ में प्रति व्यक्ति बिजली की खपत के स्तर के 30वें हिस्से से भी कम है।

कृषि के क्षेत्र में यह विषमता और भी गहरी हो जाती है क्योंकि सोवियत संघ में विशाल बहुमत के लिए जो रूपांतरण हुआ उसका बुनियादी दृष्टि से काफी महत्त्व है। जार शासित रूस में जमींदारों, सूदखोर महाजनों और कुलकों (धनी किसानों) की दया पर पलने वाली निर्धन और भूखी किसान जनता ने आज सामूहिक खेती करने वाले स्वतंत्र और समृद्ध किसान का दर्जा प्राप्त कर लिया है। अब वे अपने बड़े बड़े सामूहिक कृषि फार्मों में दुनिया की आधुनिकतम मशीनों और तकनीक की मदद से खेती कर रहे हैं। जबसे खेतों के सामूहिकीकरण का काम पूरा हुआ है तबसे 5 वर्षों के अंदर ये किसान अपनी नकद आय तिगुनी कर रहे हैं। 1913 में फसल के क्षेत्र में एक तिहाई की वृद्धि हुई और इसके साथ अनाज की पैदावार डेढ़ गुनी हो गई। यह 1913 में 80 करोड़ 10 लाख सेंटनर्स से बढ़कर 1937 में 1 अरब 20 करोड़ 20 लाख सेंटनर्स हो गई। कपास की पैदावार 1913 में 74 लाख सेंटनर्स से बढ़कर 1937 में 2 करोड़ 58 लाख सेंटनर्स हो गई जो साढ़े तीन गुनी वृद्धि है। भारत में कृषि के क्षेत्र में जो संकट है उसका हम अगले अध्यायों में विस्तार से अध्ययन करेंगे लेकिन यह संकट हर वर्ष और अधिक गंभीर रूप लेता जा रहा है। जमींदारों, सूदखोर महाजनों और सरकार के मिलेजुले दबाव ने किसानों को

कंगाल बना दिया है और उनकी जमीनों से उन्हें लगातार बेदखल किया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों में फसल बोने के क्षेत्र में और फसल की मात्रा में जो वृद्धि हुई है वह जनसंख्या की वृद्धि से मुश्किल से ही बढ़ पाई है। पूर्ण मंदी के बहुत ही स्पष्ट संकेत दिखाई दे रहे हैं।

यदि हम उत्पादन और साधनों के विकास के बुनियादी उपायों से हटकर शिक्षा, स्वास्थ्य और जनता की खुशहाली को बढ़ावा देने के लिए राज्य द्वारा किए गए सामाजिक उपायों पर नजर डालें तो साम्राज्यवाद और समाजवाद के बीच की विषमता किसी भी मामले में कम नहीं है।

शिक्षा के क्षेत्र में सोवियत संघ में काफी प्रगति हुई है। जारशाही रूस में 78 प्रतिशत से अधिक लोग निरक्षर थे और उन्हें जानबूझ कर निरक्षर बनाए रखा गया था लेकिन यह संख्या अब घटकर 8 प्रतिशत हो गई है। 1930 में सोवियत सरकार द्वारा एक आदेश के अंतर्गत सार्वजनिक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की स्थापना की गई और 1934 के एक आदेश के जरिये सभी लोगों के लिए 7 वर्ष की शिक्षा अनिवार्य बना दी गई। इस शिक्षा का प्रसार बड़े औद्योगिक केंद्रों से शुरू होकर सार्वजनिक 10 वर्षीय शिक्षा प्रणाली तक ले जाया गया है।

भारत में 1911 में कुल आबादी के 94 प्रतिशत लोग निरक्षर थे और 1931 में यह संख्या 92 प्रतिशत ही रही। 20 वर्षों में साम्राज्यवाद ने कुल आबादी के 50वें हिस्से की निर-क्षरता दूर की।

1937 में सोवियत संघ में प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चों की संख्या 2 करोड़ 94 लाख (जारवादी रूस में यह संख्या 78 लाख थी) या कुल आबादी का 17.2 प्रतिशत थी।

भारत में 1934-35 के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि ब्रिटिश भारत के प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में किसी भी तरह की शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चों की संख्या 1 करोड़ 35 लाख या कुल आबादी का 4.9 प्रतिशत थी। लेकिन इन आंकड़ों की जांच करने से पता चलता है कि जिनके बारे में यह समझा जाता था कि वे प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे वे भी पहले वर्ष से आगे नहीं बढ़ सके। और जो लोग चौथे वर्ष तक पहुंच गए उनमें से पांचवां हिस्सा अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी नहीं कर सका (देखें 'ऐजूकेशन इन इंडिया, 1928-29,' 1931, पृष्ठ 28)। इस प्रकार जो लोग चार वर्ष की सीमित प्राथमिक शिक्षा ग्रहण कर रहे थे उनकी संख्या सरकारी आंकड़े, 1 करोड़ 11 लाख या 22 लाख के पांचवें हिस्से के बराबर है जो कुल आबादी का 0.8 प्रतिशत है।

1937 में सोवियत संघ में विश्वविद्यालयों एवं उच्च शैक्षणिक सस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहे छात्रों की संख्या 5 लाख 51 हजार थी जो कुल आवादी के तीन दशमलव दो व्यक्ति प्रति हजार के बराबर थी (जारशाही रूस में यह संख्या मात्र 1 लाख 20 हजार थी)।

1934-35 में ब्रिटिश भारत में विश्वविद्यालयों और उच्च शैक्षणिक सस्थानों में शिक्षा प्राप्त कर रहे छात्रों की संख्या 1 लाख 9 हजार 8 सौ थी जो कुल आबादी की 0.4 व्यक्ति प्रति हजार के बराबर थी। यह संख्या सोवियत संघ की तुलना में आठ गुनी कम है।

तकनीकी प्रशिक्षण के क्षेत्र में, जो किसी अविकसित देश के विकास की जरूरतों को पूरा करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, हम सबसे ज्यादा गंभीर विषमता पाते हैं। सोवियत संघ में प्राविधिक माध्यमिक स्कूलों और फैक्टरी स्कूलों का जो व्यापक जाल बिछा हुआ है उसकी तुलना भारत से किसी भी रूप में नहीं की जा सकती। अकेले वर्ष 1937 में सोवियत संघ में स्नातक स्तर तक शिक्षा पाने वाले प्राविधिक विशेषज्ञों (औद्योगिक और भवन इंजीनियरों, परिवहन एवं संचार इंजीनियरों, कृषि का मशीनीकरण करने के लिए प्रशिक्षित इंजीनियरों और कृषि विशेषज्ञों) की संख्या 45,900 थी। भारत में 1934-35 में इंजीनियरिंग, कृषि या वाणिज्य में स्नातक स्तर तक की शिक्षा पाने वालों की कुल संख्या महज 960 थी जो सोवियत संघ की संख्या से 1 और 48 के अनुपात में है। आबादी के अनुपात से यह 1 और 78 का संबंध है।

अखबारों और प्रकाशनों के संदर्भ में सांस्कृतिक विकास के अन्य उपायों पर विचार करें तो पता चलेगा कि सोवियत संघ में 1913 में दैनिक समाचार पत्रों की संख्या जहां 859 थी वह संख्या 1937 में बढ़कर 8521 हो गई अर्थात उनके प्रकाशन में 10 गुनी वृद्धि हुई। उनका दैनिक वितरण 27 लाख से बढ़कर 3 करोड़ 62 लाख हो गया अर्थात उसमें 14 गुना वृद्धि हुई। भारत में 1913-14 में 827 समाचार पत्र निकलते थे जो 1933-34 में बढ़कर 1748 हो गए। उनके दैनिक वितरण का कोई आंकड़ा नहीं उपलब्ध है लेकिन यह वितरण बहुत कम रहा होगा। सोवियत संघ में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 1913 में 8 करोड़ 67 लाख से बढ़कर 1937 में 67 करोड़ 30 लाख हो गई। यह वृद्धि लगभग आठ गुनी थी। भारत में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या (आंकड़े उपलब्ध नहीं) 1913-14 में 12189 से बढ़कर 1933-34 में 16763 हो गई जो 20 वर्षों में केवल एक तिहाई की वृद्धि थी।

यदि हम सोवियत संघ में विद्यमान जन स्वास्थ्य और सामाजिक सुविधा के उपायों पर नजर डालें तो पता चलेगा कि लोगों की देखरेख और सुविधा के लिए जितना मुकम्मल और सुव्यवस्थित इंतजाम यहां है उतना किसी भी दूसरे देश में नहीं है। इसके साथ ही

हम भारत में इन सेवाओं के प्रति जो गहरी उपेक्षा देखते हैं उससे दोनों देशों की व्यवस्था की विषमता का पता चलता है। सोवियत संघ में प्रत्येक नागरिक के पैदा होने से लेकर मरने तक उसके स्वास्थ्य और खुशहाली की देखरेख की जाती है जिनमें हर तरह की बीमारी या दुर्घटना की स्थिति में चिकित्सा तथा अन्य तरह की सुविधाएं शामिल हैं, माताओं और शिशुओं की देखरेख की व्यवस्था है, सवेतन अवकाश की सुविधा है, मजदूरों के लिए विश्रामगृह हैं और वृद्धावस्था के लिए उचित इंतजाम हैं। दूसरी तरफ भारत में सामाजिक बीमा की अत्यंत सीमित प्रणाली भी, जो पूंजीवादी देशों में आम तौर पर पाई जाती है, नहीं है। यहां सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी कोई कानून नहीं है और कस्बों या गांवों में मेहनतकश जनता के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई की सर्वाधिक बुनियादी आवश्यकताएं इतने निम्न स्तर पर पूरी की जाती हैं जिन्हें नहीं के बराबर ही समझना चाहिए।

सोवियत संघ में जन स्वास्थ्य पर 1913 में 12 करोड़ 80 लाख रूबल खर्च किया गया जो 1928 में 69 करोड़ 90 लाख रूबल, 1933 में 3 अरब 10 करोड़ 20 लाख रूबल और 1937 में 9 अरब 5 करोड़ रूबल हो गया। यह वृद्धि 70 गुना अधिक थी। 1937 में 9 अरब 5 करोड़ रूबल का अर्थ यह हुआ कि प्रति व्यक्ति 53 रूबल खर्च किए गए। भारत में जन स्वास्थ्य के खर्च के मुख्य बोझ को प्रशासनिक परिवर्तनों के कारण प्रांतों पर डाले जाने से 1913 के आंकड़े से प्रभावकारी तुलना नहीं हो पाती। लेकिन केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों द्वारा संयुक्त रूप से जन स्वास्थ्य पर खर्च की गई राशि 1921-22 में 4 करोड़ 73 लाख रुपये थी जो 1935-36 में बढ़कर 5 करोड़ 72 लाख रुपये हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि 1921-22 में कुल केंद्रीय और प्रांतीय खर्च 2.1 प्रतिशत से बढ़कर 1935-36 में 2.6 प्रतिशत हो गया। 1935-36 में 5 करोड़ 72 लाख रुपये का अर्थ यह हुआ कि प्रति व्यक्ति 2.75 पेंस हो गया।

दोनों देशों की स्थितियों की तुलना के लिए यदि हम वहां के अस्पतालों में मरीजों के रहने के इंतजाम पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि सोवियत संघ में 1913 में अस्पतालों में 138,000 मरीजों के रहने की व्यवस्था थी जो 1937 में बढ़कर 543000 तक पहुंच गई। इसका अर्थ यह हुआ कि समूची आबादी में प्रति 313 व्यक्ति पर एक व्यक्ति के लिए यह सुविधा उपलब्ध थी। ब्रिटिशकालीन भारत में यह संख्या 1914 में 48435 थी जो 1934 में बढ़कर 72271 हो गई (इनमें सभी सरकारी और निजी संस्थाएं शामिल हैं जिनमें से अनेक संस्थाएं केवल यूरोपीयों के लिए या सेना के कर्मचारियों के लिए थीं)। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल आबादी के प्रति 3810 व्यक्ति पर एक व्यक्ति के लिए यह सुविधा उपलब्ध थी। सोवियत संघ में इस क्षेत्र में उपलब्ध सुविधा की तुलना में यह 12 गुना कम है।

जारशाही रूस में 1913 में मृत्यु दर 28.3 प्रति हजार थी जो भारत में 1914 में मृत्यु

दर 30 प्रति हजार के काफी करीब है। लेकिन सोवियत संघ में 1926 तक यह दर कम होकर 20.9 प्रति हजार पर आ गई जबकि उसी वर्ष भारत में यह दर 26.7 प्रति हजार थी। 1913 में मास्को में मृत्यु दर 23.1 प्रति हजार और 1926 में 13.4 प्रति हजार थी। बंबई में 1914 में मृत्यु दर 32.7 प्रति हजार और 1926 में 27.6 प्रति हजार थी। मास्को में 1913 में शिशुओं के मरने की दर 270 प्रति हजार थी जो 1928-29 तक घटकर 120 प्रति हजार हो गई। उस वर्ष बंबई में यह दर 255 प्रति हजार थी।

सार्वजनिक सफाई और छूत की बीमारियों पर पड़ने वाले उसके प्रभाव पर विचार करें। सोवियत संघ में 1913 में प्रति दस हजार पर 7.3 लोग टाइफस से पीड़ित थे लेकिन 1929 में यह संख्या 2.0 प्रति 10 हजार हो गई अर्थात 72 प्रतिशत की कमी हुई। इसी प्रकार डिप्थीरिया के मामले में यह संख्या 31.4 से घटकर 5.9 प्रति हजार हो गई अर्थात 80 प्रतिशत की कमी हुई। चेचक के मामले में यह संख्या 4.7 से घटकर 0.37 प्रति हजार हो गई अर्थात 90 प्रतिशत की कमी हुई (एच० ई० सिगेरिस्ट, 'सोशलाइज्ड मैडिसिन इन दि सोवियत यूनियन', पृष्ठ 357)। टाइफस और डिप्थीरिया के बारे में भारत में कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है लेकिन चेचक से हुई मौतों के आंकड़े से एक उपयोगी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। भारत में 1914 में चेचक से मरने वालों की संख्या 76590 थी अर्थात इसकी दर 3.2 व्यक्ति प्रति दस हजार थी। 1934 में यह संख्या 83925 अर्थात 3.0 प्रति दस हजार हो गई। 1935 में इस संख्या में मामूली वृद्धि हुई। भारत में चेचक से मरने वालों की संख्या में 20 वर्षों के अंतराल के बाद भी कोई फर्क न पड़ना (3.2 और 3.0 प्रति 10 हजार) और सोवियत संघ में इसी अवधि में चेचक से मरने वालों की संख्या में 4.7 से घटकर 0.37 का हो जाना दोनों देशों की विषमता को प्रकट करता है।

1913 में सोवियत संघ में डाक्टरों की संख्या 19800 थी जो 1937 तक बढ़कर 97000 हो गई। भारत में 1934-35 में विश्वविद्यालयों से निकले चिकित्सा स्नातकों की कुल संख्या 630 थी। इसमें उन डाक्टरों की भी मामूली संख्या जोड़ी जा सकती है जो इंग्लैंड से प्रशिक्षण लेकर लौटे थे।

अंत में यदि हम मजदूरों की हालत पर विचार करें और सोवियत संघ में उनके काम के निर्धारित घंटों पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि सोवियत संघ से 1922 में सभी उद्योगों में 8 घंटे की अवधि काम करने के लिए निर्धारित की गई जो 1927 में सभी उद्योगों में 7 घंटे के दिन के रूप में तय हो गई। इसमें खतरनाक पेशों में या जमीन के नीचे काम करने वाले मजदूरों के लिए, दिमागी काम करने वालों के लिए और 16 तथा 18 वर्ष के बीच के नाबालिगों के लिए 1927 में ही काम का 6 घंटे का दिन निर्धारित किया गया। 14 वर्ष की उम्र से कम के लड़कों को किसी भी स्थिति में काम की इजाजत नहीं थी और 14

वर्ष से 16 वर्ष की आयु वर्ग के जो लड़के असाधारण परिस्थितियों में काम करते थे उनके लिए दिन भर में काम की अधिकतम अवधि 4 घंटे तय की गई।

भारत में 1922 के फैक्टरी ऐक्ट द्वारा 11 घंटे का दिन निर्धारित किया गया और 1934 के फैक्टरी ऐक्ट ने काम के लिए 10 घंटे का दिन तय किया तथा 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को रोजगार देने की मनाही की गई। लेकिन कारखानों की स्थिति की जांच करने वाले इंसपैक्टरों की संख्या इतनी कम रखी गई (व्हिटले कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार 1929 में भारत भर में उनकी संख्या केवल 39 थी) कि किसी भी इंस्पैक्टर के लिए प्रत्येक कारखाने में साल में एक बार भी पहुंचना असंभव था। इसका नतीजा यह हुआ कि मालिकों ने फैक्टरी ऐक्ट की अवहेलना की और खासतौर से कम उम्र के बच्चों को नौकर रखने में इस कानून की काफ़ी अवहेलना की गई। इसके अलावा फैक्टरी ऐक्ट औद्योगिक मजदूरों के महज एक छोटे से भाग पर लागू है (1931 की जनगणना से पता चलता है कि 1 करोड़ 77 लाख व्यक्ति उद्योगों तथा परिवहन सेवाओं में काम करते थे और इनमें से 1936 में सिर्फ 16 लाख व्यक्तियों पर फैक्टरी ऐक्ट लागू था)। भारत के अधिकांश मजदूरों के लिए काम के घंटों की कोई सीमा नहीं है, उनकी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है या छोटे से छोटे बच्चों के शोषण की कोई सीमा नहीं है। जैसाकि व्हिटले कमीशन की रिपोर्ट में बताया गया था 5-5 वर्ष के बच्चों को दिन भर में 12 घंटे तक काम करना पड़ता था।

विभिन्न क्षेत्रों में दोनों देशों की स्थितियों में जिस विरोध का चित्र प्रस्तुत किया गया है वह ठोस तथ्यों पर आधारित है। इन तथ्यों के आधार पर, राजनीतिक दृष्टिकोण चाहे जो भी हो, यह फैसला दिया जाना चाहिए कि सोवियत संघ और भारत के बीच जो वैषम्य दिखाई पड़ता है वह सभ्यता और बर्बरता के बीच का वैषम्य है।

फिर भी बीस वर्ष पहले जारशाही रूस और ब्रिटिशशासित भारत के लोगों की हालत में इतना बड़ा अंतर नहीं था। यह रूप परिवर्तन 20 वर्षों के समाजवादी शासन के कारण हुआ है। इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि आवश्यक राजनीतिक परिस्थितियां पैदा कर दी जाएं और वर्ग शक्तियों के संबंध में परिवर्तन हो जाए तो भारत में भी इस तरह का रूपांतरण हो सकता है।

2. मध्य एशियाई गणराज्यों का अनुभव

सोवियत संघ के मध्य एशियाई गणराज्यों के अनुभव से इस तुलनात्मक अध्ययन की और भी पुष्टि हो जाती है।

यदि हम 1913 के जारशाही रूस की तुलना आज के भारत से करें तो निस्संदेह रूप से यह बात सही लगती है और इसे ध्यान में रखना चाहिए कि भारत में रूपांतरण के लिए

प्रारंभिक प्रस्थान बिंदु 1913 के जारशाही रूस की विकास अवस्था की तुलना में सामान्य तौर पर निम्न हैं, हालांकि इससे विकास की आनुषंगिक दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता (वस्तुतः 1913 के पहले के दशक में उत्पादक स्तरों के विश्व स्तर पर जारशाही रूस पिछड़ रहा था)। लेकिन यह विशेषता सोवियत संघ के मध्य एशियाई गणराज्यों के उदाहरण को और भी महत्व दे देती है क्योंकि 20 वर्ष पहले ये गणराज्य आज के भारत की तुलना में कहीं ज्यादा पिछड़े हुए थे। इसके साथ ही प्रगति की उनकी वर्तमान उच्च अवस्था भारत के लिए एक महत्वपूर्ण नमूना पेश करती है।

सोवियत संघ और ब्रिटिश शासित भारत के बीच सामान्य तौर पर विद्यमान विषमता तो आश्चर्यजनक है ही, यह विषमता उस समय और अधिक दिखाई पड़ती है जब हम मध्य एशियाई सोवियत गणराज्यों को देखते हैं। यहां हम यह देख सकते हैं कि प्रारंभ में इन गणराज्यों की स्थितियां भी काफी हद तक भारत की स्थितियों जैसी थीं और दोनों की विकास प्रक्रिया में भी काफी समानता थी। भारत की स्थिति को जिन विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनका सामना उन्हें भी करना पड़ता था। इन गणराज्यों की जनता भारत की तुलना में अधिक पिछड़ी, आदिम, पीड़ित और निर्धनता से ग्रस्त थी। एशियाई अर्थव्यवस्था और एशियाई सामाजिक परिस्थितियों तथा महिलाओं की स्थिति, और धर्म आदि से संबंधित विशेष प्रकार की सभी समस्याएं इन गणराज्यों में बेहद उग्र रूप में मौजूद थीं। इसलिए साम्राज्यवाद की उपनिवेशवादी नीति और पिछड़ी हुई जनता के संदर्भ में समाजवाद की नीति में जो अंतर है, वह इन गणराज्यों में जितनी स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है उतना और कहीं संभव नहीं है।

सात सोवियत समाजवादी गणराज्यों को मिलाकर स्थापित सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के अंतर्गत तीन मध्य एशियाई सोवियत समाजवादी गणराज्य समान रूप से स्वशासी गणराज्यों के रूप में शामिल हैं। इनके नाम हैं : तुर्कमेनिस्तान, जिसकी आबादी 12.5 लाख और क्षेत्रफल 171,000 वर्गमील है; उजबेकिस्तान जिसकी आबादी 50 लाख और क्षेत्रफल 66,000 वर्गमील है और ताजिकिस्तान जिसकी आबादी 15 लाख और क्षेत्रफल 55,000 वर्गमील है। इनके साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं कारा-काल्पक स्वायत्त गणराज्य और किरगीज स्वायत्त गणराज्य। ये पांचों गणराज्य कजाकिस्तान से दक्षिण में हैं और भारत की सीमा के काफी करीब हैं।

> कजाकिस्तान के दक्षिण में मध्य एशिया के पांच समाजवादी गणराज्य स्थित हैं जिनके नाम वहां बसे लोगों की राष्ट्रीयता पर आधारित हैं; उजबेक, तुर्कमेन, ताजिक, किरगीज और कारा-काल्पक गणराज्य।

यह सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ का धुर दक्षिण प्रदेश है। इसकी सीमा फारस, अफगानिस्तान और पश्चिमी चीन से लगी हुई है। मध्य एशिया

की सीमा से भारत 15 किलोमीटर की दूरी पर है।

क्रांति से पूर्व मध्य एशिया अर्धगुलाम और औपनिवेशिक मजदूरों की भूमि थी। अब यह समान अधिकारवाली जातियों, समाजवादी कृषि और नवनिर्मित उद्योगों की धरती बन गई है। (मिखाइलोव: 'सोवियत ज्योग्राफी', 1937, पृष्ठ 6-7)

हम अपना अध्ययन ताजिकिस्तान से शुरू करें जो भारत से कुछ ही मीलों की दूरी पर स्थित है। अतीत में ताजिक लोगों का जीवन खुशहाल नहीं था। क्रांति होने के पूर्व तक वे जार-शाही रूस के जुए के अंतर्गत थे और बुखारा के अमीर की सामंती-मजहबी तानाशाही से ग्रस्त थे। जारशाही साम्राज्य की समाप्ति के बाद जो गृहयुद्ध शुरू हुए वे 1925 तक अंतिम रूप से समाप्त नहीं हुए। 1925 में ताजिकिस्तान एक स्वायत्त गणराज्य बन गया और 1929 में वह एक स्वतंत्र संघीय गणराज्य के रूप में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ में शामिल हो गया।

ताजिक लोगों का जीवन जारशाही के अंतर्गत अत्यंत पिछड़ेपन की स्थिति में था। इनका जीवन कितना पिछड़ा था इसका पता हम इस तथ्य से लगा सकते हैं कि क्रांति से पहले वहां केवल 0.5 प्रतिशत लोग ही पढ़-लिख सकते थे (जबकि भारत में 1911 में 6 प्रतिशत लोग साक्षर थे)। 1933 तक वहां के 60 प्रतिशत लोग साक्षर हो गए थे (जबकि 1931 में भारत में केवल 8 प्रतिशत लोग ही साक्षर हो पाए थे)। 1936 तक ताजिक गणराज्य में 3 हजार स्कूल (अर्थात आबादी के हर पांच सौ लोगों के लिए एक स्कूल), पांच उच्च शैक्षणिक संस्थाएं और तीस से ज्यादा प्राविधिक विद्यालय हो गए थे। 1939 तक स्कूल में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या 3,28,000 तक पहुंच गई थी (जबकि 1914 में यह संख्या महज सौ थी), और उच्च शैक्षणिक संस्थाओं की संख्या 21 हो गई थी।

1924 में ताजिकिस्तान में कृषि के काम में आने वाली जमीन का क्षेत्रफल 1,005,000 एकड़ था। 1936 तक यह 1,626,000 एकड़ हो गया और मुख्य फसल के रूप में कपास की खेती की गई। अधिकतर किसान परिवारों ने कृषि का सामूहिक तरीका अपना लिया है। कपास की खेती का काम अधिकांशतया मशीनों से किया जाने लगा है। जुताई, कटाई आदि का काम अधिकांशतया ट्रैक्टरों से लिया जाता है। इन सारी चीजों में सिंचाई का विकास काफी महत्व रखता है :

कपास की उपज काफी हद तक सिंचाई पर निर्भर करती है। 1929 में ताजिकिस्तान ने सिंचाई पर तीस लाख रूबल खर्च किए, 1930 में एक करोड़ बीस लाख रूबल और 1931 के बजट में छह करोड़ दस लाख रूबल अर्थात 50 रूबल प्रति व्यक्ति निर्धारित किया गया था और इसके लिए

> अधिकांश धन जनता पर कर लगाकर नहीं वसूला गया बल्कि यह धन सोवियत संघ की केंद्रीय सरकार से मिला था। (जे० कुनित्ज : 'डान ओवर समरकन्द,' 1935, पृष्ठ 235)

ताजिकिस्तान के इन आंकड़ों से पता चलता है कि भारत में सिंचाई के विकास का काम कितना धीमा था। इतना ही नहीं पहले के सिंचाई कार्यों की उपेक्षा पर भी इससे रोशनी पड़ती है। इसके साथ ही जहां अत्यंत सीमित पैमाने पर नए सिंचाई कार्य शुरू किए गए हैं (1913-14 में कुल सिंचित क्षेत्र 4 करोड़ 68 लाख एकड़ से बढ़कर 1933-34 में 5 करोड़ 50 लाख एकड़ हो जाना), वे केवल पूंजीनिवेश के आधार पर शुरू किए गए जिसके लिए औसतन 7 प्रतिशत से अधिक वाली ऊंची दर के प्रतिफलन की मांग की गई। इस प्रकार किसानों पर अतिरिक्त भारी बोझ पड़ा और इस कार्य के फायदे गरीब किसान तक नहीं पहुंच सके।

इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात उन स्थानों का तेजी से औद्योगिक विकास किया जाना है जहां पहले कोई उद्योग नहीं था। समाजवाद के अंतर्गत इस बात का सवाल ही नहीं पैदा होता कि भूतपूर्व औपनिवेशिक क्षेत्रों को ग्रामीण भीतरी प्रदेश के रूप में रखा जाए जबकि आधुनिक उद्योग को पहले की तरह विशेषाधिकार प्राप्त 'महानगरीय' क्षेत्रों की वस्तु बना दिया जाए। उल्टे, पुराने पिछड़े इलाकों के विशेष औद्योगिक विकास के लिए सबसे ज्यादा सक्रियता से कदम उठाए जाते हैं।

> क्रांति से पहले तक ताजिकिस्तान में कोई भी उद्योग नहीं था। आज इस प्रदेश में कई कारखाने और सिल्क कारखाने हैं जिनका निर्माण पिछले कुछ वर्षों के दौरान हुआ है···वारजोब्स्क बिजलीघर के निर्माण का काम पूरा हो गया है और इससे शहर के औद्योगिक क्षेत्रों को बिजली दी जाएगी··· स्तालिनाबाद में कपड़े का कारखाना पूरे जोर-शोर से चल रहा है और यही स्थिति लेनिनाबाद के बड़े सिल्क कारखाने की है। इस वर्ष एक विशाल कपड़ा मिल, मांस तैयार करने का कारखाना, शराब बनाने की फैक्टरी और एक सीमेंट फैक्टरी के निर्माण का काम शुरू हुआ है। ईंट बनाने के दो कारखानों में काम शुरू हो गया है और इसके साथ ही तेल बनाने के दो कारखानों, कपास साफ करने के दस कारखानों, छपाई के दस कारखानों इत्यादि में भी काम शुरू हो गया है। (यू० एस० एस० आर० ट्रेड डेलीगेशन इन ब्रिटेन, 'मंथली रिव्यू,' अक्तूबर, 1936, पृष्ठ 552)

क्रांति से पूर्व ताजिकिस्तान में आधुनिक सड़कें नहीं थीं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान ताजिकिस्तान में 181 किलोमीटर रेल लाइन बिछाई गई और 12 हजार किलोमीटर

सड़कें बनाई गईं। इनमें से 6 हजार किलोमीटर की सड़कें काफी अच्छी हैं और इन पर मोटर चल सकती है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य की ही बात लीजिए। 1914 में ताजिकिस्तान में 13 डाक्टर थे और 1939 तक इनकी संख्या 440 हो गई। 1914 में वहां समूची आबादी के लिए अस्पतालों में केवल सौ मरीजों के रहने की व्यवस्था थी लेकिन 1939 तक 3675 मरीजों के रहने का प्रबंध हो गया। 1914 में यहां के जच्चाखानों में एक भी मरीज के रहने का प्रबंध नहीं था लेकिन 1937 में 240 मरीजों के रहने की व्यवस्था हो गई। 1914 में जच्चा-बच्चा की सहायता के लिए एक भी केंद्र नहीं था लेकिन 1937 तक ऐसे केंद्रों की संख्या 36 हो गई।

समाजवाद के अंतर्गत ताजिक जनता के अंदर नए जीवन का जो संचार हुआ है उस भावना की अभिव्यक्ति निम्न गीत में की गई है। यह गीत ताजिक सामूहिक कृषि फार्म के किसान का है जिसे जोशुआ कुनित्ज ने 'डान ओवर समरकंद' में उद्धृत किया है :

मेरी सांस मुक्त और गर्म है
जब मैं देखता हूं जुतती हमारी सूखी धरती,
जब मैं देखता हूं बनकर पूरा हुआ कोई बांध
और जब मैं देखता हूं उन्हें अपने साथ जो एक नई जिन्दगी
की कोशिश में हैं,
मैं उल्लसित होता हूं उस तरह जैसे एक पिता अपने बेटे के साथ
मैं रोक नहीं पाता खुद को पुकार उठने से 'जियो !
सारे नए इंसान',
जब मैं देखता हूं अपने बेटे को खेत में यंत्र चलाते हुए
जब मैं देखता हूं एक हल फाड़ता है माटी और गहरी जड़ें
मैं रोक नहीं पाता खुद को पुकार उठने से
'विजय उनकी जो श्रमरत हैं !'
जब मुझे आशंका दहलाती है 'पुराना संसार लौटेगा,'
मैं भूलुंठित हो जाता हूं, भय से बर्फ हो जाता हूं।
मुझे बंदूक दो, कामरेड; मुझे कुछ गोलियां दो
मैं युद्ध को जाऊंगा, मैं अपनी भूमि बचाऊंगा,
अपनी सोवियत भूमि

अब हम उजबेकिस्तान की स्थिति का अध्ययन करें जो इन गणराज्यों में सबसे बड़ा है और जिसकी आबादी 55 लाख है। यहां क्रांति से पहले केवल 3 से 5 प्रतिशत लोग साक्षर थे। 1932 तक निरक्षरता खत्म करने के अभियान में प्राथमिक विद्यालयों में

1927-28 में सोवियत गणराज्यों का प्रति व्यक्ति खर्चे का बजट
(रूबल में)

मद	रूसी गणराज्य	यूक्रेन	श्वेत रूस	ट्रांस-काकेशिया	उजबेकिस्तान	तुर्कमेनिस्तान	औसत
शासन प्रबंध	0.69	0.86	1.06	2.23	1.60	2.45	1.02
आर्थिक प्रशासनिक विभाग	1.08	0.88	1.57	1.13	1.04	1.46	1.06
सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताएं	2.16	1.92	2.57	3.59	2.48	3.84	2.20
वित्त प्रबंध राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था	1.65	1.62	2.37	4.95	3.39	8.90	1.91
स्थानीय बजट को स्थानांतरित	5.87	5.56	5.57	6.70	5.77	5.58	5.83
अन्य खर्चे	0.04	—	—	0.53	0.20	—	0.06
कुल योग	11.49	10.84	13.14	19.13	14.48	22.23	12.08

531000, माध्यमिक विद्यालयों में 130000 और अन्य संस्थानों में 710000 छात्र अध्ययन कर रहे थे। सामूहिक कृषि फार्मों के तेजी से विकास के अतिरिक्त उद्योग के मामले में उत्पादन 1913 में 26 करोड़ 90 लाख रूबल से बढ़कर 1936 में 1 अरब 17 करोड़ 50 लाख रूबल हो गया और बिजली का उत्पादन 1928 में 3 करोड़ 40 लाख यूनिट से बढ़कर 1936 में 23 करोड़ यूनिट तक पहुंच गया। उद्योग के दायरे में 51 सूती धागे बनाने की फैक्टरियां, कोयला खान, कृषि के काम में आने वाली मशीन बनाने का एक बड़ा कारखाना (ताशकंद में), एक सीमेंट फैक्टरी, गंधक की खान, एक आक्सीजन फैक्टरी, कागज का एक कारखाना, चमड़े का एक कारखाना और कपड़े सिलने के कई कारखाने शामिल हैं। 1914 और 1937 के बीच डाक्टरों की संख्या 128 से बढ़कर 2185 हो गई। क्रांति से पहले इस देश के पास अपनी कोई वर्णमाला तक नहीं थी। लैटिन के ढंग की एक नई वर्णमाला के द्वारा इस कठिनाई को हल कर लिया गया। 1935 तक इस गणराज्य में पांच भाषाओं में 118 समाचारपत्र निकलते थे जिनकी वर्ष भर में दस करोड़ से भी ज्यादा प्रतियां बिकती थीं।

इस अत्यंत विशाल रूपांतरण के लिए आर्थिक साधन कैसे जुटाए गए? इस प्रश्न के जवाब से यह साफ पता चल जाता है कि पिछड़े लोगों के औपनिवेशिक शोषण की साम्राज्यवादी प्रणाली और समाजवाद के अंतर्गत समानता के आधार पर विभिन्न जातियों के बीच सहयोग की प्रणाली में कितना बड़ा फर्क है। साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत औपनिवेशिक देशों की पिछड़ी हुई और गरीब जनता से हर साल बेशुमार नजराना वसूल किया जाता है जो साम्राज्यवादी देशों के शोषक वर्ग की जेब में जाता है। समाजवाद के अंतर्गत पिछड़ी हुई जातियों के तेजी से विकास में जो अतिरिक्त राशि खर्च होती है उसे सोवियत संघ के बजट में उनके लिए अनुपात से अधिक रुपया रखकर पूरा किया जाता है। ताकि इस संक्रमण काल में इन पिछड़ी जातियों को प्रति वर्ष जितना धन वे राज्य को देती हैं उससे अधिक धन मिले। (अपने ऊपर कर्ज का कोई बोझ इकट्ठा किए बगैर वे यह राशि आराम से पाती हैं)। पृष्ठ 96 की तालिका से पता चलेगा कि 1927-28 में सोवियत संघ के अलग-अलग गणराज्यों में प्रति व्यक्ति अलग-अलग मदों में कितने रूबल खर्च करने की व्यवस्था है :

इसमें यह दिखाई पड़ेगा कि सभी बुनियादी मदों में सबसे शक्तिशाली गणराज्य, रूस और यूक्रेन, अन्य गणराज्यों के बाद के स्थान पर हैं। संघ पिछड़ी जातियों वाले राज्यों की सांस्कृतिक और आर्थिक प्रगति का काम तेज करने की देखरेख अपने जिम्मे लेता है।

सोवियत संघ का 1939 का बजट भी यही तस्वीर सामने प्रस्तुत करता है। वहां समूचे सोवियत संघ तथा गणराज्यों के कुल बजट में पिछले वर्ष के मुकाबले में 12.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, वहां कजाकिस्तान के बजट में 20.1 प्रतिशत और तुर्कमेनिस्तान के बजट में 22.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। रूसी सोवियत गणराज्य का बजट जहां अपने क्षेत्रों

से प्राप्त राजस्व का 18.8 प्रतिशत था वहीं ताजिकिस्तान के बजट में यह राशि पूरी की पूरी 100 प्रतिशत निर्धारित की गई। 1928-29 से लेकर 1939 के पूरे दशक के दौरान समूचे सोवियत संघ का सामाजिक तथा सांस्कृतिक खर्चा 25 गुना हो गया था जबकि तुर्कमेनिस्तान का खर्च 29 गुना और कजाकिस्तान का 31 गुना हो गया। इसी तरह नए औद्योगिक निर्माण कार्यों के मामले में भी पिछड़े हुए इलाकों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस तरह कजाकिस्तान का कुल बजट 1 अरब 51 करोड़ 30 लाख रूबल था लेकिन कम से कम 50 करोड़ 90 लाख रूबल की राशि संघ के कोष से निर्धारित की गई ताकि इस क्षेत्र में तांबे की ढलाई का विशाल बालखस कारखाना बनाया जा सके। करगंडा इस समय सोवियत संघ का तीसरा कोयला बेसिन है और तचिमकन्द और रिद्दर्स्क का सीसे का कारखाना सोवियत संघ के सीसे के कुल उत्पादन के तीन चौथाई हिस्से की पूर्ति करता है।

इस प्रकार समाजवाद के अंतर्गत बहुत जागरूक ढंग से उद्योग का नया वितरण संचालित किया जाता है। जैसाकि मिखाइलोव ने अपनी पुस्तक 'सोवियत ज्योग्राफी' में बताया है, पुराने जारशाही रूस में उद्योग-धंधे समूचे साम्राज्य के विशाल क्षेत्र में असमान ढंग से वितरित थे। रूस के उद्योग का आधा हिस्सा वर्तमान मास्को, लेनिनग्राद, इवानोव प्रदेश आदि में केंद्रित था। आर्थिक नक्शे पर यह क्षेत्र एक टापू की तरह दिखाई देता था। यही वह जगह थी जहां से औद्योगिक पूंजी का जन्म हुआ और उसका विकास हुआ। यहीं से जारशाही की विजय की किरणें फूटीं और औद्योगिक केंद्र के काम आने वाले कृषि उत्पादन और कच्चे माल का भारी भंडार इकट्ठा किया गया। उत्पादन और कच्चे माल के बीच लंबी दूरी बनाकर दोनों को पृथक कर दिया गया। सामाजिक श्रम की बरबादी हुई लेकिन उपनिवेशों ने इस खर्चे को बर्दाश्त किया। 'कपास के उत्पादक उजबेक को उचित मूल्य नहीं दिया जाता था और तैयार कपड़े के लिए भी बड़ी मामूली रकम दी जाती थी······ बरबाद हो गए दस्तकारों और शिल्पियों के हाथ बिजली से भी ज्यादा सस्ते थे।'

योजनाबद्ध समाजवादी उत्पादन ने सहकारी विकास और राष्ट्रों की समानता के आधार पर उद्योग के वितरण के नए सिद्धांत शुरू किए :

> योजनाबद्ध समाजवादी उत्पादन और वितरण ने केंद्र से प्रतिस्पर्धा को दूर रखा। पुराने निषेधात्मक कानूनों के स्थान पर राष्ट्रीय दूरस्थ जिलों के औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास की नीति विकसित हुई।
>
> सोवियत संघ में रहने वाले सभी लोगों को समान अधिकार हैं। कानूनी तौर पर सभी जातियों के बीच समानता की बात रूसी क्रांति के बिल्कुल प्रारंभिक दिनों में दी गई थी लेकिन असमानता को वास्तविक रूप से समाप्त करने के लिए यह जरूरी है कि रूस के पुराने उपनिवेशों की जनता के

आर्थिक पिछड़ेपन को दूर किया जाए। (एन० मिखाइलोव : 'सोवियत ज्योग्राफी,' 1935, पृष्ठ 51)

इसलिए 1923 में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की 12वीं कांग्रेस में स्तालिन ने इस सिद्धांत की घोषणा की थी :

रूस के सर्वहारा वर्ग को स्कूलों और भाषा का विकास करने के अलावा सीमावर्ती जिलों में, सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े गणराज्यों में उद्योग के केंद्र स्थापित करने के हर उपाय अपनाने चाहिए। पिछड़े गणराज्य अपनी किसी गलती की वजह से नहीं पिछड़े हुए हैं बल्कि उनकी हालत ऐसी इसलिए है क्योंकि अब से पहले उन्हें कच्चे माल का स्रोत मात्र समझा जाता था। (स्तालिन : रिपोर्ट आन दि नेशनल क्वेसचन टू दि ट्वेल्व्थ कांग्रेस आफ दि रशियन कम्युनिस्ट पार्टी, अप्रैल 1923)

हम यहां साम्राज्यवादी औपनिवेशिक शोषण और समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत अलग अलग जातियों के बीच समानता की उपलब्धि के फर्क को देखते हैं। समाजवादी व्यवस्था में सर्वाधिक पिछड़े लोग कितनी तेजी के साथ सर्वाधिक उन्नत लोगों के स्तर तक पहुंचे हैं, यह गौर करने की बात है।

मध्य एशियाई सोवियत गणराज्यों के समान अधिकारों और तेज विकास का यह चित्र देखकर भारतीय जनता उद्विग्न हो उठती है। यह ऐसा चित्र है जिसे देखकर अनिवार्य रूप से साम्राज्यवादी शासन के अधीन भारत के विकास में आए ठहराव तथा शोषण के साथ समाजवादी देश की स्थिति की तुलना करने की इच्छा हो उठती है। लेकिन साथ ही यह ऐसी भी तस्वीर है जो हमारे मन में आशा का उल्लास भरती है और दृढ़ विश्वास पैदा करती है कि भविष्य में साम्राज्यवाद के जुए को उतार फेंकने के बाद भारत की मेहनतकश जनता जब खुद अपने देश की मालिक बन जाएगी, तब भारत में भी इतनी ही तेजी से प्रगति हो सकेगी।

खण्ड दो

भारत में ब्रिटिश राज

4

भारत की गरीबी का रहस्य

फिर भी एक वर्ग है, सामान्य वर्ग,
जिसके पास न योग्यता है न कोई ढोंग,
अच्छे सरल लोग जो जानते हैं सर्पमीनों को सर्पमीनें ही,
मगर कभी रुक कर यह नहीं सोचते कि कैसा लगता है
चमड़ी का उतारा जाना,
तुष्ट रहते हैं जानकर कि सर्पमीनें हैं चमड़ी उतारने के लिए ही,
और भारतीयों की नियति है भुगतान करना,
और इसलिए जब वे महान और उच्च हो जाते हैं,
उनको सबसे ज्यादा नफरत होती है 'क्यों ?' शब्द से।
—इंडिया : बंगाल के एक युवा नागरिक की तीन सर्गों में
कविता, लंदन 1834।

भारत में साम्राज्यवाद की भूमिका को समझने के लिए यह जरूरी है कि इसके ऐतिहासिक आधार पर विचार किया जाए। हाल के वर्षों में भारत में ब्रिटिश शासन के वास्तविक इतिहास को सरकारी आवरण के भीतर से खोज निकालने का काम शुरू हुआ है। लेकिन 1897 में 'इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया' के संपादक सर विलियम हंटर ने जो कुछ कहा था वह आज भी सही है :

> ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारतीय जनता के सही इतिहास का निर्माण अभी सैकड़ों दूरस्थ अभिलेखालयों के संग्रहालय से एक साथ जोड़ जोड़कर होना

बाकी है। इस काम में इतना परिश्रम और लगभग इतने पैसे लगेंगे जो किसी एक व्यक्ति और साधारण निजी संपत्ति की पहुंच से बाहर है।

आयरलैंड की समस्या के बारे में लार्ड रोजबेरी का यह कथन कि 'इस समस्या ने कभी इतिहास के दायरे में प्रवेश नहीं किया क्योंकि यह कभी राजनीति के दायरे से बाहर जा ही नहीं सकी', भारत पर लागू होता है। भारतीयों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त किए जाने के बाद ही, गंभीरतापूर्वक भारतीय इतिहास के अध्ययन का काम शुरू किए जाने की संभावना है। और यह अध्ययन विजेताओं के दृष्टिकोण के साथ किया जाएगा।

अपने एक महत्वपूर्ण लेखांश में, 19वीं सदी के इंग्लैंड के रूढ़िवाद के नेता ने इंग्लैंड के इतिहास के बारे में लिखा है :

> यदि इंग्लैंड का इतिहास कभी किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया जिसके पास जानकारी और साहस दोनों हों, और ऐसे काम के लिए ये दोनों बातें समान रूप से जरूरी हैं, तो दुनिया के लोग नीबर (Niebuhr) का इतिवृत्त पढ़ते समय जितना विस्मित होते हैं उससे कहीं ज्यादा विस्मित इस इतिहास को पढ़कर होंगे। सामान्य तौर पर कहें तो सभी महान घटनाएं तोड़मरोड़ कर पेश की गई हैं, अधिकांश महत्वपूर्ण कारणों को छिपाया गया है, कुछ महत्वपूर्ण चरित्रों का कभी उल्लेख ही नहीं किया गया और जिनका उल्लेख किया भी गया उन्हें इतना गलत समझा गया और इतने गलत रूप में पेश किया गया कि इससे निकलने वाला नतीजा पूरी तरह रहस्यमय रहा। (डिजरायली, 'सीबिल' (Sybil) अध्याय 3)

पूंजीवाद के युग से और खासतौर पर 'शानदार क्रांति' के काल से इंग्लैंड के इतिहास का यह 'रहस्यमयीकरण' इस तथ्य की महज एक झलक प्रस्तुत करता है कि संकीर्ण वित्तीय धनिक तंत्र के शासन की असलियत को पौराणिक जामे की आड़ में छिपाया गया है।

लेकिन अगर यह बात इंग्लैंड के इतिहास के बारे में सच है तो यह उस इतिहास (ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इतिहास जिसका एकमात्र अर्थ है भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व का इतिहास) के बारे में कितनी सच है जिसका संबंध इंग्लैंड के सत्तारूढ़ वर्ग की सत्ता के गहनतम आधार से, हर प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध शक्ति के असीम भंडार से और उस निर्णायक कार्यक्षेत्र से है जो उसकी सभी नीतियों को 300 वर्षों के लिए संचालित करती है।

यहां हम इंग्लैंड की नीति के प्रेरणास्रोतों, 18वीं सदी के उत्तरार्ध और 19वीं सदी में इंग्लैंड में पूंजीवाद की आकस्मिक श्रेष्ठता के रहस्य के एक आवश्यक अंश तथा वर्तमान

समय तक उसकी रणनीति की बुनियादी बातों के करीब आते हैं।

इस क्षेत्र में आधिकारिक मनगढ़ंत कहानियों तथा पक्षमंडन की प्रवृत्ति खासतौर से स्पष्ट है। बुर्जुआ सभ्यता के असली रूप को उसकी पूरी नग्नता के साथ प्रकट करने वाले अत्यंत प्रारंभिक तथ्यों को इंग्लैंड की जनता की सामान्य चेतना तक पहुंचने से पूरी ताकत के साथ रोका गया है और उसे छिपाया गया है, ये तथ्य महज आयरलैंड या भारत के लोगों की ज्वलंत स्मृतियों में भरे पड़े हैं। समाचारपत्रों या मंचों पर सामान्यत: गंभीर ऐतिहासिक विश्लेषण का स्थान स्कूली लड़के किपलिंग टाइप प्रेमकथाओं ने ले लिया है। यहां तक कि साम्राज्य के अधिग्रहण को, जो किसी राकफेलर के जीवन भर किए गए कार्य जितनी ही कठोर अध्यवसायी संचयन प्रक्रिया थी, परंपरागत इतिहास में 'दिमाग की खब्त हालत में घटित' एक 'दुर्घटना' कहा गया है। 'ब्रिटेन के शाही ताज में सबसे चमकीले रत्न' विषयक शब्दाडंबर भारतीय जनता की भयंकर और शर्मनाक स्थितियों पर गंभीरता से विचार करने में रुकावट पैदा होती है। यह उनकी देखरेख के लिए जिम्मेदार किसी भी सरकार के लिए अभियोगपत्र है।

इंग्लैंड और भारत के संबंधों के इतिहास में यह मिथक शास्त्र जितना सुस्पष्ट है उतना और कहीं नहीं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि आधुनिक युग में मिथक शास्त्र की यह प्रवृत्ति बढ़ी है। जहां वलिंगटन, बर्क, क्लाइव, हेस्टिंग्स या ऐडम स्मिथ जैसे लोगों ने नजराने की उगाही, उत्पीड़न और लूटखसोट की सच्चाइयों के बारे में साफ साफ और बिना किसी लागलपेट के बताया, जहां साल्सबरी तक ने भारत के 'रक्तस्राव' की बात कही, वहीं आज, जबकि सत्ता का आधार अब निरापद नहीं रह गया है, आधुनिक सरकारी उद्गार वमनकारी मधुरता से भरे मानवप्रेम का राग अलाप रहे हैं जिसके पीछे शोषण और सुव्यवस्थित दमनकारी संगठन का वास्तविक आधार छिपा है।

बिलकुल हाल के, भारत के इतिहासकारों ने एक दिलचस्प संदर्भ टिप्पणी में, पिछले पचास वर्षों के दौरान स्पष्टवादिता से 'मौन सेंशरशिप' (जैसा उनका कथन है) में रूपांतरण पर उल्लेखनीय बात कही है :

> ब्रिटिश भारत के बारे में लिखे गए सामान्य इतिहासों में से एक सौ वर्ष या इससे पूर्व लिखे गए इतिहास पिछले पचास वर्षों में लिखे गए इतिहास की तुलना में, संभवत: बिना किसी अपवाद के, ज्यादा मुकम्मल, ज्यादा से ज्यादा बिना किसी लागलपेट के और ज्यादा दिलचस्प हैं। उन दिनों में किसी ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि कोई ऐसा भी राजद्रोही हो सकता है जो सही अर्थों में मौलिक समस्याओं (मसलन भारत में आपके रहने का आखिर क्या अधिकार है?)

को उठाए और जब जनता का मतलब ब्रिटिश जनता था, उस समय आलोचना जीवंत और पूर्ण जानकारी पर आधारित होती थी और राजनीतिक अपेक्षाओं को ध्यान में लाए बिना फैसला दिया जाता था। इधर के वर्षों में, सभी भारतीय मसलों पर काफी हद तक और निस्संदेह स्वाभाविक तौर पर प्रशासन के दृष्टिकोण से विचार करने की प्रवृत्ति पाई गई है : 'क्या इससे सरकार का काम ज्यादा आसान और ज्यादा शांतिपूर्वं ढंग से होगा ?' आज के लेखक का अनिवार्य रूप से अपने लोगों से बाहर भी एक संसार है जहां लोग एकाग्रता से देख-सुन रहे हैं और जो उसके अपने लोगों के समान ही संवेदनशील हैं और आक्रमण करने में भी उतने ही फुर्तीले हैं। 'जो हमारे साथ नहीं है वह हमारे खिलाफ हैं।' किसी की बातें सुन लेने, यहां तक कि छिपकर सुनने वाली जनता, विश्वासभाजन न होने को यह ज्ञान निरंतर मौन सेंशरशिप का काम करता है जिससे ब्रिटिश भारतीय इतिहास वर्तमान विद्वता में निकृष्टतम धब्बा बन गया है।' (ई० थामसन और जी० टी० गैराट : राइज ऐंड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया, 1934, पृष्ठ 665)

अपने वर्तमान उद्देश्यों के लिए हम भारत में ब्रिटिश शासन के इतिवृत्त के किसी ब्यौरे का और उन रूढ़ तथ्यों का जिसका अध्ययन किसी भी वर्तमान स्तरीय पुस्तक में किया जा सकता है, अनुसरण करने नहीं जा रहे हैं। इसके लाभप्रद विवेचन के लिए अलग से एक पुस्तक लिखने की जरूरत होगी। हमारा मतलब यहां महज विकास की कुछ निर्णायक शक्तियों को, जो वर्तमान स्थिति और उसकी समस्याओं के मूल में हैं, प्रदर्शित करना है।

अतीत तो अतीत ही है। यदि ईमानदारी से कहा जाए तो भारत में ब्रिटिश शासन का इतिहास ज्ञानवर्धक इतिहास नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इंग्लैंड के लोगों को उस इतिहास के कुछ तथ्यों से अवगत होना चाहिए (जिन्हें विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों से प्राय: अलग रखा गया है।)ताकि वे अपने आपको साम्राज्यवादी पूर्वग्रह से मुक्त कर सकें और साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि भारतीयों को उनसे अवगत होना चाहिए ताकि वे भारतीय आजादी के लिए अपने को दृढ़प्रतिज्ञ सैनिक के रूप में लैस कर सकें। लेकिन अतीत में जीने से या राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार कार्य को विगत दिनों के अन्यायों और शिकायतों तक केंद्रित रखने से कुछ भी हासिल नहीं होगा। अतीत के अत्याचारी और अत्याचार से पीड़ित लोग काफी पहले ही मर चुके हैं; एक गवर्नर जनरल की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार यदि भारतीय बुनकरों की हड्डियों से 1834 में भारत के मैदान सफेद हो गए थे, तो आज गवर्नर जनरल की हड्डियां भी अपने खानदानी मकबरे में किसी बेहतर स्थिति में नहीं हैं। आज का ज्वलंत प्रश्न है, मौजूदा उत्पीड़न और मुक्ति का मार्ग। अतीत

से हमारा सरोकार बस इतना ही है कि हम उन गतिशील शक्तियों को सामने लाएं जो आज भी जिंदा हैं।

आधुनिक समाजवाद के संस्थापक कार्ल मार्क्स ने सबसे पहले इस गतिशील दृष्टिकोण के साथ भारतीय इतिहास का अध्ययन किया; उन्होंने ही सबसे पहले समाज को संचालित करने वाली उन शक्तियों पर वैज्ञानिक प्रणाली की तेज रोशनी डाली, जिनके कारण ब्रिटिश शासनकाल से पहले और बाद में भारत का विकास हुआ; उन्होंने ही सबसे पहले साफ साफ शब्दों में भारत में ब्रिटिश शासन की विनाशकारी भूमिका और भविष्य के लिए इसके पुनरुद्धारक क्रांतिकारी महत्व को समान रूप से समझाया। उन्होंने इस कार्य को, जो मानवता के भविष्य के लिए किए गए उनके कार्यों में सबसे महत्वपूर्ण है, 19वीं सदी के मध्य में पूरा किया। 50 वर्षों से भी अधिक समय तक उनका यह काम दबा पड़ा रहा और लगभग अज्ञात रहा हालांकि तब तक उनके कार्य के मुख्य क्षेत्रों के बारे में समूचे विश्व को जानकारी हो चुकी थी। अभी महज पिछले 25 वर्षों से उनके कथ्य की लोकप्रियता व्यापक रूप से छात्रों में बढ़ने लगी है और भारत की समस्याओं से संबंधित वर्तमान चिंतन को तेजी से प्रभावित करने लगी है। आज इतिहास संबंधी आधुनिक अनुसंधान उनके दृष्टिकोण की मुख्य रूपरेखा की काफी पुष्टि कर रहा है।

1. भारत पर मार्क्स के विचार

तेरह वर्ष पूर्व इंग्लैंड के एक प्रमुख समाजवादी लेखक ने, तथापि, यह विचार व्यक्त किया कि 'भारत की समस्या का मार्क्सवाद की घिसीपिटी स्थापनाओं के आधार पर अध्ययन करने का प्रयास समाजवाद के विकास में गंभीर बौद्धिक योगदान नहीं है बल्कि एक दिमागी कसरत है।' (हेराल्ड लास्की: कम्युनिज्म, 1927, पृष्ठ 194)

मार्क्स ने अपने चिंतन तथा कार्य का एक उल्लेखनीय अंश निरंतर भारत का अध्ययन करने में लगाया था, इस बात की जानकारी का अभाव पश्चिमी यूरोप के समाजवादी चिंतन की सीमाओं का एक विशिष्ट उदाहरण है। दरअस्ल भारत के बारे में 1853 में धारावाहिक रूप से लिखे गए मार्क्स के प्रसिद्ध लेखों की गिनती उनके उन लेखों में की जाती है जो हर दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं और उनमें जिन मसलों को उठाया गया है उनके संबंध में आधुनिक चिंतन की शुरुआत ही इन लेखों से होती है। मार्क्स के लेखों का यदि पूरी तरह अध्ययन करें तो पता चलेगा कि किस प्रकार उन्होंने एशियाई अर्थव्यवस्था (विशेष रूप से भारत तथा चीन के संदर्भ में) की खास खास बातों पर लगातार बेहद ध्यान दिया है। किस तरह उन्होंने इनपर यूरोपीय पूंजीवाद के संघात के प्रभावों का अध्ययन किया और इस बात पर ध्यान दिया कि विश्व के भावी विकास के लिए तथा साथ ही भारतीय एवं चीनी जनता के उद्धार के लिए उससे क्या नतीजे निकाले जा सकते हैं। उन्होंने भारत की समस्याओं के अध्ययन पर कितना ध्यान दिया था इसका उदाहरण 'पूंजी' में तकरीबन 50 बार भारत के उल्लेख से पता चल जाता है। मार्क्स और एंगेल्स के बीच

पत्र व्यवहार में तो इससे भी अधिक बार भारत की चर्चा हुई है।

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' (जिसमें मार्क्स और एंगेल्स ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिए भारतीय और चीनी बाजारों के खुल जाने का कितना महत्व है) जारी करने के तथा 1848 की क्रांतिकारी लहर के दब जाने के फौरन बाद मार्क्स ने अपना सारा ध्यान इनकी हार के बुनियादी कारणों की तलाश में लगा दिया। उन्होंने पाया कि इसका सबसे बड़ा कारण पूंजीवाद का यूरोप से बाहर एशिया, आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया में फैल जाना था। इस चिंतन धारा की और भी तीव्र अभिव्यक्ति 1858 के एक पत्र में हुई है जिसका उल्लेख 1852 में ही एंगेल्स के नाम लिखे गए एक पत्र में किया गया है :

> हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि बुर्जुआ समाज एक बार फिर सोलहवीं सदी में रह रहा है। मुझे आशा है कि जिस प्रकार पहली सोलहवीं सदी ने पूंजीवाद को जन्म दिया, उसी प्रकार यह दूसरी सोलहवीं शताब्दी उसकी कब्र खोदेगी। बुर्जुआ समाज का विशेष कार्य अपनी मुख्य रूपरेखा में किसी भी कीमत पर विश्व बाजार की स्थापना करना और इस आधार पर उत्पादन को संगठित करना है। चूंकि दुनिया गोल है इसलिए कैलीफोर्निया और आस्ट्रेलिया के उपनिवेश बन जाने तथा चीन और जापान में बाजार कायम हो जाने से यह प्रक्रिया पूरी हो गई लगती है। अब हमारे सामने गंभीर सवाल यह है : यूरोप में क्रांति होने ही वाली है और शुरू से ही उसका स्वरूप समाजवादी होगा। लेकिन चूंकि दुनिया के कहीं बड़े भाग में अब भी बुर्जुआ समाज की गतिविधियों का प्रभुत्व है इसलिए क्या इस छोटे से हिस्से में अनिवार्य रूप से क्रांति कुचल नहीं दी जाएगी? (मार्क्स का पत्र एंगेल्स के नाम, 8 अक्तूबर 1858)

मार्क्स ने 19वीं सदी के छठे दशक में ही यह समझ लिया था कि पूंजीवाद के विकास के लिए तथा यूरोप में समाजवादी क्रांति के लिए यूरोप के बाहर पूंजीवाद के प्रसार का क्या महत्व है लेकिन यूरोपीय समाजवाद के प्रमुख लोगों ने अभी हाल के वर्षों में इसे धीरे धीरे महसूस करना शुरू किया है।

1852 में, जब ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकारपत्र अंतिम बार नवीनीकरण के लिए संसद में पेश किया गया, मार्क्स ने 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' के लिए भारत के बारे में लगातार आठ लेख लिखे। इन लेखों को, 'पूंजी' में उल्लिखित प्रसंगों को और एंगेल्स के साथ पत्राचार में आए संदर्भों को देखने से भारत के बारे में मार्क्स के चिंतन के सार तत्व का पता चलता है।

2. भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना

मार्क्स का विश्लेषण 'एशियाई अर्थव्यवस्था' की विशेषताओं से शुरू होता है जिसको सबसे पहले पूंजीवाद के संघात ने समाप्त किया था। जून 1853 में एंगेल्स ने मार्क्स को लिखा कि, 'समस्त पूरब को समझने की कुंजी यह है कि वहां जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं है।' लेकिन जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का न होना यूरोपीय अर्थव्यवस्था के आदिम प्रारंभिक स्वरूप से मूलतः भिन्न नहीं है; यह भिन्नता बाद के विकास से पैदा हुई।

> इधर लोगों के बीच एक बेतुकी धारणा फैली है कि अपने आदिम स्वरूप में सामूहिक संपत्ति स्लाव लोगों या यहां तक कि केवल रूसियों की ही विशिष्टता है। यह आदिम स्वरूप रोमन, ट्यूटन और कैल्ट लोगों में था जिसे हम सिद्ध कर सकते हैं और इसके अनेक उदाहरण भारत में आज भी मिल सकते हैं हालांकि अब वे अंशतः बरबाद हो चुके हैं। सामूहिक स्वामित्व के एशियाई और खासतौर से भारतीय स्वरूपों का बारीकी से अध्ययन करने पर पता चलेगा कि किस प्रकार आदिम साम्यवाद के विभिन्न रूपों से इसके विघटन के विभिन्न रूप विकसित हुए। इस प्रकार मिसाल के तौर पर हम पाएंगे कि रोमन और ट्यूटन में निजी संपत्ति के जो विविध बुनियादी स्वरूप थे, उनका संबंध भारतीय साम्यवाद के विभिन्न रूपों से है। (मार्क्स : दि क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकोनामी, अध्याय 1)

फिर क्यों नहीं पूरब में भी, पश्चिम की ही तरह आदिम साम्यवाद से भूसंपत्ति और सामंतवाद का विकास हुआ ? एंगेल्स का कहना है कि इसका उत्तर हमें वहां की जलवायु और भौगोलिक परिस्थितियों में मिलता है :

> यह कैसे हुआ कि पूरब के लोग भूसंपत्ति और सामंतवाद की अवस्था तक नहीं पहुंचे ? मेरे विचार से इसका मुख्य कारण वहां की जलवायु है जिसके साथ वहां की खास तरह की मिट्टी की स्थितियां जुड़ी हैं। इस सिलसिले में विशेष रूप से, वे बड़े रेगिस्तानी इलाके भी काफी महत्वपूर्ण हैं जो सहारा से लेकर अरब, ईरान, भारत और तातार प्रदेश से होते हुए एशिया के सबसे ऊंचे पठारों तक फैले हुए हैं। यहां खेती की पहली शर्त सिंचाई के प्राकृतिक नहीं बल्कि कृत्रिम साधनों का होना है और यह काम या तो कम्यूनों के जिम्मे या प्रांतीय अथवा केंद्रीय सरकार के जिम्मे होता है। (एंगेल्स का पत्र मार्क्स के नाम, 6 जून 1853)

खेती की परिस्थितियां, भूमि पर निजी स्वामित्व कायम करने के अनुकूल नहीं थीं। इसी

कारण यहां खास तरह की 'एशियाई अर्थव्यवस्था' का जन्म हुआ जो नीचे गांवों के स्तर पर तो आदिम साम्यवाद के अवशेषों को अपने साथ लिए हुए थी और ऊपर केंद्रीय शासन की निरंकुशता थी जिसका काम युद्ध और लूटपाट के साथ साथ सिंचाई और सार्वजनिक निर्माण के कार्यों का प्रबंध करना था।

इसलिए भारत को समझने के लिए वहां की ग्राम व्यवस्था को समझना जरूरी है। ग्राम व्यवस्था का उत्कृष्ट वर्णन मार्क्स ने 'पूंजी' में किया है :

> वे छोटे और अत्यंत प्राचीन भारतीय समुदाय, जिनमें से कुछ तो आज तक चले आ रहे हैं, जमीन की सामूहिक मिलकियत, कृषि और दस्तकारी के मेल, और एक अपरिवर्तनीय श्रम विभाजन पर आधारित हैं जो किसी नए समूह की शुरूआत होने पर बनी-बनाई योजना के रूप में काम आता है। सौ से लेकर कई हजार एकड़ तक में फैले ये समूह अपने आप में ठोस और पूर्ण होते हैं तथा अपनी जरूरत की सभी चीजों का उत्पादन कर लेते हैं। इनके द्वारा तैयार किए गए सामानों का मुख्य भाग समुदाय के सीधे इस्तेमाल के काम आता है और बाजार में बेचे जाने वाले माल का रूप नहीं लेता। इसलिए भारतीय समाज में, कुल मिलाकर, यहां उत्पादन माल के विनिमय से पैदा श्रम विभाजन से स्वतंत्र है। उत्पादन का केवल वह हिस्सा जो उपभोग से बच रहता है, बाजार में बिकने के लिए जाता है और वह अतिरिक्त हिस्सा भी तब तक बाजार में बिकने नहीं जाता जब तक कि उसका एक अंश राज्य के हाथों में नहीं पहुंच जाता। सदियों से उत्पादन का एक निश्चित हिस्सा लगान के रूप में, जो जिन्स की शक्ल में होता है, राज्य को दे दिया जाता है।
>
> भारत के अलग अलग हिस्सों में इन प्राचीन समुदायों के विधान भी अलग अलग हैं। इनमें से जो सबसे सरल विधान है उसके अंतर्गत सभी लोग मिलकर खेत जोतते हैं और उसमें पैदा फसल को आपस में बांट लेते हैं। इसके साथ ही प्रत्येक परिवार में कताई और बुनाई का काम सहायक उद्योग के रूप में होता है। इस प्रकार एक तरफ एक ही तरह के काम में लगे लोग होते हैं और दूसरी तरफ गांव का 'मुखिया' होता है जो जज, पुलिस और टैक्स वसूल करने वाले का काम एक साथ करता है, एक पटवारी होता है जो खेती-बाड़ी का हिसाब रखता है और इससे संबंधित सभी बातें अपने पास दर्ज करता रहता है; एक और अधिकारी होता है जो अपराधियों को दंड देता है, गांव से गुजरने वाले अजनबियों की रक्षा करता है तथा उन्हें दूसरे गांव तक सुरक्षित ढंग से छोड़ आता है। पहरेदार पड़ोस के गांवों से गांव की रक्षा करता है। एक दूसरा अधिकारी सिंचाई के लिए सार्वजनिक तालाबों

> से पानी बांटता है; ब्राह्मण धार्मिक कृत्यों का संचालन कराता है; अध्यापक बच्चों को बालू में लिखना-पढ़ना सिखाता है, ज्योतिषी गांव के लोगों को बुवाई और कटाई के लिए तथा कृषि संबंधी अन्य कार्यों के लिए शुभ दिन की जानकारी देता है, लोहार खेती के औजार बनाते हैं और उनकी मरम्मत करते हैं, कुम्हार गांव के सभी लोगों के लिए बरतन बनाता है। इसके अलावा गांव में एक नाई, कपड़े साफ करने के लिए धोबी, एक सुनार भी होता है। कहीं कहीं किसी किसी समुदाय में कुम्हार सुनार का भी काम करता है और कहीं पाठशाला के अध्यापक का भी। इन दर्जन भर लोगों का खर्च गांव के लोग चलाते हैं। यदि आबादी बढ़ी तो पुराने ढांचे के आधार पर, खाली जमीन पर एक नया समुदाय स्थापित हो जाता है...
>
> इन आत्मनिर्भर समूहों में उत्पादन का बहुत सरल संगठन है। इन समुदायों से निरंतर एक ही तरह के समुदायों का निर्माण होता रहता है और यदि कोई समुदाय दुर्घटनावश नष्ट हो जाता है तो उसी स्थान पर उसी नाम से वैसा ही दूसरा समुदाय जन्म ले लेता है। इन समुदायों में उत्पादन की सरलता ही वह मुख्य बात है जिसके कारण एशियाई समाजों में कभी कोई परिवर्तन होता नहीं दिखाई देता। इस अपरिवर्तनशीलता के एकदम विपरीत एशियाई राज्यों का लगातार विघटन और निर्माण होता रहता है तथा राजवंशों में परिवर्तन का सिलसिला जारी रहता है। राजनीतिक क्षितिज पर घुमड़ते तूफानी बादल से समाज के आर्थिक तत्वों का ढांचा अछूता रह जाता है। (मार्क्स, 'पूंजी', खंड 1, अध्याय 15, अनुभाग 4)

यही वह परंपरागत भारतीय अर्थव्यवस्था थी जिसकी बुनियाद को विदेशी पूंजीवाद के प्रतिनिधि ब्रिटिश शासन ने छिन्न-भिन्न कर दिया। अंगरेजों से पहले जिन शक्तियों ने भारत पर विजय हासिल की थी, उनमें और अंगरेजों में यही फर्क था कि पहले के विदेशी विजेताओं ने जहां भारत के आर्थिक आधार को ज्यों का त्यों रहने दिया और अंत में उसमें घुलमिल गए वहां ब्रिटिश विजेताओं ने उस आधार को छिन्न-भिन्न कर दिया और वे ऐसी विदेशी शक्ति के रूप में बने रहे जिसमें सत्ता का संचालन बाहर से होता था और भारत से नजराने की वसूली करके बाहर भेजा जाता था। भारत में विदेशी पूंजीवाद की विजय और यूरोप में पूंजीवाद की विजय के बीच भी यह अंतर है कि यहां ध्वंसात्मक प्रक्रिया के साथ साथ उसी के अनुरूप नई शक्तियों का विकास नहीं हुआ। भारत की जनता ने महसूस किया है कि 'उसकी पुरानी दुनिया तो उजड़ चुकी थी पर नई दुनिया का कहीं पता नहीं था' और इसलिए ब्रिटिश शासन के अधीन भारतीय जनता के दुख-दर्द के साथ एक 'खास तरह का विषाद' जुड़ गया।

> इसमें कोई संदेह नहीं कि यह हिंदुस्तान पर अब तक पड़ी तमाम विपत्तियों से

बुनियादी तौर पर यह भिन्न और ज्यादा गंभीर है। मेरा इशारा यूरोप की उस तानाशाही की तरफ नहीं है जो ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा एशियाई तानाशाही पर डाल दी गई और दोनों के मेल से ऐसा विकराल रूप निर्मित हुआ जो सालसेट के मंदिरों की भयावह दैवी पिशाच मूर्तियों से भी ज्यादा विस्मित करने वाला था...

हिंदुस्तान में कितनी ही बार गृहयुद्ध छिड़े, विदेशी आक्रमण हुए, क्रांतियां हुईं, विदेशियों ने बार बार देश को जीता, अकाल पड़े लेकिन ये घटनाएं भले ही सतही तौर पर आश्चर्यजनक रूप से जटिल लगें और बड़ी तेजी से घटित होने वाली तथा विनाशकारी लगें लेकिन वे सतह से ज्यादा नीचे तक प्रभावित नहीं कर पाती थीं। इंग्लैंड ने भारतीय समाज के समूचे ढांचे को तोड़ दिया है और उसके पुनर्निर्माण के अभी तक कोई आसार नहीं दिखाई दे रहे हैं। पुरानी दुनिया का इस तरह उजड़ जाना और नई दुनिया का कहीं पता न चलना, हिंदुस्तानियों के वर्तमान दुख-दर्द के साथ एक खास तरह का विषाद जोड़ देता है और ब्रिटिश शासित हिंदुस्तान को उसकी समस्त प्राचीन परंपराओं तथा उसके संपूर्ण विगत इतिहास से काट देता है। (मार्क्स : दि ब्रिटिश रूल इन इंडिया, 'न्यूयार्क डेली' ट्रिब्यून, 25 जून 1853)

3. भारत में ब्रिटिश शासन की विनाशकारी भूमिका

मार्क्स ने बड़ी सावधानी और मनोयोग के साथ इस बात का अध्ययन किया था कि ब्रिटिश शासन की यह विनाशकारी भूमिका किस प्रकार पूरी हुई। इसके लिए उन्होंने 1813 तक ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार के प्रारंभिक काल तथा 1813 के बाद की अवधि के बीच के अंतर को जिसमें यह इजारेदारी समाप्त हो गई और औद्योगिक पूंजीवादी माल ने भारत पर धावा बोलकर अपना काम पूरा कर लिया, बड़े साफ तौर पर स्पष्ट किया है।

शुरू की अवधि में विनाश के प्रारंभिक कदम इस प्रकार उठाए गए : पहले तो कंपनी ने बहुत बड़े पैमाने पर भारत को लूटा। ('18वीं सदी के दौरान जो धन-दौलत भारत से इंग्लैंड भेजी गई वह अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण व्यापार वाणिज्य के जरिए नहीं भेजी गई थी। वह भारत के सीधे शोषण के जरिए और बेतहाशा लूट-खसोट के जरिए इंग्लैंड भेजी गई थी।') दूसरे, कंपनी ने सिंचाई और सार्वजनिक निर्माण कार्यों की उपेक्षा शुरू की। पहले की सरकारें इन बातों की ओर पूरा ध्यान देती थीं और उन्हें उपेक्षित नहीं रहने देती थीं, तीसरे, कंपनी ने जमींदारी की अंगरेजी प्रथा, जमीन पर निजी मिलकियत, तथा जमीन को बेचने और हस्तांतरित करने की प्रणाली शुरू कर दी और इंग्लैंड का समूचा फौजदारी कानून यहां लागू कर दिया ; चौथे, भारतीय माल पर सीधे प्रतिबंध लगाकर या उसके

आयात पर भारी चुंगी लगाकर पहले इंग्लैंड में और फिर यूरोप में उन्हें जाने से रोक दिया गया।

फिर भी इन बातों से 'मरणांतक चोट' नहीं पहुंची। यह चोट 19वीं सदी के पूंजीवाद के युग में पड़ी।

ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी का घनिष्ठ संबंध इंग्लैंड के कुलीन तंत्र (धनिक वर्ग) के साथ था जिसने व्हिग क्रांति के साथ अंतिम तौर पर अपनी सत्ता कायम कर ली :

> सही अर्थों में ईस्ट इंडिया कंपनी की शुरुआत अधिक से अधिक 1702 ई० से मानी जानी चाहिए। इसी वर्ष विभिन्न समितियां, जो ईस्ट इंडिया के साथ व्यापार के एकाधिकार का दावा करती थीं, एक साथ मिल गईं और उन्होंने एक कंपनी का गठन किया। उस समय तक असली ईस्ट इंडिया कंपनी का अस्तित्व ही कई बार खतरे में पड़ चुका था—एक बार क्रामवेल के संरक्षित राज्य में उसे कई वर्षों के लिए कार्य करने से वंचित कर दिया गया था और एक बार विलियम-3 के शासनकाल में संसद के हस्तक्षेप से उसके बिलकुल समाप्त हो जाने का खतरा पैदा हो गया था।
>
> संसद ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अस्तित्व को उस डच राजा के आधिपत्य के समय स्वीकार किया जब व्हिग दलवाले ब्रिटिश साम्राज्य को राजस्व देने वाले किसान बन चुके थे, बैंक आफ इंग्लैंड का जन्म हो चुका था, इंग्लैंड में देशी उद्योगों की रक्षा की प्रणाली बाकायदा शुरू हो चुकी थी और यूरोप में निश्चित रूप से शक्ति संतुलन स्थापित हो चुका था। ऊपरी तौर से दिखाई पड़ने वाली स्वतंत्रता का वह युग ही, दरअस्ल उन एकाधिकारों का युग था जिसकी स्थापना एलिजाबेथ और चार्ल्स प्रथम के शासनकाल में शाही अधिकारपत्रों द्वारा नहीं होती थी, बल्कि जिनको संसद की स्वीकृति से अधिकार दिया गया था और जिनका राष्ट्रीयकरण किया गया था।
> (मार्क्स : 'दि ईस्ट इंडिया कंपनी, इट्स हिस्ट्री ऐंड आउटकम', न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून, [illegible] जुलाई 1853)

इस इजारेदारी के खिलाफ इंग्लैंड के औद्योगिक माल निर्माताओं ने लगातार आंदोलन किया। उन्होंने भारतीय माल को भारत में न आने देने की मांग की और उन्हें अपने इस प्रयास में सफलता भी मिल गई। इसके अलावा इंग्लैंड के उन व्यापारियों ने भी विरोध किया जो भारतीय माल के लाभप्रद व्यापार से बहिष्कृत हो गए थे। इसी संघर्ष का परिणाम था कि इंडिया बिल के सवाल पर 1783 में फाक्स की सरकार का पतन हुआ। इस बिल का उद्देश्य कंपनी के निदेशकों और मालिकों के अधिकरणों (कोर्ट्स आफ

डायरेक्टर्स ऐंड प्रोप्राइटर्स) को समाप्त कर देना था। इसी संघर्ष के फलस्वरूप 1786 से लेकर 1795 तक हेस्टिंग्ज के विरुद्ध महाभियोग के मामले को लेकर लंबी लड़ाई चली। लेकिन औद्योगिक क्रांति के पूरी होने और उसके द्वारा इंग्लैंड के कारखानेदार पूंजीवाद को सामने लाने के बाद ही 1813 में कंपनी की इजारेदारी टूट सकी और टूटने की यह प्रक्रिया 1833 तक पूरी हो गई।

भारत का आर्थिक ढांचा भी 1813 के बाद ही निश्चित तौर पर उस समय टूटा जब इंग्लैंड के औद्योगिक सामानों ने भारतीय बाजार पर धावा बोल दिया। भारत के आर्थिक ढांचे के टूटने का प्रभाव 19वीं सदी के पूर्वार्ध पर क्या पड़ा, इसका विवरण मार्क्स ने ठोस तथ्यों के साथ पेश किया है। 1780 से 1850 के बीच भारत में ब्रिटेन से जो माल आया उसकी कीमत 386,152 पौंड से बढ़कर 8,024,000 पौंड हो गई अर्थात ब्रिटेन द्वारा अन्य देशों को निर्यात किए गए कुल माल का 32वां भाग पहले भारत आता था, पर अब कुल निर्यात का आठवां हिस्सा भारत पहुंचने लगा। 1850 में ब्रिटेन के सूती कपड़ा उद्योग का जो माल विदेशों को निर्यात किया जाता था, उसका चौथाई हिस्सा अकेले भारत पहुंचता था। उस समय ब्रिटेन की आबादी का आठवां हिस्सा इस उद्योग में लगा हुआ था और इस उद्योग से ब्रिटेन की कुल राष्ट्रीय आय को बारहवां हिस्सा मिलता था :

> 1818 से 1836 के बीच ग्रेट ब्रिटेन से भारत को धागे का जो निर्यात किया गया उसकी वृद्धि का अनुपात 1 और 5,200 का था। 1824 में ब्रिटेन ने भारत को मुश्किल से 6,000,000 गज मलमल भेजा था पर 1837 में इसने 64,000,000 गज से भी अधिक मलमल का निर्यात किया। लेकिन इसके साथ ही ढाका की आबादी 150,000 से घटकर 20,000 हो गई। इसका सबसे बुरा परिणाम उन नगरों का पतन था जो अपने कपड़ों के लिए सुविख्यात थे। ब्रिटिश भाप और विज्ञान ने समूचे हिंदुस्तान में कृषि उद्योग और कारखाना उद्योग की एकता को जड़ से उखाड़ फेंका।
> (मार्क्स : 'दि ब्रिटिश रूल इन इंडिया,' न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून, 10 जून 1853)

> सूती कपड़ों के निर्माण के लिए ब्रिटेन ने जो प्रणाली संगठित की उसका भारत पर बहुत गंभीर असर पड़ा। 1834 35 में गवर्नर जनरल ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि 'इनका दुख-दर्द व्यापार के समूचे इतिहास में अतुलनीय है। कपड़ा बुनकरों की अस्थियों से भारत की धरती सफेद हो गई है।'
> (मार्क्स : 'पूंजी,' खंड 1, अध्याय 15, अनुभाग 5)

ग्राम व्यवस्था का निर्माण 'कृषि और उद्योग संबंधी व्यवसाय की घरेलू एकता' पर आधारित था। 'करघा और चर्खा पुराने भारतीय समाज की धुरी थे' लेकिन 'अंगरेज घुसपैठियों ने भारत के करघे को तोड़ डाला और चर्खे को नष्ट कर दिया।' इस प्रकार ब्रिटेन ने 'एक

महानतम और यदि सच सच कहें तो ऐसी सामाजिक क्रांति कर डाली जैसी एशिया में पहले कभी नहीं सुनी गई थी। इस क्रांति ने न केवल पुराने औद्योगिक नगरों को नष्ट कर डाला और उन नगरों में रहने वाले लोगों को गांवों में खदेड़ दिया बल्कि गांवों के आर्थिक जीवन का संतुलन भी बिगाड़ दिया। यहीं से खेती पर भीषण दबाव शुरू हुआ जो आज तक निरंतर बढ़ता जा रहा है। इसके साथ ही अत्यंत बेरहमी के साथ किसानों से अधिक से अधिक कर वसूला गया और बदले में उनकी खेती में आवश्यक विस्तार के लिए उन्हें कुछ भी नहीं दिया गया जिससे कृषि के क्षेत्र में विकास रुक गया। (1850-51 में लगान के रूप में वसूले गए 19,300,000 पौंड में से 166,390 पौंड या कुल राशि का मात्र 0.8 प्रतिशत किसी तरह के सार्वजनिक निर्माण पर व्यय किया गया।)

> इस लगान के श्रम की स्थितियों के लिए गंभीर खतरा पैदा करने वाले आयाम हो सकते हैं। यह उत्पादन के विस्तार को कमोबेश असंभव बना सकती है और प्रत्यक्षत: उत्पादन में लगे लोगों को रोटी कपड़ा चलाने के न्यूनतम भौतिक साधनों तक घसीट कर ला सकती है। यह खासतौर से उस स्थिति में होता है जब इस रूप का परिचय तथा शोषण किसी विजयी औद्योगिक देश द्वारा होता है, जैसा भारत के साथ इंग्लैंड कर रहा है। (मार्क्स : 'पूंजी', खंड 3, अध्याय XIVII, अनुभाग 3)

भारत से ब्रिटेन द्वारा जबरन वसूले गए 'नजराने' का अनुमान मार्क्स ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :

> भारत को 'अच्छी सरकार' के लिए नजराने के रूप में, तथा ब्रिटिश पूंजी पर ब्याज और लाभांश आदि के रूप में 50 लाख पौंड देना है। इसमें वह राशि नहीं जोड़ी गई है जो ब्रिटिश अधिकारी प्रतिवर्ष अपने वेतन में से बचाकर घर भेजते हैं या अंगरेज सौदागर मुनाफे के नाम पर घर भेजते हैं ताकि उसे इंग्लैंड में व्यवसाय में लगाया जा सके। (मार्क्स : 'पूंजी', खंड 3, अध्याय 35, अनुभाग 4)

क्या मार्क्स भारत की ग्रामीण व्यवस्था के पतन और भारतीय समाज के पुराने आधार के ध्वंस पर आंसू बहाते हैं ? मार्क्स ने हर देश की तरह यहां भी हुई बुर्जुआ सामाजिक क्रांति के फलस्वरूप जनता की असीम यंत्रणा को देखा। जनता का कष्ट भारत में और भी बड़े पैमाने पर देखने को मिला क्योंकि यहां जो बुर्जुआ सामाजिक क्रांति हुई वह ऊपर बताई गई परिस्थितियों के तहत हुई। लेकिन उन्होंने उस ग्राम व्यवस्था के बेहद प्रतिक्रियावादी चरित्र को भी देखा और मानव जाति की प्रगति के लिए उस व्यवस्था के ध्वंस की अपरिहार्य आवश्यकता को भी महसूस किया। मार्क्स ने उन 'रमणीय ग्राम समुदायों' में मानवीयता के अपकर्ष का बड़े जोरदार शब्दों में वर्णन किया है। मार्क्स के शब्द आज भी

उन लोगों के लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं जो लोग यूरोप की तरह भारत में भी आगे की बजाय पीछे की ओर निगाह घुमाए रहते हैं और ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष का तरीका यह मानते हैं कि चर्खा और करघावाले उस भारत को फिर जीवित किया जाए जो अंगरेजों के आने से पहले था :

> उन लाखों करोड़ों उद्यमी, पितृसत्तात्मक एवं निरीह सामाजिक संगठनों की इकाइयों का बिखरना और नष्ट हो जाना, दुख के सागर में उनका फेंक दिया जाना तथा उनके अलग अलग सदस्यों का अपनी प्राचीन सभ्यता और जीवन निर्वाह के अपने पश्तैनी साधनों से हाथ धो बैठना किसी भी मनुष्य की भावनाओं को रुग्ण बना सकता है जो लाजिमी भी है। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऊपर से निरीह दिखाई देने वाले इन रमणीक ग्राम समुदायों ने, सदा से ही पूर्व की निरंकुश तानाशाही के लिए ठोस आधार का काम किया; हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्होंने मानव मस्तिष्क को उसकी संपूर्ण गरिमा और ऐतिहासिक शक्तियों से वंचित करके अत्यंत संकीर्ण दायरों में कैद रखा, उसे अंधविश्वास का आसान साधन और पुरानी रीति रिवाजों का गुलाम बना रखा।
>
> हमें उस बर्बर स्वार्थपरता को नहीं भूलना चाहिए जो जमीन के एक मामूली से टुकड़े पर अपना सारा ध्यान केंद्रित किए हुए अनेक साम्राज्यों के विनाश को और अवर्णनीय अत्याचारों के अपराध कर्म को चुपचाप देखती रही, जिसने बड़े बड़े नगरों में लोगों का कत्लेआम देखा और इसे एक स्वाभाविक घटना से ज्यादा महत्व नहीं दिया और जो स्वयं भी हर उस आक्रमणकारी का निरीह शिकार बनती रही जिसने उसकी ओर तनिक ध्यान भी नहीं दिया।
>
> हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अशोभनीय, निश्चल और निष्क्रिय जीवन ने, इस अकर्मण्य अस्तित्व ने अपने से भिन्न, विनाश की जंगली, निरुद्देश्य और उच्छृंखल शक्तियों को उत्पन्न कर दिया था और नरहत्या तक को हिंदुस्तान की एक धार्मिक प्रथा बना दिया था।
>
> हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये छोटे छोटे समुदाय जातपांत के भेदभाव तथा दासप्रथा से विषाक्त हो चुके थे। उन्होंने परिस्थितियों के स्वामी के रूप में मनुष्य का विकास करने के बजाय उसे परिस्थितियों का दास बना दिया था, उन्होंने स्वयं विकास करने वाली सामाजिक व्यवस्था को अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियति का रूप दे दिया था, और इस प्रकार उन्होंने प्रकृति की ऐसी उपासना को जन्म दे दिया था जो अपने आप में नृशंस थी। इसकी

अधोगति का पता इस तथ्य से ही चल जाता है कि मनुष्य, जो प्रकृति का शासक है, वानर हनुमान और शबला गाय के सामने श्रद्धा से घुटने टेकने लगा। (मार्क्स : 'दि ब्रिटिश रूल इन इंडिया')

इसलिए, यद्यपि मार्क्स ने भारत में अंगरेजों की आर्थिक नीति को 'सुअरपन' कहा है (14 जून 1853 को एंगेल्स के नाम लिखे पत्र में) लेकिन साथ ही वह अंगरेजों की जीत को 'इतिहास का अनभिप्रेत साधन' मानते हैं :

यह सच है कि हिंदुस्तान में एक सामाजिक क्रांति लाने में इंग्लैंड अपने निकृष्टतम स्वार्थों से ही प्रेरित होकर काम कर रहा था और अपने इन घटिया हितों की पूर्ति का उसका तरीका मूर्खतापूर्ण था, लेकिन सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या मानवजाति एशिया की सामाजिक अवस्था में कोई बुनियादी क्रांति लाए बिना अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है ? यदि नहीं, तो इंग्लैंड ने चाहे कितने भी अपराध क्यों न किए हों, इस क्रांति को संपन्न करने में उसने इतिहास के अनभिप्रेत साधन का काम किया है।

(वही)

4. भारत में ब्रिटिश शासन की 'पुनरुज्जीवनकारी' भूमिका

मार्क्स का कहना है कि इंग्लैंड को 'भारत में दो भूमिकाएं निभानी थीं; एक ध्वंसात्मक और दूसरी पुनर्निर्माणात्मक, जिसके अंतर्गत प्राचीन एशियाई समाज को नष्ट करना था और एशिया में पश्चिमी समाज के भौतिकवादी आधार तैयार करने थे।' जहां तक, उसके ध्वंसात्मक पक्ष की बात है उसे मुख्य रूप से देखा जा सकता था; तो भी पुनर्जीवन देने वाला उसका काम शुरू हो गया था।

अंगरेज ही ऐसे थे जो अपेक्षाकृत श्रेष्ठ थे और इसलिए हिंदू सभ्यता के लिए अगम्य थे। उन्होंने देशज समुदायों में फूट डालकर, देशज उद्योगों को नष्ट कर और देशज समाज की सभी उन्नत और महान चीजों को गिरा कर इस सभ्यता का विध्वंस किया। भारत में उनके शासन के बारे में इतिहास के पन्नें जो कुछ बताते हैं उनसे इस विध्वंसकारी भूमिका का ही पता चलता है। उनके निर्माणात्मक कार्यों की झलक इन ध्वंसावशेषों के अंबार से मुश्किल से ही मिलती है। फिर भी अब यह काम शुरू हो गया है। (मार्क्स : 'दि फ्यूचर रिजल्ट्स आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया', न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून; 8 अगस्त 1853)

मार्क्स ने पुनर्जीवन देने वाली इस भूमिका की शुरुआत किन चीजों में देखी ? इस संदर्भ में उन्होंने कई संकेत प्रस्तुत किए हैं :

1. 'राजनीतिक एकता'' ...मुगल बादशाहों के शासनकाल में स्थापित एकता से कहीं अधिक दृढ़ और व्यापक एकता' जो निश्चित रूप से 'इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ द्वारा और मजबूत तथा स्थाई बनेगी';

2. 'देशी सेना' (यह बात 1857 के विद्रोह के पहले कही गई थी। विद्रोह के बाद यह सेना भंग कर दी गई। ब्रिटिश सैनिकों की संख्या में जानबूझकर वृद्धि कर दी गई और उनकी संख्या सम्पूर्ण सेना की एक तिहाई हो गई। इसके साथ ही ब्रिटिश सैनिक नियंत्रण और मजबूत हो गया);

3. 'एशियाई समाज में पहली बार समाचारपत्रों की स्वतंत्रता की शुरुआत' (मार्क्स का यह कथन 1835 से 1873 के बीच की अवधि का है। 1835 में भारत में समाचारपत्रों की स्वतंत्रता की घोषणा की गई थी पर 1873 से ब्रिटिश सरकार ने इस स्वतंत्रता के विरुद्ध एक के बाद एक 'प्रेस ऐक्ट' बनाए और इस पतनोन्मुख साम्राज्यवादी शासन के आधुनिक युग में तो उसने इस स्वतंत्रता के विरुद्ध अपने को निरंतर मजबूत किया है);

4. 'एशियाई समाज की एक बड़ी कमी अर्थात जमीन पर निजी मिलकियत' की स्थापना;

5. 'अंगरेजों द्वारा बेमन से और बहुत छोटे पैमाने पर ही सही, भारतीयों के एक शिक्षित वर्ग का तैयार होना, जिसे शासन का संचालन करने की आवश्यक जानकारी थी और जो यूरोपीय विज्ञान से अनुप्राणित था';

6. भाप से चलने वाले जहाजों के जरिए यूरोप के साथ नियमित और शीघ्रगामी संचार संबंध की स्थापना।

इन सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात थी भारत के औद्योगिक पूंजीवादी शोषण का अवश्यंभावी परिणाम। भारत के बाजार को विकसित करने के लिए यह जरूरी था कि 'भारत का रूपांतरण एक उत्पादक देश के रूप में' किया जाए; अर्थात उसे बाहर से बनाए जाने वाले तैयार सामान के बदले में निर्यात करने के लिए कच्चे माल के स्रोत के रूप में विकसित किया जाए। इसके लिए उन्हें भारत में रेलों, सड़कों और सिंचाई के साधनों का विकास करना जरूरी हो गया। जिस समय मार्क्स ने ये बातें लिखी थीं, अभी यह दौर शुरू ही हुआ था। इस नए विकास के नतीजों को ध्यान में रखकर ही मार्क्स ने भारत के

संबंध में अपनी सर्वाधिक चर्चित और सुविख्यात भविष्यवाणी की थी :

> मैं जानता हूं कि ब्रिटिश उद्योगपति महज इसी उद्देश्य से रेलें बनवा रहे हैं ताकि वे कम खर्चे में अधिक कपास और दूसरे कच्चे माल अपने उद्योग धंधों के लिए निकाल सकें। लेकिन एक बार यदि आप किसी देश के संचार साधनों में मशीनों का इस्तेमाल शुरू कर देते हैं और यदि उस देश में कोयला और लोहा भी उपलब्ध हैं तो फिर आप उस देश को मशीनों का निर्माण करने से नहीं रोक सकते। यह संभव नहीं है कि आप किसी विशाल देश में रेलों का जाल बिछाएं और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को वहां न शुरू होने दें जो रेल यातायात की तात्कालिक और दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक होती हैं, इसका नतीजा यह निश्चित रूप से होगा कि उद्योग की जिन शाखाओं का रेल से कोई सीधा संबंध नहीं है उनमें भी मशीनों का इस्तेमाल होने लगे। इसलिए रेल व्यवस्था से हिंदुस्तान में आधुनिक उद्योगधंधों की शुरुआत हो गई है···रेल व्यवस्था से उत्पन्न ये उद्योगधंधे कई पुश्तों से चले आ रहे उस श्रम विभाजन को भंग कर देंगे जिस पर भारत की वर्णव्यवस्था टिकी हुई है जो भारत की प्रगति और उसकी ताकत के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट है। (मार्क्स : 'दि फ्यूचर रिजल्ट्स आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया')

क्या इसका अर्थ यह है कि मार्क्स ने साम्राज्यवाद को भारत में एक प्रगतिशील शक्ति का दर्जा दिया जिसमें भारतीय जनता को आजाद करने और उसे सामाजिक प्रगति के रास्ते पर ले जाने की क्षमता थी ? नहीं, मार्क्स की धारणा इसके एकदम विपरीत थी। जब मार्क्स ने भारत में अंगरेजों के पूंजीवादी शासन की 'पुनर्जीवन देने वाली' भूमिका की चर्चा की थी तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह भी बता दिया था कि वह साम्राज्यवाद की महज इस भूमिका का उल्लेख कर रहे हैं कि उसने नई प्रगति के लिए भौतिक परिस्थितियां तैयार कर दी हैं लेकिन यह नई प्रगति स्वयं भारतीय जनता ही कर सकती थी और वह भी इस शर्त पर कि या तो वह स्वयं मुक्ति प्राप्त करे या ब्रिटेन में औद्योगिक मजदूर वर्ग की विजय के फलस्वरूप, जो भारतीय जनता को भी आजाद करेगी, वह साम्राज्यवादी शासन से मुक्त हो। जब तक ऐसा नहीं होता भारत में साम्राज्यवाद द्वारा लाई गई सभी भौतिक उपलब्धियां भारतीय जनता की स्थितियों के लिए न तो कोई फायदा पहुंचाएगी और न उनमें कोई विकास होगा।

> संभव है कि इंग्लैंड का संपूर्ण पूंजीपति वर्ग, यह करने पर मजबूर हो जाए लेकिन वह आम जनता की सामाजिक स्थिति में भौतिक दृष्टि से न तो कोई सुधार करेगा और न आम जनता को मुक्ति ही दिलाएगा। यह बात केवल उत्पादक शक्ति के विकास पर ही नहीं बल्कि जनता द्वारा उनके विनियोग पर

भी निर्भर है। यह पूंजीपति वर्ग दोनों के लिए भौतिक परिसर निर्धारित करने में विफल नहीं होगा, यह मानी हुई बात है। क्या पूंजीपति वर्ग ने इससे ज्यादा कभी कुछ किया है ? क्या उसने अलग अलग व्यक्तियों और जनता को रक्तपात और गंदगी, दुख और अपमान के बीच घसीटे बगैर कभी किसी प्रगति को प्रभावित किया है ?

अंगरेज पूंजीपति वर्ग ने हिंदुस्तानियों के बीच समाज के जिन नए तत्वों के बीज बिखेरे हैं हिंदुस्तान की जनता उनके फल तब तक नहीं चख सकेगी जब तक या तो स्वयं ब्रिटेन में वर्तमान शासक वर्ग को हटाकर औद्योगिक मजदूर वर्ग (सर्वहारा) सत्ता न संभाल ले या हिंदुस्तानी खुद इतने शक्तिशाली न हो जाएं कि अंगरेजों की गुलामी के जुए को एकदम उतार फेंकें।

(वही)

इसके साथ भारतीय क्रांति की संभावना के संदर्भ में और उपनिवेशों की गुलाम जनता की मुक्ति की आवश्यकता के संदर्भ में 1882 में एंगेल्स के वक्तव्य की तुलना की जा सकती है :

भारत शायद, और जिसकी वस्तुत: काफी संभावना है, क्रांति संपन्न करेगा और चूंकि अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील सर्वहारा किसी औपनिवेशिक युद्ध का संचालन नहीं कर सकता इसलिए इसकी पूरी संभावना रखने की आवश्यकता है। बेशक इसे बेशुमार विध्वंसों के बीच से गुजरना होगा लेकिन सभी क्रांतियों के साथ इस तरह की बातें अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हैं। क्रांति की घटना अन्य स्थानों में मसलन अल्जीरिया और मिस्र में भी हो सकती है। और हमारे लिए निश्चित रूप से यह सर्वोत्तम चीज होगी।
(काउत्सकी के नाम एंगल्स का पत्र, 12 सितंबर 1882)

यह ध्यान देने की बात है कि 19वीं सदी के मध्य तक भारतीय स्थिति का मार्क्स द्वारा किया गया विश्लेषण तीन मुख्य बातों पर आधारित है। इनमें पहली बात है भारत में अंगरेजों की विनाशकारी भूमिका, पुराने समाज को नेस्तनाबूद करना; दूसरे, पूंजीवाद के मुक्त व्यापारवाले युग में भारत में ब्रिटिश शासनकाल की पुनर्जीवन देने वाली भूमिका, भविष्य के नए समाज के लिए भौतिक परिसरों का निर्धारण किया जाना; तीसरे, राजनीतिक रूपांतरण की आवश्यकता को व्यावहारिक निष्कर्ष के रूप में मान लिया जाना जिससे एक नए समाज की स्थापना के लिए भारतीय जनता साम्राज्यवादी शासन से अपने को मुक्त कर ले।

समूचे विश्व में पूंजीवाद की ही तरह आज भारत में साम्राज्यवाद अपनी वस्तुगत प्रगति-

शील या पुनर्जीवन देने वाली भूमिका को; जो पूंजीवाद के स्वतंत्र व्यापार वाले युग के अनुरूप था, काफी पहले निभा चुका है और अब जबरदस्त प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में भारत में इसका स्थान है। यह भारतीय प्रतिक्रियावाद के अन्य रूपों को सहारा दे रहा है। इस प्रकार वह दिन अब आ गया है जब मार्क्स द्वारा निर्देशित राजनीतिक रूपांतरण के कार्य को ही अपना प्रमुख कार्य बना लिया जाए।

5

भारत में ब्रिटिश शासन का पुराना आधार

'उस हिंसा और लूट की कोई सीमा नहीं है जिसे भारत में ब्रिटिश शासन के नाम से जाना जाता है।—लेनिन : 'इन्फलेमेबल मैटीरियल इन वर्ल्ड पालिटिक्स,' 1908

भारत के बारे में मार्क्स को लिखे 90 वर्ष से अधिक समय गुजर चुका है। इस दौरान काफी व्यापक परिवर्तन हुए हैं। इसके बावजूद मार्क्स के ऐतिहासिक विश्लेषण का मुख्य सारांश आज की स्थितियों पर भी लागू होता है और तबसे आज तक की घटनाओं के अनुभव ने भारत के भविष्य के बारे में मार्क्स के दृष्टिकोण की (19वीं सदी में भारत के बारे में जितने लोगों ने लिखा उनमें मार्क्स का विश्लेषण अतुलनीय है) पुष्टि तो की ही है साथ ही उनके द्वारा निर्धारित राजनीतिक निष्कर्षों की पुष्टि की प्रक्रिया भी आज देखी जा सकती है।

आज हम मार्क्स के विश्लेषण को आगे बढ़ा सकते हैं और उसे भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा भारतीय जनता की शक्तियों, दोनों के विकास के समूचे युग पर लागू कर सकते हैं।

भारत में साम्राज्यवादी शासन के इस इतिहास में तीन मुख्य युग सामने आते हैं। पहला युग व्यापारिक पूंजी का युग है जिसका प्रतिनिधित्व ईस्ट इंडिया कंपनी ने किया। इस व्यवस्था का साधारण स्वरूप 18वीं सदी के अंत तक चला। दूसरा युग औद्योगिक पूंजी का युग है जिसने 19वीं सदी में भारत के शोषण का एक नया आधार कायम किया। तीसरा युग महाजनी पूंजी का आधुनिक युग है जिसने पुराने अवशेषों पर भारत के शोषण

की अपने ढंग की खास प्रणाली विकसित की और जो सबसे पहले 19वीं सदी के अंतिम वर्षों में शुरू हुई और इधर हाल के वर्षों में पूरी तरह विकसित हुई।

मार्क्स ने भारत के संदर्भ में शुरू के दो युगों, व्यापारिक पूंजी और औद्योगिक पूंजी के युग, का विश्लेषण किया। हमें अब इस विश्लेषण को महाजनी पूंजी के आधुनिक युग और भारत में इसकी नीति तक ले जाना है।

इसलिए हम शुरू की दो अवस्थाओं पर सरसरी तौर पर विचार कर सकते हैं; ये दोनों अवस्थाएं वर्तमान प्रणाली के लिए आधार कायम करने तथा वर्तमान अवस्था तक के घटनाक्रमों को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके बाद ही हम आज के युग की घटनाओं पर मुख्य रूप से अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

1. भारत की लूट

आमतौर से ईस्ट इंडिया कंपनी का युग 1600 ई० से, जब उसे पहला चार्टर (सरकारी अधिकारपत्र) मिला था, 1858 ई० तक, जब वह अंतिम रूप से सम्राट के अधीन चला गया, माना जाता है। दरअसल, भारत पर इसके प्रभुत्व का मुख्य काल 18वीं सदी का उत्तरार्ध था।

हालांकि प्रारंभिक तिजारती गोदामों की स्थापना 17वीं शताब्दी में ही हो गई थी (1612 में सूरत में; 1639 में फोर्ट सेंट जार्ज, मद्रास में; बंबई ने 1669 से और फोर्ट विलियम, कलकत्ता ने 1696 में कंपनी को पट्टा दिया) फिर भी नई ईस्ट इंडिया कंपनी को, जिसने बाद में भारत पर विजय हासिल की, पहला अधिकारपत्र 1698 ई० में मिला और वह 1708 तक अपना संगठित रूप नहीं बना सकी। इस प्रकार भारत पर विजय हासिल करने वाली ईस्ट इंडिया कंपनी उस कुलीनतंत्र की एक अद्भुत रचना थी जिसने ह्विग क्रांति के जरिए इंग्लैंड पर अपनी जकड़ मजबूत कर ली थी।

18वीं सदी के मध्य से इस कंपनी ने भारत में अपनी प्रादेशिक सत्ता कायम करनी शुरू की। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद 18वीं सदी में आंतरिक संघर्षों से भारत तबाह हो गया था और वहां आंतरिक विभ्रम का दौर चल रहा था (कुछ मामलों में इसकी तुलना इंग्लैंड में वार्स आफ रोजेज (गुलाबों के युद्धों) या जर्मनी के 20 वर्षीय युद्ध से की जा सकती है) यह स्थिति पुरानी व्यवस्था के विघटन और विकास की सामान्य प्रक्रिया में प्रगामी व्यापार, जहाजरानी तथा भारतीय समाज में उत्पादन हितों के आधार पर पूंजीपति वर्ग की सत्ता के उदय के लिए आवश्यक थी। फिर भी, इस नाजुक अवधि के दौरान, अपने उत्तम तकनीकी और सैनिक उपकरणों तथा सामाजिक आर्थिक संबद्धता के साथ यूरोप के और भी अधिक विकसित पूंजीपति वर्ग ने जो धावा बोला उससे विकास की यह सामान्य प्रक्रिया विफल हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि पुरानी व्यवस्था के

विघटन के समय भारत में आकस्मिक रूप से पूंजीपति वर्ग का जो शासन कायम हुआ, वह पुरानी व्यवस्था की खोल के अंदर तैयार हो रहे भारतीय पूंजीपति वर्ग का नहीं बल्कि विदेशी पूंजीपति वर्ग का शासन था। इसने पुराने समाज पर खुद को जबरदस्ती आरोपित कर दिया और भारत के उभरते पूंजीपति वर्ग को भ्रूणावस्था में ही नष्ट कर दिया। भारत के विकास के त्रासदी यही है जिसने बाद में विदेशी पूंजीपति वर्ग के लाभ के लिए निष्फल या विकृत सामाजिक विकास का रूप ले लिया।

18वीं सदी के भारत की खास बात विभ्रम और संक्रमण के इस नाजुक युग ने ही विदेशी हमलावरों को अपने प्रभुत्व क्षेत्र कायम करने के लिए संघर्ष और षड़यंत्र का अवसर दिया। एक दूसरे के खिलाफ छिड़े इस युद्ध में, पूंजीपतियों की सर्वाधिक विकसित शक्ति के प्रतिनिधि ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग को, सफलता मिली। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में बंगाल की विजय के साथ भारत में प्रादेशिक सत्ता स्थापित की गई हालांकि यह शुरू शुरू में नाममात्र के लिए पुराने रूपों के तहत थी। 19वीं सदी की शुरुआत होते होते भारत में सर्वोच्च सत्ता के रूप में इसका मजबूती से प्रसार हो गया।

1858 तक कंपनी विधिवत कार्य संभालती रही। फिर भी, नए विजित क्षेत्रों के शासक के रूप में ब्रिटिश राज्य की प्रभुसत्ता लार्ड नार्थ के 1773 के रेगुलेटिंग ऐक्ट और 1784 के पिट्स ऐक्ट के बाद से ही स्थापित हो चुकी थी। इन दोनों अधिनियमों ने क्रमश: गवर्नर जनरल, उनकी कौंसिल एवं एक सर्वोच्च न्यायालय तथा भारतीय मामलों के विदेश मंत्री और लंदन में बोर्ड आफ कंट्रोल की स्थापना की। 1813 में कंपनी की इजारेदारी की समाप्ति के साथ ही (सिवाय चीन व्यापार के जो 1833 में समाप्त हुआ) इसकी विशिष्ट आर्थिक भूमिका भी समाप्त हो गई। इसकी दोहरी प्रणाली का आडंबर 19वीं सदी के पूर्वार्ध के दौरान तब तक चलता रहा जब तक 1857 के विद्रोह ने इसके दिवालिया और अविकसित स्वरूप का भंडाफोड़ नहीं कर दिया। इसके बाद के वर्ष में कंपनी को अंतिम रूप से भंग कर दिया गया।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रभुत्व और भारत में इसके विशेष शोषण का निर्णायक दौर आधुनिक पूंजीवाद की भ्रूणावस्था अर्थात 18वीं सदी का उत्तरार्ध था। उस शोषण का चरित्र औद्योगिक पूंजी द्वारा किए गए बाद के 19वीं सदी के शोषण के चरित्र से भिन्न है और इसके लिए अलग से विश्लेषण की जरूरत है।

भारत के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार का मूल उद्देश्य ठीक वही था जो व्यापारिक पूंजी की इजारेदारी कंपनियों का होता है अर्थात समुद्रपार के किसी देश के माल और उत्पादनों के व्यापार पर एकाधिकार कायम करके मुनाफा कमाना। इसका मुख्य लक्ष्य ब्रिटिश माल के लिए बाजार तलाश करना नहीं था बल्कि उसका प्रयत्न भारत और पूर्वी द्वीप समूह (ईस्ट इंडीज) के सामान (खासतौर से मसाले और सूती तथा रेशमी सामान)

की सप्लाई पर कब्जा करना था क्योंकि इंग्लैंड और यूरोप में इन चीजों की बड़ी मांग थी और हर बार पूरब के देशों की सफल यात्रा के बाद काफी लाभ कमाया जा सकता था।

फिर भी, कंपनी के सामने शुरू से ही एक समस्या थी। इन सामानों को व्यापार के जरिए भारत से प्राप्त करने के लिए यह जरूरी था कि बदले में भारत को कुछ दिया जाए। 17वीं सदी के प्रारंभ में विकास की जिस अवस्था तक इंग्लैंड पहुंच सका था उसमें भारत को देने के लिए कोई भी ऐसी चीज उसके पास नहीं थी जिसकी उत्तमता और तकनीकी स्तर के मामले में भारतीय सामान से तुलना की जा सके। उसके पास एक उद्योग विकसित अवस्था में था, ऊन उद्योग, लेकिन ऊनी सामान भारत के किसी काम का न था। इसलिए भारत में माल खरीदने के लिए अंगरेजों को बहुमूल्य धातुएं बाहर लानी पड़ती थीं :

> पूरब के साथ व्यापार करने में असली यह कठिनाई थी कि यूरोप के पास वे चीजें बहुत कम थीं जिसकी पूरब को जरूरत थी मसलन, दरबारों के लिए विलासिता का कुछ सामान, सीसा, तांबा, पारा और टीन, मूंगा और हाथी दांत।
> चांदी ही एक ऐसी चीज थी जो भारत ले सकता था। इसलिए माल खरीदने के लिए मुख्यतया चांदी ही निकालनी पड़ी। (एल० सी० ए० नावेल्स : 'इकोनामिक डेवलपमेंट आफ दि ओवरसीज इंपायर,' पृष्ठ 73)

इसलिए शुरू के दिनों में ईस्ट इंडिया कंपनी को वर्ष में 30,000 पौंड तक मूल्य के चांदी, सोना और विदेशी सिक्कों के निर्यात का विशेष अधिकार दिया गया। लेकिन व्यापारिक पूंजीवाद की समूची प्रणाली के लिए यह बहुत दुखद और असंगत बात थी क्योंकि उन दिनों इन बहुमूल्य धातुओं को ही देश की एकमात्र वास्तविक संपत्ति समझा जाता था और व्यापार का अनिवार्य उद्देश्य यह माना जाता था कि देश में बाहर से बहुमूल्य धातुएं आएं अर्थात वास्तविक संपत्ति में वृद्धि हो।

शुरू से ही ईस्ट इंडिया कंपनी के, 'साहसिक' सौदागर इस समस्या को हल करने का जोर शोर से प्रयास कर रहे थे और इस बात की कोशिश में लगे थे कि बिना कुछ पैसा दिए या बहुत कम राशि देकर भारत का माल ले लिया जाए। शुरू में उन्होंने जो तरीके निकाले उनमें से एक तरीका था घुमा फिराकर व्यापार करना। इसके अंतर्गत वे खासतौर से अफ्रीका और अमरीका के अपने उपनिवेशों से लूट खसोट के जरिए जो माल इकट्ठा करते थे उससे भारत में अपने रहने का खर्चा निकाल लेते थे क्योंकि अभी भारत में सीधे सीधे लूट खसोट करने की उनमें ताकत नहीं थी :

> भारत के साथ इंग्लैंड का व्यापार दरअसल यह खोज निकालने की दौड़ थी कि भारत को कौन सी चीज चाहिए और इस सिलसिले में वेस्ट इंडीज और स्पानी

अमरीका में गुलामों की बिक्री से प्राप्त चांदी अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। (नावेल्स : पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ 74)

लेकिन जल्दी ही, 18वीं सदी के मध्य तक, जैसे जैसे, भारत पर कंपनी का प्रभुत्व स्थापित होने लगा, विनिमय में अपना पलड़ा भारी रखने के लिए तथा कम से कम पैसे देकर अधिक से अधिक माल हड़पने के लिए कंपनी द्वारा बल प्रयोग के तरीके भी अधिक से अधिक इस्तेमाल किए जाने लगे। व्यापार और लूट के बीच की विभाजन रेखा, जो शुरू से ही बहुत साफ साफ कभी नहीं खींची गई थी (शुरू के इन 'साहसिक' सौदागरों ने बहुधा व्यापार और डकैती के बीच कोई भेद नहीं रखा), अब धुंधली पड़ने लगी थी। व्यक्तिगत उत्पादनकर्ताओं—चाहे वे बुनकर हों या किसान, की तुलना में कंपनी का सौदागर, हमेशा ऐसी अनुकूल स्थिति में होता था कि वह अपनी शर्तें उनपर थोप सके। वह अब इस लायक हो गया था कि विनिमय की समानता के सभी ढोंग छोड़कर ताकत के बल पर अपने पक्ष में सौदेबाजी कर सके। 1762 तक ऐसी हालत हो गई कि बंगाल के नवाब को बहुत निरीह बनकर कंपनी के एजेंटों की शिकायत कंपनी के सामने करनी पड़ी :

> वे रयोतों (किसानों), व्यापारियों आदि से जबरदस्ती एक चौथाई कीमत देकर उनके माल और उनके उत्पादन हड़प रहे हैं; और किसानों आदि को मारपीट कर तथा उनका दमन करके वे अपनी एक रुपये की चीज 5 रुपये में बेच रहे हैं। (अंगरेज गवर्नर के नाम बंगाल के नवाब का ज्ञापनपत्र, मई 1762)

इसी प्रकार एक अंगरेज सौदागर विलियम बोल्ट्स ने 1772 में प्रकाशित 'कंसिडरेशंस आन इंडियन अफेयर्स' में इस प्रक्रिया का निम्नलिखित वर्णन किया था :

> अंगरेज अपने बनियों और काले गुमाश्तों के जरिए मनमाने ढंग से यह तय कर देते हैं कि माल तैयार करने वाला हर निर्माता उन्हें कितना माल देगा और बदले में उसे कितनी कीमत मिलेगी…गरीब बुनकर की मंजूरी को आमतौर पर जरूरी नहीं समझा जाता है; जहां तक गुमाश्तों की बात है, कंपनी की लागत पर काम देते समय उनसे कंपनी की मर्जीवाली शर्तों पर दस्तखत करा लिया जाता है। यदि कोई बुनकर वह दाम लेने से इंकार कर देता था जो कंपनी देती थी तो उसके दोनों हाथ बांध दिए जाते थे और कोड़े लगाकर उन्हें भगा दिया जाता था…आमतौर से इस तरह के अनेक बुनकरों का नाम कंपनी के रजिस्टर में गुमाश्तों के रूप में दर्ज है, उन्हें गुलामों की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान भेजा जाता है और उन्हें किसी दूसरे के लिए काम करने की इजाजत नहीं दी जाती है। इस विभाग में जितना छल कपट होता था वह कल्पना से परे है; लेकिन गरीब बुनकरों के साथ जितनी ठगी की जाती है उसके सामने यह

सारा छल कपट फीका पड़ जाता है। कंपनी के गुमाश्तों और उनकी साजिश का साथ देने वाले जांचनदारों (कपड़े की जांच करने वाले) द्वारा जो दाम तय किया जाता है वह बाजारों या खुली दर पर बिकने वाले इसी तरह के कपड़ों की तुलना में 15 प्रतिशत और कहीं कहीं तो 40 प्रतिशत कम होता है। (विलियम बोल्ट्स : 'कंसिडरेशंस आन इंडियन अफेयर्स,' 1772, पृष्ठ 191-94)

इस प्रकार 'व्यापार' के नाम पर व्यापार कम और लूट ज्यादा थी।

लेकिन जब 1765 में कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी या नागरिक प्रशासन मिलने के साथ ही मालगुजारी वसूलने का काम मिल गया, तब 'व्यापार' के मुनाफे के अलावा सीधी लूट का एक ऐसा रास्ता खुल गया जिसका कोई ओर छोर नहीं था। इसके बाद व्यापक पैमाने पर पूरी बेशर्मी के साथ जो लूटपाट शुरू हुई उसने 18वीं सदी के उत्तरार्ध में कंपनी प्रशासन को इतिहास का एक अर्थहीन शब्द बना दिया। हाउस आफ कामन्स के 1784 के प्रस्ताव के अनुसार :

> संसदीय जांच के नतीजों से पता चला कि ईस्ट इंडिया कंपनी अपने उद्देश्यों में, चाहे वे राजनीतिक हों या व्यापारिक, पूरी तरह भ्रष्ट और विकृत पाई गई; उसने हर क्षेत्र में तीव्रतर विरोध बढ़ाते हुए, लूटमार के मकसद की पूर्ति के लिए राजकीय अधिकार पत्र द्वारा प्रदत्त युद्ध और शांति के अधिकारों का, दुरुपयोग किया है। शांति संबंधी लगभग सभी संधियों के जरिए उन्होंने जनता के विश्वास को अनेक बार आघात ही पहुंचाया है। जो देश एक समय अपार समृद्ध थे उन्हें इस कंपनी ने असमर्थता, अपकर्ष और जनशून्यता की स्थिति में पहुंचा दिया।

इसके साथ ही अपनी भूमिका के बारे में कंपनी की खुद की राय भी देखी जा सकती है जो उसने 1858 में संसद में प्रस्तुत याचिका में व्यक्त की थी (इसे जान स्टुअर्ट मिल नामक पाखंडी परोपदेशक ने लिखा था) :

> जिस सरकार के वे एक हिस्सा हैं, वह अपने इरादों में पवित्रतम ही नहीं हैं बल्कि उसने परोपकारिता के जो काम किए हैं वह मानव जाति के लिए अब तक किए गए कार्यों में बेमिसाल हैं।

इस दावे के विपरीत सर जार्ज कार्नवल लीविस ने 1858 में संसद में एलान किया :

> मैं पूरे विश्वास के साथ कहता हूं कि इस धरती पर आज तक कोई भी सभ्य सरकार इतनी भ्रष्ट, इतनी विश्वासघाती और इतनी लुटेरी नहीं पाई

गई जितनी 1765 से 1784 तक की ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार थी।
(हाउस आफ कामन्स में सर जार्ज कार्नवल लीविस का बयान, 12 फरवरी 1858)

क्लाइव ने 1772 में संसद में अपने भाषण के दौरान ईस्ट इंडिया कंपनी के बारे में (उसके कर्मचारियों के बारे में ही नहीं जिन्होंने कंपनी की लूट के अलावा खुद भी निजी तौर पर लूटपाट में हिस्सा लिया था) अपने विचार व्यक्त किए जिसमें उन्होंने कहा था :

कंपनी ने एक ऐसा साम्राज्य कायम कर लिया है जो फ्रांस और रूस को छोड़कर यूरोप के किसी भी साम्राज्य से ज्यादा विस्तृत है। उसने 40 लाख स्टर्लिंग की मालगुजारी अर्जित की है और इसीके अनुपात में व्यापार किया है। यह मानना स्वाभाविक है कि इस तरह का उद्देश्य, प्रशासन का सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट करने के योग्य है···क्या उन्होंने इसपर विचार किया ? नहीं, उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने उसे कोई ठोस और वास्तविक समझने के बजाय दक्षिणी सागर के बुलबुले की तरह समझा। उन्होंने भविष्य की कोई चिंता न कर वर्तमान के अलावा किसी चीज पर ध्यान नहीं दिया : उन्होंने कहा : आज जो मिल रहा है वह ले लें—कल की देखी जाएगी। उन्होंने रोटियों और मछलियों के तात्कालिक बंटवारे के अलावा और किसी चीज के बारे में नहीं सोचा। (हाउस हाफ कामन्स में क्लाइव का भाषण, 30 मार्च, 1772)

बंगाल तथा अन्य विजित क्षेत्रों में नागरिक सत्ता स्थापित करने के बाद, ईस्ट इंडिया कंपनी ने जो व्यवस्था कायम की उसका क्या स्वरूप था ? 1765 में क्लाइव ने कंपनी के डायरेक्टरों के नाम एक खत लिखकर बड़े सहज और स्पष्ट रूप में बताया है कि प्रशासन अपने हाथ में लेने के लिए कंपनी के पास एकमात्र योग्यता यह होनी चाहिए कि वह मुनाफे के रूप में एक निश्चित राशि इंग्लैंड भेजे। क्लाइव ने हिसाब करके यह राशि बता भी दी थी। इन बातों से साफ पता चलता है कि बाद के वर्षों में लोकोपकार का जो धोखा खड़ा किया गया था वह कितना परस्पर विरोधी था :

जहां तक मैं समझता हूं, इस अधिग्रहण और बर्दवान आदि पर पहले से चले आ रहे आपके कब्जे के द्वारा आगामी वर्षों में मिलने वाला राजस्व 250 लाख सिक्का रुपयों से कम नहीं होगा। भविष्य में इस राशि में कम से कम 20 से 30 लाख की वृद्धि होगी। शांति के दिनों में सनिक और असैनिक व्यय 60 लाख रुपये से अधिक नहीं हो सकता; नवाब के भत्ते पहले ही कम करके 42 लाख रुपये और राजा (मुगल सम्राट) के नजराने 26 लाख रुपये कर दिए गए हैं। इस प्रकार कंपनी को 122 लाख सिक्का रुपये या 1,650,900 पौंड स्टर्लिंग का विशुद्ध लाभ बच रहेगा। (ईस्ट इंडिया कंपनी के डायरेक्टरों के नाम क्लाइव का पत्र, 30 सितंबर 1765)

क्लाइव का यह पत्र इतना सीधा सीधा और व्यापारिक किस्म का है मानो किसी व्यापारी का बहीखाता हो। जनता से कर के रूप में जितना धन वसूला जाता है, उसका एक चौथाई हिस्सा सरकार के कामकाज के लिए पर्याप्त समझा जाता है; एक चौथाई हिस्सा स्थानीय राजाओं (नवाब और मुगल शासक) के दावों की पूर्ति के लिए आवश्यक होता है; राजस्व का शेष आधा हिस्सा, जो अनुमानतः 15 लाख पौंड है, 'विशुद्ध लाभ' है। बाटमले का 'व्यवसायी की सरकार' का सपना जितनी पूर्णता के साथ यहां साकार हुआ वह अभूतपूर्व है।

1773 में पार्लियामेंट में एक रिपोर्ट पेश की गई। इसमें, कंपनी के प्रशासन के प्रथम छः वर्षों के दौरान बंगाल के संदर्भ में आय और व्यय का विवरण दिया गया है जिससे पता चलता है कि ये नतीजे निर्धारित उद्देश्यों के कितने अनुरूप थे। इसमें प्राप्त कुल राजस्व 13,066,761 पौंड और कुल व्यय 9,027,609 पौंड दिखाया गया है जिससे 4,037,152 पौंड के विशुद्ध लाभ का पता है। इस प्रकार बंगाल में राजस्व से हुई आय लगभग एक तिहाई भाग 'शुद्ध लाभ' के रूप में देश से बाहर भेजा गया।

लेकिन कुछ नजराना इतना ही नहीं था। कंपनी के अफसरों ने व्यक्तिगत तौर पर बेशुमार दौलत कमाई। स्वयं क्लाइव जब भारत आया था तो उसके पास कुछ भी नहीं था लेकिन यहां से लौटने के समय तक उसके पास तकरीबन ढाई लाख पौंड तो थे ही साथ ही वह एक जागीर भी बना गया था जिससे उसे 27,000 पौंड प्रति वर्ष की आमदनी होती थी। उसने स्वयं यह बताया था कि 'दो वर्षों में 100,000 पौंड कमाए गए हैं।' कुल मुनाफे का काफी हद तक सही अनुमान निर्यात और आयात के आंकड़ों से लगाया जा सकता है। गवर्नर वेरेल्स्ट की रिपोर्ट के अनुसार 1766 से 1768 यानी तीन वर्षों के दौरान 6,311,250 पौंड का निर्यात किया गया जबकि आयात केवल 624,375 पौंड का किया गया। इस प्रकार देश का शासन संभालने वाली, नई तरह की इस व्यापारिक कंपनी ने जितना माल देश के अंदर मंगाया उसका दस गुना देश से बाहर भेजा।

इस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी के सौदागरों का सबसे प्यारा सपना पूरा हो गया। यह सपना था, भारत को कुछ दिए बगैर यहां की संपत्ति लूट ले जाना। क्लाइव की कौंसिल का एक सदस्य एल० स्क्रैफ्टन 1763 में ही यह देखकर फूला नहीं समाया था कि प्लासी के युद्ध के बाद लूटपाट की प्रारंभिक अवस्थाओं के बाद, तीन वर्षों तक 'एक भी औंस सोना चांदी भेजे बगैर' समूचे भारत का व्यापार चलाना संभव हो गया था :

> इन शानदार सफलताओं से देश को लगभग 30 लाख की धनराशि मिली है; क्योंकि यदि ठीक ढंग से कहा जाए तो सूबा से प्राप्त होने वाली लगभग संपूर्ण राशि अंततः इंग्लैंड ही पहुंचती है। अपने शेयर के जरिए या कलकत्ता के अपने खजाने में हुंडियों और रसीदों के भुगतान के जरिए कंपनी के हाथों में इतनी बडी

संपत्ति आ गई कि वह एक औंस भी सोना चांदी बाहर भेजे बगैर लगातार तीन वर्षों तक संपूर्ण भारत का (चीनी को छोड़कर) व्यापार चलाती रही। विदेशी कंपनियों के जरिए भी काफी बड़ी राशि बाहर भेजी गई। वे इस तरह के बाहरी देशों के साथ व्यापार संतुलन में हमारा पलड़ा भारी कर देती हैं। (एल० स्क्रैफ्टन : 'रिफ्लेकशंस आन दि गवर्नमेंट आफ इंदोस्तान,' 1763)

बंगाल से हुई आमदनी के जिस हिस्से को इंग्लैंड भेजा गया उसके लिए जिस विकृत शब्दावली का इस्तेमाल किया गया वह बहुत सोच-विचार के बाद तय की गई थी, उसे कंपनी की 'लागत पूंजी' कहा गया। इस प्रणाली के बारे में हाउस आफ कामन्स की प्रवर समिति ने 1783 में कहा :

बंगाल से हुई आय के एक निश्चित भाग को कई वर्षों सें इंग्लैंड निर्यात किए जाने वाले सामानों की खरीद से अलग रखा जाता है और इसे लागत पूंजी कहा जाता है। बहुधा इस राशि की विपुलता के आधार पर ही कंपनी के मुख्य कर्मचारियों की योग्यता का अनुमान लगाया जाता है; और भारत की इस असहायता के मुख्य कारण को सामान्यतौर पर उसकी संपदा और समृद्धि का पैमाना माना जाता है—लेकिन उस देश के साथ लाभप्रद व्यापार के कारण नहीं बल्कि नजराने के भुगतान के कारण ही उसका ऊपर से दिखाई देने वाला रमणीय और मोहक रूप बना रहा है—

बंगाल और इंग्लैंड के बीच परस्पर व्यवहार (क्योंकि यह व्यापार नहीं है) का लेखा-जोखा करने पर राजस्व से प्राप्त आय से पूंजी निवेश की प्रणाली के घातक प्रभाव बेहद स्पष्टता के साथ दिखाई देते हैं। उस दृष्टि से देखें तो, जहां तक कंपनी का सवाल है, देश से जितना भी सामान बाहर भेजा जाता था वह किसी ऐसी प्रणाली पर आधारित नहीं था जिसके अंतर्गत निर्यातित सामान के बदले कोई सामान भारत भी पहुंचाया जाए। इन सामानों के बदले में कोई भुगतान भी नहीं किया जाता था। ('हाउस आफ कामन्स की प्रवर समिति की नवीं रिपोर्ट,' 1783, पृष्ठ 54–55)

बंगाल के लोगों पर इस व्यवस्था का क्या असर हुआ इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है। लूट से होने वाली आय को दिनोदिन तेजी के साथ बढ़ाने की मांग की जाती थी जिसके परिणामस्वरूप भूमि से प्राप्त होने वाले राजस्व या मालगुजारी में भीषण वृद्धि की गई और इसकी वसूली के रूप में किसानों के पास से बीज के लिए रखे गए अनाज तथा उनके बैल छीन लिए जाते थे। 1764–65 में बंगाल के अंतिम भारतीय शासक के शासनकाल के अंतिम वर्ष में 817,000 पौंड की मालगुजारी वसूल की गई। कंपनी प्रशासन के प्रथम वर्ष, 1765-66 में बंगाल से प्राप्त मालगुजारी 1,470,000 थी। 1771-72

तक यह राशि बढ़कर 2,341,000 पौंड और 1775-76 तक 2,818,000 पौंड हो गई। 1793 में जब लार्ड कार्नवालिस ने इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किया तो उन्होंने यह राशि 3,400,000 पौंड निर्धारित कर दी।

उस समय के सभी प्रेक्षकों का यही कहना है कि इस प्रक्रिया से कुछ ही वर्षों के अंदर देश तबाह और बरबाद हो गया, इसके परिणामस्वरूप जो अकाल पड़ा उसमें आबादी का एक तिहाई हिस्सा खत्म हो गया और देश का एक तिहाई भाग 'केवल जंगली जानवरों से भरे जंगल' के रूप में बदल गया।

1769 में मुर्शिदाबाद में कंपनी के रेजिडेंट बेचेर ने कंपनी को यह रिपोर्ट दी थी :

> किसी भी अंगरेज के लिए यह सोच पाना बड़ा कठिन होगा कि कंपनी को दीवानी मिलने के बाद से इस देश की जनता की हालत बदतर हो गई और इस सच्चाई में संदेह नहीं किया जा सकता—यह खूबसूरत देश जो अत्यंत निरंकुश और तानाशाह शासन व्यवस्था के अधीन भी फलता-फूलता रहा था, अब विनाश के कगार पर खड़ा है जबकि आज प्रशासन में अंगरेजों का सचमुच काफी बड़ा हिस्सा है—
>
> मुझे वे दिन अच्छी तरह याद हैं जब इस देश में व्यापार पर कोई रोक-टोक नहीं थी और यह देश निरंतर फल-फूल रहा था। लेकिन आज मैं इसकी वर्तमान तबाह हालत को चिंता के साथ देख रहा हूं। मुझे पक्का यकीन है कि इस तबाही का कारण मुख्यतया वह इजारेदारी है जो कंपनी के नाम पर देश के लगभग सभी उत्पादकों ने बाद के वर्षों में कायम कर ली।

इस 'तबाह हालत' के बाद 1770 में बंगाल में ऐसा अकाल पड़ा जिसे कंपनी की सरकारी रिपोर्ट में 'वर्णनातीत' कहा गया। किसी जमाने में पूर्णिया का सूबा धन-धान्य से परिपूर्ण था पर उसकी एक तिहाई से अधिक आबादी इस अकाल में समाप्त हो गई है। अन्य हिस्सों में भी बरबादी का यही आलम है। इस अकाल में अनुमानतः एक करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु हुई। फिर भी अकाल के दौरान मालगुजारी न केवल कड़ाई और निर्दयता के साथ वसूली गई बल्कि वह और बढ़ा दी गई। 12 फरवरी 1771 को कंपनी की कलकत्ता कौंसिल ने अपनी रिपोर्ट में कहा : 'इस अकाल की भयंकरता और अकाल के फलस्वरूप लोगों की संख्या में भारी कमी के बावजूद मौजूदा साल के लिए बंगाल और बिहार सूबों के भुगतान में कुछ वृद्धि की गई है।' यह किस प्रकार संपन्न किया गया इसके बारे में वारेन हेस्टिंग्ज की 1772 की कड़ी टिप्पणी देखी जा सकती है :

> इस सूबे की कम से कम एक तिहाई आबादी के खत्म हो जाने तथा इसके

> फलस्वरूप खेती में कमी आ जाने के बावजूद 1771 में जितनी मालगुजारी वसूली गई वह 1768 से भी ज्यादा थी ··· स्वभावतया यह आशा की जाती थी कि इस महाविपत्ति के जैसे दुष्परिणाम हुए हैं, उसे देखते हुए मालगुजारी भी कम हो जाएगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ क्योंकि मालगुजारी का पुराना स्तर कड़ाई के साथ कायम रखा गया। (वारेन हेस्टिंग्ज : रिपोर्ट टु दि कोर्ट आफ डायरेक्टर्स, 3 नवंबर 1772)

पंद्रह वर्षों बाद संसद सदस्य विलियम फुल्लर्टन ने अपने विवरण में कंपनी प्रशासन के 20 वर्षों बाद बंगाल के रूपांतरण का चित्र प्रस्तुत किया :

> बीते दिनों में बंगाल के गांव विभिन्न जातियों के लोगों से भरे-पूरे थे और पूर्व में वाणिज्य, धन संपदा तथा उद्योग के भंडार थे···
>
> लेकिन हमारे कुशासन ने 20 वर्षों की अल्पावधि में ही इन गांवों के अनेक हिस्सों को बंजर का रूप दे दिया। खेतों में अब खेती नहीं की जाती, बड़े बड़े इलाकों में झाड़ियां उगी पड़ी हैं, किसान लुट चुके हैं, औद्योगिक निर्माताओं का दमन किया जा चुका है; बार बार अकाल पड़े हैं; और फलस्वरूप जनसंख्या का ह्रास हुआ है। (विलियम फुल्लर्टन, संसद सदस्य : ए व्यू आफ दि इंगलिश इंटरेस्ट्स इन इंडिया, 1787)

बर्क ने अपनी अलंकारपूर्ण भाषा में भर्त्सना करते हुए कहा कि 'यदि आज हमें भारत छोड़कर भागना पड़े तो हमारे शासनकाल के शर्मनाक वर्षों की कहानी कहने के लिए जो चीजें बच रहेंगी उनसे यही पता चलेगा कि यहां का शासन किसी भी अर्थ में औरांग उटांग या चीते के शासन से बेहतर नहीं था।'

1789 में इस कथन की गूंज उस समय फिर सुनाई पड़ी जब तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस ने यह रिपोर्ट दी :

> मैं दावे के साथ यह कह सकता हूं कि हिंदुस्तान में कंपनी शासित क्षेत्र का एक तिहाई इलाका अब जंगल बन गया है जहां केवल जंगली जानवर बसते हैं। (लार्ड कार्नवालिस, 18 सितंबर, 1789 का कार्यवृत्त)

2. भारत और औद्योगिक क्रांति

18वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की लूट से जो कुछ हासिल हुआ उसी के आधार पर आधुनिक इंग्लैंड का निर्माण हुआ।

18वीं सदी के मध्य तक इंग्लैंड अभी मुख्यतया कृषिप्रधान देश ही था। 1750 ई० तक में उत्तरी क्षेत्रों में कुल आबादी का एक तिहाई हिस्सा रहता था, ग्लासेस्टरशायर की आबादी लंकाशायर की तुलना में ज्यादा घनी थी (ए० टायनबी, 'दि इंडस्ट्रियल रेवोल्यूशन;' पृष्ठ 9-10)। उन दिनों ऊनी उद्योग मुख्य उद्योग था; बेन के 'हिस्ट्री आफ दि काटन मैन्युफैक्चर' (पृष्ठ 11-,, के अनुसार ऊनी माल का निर्यात कुल निर्यात का एक तिहाई या एक चौथाई था। अपनी पुस्तक में बेन ने लिखा है कि '1760 ई० तक सूती कपड़े बनाने के लिए जो मशीनें इस्तेमाल की जाती थीं, वे लगभग उतनी ही साधारण थीं जितनी भारत में इस्तेमाल की जाने वाली मशीनें।' (पृष्ठ 115)

सामाजिक दृष्टि से, जहां तक वर्गों के विभाजन, सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति और पूंजीपति वर्ग के सुदृढ़ शासन का संबंध है, औद्योगिक पूंजीवाद की दिशा में प्रगति के लिए जमीन तैयार हो चुकी थी। उसका व्यापारिक आधार तैयार हो गया था। लेकिन औद्योगिक पूंजीवाद की अवस्था तक पहुंचने के लिए यह आवश्यक था कि 18वीं सदी के मध्य तक के इंग्लैंड में संचित पूंजी की तुलना में और भी बड़े पैमाने पर पूंजी इकट्ठी हो जाए।

फिर 1757 में पलासी का युद्ध छिड़ गया और भारत की संपदा अविकल रूप से इंग्लैंड पहुंचने लगी।

इसके तत्काल बाद, एक के बाद एक अनेक बड़े आविष्कार हुए जिनसे औद्योगिक क्रांति की शुरुआत हुई। 1764 में हारग्रीव्ज ने कताई की मशीन (स्पिनिंग-जेनी) का आविष्कार किया; 1765 में जेम्स वाट ने भाप से चलने वाला इंजन बनाया और 1969 में इस इंजन को पेटेंट कराया; 1769 में आर्कराइट ने वाटर फ्रेम तैयार किया और 1775 में उसने रुई की धुनाई, खिंचाई और कताई की मशीनों को पेटेंट कराया; 1779 में क्रांपटन का म्यूल तैयार हुआ और 1785 में कार्टराइट ने पावरलूम का आविष्कार किया। 1788 में लोहा गलाने की भट्ठियों में भाप के इंजन का इस्तेमाल किया गया।

इन वर्षों में हुए तमाम आविष्कारों से पता चलता है कि इन मशीनों के इस्तेमाल के लिए सामाजिक परिस्थितियां तैयार हो चुकी थीं। पहले के आविष्कारों का लाभप्रद ढंग से इस्तेमाल नहीं हुआ था : '1733 में के ने अपनी 'फ्लाई शटल' मशीन को पेटेंट कराया और 1738 में व्याट ने जल शक्ति से चलने वाली रोलर स्पिनिंग मशीन को पेटेंट कराया; लेकिन ऐसा लगता है कि इन आविष्कारों में से कोई भी काम में नहीं लाया गया।' (जी० एच० पेरीज, 'दि इंडस्ट्रियल हिस्ट्री आफ माडर्न इंग्लैंड,' पृष्ठ 16)

इंग्लैंड के औद्योगिक इतिहास के आधिकारिक विद्वान डा० कनिंघम ने अपनी पुस्तक 'ग्रोथ आफ इंगलिश इंडस्ट्री ऐंड कामर्स इन माडर्न टाइम्स' में बताया है कि आविष्कारों

के इस युग का विकास महज 'आविष्कारशील प्रतिभा के कुछ खास और रहस्यपूर्ण प्रस्फुटन' पर ही नहीं निर्भर करता था बल्कि इससे संबद्ध तथ्य यह था कि इंग्लैंड में उस समय तक इतनी पूंजी जमा हो चुकी थी कि इन आविष्कारों का बड़े पैमाने पर उपयोग करना संभव हो गया था :

> आविष्कारों और नई खोजों को देखने से बहुधा ऐसा लगता है जैसे ये आकस्मिक हों, 18वीं सदी में लोग नए यंत्र समूहों को मौलिक प्रतिभा के एक विशेष और रहस्यपूर्ण प्रस्फुटन का परिणाम मानते हैं। लेकिन यदि यह कहा जाए कि आर्कराइट और वाट इस मामले में भाग्यशाली थे कि उनके लिए परिस्थितियां पूरी तरह परिपक्व हो चुकी थीं, तो इसका मतलब उनकी योग्यता को घटाकर देखना नहीं है। विलियम ली और डोडो डगले के समय से ही अनेक प्रवीण लोग रहे हैं लेकिन उनके जमाने की परिस्थितियां उनकी सफलता के लिए प्रतिकूल थीं।
>
> महंगे साधनों या काफी खर्चीली प्रक्रियाओं की शुरुआत ने काफी लागत बढ़ा दिया है। कितना भी कर्मठ व्यक्ति क्यों न हो, जब तक उसके पास काफी पूंजी न हो और उसकी पहुंच के अंदर व्यापक बाजार न हों, वह इस दिशा में प्रयास नहीं कर सकता। 18वीं सदी में ये परिस्थितियां ज्यादा से ज्यादा सुलभ हो रही थीं। बैंक आफ इंग्लैंड तथा अन्य बैंकों की स्थापना ने पूंजी के निर्माण को काफी बल दिया और किसी समर्थ व्यक्ति के लिए अब यह काफी हद तक संभव हो गया था कि अपने व्यवसाय के प्रबंध को विकसित करने में महंगे साधनों का इस्तेमाल करे। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। (डब्ल्यू० कनिंघम, 'ग्रोथ आफ इंगलिश इंडस्ट्री ऐंड कामर्स इन माडर्न टाइम्स,' पृष्ठ 610)

फिर भी, 1694 में बैंक आफ इंग्लैंड की स्थापना मात्र से पूंजी का प्रारंभिक संचय नहीं हो सका। 18वीं सदी के मध्य तक बैंकिंग पूंजी और चल पूंजी कम थी। फिर 18वीं सदी के उत्तरार्ध में अचानक पूंजी का संचय कैसे होने लगा ? मार्क्स ने बताया है कि किस प्रकार पूंजीवाद के विकास की प्राथमिक अवस्थाओं तथा उसके बाद के विकास की तरह ही आधुनिक विश्व में पूंजी का संचय, और सब बातों से ज्यादा उपनिवेशों की लूट, मैक्सिको और दक्षिण अमरीका की चांदी, गुलामों की तिजारत और भारत की लूटपाट से हुआ है। (आग्येर का कहना है कि यदि विश्व में मुद्रा का प्रवेश एक गाल पर जन्म-जात खून के धब्बे से हुआ है तो पूंजी का जन्म सर से पैर तक एक एक रोम छिद्र खून और गंदगी से तरबतर हुआ है। 'पूंजी', खंड 1, अध्याय 31)। और 18वीं सदी में इंग्लैंड में अचानक बड़े पैमाने पर जो पूंजी इकट्ठी हुई वह, अधिकांशतः, भारत की लूट से इकट्ठा पूंजी थी।

बैंक आफ इंग्लैंड की स्थापना के बाद 60 वर्ष से अधिक समय बीत जाने के बाद भी इसके पास सबसे छोटा नोट बीस पौंड का था। यह नोट इतना बड़ा था कि इसका प्रसारण आसानी से नहीं हो पाता था और लंबार्ड स्ट्रीट से आगे तक शायद ही यह कभी गया हो। 1790 ई० में लिखते समय बर्क ने बताया था कि 1750 में जब वह इंग्लैंड पहुंचे थे तो विभिन्न प्रांतों में 'बारह बैंकरों की दुकानें' 'ट्वल्व बैंकर्स शाप्स' नहीं थीं हालांकि उस समय (1790 में) ये दुकानें हर उस कस्बे में थीं जहां बाजार थे। इस प्रकार बंगाल से जो चांदी इंग्लैंड पहुंची उसने मुद्रा की मात्रा ही नहीं बढ़ाई बल्कि इसकी गति भी तेज की क्योंकि तत्काल 1759 ई० में बैंक ने दस और पंद्रह पौंड के नोट जारी किए और प्राइवेट फर्मों ने देश में कागज की बाढ़ ला दी। (ब्रुकएडम्स : 'दि ला आफ सिविलाइजेशंस ऐंड डिके', पृष्ठ 263-64)

भारत की संचित निधि की बाढ़ ने, देश की नकद पूंजी में उल्लेखनीय वृद्धि करके न केवल उसकी ऊर्जा को बढ़ाया बल्कि उसकी गति को लचीला बनाया और उसमें तेजी ला दी। प्लासी के युद्ध के शीघ्र ही बाद बंगाल से लूटी गई संपत्ति लंदन पहुंचने लगी और इसके प्रभाव भी उसी समय दिखाई देने लगे। सभी आधिकारिक विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि 19वीं सदी को सभी पूर्ववर्ती सदियों से अलग करने वाली महान घटना, अर्थात 'औद्योगिक क्रांति', की शुरुआत 1760 ई० से हुई। बेन्स के अनुसार 1760 से पहले लंकाशायर में सूती कपड़ा बनाने के लिए जो मशीन इस्तेमाल की जाती थी वह लगभग उतनी ही साधारण थी जितनी भारत में इस्तेमाल की जाने वाली मशीन, जबकि 1750 के आसपास के वर्षों में ईंधन के काम के लिए जंगलों को नष्ट कर दिए जाने से इंग्लैंड का लोहा उद्योग पूरी तरह पतन की स्थिति में पहुंच गया था। उस समय देश में इस्तेमाल होने वाला पांच में से चार हिस्सा कोयला स्वीडन से आता था।

प्लासी की लड़ाई 1757 में हुई और इसके बाद जितनी तेजी से परिवर्तन हुए, उसकी कोई मिसाल नहीं है। 1760 में फ्लाइंग शटल का निर्माण हुआ और प्रगलन के काम में लकड़ी की जगह पर कोयले का इस्तेमाल होने लगा। 1764 में हारग्रीव्ज से स्पिनिंग जेनी का आविष्कार किया, 1776 में क्रांपटन ने म्यूल बनाया, 1785 में कार्टराइट ने पावरलूम को पेटेंट कराया और इन सबमें महत्वपूर्ण काम 1768 में जेम्स वाट द्वारा भाप से चलने वाला इंजन (स्टीम इंजन) का आविष्कार था। ऊर्जा के केंद्रीकरण के लिए जितनी भी खोजें हुई थीं उनमें यह सबसे पक्की खोज थी। लेकिन हालांकि इन मशीनों ने समय की गति को तेजी प्रदान करने के माध्यम का काम किया लेकिन वे वांछित तेजी नहीं प्रदान कर सकीं। आविष्कार अपने आप में निष्क्रिय

> किस्म के होते हैं। इनमें में अनेक बहुत महत्वपूर्ण आविष्कार संचालन के लिए आवश्यक पर्याप्त शक्ति एकत्र होने के इंतजार में शताब्दियों तक बेकार पड़े रहे। यह शक्ति हमेशा मुद्रा के रूप में और ऐसी मुद्रा के रूप में होनी चाहिए जो कहीं जमा न हो बल्कि गति में हो। भारत की संचित निधि के इस देश में आने से पहले और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न ऋण के विस्तार से पहले किसी ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं था जिसे पर्याप्त कहा जा सके और यदि जेम्स वाट अपने समय से 50 वर्ष पहले हुए होते तो अपने आविष्कार के साथ न जाने कब खत्म हो गए होते। संभवतः जबसे दुनिया की शुरुआत हुई है किसी पूंजी निवेश में इतना जबरदस्त मुनाफा कभी नहीं हुआ जितना मुनाफा भारत की लूट में इंग्लैंड को हुआ क्योंकि लगभग 50 वर्षों तक ग्रेट ब्रिटेन को किसी भी प्रतियोगी का सामना नहीं करना पड़ा। 1694 से प्लासी के युद्ध (1757) तक विकास की रफ्तार अपेक्षाकृत धीमी रही। 1760 और 1815 के बीच विकास की रफ्तार काफी तेज और आश्चर्यजनक थी। (वही, पृष्ठ 259-60)

इस प्रकार भारत की लूट संचय का गुप्त स्रोत थी जिसने इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति को संभव बनाने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

लेकिन जब एक बार भारत की लूट की मदद से इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति पूरी हो गई तो कारखानों में बने हुए ढेरों माल के लिए उपयुक्त बाजार ढूंढने का नया काम शुरू हुआ। इससे आर्थिक प्रणाली में एक क्रांति जरूरी हो गई जो व्यापारिक पूंजीवाद के सिद्धांतों से लेकर स्वतंत्र व्यापार वाले पूंजीवाद के सिद्धांतों तक सीमित थी। और इसने बदले में औपनिवेशिक व्यवस्था की पूरी पद्धति में तब्दीली ला दी।

नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह जरूरी था कि भारत में पुरानी इजारेदारी की जगह एक स्वतंत्र बाजार का निर्माण किया जाए। यह जरूरी हो गया कि भारत को सूती कपड़े का निर्यात करने वाले देश की स्थिति से हटाकर सूती वस्त्रों के आयात करने वाले देश के रूप में बदल दिया जाए। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत की अर्थव्यवस्था में एक क्रांति हो। साथ ही इसका मतलब यह भी था कि ईस्ट इंडिया कंपनी की पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह से बदल दिया जाए। भारत के शोषण के तरीकों में रूपांतरण की जरूरत महसूस की गई और इस रूपांतरण का स्वरूप ऐसा माना गया जिसकी रचना कंपनी के इजारेदारों के निहित स्वार्थों के जबरदस्त प्रतिरोध के बावजूद की गई।

इस परिवर्तन के लिए रास्ता तैयार करने की दिशा में शुरू के कदम 18वीं सदी के अंतिम पंद्रह वर्षों में पहले ही उठा लिए गए थे।

यह बात बहुत स्पष्ट थी कि कारगर ढंग से शोषण जारी रखने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके कर्मचारियों द्वारा लूटपाट का जो अराजक और विनाशकारी तरीका अपनाया जाता था वह परिवर्तन किए बगैर जारी नहीं रह सकता था। कंपनी की बेहूदा और मूर्खतापूर्ण लालची प्रवृत्ति शोषण के आधार को नष्ट कर रही थी। यह ठीक उसी प्रकार था जिस प्रकार इंग्लैंड में कुछ वर्षों बाद लंकाशायर के निर्माताओं की असीम लालची प्रवृत्ति ने जनता की नौ पीढ़ियों को एक ही बार में नष्ट कर दिया। जिस प्रकार भविष्य में होने वाले शोषण के हित में पूंजीपति वर्ग की ओर से राज्य द्वारा की गई कार्य-वाही के जरिए निर्माताओं की लालची प्रवृत्ति पर रोक लगाई गई, उसी प्रकार 18वीं सदी के अंतिम 25 वर्षों में राज्य के केंद्रीय अवयवों से अनुरोध किया गया कि वे भारत में कंपनी के कार्य संचालन को व्यवस्थित करें। यहां भी इस आक्रमण का संचालन प्रति-द्वंद्वी हितों ने ही किया था। ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार के खिलाफ अलग अलग जितने भी हित थे वे सब एकजुट हो गए थे और उन्होंने कंपनी के खिलाफ धावा बोल दिया था। इस आक्रमण के फलस्वरूप इस अवधि में ईस्ट इंडिया कंपनी के कुप्रशासन के विरोध में व्यापक स्तर पर जो साहित्य आया वह संपूर्णता, प्रामाणिकता और विवेचन की दृष्टि से किसी भी युग में साम्राज्यवाद का भंडाफोड़ करने वाले साहित्य में बेमिसाल था।

अंगरेज निर्माता पहले ही 18वीं सदी के प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी के खिलाफ अभियान छेड़ चुके थे क्योंकि उन्हें भारत में बने अच्छे किस्म के कपड़ों के आयात के कारण बाजार में एक खतरनाक ढंग की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा था। 1720 ई० तक उन्हें एक काम में सफलता मिल गई, उन्होंने भारतीय सिल्क के कपड़ों और सूती कपड़ों के इंग्लैंड आने पर पूरी रोक लगवा दी और सूती कपड़े से बने प्रत्येक भारतीय सामान पर भारी सीमा शुल्क लगवा दी। कंपनी द्वारा भारतीय माल का व्यापार एक गोदाम व्यापार की तरह था। यह माल इंग्लैंड के बंदरगाहों से यूरोप को भेजा जाता था।

लेकिन 18वीं सदी के अंतिम 25 वर्षों से जो नया आक्रमण शुरू हुआ वह भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के समूचे भ्रष्ट एकाधिकारी प्रशासन के विरुद्ध था। इस प्रहार को न केवल इंग्लैंड के उदीयमान औद्योगिक निर्माताओं का समर्थन प्राप्त था बल्कि वे शक्तिशाली व्यापारी भी उसका समर्थन कर रहे थे जिनका ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी में कोई हिस्सा नहीं था। यह प्रहार नए विकासशील औद्योगिक पूंजीवाद के आने की पूर्व सूचना थी। उसकी मांग थी कि भारत के बाजार में सबको अपना माल भेजने की छूट होनी चाहिए और व्यक्तिगत स्तर पर भ्रष्टाचार और लूट मार के कारण वहां के बाजार का शोषण करने के रास्ते में उत्पन्न रुकावटें दूर की जानी चाहिएं।

यह बात काफी महत्वपूर्ण है कि कंपनी के खिलाफ इस आक्रमण की शुरुआत 1776 में ऐडम स्मिथ ने की थी जो स्वतंत्र व्यापार के क्लासिकी अर्थशास्त्र के जनक और नए युग के अग्रदूत माने जाते हैं। 1776 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'वेल्थ आफ नेशन्स' को राज-

नेताओं की नई पीढ़ी ने, जिसका नेतृत्व पिट ने किया था, अपना धर्मग्रंथ बना लिया था। इस पुस्तक में ऐडम स्मिथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी के समूचे आधार पर निर्ममता से आक्रमण किया था और पुस्तक का एक खंड (सेक्शन I) इसके लिए दिया। अपनी पक्की शास्त्रीय शैली में उन्होंने लिखा :

> ऐसी खास किस्म की कंपनियां हर मामले में गड़बड़ी पैदा करती हैं। जिन देशों में यह काम कर रही होती हैं उनके लिए ये हमेशा ही कमोबेश असुविधा पैदा करती हैं और जिन देशों को इन कंपनियों के शासन के अंतर्गत रहने का दुर्भाग्य मिला है उनका तो विनाश ही हो जाता है।
>
> ईस्ट इंडिया कंपनी को यदि प्रभुसत्ता संपन्न मानें तो उसका हित इसी में है कि उनके भारतीय प्रदेश में यूरोप से जो सामान जाते हैं वे यथासंभव सस्ती दर पर बेचे जाएं और वहां से जो भारतीय सामान मंगाए जाएं उनकी कीमत काफी अच्छी रखी जाए या यथासंभव महंगी दर पर बेचे जाएं। लेकिन इसकी उलटी स्थिति का अर्थ व्यापारी के रूप में उनके हितों की रक्षा करना होगा। जहां तक प्रभुसत्ता संपन्न होने की बात है उनके हित ठीक वही हैं जो उस देश के हैं जिस पर उनका शासन है। लेकिन यदि व्यापारी के हित के रूप में देखें तो यह हित पहली स्थिति के एकदम विपरीत मालूम होंगे···।
>
> यह एक खास तरह की सरकार है जिसमें प्रशासन का प्रत्येक सदस्य देश से बाहर जाना चाहता है और फलस्वरूप जितनी जल्दी संभव हो पाता है वह सरकार के साथ अपना हिसाब किताब बराबर कर लेता है। वह जैसे ही अपनी सारी संपत्ति के साथ देश छोड़कर जाता है, उसका उस देश के साथ सारा लगाव खत्म हो जाता है भले ही वह देश भूकंप से क्यों न तहस नहस हो रहा हो। (ऐडम स्मिथ : 'वैल्थ आफ नेशंस', चौथा भाग, अध्याय 7)
>
> प्रायः कोई धनी व्यक्ति, और कभी कभी साधारण व्यक्ति भी, महज इसलिए भारत के स्टाक में हजार पौंड का शेयर खरीदना चाहता है ताकि पोर्ट आफ प्रोप्राइटर्स में वोट देने का अधिकार उसे मिल जाए और इसी के आधार पर वह अपने को प्रभावशाली बना ले। हालांकि इससे वह भारत की लूट में कोई हिस्सा नहीं लेता लेकिन लुटेरों की नियुक्ति में उसकी हिस्सेदारी हो जाती है ··· बशर्ते वह अपने इस प्रभाव का उपभोग कुछ वर्षों तक और अपने कुछ मित्रों के लिए कर सके। ऐसा करने में वह लाभांश की परवाह शायद ही कभी करता हो या शायद ही कभी यह सोचता हो कि जिस स्टाक पर उसका वोट आधारित है उसका मूल्य क्या है। महान साम्राज्य की समृद्धि के बारे में, जिसके प्रशासन में वोट का अधिकार मिलने से उसकी हिस्सेदारी पैदा होती

> है, वह शायद ही कभी सोचता हो। आज तक कोई ऐसी प्रभुसत्ता देखने में नहीं आई अथवा देखने में नहीं आएगी जो अपनी जनता के सुख दुःख के प्रति इतनी ज्यादा उदासीन हो, अपने शासित प्रदेश के विकास या बरबादी के प्रति इतनी लापरवाह, अपने प्रशासन के गौरव या अपमान के प्रति इतनी निश्चिंत हो। (वही, पांचवा भाग, अध्याय 1)

यहां हम ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक आधार के प्रति उभरते हुए निर्माताओं के विरोध की आवाज तथा पुरानी प्रणाली के ऊपर औद्योगिक पूंजीवाद की विजय के पूर्वाभास से परिचित होते हैं।

1782-83 में ईस्ट इंडिया कंपनी के पुराने आधार का विरोध और उस आधार में परिवर्तन की मांग का जायजा हमें हाउस आफ कामंस की प्रवर समिति की बैठकों की कार्यवाही से मिलता है। 1783 में फाक्स ने इंडिया बिल पेश किया जिसका उद्देश्य डायरेक्टरों और प्रोपराइटरों के कोटों को समाप्त करके संसद द्वारा उनकी जगह पर कुछ कमिश्नरों की नियुक्ति करना था। कंपनी ने इस बिल का विरोध किया और यह बिल पारित नहीं हो सका। नतीजा यह हुआ कि फोक्स की सरकार को इस्तीफा देना पड़ा और उसकी जगह पर पिट ने अपनी सरकार बनाई जो अगले बीस वर्षों तक सत्तारूढ़ रही। यह इतिहास का एक नाजुक मोड़ था और इस स्थल पर पता चला कि भारत इंग्लैंड की राजनीति का महत्वपूर्ण बिंदु बन गया है। 1784 में पिट ने इंडिया एक्ट पेश किया जिसमें हालांकि जटिल दोहरी व्यवस्था का विकल्प पेश करके फाक्स के प्रस्ताव के साथ समझौता किया गया था, फिर भी उसमें राज्य द्वारा सीधे नियंत्रण के उसी बुनियादी सिद्धांत को स्थापित किया गया था। यह बिल हेस्टिंग्ज तथा कंपनी के विरोध के बावजूद पारित हो गया। 1786 में लार्ड कार्नवालिस को गवर्नर जनरल बनाकर भारत भेजा गया ताकि वह प्रशासन में जबरदस्त परिवर्तनों को लागू कर सकें। 1778 में वारेन हेस्टिंग्ज पर, जो 1772 से 1785 तक गवर्नर और गवर्नर जनरल के रूप में काम कर चुके थे, भ्रष्टाचार और कुप्रशासन का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया था। यह मुकदमा वस्तुतः एक सरकारी कदम था जिसको सीधे तौर पर पिट के फैसले से ऐसा करने का अधिकार मिला था और इस काम के लिए पिट को फाक्स, बर्क और शेरीडान जैसे प्रमुख सांसदों का समर्थन प्राप्त था। यह मुकदमा व्यक्ति के खिलाफ इतना नहीं, जितना कि एक व्यवस्था के खिलाफ था।

इस आक्रमण के तेज होने के काम में फ्रांस की क्रांति जैसी महत्वपूर्ण विश्वव्यापी समस्याओं से बाधा पहुंची। इसने पिट के प्रशासन के सुधारवादी दौर को समाप्त कर दिया और इंग्लैंड के पूंजीपति वर्ग को विश्व की प्रतिक्रांतिकारी शक्तियों के नेता के रूप में दुनिया के सामने पेश कर दिया। बर्क ने भारत में अत्याचार और कुप्रशासन की जबरदस्त भर्त्सना का रास्ता छोड़ दिया हालांकि अपनी इन्हीं भर्त्सनाओं के कारण वे उदारवादी तत्त्वों की

प्रशंसा हासिल कर सके थे। अब वे और भी तीव्रता के साथ फ्रांस में मुक्ति के लिए लड़ रही जनता की भर्त्सना करने लगे और ऐसा करके उन्हें यूरोप के सम्राटों और महाराजाओं की प्रशंसा प्राप्त हुई। यह एक दिलचस्प बात है कि भारत में गवर्नर की कौंसिल के सदस्य फिलिप फ्रांसिस ने, जिन्होंने कौंसिल में हेस्टिंग्ज के खिलाफ लड़ाई छेड़ी थी और हेस्टिंग्ज पर मुकदमा चलाने के लिए बर्क को आवश्यक सामग्री प्रदान की थी, फ्रांस की क्रांति के संदर्भ में प्रतिक्रियावादी भूमिका निभाने के लिए बर्क को एक बहुत ही कठोर पत्र लिखा। हेस्टिंग्ज पर मुकदमा सात वर्षों तक चला और 1795 में हेस्टिंग्ज को सभी आरोपों से बरी करते हुए यह मुकदमा समाप्त हो गया। पिट स्वतंत्र व्यापार की दिशा में अपनी प्रारंभिक योजनाओं से हटकर फ्रांस के युद्ध को सुरक्षा देने की प्रणाली में विश्वास करने लगे। 1813 में फ्रांस के युद्ध के समाप्त होने और औद्योगिक पूंजी के मजबूती से स्थापित होने के साथ ही भारत का मसला नए सिरे से उठाया गया और नई अवस्था की दिशा में निर्णायक कदम उठाया गया।

लार्ड कार्नवालिस ने गवर्नर जनरल की हैसियत से प्रशासन में नए सिरे से सुधार किए ताकि अलग अलग व्यक्तियों द्वारा मनमानी लूट और भ्रष्टाचार के तरीके की जगह पर अच्छे वेतन पाने वाले सरकारी अफसरों की नियुक्ति की जा सके। उन्होंने मनमाने ढंग से लगातार बढ़ती जा रही मालगुजारी को समाप्त करने की कोशिश की ताकि देश को वीरान बनने से बचाया जा सके और शोषण के आधार को समाप्त किया जा सके। इस कोशिश में उन्होंने बंगाल के लिए इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किया जिससे ब्रिटिश राज के सामाजिक आधार के रूप में जमींदारों के नए वर्ग का जन्म हुआ और इस वर्ग से सरकार को स्थाई तौर पर एक निश्चित रकम मिलने लगी।

•

इन सारे उपायों का उद्देश्य सुधार करना था। दरअसल इन उपायों के जरिए समूचे पूंजीपति वर्ग के हित में भारत का अधिक वैज्ञानिक ढंग से शोषण करने के लिए आधार तैयार किया गया था। इन परिवर्तनों ने औद्योगिक पूंजी द्वारा शोषण के नए चरण का मार्ग प्रशस्त किया ताकि भारत की समूची अर्थव्यवस्था के शोषण को जो पहले बहुत अव्यवस्थित ढंग से लूटपाट के जरिए किया जाता था अब एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप दिया जा सकें।

3. उद्योग के क्षेत्र में तबाही

1813 में उद्योगपतियों तथा अन्य व्यापारियों का हमला अंततः सफल हो गया और भारत के व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। इसलिए कहा जा सकता है कि भारत में औद्योगिक पूंजीवादी शोषण का नया दौर 1813 से शुरू हो गया।

1813 से पहले भारत के साथ अपेक्षाकृत कम व्यापार होता था। सीले ने 1883 में

प्रकाशित अपनी पुस्तक 'एक्सपेंशन आफ इंग्लैंड' में, 19वीं सदी में हुए रूपांतरण को रेखांकित किया है :

> मैक कुलाच ने ऐडम स्मिथ के अपने संस्करण में भारत के बारे में टिप्पणी करते हुए बताया है कि 1811 के आसपास, अर्थात कंपनी के एकाधिकार के समय भारत और इंग्लैंड के बीच व्यापार नगण्य था जो इंग्लैंड और जर्सी या आइल आफ मैन के बीच हो रहे व्यापार से थोड़ा ही अधिक महत्वपूर्ण था···
>
> लेकिन आज जर्सी या आइल आफ मैन के बजाय भारत के साथ अपने व्यापार की तुलना में हम अमरीका या फ्रांस के साथ अपने व्यापार से करते हैं— इंग्लैंड का माल आयात करने में अमरीका के बाद अब भारत का स्थान है और फ्रांस तथा अन्य देशों का स्थान भारत के बाद जाता है। (जे० आर० सीले : 'एक्सपेंशन आफ इंग्लैंड,' 1883, पृ० 299)

इसी प्रकार 1812 में कंपनी की आधिकारिक रिपोर्ट में स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि उन दिनों भारत का महत्व इंग्लैंड के माल की मंडी के रूप में नहीं बल्कि लूटपाट या कर नजराने आदि के साधन के रूप में था :

> इस देश के लिए उस विशाल साम्राज्य के महत्व का आकलन इस बात से नहीं किया जाना चाहिए कि इस देश के निर्माता भारतवासियों द्वारा अपने माल के उपभोग से कितना फायदा उठाते हैं बल्कि इस बात से किया जाना चाहिए कि उससे राज्य की धन संपत्ति में प्रतिवर्ष कितनी बड़ी वृद्धि होती है। (1812 के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी की रिपोर्ट जिसे प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'सम एसपैक्ट्स आफ इंडियाज फारेन ट्रेड' में पृष्ठ 49 पर उद्धृत किया है।)

सरकारी आदेशपत्र के नवीकरण और एकाधिकार की समाप्ति से पूर्व 1813 की संसदीय जांच की कार्यवाही से पता चलता है कि उस समय की चिंतन धारा किस तरह बदल गई थी और उसकी दिशा ब्रिटेन के नए उभरते हुए मशीन उद्योग के लिए बाजार के रूप में भारत का विकास करने पर केंद्रित थी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि किस प्रकार पुरातन विचारधारा के वारेन हेस्टिंग्ज जैसे प्रतिनिधियों ने इस संभावना से इंकार किया था कि भारत का एक मंडी के रूप में विकास हो सकता है।

जिस समय यह जांच कार्य संपन्न किया गया, ब्रिटेन जाने वाले भारतीय सूती वस्त्र पर 78 प्रतिशत शुल्क लगता था। यदि ये निषेधात्मक शुल्क नहीं होते तो अपने प्रारंभिक दौर में ब्रिटिश कपड़ा उद्योग का विकास नहीं हो पाता।

> प्रमाणों में यह बताया गया था (1813 में) कि इस अवधि तक भारत में बने सूती और रेशमी कपड़ों को इंग्लैंड में बने कपड़ों की तुलना में 50 प्रतिशत से 60 प्रतिशत कम कीमत पर ब्रिटिश बाजार में बेचकर मुनाफा कमाया जा सकता था। फलस्व ़प यह जरूरी हो गया था कि इंग्लैंड में बने कपड़ों को उनके मूल्य पर 70 प्रतिशत और 80 प्रतिशत शुल्क या सुनिश्चित निषेध लगाकर बचाया जाए। यदि ऐसा नहीं होता, यदि ऐसे निषेधात्मक शुल्कों और सरकारी आदेशों का अस्तित्व नहीं होता तो पैस्ले और मानचेस्टर के कारखाने शुरू में ही ठप हो जाते और भाप की शक्ति से भी शायद ही दुबारा चालू हो पाते। इनका निर्माण भारतीय निर्माताओं के बलिदान से हुआ। (एच० एच० विल्सन : 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया,' खंड 1, पृष्ठ 385)

ब्रिटिश सूती कपड़ा उद्योग को विकसित करने के लिए भारतीय निर्माताओं पर लगाए गए सीमा शुल्क में भेदभाव का सिलसिला 19वीं सदी के पूर्वार्ध में शुरू हुआ। 1840 की संसदीय जांच में यह बताया गया कि भारत जाने वाले ब्रिटिश सूती और रेशमी सामानों पर जहां 3.5 प्रतिशत और ऊनी सामानों पर 2 प्रतिशत कर देना पड़ता है वहीं ब्रिटेन आने वाले सूती कपड़ों पर 10 प्रतिशत, रेशमी कपड़ों पर 20 प्रतिशत और ऊनी कपड़ों पर 30 प्रतिशत कर लगाया जाता है।

इस प्रकार भारतीय मंडी में ब्रिटिश निर्माताओं का प्रभुत्व कायम करने और भारतीय कारखाना उद्योग को नष्ट करने में मशीन उद्योग की तकनीकी श्रेष्ठता का ही हाथ नहीं था बल्कि एकतरफा स्वतंत्र व्यापार (ब्रिटिश सामानों का भारत में एकदम निःशुल्क प्रवेश या लगभग निःशुल्क प्रवेश, लेकिन ब्रिटेन के बाजार में भारतीय माल जाने पर सीमा शुल्क लगाया जाना तथा नौ संचालन कानूनों यानी नेवीगेशन ऐक्ट्स के जरिए यूरोपीय देशों या अन्य देशों के साथ भारत के व्यापार पर रोक लगाना) के लिए सरकार की ओर से दी गई प्रत्यक्ष सहायता का भी हाथ था।

19वीं सदी के पूर्वार्ध में यह प्रक्रिया निर्णायक रूप से जारी रही हालांकि इसके प्रभाव समूची 19वीं शताब्दी, यहां तक कि 20वीं शताब्दी में भी देखे गए। ब्रिटिश निर्माताओं की इस प्रगति के साथ साथ निर्माताओं की अवनति चलती रही।

1814 और 1835 के बीच इंग्लैंड में बने सूती कपड़े की भारत में खपत 10 लाख गज से कुछ कम से बढ़कर 5 करोड़ 10 लाख गज से भी अधिक हो गई। इसी अवधि में ब्रिटेन के बाजार में जाने वाले भारतीय सूती कपड़े के कटपीसों की संख्या साढ़े बारह लाख से घटकर 3 लाख 6 हजार हो गई और 1844 तक तो यह संख्या महज 63,000 ही रह गई।

मूल्यों में व्याप्त विषमता भी कम चौंकाने वाली नहीं है। 1815 और 1832 के बीच

निर्यात किए गए भारतीय सूती कपड़े का मूल्य 13 लाख पौंड से घटकर 1 लाख पौंड हो गया अर्थात सत्रह वर्षों में व्यापार में 12/13 का नुकसान हुआ। इसी अवधि में ब्रिटेन से भारत में आए सूती कपड़े का मूल्य 26,000 पौंड से बढ़कर 400,000 पौंड हो गया अर्थात 17 गुनी वृद्धि हुई। 1850 तक स्थिति ऐसी हो गई कि भारत जो कई सौ वर्षों से समूची दुनिया को अपना कपड़ा भेजता आ रहा था वह निर्यात किए जाने वाली कुल ब्रिटिश सूती कपड़े का एक चौथाई हिस्सा अपने यहां मंगाने लगा।

इंग्लैंड के मशीन से बने कपड़ों ने जहां भारत के बुनकरों को बरबाद किया वहीं दूसरी तरफ मशीन के वने सूत ने भारत के सूत कातने वालों को उजाड़ दिया। 1818 से 1836 के बीच भारत में इंग्लैंड के बने सूत का निर्यात 5200 गुना हो गया।

यही हालत रेशमी कपड़ों, ऊनी कपड़ों, लोहे, बर्तन, कांच और कागज के मामले में भी देखी जा सकती है।

भारत के उद्योग-धंधों के इस व्यापक विनाश का देश की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। इंग्लैंड में हाथ के करघे से काम करने वाले पुराने बुनकरों की तबाही के साथ साथ नए मशीन उद्योग का विकास भी हुआ था। लेकिन भारत में, लाखों शिल्पियों और कारीगरों की तबाही के साथ विकल्प के रूप में किसी नए उद्योग का विकास नहीं हुआ। पुराने और घनी आबादीवाले औद्योगिक नगर ढाका, मुर्शिदाबाद (जिसे क्लाइव ने 1757 में 'लंदन जितना ही विस्तृत, उतनी ही अधिक आबादीवाला और उतना ही समृद्ध' कहा था), सूरत आदि 'ब्रिटेन की कृपा' से देखते ही देखते ऐसे उजाड़ हो गए कि भीषणतम युद्ध होने पर या विदेशी विजेताओं के शिकार होने पर भी उनकी वैसी दशा नहीं होती। सर चार्ल्स ट्रेवेलन ने 1840 में संसदीय जांच को बताया कि 'ढाका शहर की आबादी 150,000 से घटकर 30,000 या 40,000 हो गई और एक जमाने में भारत का मैनचेस्टर समझा जाने वाला यह शहर अब तेजी से जंगल बनता जा रहा है और मलेरिया का शिकार हो रहा है। अत्यंत समृद्ध नगर से घटकर इसकी स्थिति अब अत्यंत गरीब और छोटे नगर की हो गई है। निस्संदेह उसकी भयंकर दुर्गति हुई है।' ब्रिटिश साम्राज्य से प्रारंभिक इतिहासकार मांटगोमरी मार्टिन ने इसी जांच के दौरान बताया कि 'सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद तथा अन्य स्थानों की बरबादी, जहां देशी निर्माता उत्पादन में लगे थे, अत्यंत दुखद यथार्थ है, जिसपर विचार किया जाना चाहिए। मैं नहीं समझता कि व्यापार का कोई उचित तौर तरीका है। मेरे विचार में यह कमजोर के विरुद्ध मजबूत की शक्ति का प्रयोग है।' 1890 में सर हेनरी काटन ने लिखा : 'आज से सौ से भी कम वर्ष पहले ढाका का कुल व्यापार अनुमानतः 1 करोड़ रुपये का था और यहां की आबादी 200,000 थी। 1787 में 30 लाख रुपये मूल्य की ढ़ाका की मलमल इंग्लैंड भेजी गयी, 1917 में यह बिलकुल बंद हो गया। असंख्य और औद्योगिक आबादी को रोजगार देने वाली कताई और बुनाई की कला अब लुप्त हो गई। जो परिवार पहले

काफी समृद्ध थे उन्हें अब मजबूर होकर शहरों को छोड़ना पड़ा है और गांवों में जाकर अपनी जीविका का कोई प्रबंध करना पड़ा है... पतन की यह स्थिति ढाका में ही नहीं बल्कि सभी जिलों में है। ऐसा कोई भी वर्ष नहीं बीतता जब कमिश्नर और जिलों के अधिकारी इस बात की ओर सरकार का ध्यान न आकर्षित करते हों कि देश के सभी हिस्सों में उद्योगधंधों से रोजी रोटी चलाने वाला वर्ग कंगाल होता जा रहा है।'

1911 की जनगणना रिपोर्ट से पता चलता है कि यह प्रक्रिया उस समय भी जारी थी। उदाहरण के लिए 1911 की रिपोर्ट से पता चलता है कि सूती वस्त्र में लगे कर्मचारियों की संख्या में पूर्ववर्ती 10 वर्षों में 6 प्रतिशत की कमी आई है, यह कमी उस समय तक सूती वस्त्र निर्माण के क्रमश: विस्तार के बावजूद आई है। इस कमी का श्रेय 'हाथ से सूत की बुनाई का काम लगभग पूरी तरह समाप्त हो जाने' को है।

1911 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार खाल, चमड़ा और धातु के काम में लगे लोगों की संख्या में 6 प्रतिशत की कमी आई हालांकि इसके साथ धातु व्यापारियों की संख्या में 6 गुनी वृद्धि हुई। इसका कारण साफतौर पर बताया गया कि :

> धातुकर्मियों की संख्या में कमी और इसके साथ ही धातु व्यापारियों की संख्या में वृद्धि का कारण मुख्यत: यह था कि देश में बने पीतल और तांबा के बर्तनों की जगह पर यूरोप से आयात किए गए कलईदार बर्तन और अल्यूमीनियम के सामान का इस्तेमाल होने लगा। ('सेंसस आफ इंडिया रिपोर्ट,' 1911)

लोहा और इस्पात उद्योग के क्षेत्र में भी यही स्थिति देखने को मिली :

> जिन जिन क्षेत्रों में रेलें पहुंच सकती थीं वहां वहां सस्ता विदेशी लोहा और इस्पात पहुंच गया जिससे लोहा गलाने वाला देशी उद्योग व्यवहारत: समाप्त ही हो गया। फिर भी इस प्रायद्वीप के दूरवर्ती इलाकों में इसका आज भी चलन है। ('इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया,' 1907, खंड 3, पृष्ठ 145)

> भारत में इस्पात का इस्तेमाल हथियार बनाने, सजावट के सामान तैयार करने और औजार बनाने में किया जाता था तथा इससे अत्यंत उच्च कोटि के सामान तैयार किए जाते थे। पुराने हथियारों का कोई मुकाबला नहीं है और कहा जाता है कि दमिश्क की मशहूर तलवारें जिस इस्पात से ढालकर बनाई गई थीं वह हैदराबाद (भारत) से भेजा गया था। दिल्ली का मशहूर लौह स्तंभ कुतुब स्तंभ का वजन 6 टन से अधिक है और उस पर अंकित स्मृति लेख की रचना 415 ई० पू० की है। कोई भी आज तक यह नहीं समझ पाया कि उस समय इतनी बड़ी ढलाई कैसे संभव हो सकी। लोहा गलाने वाली

भट्ठियों के भारत भर में जो अवशेष मिलते हैं वे मूलतः वैसे ही हैं जैसे आधुनिक काल से पूर्व के यूरोप में थे……

अगड़िया या लोहा गलाने वाली जाति दूर दूर तक फैली थी और अनेक जिलों में कच्चा लोहा बनाने वालों के लिए लोहार शब्द इस्तेमाल किया जाता था। लेकिन सस्ते ढंग से तैयार किए गए यूरोपीय लोहे ने उनका लगभग सारा व्यापार छीन लिया है और अधिकांश अगड़िया अब अकुशल मजदूर बनकर रह गए हैं। आज से सवा सौ वर्ष पहले डा० फ्रांसिस बुकानन को इस तरह के अनेक लोहा गलाने वाले मिले थे। (डी० एच० बुकानन : डेवलपमेंट आफ कैपिटलिस्ट एंटरप्राइज इन इंडिया,' 1934, पृष्ठ 274)

केवल पुराने औद्योगिक नगर और केंद्र ही विनष्ट नहीं हुए और उनकी आबादी उजड़कर गांवों में भर गई और गांवों में ज्यादा भीड़भाड़ हो गई बल्कि सबसे बड़ी बात यह हुई कि गांव की पुरानी अर्थव्यवस्था तथा कृषि एवं घरेलू उद्योग की एकता के आधार पर मरणांतक प्रहार हुआ। शहरों और गांवों दोनों स्थानों में रहने वाले लाखों शिल्पियों और कारीगरों, कातनेवालों, बुनकरों, कुम्हारों और लोहा गलाने वालों, लोहारों के सामने खेती करने के सिवा और कोई विकल्प नहीं बच रहा। इस प्रकार भारत, जो कृषि और उद्योग की मिलीजुली पद्धतिवाला देश था अब जबरन ब्रिटेन के कारखानेवाले पूंजीवाद का कृषीय उपनिवेश बना दिया गया। ब्रिटिश शासनकाल के इन्हीं दिनों से और ब्रिटिश राज के प्रत्यक्ष प्रभाव के फलस्वरूप भारत में खेती पर वह घातक दबाव शुरू होता है जिसे सरकारी दस्तावेजों में बड़ी सहजता के साथ पुराने भारतीय समाज की एक स्वाभाविक घटना का नाम दिया जाता है और जिसे अज्ञान और सतही लोगों द्वारा 'अत्यधिक आबादी' के लक्षणों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दरअस्ल, कृषि पर भारी संख्या में लोगों की निर्भरता ब्रिटिश शासन काल के दौरान ही बढ़ी जो केवल 19वीं सदी में ही नहीं बल्कि 20वीं सदी में भी निरंतर बढ़ती जा रही है। इसकी पुष्टि जनगणना के आंकड़ों को देखने से हो जाती है (1891 से 1921 के बीच कृषि पर निर्भर आबादी 61 प्रतिशत से बढ़कर 73 प्रतिशत हो गई; इन आंकड़ों का विस्तार से अध्ययन करने के लिए अध्याय 7 देखें)।

1840 में ही मांटगोमरी मार्टिन ने पूर्वोद्धृत संसदीय जांच समिति के सामने इस खतरे के प्रति चेतावनी दी थी कि ब्रिटिश सरकार भारत को 'इंग्लैंड के कृषि फार्म के रूप में' तब्दील करने की कोशिश कर रही है :

मैं यह नहीं मानता कि भारत एक कृषिप्रधान देश है, भारत जितना कृषिप्रधान देश है उतना उद्योगप्रधान भी है और जो उसे कृषिप्रधान देश की स्थिति तक लाना चाहते हैं वे सभ्यता के पैमाने पर उसका स्थान नीचे लाने की कोशिश करते हैं। मैं नहीं मानता कि भारत इंग्लैंड का कृषि फार्म बनेगा; भारत एक शिल्पकर्मी

> देश है, विभिन्न कोटि के उसके उत्पादनों का युगों से अस्तित्व रहा है और कोई भी देश ईमानदारी से चलकर उसका मुकाबला नहीं कर सकता है—अब उसे कृषिप्रधान देश के दर्जे पर ला देना भारत के साथ अन्याय करना होगा।

1829 से ईस्ट इंडिया कंपनी ने, जो व्यापार के एकाधिकार से वंचित हो गई थी और इसलिए जिसकी दिलचस्पी व्यापार के बजाय अब मालगुजारी में ज्यादा हो गई थी, भारत में चल रही 'व्यापारिक क्रांति' का अत्यंत निराशाजनक चित्र प्रस्तुत किया। गवर्नर जनरल लार्ड विलियम कैवेंडिस-बैंटिक के 30 मई 1929 के कार्य विवरण से इसका पता चलता है जिसमें कोर्ट आफ डायरेक्टर्स का दृष्टिकोण दिया गया है :

> कोर्ट की सहानुभूति व्यापार परिषद (बोर्ड आफ ट्रेड) की उस रिपोर्ट से काफी बढ़ गई है जिसमें व्यापारिक क्रांति के प्रभावों की निराशाजनक तस्वीर पेश की गई है। इसकी वजह से भारत में विभिन्न वर्गों के लोगों को इस समय इतना कष्ट उठाना पड़ रहा है जिसकी व्यापार के इतिहास में कोई मिसाल नहीं है।

लेकिन कारखानेदारों के हित आगे बढ़ते जाने के लिए कृतसंकल्प थे। 1840 में संसदीय जांच में मैक्लेसफील्ड के एक निर्माता श्री कोप ने कहा : 'मैं निश्चित रूप से भारतीय मजदूरों की स्थिति पर रहम खाता हूं लेकिन साथ ही मुझे भारतीय मजदूर के परिवार से ज्यादा चिंता अपने परिवार की है। चूंकि भारतीय मजदूर के परिवार की स्थिति मुझसे बदतर है इसलिए उनके लिए मैं अपने परिवार की सुख सुविधाओं की बलि चढ़ा दूं, मेरे ख्याल में यह गलत है।'

भारत के लिए औद्योगिक पूंजीपतियों की नीति बड़ी साफ थी : भारत को ब्रिटिश पूंजीवाद का कृषिप्रधान उपनिवेश बनाना, कच्चे माल की यहां से सप्लाई करना और तैयार माल को भारत में बेचना। इस नीति को 1840 में मैनचेस्टर चैंबर आफ कामर्स के अध्यक्ष थामस बैजले ने अपने लक्ष्य के रूप में काफी स्पष्ट कर दिया था :

> भारत एक विशाल देश है और यहां की आबादी इतने बड़े पैमाने पर ब्रिटिश माल खरीदा करेगी जिसकी कोई सीमा नहीं होगी। भारतीय व्यापार के संबंध में हमारे सामने समूची समस्या यह है कि हम जो माल वहां भेजने को तैयार हैं उसकी कीमत क्या भारत के लोग अपने धरती के उत्पादनों में अदा कर सकते हैं ?

यहां भारत के नए युग के शोषण का जो हिसाब लगाया गया है वह उतना ही स्पष्ट और बिना लाग-लपेट के है जितना 75 वर्ष पहले क्लाइव ने भारत के पुराने युग के शोषण का हिसाब लगाया था, जिसे पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

भारत के बाजार को विकसित करने के लिए यह आवश्यक था कि उत्पादन को बढ़ाया जाए और भारत से होने वाले कच्चे माल के निर्यात में वृद्धि की जाए। ब्रिटिश नीति ने अब इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर पैंतरा बदला :

> शुरू के 50 वर्षों में इंग्लैंड के लिए भारत के महत्व का कारण यह था कि इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के लिए आवश्यक कच्चे माल, चमड़ा, तेल, रंग, पटसन और कपास की सप्लाई करता था और साथ ही इंग्लैंड के उत्पादनकर्ताओं के लिए लोहे और कपास का तेजी से बढ़ता हुआ बाजार भी प्रदान करता था। (एल० सी० ए० नावेल्स : 'इकनामिक डेवलपमेंट आफ दि ओवरसीज एंपायर,' पृष्ठ 305)

अंगरेजों की नीति के एक नए चरण में प्रवेश करने का संकेत 1833 में उसी समय मिल गया जब अंगरेजों को इस बात की अनुमति दी गई कि वे भारत में जमीन खरीद सकते हैं और बागान लगा सकते हैं। उसी वर्ष वैस्ट इंडीज में गुलामी की प्रथा समाप्त कर दी गई थी। उसके तत्काल बाद भारत में बागानों की यह नई प्रणाली जारी करना एक झीने पर्दे के आवरण में गुलामी के अलावा और कुछ नहीं था। यह बात भी काफी महत्वपूर्ण है कि भारत में शुरू शुरू में जिन लोगों ने बागानों का काम शुरू किया उनमें से अधिकांश वैस्ट इंडीज के गुलामों के मालिक थे ('वैस्ट इंडीज से अनुभवी बागान मालिक यहां लाए गए…इस क्षेत्र में उजड्ड किस्म के बागान मालिकों ने प्रवेश किया जिनमें से कुछ अमरीका में गुलामों के मालिक थे और वे अपने साथ दुर्भाग्यपूर्ण आदतें और तौर तरीके लाए।': बुकानन : 'डेवलपमेंट आफ कैपिटलिस्ट एंटरप्राइज इन इंडिया,' पृष्ठ 36-37)। इसके भयंकर परिणाम 1860 में नील आयोग (इंडीगो कमीशन) के सामने उद्घाटित हुए। आज दस लाख से भी अधिक मजदूर चाय, रबड़ और काफी के बागानों से बंधे हुए हैं अर्थात कपड़ा मिलों, कोयला खानों, इंजीनियरिंग, लोहा और इस्पात उद्योगों में लगे मजदूरों की लगभग दो-तिहाई संख्या बागानों में काम करती है।

खासतौर से 1833 के बाद कच्चे मालों का निर्यात अचानक बढ़ गया। 1813 में भारत से 90 लाख पौंड कपास बाहर गया था जो 1833 में बढ़कर 3 करोड़ 20 लाख पौंड और 1844 में 8 करोड़ 80 लाख हो गया। 1833 में 3.7 हजार पौंड भेड़ों का ऊन बाहर गया था और यह राशि 1844 में बढ़कर 27 लाख पौंड हो गई। 1833 से 2,100 बुशल तिलहन बाहर गया था, 1844 में 237,000 बुशल बाहर गया।,(पोर्टर : 'प्रोग्रेस आफ दि नेशन,' 1847, पृष्ठ 750)

1849 से 1914 के बीच कच्चे कपास का निर्यात 17 लाख पौंड के मूल्य से बढ़कर 2 करोड़ 20 लाख पौंड हो गया। 1833 में जितने कच्चे कपास का निर्यात हुआ उसका वजन 3 करोड़ 20 लाख पौंड से बढ़कर 1914 में 96 करोड़ 30 लाख पौंड हो गया

अर्थात तीस गुना वृद्धि हुई। 1849 में 68 हजार पौंड के पटसन का निर्यात किया गया था जो 1914 में बढ़कर 86 लाख पौंड हो गया अर्थात 126 गुना वृद्धि हुई।

इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह थी कि उस भारत से अधिक से अधिक माल बाहर भेजा जाने लगा जहां लोग खुद भूख से ग्रस्त थे। 1849 में 8 लाख 58 हजार पौंड की कीमत का अनाज बाहर भेजा गया, इसमें मुख्यतया चावल और गेहूं बाहर भेजा गया था। 1858 तक 38 लाख पौंड की कीमत का अनाज बाहर गया जो 1877 में बढ़कर 79 लाख पौंड, 1901 में 93 लाख पौंड और 1914 में 1 करोड़ 93 लाख पौंड हो गया अर्थात इसमें 22 गुना वृद्धि हुई।

इसके साथ साथ 19वीं सदी के उत्तरार्ध में अकालों की संख्या और भयावहता में भी जबरदस्त वृद्धि हुई। 19वीं सदी के पूर्वार्ध में सात बार अकाल पड़े थे जिनमें अनुमानतः 15 लाख लोग मौत के शिकार हुए थे। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में 24 बार अकाल पड़ा (1851 से 1875 के बीच 6 बार और 1876 से 1900 के बीच 18 बार) जिनमें सरकारी आंकड़ों के अनुसार अनुमानतः 2 करोड़ से भी अधिक लोगों की मृत्यु हुई। 'मोटे तौर पर कहा जाए तो 19वीं सदी के अंतिम तीस वर्षों में अकाल और खाद्यान्नों की जितनी कमी हुई वह एक सौ वर्ष पहले की तुलना में चार गुना अधिक और चार गुना ज्यादा व्यापक थी।' (डब्ल्यू० डिगबी० : 'प्रासपेरस ब्रिटिश इंडिया,' 1901) डब्ल्यू० एस० लिली ने अपनी पुस्तक 'इंडिया ऐंड इट्स प्राब्लम्स' में सरकारी अनुमानों के आधार पर अकाल से होने वाली मृत्यु के निम्न आंकड़े दिए हैं :

वर्ष	अकाल से होने वाली मौतों की संख्या
1800-25	1,000,000
1825-50	400,000
1850-75	5,000,000
1875-1900	15,000,000

1878 में एक अकाल आयोग का गठन किया गया जिसका उद्देश्य बढ़ते हुए अकाल की समस्या पर विचार करना था। आयोग की रिपोर्ट 1880 में प्रकाशित हुई और इसमें बताया गया कि भारत में अकालों के विनाशकारी परिणामों का एक मुख्य कारण और राहत पहुंचाने के काम में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यहां की विशाल जनता प्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है और यहां कोई ऐसा उद्योग नहीं है जिसके सहारे आबादी का उल्लेखनीय हिस्सा अपना काम चला सके।

भारत के लोगों की गरीबी और खाद्यान्नों के संकट के समय उत्पन्न खतरे की जड़ में

> महत्वपूर्ण बात वह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है जिसमें आबादी का अधिकांश भाग महज खेती पर निर्भर है। साथ ही वर्तमान बुराइयों को दूर करने के लिए ऐसा कोई भी उपाय पूरी तरह प्रभावकारी नहीं हो सकता जिसमें लोगों के लिए विभिन्न किस्म के धंधे जारी करना शामिल न हो। इसका कारण यह है कि आबादी का अतिरिक्त हिस्सा जो आज खेती में लगा हुआ है उसे वहां से हटाने के लिए उद्योग धंधों में या इसी तरह के किसी रोजगार में लगाने की जरूरत है। (इंडियन फेमिन कमीशन रिपोर्ट, 1880)

इन शब्दों के साथ औद्योगिक पूंजी ने भारत में अपने कारनामों पर खुद ही फैसला दे दिया।

पाद टिप्पणी

1. इस अध्याय की अधिकांश सामग्री के लिए आर० सी० दत्त की पुस्तक 'इकनोमिक हिस्ट्री आफ इंडिया अंडर अर्ली ब्रिटिश रूल' (1901) और 'इकनोमिक हिस्ट्री आफ इंडिया इन दि विक्टोरियन एज' (1903) के प्रति विशेष रूप से आभार व्यक्त किया जाना चाहिए। ये पुस्तकें 19वीं सदी के अंत तक के विकास के बारे में सर्वाधिक आधिकारिक अध्ययन प्रस्तुत करती हैं।

6

भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद

प्रशासन और शोषण यहां साथ साथ चलते हैं :
1905 में लार्ड कर्जन का वक्तव्य।

1914-18 के युद्ध के बाद से आमतौर पर यह धारणा बन गई कि भारत में साम्राज्यवाद एक ऐसी नई अवस्था में पहुंच चुका है जो अपने पूर्ववर्ती काल से लगभग एकदम भिन्न है।

राजनीतिक क्षेत्र में, यह समझा जाता है कि पुरानी निरंकुशता की समाप्ति 1917 की घोषणा के साथ हो गई जिसने 'साम्राज्यवाद के एक अभिन्न अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना' के नए लक्ष्य का वादा किया था, और बाद के इतिहास को ब्रिटिश कैबीनेट मिशन की 16 मई 1946 की घोषणा के जरिए इस लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति की दिशा में एक के बाद एक सांविधानिक सुधारों के द्वारा क्रमिक विकास (जनता के विरोध और असहयोग के दौर से विकृत) के इतिहास के रूप में देखा गया।

यह समझा जाता है कि आर्थिक क्षेत्र में भारत के औद्योगिक विकास के लिए पुराने अहस्तक्षेपपूर्ण विरोध ने एक नए दृष्टिकोण को स्थान दिया जो ब्रिटिश शासन की प्रोत्साहनकारी देखरेख के अंतर्गत तथा ब्रिटिश पूंजी के साथ भारत को एक आधुनिक औद्योगिक देश के रूप में बदल रहा है। 1918 के बाद के वर्षों के तथ्यों की बारीकी से जांच करने से पता चलेगा कि ये तथ्य साम्राज्यवाद के ह्रासोन्मुख दिनों में उसकी प्रगतिशील तस्वीर खींचने में असमर्थ हैं।

निस्संदेह, भारत के पुराने मुक्त व्यापारवाले औद्योगिक पूंजीवादी शोषण से एक नया रूपांतरण हुआ है। लेकिन परिवर्तन की निर्णायक शुरुआत, दरअस्ल, 1914 के युद्ध के

द्वारा नहीं हुई, सरसरी तौर पर देखने से यह लग सकता है कि इसने पुराने और नए के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया। प्रथम विश्वयुद्ध और उसके दूरगामी प्रभाव परिवर्तन की उस प्रक्रिया के बीच में आ टपके, जो 20वीं सदी के शुरू के 15 वर्षों में जारी थी। यह परिवर्तन मुक्त व्यापारवाली औद्योगिक पूंजीवादी अवस्था की महाजनी पूंजी और भारत में इसके शासन के संक्रमण द्वारा हुआ। इस संक्रमण की आधारशिला पहले ही रखी जा चुकी थी।

1914 के युद्ध ने समूचे घटनाक्रम को तेज कर दिया और उन्हें आगे बढ़ा दिया, साथ ही पूंजीवाद के आम संकट को खोलकर उसने एक के बाद एक ऐसे राजनीतिक जन आंदोलनों की शुरुआत की जिनसे भारत इसके पहले अपरिचित था। इस दोहरी प्रक्रिया से आधुनिक काल के भारत का विशिष्ट चरित्र उभरता है। इसी के साथ इस काल के भारत ने महाजनी पूंजी के शासन के सभी लक्षणों को देखा जो इसके प्रारंभिक दौर में अधूरे रूप में विद्यमान थे। इसके सबके साथ ही, जनप्रहार की एक लहर चल पड़ी जिसने साम्राज्यवादी प्रभुत्व की नींव को हिला दिया। इन दो संचालक शक्तियों ने आज नए भारत की रचना की है।

भारत में जो सांविधानिक सुधार हो रहे हैं वे कोई आज की खोज नहीं है। ये 1861 के कौंसिल्स ऐक्ट (ई० ए० हार्न ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल सिस्टम आफ ब्रिटिश इंडिया' में बताया है कि इस ऐक्ट ने 'ब्रिटिश भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के आरंभिक बीज बोए थे) 1865 और 1882 में म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के विकास, 1892 के कौंसिल्स ऐक्ट और 1909 के मोरले मिंटो सुधारों के समय से निरंतर विकसित हुए हैं। आधुनिक युग की शुरुआत आमतौर से 1917 की घोषणा से मानी जाती है पर इसकी वास्तविक शुरुआत 1914 के एकदम पहले के वर्षों में मोरले मिंटो सुधारों के साथ ही हो गई थी। इसने सत्ता की वास्तविकता को बनाए रखने के साथ साथ बहुप्रचारित उदार सुधारों और रियायतों (बल प्रयोग के साथ साथ) की प्रक्रिया का श्रीगणेश किया। यह सही है कि मोंटागु-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने अपनी खुद की प्रगति का महत्व जतलाने के लिए मोरले मिंटो सुधारों की निंदा करने और उनका महत्व कम आंकने की कोशिश की (उस क्षण के उत्साह में उनके लिए बड़े बड़े दावे किए गए); लेकिन द्वितंत्र की उसकी खुद की पद्धतियों की भी उसके उत्तराधिकारियों द्वारा कम निंदा नहीं की गई। यह सभी मानते हैं कि प्रारंभिक योजना ने स्वशासन नहीं प्रदान किया; लेकिन यह आलोचना बाद की योजनाओं पर भी लागू होती है। 1918 के बाद के वर्षों को ब्रिटिश जनता के सामने भले ही इस रूप में पेश किया गया हो जिसमें सत्ता द्वारा रियायतें दी जाने की बात शामिल हो लेकिन भारतीय जनता के सामने एक दूसरी ही तस्वीर थी। इस दौर के बारे में बताया गया है कि रियायतों के साथ साथ व्यापक और घोर दमन का सिलसिला जारी रहा, अभूतपूर्व पैमाने पर गिरफ्तारियां हुईं, व्यापक स्तर पर हिंसा हुई और जगह जगह गोलियां चलीं तथा निषेधात्मक कानून लागू किए गए।

इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में नए दौर के प्रारंभिक संकेतों की तलाश 20वीं सदी के शुरू के वर्षों में की जा सकती है। 1905 में ही लार्ड कर्जन ने उद्योग और वाणिज्य के नए विभाग की स्थापना की और 1907 में पहला औद्योगिक सम्मेलन आयोजित किया गया। भारतीय कपड़ा मिल उद्योग का विकास 1914 के बाद के बीस वर्षों की तुलना में 1914 के पहले के बीस वर्षों में अपेक्षाकृत ही नहीं बल्कि पूरी तरह तेज रहा। उद्योगीकरण के लक्ष्यों के संदर्भ में नीति में परिवर्तन की घोषणाएं पहले की अपेक्षा उस समय से ज्यादा महत्वपूर्ण रहीं और सीमाशुल्क संबंधी नई नीति का निर्माण भी 1918 के बाद के वर्षों में हुआ। लेकिन यह सभी मानते हैं कि आवश्यकताओं और संभावनाओं की तुलना में इनके परिणाम बेहद अपर्याप्त थे और उत्पादन संबंधी विकास में बाधा पहुंचानेवाले विरोध जारी ही नहीं रहे बल्कि नए रूपों में ये और तेज हुए।

आधुनिक काल का मुख्य रूपांतरण वह राजनीतिक रूपांतरण है जो स्वतंत्रता के संघर्ष में भारतीय जनता द्वारा नए चरण तक प्रगति के द्वारा हुआ है। जो भी हो, इस प्रगति की उपलब्धि साम्राज्यवाद के विरोध में हुई है।

भारत में साम्राज्यवादी शासन के आधुनिक काल का संचालन करने वाली शक्तियों के विश्लेषण के लिए औद्योगिक पूंजी के युग से महाजनी पूंजी के युग में संक्रमण को अच्छी तरह समझना होगा। इस काल को समझने के लिए इस प्रक्रिया और इसके परिणामों को समझना सबसे जरूरी है।

1. महाजनी पूंजी में संक्रमण

19वीं सदी में औद्योगिक पूंजी जिन खास खास तरीकों से भारत का शोषण करती थी उनमें सीधी लूट के तरीके समाप्त नहीं हो गए थे। वे भी जारी थे लेकिन उनका रूप बदल गया था।

नजराना, 19वीं सदी के मध्य तक सरकारी प्रवक्ता इसे खुलेआम नजराना ही कहते थे, अथवा लाखों पौंड की जो संपत्ति प्रतिवर्ष इंग्लैंड भेजी जाती थी, उसका सिलसिला जारी रहा, उसे गृह शुल्क के अंतर्गत तथा व्यक्तिगत तौर पर भेजा जाता रहा। व्यापार के विकास के साथ साथ धन भेजे जाने की क्रिया में भी 19वीं सदी के दौरान तेजी से वृद्धि हुई। भेजी जाने वाली इस राशि के बदले में भारत को कोई माल नहीं मिलता था (सिवाय यथानुपात उस मामूली राशि के जो सरकारी भंडारों के लिए इंग्लैंड से आती थी।) 20वीं सदी में इसमें और भी वृद्धि हुई हालांकि व्यापार में अपेक्षाकृत गिरावट आई।

1848 में वेस्ट इंडीज और ईस्ट इंडीज में चीनी और काफ़ी की खेती के बारे में हाउस आफ कामंस की प्रवर समिति के सामने ईस्ट इंडिया कंपनी के एक डायरेक्टर कर्नल साइक्स ने अनुमान लगाया था कि नजराने (यह शब्द उन्होंने स्वयं इस्तेमाल किया था)

की राशि के रूप में प्रतिवर्ष 35 लाख पौंड दिया जाता है, 'भारत इस नजराने का बोझ तभी बर्दाश्त कर सकता है जब आयात की तुलना में निर्यात अधिक हो।' इसी प्रकार भारत के एक व्यापारी एन० एलेक्जेंडर ने इसी समिति के सामने बताया कि '1847 तक भारत लगभग 60 लाख पौंड का आयात और लगभग 90 लाख पौंड का निर्यात करता था। आयात और निर्यात के बीच का यह अंतर ही वह नजराना है जो कंपनी को मिलता था और जो लगभग चालीस लाख पौंड होता था।'

1851 से 1901 के बीच शासन करने वाले अधिकारियों द्वारा 'गृह शुल्क' के नाम पर इंग्लैंड भेजी गई कुल राशि में सात गुना वृद्धि हुई और यह 25 लाख पौंड से बढ़कर 1 करोड़ 73 लाख पौंड हो गई जिसमें से केवल 20 लाख पौंड से सामान आदि खरीदे गए थे। इस आंकड़े में वह राशि नहीं शामिल की गई है जो सरकारी अफसरों ने व्यक्तिगत तौर से भेजी थी। 1913-14 तक यह राशि बढ़कर 1 करोड़ 94 लाख पौंड हो गई जिसमें से केवल 15 लाख पौंड का सामान आदि खरीदा गया था। 1933-34 तक सरकारी खाते के अनुसार इंग्लैंड में खर्च की गई कुल राशि 2 करोड़ 75 लाख पौंड थी जिसमें से केवल 15 लाख पौंड सामान वगैरह की खरीद में खर्च हुआ था (1914 में रुपये की विनिमय दर एक शिलिंग चार पैंस थी जिसे 1933 में बदलकर एक शिलिंग छ: पैंस कर दिया गया जिससे इसका भुगतान करने के लिए आवश्यक रुपये की संख्या भारत में कम हो गई लेकिन भारत के मूल्य स्तर में गिरावट आने से इसका काफी प्रति संतुलन हो गया। 1914 में मूल्य स्तर 147 था जो 1933 में कम होकर 121 हो गया। इससे 1914 के मूल्य के अनुसार भारत पर 3 करोड़ पौंड का बोझ पड़ गया।)

1851 से 1901 के बीच भारत से होने वाले निर्यात (पण्य और खजानों का) में तीन गुना वृद्धि हुई और यह 33 लाख पौंड से बढ़कर 1 करोड़ 10 लाख पौंड हो गया (पण्यों में 72 लाख पौंड से 2 करोड़ 74 लाख पौंड तक की वृद्धि हुई)। लेकिन 20वीं सदी में निर्यात में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई। 1901 से 1913-14 के बीच यह 1 करोड़ 10 लाख पौंड से बढ़कर 1 करोड़ 42 लाख पौंड हो गई। फिर भी 1913-14 का वर्ष औसत से नीचे ही था। युद्ध से पहले के 5 वर्षों अर्थात 1909-10 से लेकर 1913-14 का औसत देखा जाए तो निर्यात में कुल वार्षिक आधिक्य 2 करोड़ 25 लाख पौंड था। इसे 1901 के स्तर का दुगना मान सकते हैं (देखें 'रिपोर्ट आफ दि इंडियन फिस्कल कमीशन', 1922, पृष्ठ 20)।

1933-34 तक भारत से किया गया कुल निर्यात 6 करोड़ 97 लाख पौंड तक पहुंच गया जिसमें से 2 करोड़ 68 लाख पौंड के पण्य और 4 करोड़ 29 लाख पौंड के खजाने भेजे गए। यह अंतिम राशि जो असाधारण रूप से अधिक है इस बात का संकेत देती है कि संकट के समय स्टर्लिंग की सहायता के लिए भारत से सोना भेजा गया। यदि बेहतर ढंग से तुलना करने के लिए 1931-32 से 1935-36 के पांच वर्षों की अवधि का औसत लें तो

यह राशि 5 करोड़ 92 लाख पौंड आएगी जो युद्ध पूर्व के पांच वर्षों की अवधि (1910-14) की लगभग तीन गुना अधिक और 1901 के स्तर की पांच गुना से भी अधिक होगी।

यदि 19वीं सदी के मध्य से शुरू हुए नजराने की राशि में वृद्धि का, जो भारत से इंग्लैंड भेजी गई (जिसमें भारतीय निर्यात और आयात के बीच मूल्य स्तर में अंतर के जरिए होने वाले शोषण का कोई उल्लेख नहीं है) कोई चार्ट तैयार करें तो पहली ही झलक में यह साफ साफ पता चल जाएगा कि आधुनिक युग में इंग्लैंड ने भारत के शोषण में कितनी प्रगति की है, हालांकि यह आज भी अपनी सारी कारगुजारियों के एक अंश से ज्यादा की जानकारी नहीं देता है।

भारत से इंग्लैंड जाने वाले नजराने में वृद्धि (लाख पौंड में)

	1851	1901	1913-14	1933-34
गृह शुल्क..................	25	1.73	1.94	2.75
भारतीय निर्यात में अधिकता..................	33	1.10	1.42	6.97

अथवा व्यापार संबंधों का और संतुलित चित्र पेश करने के लिए पांच वर्ष की अवधि का खाका देख सकते हैं :

पांच वर्ष की अवधि का वार्षिक औसत (लाख पौंड में)

	1851-55	1897-1901	1909-10 से 1913-14 तक	1931-32 से 1935-36 तक
भारतीय निर्यात में अधिकता.........	43	1.53	2.25	5.92

इस तालिका से पता चलता है कि भारत से इंग्लैंड जाने वाली धन संपत्ति में तेजी से वृद्धि हुई। इससे शोषण के रूप और तरीके में परिवर्तन की झलक मिलती है।

19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत से इंग्लैंड जाने वाले नजराने की राशि में जबरदस्त वृद्धि और बीसवीं सदी में इस वृद्धि के जारी रहने के पीछे; दरअस्ल, जो बात छिपी है वह यह है कि शोषण के एक नए रूप का जन्म हो चुका था जिसकी 19वीं सदी के स्वतंत्र व्यापारवाले औद्योगिक पूंजीवाद से शुरुआत हुई थी लेकिन जो महाजनी पूंजी द्वारा भारत के शोषण के 20वीं सदी की नई अवस्था में विकसित हो रहा था।

19वीं सदी के स्वतंत्र व्यापार पर आधारित औद्योगिक पूंजीवाद की आवश्यकताओं ने अंगरेजों को इस बात पर मजबूर किया कि वे भारत में अपनी नीति में कुछ परिवर्तन करें। एक तो इस बात की आवश्यकता थी कि अब कंपनी को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया जाए और उसके स्थान पर ब्रिटिश सरकार का सीधा प्रशासन लागू किया जाए जो

ब्रिटेन के संपूर्ण पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करे। इस लक्ष्य की प्राप्ति कुछ अंशों में 1833 के सरकारी आदेशपत्र से हुई और 1858 में यह काम पूरी तरह संपन्न हो गया।

दूसरे, भारत को व्यापारिक घुसपैठ के लिए पूरी तरह खोल देना आवश्यक था। इसके लिए जरूरी था कि रेल लाइनों का जाल देश भर में बिछा दिया जाए; सड़कों का विकास किया जाए; सिंचाई की ओर ध्यान दिया जाए जिसकी ब्रिटिश राज में पूरी तरह उपेक्षा की गई थी; विद्युत संचालित टेलीग्राफ प्रणाली की शुरुआत की जाए, और देश भर में एक जैसी डाक व्यवस्था कायम हो; क्लर्कों और मातहत कर्मचारियों की भरती के लिए सीमित अंश में अंगरेजी ढंग की शिक्षा शुरू की जाए और यूरोप के ढंग की बैंक व्यवस्था शुरू की जाए।

इस सबका अर्थ यह हुआ कि सार्वजनिक निर्माण कार्यों के संदर्भ में एशिया में किसी सरकार द्वारा अत्यंत प्रारंभिक कार्यों की सौ वर्षों तक उपेक्षा करने के बाद अब शोषण की आवश्यकताओं ने, बेहद एकतरफा और असंतुलित ढंग से ही सही एक ऐसी शुरुआत के लिए सरकार को मजबूर किया (औद्योगिक विकास का गला घोंट कर और उसे निष्फल बना कर) जिसका उद्देश्य जनता के लिए अत्यंत दुःसह आर्थिक शर्तों पर विदेशी घुसपैठ के लिए महज व्यापारिक और सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था।

रेल व्यवस्था के बारे में, 1853 में लार्ड डलहौजी की मशहूर टिप्पणी ने बड़े पैमाने पर रेल व्यवस्था के निर्माण को प्रोत्साहन दिया। इस टिप्पणी में बड़े साफ़ शब्दों में व्यापारिक उद्देश्य निर्धारित किए गए थे और बताया गया था कि ब्रिटिश माल के लिए भारत को बाजार के रूप में विकसित करने के लिए तथा कच्चे माल के स्रोत रूप में भारत का इस्तेमाल करने के लिए रेल व्यवस्था मजबूत करना बहुत जरूरी है :

> मुझे पूरा यकीन है कि इसकी स्थापना से भारत को जो व्यापारिक और सामाजिक लाभ मिलेंगे उनकी गिनती नहीं की जा सकती···इंगलैंड को कपास की अत्यधिक जरूरत है जिसे भारत कुछ अंश में पैदा करता है और यदि उसके दूरदराज क्षेत्रों से जहाजों में लाद कर भेजने के लिए बंदरगाहों तक पहुंचाने की उचित व्यवस्था कर दी जाए तो वह अच्छे किस्म की कपास पर्याप्त मात्रा में पैदा कर सकता है। जैसा हमने देखा है व्यापार की जितनी ही सुविधा दी गई है उतनी ही बड़ी मात्रा में भारत के तमाम बाजारों में इंगलैंड के सामानों की मांग बढ़ी है···दुनिया के इस हिस्से में हमारे लिए नए नए बाजार तैयार हो रहे हैं और हमारे माल की जो कीमत इन बाजारों में निर्धारित हो रही है उनका अनुमान चतुर से चतुर दूरदर्शी व्यक्ति भी नहीं लगा सकता। (लार्ड डलहौजी, गवर्नर जनरल, 1848-56, रेल व्यवस्था पर टिप्पणी, 1853)

लेकिन सक्रिय विकास और खासतौर से रेल निर्माण की इस क्रिया के, जो भारत में व्यापारिक घुसपैठ के लिए औद्योगिक पूंजी की आवश्यकताओं से पैदा हुई थी (साथ ही लोहा, इस्पात और इंजीनियरिंग सामानों के बाजार के लिए उत्पन्न जरूरत), कुछ अवश्यंभावी परिणाम हुए। इन्होंने एक नए दौर की नींव रखी, और वह था भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश का दौर। अब यहां अंगरेजों ने अपनी पूंजी लगानी शुरू कर दी।

साम्राज्यवादी विस्तार के सामान्य नियम के अंतर्गत इस प्रक्रिया को पूंजी का निर्यात कहा जाएगा। लेकिन जहां तक भारत की बात है, यहां जो कुछ हुआ उसे यदि पूंजी का निर्यात कहेंगे तो यह वास्तविकता से आंखें मूंदना होगा। जिसे पूंजी का वास्तविक निर्यात कहा जाता है वह यहां बहुत कम हुआ। 1914 तक की पूरी अवधि में केवल 1856 से लेकर 1862 तक के सात वर्ष ही ऐसे हैं जब निर्यात से आयात अधिक रहा वरना सामान्यत: निर्यात ही अधिक रहता था। इन सात वर्षों में जितनी कीमत का माल भारत से इंग्लैंड गया उससे 2 करोड़ 25 लाख पौंड ज्यादा कीमत का माल इंग्लैंड से भारत आया। यह कोई बहुत बड़ी राशि नहीं थी क्योंकि अंतत: भारत में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी 1914 तक 50 करोड़ पौंड के लगभग हो गई थी। समूची अवधि में ब्रिटेन से भारत को पूंजी का जो निर्यात हुआ वह भारत से इंग्लैंड को भेजे गए नजराने की तुलना में इतना अधिक था कि वह उसका प्रति संतुलन बनाए रख सकता था। और यह भी ऐसे समय जब पूंजी को व्यापार में लगाया जा रहा हो। इस प्रकार भारत में लगाई गई ब्रिटिश पूंजी का प्रबंध वस्तुत: भारतीय जनता की लूट से भारत में एकत्र करके किया गया था और फिर उसे ब्रिटेन की ओर से भारत की जनता पर कर्ज के रूप में दर्ज कर लिया गया था। इसपर तभी से भारत को ब्याज और लाभांश देना पड़ रहा है।

भारत में ब्रिटिश पूंजीनिवेश का केंद्र सार्वजनिक ऋण था। यही वह प्रिय तरीका था जिसे ब्रिटेन के अल्पतंत्र ने अपनी जकड़ मजबूत करने के लिए अपनाया था। 1858 में जब ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में सत्ता ली तो ईस्ट इंडिया कंपनी से सात करोड़ पौंड का कर्ज भी उत्तराधिकार में मिला। दरअस्ल, जैसाकि भारतीय लेखकों ने हिसाब लगाया है ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत से नजराने के रूप में 15 करोड़ पौंड से भी अधिक की राशि निकाली थी जो भारत से बाहर, अफगानिस्तान, चीन और अन्य देशों में ब्रिटेन द्वारा छेड़े गए युद्ध के खर्चों के अतिरिक्त है। यदि सही ढंग से हिसाब किया जाता तो इंग्लैंड पर भारत का ही कर्ज निकलता। लेकिन ब्रिटिश सरकार के हिसाब में भारत ही कर्जदार रहा और उसपर यह कर्ज तेजी से बढ़ता गया।

ब्रिटिश सरकार की देखरेख में सार्वजनिक ऋण 18 वर्षों में दुगना हो गया अर्थात वह 7 करोड़ पौंड से बढ़कर 14 करोड़ पौंड हो गया। 1900 तक यह बढ़कर 22 करोड़ 40 लाख पौंड और 1913 तक 27 करोड़ 40 लाख पौंड हो गया। 1939 तक, द्वितीय विश्वयुद्ध के शुरू होने से तुरंत पहले, यह राशि 88 करोड़ 42 लाख पौंड या 11 अरब 79 करोड़

रुपये हो गई जिसे दो भागों में बांट दिया गया, 7 अरब 9 करोड़ 90 लाख रुपये (53 करोड़ 24 लाख पौंड) भारतीय ऋण और 4 अरब 69 करोड़ 10 लाख रुपये (35 करोड़ 18 लाख पौंड) स्टर्लिंग ऋण या ब्रिटिश ऋण। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष शासनकाल के लगभग 75 वर्षों में ऋण की राशि में 12 गुना से भी अधिक की वृद्धि हुई।

विशेष महत्वपूर्ण बात यह थी कि इंग्लैंड का स्टर्लिंग ऋण तेजी से बढ़ रहा था। 1856 तक यानी कंपनी के शासनकाल की समाप्ति तक वह ऋण 40 लाख पौंड से कम ही था। 1860 तक इसमें तेजी से वृद्धि हुई और यह 3 करोड़ पौंड हो गया, 1880 तक 7 करोड़ 10 लाख, 1900 तक 13 करोड़ 30 लाख, 1913 तक 17 करोड़ 70 लाख और 1939 तक 35 करोड़ 58 लाख पौंड हो गया।

इस ऋण का कारण एक तो युद्ध आदि के वे खर्च थे जो भारत से वसूल किए जाते थे और दूसरा, सरकार द्वारा शुरू की गई रेल और सार्वजनिक निर्माण योजनाओं की लागत। शुरू के 7 करोड़ पौंड का कर्ज मुख्यत: लार्ड वेलेजली के युद्धों, प्रथम अफगान युद्धों, सिख युद्धों और 1857 के विद्रोह को कुचलने में हुए खर्च के कारण था। बाद के 7 करोड़ पौंड के, जिसके द्वारा 18 वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने ऋण की राशि दुगनी कर दी, एक हिस्से 2 करोड़ 40 लाख पौंड को रेल निर्माण और सिंचाई कार्यों पर खर्च किया गया। कर्ज का शेष भाग इस कारण बढ़ा था क्योंकि ब्रिटिश सरकार उन प्रत्येक कल्पनीय खर्चों के लिए भारत के मद से पैसा लेती थी जिसका भारत से या भारत में ब्रिटिश शासन से संबंध हो या न हो। यहां तक लंदन में टर्की के सुल्तान को दावत देने, चीन और फारस के साथ ब्रिटेन के राजनयिक एवं वाणिज्यिक संबंध स्थापित करने, अबीसीनिया में युद्ध छेड़ने या भूमध्य सागर के जहाजी बेड़े का खर्च उठाने में भारत पर ही कर्ज का बोझ लादा जाता था।

> भारत के मत्थे आसानी से मढ़ दिए जाने वाले खर्चे बड़े हास्यास्पद लगते थे। विद्रोह के फलस्वरूप हुए खर्चे हों या ब्रिटिश राज्य के नाम कंपनी के अधिकारों के हस्तांतरण की कीमत, चीन और अबीसीनिया में एक साथ जारी युद्ध के खर्च हों या लंदन में सरकारी कामकाज के लिए ऐसी कोई भी चीज खरीदी गई हो जिसका भारत से दूर दूर तक कोई संबंध न हो, इंडिया आफिस में सफाई का काम करने वाली महिला की तनख्वाह हो या उन जहाजों का खर्च हो जो पानी में उतार तो दिए गए हों लेकिन जिन्होंने युद्ध में हिस्सा न लिया हो अथवा भारतीय सैनिक टुकड़ियों के छ: महीने के प्रशिक्षण का खर्च हो, इन सभी कामों का खर्च उस रैयत के खाते से वसूला जाता था जिसका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। टर्की के सुल्तान ने 1868 में लंदन की राजकीय यात्रा की और उनके लिए राजकीय नृत्य की व्यवस्था इंडिया आफिस में की गई तथा इसपर

> जितना पैसा खर्च हुआ वह पैसा भारत से वसूला गया । 1870 से पहले तक भारतीय खजाने से जिन कामों के लिए पैसा निकाला गया उनमें ईलिंग में पागलखाना खोलने, जंजीबार के दल के सदस्यों को उपहार देने, चीन और फारस में ग्रेट ब्रिटेन के राजनयिक और वाणिज्य संबंध स्थापित करने, भूमध्य सागर में स्थित जंगी बेड़े के स्थाई खर्च का एक अंश वसूलने और इंगलैंड से भारत तक तार सेवा स्थापित करने का समूचा खर्च शामिल है । इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि शाही प्रशासन के शुरू के 13 वर्षों के दौरान भारतीय राजस्व में 3 करोड़ 30 लाख पौंड से 5 करोड़ 20 लाख पौंड प्रति वर्ष की वृद्धि हुई और 1866 से 1870 तक घाटे के रूप में 1 करोड़ 15 लाख पौंड की राशि दर्ज की गई । 1857 से 1860 के बीच घरेलू ऋण के रूप में 3 करोड़ पौंड की राशि अंकित की गई और इसमें तेजी से वृद्धि हुई जबकि ब्रिटिश राजनेताओं को मितव्ययता के लिए भारतीय हिसाब-किताब में विवेकपूर्ण जोड़ तोड़ के जरिए वित्तीय मामलों में कुशल होने के लिए ख्याति मिली । (एल० एच० जेंक्स : 'दि माइग्रेशन आफ ब्रिटिश कैपीटल,' पृष्ठ 223-24)

राज्य की मदद से रेल पथ निर्माण का विकास और यह कार्य करने के लिए निजी कंपनियों को दी गई गारंटी तथा साथ ही सीधे राज्य द्वारा रेलवे निर्माण से इस ऋण में बहुत अधिक वृद्धि हुई । जो प्रणाली अपनाई गई थी उसके अंतर्गत रेल निर्माण के लिए ब्रिटेन का पूंजीपति जितनी भी पूंजी लगाता था उसपर सरकार से पांच प्रतिशत ब्याज की गारंटी मिलती थी । जाहिर है इस प्रणाली ने बेहद फिजूलखर्ची को बढ़ावा दिया । 1872 तक शुरू के छः हजार मील में जो रेल लाइन बिछाई गई उसपर 10 करोड़ पौंड का खर्च आया । इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक मील में रेल लाइन बिछाने में 16 हजार पौंड से अधिक की राशि खर्च हुई । 1872 में रेलवे के आय व्यय के भूतपूर्व सरकारी आडीटर ने भारतीय वित्त के बारे में संसदीय समिति को बताया कि 'आपस में एक तरह की ऐसी समझदारी थी कि उनके काम को बड़ी बारीकी से नियंत्रित नहीं किया जाएगा...जब तक सारा हिसाब किताब सौंप नहीं दिया गया खर्च किए गए पैसों के बारे में कोई जानकारी नहीं मालूम थी ।' इसी समिति के सामने भारत के भूतपूर्व वित्तमंत्री डब्ल्यू० एन० मैसे ने बताया कि 'बड़े पैमाने पर पैसे की फिजूलखर्ची हुई और ठेकेदारों का मितव्ययता का कोई इरादा नहीं था । सारा पैसा अंगरेज पूंजीपतियों द्वारा लगाया जाता था और जब तक उन पूंजीपतियों को भारत के राजस्व पर पांच प्रतिशत की गारंटी थी उनके लिए यह सोचना बेकार था कि जो पैसा वे लगा रहे हैं वह हुगली नदी में फेंका जा रहा है या उसका इस्तेमाल ईंट और गारे में किया जा रहा है...मुझे ऐसा लगता है कि जितनी फिजूलखर्ची यहां हो रही है उतनी पहले कहीं भी देखने में नहीं आई थी ।'

19वीं सदी के अंत तक रेल निर्माण पर 22 करोड़ 60 लाख पौंड खर्च किया गया था

जिससे फायदे की बात तो दूर, 4 करोड़ पौंड का नुकसान ही हुआ था। यह सारा नुक-सान भारतीय बजट पर डाला गया। 20वीं सदी में रेलों से मुनाफा कमाया जाए और 1943-44 तक जब रेल निर्माण कार्य में लगा स्टर्लिंग ऋण जो लगभग 1 करोड़ पौंड प्रति वर्ष था (1933-34 में 9 करोड़ 70 लाख पौंड) भारत से इंग्लैंड भेज दिया गया।

रेल निर्माण और चाय, काफ़ी तथा रबड़ बागानों एवं कुछ छोटे मोटे उद्योगों के विकास के साथ साथ 19वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटेन के पूंजीपति बड़ी तेजी से अपनी निजी पूंजी भारत में लगाने लगे।

इसी अवधि में ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार के प्रतिबंधों के समाप्त होने पर अंगरेजों ने भारत में अपने निजी बैंक भी खोले। 1876 के प्रेसीडेंसी बैंक ऐक्ट ने तीन प्रेसीडेंटी बैंकों को सरकारी संरक्षण के अधीन ला दिया जिन्हें बाद में 1921 में बहुत बड़े बैंक इंपीरियल बैंक आफ इंडिया में मिला दिया गया। विनिमय बैंकों ने, जिनके मुख्यालय भारत से बाहर थे, भारत में अपना कार्य प्रेसीडेंसी बैंक के साथ मिलकर करना शुरू किया। प्रेसीडेंसी बैंक ब्रिटिश नियंत्रण के अधीन वित्त, वाणिज्य और उद्योग पर अपना प्रभुत्व बनाए हुए थे। विनिमय बैंकों (इनके मुख्य कार्यालय भारत से बाहर थे) में खासतौर में चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया, आस्ट्रेलिया ऐंड चाइना जिसे 1853 में चार्टर (सरकारी आदेश) मिला था, मर्कैंटाइल बैंक आफ इंडिया जो उसी वर्ष प्राप्त आदेशवाले एक बैंक से निकला था, 1864 से शुरू नेशनल बैंक आफ इंडिया और 1867 से शुरू हांगकांग ऐंड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन (विनिमय बैंकों में चार बड़े बैंक) प्रमुख थे। भारत के ज्वाइंट स्टाक बैंकों ने इन विनिमय बैंकों के प्रभुत्व के खिलाफ आगे बढ़ने की कोशिश की लेकिन चूंकि विदेशी बैंकों को कई तरह के लाभ प्राप्त थे इसलिए उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। 1913 तक विदेशी बैंकों के पास (प्रेसीडेंसी बैंकों और विनिमय बैंकों) बैंकों की कुल जमा राशि का तीन चौथाई हिस्सा था जबकि भारतीय ज्वाइंट स्टाक बैंकों के खाते में एक चौथाई से भी कम हिस्सा आ सका था।

1909-10 में सर जार्ज पैश ने अनुमान लगाया था कि भारत और लंका में कुल 36 करोड़ 50 लाख पौंड की ब्रिटिश पूंजी लगी हुई है (इसमें कंपनियों की पूंजी को छोड़कर निजी पूंजी को शामिल नहीं किया गया है। कंपनियों की पूंजी का तत्काल कोई लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है)। सर जार्ज पैश ने 1911 में रायल स्टेटिस्टिकल सोसायटी के सामने एक लेख पढ़ा था जिसमें उन्होंने यह बात कही थी और एक आंकड़ा प्रस्तुत किया था (जनरल आफ दि रायल स्टेटिस्टिकल सोसायटी, खंड 74, भाग 1, 2 जनवरी 1911, पृष्ठ 186)

पृष्ठ 160 की तालिका से यह देखा जा सकता है कि भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश की प्रक्रिया या तथाकथित 'पूंजी के निर्यात' का यह मतलब नहीं था कि भारत में आधुनिक

उद्योग का विकास हो गया था। 1914 के युद्ध के पहले भारत में जितनी ब्रिटिश पूंजी लगी थी उसका 97 प्रतिशत भाग सरकारी कामों, यातायात, बागानों और बैंकों में लगा हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि पूंजी का अधिकांश ऐसे कामों में लगा था जिनसे अंगरेजों

	लाख पौंडों में
सरकारी और म्यूनिसिपल… … …	… 1825
रेलें… … …	… 1365
बागान (चाय, काफी, रबड़)… … …	… 242
ट्राम वे… … …	… 41
खानें… … …	… 35
बैंक… … …	… 34
तेल… … …	… 32
व्यापारिक और औद्योगिक… … …	… 25
वित्त, भूमि और पूंजीनिवेश … … …	… 18
विविध… … …	… 33

को भारत में अपना व्यापार फैलाने और कच्चे मालों के स्रोत तथा ब्रिटिश माल के बाजार के रूप में उसका शोषण करने में मदद मिलती थी। इन कामों का औद्योगिक विकास से किसी भी तरह का संबंध नहीं था।

सर जार्ज पैश ने जो अनुमान लगाया था वह निस्सन्देह एक रूढ़ अनुमान था जिसमें उन बातों को परे रख दिया गया था जिनकी जानकारी संभव नहीं थी। 1914 से पहले भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश के बारे में जो अन्य अनुमान लगाए गए थे उनके अनुसार ऐसी कुल पूंजी 45 करोड़ पौंड (एच० ई० हावर्ड ने 1911 में 'इंडिया ऐंड दि गोल्ड स्टैंडर्ड', में उल्लेख किया है), और 47.5 करोड़ पौंड (20 फरवरी 1909 में इकोनोमिस्ट में प्रकाशित एक लेख 'अवर इन्वेस्टमेंट्स एब्राड' के अनुसार) थी।

2. महाजनी पूंजी और भारत

इस प्रकार, सामान्यतः भारत के महाजनी पूंजीवादी शोषण के लिए प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ही जमीन तैयार हो गई थी पर यह अपने पूर्ण स्वरूप में बाद के वर्षों में ही आ सका।

1909-10 में भारत में लगाई गई पूंजी की संरचना का सर जार्ज पैश ने विश्लेषण किया जिससे पता चलता है कि पहले से ही मौजूद औद्योगिक पूंजीवाद और व्यापार के जरिए भारत के शोषण की परिस्थितियों से उत्पन्न ब्रिटिश महाजनी पूंजी द्वारा भारत के शोषण का नया आधार शुरू से ही व्यापार की प्रक्रिया का सहायक था। उसने इस प्रक्रिया का

स्थान कभी नहीं ग्रहण किया। फिर भी इसकी मात्रा में जो परिवर्तन हुआ वह आधुनिक युग के लिए काफी महत्वपूर्ण है।

19वीं सदी में उद्योग के क्षेत्र में अंगरेजों का जो एकाधिकार कायम हो गया था और विश्व बाजार में उनका जो दबदबा बन गया था वह 1875 के बाद कमजोर पड़ने लगा। विश्व के अन्य हिस्सों में भी नए अमरीकी और यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों के सामने उनका पतन दिखाई पड़ने लगा। भारत में इस अवनति की रफ्तार अपेक्षाकृत धीमी रही क्योंकि यहां राजनीतिक प्रभुसत्ता के जरिए अंगरेजों ने अपनी पकड़ काफी मजबूत कर ली थी। यहां तक कि 1914 के युद्ध तक ब्रिटेन का लगभग दो तिहाई भारतीय बाजार पर अधिकार बना था जबकि शेष एक तिहाई हिस्सा विश्व के अन्य देशों को मिला था। इसके बावजूद 1875 के बाद से उनका व्यापार भारत में भी धीरे धीरे किंतु निरंतर कमजोर पड़ने लगा।

1874 से 1879 तक के पांच वर्षों में भारत में जो कुल माल विदेशों से आया था उसका 82 प्रतिशत हिस्सा ब्रिटेन से आया था। इसके अलावा कुल माल का 11 प्रतिशत हिस्सा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य हिस्सों से आया था। इस प्रकार विश्व के अन्य देशों के लिए भारतीय बाजार का 1/14 से भी कम हिस्सा बच रहा था। 1884-89 तक ब्रिटेन का हिस्सा 82 प्रतिशत से घटकर 79 प्रतिशत हो गया। 1899-1904 तक यह 66 प्रतिशत और 1909-14 तक 63 प्रतिशत हो गया।

लेकिन साथ ही लगाई गई पूंजी पर मुनाफे में और घरेलू खर्च की राशि में तेजी से वृद्धि होने लगी। 1913-14 में भारत और ब्रिटेन के बीच 11 करोड़ 70 लाख का व्यापार हुआ। जिन सामानों का व्यापार किया गया, चाहे वे ब्रिटेन से आयात किए गए हों या भारत से, उन सब पर 10 प्रतिशत व्यापारिक लाभ की दर से 1 करोड़ 20 लाख पौंड का मुनाफा हुआ। यदि इसमें भारत को भेजे गए सभी ब्रिटिश सामानों पर निर्माताओं के मुनाफे के रूप में और 10 प्रतिशत जोड़ें (7 करोड़ 80 लाख पौंड पर 80 लाख पौंड) तथा जहाज कंपनियों के मालिकों की आय के रूप में 80 लाख पौंड जोड़ें (1913 के व्यापार बोर्ड की एक जांच में अनुमान लगाया गया था कि 1913 में जहाजरानी से ब्रिटेन को जो कुल 9 करोड़ 40 लाख पौंड की आय हुई थी उसमें भारत का हिस्सा केवल 9 प्रतिशत था), तो पता चलेगा कि अंगरेज व्यापारियों, निर्माताओं और जहाज कंपनियों को 1913 में भारत से अधिक से अधिक कुल 2 करोड़ 80 लाख पौंड का मुनाफा हुआ था।

लेकिन एच॰ई॰ हावर्ड के 'इंडिया ऐंड दि गोल्ड स्टैंडर्ड' के अनुसार 1911 तक भारत में कुल ब्रिटिश पूंजी 45 करोड़ पौंड थी जो 1914 के युद्ध के अवसर पर 50 करोड़ पौंड से भी अधिक हो गई थी। यदि इस पूंजी पर औसत ब्याज की दर महज 5 प्रतिशत ही

रखी जाए तो भी उससे ढाई करोड़ पौंड की आमदनी होगी। इसमें पूंजी के उन सभी वर्गों से होने वाली आय और मुनाफा जोड़ना होगा जिसका प्रतिनिधित्व भारत में काम करने वाली गैर-व्यापारिक कंपनियां करती थीं (बागानों, कोयला खानों, पटसन आदि उद्योग प्रायः 50 प्रतिशत तक लाभांश के रूप में भुगतान करते थे)। इसके अलावा उसमें बैंकों के कमीशनों, विनिमय के सौदों और बैंकों एवं बीमा कंपनियों से होने वाली आमदनियों को जोड़ना होगा, इसे यदि कम से कम डेढ़ करोड़ पौंड माना जाए और आय में जोड़ा जाए तो कुल मिलाकर 4 करोड़ पौंड की आय होती थी। इसके साथ साथ ऋण पर ब्याज की राशि के अतिरिक्त घरेलू खर्च 1913-14 तक 90 लाख पौंड हो गया था। इस प्रकार पूंजी निवेश पर मुनाफे और प्रत्यक्ष नजराने के रूप में जाने वाली कुल राशि लगभग 5 करोड़ पौंड हो गई थी।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए इस तरह के किसी भी अनुमान का बहुत सीमित महत्व है। लेकिन यह स्पष्ट है कि 1914 तक भारत के साथ व्यापार करने वाली कंपनियों, निर्माताओं और जहाज कंपनियों को कुल मिलाकर जितना लाभ होता था उससे कहीं ज्यादा बड़ी राशि यहां लगी हुई ब्रिटिश पूंजी के मुनाफे तथा सीधे नजराने के रूप में इंग्लैंड चली जाती थी। इससे यह पता चलता है कि बीसवीं सदी में महाजनी पूंजी द्वारा भारत का शोषण ही इस देश की लूट का मुख्य स्वरूप बन गया था।

1914-18 के युद्ध ने और उसके बाद के वर्षों ने इस प्रक्रिया को बहुत तेज किया। भारत के बाजार में ब्रिटेन का हिस्सा दो तिहाई से घटकर एक तिहाई से थोड़ा ही अधिक रह गया। सीमा शुल्कों और ब्रिटेन के सामानों के प्रति अभिरुचि के बावजूद जापान, अमरीका और अंततः नवीकृत जर्मन सामानों की प्रतियोगिता तेजी से सामने आई। भारतीय औद्योगिक उत्पादन ने खासतौर से हल्के उद्योग के क्षेत्र में काफी प्रगति की है हालांकि उसे महत्वपूर्ण अवरोधों और वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, सरकार की तरफ से भी उसे सदा निरुत्साहित किया गया। औद्योगिक उत्पादन की शुरुआत 1914 के पहले ही हो गई थी जो युद्ध के बाद के वर्षों में और भी अप्रत्यक्ष रूप में जारी रहा।

1913 से 1931-32 के बीच ब्रिटेन द्वारा भारतीय सामानों का आयात 64 प्रतिशत से घटकर 35 प्रतिशत हो गया। बाद के वर्षों में ओटावा के अधिमान्य उपायों ने 1934-35 तक आयात की मात्रा 40.6 प्रतिशत कर दी लेकिन 1935-36 तक यह फिर 38.8 प्रतिशत और 1936-37 तक 38.5 प्रतिशत हो गयी। जापान का अंश 1913-14 में 2.6 प्रतिशत था जो 1935-36 में बढ़कर 16.3 प्रतिशत हो गया, इसी अवधि में जर्मनी का अंश 6.9 प्रतिशत से बढ़कर 9.2 प्रतिशत हो गया और अमरीका का अंश 2.6 प्रतिशत से बढ़कर 6.7 प्रतिशत हो गया ('इकोनामिस्ट,' 13 फरवरी 1937)।

अभी हाल के वर्षों में प्रशासन की दृष्टि से 1937 से बर्मा को अलग किए जाने से सरकारी आंकड़े प्रभावित हुए हैं। भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा प्रतिवर्ष जारी 'रिव्यू आफ दि ट्रेड आफ इंडिया' के अनुसार भारतीय बाजार (बर्मा को छोड़कर) का अंश निम्न रहा :

भारतीय सामान के आयात का अनुपात
(प्रतिशत)

	1935-36	1937-38	1939-40
ब्रिटेन	31.7	29.9	25.2
बर्मा	17.5	14.9	19.0
जापान	13.0	12.8	11.7
जर्मनी	7.9	8.8	4.0
अमरीका	5.6	7.4	9.0

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत के व्यापार में अनेक परिवर्तन हुए। शत्रु देशों के साथ व्यापार ठप हो जाने से अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और ईरान, अरब, ईराक, टर्की, मिस्र आदि जैसे मध्य पूर्वी देशों के साथ भारत के व्यापार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। 'रिव्यू आफ दि ट्रेड आफ इंडिया इन 1942-43' ने निम्न आंकड़े प्रस्तुत किए : 1942-43 में भारतीय सामानों के आयात में ब्रिटेन का अंश 26.8 प्रतिशत था (1939-40 में 25.2 प्रतिशत), अमरीका का अंश 17.3 प्रतिशत (1939-40 में 9.0 प्रतिशत), कनाडा का अंश 5.0 प्रतिशत (1939-40 में 0.8 प्रतिशत), आस्ट्रेलिया का अंश 2.9 प्रतिशत (1939-40 में 1.4 प्रतिशत), और मध्यपूर्व के देशों (मिस्र को छोड़कर) का अंश 20.2 प्रतिशत (1939-40 में 2.9 प्रतिशत) था, मिस्र का अंश 1942-43 में 7.4 प्रतिशत था।

ब्रिटेन का अंश अब भी सबसे ज्यादा था। यह अपने सभी मुख्य प्रतियोगियों के मिले जुले अंश से भी ज्यादा था। लेकिन इस सबसे बड़े अंश में तेजी से रुकावट पैदा होने लगी थी और अपना बड़ा हिस्सा बनाए रखने के लिए ब्रिटेन भारतीय और विदेशी प्रतियोगियों के विरुद्ध हताशा में जबरदस्त कदम उठाने लगा था। 1936 से भारत (यहां तक कि बर्मा सहित) ब्रिटेन के सामानों का मुख्य ग्राहक नहीं बना रहा जबकि पिछले सौ वर्षों से वह ब्रिटेन का प्रमुख ग्राहक था। 1937 में, ब्रिटेन का सामान खरीदने वालों में भारत का दूसरा स्थान और 1938 में तीसरा स्थान हो गया।

भारत के बाजारों में ब्रिटेन के सामानों की मौजूदगी में जबरदस्त कमी आई जो 1818 के बाद तेजी से शुरू हो चुकी थी। इससे पता चलता है कि सूती कपड़ों के निर्यात के जरिए 19वीं सदी में ब्रिटेन भारत का जो औद्योगिक पूंजीवादी शोषण करता था वह विनाश-कारी प्रभावों के साथ लड़खड़ाकर ढह पड़ा। उद्योग और व्यापार के बारे में बालफूर समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि 1913 से 1923 के बीच भारत द्वारा ब्रिटिश सूती

कपड़ों के निर्यात में 57 प्रतिशत की कमी आई। 1913 में भारत ब्रिटेन से 3 अरब 5 करोड़ 70 लाख गज कपड़ा मंगाता था जो लंकाशायर द्वारा कुल 7 अरब, 7 करोड़, 50 लाख गज कपड़े के निर्यात का लगभग आधा हिस्सा था। 1928 तक यह कम होकर 1 अरब, 45 करोड़, 20 लाख गज और 1939-40 तक 14 करोड़, 40 लाख गज हो गया। 1942-43 के दौरान ब्रिटेन से कुल 1 करोड़ 10 लाख गज कपड़े का आयात किया गया।

लेकिन जहां एक तरफ शोषण का पुराना आधार नष्ट हो रहा था, वहां दूसरी ओर महाजनी पूंजी के शोषण से होने वाले मुनाफों का नया आधार लगातार तैयार होता जा रहा था और व्यापक होता जा रहा था। बंबई के चैंबर आफ कामर्स के भूतपूर्व सचिव श्री सायेर ने 'फाइनेन्शियल टाइम्स' में अपना अनुमान पेश किया कि यदि बड़े घिसेपिटे ढंग से देखा जाए तो 1929 तक भारत में कुल ब्रिटिश पूंजी 57 करोड़, 30 लाख पौंड लगी थी और ज्यादा संभावना है कि यह राशि 70 करोड़ पौंड थी। उनके हिसाब से वितरण के आंकड़े निम्न थे :

सरकारी स्टर्लिंग ऋण	26 करोड़, 10 लाख पौंड
गारंटीशुदा रेलवे ऋण	12 करोड़ पौंड
5 प्रतिशत युद्ध ऋण	1 करोड़, 70 लाख पौंड
भारत में पंजीकृत कंपनियों में लगी पूंजी	7 करोड़, 50 लाख पौंड
भारत से बाहर पंजीकृत कंपनियों में लगी पूंजी	10 करोड़ पौंड

भारत में काम करने वाली कंपनियों के लिए 17 करोड़ 50 लाख पौंड की राशि को लगभग निश्चित रूप से कम आंकी गई राशि बताया गया और कहा गया कि जितनी पूंजी लगाई गई थी उस कुल पूंजी को यदि 70 करोड़ पौंड कहें तो 'वह संभवतः बहुत अधिक नहीं होगी।' उन्होंने आगे कहा :

> भारत में दांव पर लगी हमारी पूंजी के महत्व को संभवतः विशेषज्ञों की एक सीमित संख्या द्वारा पूरी तरह समझा गया है। अधिकांश लोगों को इसकी अधिकता या विविधता की सही जानकारी नहीं है। कितनी पूंजी लगाई गई है और कितनी सेवा दी जा रही है, इसके बारे में वास्तविक रूप से व्यापार में लगे अनेक सौदागरों, बैंकरों और निर्माताओं तक को भी संभवतः अनुमान लगाना कठिन होगा। विदेशी पूंजी भारत में इतने रूपों में प्रवेश करती है कि इस सिलसिले में कोई भी हिसाब लगाना एक अटकलबाजी ही होगी।
> ('फाइनेन्शियल टाइम्स,' 9 जनवरी 1930)

ब्रिटिश एसोसिएटेड चैंबर्स आफ कामर्स इन इंडिया द्वारा 1933 के लिए अभी एकदम हाल में लगाया गया अनुमान 1 अरब पौंड का है, इसमें 37 करोड़, 90 लाख पौंड सरकारी

स्टर्लिंग ऋण है, 50 करोड़ पौंड उन कंपनियों का प्रतिनिधित्व करता है जिनका पंजीकरण तो भारत से बाहर हुआ है पर जो भारत में काम करती हैं और शेष राशि भारत में पंजीकृत कंपनियों में लगी पूंजी तथा विविध कार्यों में लगी है।[1]

विश्व भर में ब्रिटेन की अनुमानतः 4 अरब पौंड की पूंजी लगी हुई है और यह 1 अरब पौंड समूची ब्रिटिश पूंजी निवेश के एक चौथाई हिस्से को निरूपित करता है। 1911 में जब सर जार्ज पैश ने अपना अनुमान पेश किया था तब उन्होंने बताया था कि भारत में जो ब्रिटिश पूंजी लगी हुई है वह समूचे विश्व में लगी ब्रिटिश पूंजी के 11 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करती है। इस राशि के 1/9 से 1/4 होते, 11 प्रतिशत से बढ़कर 25 प्रतिशत होने से हम आज भारत के लिए ब्रिटिश महाजनी पूंजी के बढ़ते महत्व को नाप सकते हैं और इससे भारत में ब्रिटिश वित्तीय हितों की रक्षा के विशेष उपायों से लैस आधुनिक साम्राज्यवादी नीति के रहस्य को समझ सकते हैं।

शोषण के आधुनिक साम्राज्यवादी तरीकों द्वारा प्रति वर्ष भारत से नजराने के रूप में इंग्लैंड जाने वाली राशि का मूल्य क्या है? भारतीय अर्थशास्त्रियों शाह और खंभाता ने 1924 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वेल्थ एंड टैक्सेबुल कैपेसिटी आफ इंडिया' में इसका अनुमान लगाने का प्रयास किया था। वर्ष 1921-22 के लिए उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर उन्होंने हिसाब लगाया और निम्न नतीजे निकाले (1921-22 में 1 शिलिंग 4 पैंस के वर्तमान औसत विनिमय पर स्टर्लिंग के बराबर की राशि को उनके रुपये के अनुमान में जोड़ दिया गया है):

भारत से ब्रिटेन तथा अन्य देशों को जाने वाला वार्षिक नजराना

(1921-22)

	लाख रुपयों में	लाख पौंडों में
राजनीतिक कामों के लिए कटौती या गृह शुल्क	5000	333
भारत में पंजीकृत विदेशी पूंजी पर ब्याज	6000	400
विदेशी कंपनियों को दिया गया माल और यात्री भाड़ा	4163	277
बैंकिंग कमीशनों पर भुगतान	1500	100
भारत में विदेशी व्यापारियों और व्यवसाय में लगे लोगों का मुनाफा आदि	5325	355
	21988	1465

दो अरब 20 करोड़ रुपये या लगभग 15 करोड़ पौंड की मोटे तौर पर जोड़ी गई यह राशि अनुमान लगाने के समय ब्रिटेन की आबादी के प्रति व्यक्ति 3 पौंड से भी अधिक के बराबर या ब्रिटेन में सुपर टैक्स देने वाले प्रत्येक के लिए लगभग 1700 पौंड प्रतिवर्ष के बराबर है।

1921-22 के अत्यंत उच्च स्तर से कीमतों में गिरावट के बाद कुल नजराने की राशि का अभी हाल ही में अनुमान लगाने का प्रयास किया गया। यह प्रयास श्री एम० विश्वैश्वरैया ने 1934 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'प्लैंड इकोनामी फार इंडिया' में किया है। अपने विश्लेषण के जरिये उन्होंने निम्न निष्कर्ष निकाले (1 शिलिंग 6 पैंस के वर्तमान विनिमय दर पर स्टर्लिंग के बराबर की राशि को रुपये में दिए गए उनके अनुमान में जोड़ दिया गया है):

	लाख रुपयों में	लाख पौंडों में
ब्रिटिश और विदेशी जहाजरानी सेवा	3500	260
विदेशी बैंकों को भुगतान करने योग्य मुद्रा विनिमय तथा अन्य कमीशन	2100	160
भारतीय उद्योगों में लगे ब्रिटेन की नागरिकता वाले व्यक्तियों के व्यापारिक लाभ और वेतन आदि	4000	300
भारत में लगी ब्रिटिश पूंजी पर व्याज	6500	490
	16100	1210

यह अनुमान पेंशन तथा अन्य घरेलू खर्चों के लिए सरकारी तौर पर इंग्लैंड भेजी गई राशि और भारत के साथ व्यापार संबंध रखने वाले गैरब्रिटिश नागरिकों की देय राशि के अतिरिक्त है। 1933-34 में ऋण पर व्याज के अतिरिक्त घरेलू खर्च की राशि से इसमें 1 करोड़ 40 लाख पौंड की और वृद्धि हो गई और इस प्रकार कुल योग 13 करोड़ 50 लाख पौंड हो गया। चूंकि भारत में मूल्यों का सूचक अंक 1921 में 236 से घटकर 1933 में 121 हो गया, इसलिए ऐसा लगता है कि यदि सही सही अनुमान लगाया जाए तो यह योग दस वर्ष की तुलना में उल्लेखनीय वृद्धि को निरूपित करेगा। फिर भी तमाम सामानों के बारे में ठीक ठीक आंकड़े उपलब्ध न होने के कारण इन अनुमानों से एक स्थूल संकेत ही मिलता है।

भारत द्वारा ब्रिटेन भेजे जाने वाले वार्षिक नजराने के बारे में ताजा अनुमान लारेंस के० रोजींगर ने अपनी रिपोर्ट 'इंडेपैंडेन्स फार कोलोनियल एशिया—दि कास्ट टु दि वेस्टर्न वर्ल्ड' में प्रस्तुत किया है। यह रिपोर्ट 1945 में अमरीका की 'फारेन पालिसी एसोसिएशन' द्वारा जारी की गई थी। इसके अनुसार इंग्लैंड भारत से प्रतिवर्ष 13 करोड़, 50 लाख पौंड

नजराने के रूप में पाता है जिसके अंतर्गत निम्न चीजें शामिल हैं :

	लाख पौंडों में
57 करोड़ की लगाई गई पूंजी पर ब्याज की ब्रिटिश दर 6-7-8 प्रतिशत के हिसाब से ब्याज	460
घरेलू खर्च के मद में व्यापार	330
जहाजरानी	300
भारत में नौकरी कर रहे ब्रिटिश जनों द्वारा भेजी गई राशि	60
कुल योग :	1150

('हिंदुस्तान स्टैंडर्ड,' कलकत्ता, 5 जुलाई 1945)

जिन कारणों का एकदम सही सही हिसाब नहीं लगाया जा सकता उनके कारण इस हिसाब में घटती बढ़ती की पूरी पूरी गुंजाइश रखते हुए अनिवार्य रूप से यही नतीजा निकलता है कि आधुनिक युग में भारत का बीते युग की तुलना में कहीं अधिक तीव्रता के साथ शोषण हुआ है। अनुमान लगाया गया था कि ब्रिटिश सम्राट द्वारा भारत की सत्ता संभालने से पहले के 75 वर्षों में, भारत से कुल 15 करोड़ पौंड नजराने के रूप में इंग्लैंड गया। आधुनिक युग में, युद्ध से पूर्व 20 वर्षों के दौरान इंग्लैंड ने भारत से प्रतिवर्ष अनुमानतः 13 करोड़, 50 लाख पौंड से लेकर 15 करोड़ पौंड तक नजराने के रूप में वसूला। महाजनी पूंजीवाद की स्थितियों के अंतर्गत भारत के इस तीव्र होते गए शोषण की वजह से ही आज भारत में इतना गंभीर राजनीतिक संकट और साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह पैदा हो गया है।

3. उद्योगीकरण की समस्या

कभी कभी यह विचार व्यक्त किया जाता है कि भारत में ब्रिटिश शासन के आधुनिक महाजनी पूंजी वाले युग ने, खासतौर से 1914-18 के युद्ध के बाद से जबरदस्त शोषण के बावजूद स्वतंत्र व्यापारवाले, औद्योगिक पूंजीवादी प्रभुत्ववाले पूर्ववर्ती पतन के स्थान पर किसी न किसी तरह उद्योगीकरण और आर्थिक विकास को बढ़ावा दिया। आधुनिक साम्राज्यवादी प्रचार ने, जो भारत को विश्व के 'प्रमुख औद्योगिक देश' के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करता है (1922 में ब्रिटिश सरकार ने जेनेवा में इसका जबरदस्त दावा किया। यह दावा बेहद संदिग्ध आंकड़ों पर आधारित था[3] और इसका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की संचालन समिति में ब्रिटेन के लिए अतिरिक्त स्थान बनाना था), इस विचार को बढ़ावा दिया है और भारत में औद्योगिक विकास के प्रति सिद्धांत रूप में एक शुभचिंतक दृष्टिकोण अपनाने की घोषणा की है।

तथ्यों की छानबीन से पता चलता है कि इस विचार का दूर दूर तक कोई औचित्य नहीं

है। आधुनिक युग में 1914 के युद्ध से पहले और खासतौर से युद्ध के बाद भारत में एक सीमा तक औद्योगिक विकास हुआ है लेकिन इस विकास की तुलना किसी भी तरह बड़े गैरयूरोपीय देशों में इसी काल में हुए विकास के साथ नहीं की जा सकती। भारत में जो भी औद्योगिक विकास हुआ है, वह, दरअस्ल आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में ब्रिटिश महाजनी पूंजी के जबरदस्त विरोध का सामना करके और उससे संघर्ष करके हुआ है। यह विकास असंतुलित और एकतरफा विकास है जो मुख्यतया हल्के उद्योग क्षेत्र में हुआ, निर्णायक भूमिका अदा करने वाले भारी उद्योग में बहुत मामूली विकास हुआ। जैसा कि पहले अध्याय में की गई प्रारंभिक जांच से संकेत मिलता है, यह कहना आज भी असंभव है कि भारत में सामान्यतः उद्योगीकरण की कोई प्रक्रिया घटित हुई है।

1914 तक साम्राज्यवाद, भारत में औद्योगिक विकास का खुले तौर पर और साफ साफ विरोध करता था। 1914 तक भारत के बारे में ब्रिटिश नीति उसी प्रवृत्ति से संचालित हो रही थी जिस प्रवृत्ति ने स्वतंत्रता के युद्ध से पूर्व अमरीका के प्रति ब्रिटिश संबंधों को संचालित किया था और जिसने अमरीकी उपनिवेशों में इस्पात भट्टियां स्थापित करने पर पूरी तरह प्रतिबंध लगा दिया था (ऐडम स्मिथ: 'वेल्थ आफ नेशंस,' खंड 4,7,2)। सर वेलेंटाइन किरोल ने सरकारी तौर पर 'विशुद्ध भारतीय उद्यम के प्रति ईर्ष्या' के बारे में 1922 में लिखा :

> भारतीय औद्योगिक विकास के बारे में अतीत के हमारे कार्य हमेशा कोई बहुत सराहनीय नहीं रहे हैं और युद्ध के कारण पड़ने वाला दबाव था जिसने विशुद्ध भारतीय उद्योग के प्रति यदि ईर्ष्या नहीं तो अलगाव की पुरानी प्रवृत्ति को त्यागने के लिए मजबूर किया। (सर वेलेंटाइन किरोल का 2 अप्रैल, 1922 के 'आब्जर्वर' में प्रकाशित लेख)

इसी प्रकार सरकार की 1921 की वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया :

> युद्ध से कुछ समय पूर्व महत्वपूर्ण कारखानों और सरकारी आर्थिक सहायता के जरिए भारतीय उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए किए गए कुछ प्रयासों को व्हाइटहाल की ओर से बड़े कारगर ढंग से निरुत्साहित किया गया। ('मारल ऐंड मेटीरियल प्रोग्रेस आफ इंडिया,' 1921, पृष्ठ 144)

सर जान हीवेट ने 1937 में कहा :

> तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा का मसला सरकार और जनता के सामने पिछले 20 वर्षों से भी अधिक समय से है। शायद ही कोई और विषय हो जिस पर इतना कुछ लिखा या कहा गया हो लेकिन काम बहुत कम किया गया हो।

(यूनाइटेड प्राविन्सेज के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जान हीवेट का भारतीय औद्योगिक सम्मेलन में भाषण, 1907)

1921 की सरकारी रिपोर्ट में, भारतीय औद्योगिक विकास को 'व्हाइटहाल की ओर से कारगर ढंग' से निरुत्साहित 'किए जाने के उल्लेख के फलस्वरूप 1905 में लार्ड कर्जन की पहल पर वाणिज्य और उद्योग विभाग की स्थापना हुई और 1908 में मद्रास सरकार द्वारा उद्योगों के लिए एक डायरेक्टर की नियुक्ति की गई। मद्रास के उद्योग विभाग के कार्यों का 'स्थानीय यूरोपीय व्यापारिक समुदाय ने विरोध शुरू किया। इनका कहना था कि यह निजी उद्योग के लिए गंभीर खतरा है और राज्य द्वारा सरकार के दायरे से बाहर के क्षेत्र में किया गया अनुचित हस्तक्षेप है' (इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 70)। 1910 में सेक्रटरी आफ स्टेट लार्ड मारले ने एक अभिशंसी विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर करके व्हाइटहाल के प्रतिबंध को प्रयोगात्मक रूप दे दिया :

> सूबे में नए उद्योगों की स्थापना के प्रयासों का जो ब्यौरा मद्रास सरकार ने भेजा है, उसकी मैंने जांच की है। इनके नतीजों से काफी श्रम और पटुता का पता चलता है फिर भी इनका स्वरूप ऐसा नहीं है जिसे देखते हुए इस दिशा में राज्य द्वारा किए प्रयास की उपयोगिता के बारे में संदेह न किया जा सके बशर्ते ये औद्योगिक निर्देशों तक स्वयं को कड़ाई से सीमित रखें और व्यापारिक जोखिम से बचे रहें...मुझे आपत्ति औद्योगिक सूचना का ब्यूरो स्थापित करने से या सूचना के ऐसे केंद्र से नए उद्योगों, तरीकों या उपकरणों के बारे में सलाह प्रचारित करने से नहीं है; लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि निजी उद्योग में दखलंदाजी के इरादे से कुछ न किया जाए।
> (लार्ड मारले, 29 जुलाई 1910 की विज्ञप्ति)

इस विज्ञप्ति के 'घातक प्रभाव' को इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट (पृष्ठ 4) ने दर्ज किया।

भारतीय औद्योगिक विकास को हतोत्साहित करने का काम महज प्रशासनिक सक्रियता तक या निष्क्रियता तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि इसने अपने माफिक सीमाशुल्क नीति भी तैयार की। 19वीं सदी के सातवें और आठवें दशक में जब भारतीय कपड़ा उद्योग अपनी कमजोर स्थिति से तरक्की करने लगा तो तत्काल ही इंग्लैंड में इस बात के लिए आंदोलन शुरू हो गया कि आयात किए जाने वाले सामानों पर चुंगी समाप्त की जाए, यह चुंगी सूती कपड़े के सामान पर भी लगती थी। 1874 में मैनचेस्टर में चैंबर आफ कामर्स ने इस आशय का एक ज्ञापन दिया और 1877 में हाउस आफ कामन्स ने एक प्रस्ताव पारित किया। भारत सरकार को यह प्रस्ताव भेजते हुए लार्ड साल्सबरी ने इसके मकसद को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया क्योंकि उन्होंने प्रस्ताव भेजते समय इस तथ्य पर चिंता व्यक्त की कि 'पांच और

मिलें अब काम शुरू ही करने वाली हैं; और यह अनुमान लगाया गया है कि मार्च 1877 के अंत तक भारत में 1, 231, 284 तकलें चलने लगेंगे' (लार्ड साल्सबरी का पत्र—गवर्नर जनरल के नाम, 30 अगस्त 1877)। तदनुसार 1879 में मोटे सूती कपड़ों पर जहां प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता था, आयात शुल्क समाप्त कर दिया गया और 1882 में नमक और शराब को छोड़कर सभी सामानों पर आयात शुल्क समाप्त कर दिया गया। 1894 में जब वित्तीय जरूरतों ने सूती कपड़ों सहित अन्य सामानों पर आयात शुल्क फिर से लगाने को बाध्य किया तो मिल के बने सभी भारतीय कपड़ों पर उत्पादन शुल्क थोपने का तरीका ढूंढ़ निकाला गया। यह ऐसा कर था जो किसी भी देश के आर्थिक इतिहास में बेमिसाल है। 1896 में यह उत्पादन शुल्क 3.5 प्रतिशत तय किया गया जो 1917 तक पूरी तरह लागू रहा। 1917 में आयात शुल्क को 3.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 7.5 प्रतिशत किए जाने पर इसका प्रभाव आंशिक रूप से कम हुआ और 1925 में जाकर यह पूरी तरह समाप्त किया गया (दरअस्ल यह मिल मजदूरों की हड़ताल के दबाव से हुआ)।

इन परिस्थितियों में 1914 तक औद्योगिक विकास बेहद धीमा रहा। 1914 तक फैक्टरीज ऐक्ट के अंतर्गत औद्योगिक मजदूरों की संख्या महज 9,51,000 थी। जो विकास हुआ वह मुख्यत: कपास और जूट उद्योग तक ही सीमित रहा। कपास उद्योग में भारतीय पूंजी अपने को आगे बढ़ाने का प्रयास कर रही थी और पटसन उद्योग में ब्रिटिश पूंजी की कोशिश यह थी कि ब्रिटेन के पटसन मजदूरों की मांगों के विरोध में एक फायदेमंद हथियार के रूप में वे भारत में उपलब्ध मजदूरों का इस्तेमाल कर सकें जो सस्ते दर पर काम कर देते हैं। इंजीनियरिंग के क्षेत्र में केवल मरम्मत करने के लिए स्थापित कारखानों का और वह भी मुख्यतया रेलवे के लिए काम करने वाले कारखानों का अस्तित्व था। लोहा और इस्पात की शुरुआत 1914 के युद्ध के अवसर पर ही हो सकी, लेकिन मशीनों का उत्पादन अब भी शुरू नहीं हुआ था।

प्रथम विश्वयुद्ध के साथ ही सरकार ने अपनी नीति में पूरी तरह परिवर्तन की घोषणा की। सरकारी स्तर पर आर्थिक क्षेत्र में उद्योगीकरण की नीति को लक्ष्य बनाने की घोषणा की गई, ठीक वैसे ही जैसे राजनीतिक क्षेत्र में उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासन की स्थापना का लक्ष्य घोषित किया गया था। नई नीति की घोषणा पहली बार भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिंग ने 1915 में की :

> यह दिनोदिन स्पष्ट होता जा रहा है कि युद्ध के बाद भारत की औद्योगिक क्षमता को बढ़ाने के लिए एक निश्चित और आत्मचेतन नीति को जारी रखना होगा नहीं तो भारत विदेशों के निर्माताओं के उत्पादनों का अंबार इकट्ठा करने की एक जगह बनकर रह जाएगा। जैसे जैसे यह बात साफ होती जा रही है कि बड़े देशों का राजनीतिक भविष्य उनकी आर्थिक स्थिति पर

टिका हुआ है वैसे वैसे बाहरी देश अपने लिए बाजार की तलाश की होड़ में तेजी से लगे हुए हैं। इस समस्या के प्रति भारतीय जनता एकमत है और इसको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता…

युद्ध के बाद भारत अपने को इस बात का अधिकारी पाएगा कि वह अधिक से अधिक सहायता की मांग कर सके ताकि जहां तक परिस्थितियां अनुमति दें उसे एक औद्योगिक देश के रूप में उचित स्थान प्राप्त हो सकेगा। (भारत के सचिव के नाम लार्ड हार्डिंग का पत्र, 26 नवंबर 1915)

इसके बाद 1916 में इंस्टीट्यूट आफ माइनिंग इंजीनियर्स के अध्यक्ष सर थामस हालैंड के सभापतित्व में भारतीय औद्योगिक आयोग का गठन हुआ जिसने 1918 में अपनी रिपोर्ट दी। भारतीय सांविधानिक सुधारों के बारे में 1918 की मौंटागू—चैम्सफोर्ड रिपोर्ट में भी यही लक्ष्य निर्धारित किया गया था :

सभी तरह से औद्योगिक विकास के लिए एक अग्रगामी नीति की अत्यंत आवश्यकता है। ऐसा भारतीय अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने के लिए ही नहीं बल्कि भारत की जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भी जरूरी है…

आर्थिक और सैनिक दोनों आधारों पर शाही हितों की भी यह मांग है कि भारत की प्राकृतिक संपदा का अब से बेहतर इस्तेमाल किया जाए। हम शक्ति के उस आवेग का अंदाजा नहीं लगा सकते जो एक औद्योगिक भारत ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता को प्रदान करेगा। (मौंटागू चैम्सफोर्ड रिपोर्ट, पृष्ठ 267)

नीति में इस घोषित परिवर्तन के कारणों की उत्पत्ति युद्ध की परिस्थितियों से हुई थी और इसे सरकारी बयानों के जरिए बहुत साफ तौर पर देखा जा सकता है। इन कारणों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है।

सबसे पहले सैनिक और सामरिक कारण थे। युद्ध की परिस्थितियों ने, संचार और आपूर्ति व्यवस्था के नष्ट हो जाने तथा मैसोपोटामिया की अपकीर्तियों ने भारतीय साम्राज्य की पुरानी पद्धति और पूर्व में ब्रिटेन की समूची सामरिक स्थिति की कमजोरी को एकदम नंगा करके सामने रख दिया। इसके कारण भारत में आधुनिक उद्योग के सर्वाधिक प्रारंभिक आधार को विकसित करने में विफलता मिली जिसका नतीजा यह हुआ कि लंबी दूरी की समुद्रपारीय सप्लाई पर महत्वपूर्ण जरूरतों के लिए निर्भर होना पड़ा। ब्रिटिश शासकों पर इस स्थिति का कितना जबरदस्त प्रभाव पड़ा इसका जायजा हमें मौंटागू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट में मिल जाता है जिसमें भारत के आधुनिकीकरण की आवश्यकता पर जोर देते हुए बताया गया है कि भारत 'युद्ध के पूर्वी रंगमंच' का आधार बन सकता है।

> समुद्री संचार व्यवस्था के अस्थाई तौर पर भंग होने की संभावना के कारण हमें युद्ध के पूर्वी क्षेत्रों में सुरक्षात्मक कार्यवाहियां करने के लिए गोला बारूद के आधार के रूप में भारत पर निर्भर रहने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। आज के युग में औद्योगिक दृष्टि से किसी विकसित समुदाय के उत्पादन मात्रा में नहीं किंतु अपने स्वरूप में इस सीमा तक युद्ध के हथियारों से मेल खाते हैं कि भारत के प्राकृतिक साधनों का विकास करना लगभग एक सैनिक आवश्यकता बन गया है।

दूसरे कारण वे थे जो आर्थिक होड़ से पैदा हुए थे। भारतीय बाजार पर अंगरेजों द्वारा स्थापित एकाधिकार को विदेशी प्रतियोगियों ने ध्वस्त करना शुरू कर दिया था। इसके साथ ही युद्ध की आवश्यकताओं से उत्पन्न ब्रिटिश औद्योगिक स्थिति के कमजोर होने से इस बात का खतरा पैदा हो गया था कि युद्ध के बाद अन्य देशों का भारत में तेजी से प्रवेश होने लगेगा और ब्रिटेन के हाथ से भारत का बाजार निकल जाएगा। जैसा लार्ड हार्डिंग ने बताया था, खतरा इस बात का है कि भारत 'विदेशी निर्माताओं के सामानों का अंबार लगाने की जगह' बन जाएगा। इसे रोकने के लिए सीमा शुल्क की प्रणाली से दो मकसद हल होंगे। एक तो उससे जिस हद तक विदेशी उद्योगपतियों के देश में घुसने के बजाय खुद भारत के अंदर उद्योग-धंधों का विकास होता था, उस हद तक अंगरेजों के लिए इस बात की संभावना थी कि अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व के कारण वे अंततः ब्रिटिश पूंजी के लिए मुनाफा निकाल सकें। लेकिन यदि भारत के बाजार पर किसी स्वतंत्र विदेशी पूंजीवादी शक्ति का कब्जा हो जाता तो इसकी कोई गुंजाइश नहीं रहती। दूसरे, सीमा शुल्क की व्यवस्था यदि एक बार हो जाती है तो इस बात के लिए भी रास्ता तैयार हो जाएगा कि ब्रिटेन से आने वाले माल पर शुल्क कम कराके अंगरेज भारत के बाजार पर फिर से कब्जा कर लें।

तीसरे, अंदरूनी राजनीतिक कारण थे। युद्ध के दौरान और युद्ध के बाद के अशांत वर्षों में भारत पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए अंगरेजों के लिए यह जरूरी हो गया था कि वे भारत के पूंजीपति वर्ग का सहयोग प्राप्त करें और इसके लिए यह आवश्यक था कि वे यहां के पूंजीपति वर्ग को कुछ आर्थिक तथा राजनीतिक सुविधाएं दें तथा सुविधाएं देने का वायदा करें। जैसाकि लार्ड हार्डिंग ने बड़ी ईमानदारी के साथ संकेत दिया था कि 'भारतीय जनता के रुख को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।'

नीति में परिवर्तन के लिए रक्षात्मक शुल्क व्यवस्था के विकास का तरीका अपनाया गया। इस दिशा में पहले कदम के रूप में सूती कपड़े के सामान पर सीमा शुल्क बढ़ा दिया गया और 1917 में यह 7.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 1921 में 11 प्रतिशत कर दिया गया जबकि उत्पादन कर केवल 3.5 प्रतिशत रहने दिया गया और उसे भी 1925 में पूरी तरह समाप्त कर दिया गया। विदेशों से आयात किए गए सामानों पर लगने वाले

कर को भी बढ़ा दिया गया और इसे 1921 में 11 प्रतिशत से बढ़ाकर 1922 में 15 प्रतिशत कर दिया गया। 1921 में एक वित्तीय आयोग गठित किया गया जिसने प्रत्येक मामले में पूरी छानबीन करने के बाद 'भेदभावपूर्ण संरक्षण' के पक्ष में अपनी रिपोर्ट दी जबकि पांच भारतीय सदस्यों की असहमति टिप्पणी ने पूरा पूरा संरक्षण दिए जाने का समर्थन किया। आयोग ने यह रिपोर्ट 1922 में प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट में सीमा शुल्क बोर्ड की स्थापना की सिफारिश की गई थी, 1923 में बोर्ड की स्थापना हो गई। बोर्ड के सामने जो पहला महत्वपूर्ण मसला विचारार्थ आया वह था लोहा और इस्पात उद्योग का मसला। 1924 में लोहा और इस्पात उद्योग को 33.1/3 प्रतिशत की दर से संरक्षण मिला और साथ ही ग्रेच्यूटी की प्रणाली भी शुरू की गई।

इस समय भारतीय औद्योगिक पूंजीपतियों को इस बात की बहुत आशा हो गई थी कि सरकार अब उद्योगों के विकास में मदद करने की नीति का पालन करेगी। यह स्वराज पार्टी अथवा भारतीय प्रगतिशील पूंजीवाद की पार्टी का युग था जिसने 1923 में राष्ट्रीय कांग्रेस में गांधीवादी नेतृत्व में चलने वाली 'असहयोग' की नीतियों को विफल किया था, और 1923-26 के वर्षों में उस पार्टी की अपनी नीतियों का दबदबा बना था। इस नीति के अंतर्गत पहले तो कौंसिलों में घुसने की बात शामिल थी ताकि अंदर से लड़ाई चलाई जाए और फिर 'सम्मानीय सहयोग' पर अमल किया जाए। लेकिन आने वाले वर्षों में इन आशयों पर जबरदस्त कुठाराघात होना था।

4. उद्योगीकरण के मार्ग में बाधाएं

1914-18 के युद्ध के बाद औद्योगिक विकास को सरकार से जो मदद मिली उसकी चरम सीमा यह थी कि 1924 में उसने लोहा और इस्पात उद्योग को संरक्षण और आर्थिक सहायता दी। इसके बाद यह देखा जा सकता है कि सरकारी मदद कम होती गई।

भारतीय औद्योगिक आयोग ने उद्योगों से संबंधित एक शाही विभाग खोलने की व्यापक योजना बनाई थी जिसके अंतर्गत प्रत्येक प्रांत में काम करने वाले प्रांतीय विभागों का जाल बिछा दिया जाए। लेकिन इस योजना का कोई फल सामने नहीं आया। केंद्रीय संगठन की कभी स्थापना नहीं हो पाई जबकि प्रांतीय विभागों को शिक्षा विभाग की तरह 'हस्तांतरित' विषयों की सूची में शामिल कर लिया गया। इसका अर्थ यह था कि उनको अपना खर्च चलाने के लिए पैसों का अभाव रहे और इसके फलस्वरूप जो जड़ता पैदा हो उसकी समूची जिम्मेदारी भारतीय मंत्रियों के सर पर थोप दी जाए। 1934 तक जो उपलब्धियां हुई थीं उनका विवरण किसी बाहरी विद्वान प्रेक्षक ने बड़ी कुशलता से पेश किया है :

> दुर्भाग्यवश केंद्रीय संगठन की स्थापना आज तक नहीं हो पाई और 1919 के सांविधानिक सुधारों के साथ प्रांतीय संगठन को शिक्षा के साथ 'हस्तांतरित'

> विषय बनाकर रख दिया और इस प्रकार इसे स्थानीय सरकार के हाथों में सौंप दिया जो चुने गए विधानसभा सदस्यों के प्रति जिम्मेदार है। यह भी दुर्भाग्य की बात है कि चूंकि उपलब्ध धनराशि एकदम अपर्याप्त है इसलिए बहुत महत्वपूर्ण नीतियां नहीं शुरू की जा सकतीं। इसके अलावा उद्योग को बढ़ावा देने के लिए जरूरी है कि सरकार की दूरगामी एकीकृत नीति हो जिसका संबंध केवल कच्चे माल और उत्पादन के तरीकों से नहीं बल्कि बाजार की व्यवस्था से भी हो। दरअस्ल इसे शिक्षा संबंधी नीति और राष्ट्रीय महत्व की लगभग सभी बातों से जोड़ा जाना चाहिए। इसमें संदेह है कि भारत में स्थापित केवल प्रांतीय कार्यालयों का कोई उल्लेखनीय प्रभाव हो पाएगा। (डी० एच० बुकानन : 'दि डेवलपमेंट आफ कैपिटिलिस्ट एंटरप्राइज इन इंडिया,' 1934, पृष्ठ 463-64)

अभी हाल में 'औद्योगिक सूचना और अनुसंधान संबंधी केंद्रीय ब्यूरो' की स्थापना हुई है जिसे तीन वर्षों के लिए 37,500 पौंड की राशि निर्धारित की गई है। यह एलान किया गया कि यह ब्यूरो मुख्यतया रेशम के कपड़े तैयार करने और हथकरघा के वस्त्र बनाने पर ध्यान देगा।

> अब तक घोषित व्यावहारिक परिणामों के अनुसार औद्योगिक सूचना और अनुसंधान संबंधी एक केंद्रीय ब्यूरो जल्दी ही काम शुरू करने वाला है जिसपर अगले तीन वर्षों में पांच लाख रुपये (37,500 पौंड) खर्च किए जाएंगे। यह ब्यूरो रेशम के कपड़ों और हथकरघा वस्तुओं की बुनाई पर ध्यान देगा। भारी उद्योगों को, जो आज की सबसे बड़ी जरूरत है, एकदम अछूता छोड़ दिया गया है और देश के आर्थिक विकास के लिए तैयार किए गए व्यापक प्रस्तावों को, यदि उनका कहीं अस्तित्व है तो, अपरिभाषित रखा गया है और वह रहस्य के आवरण में लिपटा पड़ा है। (सर एम० विश्वैश्वरैया : 'प्लांड इकोनोमी फार इंडिया,' 1936, पृष्ठ 247)

1924 में लोहा और इस्पात को संरक्षात्मक शुल्कों की सुविधा मिल जाने पर शुल्क बोर्ड के पास इस तरह के संरक्षण के लिए अन्य कई उद्योगों ने भी अपने प्रार्थनापत्र भेजे। अधिकांश मामलों में इन आवेदनों को मंजूर नहीं किया गया। इन मामलों में सबसे महत्वपूर्ण मामले सीमेंट और कागज उद्योग से संबंधित थे। केवल एक प्रार्थनापत्र मंजूर किया गया जो माचिस उद्योग का था। इसका कारण यह था कि भारत के माचिस उद्योग में विदेशी पूंजी लगी थी।

इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात थी लोहा और इस्पात की संरक्षणात्मक प्रणाली के प्रति उस समय किया गया सलूक जब 1927 में उसे नवीकरण के लिए पेश किया गया।

बुनियादी शुल्कों में कमी की गई और आर्थिक सहायता समाप्त कर दी गई। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि एक नया सिद्धांत स्थापित कर दिया गया, यह ब्रिटेन से आने वाले माल पर कम शुल्क लगाने या साम्राज्य के माल पर शुल्क लगाने में रियायत बरतने का सिद्धांत था।

यह बात अब शुल्क प्रणाली का मूल सिद्धांत बन गई थी। 1930 तक शाही सामानों के साथ रियायत बरतने के दायरे में सूती कपड़े से बने सामान आ गए थे। 1932 में ओटावा समझौते हुए और व्यापक तौर पर भारतीयों के विरोध तथा भारतीय विधानसभा में असंतोष की भावना व्यक्त करने वाले मतों के बावजूद साम्राज्य से आने वाले सामानों पर रियायत बरतने वाली प्रणाली को भारत पर थोप दिया गया। ब्रिटेन द्वारा भारतीय सामानों के आयात की मात्रा में वृद्धि हुई और 1931-32 में यह 35.5 प्रतिशत से बढ़कर 1934-35 में 40.6 प्रतिशत हो गई। जापान तथा ब्रिटेन के अलावा अन्य देशों के सूती सामान पर शुल्क 50 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया (1933 में जबरदस्त व्यापारिक होड़ के दौरान एक समय इसे बढ़ाकर 75 प्रतिशत तक कर दिया गया), जबकि ब्रिटेन के बने सूती सामानों पर शुल्क घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया गया। 1933 में शुल्क बोर्ड की रिपोर्ट ने शाही सामानों के प्रति बरती जाने वाली रियायत के विरुद्ध अपना मत व्यक्त किया लेकिन इसकी अवहेलना कर दी गई।

ब्रिटिश उद्योग की प्रतियोगात्मक क्षमता को प्रत्यक्ष रूप में मदद देने के अलावा शुल्क प्रणाली ने भारत में उद्योग के विकास पर अपना प्रभाव डालने के साथ मुख्यतया विदेशी हितों को फायदा पहुंचाया और इन विदेशी हितों में सबसे ज्यादा ब्रिटिश हित थे। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस संरक्षणात्मक प्रणाली का खुलकर लाभ उठाते हुए बड़े विदेशी इजारेदारों ने भारत में अपने उप व्यवसाय स्थापित किए हैं और भारत के औद्योगिक विकास के लिए गंभीर खतरा बन गए हैं।

20वीं सदी के तीसरे दशक के प्रारंभिक दिनों में लागू शुल्क प्रणाली, जिसे मूलतः भारतीय उद्योग को सहायता पहुंचाने का एक साधन घोषित किया गया था, बाद के वर्षों में ब्रिटिश उद्योग को सहायता पहुंचाने के लिए काम आने लगी। (साथ ही उसने भारत से कच्चे माल और अर्धनिर्मित सामानों के निर्यात के लिए अपने अनुकूल दर निर्धारित किए अर्थात 1914 से पूर्व की स्थिति की ओर लौटने की कोशिश की)। इससे जाहिर होता है कि शुल्क प्रणाली • महत्व में उल्लेखनीय रूपांतरण हो गया। यहां तक कि प्रतिक्रियावादी कर्जन सरकार ने 1914 के युद्ध से पूर्व भारत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के सामानों के प्रति बरती जाने वाली रियायत का विरोध किया था और कहा था कि इससे भारत को विशुद्ध घाटे ा सामना करना पड़ेगा। भारत के बाजारों में ब्रिटिश निर्माताओं की ही सबसे बड़ी इजारेदारी कायम थी और किसी अन्य विदेशी निर्माता के विरुद्ध नहीं बल्कि इन ब्रिटिश निर्माताओं के ही विरुद्ध भारतीय उद्योगपतियों ने संरक्षण की इच्छा जाहिर

की थी। दूसरी तरफ ब्रिटिश पूंजीवाद ने भारत में सीमा शुल्कों की इच्छा मूलतः इसलिए जाहिर की थी ताकि वे भारत के बाजारों को गैरब्रिटिश प्रतियोगियों के आक्रमण से बचाए रख सकें। इस प्रकार यहां हितों की टकराहट थी। इस संघर्ष की अभिव्यक्ति उस समय भारतीय विधानसभा में प्रत्यक्ष रूप से हुई जब साम्राज्यिक तरजीह की प्रणाली को और भी व्यापक बनाने वाला ओटावा समझौता और जनवरी 1935 का व्यापार समझौता 58 के विरुद्ध 66 मतों से अमान्य हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इस मतदान को रद्द कर दिया और समझौते को लागू कर दिया। अब यह विरोध खुलकर सामने आ गया और 1916-18 का 'परोपकारिता' वाला वातावरण काफी पीछे छूट गया।[3]

इस प्रक्रिया को व्यापक आर्थिक क्षेत्र में देखा जा सकता है। 1914-18 के युद्ध के तत्काल बाद विश्व के विभिन्न हिस्सों में व्यापार में जो तेजी आई थी उसका स्वरूप भारत में और जगहों से कहीं अधिक उग्र था। सूती कपड़े और पटसन की मिलों ने जबरदस्त मुनाफा कमाया। बंबई की प्रमुख कपड़ा मिलों ने औसतन जितने लाभांश का भुगतान किया वह 1920 में 120 प्रतिशत था और कुछ मामलों में तो यह 200, 250 और यहां तक कि 365 प्रतिशत भी देखने में आया (आर्नोपियर्स: 'दि काटन इंडस्ट्री आफ इंडिया')। प्रमुख पटसन मिलों द्वारा दिया गया औसत लाभांश 140 प्रतिशत था और कहीं तो बोनस मिलाकर यह 400 प्रतिशत तक हो गया था। 1918 से 1921 तक के चार वर्षों के लिए 41 पटसन मिलों की रिपोर्टों को देखने से पता चलता है कि इन्हें कम से कम 2 करोड़ 29 लाख पौंड का मुनाफा हुआ। ये सभी मिलें ब्रिटिश नियंत्रण के अधीन हैं और इनकी कुल पूंजी 61 लाख पौंड है। मुनाफे की जो राशि बताई गई है उसके अतिरिक्त इन मिलों ने 1 करोड़ 90 लाख पौंड सुरक्षित कोष में डाल दिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि 60 लाख पौंड की पूंजी पर चार वर्षों में इन्हें कुल 4 करोड़ 20 लाख पौंड की आय हुई।

युद्ध के बाद के वर्षों में भारत में ब्रिटिश पूंजी इस आशा के साथ तेजी से आई कि वह इस जबरदस्त मुनाफे में हिस्सा बटाएगी। पहले ही सर जार्ज पेश ने वर्ष 1908-10 के लिए अनुमान लगाया था कि भारत और लंका में औसतन 1 करोड़ 40 लाख से 1 करोड़ 50 लाख पौंड तक ब्रिटिश पूंजी का निर्यात हुआ है, अर्थात ब्रिटेन की विदेशों में लगी कुल पूंजी का 9 प्रतिशत भारत और लंका में है। 1921 में यह राशि बढ़कर 2 करोड़ 90 लाख पौंड अर्थात कुल पूंजी निर्यात के एक चौथाई से अधिक भाग, 1922 में 3 करोड़ 60 लाख पौंड अर्थात फिर एक चौथाई से अधिक भाग और 1923 में 2 करोड़ 50 लाख पौंड अर्थात कुल पूंजी निर्यात का पांचवां हिस्सा हो गई। 1920-21 और 1921-22 के दो वर्षों के दौरान निर्यात में नाममात्र की वृद्धि पाई गई। 1856-62 में अर्थात रेल निर्माण में लगाई गई पूंजीवाले वर्षों के बाद पहली बार यह स्थिति पैदा हुई, लेकिन इसने वस्तुतः कृत्रिम रूप से रुपये की दर 2 शिलिंग तक बढ़ा देने के सरकारी प्रयास के घातक परिणामों को आंशिक तौर पर प्रतिबिंबित किया। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत में

आने वाले सामानों पर अधिशुल्क लगा, भारतीय निर्यातकों को तबाह होना पड़ा और इस मुद्रा विनिमय को बनाए रखने के निष्फल प्रयास में सरकार के कम से कम 5 करोड़ 50 लाख पौंड खर्च हुए।

लेकिन 1920 और 1921 के समाप्त होते होते यह तेजी अचानक मंदी में बदल गई। सरकार की मुद्रा विनिमय नीति ने उस समय इस स्थिति को और गंभीर बना दिया जब रुपये की दर को 2 शिलिंग से घटाकर अचानक 1 शिलिंग 4 पेंस पर ला दिया गया। इससे निर्यातकों को भयंकर तबाही का सामना करना पड़ा और उन्हें 3 करोड़ पौंड से भी अधिक का नुकसान भुगतना पड़ा। कई भारतीय फर्में जिनकी स्थापना युद्ध के बाद की तेजी के दिनों में हुई थी, बाद के वर्षों में दीवालिया बन गईं। यह पता चलते ही कि युद्ध के बाद की तेजी के दिनों में होने वाला असामान्य मुनाफा अब आगे जारी नहीं रह सकता, ब्रिटिश पूंजी में कमी आने लगी। 1924 में कुल 26 लाख पौंड की ब्रिटिश पूंजी भारत आई जो उस वर्ष ब्रिटेन द्वारा निर्यात की गई कुल पंजी के 50वें हिस्से से भी कम राशि है। 1925 में भारत आने वाली पूंजी 34 लाख पौंड, 1926 में 20 लाख पौंड और 1927 में 10 लाख पौंड से भी कम थी अर्थात ब्रिटिश पूंजी निर्यात के 1 प्रतिशत के आधे से भी कम अंश भारत आया।

युद्ध से पूर्व और युद्ध के बाद के दिनों में भारत और लंका में आई ब्रिटिश पूंजी से संबंधित निम्न आंकड़े काफी महत्वपूर्ण हैं (युद्धपूर्व वर्षों के आंकड़े सर जार्ज पैश के और युद्धोत्तर वर्षों के आंकड़े मिडलैंड बैंक के हैं):

ब्रिटिश पूंजी का भारत और लंका को निर्यात
(लाख पौंडों में)

वार्षिक औसत	भारत और लंका को	विदेशों में निर्यात की गई कुल पूंजी	भारत और लंका का प्रतिशत
1908-10	147	1723	8.5
1921-23	302	1290	23.7
1925-27	21	1209	1.7
1932-34	42	1351	3.1
1934-36	10	302	3.3

युद्ध के पश्चात थोड़े समय के लिए आई तेजी के बाद यह अनुपात नीचे आ गया और युद्ध से पहले के स्तर तक पहुंच गया। सरकारी लेखा जोखा देखें तो भारत में पूंजीकृत कंपनियों की कुल पूंजी का ब्यौरा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है:

ब्रिटिश भारत में पंजीकृत कंपनियों की प्रदत्त पूंजी
(बर्मा को छोड़कर)

	1914-15	1924-25	1934-35	1939-40
करोड़ रुपयों में	74.4	239.8	266.6	288.5

1914 से 1924 के दशक में यह वृद्धि 222 प्रतिशत थी या वार्षिक औसत 22 प्रतिशत था। लेकिन 1924 से 1934 तक के बाद के दशक में यह वृद्धि महज 11 प्रतिशत थी या वार्षिक औसत 1 प्रतिशत था। 1934 से 1939 के पांच वर्षों में भी वार्षिक औसत केवल 1.5 प्रतिशत था। यदि मूल्य स्तर में परिवर्तन की गुंजाइश छोड़ भी दें, जिससे ये आंकड़े प्रभावित होते हैं तो भी यह विषमता महत्वपूर्ण है और युद्ध के बाद के वर्षों में कुछ समय के लिए आई तेजी के बाद फिर आई गिरावट अपरिहार्य है।

1927 में 'स्टेटिस्ट' ने 1914 के आधार को 100 मानकर भारत में पंजीकृत नई कंपनियों की पूंजी का एक सूचकांक जारी किया :

ब्रिटिश भारत को दी गई नई पूंजी

प्रतिवर्ष	1914	1921	1922	1923	1924	1925	1926	1927
पंजीकृत कंपनियों की पूंजी का सूचकांक	100	221	121	51	40	31	45	29

1914 के स्तर से नीचे आई ज़बरदस्त गिरावट पर लंदन के आर्थिक पत्र ने टिप्पणी की :

> जैसाकि इन अंकों से स्पष्ट है इसमें कोई संदेह नहीं कि देश के आर्थिक विकास में निश्चित रूप से बाधा पड़ी है। इसके लिए भारत सरकार की मुद्रा और विनिमय नीति को दोष दिए जाने से नहीं बचा जा सकता। ('स्टेटिस्ट,' 6 अगस्त 1927)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वव्यापी अर्थसंकट की शुरुआत से पहले ही भारत के औद्योगिक विकास में बाधाएं पड़ने लगी थीं। तीसरे दशक के मध्य में भारतीय फर्मों को बड़े कठिन समय से गुजरना पड़ा। कपड़ा उद्योग से अलग औद्योगिक उत्पादन में भारतीय पूंजीपतियों का नेतृत्व करने वाली कंपनी 'टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी' के 100 रुपये के शेयर 1926 में घटकर 10 रुपये के शेयर हो गए और उसे मजबूर होकर 20 लाख पौंड के ऋण पत्र के लिए लंदन के बाजार तक जाना पड़ा। ब्रिटिश महाजनी पूंजी ने युद्ध के बाद के प्रारंभिक वर्षों में भारतीय उद्योग पर अपनी पकड़ अस्थायी तौर पर ढीली कर दी थी पर इन वर्षों के दौरान उसने पकड़ फिर मजबूत कर दी।

भारतीय उद्योग को एक और जबरदस्त धक्का तब लगा जब 1927 में सरकार ने भारतीय रुपये का मूल्य, जो युद्ध के पहले 1 शिलिंग 4 पैंस था, स्थाई तौर पर 1 शिलिंग 6 पैंस कर दिया। सरकार ने यह कदम भारतीय वित्त और मुद्रा पर 1926 की हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट के बाद उठाया था। संकुचन की इस नीति को भारतीय पूंजीपतियों के

व्यापक विरोध के बावजूद जारी रखा गया। भारतीय पूंजीवाद के नेता सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने मुद्रा आयोग की रिपोर्ट पर अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि, 'इससे भारतीय उद्योगपतियों को ऐसी चोट पड़ेगी जिसे वे बर्दाश्त नहीं कर सकते। इसका प्रहार, और वह भी जबरदस्त प्रहार, उन लोगों पर होगा जो कृषि पर निर्भर करते हैं अर्थात आबादी का 4/5 भाग इसका शिकार होगा।' ठीक इसी समय वित्तीय नियंत्रण, जिसपर भारतीय प्रभाव की तनिक भी संभावना नहीं थी, वापस लेने की दिशा में कदम उठाए गए और 1921 में स्थापित इंपीरियल बैंक आफ इंडिया के अलावा एक नया भारतीय रिजर्व बैंक खोलने का फैसला किया गया जिसकी सिफारिश हिल्टन यंग कमीशन ने की थी। अंततः 1934 में भारतीय विरोध के खिलाफ लंबे संघर्ष के बाद इसकी स्थापना कर ही दी गई।

पहले से ही चली आ रही इन कठिन परिस्थितियों के दौरान ही विश्व आर्थिक संकट का प्रभाव भारत पर आ पड़ा और इसकी चोट भारत पर किसी अन्य महत्वपूर्ण देश की तुलना में ज्यादा गहरी लगी क्योंकि भारत प्राथमिक उत्पादन पर बेहद निर्भर करता था। भारत के प्राथमिक उत्पादनों का मूल्य, जिसपर व्यवहारतः आबादी का 4/5 हिस्सा निर्भर रहता था (इस मूल्य से कमजोर आर्थिक विकास के लिए बाजार का भी परिचालन होता था) घटकर आधा हो गया। 1928-29 से 1932-33 के बीच भारत से निर्यात किए गए सामानों का मूल्य 3 अरब 39 करोड़ रुपये से घटकर 1 अरब 35 करोड़ रुपया हो गया; भारत आए सामानों का मूल्य 2 अरब 60 करोड़ रुपये से घटकर 1 अरब 35 करोड़ रुपया हो गया। फिर भी भारत से इंग्लैंड भेजे जाने वाले नजराने की राशि, ऋण पर ब्याज और घरेलू खर्च की राशि कम होने के बजाय कीमतों के गिर जाने से दुगनी हो गई और इसे भारत से बड़ी निर्दयता के साथ वसूला गया। भारत के पास न तो यूरोप की तरह हूवर ऋण स्थगन व्यवस्था थी, न जर्मनी की तरह ऋण पर रोक लगाने की योजना थी, और न ही ऋण अदायगी के परित्याग की ही कोई सुविधा थी जैसी सुविधा अमरीकी ऋण के संदर्भ से ब्रिटेन को मिली थी। भारत को नजराने के रूप में अपना खजाना इंग्लैंड भेजना पड़ा। 1931 से 1935 के बीच इंग्लैंड ने भारत से कम से कम 3 करोड़ 20 लाख औंस सोना ऐंठ लिया जिसका मूल्य 20 करोड़ 30 लाख पौंड आंका गया ('इकोनामिस्ट,' 12 दिसंबर 1936) अर्थसंकट से पहले ब्रिटेन के सुरक्षित कोष में कुल जितना सोना था यह मात्रा उससे भी अधिक थी। 1936 से 1937 के बीच भारत से 3 करोड़ 80 लाख पौंड मूल्य का और सोना इंग्लैंड भेजा गया ('इकोनामिस्ट', 2 अप्रैल 1938)। इस प्रकार 1931-37 के सात वर्षों के दौरान कुल 24 करोड़ 10 लाख पौंड के मूल्य का सोना इंग्लैंड गया। भारत की आम जनता बैंकों आदि बचत के साधनों से अनभिज्ञ होने के कारण अपनी बचत के पैसों से सोना खरीद लेती थी। यह सोना देश की गरीब और किसान जनता की बचत के परंपरागत तरीके का नतीजा था। वही सोना, जो भारत की निर्धन जनता की मामूली बचत थी, इंग्लैंड पहुंच गया। ब्रिटिश महाजनी पूंजी ने अपना स्वर्ण भंडार भरने के लिए भारतीय सोने की बड़े सुनियोजित ढंग से लूट की। बैंक आफ

इंटरनेशनल सैटलमेंट की रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटिश खजाने में 1932 में 3 अरब 2 करोड़ 10 लाख स्विस फ्रांक सोना था जो 1936 के अंत तक बढ़कर 7 अरब 91 करोड़ 10 लाख हो गया अर्थात चार वर्षों में 162 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जैसाकि औद्योगिक क्रांति के दिनों में हुआ था, एक बार फिर 1933-37 में ब्रिटिश पूंजीवाद ने अपना घाटा पूरा करने का जो नया तरीका ढूंढा वह भी भारत की लूट खसोट पर ही आधारित था।

1936 के अंत तक 'इकोनामिस्ट इंडिया सप्लीमेंट' ने 'उद्योगीकरण' की प्रगति के बारे में एक निराशाजनक चित्र पेश किया :

> उद्योग पर निर्भर लोगों की संख्या में अब कमी आने लगी है और इन कुछ वर्षों में कुछ उद्योगों में तो खासतौर से पटसन और सूती वस्त्र उद्योग में काम करने वालों की संख्या में बहुत कमी आई है……
>
> हालांकि भारत ने अपने उद्योगों को आधुनिक बनाना शुरू कर दिया है फिर भी यह कह सकना मुश्किल है कि भारत का 'उद्योगीकरण' हो चुका है।
> ('इकोनामिस्ट, इंडिया सप्लीमेंट, ए सर्वे आफ इंडिया टुडे,' 12 दिसंबर 1936)

5. युद्ध से पहले के बीस वर्षों का लेखा जोखा

अब हम उद्योगीकरण के लिए जोश भरे वायदों की रोशनी में प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच के बीस वर्षों अर्थात भारतीय औद्योगिक आयोग के गठन के बाद बीस वर्षों में हुए भारतीय आर्थिक विकास के परिणामों का जायजा लें।

इन बीस वर्षों की अवधि में, जिसमें सोवियत संघ में समाजवादी उद्योगीकरण की ऐसी विजय देखने को मिली जिसने यूरोप और एशिया के सभी देशों को पीछे छोड़ दिया, निस्संदेह भारत में भी कुछ औद्योगिक विकास हुआ। इसने इस विकास को आगे बढ़ाया जो ब्रिटिश सरकार के विरोध के बावजूद 1914 से पहले ही गति ले चुका था। एक के बाद एक उद्योगों ने भारत के घरेलू बाजार की ओर कदम बढ़ाना शुरू कर दिया था। भारतीय सूती कपड़ा मिलों ने जिन्होंने 1914 में भारत में इस्तेमाल किए गए मिल निर्मित सूती कपड़ों का एक चौथाई हिस्सा तैयार किया था, 1934-35 तक अपना उत्पादन बढ़ाकर तीन चौथाई कर दिया। भारतीय इस्पात उद्योग, जिसकी युद्ध से पहले बस स्थापना ही हो पाई थी, 1932-33 तक भारतीय बाजार में इस्पात की जरूरतों का लगभग तीन चौथाई हिस्सा पूरा करने लगी थी (1934 में शुल्क बोर्ड की रिपोर्ट के अनुसार)। फिर भी यह, धीमे औद्योगिक विकास के कारण इस्पात के मामले में भारतीय बाजार के अत्यंत सीमित होने की माप का ही मुख्यतया परिचय देता है। 1935-36 में 879,000 टन इस्पात का उत्पादन हुआ जो कि एक रिकार्ड है फिर भी यह उत्पादन उसी वर्ष पोलैंड में हुए इस्पात के उत्पादन से कम है (जबकि पोलैंड की आबादी भारत की आबादी के दसवें

हिस्से से भी कम है), और 1936 में जापान में हुए इस्पात के उत्पादन के छठे भाग से भी कम है और सोवियत संघ के इस्पात उत्पादन के 19वें हिस्से के बराबर है।

लेकिन किसी देश के उद्योगीकरण के लिए निर्णायक महत्व कपड़ा उद्योग का नहीं है, जिसने 1914 से पहले हर मामले में भारत में अपना आधार मजबूत बना लिया था। किसी देश के उद्योगीकरण के लिए निर्णायक भूमिका भारी उद्योगों के विकास की, लोहे और इस्पात के उत्पादन की तथा मशीनों के उत्पादन की होती है। और इसी क्षेत्र में युद्ध से पूर्व भारत की कमजोरी बिलकुल साफ थी। उस समय भी भारत मशीनों के मामले में अन्य देशों पर पूरी तरह निर्भर था :

> हालांकि लोग बिजली से चलने वाले कारखानों में एकत्र हैं फिर भी इंजीनियरिंग और टैक्सटाइल उद्योगों का रूप घरेलू उद्योगों का रूप ले रहा है। किसी कपड़ा मिल में एक के बाद एक तकले लगाने या करघे लगाने की समस्या होती है। मरम्मत करने के कारखानों का काम मूलतः व्यक्तिगत स्तर का है। किसी देश में सही अर्थों में तब तब्दीली आती है जब लोहा और इस्पात उद्योग सफल होने लगते हैं···धातु संबंधी उद्योगों के विकास का अर्थ सही अर्थों में औद्योगिक क्रांति है। इंग्लैंड, जर्मनी और अमरीका, इन सभी देशों ने अपने यहां कपड़ा उद्योग शुरू करने से पहले आधुनिक पैमाने पर लोहा और इस्पात उद्योग शुरू किया। (एल० सी० ए० नावेल्स : 'इकोनामिक डेवलपमेंट आफ दि ओवरसीज इंपायर,' पृष्ठ 443)

वास्तविक उद्योगीकरण के लिए इस आवश्यक क्रम को और भी जोरदार ढंग से सोवियत संघ की महान समाजवादी औद्योगिक क्रांति में देखा गया है। सोवियत संघ ने प्रथम पंच-वर्षीय योजना में अपना सारा ध्यान भारी उद्योग पर लगाया फिर परिणामस्वरूप, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उसने अपने यहां के हल्के उद्योग की प्रगति को आगे बढ़ाया। भारत इस बात का अद्‌भुत उदाहरण है कि किसी पराधीन और औपनिवेशिक देश का आर्थिक विकास किस प्रकार एकदम उलटे क्रम से होता है।

यदि हम इस अवधि के दौरान उद्योग और कृषि में लगे लोगों की संख्या की तुलना 1914 से पूर्व की संख्या से करें तो औद्योगिक विकास का निम्न स्तर और भी खुलकर सामने आ जाता है। जनगणना के आंकड़े देखने से पता चलता है कि 1911 से 1931 के बीच उद्योग पर निर्भर रहने वालों की संख्या घटी है जबकि कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है। उद्योग पर निर्भर लोगों की संख्या 1911 में 11.2 प्रतिशत थी जो 1921 में घटकर 10.49 प्रतिशत और 1931 में 10.38 प्रतिशत हो गई।

यहां तक कि सरकारी कागजों में भी उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की जो संख्या

दर्ज की गई है वह उल्लेखनीय है। इन आंकड़ों से पता चलता है कि इनकी संख्या में बेहद गिरावट आई और उद्योगों में लगे कुल मजदूरों के अनुपात में देखें तो इस संख्या में जबर-दस्त रूप से सापेक्षिक गिरावट आई।

उद्योग धंधों में लगे मजदूरों का अनुपात
(1911-31)

	1911	1921	1931	रूपांतरण का प्रतिशत 1911-31
जनसंख्या (करोड़ में)	31.5	31.9	35.3	12.1
कार्यरत आबादी (करोड़ में)	14.9	14.6	15.4	4.0
उद्योग धंधों में लगे व्यक्ति (करोड़ में)	1.75	1.57	1.53	12.6
कार्यरत आबादी की तुलना में उद्योगधंधों में लगे व्यक्तियों का प्रतिशत	11.7	11.0	10.0	9.1
कुल आबादी में औद्योगिक मजदूरों का प्रतिशत	5.5	4.9	4.3	21.8

इस प्रकार 20 वर्षों में औद्योगिक मजदूरों की संख्या में 20 लाख से भी ज्यादा की कमी आ गई। जनसंख्या में जहां 12 प्रतिशत से भी अधिक की कमी आई, कुल आबादी में औद्योगिक मजदूरों का प्रतिशत पांचवें हिस्से से भी ज्यादा कम हुआ। प्रमुख उद्योगों के बारे में 1911 के बाद के विवरण से भी कमी की यही तस्वीर सामने आती है :

प्रमुख उद्योग धंधों में मजदूरों की संख्या में कमी

	1911	1921	1931
कपड़ा उद्योग	4,449,449	4,030,674	4,102,136
सिलेसिलाए कपड़े और प्रसाधन सामग्री तैयार करने वाले उद्योग	3,747,755	3,403,542	3,380,824
लकड़ी उद्योग	1,730,920	1,581,006	1,631,723
खाद्य सामग्री तैयार करने वाले उद्योग	2,134,045	1,653,464	1,476,995
मिट्टी के बर्तन बनाने वाले उद्योग	1,159,168	1,085,335	1,024,830

इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के पहले, भारत की जो वास्तविक तस्वीर हमारे सामने आती है, उसके लिए 'अनुद्योगीकरण' शब्द का ठीक ही इस्तेमाल किया गया है।

इसका अर्थ यह हुआ कि पुराने हस्तशिल्प उद्योग का नाश हुआ है और उसके स्थान पर आधुनिक उद्योग का विकास भी नहीं हुआ। कारखाना उद्योग की प्रगति ने हस्तशिल्प उद्योग के विनाश की कमी पूरी नहीं की। विनाश की यह प्रक्रिया ही 19वीं सदी की खास बात थी और यह प्रक्रिया 20वीं सदी में तथा 1918 के बाद के वर्षों में जारी रही।

इसके नतीजे भी अपरिहार्य हैं। साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत भारत के 'उद्योगीकरण' की तस्वीर एक धोखा है। साम्राज्यवादी शासन के बाद के वर्षों में कृषि के कार्य में बहुत बड़ी संख्या में लोगों का जमाव हुआ :

> कुछ औद्योगिक केंद्र इतने बड़े हैं कि कारखानों की स्थापना से पूर्व हस्तशिल्प उद्योग द्वारा उन्हें जो सहारा मिलता था उसकी तुलना में अपेक्षाकृत छोटे समूह को कारखानों से प्रत्यक्ष सहारा मिलता है। आज भी यह देश निर्यात की तुलना में प्रतिवर्ष काफी अधिक मात्रा में कारखानों में बने सामानों का आयात करता है। इन अनुपातों में जहां क्रमिक परिवर्तन हो रहा है, वहीं भारतीय अर्थव्यवस्था की आज भी यह खासियत है कि यहां से कच्चे माल का काफी निर्यात और तैयार माल का आयात हो रहा है। अपने कारखानों और अपने निम्न जीवन स्तर के बावजूद भारत आज से सौ वर्ष पहले की तुलना में तैयार सामानों के मामले में अब भी कम आत्मनिर्भर है (डी० एच० बुकानन : 'डेवलपमेंट आफ कैपिटलिस्ट इंटरप्राइज इन इंडिया,' 1934, पृष्ठ 451)

1931 में फैक्टरीज ऐक्ट के अंतर्गत कुछ मजदूरों की संख्या 15 लाख अर्थात कार्यरत आबादी का 1 प्रतिशत से भी कम थी। यदि इसमें हम खदानों में काम करने वाले 2,60,000 लोगों और 8,20,000 रेल कर्मचारियों की संख्या जोड़ दें तो भी आधुनिक उद्योग में लगे 26 लाख लोगों की संख्या कुल कार्यरत आबादी का महज 1.5 प्रतिशत होती है।

इतना ही नहीं, 1914 के बाद की विकास की दर भी, जो तीव्र उद्योगीकरण की छाप से दूर ही रही, कुछ मामलों में 1914 के पहले की अवधि की तुलना में धीमी रही। पृष्ठ 184 की तालिका से फैक्टरीज ऐक्ट के अंतर्गत मजदूरों की संख्या वृद्धि का पता चलता है (1922 तक यह ऐक्ट उन संस्थानों पर लागू होता था जिनमें काम करने वाले मजदूरों की संख्या 50 या इससे अधिक हो लेकिन 1922 से यह 20 या इससे अधिक और कहीं कहीं तो 10 या इससे अधिक मजदूरों वाले संस्थानों पर लागू होने लगा। जहां तक संख्या को प्रभावित करने का सवाल है, यह परिवर्तन युद्धोत्तर काल के आंकड़ों के लिए अधिक अनुकूल है और इसलिए हमारे तर्क को बल प्रदान करता है) :

1897 से 1914 के 17 वर्षों में कारखाना मजदूरों की संख्या में 5,30,000 की वृद्धि हुई।
1914 से 1931 के 17 वर्षों में कारखाना मजदूरों की संख्या में 4,80,000 की वृद्धि हुई।

कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की औसत दैनिक संख्या

वर्ष	संख्या
1897	421,000
1907	729,000
1914	951,000
1922	1,361,000
1931	1,431,000

इस प्रकार पहले की तुलना में 1914 के विकास की गति न सिर्फ धीमी रही बल्कि कुल वृद्धि भी पहले से कम हुई।

यहां तक कि सूती कपड़ा उद्योग में, जहां यह वृद्धि काफी उल्लेखनीय थी, भारत में इस बढ़ती की रफ्तार जापान या चीन की तुलना में काफी कम थी। निम्न तालिका से 1914 से 1930 के बीच भारत, जापान और चीन में तकलों की संख्या में सापेक्षिक वृद्धि का पता चलता है (बुकानन, वही, पृष्ठ 220) :

बुनाई के तकलों की संख्या

	1914	1930	वृद्धि
भारत	6,397,000	8,807,000	2,410,000
जापान	2,414,000	6,837,000	4,423,000
चीन	300,000	3,699,000	3,399,000

भारत में यह वृद्धि 37 प्रतिशत रही जबकि इसी अवधि में जापान और चीन में यह वृद्धि 188 प्रतिशत रही। 1914 में जापान और चीन में जितने तकले काम करते थे उनको मिला दिया जाए तो भी भारत के तकलों की संख्या दुगुनी से अधिक थी। 1930 तक जापान और चीन ने (और चीन की काफी कुछ प्रगति जापानी नियंत्रण के अधीन हुई) भारत को एकदम पीछे छोड़ दिया।

भारत में उद्योगीकरण की इस धीमी गति के क्या कारण हैं? इस अवरुद्ध आर्थिक विकास के लिए भारत के समूचे सामाजिक ढांचे की कई बातें जिम्मेदार हैं लेकिन इसका मुख्य कारण साम्राज्यवादी प्रणाली में ही निहित है। साम्राज्यवादी व्यवस्था की कार्य प्रणाली का रुख अनिवार्य रूप से स्वतंत्र औद्योगिक विकास के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है और इसलिए उसने भारतीय जनता की उन शक्तियों को हर तरह से नष्ट किया है जो अन्य अवरोधों पर काबू पाने में सफल हो सकती थीं। इसलिए उद्योगीकरण के सभी सपने और वायदे

अत्यधिक अंतर्विरोधों के बीच पलते रहे। साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था जनता के आर्थिक विकास को अपने शिकंजे में कसकर विफल और धीमा कर देती है।

ये अंतर्विरोध न केवल इस रूप में मौजूद हैं जिनका भारत के औद्योगिक विकास में अपने विरोधी हितों से सीधा वैर है और जो क्रमशः क्षीण होती ब्रिटिश पूंजी का हर तरीके से भारतीय बाजार में हिस्सा बनाए रखने और बढ़ाने के लिए कृत संकल्प हैं बल्कि वे इस रूप में भी मौजूद हैं कि वे साम्राज्यवादी शोषण की स्थितियों के अंतर्गत भारतीय उद्योग के लिए घरेलू बाजार की असाध्य समस्याएं पैदा करते हैं और खेतिहर जनता को कंगाल बना देते हैं। सीमा शुल्क प्रणाली इस अंतर्विरोध को हल नहीं करती है बल्कि कामगर किसान समुदाय पर अतिरिक्त बोझ डालकर वह इस अंतर्विरोध को और तेज कर देती है। भारत में उद्योग धंधों की समस्या को खेती की समस्या से अलग करके हल नहीं किया जा सकता और खेती की समस्या का संबंध साम्राज्यवादी शोषण के मूल आधार से है। अंत में, ये अंतर्विरोध ब्रिटिश महाजनी पूंजी की सामरिक जकड़ में प्रकट होते हैं। इस महाजनी पूंजी ने सामरिक महत्व के सभी निर्णायक स्थलों पर अपना नियंत्रण स्थापित करके भारतीय उद्योग को अपनी दया पर आश्रित कर दिया है।

6. महाजनी पूंजी की दमघोंटू पकड़

भारत के बारे में, भारत से बाहर जो बातचीत होती है उसमें उद्योगीकरण, सीमाशुल्क में रियायतों और भारत के बाजार पर दिनोंदिन कमजोर होते ब्रिटिश नियंत्रण पर खूब बढ़चढ़कर चर्चा की जाती है, लोगों को इस बात की कम ही जानकारी है कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश महाजनी पूंजी की जकड़ बढ़ती जा रही है और भारतीयों की प्रगति के विरुद्ध इस जकड़ को बनाए रखने के लिए ब्रिटेन हर तरह के हथकंडे अपना रहा है।

भारतीय पूंजी के विकास के बावजूद ब्रिटिश पूंजी का बैंकिंग, वाणिज्य, मुद्रा विनिमय और बीमा, जहाजरानी, रेल व्यवस्था, चाय, कॉफी और रबर बागानों तथा पटसन उद्योग में (जहां परिमाण के हिसाब से अपेक्षाकृत विशाल भारतीय पूंजी पर ब्रिटिश नियंत्रण है) एकाधिकारपूर्ण प्रभुत्व कारगर ढंग से बना हुआ है। समूची राजनीतिक प्रणाली इस प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए काम कर रही है। लोहा और इस्पात उद्योग में भारतीय पूंजी को ब्रिटिश पूंजी से समझौता करने को मजबूर होना पड़ा है। यहां तक कि भारतीय पूंजी के स्रोत सूती कपड़ा उद्योग में, 'प्रबंधक एजेंसी' (मैनेजिंग एजेंसी) के जरिए ब्रिटिश पूंजी का नियंत्रण जितना दिखाई देता है उससे काफी अधिक है।

मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली, भारत तथा एशिया के अन्य देशों में साम्राज्यवादी उद्योग के लिए एक खास तरह की प्रणाली है और इसका इस्तेमाल भारत के औद्योगिक विकास पर अंगरेजों का प्रभुत्व बनाए रखने के लिए एक प्रधान अस्त्र के रूप में हुआ है। इस प्रणाली

के जरिए अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी मनेजिंग एजेंसी कंपनियां विभिन्न औद्योगिक कंपनियों और कलकारखानों को बढ़ावा देती हैं, उनपर नियंत्रण रखती हैं और काफी हद तक उनके लिए पूंजी इकट्ठा करती हैं, उनके संचालन और उत्पादन पर अपना प्रभुत्व बनाए रखती हैं तथा उनमें निर्मित सामान को बाजार में भेजती हैं। इन कंपनियों के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स एक मातहत की भूमिका निभाते हैं, उनकी नाममात्र की भूमिका होती है। मुनाफे की राशि कंपनियों के हिस्सेदारों को नहीं मिलती, उसे मैनेजिंग एजेंसियां ही हजम कर जाती हैं। 1927 में सीमा शुल्क बोर्ड सूती वस्त्र उद्योग जांच समिति के सामने दिए गए साक्ष्य के अनुसार, 1905 से 1925 के 20 वर्षों के दौरान बंबई की कपड़ा मिलों ने मैनेजिंग एजेंटों को जो कमीशन दिया वह कुल प्रदत्त पूंजी का औसतन 5.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष था। यह राशि मैनेजिंग एजेंसी के शेयरों पर दिए गए किसी लाभांश और खरीद तथा बिक्री के जरिए मिले कमीशन के अतिरिक्त है। ऐसे भी मामले देखने में आए हैं जिसमें कपड़ा मिलों को घाटा हुआ है पर साथ ही मैनेजिंग एजेंसी को उस मिल के कुल घाटे से ज्यादा कमीशन मिला है जिसकी वह देखरेख करती थीं। उदाहरण के लिए 1927 में बंबई की 75 कपड़ा मिलों को कुल 7,36,309 रुपये का घाटा हुआ लेकिन मैनेजिंग एजेंटों ने भत्ते और कमीशन के रूप में 30,87,477 रुपये प्राप्त किए (पी० एस० लोकनाथन : 'इंडस्ट्रियल आर्गेनाइजेशन इन इंडिया,' 1935, पृष्ठ 168)।

मैनेजिंग एजेंसी कंपनियां भारतीय और अंगरेजी दोनों तरह की हैं; लेकिन सबसे पुरानी और सबसे मजबूत कंपनियां अंगरेजों की हैं। स्वाभाविक है कि इनका सरकार और लंदन के साथ घनिष्ठतम संबंध है। ऐंड्रू यूल ऐंड कंपनी तथा जार्डन ऐंड स्किनर जैसी फर्में भारत में ब्रिटिश राज के इतिहास का एक अध्याय है। बंबई कपड़ा उद्योग के मामले में, 1927 में 'टैरिफ बोर्ड काटन टैक्सटाइल इंक्वायरी' ने बंबई की कपड़ा मिलों से संबंधित 99 प्रतिशत आंकड़े देकर उसके आधार पर इन शक्तियों के संबंध की उल्लेखनीय तस्वीर पेश की (खंड 1, पृष्ठ 258, परिशिष्ट xii, वर्तमान तालिका इस परिशिष्ट में उपलब्ध जानकारी के आधार पर तैयार की गई है और जून 1928 के 'लेबर रिसर्च' में प्रकाशित हुई) :

बंबई की कपड़ा मिलें

	मिलें	तकले	करघे	पूंजी (करोड़ रुपयों में)
अंगरेज मैनेजिंग एजेंटों-वाली कंपनियां 9	27	1,112,114	22,121	9.89
भारतीय मैनेजिंग एजेंटों-वाली कंपनियां 32	56	2,360,528	51,580	9.77

इससे यह देखा जा सकता है कि अंगरेज मैनेजिंग एजेंटों का जहां केवल 22 प्रतिशत कंपनियों पर नियंत्रण था वहीं उनका मिलों पर 33 प्रतिशत, तकलों पर 32 प्रतिशत; करघों

पर 30 प्रतिशत और पूंजी के एक बड़े हिस्से अर्थात 50.3 प्रतिशत पर नियंत्रण था। यह ऐसे उद्योग की स्थिति है जो भारतीय पूंजी के विकास का प्रमुख क्षेत्र है।

बाद के वर्षों में उत्पन्न आर्थिक संकट ने मैनेजिंग एजेंसियों को मिलों पर अपना पंजा जमाने और कुछ मामलों में तो भारतीय शेयर होल्डरों का स्वामित्व छीन लेने का मौका दिया। इस तथ्य को 1931 में इंडियन सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में दर्ज किया है :

> हालांकि यह सही है कि जैसे संकट से बंबई को गुजरना पड़ा, उसमें मैनेजिंग एजेंटों को काफी घाटा सहना पड़ा है क्योंकि वे अपने अधीन मिलों में प्रत्यक्ष तौर पर पूंजी लगाए हुए थे लेकिन कई ऐसे भी मामले सामने आए हैं जिनमें एजेंटों ने अपने कर्ज को मिलों के नाम ऋण पत्र के रूप में तबदील कर दिया, इसका नतीजा यह हुआ कि ये मिलें पूरी तरह इनके हाथ में आ गईं और शेयरहोल्डरों ने जो पूंजी इन मिलों में लगाई थी, उनसे वे हाथ धो बैठे।
> (रिपोर्ट आफ दि सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी, 1931, खंड I, पृष्ठ 279)

भारतीय उद्योग पर ब्रिटिश पूंजी की पकड़ अब भी बनी हुई है हालांकि भारत में ब्रिटिश संपत्ति की समाप्ति के सही सही आंकड़े उपलब्ध नहीं है लेकिन, जैसाकि श्री ह्यू डाल्टन ने [illegible]ई 1946 में हाउस आफ कामन्स में कहा था, भारतीयों के हाथ में इसका स्थानांतरण ज्यादा नहीं हुआ। दूसरी तरफ एकदम उल्टी प्रक्रिया अर्थात भारत में पूंजी की घुसपैठ देखी जा सकती है। विदेशी कंपनियों ने भारत में अपनी उप कंपनियां खोल दीं और भारत में इन्हें पंजीकृत भी कराया। लीवर ब्रदर्स, डनलप, इंपीरियल कैमिकल्स जैसी विशाल कंपनियों की भारत में अपनी सहायक कंपनियां हैं। और 'इंडिया लिमिटेड्स' की यह संख्या प्रतिदिन बढ़ रही है। भारत सरकार के वाणिज्य मंत्री ने 1945 में केंद्रीय विधान मंडल के बजट अधिवेशन में कहा कि 1942-43 तक के चार वर्षों के दौरान, ब्रिटिश भारत से बाहर पंजीकृत पांच कंपनियों ने अपने नाम के अंत में 'इंडिया लिमिटेड' जोड़कर भारत में व्यापार स्थापित किया। इसके अलावा, 1943-44 की समाप्ति तक के पांच वर्षों में 108 'इंडिया लिमिटेडों' ने भारत में अपना पंजीकरण कराया, इन कंपनियों के अंतर्गत हर तरह के उद्योग आते हैं। जैसा प्रोफेसर वाडिया और मर्चेंट ने लिखा है, 'भारी पूंजी से लगे गैरभारतीय कारखानों ने माचिस, सिगरेट, साबुन, जूता, रबर, रसायन आदि का जबरदस्त उत्पादन शुरू किया और भारतीय कारखानों को नष्ट कर दिया है। इन्होंने न केवल बड़े उद्योगों का मुकाबला किया बल्कि हमारे (भारत के) लघु उद्योगों के लिए भी खतरा पैदा कर दिया' (वाडिया और मर्चेंट : 'अवर इकोनामिक प्राब्लम,' 1945 पृष्ठ 466)

भारतीय उद्योग के लिए इन 'इंडिया लिमिटेडों' के बढ़ते खतरे के बारे में बंबई की

औद्योगिक और आर्थिक जांच समिति ने 1940 में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में कहा :

> यदि हमारी औद्योगिक नीति का लक्ष्य छोटी कंपनियों की स्थापना को प्रोत्साहन देना है तो यदि इन बड़ी विदेशी कंपनियों को बिना उचित और कारगर बंदिश के खुद को स्थापित करने की अनुमति दी गई तो हम अपने लक्ष्य में विफल हो जाएंगे। (रिपोर्ट, 1940, पृष्ठ 168)

तो भी, ब्रिटिश महाजनी पूंजी की नियंत्रक शक्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण भूमिका विदेशी बैंकिंग व्यवस्था की है जो सरकार की वित्तीय और विनिमय नीति के साथ मिलकर काम कर रही है। जब तक वित्तीय शक्ति पर ब्रिटिश एकाधिकार बना रहता है, भारत के सिवा स्वतंत्र पूंजीवादी विकास की बात करना एक खोखली बात के सिवा और कुछ नहीं है। भारत में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का गठन चार तरह की संस्थाओं या संस्थाओं के समूहों के द्वारा हुआ है।

1. रिजर्व बैंक आफ इंडिया, जिसकी स्थापना एक ऐक्ट के जरिए 1934 में हुई और जो 1935 से काम कर रहा है, इस व्यवस्था का सर्वोत्तम रूप है। बैंक आफ इंग्लैंड की तरह इस बैंक का स्वामित्व और इसपर नियंत्रण गैरसरकारी है लेकिन इसके पास मुद्रा जारी करने, मुद्रा विनिमय और सरकार की बैंकिंग तथा सरकार द्वारा भेजी गई रकम का नियमन करने और इस प्रकार बैंक आफ इंग्लैंड की ही तरह कर्ज की व्यवस्था पर नियंत्रण रखने का अधिकार है। सरकार द्वारा इसके गवर्नर, दो उपगवर्नरों और पांच डायरेक्टरों को नामजद किया जाता है लेकिन इन आठ पदाधिकारियों में से छः को ही मतदान का अधिकार प्राप्त है; सरकार के नामजद लोगों में से इन छः लोगों के वोट के मुकाबले, गैरसरकारी रूप से चुने गए आठ डाइरेक्टरों में से सभी को मतदान का अधिकार है। इस प्रकार कानून के जरिए इसे राजनीतिक नियंत्रण से सुरक्षा प्राप्त है। 1935 में इस नए सेंट्रल बैंक की स्थापना तथा साथ ही गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के बनाने का उद्देश्य यह था कि यदि वैधानिक सुधारों के फलस्वरूप कुछ भारतीय प्रतिनिधि कभी केंद्रीय सरकार में आ भी जाएं तो आर्थिक सत्ता का यह दुर्ग उनकी पहुंच से परे बना रहे; या यदि 'लंदन टाइम्स' (11 फरवरी 1928) के शब्दों में कहें तो वह 'उस राजनीतिक दबाव से, जिससे ऋण और मुद्रा की व्यवस्था को पूरी तरह स्वतंत्र रहना चाहिए, बचा रहे।' युद्ध के दौरान जिस तरीके से रिजर्व बैंक आफ इंडिया ने साम्राज्यवादी नीति की इच्छा के सामने घुटने टेक दिए और महज एक सरकारी विभाग के रूप में काम किया उससे साफ पता चल जाता है कि बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स के निर्वाचित सदस्यों का बहुमत मात्र एक दिखावा है और वास्तविक नियंत्रण सरकार के हाथों में निहित है। रिजर्व बैंक की प्रथम दस वर्षों की कार्य प्रणाली की समीक्षा करते हुए 'ईस्टर्न इकोनामिस्ट' लिखता है :

> इस प्रकार रिजर्व बैंक ने सरकार द्वारा इसके लिए तैयार किए गए फैसलों के

तकनीकी निष्पादक का काम प्रशंसनीय ढंग से किया···इसके कार्यों के सभी उपलब्ध प्रमाणों और विवेकपूर्ण निष्कर्षों के आधार पर हम यह टिप्पणी करने के लिए विवश हैं कि रिजर्व बैंक के केंद्रीय बोर्ड को अपने उत्तरदायित्व पूरी तरह नहीं मिले···दरअस्ल सच्चाई यह है कि सरकार का इरादा बैंक को राजनीतिक नियंत्रण से नहीं बल्कि जनता के नियंत्रण से मुक्त रखना था। (ईस्टर्न इकोनामिस्ट, 25 मई 1945)

2. इंपीरियल बैंक आफ इंडिया की स्थापना 1920 के ऐक्ट के द्वारा तीन भूतपूर्व प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर की गई थी और यह 1921 से काम कर रहा है। इसका भी स्वामित्व और नियंत्रण निजी है हालांकि इसकी स्थापना कानूनी तौर पर हुई है और इसकी अधिकृत पूंजी 90 लाख पौंड है। मूलतः इसका गठन एक केंद्रीय बैंक की तरह किया गया था जो मुद्रा जारी करने और व्यापारिक कार्यों में सरकारी बैंक की भूमिका निभा सके। 1934 के संशोधक ऐक्ट के जरिए यह अब व्यापारिक कार्यों को जारी रखने के साथ साथ रिजर्व बैंक के सहयोग से कार्य करता है। इसकी लगभग 400 शाखाएं और उपशाखाएं हैं। भारत के सभी बैंकों की कुल जमाराशि का एक तिहाई हिस्सा इस बैंक में है। 1936 में इसके 11 डाइरेक्टर अंगरेज थे और चार डायरेक्टर भारतीय।[4]

3. एक्सचेंज बैंक अथवा भारत में काम करने वाले ब्रिटिश या विदेशी निजी बैंक। इन बैंकों के मुख्यालय भारत से बाहर हैं और इनका स्वरूप पूरी तरह अभारतीय है।[5] ये निर्यात और आयात व्यापार में लगी पूंजी का नियंत्रण करते हैं। 1943 में इनकी संख्या 16 थी जिनमें सबसे महत्वपूर्ण थे चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया, आस्ट्रेलिया ऐंड चाइना, दि मरकेंटाइल बैंक आफ इंडिया, दि नेशनल बैंक आफ इंडिया, दि हांगकांग ऐंड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन और लायड बैंक। भारत के बैंकों में कुछ जमाराशि का पांचवां हिस्सा इन बैंकों में जमा है।

4. दि इंडियन ज्वाइंट स्टाक बैंक्स या भारत में पंजीकृत निजी बैंकों का स्थान इस व्यवस्था में सबसे नीचे है। भारतीय पूंजी केवल यहीं कोई भूमिका निभा पाती है लेकिन इनमें से भी कुछ बैंकों पर, मसलन इलाहाबाद बैंक पर जो सबसे बड़े बैंकों में से एक है और अब चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया, आस्ट्रेलिया ऐंड चाइना से संबद्ध है, विदेशी नियंत्रण कायम हो गया। इसलिए इनकी कुल शक्ति को भारतीय बैंक व्यवस्था की शक्ति नहीं माना जा सकता। इन बैंकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है और कई को असफलताएं मिलीं। इनमें पीपुल्स बैंक आफ इंडिया, इंडियन स्पैसी बैंक और एलायंस बैंक आफ शिमला शामिल हैं। 1922 से 1928 के बीच कम से कम 100 भारतीय बैंक बंद हो गए (इकोनामिस्ट, 12 अप्रैल 1930)।

बैंकों के इन तीन समूहों अर्थात इंपीरियल बैंक आफ इंडिया (1921 से पहले तीन

प्रेसीडेंसी बैंकों), एक्सचेंज बैंकों और इंडियन ज्वाइंट स्टाक बैंकों के पास 1913, 1920 और 1934 में कितनी जमा राशि थी, यह निम्न तालिका में देखा जा सकता है :

बैंक की जमा राशि[6]
(करोड़ रुपयों में)

	इंपीरियल बैंक आफ इंडिया (या प्रेसीडेंसी बैंक्स)		एक्सचेंज बैंक्स		इंडियन ज्वाइंट स्टाक बैंक्स	
	राशि	प्रतिशत	राशि	प्रतिशत	राशि	प्रतिशत
1913	42.4	43.5	31.0	31.8	24.1	24.7
1920	87.0	36.9	74.8	31.6	73.5	31.6
1934	74.9	33.6	71.4	32.0	76.8	34.4

यह देखा जा सकता है कि अंगरेजी और विदेशी बैंकों, इंपीरियल बैंक आफ इंडिया और एक्सचेंज बैंकों का दबदबा कायम था। इसके अलावा इंडियन ज्वाइंट स्टाक बैंकों का मुख्य रूप से जो विकास हुआ वह 1913 से 1920 के बीच की अवधि में हुआ, इस अवधि में उनकी जमाराशि, कुल बैंकों में जमाराशि के एक चौथाई हिस्से से बढ़कर एक तिहाई हो गई। इसके बाद से इंडियन ज्वाइंट स्टाक बैंकों की प्रगति बड़ी धीमी रही और यदि इनमें से कुछ के विदेशी नियंत्रण के अधीन आ जाने की बात की अनदेखी कर दी जाए तो पता चलेगा कि भारतीय पूंजी के दृष्टिकोण से इस अवधि में संभवतः ह्रास की ही स्थिति रही।

	जमा राशि 1938	(करोड़ रुपयों में) 1941	1942	1943
1. इंपीरियल बैंक आफ इंडिया	81.51	108.92	163.46	214.53
2. एक्सचेंज बैंक्स	67.20	106.73	116.85	140.19
कुल विदेशी बैंकों में जमा राशि……	148.71	215.65	280.31	354.72
3. अनुसूचित बैंक	91.87	129.04	189.34	319.65
4. गैर अनुसूचित बैंक	14.94	20.05	29.01	40.23
इंडियन ज्वाइंट स्टाक बैंकों की कुल राशि	106.81	149.09	218.35	359.88

युद्ध के वर्षों के दौरान भी स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके लिए 1938 के बाद इन तीनों बैंकों के समूहों में जमा राशि की तुलना की जानी चाहिए।

पृष्ठ 190 की तालिका देखने से पता चलता है कि सम्मिलित पूंजी के सभी भारतीय बैंकों (इंडियन ज्वाइंट स्टाक बैंक्स) पर इंपीरियल बैंक और एक्सचेंज बैंकों का दबदबा था जो 1943 तक बना रहा। केवल 1943 में जहां कहीं भारतीय बैंकों ने अपनी स्थिति मजबूत की और उनकी जमा राशि इंपीरियल और एक्सचेंज बैंकों की जमा राशि से लगभग 1.5 प्रतिशत अधिक हुई।

भारतीय उद्योगपतियों की सबसे जबरदस्त शिकायत यह रही है कि भारत की बैंक व्यवस्था पर ब्रिटेन के नियंत्रण का इस्तेमाल, भारत के औद्योगिक और स्वतंत्र आर्थिक विकास को नुकसान पहुंचाने के लिए और ब्रिटिश हितों को लाभ पहुंचाने के लिए किया गया है। इस सिलसिले में टी० सी० गोस्वामी के उस बयान को देखा जा सकता है जो 'एक्सटर्नल कैपिटल कमेटी' की रिपोर्ट के साथ संलग्न है :

> मैं इस आम धारणा को व्यक्त करना चाहूंगा, जो मेरी जानकारी में पर्याप्त तथ्यों पर आधारित है, कि ऋण देने के मामले में नस्लवादी और राजनीतिक भेदभाव बरता जाता है। भारतीयों के साथ प्राय: ऋण प्राप्त करने के मामले में वह सलूक नहीं किया जाता जो उनकी संपत्ति के आधार पर उनके साथ किया जाना चाहिए जबकि ब्रिटिश व्यापारियों को बहुधा इतना अधिक ऋण मिल जाता है जो व्यापार के सामान्य सिद्धांतों के अंतर्गत उन्हें नहीं मिलना चाहिए। (टी० सी० गोस्वामी : 'एक्सटर्नल कैपिटल कमेटी' की रिपोर्ट में संलग्न वक्तव्य, पृष्ठ 24)

इंडियन सेंट्रल बैंकिंग की अल्पमत (माइनारिटी) रिपोर्ट ने इस शिकायत का समर्थन किया। बहुमत (मेजारिटी) रिपोर्ट इस शिकायत पर उल्लेखनीय रूप से मौन रही और उसने 'पूरी पूरी जानकारी के अभाव में' फैसले को स्थगित करने का एलान किया :

> इस तरह की कुछ शिकायतें आई हैं कि कर्ज के लिए आई दरख्वास्तों पर विचार करते समय इंपीरियल बैंक आफ इंडिया के अफसर नस्लवादी भेदभाव बरतते हैं। यह भी कहा गया है कि बैंक के गोरे मैनेजरों के रहन सहन का जो ढंग है और उनका जो सामाजिक तौर तरीका है उससे इसी बात की ज्यादा गुंजाइश रहती है कि उनका भारतीयों की बजाय यूरोपीयों से ज्यादा प्रगाढ़ संबंध होगा और इस व्यक्तिगत जानकारी तथा संबंध के कारण कर्ज चाहने वाली यूरोपीय कंपनियों को भारतीय कंपनियों के मुकाबले ज्यादा तरजीह मिल जाती है।
>
> आम धारणा यह भी है कि भारतीय फर्मों के मुकाबले यूरोपीय फर्मों को बैंक

> ज्यादा खुलकर कर्ज देता है और जिन भारतीय फर्मों ने बैंक से मदद ली है उनके बड़े तल्ख तजुर्बे रहे हैं। यह भी कहा जाता है कि गैरभारतीय फर्मों ने जहां बैंकों से पूरी पूरी मदद ली है वहीं भारतीय फर्मों को दी गई मदद काफी कम है और फर्म की आवश्यक जरूरतों को काफी हद तक पूरा नहीं करती। इंपीरियल बैंक आफ इंडिया ने भारतीय और गैरभारतीय फर्मों को दिए गए ऋण का ब्यौरा हमारे सामने पेश किया है पर जब तक अलग अलग फर्मों के बारे में हमें पूरी जानकारी नहीं मिल जाती, हम इस शिकायत की जांच कर पाने में असमर्थ हैं। (मेजारिटी रिपोर्ट आफ दि इंडियन सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी, 1931, खंड 1, पृष्ठ 271-72)

इसी प्रकार 1925 में सरकार द्वारा गठित भारतीय आर्थिक जांच समिति के अध्यक्ष सर एम० विश्वैश्वरैया ने लिखा :

> भारत में उद्योग धंधे शुरू करने के मार्ग में जो कठिनाइयां हैं उनमें प्रमुख कठिनाई वित्त की है। इसका वास्तविक कारण यह है कि देश की मुद्रा शक्ति सरकार के नियंत्रण में है और, जैसाकि हमने देखा है, औद्योगिक नीतियों के मामले में सरकार भारतीय नेताओं से पूर्ण रूप से सहमत नहीं है। ऐसे बैंक बहुत कम हैं जिनपर भारतीय व्यापारियों का अधिकार है और बड़े बैंकों में से अनेक बैंक या तो सरकारी प्रभाव के अंतर्गत हैं या वे ब्रिटिश और विदेशी बैंकों की शाखाएं हैं। (सर एम० विश्वैश्वरैया : 'प्लांड इकोनामी फार इंडिया,' 1934, पृष्ठ 95)

7. महाजनी पूंजी और द्वितीय विश्वयुद्ध

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में स्वतंत्र भारतीय आर्थिक विकास की कीमत पर ही ब्रिटिश महाजनी पूंजी का वास्तविक प्रभुत्व मजबूती के साथ बनाए रखा गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध और इसके फलस्वरूप पूर्व में लड़ाई के सामानों की सप्लाई के लिए भारत को आधार बनाने की आवश्यकता और संभावना भी साम्राज्यवादी रुख में कोई तब्दीली नहीं लाई। युद्ध की संपूर्ण अवधि के दौरान ब्रिटिश नीति का हमेशा यही उद्देश्य रहा कि भारत का किसी भी तरह से उद्योगीकरण न होने दिया जाए। 'ईस्टर्न इकोनामिस्ट' ने 31 अगस्त 1945 को लिखा :

> हम सारी चीजें बना सकते थे फिर भी हमने कुछ नहीं बनाया। हम किसी भी चीज की और हर चीज की महज सप्लाई करते रहे, दुनिया भर की चीजों की मरम्मत करते रहे पर हमने बनाया कुछ भी नहीं। हमारे सामने न तो कोई योजना थी और न कोई प्रणाली। बल्कि यूं कहें कि हमारे सामने जो

> योजना बड़े साफतौर पर थी वह थी युद्ध के बाद के वर्षों में इस देश को उद्योगीकरण से बचाने की।

फिर भी, अनिवार्यतः युद्ध के दौरान औद्योगिक गतिविधियां कुछ हद तक बढ़ीं। भारतीय कारखानों में (इसमें हथियार बनाने के सभी सरकारी कारखाने आदि शामिल हैं) कार्यरत मजदूरों की संख्या 1939 में 1,751,136 से बढ़कर 1944 में 2,520,000 हो गई। ब्रिटिश भारत में सम्मिलित पूंजी की कंपनियों की प्रदत्त पूंजी 1939-40 में 2 अरब 88 करोड़ 50 लाख रुपये थी जो 1943-44 में बढ़कर 3 अरब 29 करोड़ 20 लाख रुपये हो गई। औद्योगिक कार्यों का सूचकांक (भारत में ब्रिटिश वित्तीय हितों के साप्ताहिक मुखपत्र 'कैपिटल' द्वारा प्रतिमाह की गई गणना के अनुसार) 1939-40 में 114.0 था, जो मई 1945 में अर्थात यूरोपीय युद्ध की समाप्ति पर बढ़कर 120.5 हो गया। जनवरी 1945 में यह अंक 132.1 हो गया और यही अधिकतम अंक रहा। कुछ तरह के सामानों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। कागज का उत्पादन बढ़ा, युद्ध से पूर्व के वर्षों में 59,000 टन कागज का उत्पादन हुआ था जो 1943-44 में बढ़कर 90,000 टन हो गया। (बाद में 1944-45 में इसमें गिरावट आई और यह 75,000 टन हो गया)। युद्ध के दौरान मिल में बने कपड़े का उत्पादन 3 अरब 80 करोड़ गज से बढ़कर 4 अरब 70 करोड़ गज हो गया ('ईस्टर्न इकोनोमिस्ट,' 4 जनवरी 1946)। युद्ध से मिले प्रोत्साहन के फलस्वरूप रसायनों आदि के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। इस्पात का वार्षिक उत्पादन 1939 में लगभग 750,000 टन था जो 1943-44 में बढ़कर लगभग 1,125,000 टन हो गया। विशेष किस्म के एलाय और एसिड स्टील जैसे नए तरह के इस्पात का पहली बार उत्पादन हुआ। विमानों, पानी के जहाजों आदि की मरम्मत भी कुछ हद तक की गई।

लेकिन, जैसाकि भारतीय व्यापार एवं उद्योग महासंघ (इंडियन चैंबर्स आफ कामर्स ऐंड इंडस्ट्री) के अध्यक्ष सर बद्रीदास गोयनका ने कहा है, युद्ध के दिनों में भारत में उत्पादन में जो भी वृद्धि हुई वह 'मौजूदा कारखानों और मशीनों को बेतहाशा चलाकर तथा मजदूरों से कई कई शिफ्टों में काम कराकर हुई है। युद्ध में लगे अन्य देशों में अतिरिक्त उत्पादन क्षमता के साधन स्थापित किए गए पर भारत में, बहुत थोड़े मामलों को छोड़कर, सामान्यतः ऐसा नहीं हुआ।' ('ईस्टर्न इकोनामिस्ट,' 5 मार्च 1946)।

युद्ध से पहले भारतीय उद्योग अप्रयुक्त क्षमता के आधिक्य से त्रस्त था। उदाहरण के लिए पटसन उद्योग में तीन चौथाई से लेकर दो तिहाई अतिरिक्त क्षमता थी। बंबई मिल मालिक संघ के एक अनुमान के अनुसार उत्पादन साधनों से लैस देश की 389 कपड़ा मिलों में से 22 मिलें ऐसी थीं जिनमें वर्ष 1939 में थोड़ा बहुत उत्पादन होता था या जो बिलकुल बंद पड़ी थीं (पी० सी० जैन : 'इंडिया बिल्ड्स हर वार इकोनामी,' 1943 पृष्ठ 4)। युद्ध के दौरान पहले तो इस अतिरिक्त क्षमता का इस्तेमाल किया गया और बाद में वर्तमान साधनों पर ज्यादा से ज्यादा बोझ डाला गया। दरअस्ल नए

उद्योगों को शुरू करने के लिए ही नहीं बल्कि मौजूदा उद्योगों को फिर से साधन संपन्न बनाने के लिए भी आवश्यक पूंजीगत माल (कैपीटल गुड) के आयात की अनुमति नहीं दी गई। इसके परिणामस्वरूप जो बोझ पड़ा वह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है। उदाहरण के लिए रेल यातायात को लें। युद्ध पूर्व के वर्षों की तुलना में एक यात्री गाड़ी ने 32 प्रतिशत ज्यादा और एक मालगाड़ी ने 8.5 प्रतिशत ज्यादा भार वहन किया; युद्ध पूर्व के दिनों में एक इंजन अपने शेड में जाने से पहले जितनी दूरी तय करता था उससे दुगुनी से भी ज्यादा दूरी उसे तय करनी पड़ी। ऐसे 29 प्रतिशत इंजनों और भारी संख्या में रेल-डिब्बों को बिना बदले इस्तेमाल में लाया गया जिनका कार्यकाल पूरा हो चुका था ('ईस्टर्न इकोनामिस्ट,' 15 फरवरी 1946)। सूती कपड़ा उद्योग का ही उदाहरण लें तो हम पाएंगे कि आज बुनाई करने वाली 50 प्रतिशत मशीनें ऐसी हैं जिन्हें बदलने की जरूरत है। ब्लो रूम मशीनों का उदाहरण लें तो पता चलेगा कि उद्योग में आज इस्तेमाल होने वाली इन कुल मशीनों में से 11.5 प्रतिशत मशीनें 1890 से पहले, 11.1 प्रतिशत मशीनें 1906 से 1910 के बीच, 18.6 प्रतिशत मशीनें 1921 से 1925 के बीच और 11.4 प्रतिशत मशीनें 1936 से 1940 के बीच लगाई गई थीं। सूत खींचने और चलाने वाले फ्रेमों में से 35.5 प्रतिशत फ्रेम 1910 से पहले लगाए गए थे (वही, 7 जुलाई 1944) और इन्हीं पुराने उपकरणों को युद्ध की बढ़ती मांग का सामना करना पड़ता था। जहाजों के लिए बंदरगाह की उचित व्यवस्था न होने की झूठी दलील देकर सरकार ने इस बात की सख्त ताकीद रखी कि युद्ध के दौरान भारत में पूंजीगत सामानों को नहीं ही भेजा जाए।

इस बात की भी कोई गंभीर कोशिश नहीं की गई कि भारत के विशाल साधनों का इस्तेमाल किया जाए वरना युद्ध की स्थिति से निबटने के प्रयास खतरे में पड़ जाएंगे।[7] मोटरकार और जहाज निर्माण उद्योग की स्थापना नहीं करने दी गई—इसके लिए मशीनों के आयात की अनुमति नहीं दी गई और सेना के लिए इन्हें खरीदे जाने की भी गारंटी नहीं दी गई। इतना ही नहीं, अमरीकी तकनीकी मिशन की सिफारिशों को भी (जिसने जल विद्युत परियोजना, विमान निर्माण, जहाज निर्माण, बड़ी लाइन के इंजन बनाने आदि जैसे किसी भी बुनियादी उद्योग की स्थापना के खिलाफ साफ साफ शब्दों में और खुलकर अपना मत व्यक्त किया था) भारत सरकार ने नामंजूर कर दिया।

अमरीकी तकनीकी मिशन ने देखा कि 'बबई में जहाजों की मरम्मत करने वाले एक कारखाने में सैनिकों के जूतों में लगने के लिए इस्पात की कीलोंवाले नाल बनाए जा रहे हैं और रेल रोड के लिए स्विच गीयर बन रहे हैं जबकि बंदरगाह में 100 से भी अधिक जहाज छोटी-बड़ी मरम्मत के इंतजार में खड़े हैं (रिपोर्ट, पृष्ठ 3)। मिशन ने, लगभग अन्य सभी उद्योगों में सुधार की सिफ़ारिश के अलावा, जहाजों और विमानों की भारत में उचित मरम्मत और 'छोटी लाइन पर चलने वाले इंजनों, माल गाड़ियों तथा अन्य किस्म की गाड़ियों के निर्माण' की सिफ़ारिश की थी। मिशन ने वायदा किया था कि वह सब

तरह की आवश्यक मशीनें और तकनीकी सहायता अमरीका से दिलाएगा। उसके अनुसार :

> भारत में औद्योगिक उत्पादन के विस्तार को कम से कम आंशिक तौर पर अमरीका से पट्टे पर उधार मिले सामानों पर और इस देश के तकनीशियनों की सलाह पर आधारित करना होगा। (रिपोर्ट आफ दि अमेरिकन टेक्निकल मिशन, पृष्ठ 6)

फिर भी सरकार ने अमरीकी तकनीशियनों और तंत्र की मदद के बावजूद उन बुनियादी सिफारिशों को मानने से इंकार किया। इतना ही नहीं उसने रिपोर्ट को एकदम गुप्त रखा और प्रकाशित नहीं होने दिया।

कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे अधिराज्यों को बुनियादी उद्योग धंधे स्थापित करने और अपने आर्थिक विकास का स्तर ऊंचा उठाने के लिए मदद दी गई; लेकिन भारतीय अर्थ-व्यवस्था का वही रूप बना रहने दिया गया जो पहले से चला आ रहा था; भारी उद्योग अविकसित ही रहे।

भारत के विकास को रोकने की इस नीति के लिए मुख्यतया पूर्वी क्षेत्र की सप्लाई कौंसिल (ईस्टर्न ग्रुप सप्लाई कौंसिल) की सेवाओं का इस्तेमाल किया गया। इसका कार्यालय भारत में था और इसकी स्थापना का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न देशों से लड़ाई के काम आने वाले सामानों को एक जगह इकट्ठा करके फिर वितरित करना था। इस संस्था के जरिए ही सरकार ने ऐसी व्यवस्था की ताकि भारत का औद्योगिक विकास न हो सके। सरकार की दलील यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के मातहत देशों को एक ही चीज के उत्पादन में नहीं बल्कि अलग अलग चीजों के उत्पादन में लगना चाहिए। कौंसिल में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में एक सरकारी अधिकारी था और कौंसिल ने विभिन्न देशों को युद्ध सामग्री का आर्डर प्रेषित करने में बहुत सोच समझकर भेदभाव बरता। कारखाना मालिकों के संगठन 'आल इंडिया मैन्युफैक्चरर्स आर्गेनाइजेशन' के अध्यक्ष सर एम० विश्वैश्वरैया के अनुसार :

> ऐसा लगता है कि वर्तमान युद्ध के लिए आवश्यक सामानों का आर्डर, ईस्टर्न ग्रुप सप्लाई कांफ्रेंस और रोजर मिशन की सलाह पर युद्ध में लगे उन विभिन्न देशों के बीच बांट दिया गया है जो ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हैं। जो इंतजाम किए गए हैं उनके अनुसार ऐसा लगता है कि भारत के कारखानों में और उद्योगपतियों के जिम्मे वही गिना चुना सामान बनाने का काम सौंपा गया है जिसमें न तो किसी उत्तम तकनीकी कुशलता की जरूरत हो और न तकनीकी व्यवहार की। जिन सामानों के निर्माण में भारी उद्योग या श्रेष्ठ तकनीकी

> कुशलता की जरूरत है उन्हें अमरीका या कनाडा और आस्ट्रेलिया से बनाने को कहा गया है। (एम० विश्वेश्वरैया : 'प्रास्पैरिटी थ्रू इंडस्ट्री,' 1943, पृष्ठ 15)

ईस्टर्न ग्रुप सप्लाई कौंसिल के प्रतिगामी लक्ष्यों और कार्यप्रणाली को देखकर ब्रिटिश निहित स्वार्थ को दिसंबर 1940 में ही काफी तसल्ली हुई थी। अक्तूबर 1940 में ईस्टर्न ग्रुप सप्लाई कौंसिल का अधिवेशन हुआ जिसमें ब्रिटिश व्यापार बोर्ड के प्रतिनिधि श्री गाई लाकाक ने भी हिस्सा लिया। इसपर लंदन के 'रेलवे गजट' ने निम्न टिप्पणी की :

> मिशन में व्यापार बोर्ड के प्रतिनिधि के रूप में उन्हें (गाई लाकाक) यह काम सौंपा गया था कि युद्ध की महत्वपूर्ण जरूरतों को वरीयता देने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, वह इस बात का जायजा लें कि इस समय युद्ध के लिए किए जा रहे उत्पादनों के विस्तार का भविष्य में ब्रिटेन के उद्योग पर क्या प्रभाव पड़ेगा—साथ ही श्री लाकाक का विचार है कि मिशन की यात्रा के फलस्वरूप ऐसी चीजों के उत्पादन को विस्तार देने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया है जो युद्ध के लिए आवश्यक नहीं है। उन्होंने यह भी कहा है कि जैसी कि पहले आशंका थी, भारत में ब्रिटिश उद्योग के युद्धोत्तर हित ज्यादा प्रभावित नहीं होंगे। (सर एम० विश्वेश्वरैया : 'रीकंस्ट्रक्शन इन पोस्ट वार इंडिया,' में उद्धृत, 1944, पृष्ठ 15)

अमरीकी तकनीकी मिशन ने यह भी सोचा कि अब सैनिक स्थिति में चूंकि परिवर्तन हो गया है 'इसलिए विदेशी कमानों की ओर से भारत सरकार द्वारा की गई खरीद के लिए कौंसिल के जरिए निकासी से अब कोई खास मकसद नहीं हल होगा।' तदनुसार, मिशन ने सिफारिश की कि 'सामानों के लिए विदेशों से भारत पहुंचे आदेशों पर सीधे भारत के सप्लाई डिपार्टमेंट को काम करना चाहिए। इसके लिए ईस्टर्न ग्रुप सप्लाई कौंसिल के जरिए पहले से कोई अनुमति लेना जरूरी 'नहीं है' और कहा कि इस कौंसिल को अब महज 'ऐसी एजेंसी के रूप में काम करना चाहिए जो उत्पादन और सप्लाई के बारे में सूचनाएं इकट्ठी करे और उनमें तालमेल बैठाए।' (रिपोर्ट, पृष्ठ 7)

लेकिन उपरोक्त कारणों से, भारत सरकार का जवाब, नकारात्मक था, यह काफी स्वाभाविक भी था। मिशन की रिपोर्ट पर भेजे गए अपने ज्ञापन में भारत सरकार ने कहा कि ईस्टर्न ग्रुप सप्लाई कौंसिल के संविधान के अंतर्गत 'कौंसिल से मांगों को निर्धारित करने की अपेक्षा की जाती है और कौंसिल अपने को इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकता।'

भारत सरकार ने न केवल भारत में बुनियादी उद्योगों के विकास को रोका बल्कि उसने

विदेशी फर्मों को सीधी मदद भी पहुंचाई। उदाहरण के लिए यूनाइटेड किंगडम कामर्शियल कारपोरेशन ने युद्ध के दौरान 50 लाख पौंड की प्रदत्त पूंजी से अपना काम शुरू किया और उसे विभिन्न देशों के साथ व्यापार का पूर्ण एकाधिकार दे दिया गया। इसके अलावा भारत में मोटर गाड़ियों के संयोजन तक के काम के लिए दो अमरीकी कंपनियों, जनरल मोटर्स और फोर्ड, के साथ लगभग पूरा पूरा अनुवंध कर लिया गया।

इन संपूर्ण वर्षों के दौरान औद्योगिक विकास होने के बजाय भारत का जितना भयंकर शोषण हुआ वैसा ब्रिटिश शासन के संपूर्ण इतिहास में कभी नहीं हुआ था। इस बार भारतीय जनता के ऊपर पिछले युद्धों से भी ज्यादा बोझ डाल दिया गया। नवंबर 1939 में ब्रिटेन की सरकार ने अपने एजेंट, भारत सरकार के साथ एक आर्थिक समझौता किया जिसमें रक्षा व्यय को आपस में बांटने का विधान था। इस समझौते की शर्तों के अनुसार भारत में प्रतिरक्षा व्यवस्था पर कुल जितनी राशि खर्च हुई, उसमें से भारत पर कितना बोझ पड़ा इसे स्पष्ट देखा जा सकता है :

1. शांति काल की सामान्य अवस्था में भारत का रक्षा व्यय 36 करोड़ 77 लाख रुपये प्रतिवर्ष निश्चित किया गया, साथ ही,

2. कीमतों में वृद्धि के कारण इस मूल राशि में भी वृद्धि की गई, साथ ही

3. इस तरह के युद्ध संबंधी उपायों का खर्च, जो भारत ने अपने हित की रक्षा के लिए उठाए हों, उसे वहन करना पड़ा, और

4. ब्रिटेन की रक्षा के लिए विदेशों में लगे सैनिकों के खर्च के लिए भारत को अपने हिस्से की राशि के रूप में 10 लाख रुपये की एकमुश्त रकम अदा करनी पड़ी।

भारत को सभी स्थल सैनिकों को रखने, प्रशिक्षित करने, हथियारों से लैस करने और उनकी देखरेख करने का खर्च तब तक उठाना पड़ा जब तक वे भारत में जमे रहे और भारतीय इलाके की रक्षा के लिए उपलब्ध रहे। जब वे विदेश रवाना हो जाते थे तो ये खर्चे ब्रिटेन की शाही सरकार से वसूले जा सकते थे और ब्रिटेन की शाही सरकार आगे के उनके सारे खर्चों की जिम्मेदारी ले लेती थी।

इसके अलावा, भारत में तैनात विदेशी सैनिकों को सप्लाई किए गए सभी सामान और सेवाओं का खर्चा देने पर भी ब्रिटेन सहमत हो गया। इस कारण युद्ध में जापान के शामिल होने के बाद खर्चों में तेजी से वृद्धि हुई।

यह समझौता ऊपर से देखने पर बहुत निष्पक्ष और न्यायोचित लगता था और इस बात

का आभास देता था कि इसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षा व्यय को भारत के सिर मढ़ना नहीं है लेकिन वास्तविकता यह थी कि यह कम खुले रूप में भारत पर सारा बोझ डालने का साधन मात्र था।

एक ही परिवार के तीन सदस्य अर्थात ब्रिटेन की शाही सरकार, भारत सरकार और रिजर्व बैंक आफ इंडिया, इस बात पर सहमत थे कि रिजर्व बैंक को ब्रिटेन की शाही सरकार की ओर से किए गए इस तरह के तथा अन्य खर्चों के बदले में भारत में अधिक से अधिक कागजी मुद्रा जारी करनी जाहिए। वे इसपर भी एकमत थे कि शाही सरकार उन जारी किए गए नोटों के बराबर की स्टर्लिंग मुद्रा को बैंक आफ इंग्लैंड के खाते में जमा करती जाए। इस प्रकार पूरा समझौता भुगतान के महज वायदों तक सीमित रह गया और भारत को जबरदस्त खर्च का बोझ सहना पड़ा। भारत की अर्थव्यवस्था पर इससे कितना बोझ पड़ा इसका पता हम भारत के रक्षा व्यय और ब्रिटिश सरकार के रक्षा व्यय को जोड़कर लगा सकते हैं। समझौते के अंतर्गत जिन मदों के खर्च को भारत का रक्षा व्यय माना गया था वह बेहद बढ़ गया और कुछ वर्षों में तो वह युद्ध की कुल राष्ट्रीय आय का एक तिहाई तक हो गया।

भारत का रक्षा खर्च
(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	पूंजी लेखा पर	राजस्व लेखा पर	कुल योग
1939-40	—	49.54	49.54
1940-41	—	73.61	73.61
1941-42	—	103.93	103.93
1942-43	52.51	214.62	267.13
1943-44	37.46	358.40	395.86
1944-45	62.83	395.49	458.32
1945-46*	14.93	376.42	391.35
कुल योग	167.73	1572.01	1739.74

(रिजर्व बैंक आफ इंडिया : 'रिपोर्ट आन करेंसी ऐंड फाइनांस, 1945-46') *संशोधित अनुमान

ब्रिटेन की शाही सरकार से वसूली योग्य माना गया युद्ध व्यय भी काफी था।

जून 1946 तक बैंक आफ इंग्लैंड के पास भारत को देय स्टर्लिंग बकाया राशि 1 अरब

59 करोड़ 69 लाख पौंड या 21 अरब 29 करोड़ 25 लाख रुपये थी। यह बकाया राशि में अब भी बढ़ती जा रही है।

वसूली योग्य युद्ध व्यय[3]

वर्ष	करोड़ रुपयों में
1939-40	4.00
1940-41	53.00
1941-42	194.00
1942-43	325.40
1943-44	377.87
1944-45	410.84
1945-46*	347.07
कुल योग	1712.18

(वही, पृ० 48) *संशोधित अनुमान

संपूर्ण युद्ध काल में इस कुल राशि को भारतीय जनता की पहुंच से दूर रखा गया। स्वर्ण या सामान किसी भी रूप में भारत इस राशि को अपने काम नहीं ला सकता था। बकाया राशि में निरंतर वृद्धि होती गई पर भारत को एक भी पैसा नहीं मिला जिससे वह आवश्यक मशीनें आदि विदेशों से खरीद सकता।

भारत के मालिक की अपनी हैसियत का ब्रिटेन ने भरपूर फायदा उठाया। दूसरे देशों में इस स्टर्लिंग बकाया के बदले में ब्रिटेन द्वारा लगाई गई पूंजी के साथ जैसा व्यवहार रहा उसके विपरीत भारत को इस बात की भी इजाजत नहीं दी गई कि वह ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी पूंजी को समाप्त कर दे। केवल भारत के सार्वजनिक ऋण (स्टर्लिंग) को, जो 32 करोड़ 34 लाख पौंड था, स्वदेश लौटाने की अनुमति दी गई; शेष 1 अरब 27 करोड़ 35 लाख पौंड राशि अथवा वस्तुतः सदियों पुराने इस ऋण की चार गुनी राशि आज भी बैंक आफ इंग्लैंड में पड़ी है। युद्ध के बाद इस आशय के प्रस्ताव आए कि कोई बहाना बनाकर उस ऋण को नकार दिया जाए या इसे 'कम कर दिया जाए'। 1946 में संपन्न आंग्ल अमरीकी वित्तीय समझौते में जो शर्तें निर्धारित की गई थीं उनमें से एक शर्त इस बारे में भी थी जिस पर दोनों पक्षों के बीच सहमति हुई।

इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादी शासकों ने भारत के डालर कोष को भी हजम कर लिया। युद्ध के दौरान 'डालर पूल अरेंजमेंट' नामक व्यवस्था की गई थी जिसके अधीन 'स्टर्लिंग क्षेत्र' के सभी देशों को इसके लिए मजबूर किया गया कि वे अपनी डालर निधि को जो उन्हें

अपना सामान अमरीका को बेचकर प्राप्त हो सकती थी, एक जगह जमा करें। इस डालर कोष से भारत तथा अन्य देश अमरीका से सीधे कुछ नहीं खरीद सकते थे। इन डालरों का इस्तेमाल केवल ब्रिटिश सरकार लड़ाई का सामान खरीदने के लिए करती थी। यहां तक कि डालर कोष में जमा डालरों का सही आंकड़ा भी नहीं प्रकट किया गया और इस राशि के बारे में विभिन्न लोगों द्वारा जो अटकलें लगाई गईं उनके बीच काफी अंतर है।

अमरीका के वाणिज्य विभाग ने यह रहस्योद्घाटन किया है कि 1942 से 45 के चार वर्षों के दौरान अमरीका के साथ भारत का व्यापार संतुलन उल्लेखनीय रूप से अनुकूल रहा है और यह 42 करोड़ 10 लाख डालर के बराबर है। श्री मनु सूबेदार के अनुसार 1 अरब 14 करोड़ रुपये के मूल्य का डालर अब भी भारत के खाते में पड़ा है। 8 मार्च 1946 के 'ईस्टर्न इकोनामिस्ट' ने अनुमान लगाया कि अक्तूबर 1945 तक भारत ने ब्रिटेन के 'डालर पूल' को कम से कम 90 करोड़ डालर तो दिया ही होगा। लेकिन भारत सरकार के वित्तमंत्री ने भारत द्वारा महज मार्च 1945 तक ब्रिटिश सरकार के डालर पूल में दी गई कुल राशि को 49 करोड़ 20 लाख रुपये बताया।

इस प्रकार मार्च 1945 तक यह राशि 1 अरब से 2 अरब रुपयों के बीच कुछ भी हो सकती है और इस राशि में तब से ही वृद्धि हो रही है। लेकिन इस डालर कोष को बड़ी सफलता-पूर्वक उन पूंजीगत सामानों के आयात में लगाने से बचाया गया जिनका इस्तेमाल भारत के उद्योगीकरण के लिए किया जाता। आज भी इस कोष को भारत के इस्तेमाल के लिए नहीं दिया जा रहा है। 1946 में अपने बजट भाषण में वित्तमंत्री ने उस समय तक भी भारतीय जनता को यह बताना चाहा कि डालर पूल को बनाए रखने में उनका (भारतीयों का) हित है।

अधिक से अधिक करेंसी नोट जारी करके, युद्ध का खर्च चलाने की इस साम्राज्यवादी प्रणाली का भारतीय अर्थव्यवस्था पर गंभीर प्रभाव पड़ा। भारत जब युद्ध की चपेट से बाहर आया तब तक वह कंगाल हो चुका था और आर्थिक दृष्टि से बेहद कमजोर। युद्ध का असली भार तो उस जनता पर पड़ा जो पहले से ही भुखमरी की स्थिति में थी।

सबसे पहले हम यह देखें कि मुद्रास्फीति का किस सीमा तक सहारा लिया गया।

रिजर्व बैंक आफ इंडिया की रिपोर्टों से ली गई इस तालिका से पता चलता है कि युद्ध-कालीन वर्षों के दौरान नोट जारी करने में वस्तुत: 600 प्रतिशत वृद्धि हुई (और यह प्रक्रिया आज भी जारी है); जबकि औद्योगिक कार्यकलाप का सूचक अंक, जो 1939-40 में 114.0 था, युद्ध के दौरान (जनवरी 1945 में) 132.5 के अधिकतम अंक तक पहुंच गया। इस मुद्रास्फीति के फलस्वरूप उद्योगपतियों और युद्ध सामग्रियों के ठेकेदारों ने बहुत मुनाफा कमाया।

नोटों का परिचलन

	(करोड़ रुपयों में)
अगस्त 1939	178.89
1939-40	209.22
1940-41	241.41
1941-42	307.68
1942-43	513.44
1943-44	777.17
1944-45	968.69
1945-46	1162.64
28 जून 1946	1237.84

कपड़ा उद्योग में हुए मुनाफों पर विचार करें। हालांकि समूचे भारत में कपड़ा उद्योग में जो मुनाफा हुआ, उसके आंकड़े हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं फिर भी सामान्य तौर पर बंबई की मिलों के आंकड़ों से इस मुनाफे का पर्याप्त आभास मिल जाता है। बंबई की कपड़ा मिलों ने 1941 में 6 करोड़ 94 लाख रुपये का मुनाफा कमाया जो 1940 के मुनाफे की तुलना में 2,250 प्रतिशत अधिक था (वाडिया और मर्चेंट : अवर इकोनामिक प्राब्लम', 1945, पृष्ठ 270)। बंबई की 15 प्रमुख कपड़ा मिलों ने 1940 में कुल 90 लाख, 1941 में 2 करोड़ 95 लाख, 1942 में 8 करोड़ 5 लाख, 1943 में 17 करोड़ 52 लाख और 1944 में 13 करोड़ 6 लाख रुपये का मुनाफा कमाया (एच० टी० पारीख : कामर्स, 7 जुलाई 1945)

औसत विशुद्ध मुनाफों का सूचक अंक
(आधार : 1939 को 100 मानकर) (प्रति उद्योग)

	1930	1940	1941	1942	1943
पटसन	100	590	617	896	926
कपास	100	73	205	313	645
चाय	100	118	214	252	392
चीनी	100	143	122	160	218
कोयला	100	88	107	95	124
इंजीनियरिंग	100	115	180	36	225
विविध	100	104	326	394	401
हर तरह के	100	127	282	259	327

(एम० एच० गोपाल : इंडस्ट्रीयल प्राफिट्स सिन्स 1939, 'ईस्टर्न इकोनामिस्ट', 12 मई 1944, पृष्ठ 730)

प्रेमसागर गुप्त द्वारा की गई गणना के अनुसार बंबई शहर की 69 कपड़ा मिलों ने, जिनमें कुल प्रदत्त पूंजी 13 करोड़ 93 लाख रुपये की थी, युद्ध के पांच वर्षों के दौरान इस पूंजी का साढ़े छः गुना विशुद्ध मुनाफा कमाया। इन वर्षों का वार्षिक औसत 1939 के मुनाफों की तुलना में 26 गुना से भी अधिक है।[9] विभिन्न उद्योगों में हुए मुनाफों के पृष्ठ 201 पर दिये गये सूचकांक देखने से भी यही तस्वीर उभरती है।

यहां तक कि मुनाफों का सरकारी सूचक अंक (भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार द्वारा प्रस्तुत), जो स्पष्टतः कम करके बताया गया है और जिसमें अधिकतम मुद्रास्फीति वाले वर्ष अर्थात 1942 तक की अवधि और इसलिए 1943 तक के मुनाफे को रखा गया है, वास्तविक प्रवृत्ति को नहीं छिपा सका।

मुनाफ़ो का सूचक अंक

(आधार : 1928 को 100 मानकर)

	1939	1942
कपास	154.6	760.7
पटसन	13.6	49.2
चाय	96.2	219.5
कोयला	139.1	110.3
चीनी	179.4	219.8
लोहा और इस्पात	289.3	403.3
कागज	151.8	488.4
सभी उद्योगों का योग	72.4	169.4

इस समूची प्रक्रिया ने किसान मजदूर जनता पर अकथनीय कष्ट और जुल्म ढाए। पूरे 6 वर्षों तक भारत की जनता को वेतन में तरह तरह की कटौतियों, भोजन और वस्त्र के अभाव तथा देशव्यापी अकालों और गरीबी का सामना करना पड़ा।

भारत सरकार के आंकड़ों के अनुसार खाद्यान्नों की थोक कीमतों का सूचक अंक अगस्त 1939 में 100 था पर अगस्त 1941 में 122.9, अगस्त 1942 में 163.2 और जुलाई 1943 में 300.2 हो गया। जनवरी 1944 में इसमें गिरावट आई और यह 233.0 हो गया लेकिन इस गिरावट का मुख्य कारण यह था कि सरकार ने जो कंट्रोल कीमतें निर्धारित की थीं वे बाजार की दर से कम थीं। इसके बाद इस सूचक अंक में थोड़ी सी तब्दीली हुई और दिसंबर 1945 में यह 238.8 हो गया। दरअस्ल, कीमतों में पहले से कहीं अधिक वृद्धि हुई क्योंकि कंट्रोल दर पर चीजें मुश्किल से ही उपलब्ध होती थीं। देश भर में काला बाजारी एक सामान्य बात हो गई।

फुटकर कीमतों में और वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए, बंबई में दूध का दाम 2 आना प्रति पौंड से बढ़कर 1 रुपये से 2 रुपये प्रति पौंड तक हो गया। टमाटर की कीमत 2 आना प्रति पौंड से बढ़कर 10 आना प्रति पौंड हो गई; आलू की कीमत 1 आना प्रति पौंड से बढ़कर 4 आना प्रति पौंड हो गई। उत्तर प्रदेश में, जहां गेहूं काफी पैदा होता है, युद्ध से पहले गेहूं का मूल्य लगभग 4 रुपया प्रति मन था जो जुलाई 1946 में बढ़कर 18 रुपया प्रति मन हो गया। डबलरोटी की कीमत में भी वृद्धि हुई और युद्ध से पहले 8 औंस की रोटी की कीमत जहां 1 आना थी, 6 औंस की रोटी की कीमत ढाई आना हो गई। ड्रिल की कीमत युद्ध से पहले 7 आना प्रति पौंड थी पर जून 1943 में यह 42 आना प्रति पौंड हो गई। खाद्यान्नों के मूल्य का सूचक अंक सितंबर 1939 में 93 था जो सितंबर 1943 में बढ़कर 530 हो गया।[10]

मजदूर वर्ग के जीवन निर्वाह स्तर का सूचक अंक (अधिकांशतः कंट्रोल दरों पर की गई गणना) घटता बढ़ता रहा। मिसाल के तौर पर बंबई के मजदूरों के लिए यह सूचक अंक अगस्त 1939 में 100 से बढ़कर अगस्त 1944 में 238 हो गया और फिर मार्च 1945 में घटकर 214 तथा फिर जुलाई 1946 में बढ़कर 255 हो गया। अहमदाबाद के मजदूरों के लिए यह सूचक अंक अक्तूबर 1939 में तो 329 तक पहुंच गया था, जून 1946 में यह 297 ही रह गया।

दूसरी तरफ, मजदूरों की आय में बड़ी मामूली सी वृद्धि हुई। सभी उद्योगों में मालिकों ने जीवन निर्वाह व्यय की वृद्धि के अनुपात में महंगाई भत्ता देने से इंकार किया। भारत सरकार के मासिक प्रकाशन 'इंडियन लेबर गजट' ने जो आंकड़े दिए हैं उन पर विश्वास तो पूरा पूरा नहीं किया जा सकता लेकिन उन आंकड़ों के अनुसार कपड़ा उद्योग में 1944 में मजदूरों की कुल वार्षिक आय 100 प्रतिशत से थोड़ी अधिक थी, इंजीनियरिंग उद्योग में 100 प्रतिशत से कम, सरकारी आर्डनेन्स कारखानों में केवल 50 प्रतिशत और खान उद्योग में बहुत कम, 24 प्रतिशत तक रही।

सबसे ज्यादा चिंता की बात तो यह थी कि मजदूरों का वेतन पहले से ही इतना था जिसमें उन्हें भुखमरी का सामना करना पड़ता था, अब उस वास्तविक वेतन में भी कटौती हुई। जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, ग्रामीण जनता की भी स्थिति बेहतर नहीं थी।

इस प्रकार अन्य मित्र राष्ट्रों और अधिराज्यों के विपरीत युद्ध के बाद भारत पहले से भी ज्यादा गरीब हुआ है और इसका मुख्य कारण भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रति साम्राज्यवाद का दृष्टिकोण था जिसने भारत को हमेशा एक पिछड़ा उपनिवेश बनाये रखना चाहा। युद्ध के कारण पड़ने वाले बोझ के कारण न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था के निर्माण का अवसर हाथ से निकल गया बल्कि भारत को आज अत्यंत गंभीर औद्योगिक स्थिति का सामना करना पड़ रहा है।

8. महाजनी पूंजी और नई सांविधानिक योजना

ब्रिटिश शासकों द्वारा जितने भी सांविधानिक सुधार किए गए उनका उद्देश्य यही था कि भारत में ब्रिटेन के निहित स्वार्थों को किसी तरह बने रहने दिया जाए, उनकी रक्षा की जाए तथा उनको और मजबूत बनाया जाए। 1946 में ब्रिटिश कैबिनेट मिशन के साथ जो सबसे ताजा समझौता हुआ है, उसकी यदि जांच पड़ताल हो तो पता चलेगा कि भारत को औपचारिक आजादी देने का दिखावा करके ब्रिटिश साम्राज्यवाद अब भी अपने आर्थिक प्रभुत्व को कायम रखने का प्रयास कर रहा है। ब्रिटिश पूंजी के हितों की ज्यादा से ज्यादा पूर्ति के लिए भारत के औद्योगिक विकास को रोकने की नीति, युद्ध के बाद के वर्षों में भी जारी है लेकिन अब उसने नया रूप ग्रहण कर लिया है। इसकी अभिव्यक्ति उन व्यापार समझौतों में होती है जो ब्रिटिश भारत में और राजा महाराजाओं की भारतीय रियासतों में संयुक्त रूप से व्यापार स्थापित करने के लिए भारतीय और ब्रिटिश उद्योगपतियों के बीच हुए हैं।

1935 के इंडिया एक्ट की धारा 3 से लेकर CXXI तक का उद्देश्य भारत में ब्रिटेन के निहित स्वार्थों को निश्चित रूप से कुछ आर्थिक और वित्तीय 'संरक्षण' प्रदान करना है। आर्थिक या वाणिज्यिक 'भेदभाव' को रोकने के नाम पर इन धाराओं के जरिए ब्रिटिश गवर्नरों को इस बात का असीमित अधिकार दिया गया कि यदि कोई भारतीय मंत्रालय ब्रिटिश हितों की कीमत पर भारतीय वाणिज्य या उद्योग का पक्ष ले रहा हो तो उसे रोकने के लिए कोई भी कदम उठाया जाए।

लेकिन ब्रिटिश पूंजी के प्रति यह खुली तरफदारी अब ज्यादा दिन तक संभव नहीं है। इन 'सुरक्षा उपायों' को समाप्त करने की मांग अब काफी जबरदस्त हो गई है। 4 अप्रैल 1945 को केंद्रीय विधानसभा ने, श्री मनु सूबेदार के प्रस्ताव को बिना मतभेद के पारित कर दिया जिसमें मांग की गई थी कि 'इंडिया ऐक्ट' से इन धाराओं को निकाल दिया जाए। 2 मार्च 1945 को अपना प्रस्ताव पेश करते हुए श्री सूबेदार ने कहा था :

> यूरोपीय फर्मों ने अपनी क्षेत्रीय सीमा से बाहर के जिन अधिकारों को भारत में चाहा है, उसकी मिसाल ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के किसी भी देश की संविधि में नहीं मिलती।

इसके अलावा, युद्ध ने अब एकदम नई परिस्थिति पैदा कर दी है। युद्ध का खर्च चलाने की प्रक्रिया ने, जिसका बुनियादी उद्देश्य युद्ध के समूचे भार को भारत पर डाल देना था, एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि अब साम्राज्यवाद भारत के औद्योगिक विकास को पहले की तरह, अर्थात उद्योगीकरण की मांग को सीधे सीधे और एकदम नामंजूर करके, नहीं रोक सकता।

भारतीय उद्योगपति आज पहले के किसी समय की तुलना में ज्यादा ही शक्तिशाली हो चुके हैं। युद्ध के फलस्वरूप उन्हें इतना जबरदस्त मुनाफा हुआ है कि उनके पास अब उद्योगों में लगाने के लिए बहुत ज्यादा पूंजी है। परिणामस्वरूप उद्योगीकरण की मांग अब काफी बढ़ी है।

इस पूंजी के अपने पास होने के कारण ही भारतीय उद्योगपतियों को यह विश्वास है कि उनका आधार काफी सुरक्षित है। उन्होंने भारत के लिए स्वतंत्र आर्थिक योजना की भी बात सोचनी शुरू कर दी है। युद्ध के बाद के वर्षों के लिए पेश की गई अनेक गैरसरकारी योजनाओं के अलावा, बड़े बड़े भारतीय उद्योगपतियों ने स्वयं एक योजना तैयार की है जिसे अमल में लाकर वे 15 वर्षों में प्रतिव्यक्ति आय दुगुनी करना चाहते हैं। इस योजना का नाम 'भारत के लिए आर्थिक विकास की एक योजना' था। इसका आमतौर से प्रचलित नाम 'बंबई योजना' है। यह योजना कितनी भी प्रतिक्रियावादी क्यों न हो लेकिन इसने देश भर का ध्यान आकर्षित किया क्योंकि इसमें उद्योगीकरण की उत्कट इच्छा की झलक मिलती थी। इसके अलावा, अब चूंकि भारतीय उद्योगपतियों के पास अपने मुताबिक खर्च करने के लिए आवश्यक पूंजी है इसलिए वे सहायता के लिए आज अमरीका तथा अन्य देशों की ओर देख रहे हैं और यह काम वे ब्रिटेन से स्वतंत्र होकर अपने आप कर रहे हैं।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद इन परिवर्तनों को अनदेखा करने की स्थिति में नहीं है। हाउस आफ कामन्स में एक बहस के दौरान रायल सोसायटी के सेक्रेटरी और संसद सदस्य (कंजरवेटिव) श्री ए० वी० हिल ने कहा :

> यदि हम साहस, उदारता और दूरदर्शिता का परिचय दें तो भारतीय उद्योग के साथ सहयोग करने का हमारे पास मौका है लेकिन यदि हमने ऐसा नहीं किया तो उसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय उद्योग का विकास नहीं होगा बल्कि इसका अर्थ यह कि भारत के लोग सहायता के लिए हमारे पास आने के बजाय अमरीका के पास चले जायेंगे। (इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1944, खंड 2, पृष्ठ 302)

इसलिए, इन नई बातों को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अब भारतीय उद्योग धंधों के विकास के विरोध का स्वरूप बदलना पड़ा। राजनीतिक क्षेत्र की ही तरह आर्थिक क्षेत्र में भी साम्राज्यवाद अब अपने को नए युग के अनुरूप ढालने लगा है। ब्रिटेन अब भारत में अपने निहित स्वार्थों को भारतीय पूंजीपति वर्ग के साथ समझौता करके ही बनाए रख सकता था; भारत के उद्योगीकरण पर आक्रमण की योजना अब बाहर से नहीं बल्कि भीतर घुसकर तैयार की जा सकती थी। भारतीय इजारेदारों की मदद से ही भारत को ब्रिटेन के कारखानों में बने सामानों का निरापद बाजार बनाए रखा जा

सकता था। इस प्रकार भारत को तकनीकी मदद देने के बहाने जिसकी बहुत जरूरत थी, साम्राज्यवाद ने अपने आर्थिक हितों को बनाए रखने की एक नई चाल अपनाई, और यह चाल थी भारतीय उद्योगपतियों के साथ व्यापार में साझेदारी (पार्टनरशिप)। साम्राज्य-वाद ने एक दूसरे पर निर्भरता और हितों की एकता का एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया। लेकिन जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, हाल की इन सभी घटनाओं और घोषणाओं ने हमारे सामने इस सच्चाई को एकदम खोलकर रख दिया कि संयुक्त हिस्सेदारी के जरिये साम्राज्यवाद भारत को छोड़ने के बजाय इसपर अपनी वित्तीय और आर्थिक जकड़ मजबूत करता जा रहा है; इन समझौतों के जरिये भारत में स्वतंत्र आर्थिक विकास की छूट देने की बजाय, भारत के औद्योगिक विकास को अंदर से तहस-नहस करने की योजना बन रही है और कोई रूप ग्रहण कर रही है।

नई साम्राज्यवादी नीति की व्यवस्था करते हुए भारत सरकार के भूतपूर्व वित्त सदस्य सर आर्किबाल्ड रोलैंड्स ने भारत से विदाई के अवसर पर कहा कि दोनों देशों के राज-नीतिक संबंध भविष्य में चाहे कैसे भी क्यों न रहें, यह दोनों के हित में है कि 'उद्योग-धंधों, व्यापार और संस्कृति के क्षेत्र में उनके संबंध पहले की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ बनाए जाएं। कामर्स, बंबई, 8 जून 1946)

लार्ड वेवेल का बयान और भी साफ था। वह ब्रिटेन के पूंजीपतियों को यह आश्वासन देने में लगे थे कि 1935 के इंडिया ऐक्ट में 'व्यापारिक हितों की सुरक्षा' की जो धाराएं हैं, वे हटाई नहीं जाएंगी। इसके साथ ही उन्होंने यह भी विचार व्यक्त किया कि यदि भारत और ब्रिटेन के पूंजीपति साझे में व्यापार करें तो यह भविष्य में अंगरेजों के आर्थिक हितों की पूर्ण सुरक्षा का एक उपाय हो सकता है। कलकत्ता के एसोसिएटेड चैंबर्स आफ कामर्स में बोलते हुए लार्ड वेवेल ने 10 दिसंबर 1945 को कहा :

> मैं नहीं सोचता कि जब तक कांस्टीट्यूशन ऐक्ट और भारत एवं ग्रेट ब्रिटेन के बीच हुई व्यापारिक संधि में एक सामान्य संशोधन नहीं किया जाता, तब तक इंडिया ऐक्ट की व्यापारिक हितों की सुरक्षा संबंधी धाराओं को पूरी तरह समाप्त किए जाने की कोई संभावना है। लेकिन भारत सरकार भारतीयों की इस सहज आकांक्षा से पूरी तरह अवगत है कि वे यथासंभव अपनी खुद की पूंजी से और अपनी देखरेख में बुनियादी उद्योग धंधों का विकास करना और उनपर नियंत्रण रखना चाहते हैं; और उनकी इस आकांक्षा की अवहेलना नहीं की जाएगी। फिर भी, मैं समझता हूं कि भारत और ब्रिटेन दोनों के व्यापार के लिए सद्भाव और मैत्रीपूर्ण संबंध, क़ानून की धाराओं की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। और इस तरह के संबंध स्थापित करने से ही वर्तमान और भविष्य में दोनों के हितों के लिए सही अर्थों में सुरक्षा मिल सकती हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सद्भावपूर्ण वातावरण में ब्रिटिश और भारतीय

उद्योगों के बीच सहयोग से ही भारत का औद्योगिक विकास अत्यंत तेजी से और लाभदायक ढंग से संभव है। (टाइम्स आफ इंडिया, 11 दिसंबर 1945)

इसे आपसी सहयोग के लिए दी गई परोपकारितापूर्ण दलील न समझा जाए इसलिए कुछ अन्य प्रवक्ताओं ने ब्रिटिश पूंजीवाद की ओर अधिक सुनिश्चित मांगें कीं। भारत में ब्रिटिश वित्त व्यवस्था के मुखपत्र 'कैपिटल' ने 15 नवंबर 1945 को लिखा :

ब्रिटिश व्यापार का ऐसा कोई इरादा नहीं कि वह इस समय या बाद में बस देश के बाहर निकल जाए···भले ही कुछ लोगों की निगाहों में इसकी भूमिका भविष्य में एक मातहत की भूमिका हो पर वह उस देश से खदेड़े जाने को तैयार नहीं होगा जिसकी समृद्धि में इसका जबरदस्त योगदान रहा हो।

एसोसिएट्श चैंबर्स आफ कामर्स के अध्यक्ष सर रेनविक हैडो ने 10 दिसंबर, 1945 को कहा :

ब्रिटेन में ऐसे कई उद्योगपति हैं जिन्हें यदि उचित व्यवहार का आश्वासन मिले तो वे भारत में कारखाने स्थापित करने के लिए तैयार होंगे जिससे भारत का स्थाई फायदा होगा। लेकिन यह स्वाभाविक है कि वे किसी दूसरे के लगाने और खर्च करने के लिए पैसा देने को तैयार नहीं होंगे। कोई ऐसी एकतरफा व्यवस्था नहीं हो सकती जिसमें ब्रिटेन तो पूंजीगत सामान और विशेषज्ञों की सुविधाएं प्रदान करे और अंगरेजों को भारत आकर नए उद्योग धंधे शुरू करने तथा जो पहले से मौजूद हैं उनकी देख रेख करने के लिए हतोत्साहित किया जाए। (टाइम्स आफ इंडिया, 11 दिसंबर 1945)

रायल सोसायटी के सेक्रेटरी प्रो० ए० बी० हिल ने ब्रिटेन की मांगों को और भी स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्ति दी :

चाहे जो हो, उन्हें (भारतीयों को) यह महसूस करना होगा कि ब्रिटिश उद्योग ये सारी चीजें महज निस्स्वार्थ भाव से नहीं करने जा रहा है। मैं नहीं समझता कि उन्हें यह आशा होगी कि ब्रिटेन अपनी दक्षता और साधनों से कोई ऐसा उद्योग स्थापित करेगा जिसपर उसका मामूली सा नियंत्रण होगा। यदि वे विकास करना चाहते हैं तो उनकी यहां के लोगों के साथ बराबरी की हिस्सेदारी होनी चाहिए। आधे आधे की हिस्सेदारी ही उचित मालूम देती है। ('भारत ज्योति', 1 अप्रैल 1946)

और ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारतीय उद्योगपतियों को अपने साथ साझेदारी के लिए

मजबूर करने में अपने शासक होने का भरपूर लाभ उठा रहे हैं। हालांकि भारतीय उद्योग-पतियों ने युद्ध के दौरान भारी मुनाफा कमाया और अपनी स्थिति अपेक्षाकृत मजबूत कर ली फिर भी अभी ब्रिटिश पूंजीपतियों का ही पलड़ा भारी रहता है। राज्य व्यवस्था पर उनका नियंत्रण है और इसलिए वे पूंजीगत सामानों के आयात पर भी नियंत्रण रखते हैं; उनका भारत के समूचे स्टर्लिंग संतुलन पर नियंत्रण है। वे भारत के सभी बाजारों को हर तरह की उपभोक्ता सामग्रियों से पाट सकते हैं और ऐसा करने की वे कोशिश भी कर रहे हैं।[11] भारतीय उद्योगपतियों को अपनी शर्तों पर सहमत होने के लिए मजबूर करने में वे अपनी इसी विशेष सुविधायुक्त स्थिति का इस्तेमाल करते हैं।

भारत, बर्मा और लंका के लिए भूतपूर्व ब्रिटिश ट्रेड कमिश्नर सर टी० सेंसकफ ने ब्रिटिश पूंजीपतियों की एक बैठक में बोलते हुए बड़े साफ शब्दों में उन अनुकूल स्थितियों का वर्णन किया जो भारतीय व्यापारियों की तुलना में ब्रिटिश के बड़े व्यापारियों को प्राप्त है :

> …भारतीय व्यापार और देश की विशिष्ट जरूरतों के बारे में हमारे अनुभव, बाजार में हमारे निहित स्वार्थ, हमारे बेजोड़ व्यापारिक संपर्क और हमारी ख्याति, जिसमें हमारी कर्जदार की स्थिति से मिला लाभ जुड़ जाना चाहिए को यदि पूरा पूरा महत्व दिया जाए तो निश्चय ही यह आशा की जा सकती है कि भारत एक बार फिर हमारे सामान के निर्यात का सबसे बड़ा बाजार हो सकता है। ('बांबे क्रानिकल', 5 मार्च 1945, रेखांकन जोड़ा गया है)

भारतीय और ब्रिटिश पूंजीपतियों के बीच कई समझौते भी संपन्न हुए। जून 1945 में, भारत की सबसे बड़ी इजारेदार फर्मों में से एक फर्म बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड और इंग्लैंड के नफील्ड संगठन के बीच एक समझौता हुआ जिसके अंतर्गत भारत में मोटरकारों का निर्माण होना था। बिड़ला नफील्ड समझौते का उद्देश्य, समाचारपत्रों में छपी खबरों के अनुसार (समझौते की वास्तविक शर्तें प्रकाशित नहीं की गईं), भारत में संयुक्त रूप से एक कंपनी स्थापित करना था। इससे नफील्ड का 25 से 30 प्रतिशत तक शेयर होता और मुनाफे तथा पेटेंट की रायल्टी आदि में अच्छा खासा हिस्सा उसे मिलता। नफील्ड संगठन को ऐसे 'तकनीकी हिस्से पुरजे सप्लाई करने और बनाने थे जिन्हें आर्थिक कारणों से भारत में नहीं बनाया जा सकता था और नफील्ड के तकनीशियनों को ही इस बात का भी फैसला करना था कि कौन से उपकरण भारत में और कौन से ब्रिटेन में बनाए जाएं। (कैपिटल, 3 जनवरी 1946)।

इसी तरह का एक समझौता दिसंबर 1945 में भारत की एक बड़ी इजारेदार फर्म टाटा गुट और इंपीरियल कैमिकल इंडस्ट्रीज के बीच हुआ। आई०सी०आई० ब्रिटेन की सबसे बड़ी इजारेदार संस्था है और इस समझौते का उद्देश्य भारत में भारी रसायन उद्योग स्थापित

करना था। समाचारपत्रों में प्रकाशित खबरों के अनुसार इस उद्योग में 24 प्रतिशत पूंजी आई०सी०आई० की होगी और शेष हिस्सा टाटा गुट का होगा। इसके अलावा 'जब तक घरेलू इस्तेमाल में आने वाले सामानों का इतना उत्पादन नहीं होने लगता कि उससे सारी जरूरतें पूरी हो जाएं, तब तक देशी तथा आई० सी० आई० द्वारा आयातित रंग सामग्रियों को संयुक्त रूप से बाजार में बेचा जाएगा।' (ए०पी०आई० की खबर, 22 दिसंबर 1945)। और यह अवधि 15 से 20 वर्ष की बताई गई। भारतीय और ब्रिटिश व्यापारियों के बीच इसी तरह के और अनेक समझौते हो रहे हैं।

भारत के बड़े और मंझोले व्यापारियों के साथ इन समझौतों के अलावा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की योजना है कि वे भारत के तानाशाही राज्यों का विकास अपने भावी मुख्य विशेष रूप से आर्थिक आधार क्षेत्र के रूप में करेंगे। वे इन भारतीय राज्यों को अधिक से अधिक ब्रिटिश पूंजी भेजना चाहते हैं, चाहे इसमें उन रियासतों के प्रशासन हिस्सा लें या न लें। अप्रैल 1945 में अपनी औद्योगिक नीति के बारे में जारी किए गए वक्तव्य में भारत सरकार ने इन राज्यों के औद्योगिक विकास के लिए एक विशेष व्यवस्था की घोषणा की थी :

> यह समान रूप से स्पष्ट है कि लाइसेंस प्रणाली का संचालन ऐसा होना चाहिए जिससे भारतीय राज्यों को इस बात का आश्वासन मिले कि औद्योगिक विकास की उनकी न्यायसंगत आकांक्षा की उपेक्षा नहीं की जाएगी। ('हिंदुस्तान टाइम्स,' 23 अप्रैल, 1945)

औद्योगिक विकास पर रोक लगाने के लिए तैयार की गई 'लाइसेंस' प्रणाली का उद्देश्य यह भी है कि इस विकास के माध्यमों पर नियंत्रण रखा जाए और संभवतः भारतीय राज्यों को लाइसेंसों और पूंजीगत सामानों के निर्धारण में अधिक से अधिक तरजीह दी जाए। इन राज्यों में ही राजाओं, महाराजाओं के प्रतिक्रियावादी शासन के अधीन ब्रिटिश पूंजी को भरपूर सुरक्षा मिलनी थी।

भारत में ब्रिटिश वित्तीय हितों के मुखपत्र 'कैपिटल' ने 24 जनवरी 1946 को ब्रिटिश उद्देश्यों को बड़े साफ शब्दों में अभिव्यक्ति दी :

> सभी (राज्य) अपनी सीमा के अंदर औद्योगिक उपक्रम शुरू करने के लिए बेचैन हैं और ब्रिटिश भारत में ये संभावनाएं कभी कभी इतनी क्षीण लगती हैं कि ऐसे कई अवसर आते हैं जब नई औद्योगिक परियोजनाओं के प्रवर्तक राजनीतिक उथल पुथल से दूर भाग निकलने के लिए जोरदार ढंग से प्रेरित होते हैं। इसके साथ ही पार्टी और संघ का दिन ब दिन तेज होता कोलाहल भारतीय राज्य से अपेक्षाकृत शांत वातावरण की अपेक्षा रखता है। यहां सत्तारूढ़

> वर्ग से उसकी परंपरा और पृष्ठभूमि के कारण यह आशा की जा सकती है कि वह उद्योगपतियों की इस इच्छा के प्रति हमदर्द होगा कि उसे बाहर के अनुचित हस्तक्षेप के बिना अपना कारोबार खुद चलाने दिया जाए।

और यह आश्वासन भारत की रियासतों ने पहले ही दे रखा है। पटियाला राज्य के प्रधानमंत्री और ब्रिटेन के लिए भारतीय राज्यों के औद्योगिक प्रतिनिधिमंडल के नेता श्री एच०एस० मलिक ने साझेदारी के आधार पर विदेशों के विकसित उद्योगपतियों के साथ उद्योग शुरू करने की खुलेआम हिमायत की थी। श्री मलिक ने कहा :

> हम यह महसूस करते हैं कि जब आप अमरीका या इंग्लैंड के किसी उद्योगपति को अपने यहां स्थान देते हैं और उद्योग में उसे पूंजी लगाने देते हैं तो उसकी पूंजी 30 प्रतिशत या 40 प्रतिशत जो भी हो, निश्चित रूप से उद्योग की सफलता में दिलचस्पी लेगा। मैं नहीं समझता कि आप जब तक उनपर पूरा पूरा विश्वास करने को तैयार नहीं होते, आप कुशल, अनुभवी और उन्नत उद्योगपतियों से भरपूर सहयोग की आशा किस तरह करते हैं। (टाइम्स आफ इंडिया, 17 जनवरी 1946)

इंडियन चेंबर आफ प्रिंसेज के सेक्रेटरी श्री मकबूल अहमद ने भी 'एशियाटिक रिव्यू' में एक लेख में लिखा : 'रियासतों के औद्योगिक विकास में भारत और ब्रिटेन की साझेदारी की भी काफी गुंजाइश है।'

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत की धरती में अधिक से अधिक गहराई तक पैठकर भारत में ब्रिटिश महाजनी पूंजी के भविष्य को सुरक्षा दिलाने में ही लगा है। भारतीय उद्योगपतियों के साथ समझौते के जरिए इस बात की निगरानी रखी जाती है कि भारत में लगी ब्रिटिश पूंजी सुरक्षित रहे। इसकी वांछित प्रतिक्रियाएं भी स्पष्ट हैं। भारत में ब्रिटिश पूंजी के बारे में बोलते हुए भारत के सर्वोच्च इजारेदार और नफील्ड समझौते के एक हिस्सेदार श्री जी०डी० बिड़ला ने कहा :

> मैं नहीं समझता कि इसका कभी स्वामित्वहरण होगा। ब्रिटिश फर्में अपना काम जारी रखेंगी। ('हिंदुस्तान टाइम्स', 11 अप्रैल 1946)

भारतीय रियासतों में राजाओं के निरंकुश शासन को बनाए रखकर वर्तमान पूंजीनिवेश को सुरक्षित रखने की न केवल कोशिश की जा रही है बल्कि नए सिरे से ब्रिटिश पूंजी की घुसपैठ की योजना बनाई जा रही है।

इन समझौतों से भारत का उद्योगीकरण किसी भी रूप में संभव नहीं है। जैसा बिड़ला-

नफील्ड आर टाटा—आई०सी०आई० जैसे दो महत्वपूर्ण व्यापार समझौतों की शर्तों से स्पष्ट है, इन साझेदारियों के फलस्वरूप भारत में बुनियादी भारी उद्योगों की स्थापना कभी नहीं होगी। एक अनिश्चित अवधि तक रसायनों का उत्पादन इंग्लैंड में होगा और भारतीय ट्रेडमार्क के तहत भारतीयों को बेचे जाएंगे। इसी प्रकार ब्रिटेन में बने उपकरणों और पुर्जों को जोड़ने के लिए एक वर्कशाप से अधिक भारत की हैसियत नहीं होगी। बिड़ला-नफील्ड समझौते के अंतर्गत प्रस्तावित कारों के 'भारतीय उत्पादन' का स्वरूप हम 'हिंदुस्तान-टेन' के उत्पादन में देख ही चुके हैं। इसके बारे में खूब प्रचार किया गया कि यह 'भारत में बनी' कार है लेकिन सचाई यह है कि इसके सारे हिस्से मौरिस के हैं और उन्हें भारत में केवल जोड़ दिया गया है।

इस प्रकार ये समझौते भारी उद्योग, भारी इंजीनियरिंग और रसायन उद्योग की स्थापना को यथासंभव रोकने और सीमित करने तथा ब्रिटेन में बने सामान के लिए भारत को एक निरापद बाजार बनाने के लिए महज एक आवरण का काम करते हैं। जैसा 'बांबे क्रानिकल' ने 27 दिसंबर 1945 के अपने संपादकीय में कहा था, इन समझौतों के फल-स्वरूप नए तरह के निहित स्वार्थों का उदय होगा जो इस देश के तीव्र उद्योगीकरण के मार्ग में जबरदस्त अवरोध बनेंगे—और अंततोगत्वा जब राष्ट्रीय सरकार बनेगी तो उसे इन स्वार्थों से निबटने में भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

भारत और ब्रिटेन के इजारेदारों के बीच इस तरह के आर्थिक समझौते, जो 1945 में बड़े पैमाने पर संपन्न होने लगे थे, उस सांविधानिक बातचीत की एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि तैयार करते हैं जिसके फलस्वरूप 1946 का राजनीतिक समझौता संपन्न हुआ।

9. भारत में साम्राज्यवाद का परिणाम

मार्क्स ने जब ब्रिटिश शासन के बारे में कहा था कि यह भारत में 'एक सामाजिक क्रांति का कारण बनेगा' और इंग्लैंड को 'क्रांति संपन्न कराने में इतिहास के हाथों अनजाने आ गया औजार' कहा था तब उनका आशय एक दोहरी प्रक्रिया से था जैसाकि उनकी व्याख्या से स्पष्ट होता है। एक तो पुरानी समाज व्यवस्था के विनाश की प्रक्रिया। दूसरी, नई समाज व्यवस्था के लिए भौतिक आधार तैयार करने की प्रक्रिया। यह दोनों प्रक्रियाएं आज भी जारी हैं, हालांकि बाद की प्रक्रिया से विकसित आधुनिक साम्राज्यवाद की नई मंजिलों की विशेषताओं ने उनके महत्व को धुंधला कर दिया है।

पुराने हस्त उद्योग के नष्ट हो जाने के परिणामों की एक झलक इस तथ्य से मिल जाती है कि औद्योगिक मजदूरों की संख्या बराबर कम होती जा रही है (युद्ध के कारण इसमें अस्थाई तौर पर व्यवधान पड़ा था), और आधुनिक उद्योग के धीमे विकास के कारण इस संख्या में आज तक वृद्धि नहीं हुई। पुरानी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विनाश आज

अंतर्विरोधों के ऐसे दौर में पहुंच चुका है जो कृषि के क्षेत्र में सामान्य संकट पैदा कर रहा है।

इसके साथ ही, जैसी मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी, ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भौतिक आधार पर आधुनिक उद्योग की प्रारंभिक शुरुआत हो चुकी है, यद्यपि इसकी रफ्तार अत्यंत धीमी है पर यह शुरूआत हो चुकी है। और इसके फलस्वरूप भारतीय समाज में एक नया वर्ग पैदा हुआ है। यह नया वर्ग आधुनिक मशीन उद्योग में वेतनभोगी औद्योगिक मजदूरों का वर्ग है जो भावी भारत में नई समाज व्यवस्था स्थापित करने वाली रचनात्मक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है।

लेकिन इस प्रक्रिया के आगे जारी रहने के फलस्वरूप आज एक नई परिस्थिति पैदा हुई है जिसने उन शक्तियों को जन्म दिया है जो उस समय मौजूद नहीं थीं जब मार्क्स ने यह लिखा था। आज भारत में उत्पादक शक्तियों के बड़े पैमाने पर विकसित होने और आधुनिक स्तर तक पहुंचने के लिए स्थितियां परिपक्व हो गई हैं और प्रति वर्ष इसकी आवश्यकता तेज और अनिवार्य होती जा रही है। दूसरी तरफ, आधुनिक साम्राज्यवाद अब भारत के प्रारंभिक पूंजीवादी प्रभुत्व के उन दिनों की तरह वस्तुगत दृष्टि से क्रांति उत्पन्न करने वाली भूमिका नहीं अदा कर पा रहा है जब वह अपने विनाशकारी प्रभावों से नई प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर रहा था और इसकी प्राप्ति के लिए प्रारंभिक भौतिक स्थितियां पैदा कर रहा था। इसके विपरीत, भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद उत्पादन शक्तियों के विकास में प्रमुख रुकावट बनकर डटा हुआ है और अपने राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व के सभी हथियारों से उत्पादक शक्तियों के विकास को निष्फल और धीमा कर रहा है। भारत में पूंजीवादी शासन की क्रांतिकारी भूमिका की बात करना अब संभव नहीं है। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद की भूमिका पूरी तरह से प्रतिक्रियावादी भूमिका है।

पुराने प्रगामी पूंजीवाद ने 19वीं सदी के पूर्वार्ध में प्राचीन भारतीय समाज के ताने बाने को छिन्न भिन्न कर दिया। यहां तक कि उसने कुछ प्रतिक्रियावादी धार्मिक और सामाजिक अवशेषों पर प्रहार का सजग नेतृत्व किया, एक के बाद एक राजाओं को इस बात के लिए विवश किया कि वे अपने डोमीनियनों को उनके समान प्रभुत्व में मिला लें, पश्चिम यूरोपीय शिक्षा और अवधारणाओं के प्रचार की पहली बार शुरूआत की और कुछ समय के लिए समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का सिद्धांत भी प्रतिपादित किया। इस अवधि के दौरान भारतीय समाज के प्रगामी तत्वों ने अर्थात उभरते हुए मध्यवर्ग ने, जिसके प्रतिनिधि राममोहन राय थे, ब्रिटिश शासन का समर्थन किया और उसके प्रयत्नों को सहायता पहुंचानी चाही; पतनशील प्रतिक्रियावादी तत्वों, असंतुष्ट राजाओं महाराजाओं और सामंतों ने विरोध पक्ष का नेतृत्व किया जो 1857 के विद्रोह में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा और फिर डूब गया। उस समय कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो शोषण और दमन के

शिकार किसान वर्ग को नेतृत्व दे और उनकी आवाज को मुखरित करे। 1857 के विद्रोह को असफलता ही हाथ लगी।

1857 के विद्रोह के बाद भारत में ब्रिटिश शासन ने अपनी नीति में परिवर्तन शुरू किया। भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद अपनी कठपुतली के रूप में राजाओं महाराजाओं को सुरक्षा प्रदान करता है और उन्हें मजबूत बनाता है और पूरी ताकत के साथ उनकी राजनीतिक भूमिका को बढ़ा चढ़ाकर पेश करने की कोशिश करता है जिसकी सबसे ताजा अभिव्यक्ति कैबिनेट मिशन के फैसले में होती है। वह प्रतिक्रियावादी सामाजिक और धार्मिक अवशेषों को बनाए रखना चाहता है और उनमें सुधार के लिए प्रगतिशील भारतीय जनमत द्वारा की जाने वाली मांगों के विरुद्ध वह उनकी उत्साहपूर्वक रक्षा करता है (जैसा विवाह की उम्र निर्धारित करने तथा अछूतों पर लगे प्रतिबंध हटाने के प्रश्न पर हुआ)। वह दमन का व्यापक ढांचा तैयार करके बोलने और विचार व्यक्त करने पर रोक लगाता है और भारतीय जनता की सामाजिक, शैक्षणिक तथा औद्योगिक प्रगति की मांग में रोड़े अटकाता है। अपने इन्हीं लक्षणों से आज भारत में साम्राज्यवाद सामाजिक तथा राजनीतिक और उसी सीमा तक आर्थिक क्षेत्र में प्रतिक्रियावाद का मुख्य गढ़ बन गया है।

इसलिए आधुनिक युग में भारतीय समाज की सभी प्रगतिशील शक्तियां, साम्राज्यवाद को मुख्य दुश्मन और प्रतिक्रियावाद का पोषक मानकर उसके विरुद्ध अभूतपूर्व शक्ति के साथ राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में एकजुट हो गई हैं और दूसरी तरफ पतनशील प्रतिक्रियावादी शक्तियां ही आज साम्राज्यवादी शासन की सबसे वफादार समर्थक बन गई हैं।

भारत की उभरती उत्पादक शक्तियां आज साम्राज्यवाद की बेड़ियों और उस अविकसित आर्थिक ढांचे के विरुद्ध जी जान से लगी हैं जिसका पोषण साम्राज्यवाद करता है और जिसे वह बनाए रखे है। इस संघर्ष की अभिव्यक्ति कृषि के क्षेत्र में उत्पन्न संकट में होती है। यह संकट ही साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के दिवालियेपन का सूचक है और निर्णायक परिवर्तनों की मुख्य प्रेरक शक्ति है। भारत में तेजी से आगे बढ़ती कृषि क्रांति के संकेतों को पहचानना वैसे ही संभव है जैसे जारशाही रूस में या 18वीं सदी के फ्रांस में संभव था। भारत में विकसित हो रही कृषि क्रांति, साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध विकसित हो रहे राष्ट्रीय जनतांत्रिक मुक्ति आंदोलन के साथ मिला हुआ है; और इन दोनों की एकता ही भारतीय इतिहास के नए अध्याय की कुंजी है।

इसलिए, भारत की आधुनिक राजनीतिक स्थिति और राष्ट्रीय संघर्ष की समस्याओं के अध्ययन की शुरूआत कृषि समस्या के अध्ययन के साथ ही की जा सकती है।

टिप्पणियां

1. भारत में लगी विदेशी पूंजी का कोई सही आंकड़ा अभी उपलब्ध नहीं है।
'स्टेटिस्टिकल अब्स्ट्रैक्ट फार ब्रिटिश इंडिया' ने उन ज्वाइंट स्टाक कंपनियों की प्रदत्त पूंजी 1938-39 में 74 करोड़ 11 लाख पौंड बताई है जो भारत से बाहर पंजीकृत हैं लेकिन ब्रिटिश भारत में अपना काम कर रही हैं। इस राशि में भारत सरकार का स्टर्लिंग ऋण और भारत में पंजीकृत विदेशी कंपनियों की रुपया पूंजी को शामिल नहीं किया गया है। फिर भी 1912 के वर्ष से तुलना करने पर पता चलता है कि 26 वर्षों की अवधि के दौरान भारत में स्टर्लिंग पूंजी निवेश में 66 करोड़ 76 लाख पौंड की वृद्धि हुई है। 1918-19 के बाद से 26 करोड़ 80 लाख पौंड की वृद्धि हुई है। 1918-19 से बैंकिंग और ऋण कंपनियों की राशि 2 करोड़ 85 लाख पौंड थी जो 1938-39 में बढ़कर 9 करोड़ 62 लाख पौंड हो गई और व्यापारिक एवं उत्पादक कंपनियों की राशि इसी अवधि में 20 करोड़ 54 लाख पौंड से बढ़कर 34 करोड़ 49 लाख पौंड हो गई।
2. अक्तूबर 1922 में लीग आफ नेशन्स की कौंसिल के अधिवेशन में भारत सरकार की ओर से लार्ड चैम्सफोर्ड ने कहा :
'भारत के इस दावे का औचित्य अभी निर्धारित करना है कि उसे प्रमुख औद्योगिक महत्व के आठ राज्यों में शामिल कर लिया जाए। उसके दावे के आधार व्यापक और सामान्य हैं और अपना औचित्य ठहराने के लिए उन्हें आंकड़ों का सहारा लेने की जरूरत नहीं। भारत के पास औद्योगिक वेतनभोगी लोगों की संख्या लगभग 2 करोड़ है।
उन्होंने इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी कि 'औद्योगिक वेतनभोगी मजदूरों की 2 करोड़ की संख्या से मुख्यतया हस्तशिल्प और घरेलू उद्योग में लगे मजदूर हैं, कि दस व्यक्तियों या इससे अधिक लोगों को अपने यहां नौकरी देने वाली संस्थाओं में काम करने वाले लोगों की संख्या, 1921 की औद्योगिक जनगणना के अनुसार 26 लाख थी। इनमें से लगभग 10 लाख मजदूर बागानों में काम करने वाले थे न कि औद्योगिक इकाइयों में काम करने वाले मजदूर। उन्होंने यह भी बताने की जरूरत नहीं समझी कि फैक्टरीज ऐक्ट के अंतर्गत जो मजदूर आते हैं उनकी कुल संख्या महज 13 लाख थी।
3. इस संघर्ष का और भी ज्यादा पता उन नए व्यापार समझौतों से चलता है जो भारत और ब्रिटेन के बीच मार्च 1939 में हुए थे। इस समझौते को भारतीय विधानसभा ने मार्च 1939 में 47 के मुकाबले 59 वोटों से नामंजूर कर दिया था और इंडियन चैंबर्स आफ कामर्स के महासंघ की समिति ने भी इस समझौते के विरोध की घोषणा की थी। एक बार फिर विधानसभा के मत की अवहेलना की गई और ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रतिनिधियों के विरोध के बावजूद यह व्यापार समझौता थोप दिया।
4. इंपीरियल बैंक आफ इंडिया के मैनेजिंग डायरेक्टर ने सेंट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी को 1930 में जो सूचना प्रेषित की थी उसके अनुसार इंपीरियल बैंक की कुल 5 करोड़ 62 लाख 50 हजार रुपये की प्रदत्त पूंजी में से 2 करोड़ 84 लाख रुपये 'अभारतीयों' के और 2 करोड़ 78 लाख रुपये 'भारतीयों' के थे (रिपोर्ट, खंड 11, पृष्ठ 264)। इससे 'अभारतीयों' को पूर्ण बहुमत मिल जाता है। दरअस्ल प्रभावशाली पदों पर स्थित कुछ अंगरेज शेयरहोल्डरों की पूंजी की अपेक्षाकृत कम मात्रा होने के बावजूद अंगरेजों का पूरा पूरा नियंत्रण था।
5. 1936 में सेंट्रल बैंक आफ इंडिया ने सेंट्रल एक्सचेंज बैंक आफ इंडिया की स्थापना की। भारतीय बैंक व्यवस्था द्वारा इस क्षेत्र में प्रवेश करने का यह पहला प्रयास था।
6. इस तालिका में प्रस्तुत आंकड़े रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'स्टेटिस्टिकल टेबिल्स रिलेटिंग टु बैंक्स इन इंडिया ऐंड बर्मा फार दि इयर्स 1942 ऐंड 1943' से लिए गए हैं।

7. इस सिलसिले में अमरीकी तकनीकी मिशन की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। मिशन ने अपनी रिपोर्ट के अंतिम पैराग्राफ में 'विशाल प्राकृतिक और मानव साधनों के कारण औद्योगिक उत्पादन के लिए भारत की महान क्षमताओं की तरफ ध्यान दिलाया है। मिशन यह महसूस करता है कि प्राकृतिक साधनों के इस्तेमाल को काफी विकसित किया जा सकता है और इसका विस्तार किया जा सकता है बशर्ते इस काम के लिए पर्याप्त उपकरण उपलब्ध कराए जाएं। मिशन ने भारतीय कामगरों की यांत्रिक अभिरुचि को प्रमाण सहित देखा है। इन्हें यदि उचित प्रोत्साहन दिया जाए और इनके काम की स्थितियां यदि बेहतर बना दी जाएं तो कुछ ही समय के प्रशिक्षण के बाद ये कुशल कारीगर हो सकते हैं।
8. सुदूर पूर्व में ब्रिटिश साम्राज्य नीति की विफलता के कारण युद्ध संबंधी व्यय का बिल बहुत ज्यादा आया। यह नीति थी उपनिवेशों की जनता को राजनीतिक सत्ता देने से इंकार करने, वहां की जनता का सक्रिय समर्थन और विश्वास प्राप्त करके उन देशों के समूचे साधनों को अपने अनुकूल बनाने से इंकार की करने नीति।
9. यहां कुल मुनाफा एजेंटों के कमीशन, कार्यकारी खर्च और कर्मचारियों के वेतन की राशि को अलग करके और अवमूल्यन की गुंजाइश छोड़कर निर्धारित किया गया है।
10. पी०एस० लोकनाथन : 'इंडियाज पोस्टवार रिकांस्ट्रक्शन एँड इट्स इंटरनेशनल आस्पैक्ट्स', 1946 पृष्ठ 31.
11. युद्ध जिस समय समाप्त होने जा रहा था उसके आसपास सरकार ने जो सबसे पहले कदम उठाए उनमें एक यह था कि भारतीय फर्मों के साथ युद्ध संबंधी अनुबंधों को तेजी से समाप्त कर दिया जाए और युद्ध के सामानों की सप्लाई के लिए ब्रिटेन में आर्डर दिए जाएं। मार्च 1945 में इंग्लैंड की यात्रा पर गए हैदरी मिशन ने 1945 में 20 करोड़ 60 लाख रुपये और 1946 में 48 करोड़ रुपये मूल्य के ब्रिटिश सामानों के आयात की व्यवस्था की और मुख्यतया उपभोक्ता सामग्रियों के लिए आर्डर दिए गए।

खण्ड तीन

भारत की मूल समस्या : कृषि समस्या

7

कृषि के क्षेत्र में संकट

किसानों की स्थिति की वर्तमान अधोगति से कृषि क्रांति की पूर्वसूचना मिलती है।—प्रोफेसर आर० मुकर्जी : 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया', 1933

भारतीय किसानों की गरीबी और दुर्दशा विश्व की भयानकतम सच्चाइयों में से एक है। भारत की कृषि संबंधी समस्या पर हाल की सुविख्यात पुस्तक 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया', में प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी ने इस स्थिति का वर्णन निम्न शब्दों में किया है :

> कृषि पर निर्भर भारतीय जनता आज बेहद अपर्याप्त साधनों से काम चलाती है। यदि हम किसानों की ही खुशहाली की दृष्टि से देखें तो इन साधनों का वितरण बहुत ही अव्यवस्थित ढंग से हुआ है। पिछले 50 वर्षों में भूमि के स्वामित्व और काश्तकारी में हुए परिवर्तनों की यदि हम छानबीन करें तो पता चलेगा कि यह अव्यवस्थित वितरण दिनोंदिन और भी बुरा होता जा रहा है। छोटी जोतवालों की आर्थिक स्थिति खराब हुई है जबकि जमींदारों और जमीन से वंचित किए गए किसानों, लगान वसूली करने वाले वर्ग और खून पसीना एक करने वाले कृषि दासों के बीच जो विषमता व्याप्त है, वह कृषि संबंधी हमारे इतिहास के एक नाजुक दौर की सूचना देता है···किसानों में वर्गचेतना की एक अस्पष्ट आवाज उठने लगी है, जो भारत के कुछ हिस्सों में अभी ही सुनी जा सकती है, यह कृषि के क्षेत्र में व्याप्त मौजूदा साम्राज्य को चुनौती दे रही है। (पृष्ठ 4)

वह इस निसकर्ष पर पहुंचे :

> विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक अभिरुचियों के लोग अब तेजी से यह मानने लगे हैं कि भारत की भूमि प्रणाली में परिवर्तन अवश्यंभावी है। यह विचार अब समाज के सभी वर्गों में फैल चुका है। भारी जनसंख्या के दबाव के कारण इन जोतों की संख्या इतनी कम हो गई है और इनमें इतना बिखराव आ गया है कि अब कोई न तो अपने परिवार के सभी सदस्यों के श्रम से लाभ उठा सकता है और न ही जीवन निर्वाह स्तर कम होने के कारण अपने परिवार का भरण पोषण कर सकता है। साथ ही जमींदार की भूमिका अब लगान प्राप्त करने वाले की हो गई है जबकि पहले उसकी भूमिका संपत्ति पैदा करने वाले की थी। कृषि के कार्य में उसने अब अपनी पुरानी और सम्माननीय भूमिका निभाना छोड़ दिया है। आज वह न तो कृषीय पूंजी की सप्लाई करता है और न ही खेती के कार्यों का ही संचालन करता है। जमींदार से नीचे बिचौलियों का एक वर्ग तैयार हो गया है। इन बिचौलियों ने मौजूदा भूमि प्रणाली की जटिलताओं से भरपूर लाभ उठाया है और इन्होंने वास्तविक खेतिहरों की कष्टकर स्थिति को और भी गंभीर बनाया है। यह आलोचना नहीं बल्कि तथ्यों का सारांश है। पुरानी व्यवस्था टूट चुकी है और इसके स्थान पर एक नई व्यवस्था का जन्म अनिवार्य है जो कृषि संबंधी जीवन और सामाजिक जीवन की वर्तमान स्थितियों के अनुकूल हो। (पृष्ठ 361-62)

भारत में कृषि की वर्तमान स्थिति के सभी प्रेक्षक इस सामान्य निष्कर्ष को मानते हैं। लेकिन यह प्रश्न कि कौन से परिवर्तन किए जाएं और किस प्रकार किए जाएं, एक साथ ही उन तमाम प्रश्नों को उभार देते हैं जो साम्राज्यवादियों द्वारा शासित भारत की वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली से जुड़े हुए हैं। क्योंकि कृषीय संबंधों के क्षेत्र में ही उस मौजूदा समाज व्यवस्था की नींव का पता लगाया जा सकता है जो साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत बनी हुई है और जनजीवन का गला घोंट रही है। यहीं परिवर्तन की अत्यंत शक्तिशाली प्रेरक शक्तियां भी जन्म ले रही हैं और अपने को मजबूत बना रही हैं ताकि वे वर्तमान समाज व्यवस्था को समाप्त कर एक नई व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

भारत की कृषि समस्या को साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत देश की सामान्य अर्थव्यवस्था तथा साम्राज्यवादी शासन द्वारा संपोषित मौजूदा सामाजिक संरचना से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

1926 में कृषि संबंधी शाही आयोग की नियुक्ति हुई। आयोग ने 1928 में 800 पृष्ठों की अपनी भारी भरकम रिपोर्ट पेश की। इसमें 800 पृष्ठों के अतिरिक्त साक्ष्यों के 16 खंड भी शामिल थे। इसके विचारार्थ विषयों में 'कृषि को विकसित करने तथा ग्रामीण जनता की खुशहाली और संपन्नता में वृद्धि के लिए सुझाव प्रस्तुत करने थे'। लेकिन साथ ही

उन्हीं विचारार्थ विषयों के अंतर्गत उसे चेतावनी भी दी गई थी :

> भूमि के स्वामित्व तथा काश्तकारी की वर्तमान व्यवस्था के संबंध में अथवा मालगुजारी और सिंचाई शुल्कों के निर्धारण के विषय में कोई सिफारिश करना आयोग के कार्य क्षेत्र के बाहर होगा।

यह बात तो बिलकुल वैसी ही है जैसे हैम्लेट नाटक में से डेनमार्क के राजकुमार को निकाल दिया जाए। भारत में भूमि प्रणाली की समस्या पर विचार किए बिना कृषि की समस्या पर विचार करना असंभव है। कृषि संबंधी वर्तमान संकट के पीछे प्रारंभिक बुनियादी मामले इस प्रकार हैं :

1. अन्य आर्थिक साधनों को बंद करके कृषि पर आबादी का जरूरत से ज्यादा दबाव;
2. भूमि के एकाधिकार और किसानों के ऊपर पड़ने वाले बोझ का प्रभाव;
3. खेती की तकनीक का निम्न स्तर और तकनीक के विकास में उत्पन्न बाधाएं;
4. ब्रिटिश शासनकाल के अधीन खेती में ठहराव आ जाना और उसका नष्ट होते जाना;
5. किसानों की तेजी से बढ़ती हुई निर्धनता, जोतों का टुकड़ों में बंटते जाना और उनमें बिखराव आना तथा बड़ी संख्या में किसानों का अपने खेतों से वंचित होना;
6. इनके फलस्वरूप किसानों में वर्गभेदों का बढ़ना और इसके कारण किसानों की एक बड़ी संख्या का भूमिहीन सर्वहारा की स्थिति में पहुंच जाना। यह संख्या एक तिहाई से आधी तक है।

इन सारे कारणों का सर्वेक्षण करके ही समस्या के समाधान पर विचार किया जा सकता है।

1. खेती पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव

जैसाकि हमें बार बार याद दिलाया जाता है, भारत एक 'ग्रामीण महादेश' है। इस तथ्य की ओर खासतौर से उन लोगों ने ध्यान दिलाया है जो संभवत: इस वास्तविकता को भारत के तेज जनतांत्रिक या सामाजिक विकास के मार्ग में तथाकथित अवरोध मानकर खुश होते हैं।

भारत की एक बहुत बड़ी आबादी की कृषि पर निर्भरता तथा पश्चिमी यूरोप के अत्यधिक उद्योगीकृत समुदायों के बीच की विषमता को सामान्य तौर पर एक सहज घटना के रूप में चित्रित किया जाता है, इससे भारतीय समाज के पिछड़े स्वरूप का पता चलता है

और इसके कारण यह जरूरी हो जाता है कि इस स्थिति में किसी तरह का परिवर्तन प्रस्तावित करते समय बहुत सतर्कता बरती जाए। इसका अद्भुत उदाहरण 1918 की मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट है जिसके 'कंडीशंस इन इंडिया' नामक पहले भाग में कहा गया है :

> जनता का एक प्रमुख व्यवसाय खेती है। सामान्य स्थितियों में इंग्लैंड जैसे अत्यधिक उद्योगीकृत देश में 100 में से 58 व्यक्ति उद्योग में और महज 8 कृषि में लगे थे। लेकिन भारत में प्रत्येक सौ व्यक्तियों में से 71 व्यक्ति कृषि या चरागाह में लगे हैं—समूचे भारत में 31 करोड़ 50 लाख लोगों में से 22 करोड़ 60 लाख आदमी धरती के सहारे जीते हैं और 20 करोड़ 80 लाख लोग प्रत्यक्ष रूप से अपनी या दूसरों की जमीन जोतकर या प्रत्यक्ष रूप से इनपर निर्भर रहकर अपना गुजर बसर करते हैं।

इसी प्रकार इंग्लैंड में सार्वजनिक तौर पर वितरित करने के लिए तैयार की गई 1930 की साइमन कमीशन रिपोर्ट ने, 'दि प्रीडामिनेन्स आफ ऐग्रिकल्चर' नामक अपने पहले भाग में उपर्युक्त अंश को उद्धृत किया और इस आशाजनक निष्कर्ष से अपने को खुश कर लिया कि इन कारणों से यहां परिवर्तन 'निश्चय ही बहुत धीमी गति से' होना चाहिए :

> भारत के गांवों में रहने वाले एक औसत व्यक्ति अतिप्राचीन काल से तीज त्यौहारों, मेलों और घरेलू समारोहों तथा अकाल और बाढ़ की भयावहता के सिलसिले से ग्रस्त हैं और इन परिस्थितियों में सामान्य राजनीतिक मूल्यांकन में किसी भी तरह की जल्दबाजी का काम या मौसम, पानी, फसलों और मवेशियों के परंपरागत और मनोरंजक अंश से परे हटकर ग्रामीण क्षितिज के विस्तार का काम निश्चय ही बड़ी धीमी रफ्तार से होगा।

कृषि पर भारतीय जनता की जबरदस्त निर्भरता और औद्योगिक देशों में मौजूद इसकी विपरीत स्थिति का यहां जो तथ्य प्रस्तुत किया गया है वह एकदम सही है। लेकिन इन तथ्यों को प्रस्तुत करते समय उन शक्तियों पर ध्यान नहीं दिया जाता है जो साम्राज्यवाद की उपनिवेशवादी व्यवस्था को संचालित करती हैं और जो इस स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं। इसी कारण जो तस्वीर सामने आती है वह गलत और गुमराह करने वाली तस्वीर होती है। इससे जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे भी गलत ही होते हैं क्योंकि भारत में तेजी से परिवर्तन लाने वाली शक्तियों का विकास ही तब होगा जब कृषि के क्षेत्र में संकट तेज होगा।

साम्राज्यवादियों द्वारा पेश की गई इस भौंड़ी तस्वीर में हमेशा उस तथ्य को नजरअंदाज किया गया है जो बताता है कि आबादी के तीन चौथाई भाग का, एकमात्र व्यवसाय के रूप में कृषि पर अत्यधिक, असंतुलित और खर्चीला दबाव आधुनिक युग में सांस ले रहे

प्राचीन आदिम भारतीय समाज की कोई वंशगत विशेषता नहीं है बल्कि वह जिस पैमाने पर आज सामने है वह सीधे सीधे साम्राज्यवादी शासन का ही दुष्परिणाम है और आधुनिक युग की वास्तविकता है। कृषि पर इस असंगत निर्भरता में ब्रिटिश शासनकाल में 'तेजी से वृद्धि' हुई है। यह उद्योग और कृषि के बीच चले आ रहे संतुलन के नष्ट होने का सूचक है और इससे यह पता चलता है कि भारत, साम्राज्यवाद का खेतिहर पुछल्ला बनकर रह गया है।

पिछले 50 वर्षों की जनगणना की यदि सरकारी रिपोर्ट देखें तो असली तस्वीर का पता चल जाता है। यह तस्वीर और भी ज्यादा साफ दिखाई दे सकती है बशर्ते इससे पहले के वर्षों के जनगणना संबंधी आंकड़े मिल जाएं। 19वीं सदी के शुरू के 75 वर्षों में ही भारत के उद्योग धंधों की मुख्य रूप से बरबादी हुई, पुराने आबाद औद्योगिक केंद्र उजड़ गए, इन केंद्रों के लोगों को गांवों में खदेड़ दिया गया और इनकी बरबादी के साथ साथ गांवों में रहने वाले लाखों दस्तकारों की जीविका भी छिन गई। इस अवधि का कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है; लेकिन हाल के कुछ दशकों के जनगणना आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि यह प्रक्रिया आज भी जारी है और हमारे युग में यह और भी तेज हुई है।

पहली जनगणना 1881 में हुई थी। लेकिन यह बेहद अधूरी थी और इससे किसी तरह की तुलना नहीं की जा सकती। व्यवसायरत लोगों की सूची में दर्ज 11 करोड़ 50 लाख पुरुष कामगरों में से 5 करोड़ 10 लाख व्यक्ति खेतिहर मजदूर थे। आधे से भी कम का यह अनुपात निश्चित रूप से काफी कम है। 1891 से 1921 तक के जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनसे काफी हद तक तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इनसे निम्न तस्वीर उभरती है :

कृषि पर निर्भर व्यक्तियों का प्रतिशत

1891	61.1
1901	66.5
1911	72.2
1921	73.0

1931 में वर्गीकरण के आधार में कुछ इस तरह की तबदीली कर दी गई थी जिससे ऐसा लगता था कि कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या कम होकर 65.6 प्रतिशत हो गई है। लेकिन यह परिवर्तन कागज पर ही था। '1921 से 1931 के बीच खेती और चरागाहों पर निर्भर लोगों की संख्या में ऊपरी तौर पर जो गिरावट आई है वह एक भ्रम है…जो वर्गीकरण में, न कि पेशे में परिवर्तन के कारण है…1921 से 1931 के बीच खेतीबारी में लगे लोगों की संख्या में मुश्किल से ही कमी आई है।' (ऐंस्टे : 'इकानामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया', पृष्ठ 61)। यह ध्यान देने की बात है कि इंडियन सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी ने 1931 में अपनी रिपोर्ट में कहा (पृष्ठ 39) :

भारत में खेती पर गुजर बसर करने वालों का अनुपात काफी अधिक है और इसमें लगातार वृद्धि हो रही है। 1891 में यह अनुपात 61 प्रतिशत था। 1901 में बढ़कर यह 66 प्रतिशत और 1921 में 73 प्रतिशत हो गया। 1931 में हुई जनगणना के आंकड़े हमारे पास उपलब्ध नहीं हैं लेकिन यह आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि 1931 में इस संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई है।

प्रोफेसर वाडिया और मर्चेंट ने भी यही निष्कर्ष निकाला कि 'यदि पुरानी जनगणना के दौरान अपनाई गई वर्गीकरण पद्धति का पालन किया गया होता तो, जहां तक कृषि का संबंध है, 1931 में खेती में लगे लोगों ही नहीं बल्कि इसपर निर्भर लोगों की संख्या सहित यह अनुपात कुल आबादी का 75 प्रतिशत तो निश्चित रूप से होता।' ('अवर इकानोमिक प्राब्लम', पृष्ठ 86)। वर्गीकरण के संशोधित आधार पर गणना करने पर भी 1931 में यह अनुपात 66.6 प्रतिशत है जो 1891 के अंक 61.1 प्रतिशत से अधिक है।

ब्रिटिश पूंजीवादी नीति की कार्यप्रणालियों के जरिए कृषि पर बढ़ती हुई निर्भरता के कारणों पर पांचवें अध्याय के उपशीर्षक-3 के अंतर्गत पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। 1911 के लिए नियुक्त जनगणना कमिश्नर ने, इन कारणों को स्पष्टतः उस समय मान्यता दे दी, जब उन्होंने लिखा :

> सस्ते यूरोपीय सामानों और बर्तनों के आयात ने तथा स्वयं भारत में पश्चिमी ढंग की अनेक फैक्टरियों की स्थापना ने कमोबेश अनेक ग्रामीण उद्योग धंधों को विनष्ट किया है। खेती से हुई पैदावार की ऊंची कीमतों को देखकर गांवों के कई दस्तकारों ने भी अपनी खानदानी कारीगरी छोड़कर खेती का काम शुरू किया है—पुरानी ग्रामीण संरचना का जिस मात्रा में विघटन हो रहा है, वह अलग अलग हिस्सों में उल्लेखनीय रूप से कम या अधिक है। अपेक्षाकृत विकसित सूबों में यह परिवर्तन सर्वाधिक उल्लेखनीय है। (सेंसस आफ इंडिया रिपोर्ट, 1911, खंड 1, पृष्ठ 408)

1911 के बाद से उद्योग धंधों के क्षेत्र में आई यह गिरावट और इसके कारण कृषि पर आज भी एकतरफा निर्भरता चरम सीमा पर पहुंच गई है। 1911 से 1931 के बीच उद्योग धंधों में लगे लोगों की संख्या में 20 लाख से भी ज्यादा की कमी आई जबकि आबादी में 3 करोड़ 80 लाख की वृद्धि हुई।

उद्योग धंधों पर निर्भर आबादी का प्रतिशत

1911	5.5
1921	4.9
1931	4.3

इन बीस वर्षों में जहां आबादी में 12 प्रतिशत की वृद्धि हुई वहीं उद्योग धंधों में लगे लोगों की संख्या में 12 प्रतिशत की कमी भी आई। इसके साथ ही कुल आबादी के अनुपात में औद्योगिक मजदूरों के प्रतिशत में पांचवें हिस्से से भी ज्यादा की कमी आई और 1941 में इसमें 4.2 प्रतिशत की और गिरावट आई। इससे पता चलता है कि 'अनुद्योगीकरण' की विनाशकारी प्रक्रिया लगातार जारी थी अर्थात पुराने हस्तशिल्प उद्योग का विनाश हो रहा था और उसके स्थान पर आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हो रहा था जिसके फल-स्वरूप खेती पर आबादी का दबाव निरंतर बढ़ता जा रहा था।

इसके साथ ही भोजन के काम आने वाली फसलों की तुलना में उन खाद्य फसलों की उपज में वृद्धि हुई। 1892-93 से 1919-20 के बीच खाद्य पदार्थवाली फसलों के क्षेत्रफल में 18 करोड़ 70 लाख से लेकर 21 करोड़ एकड़ की अर्थात कुल 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि उन खाद्य फसलों का क्षेत्रफल 3 करोड़ एकड़ से बढ़कर 4 करोड़ 30 लाख एकड़ हो गया अर्थात कुल 43 प्रतिशत की वृद्धि हुई। (वाडिया और जोशी, 'वैल्थ आफ इंडिया') हाल के वर्षों में यह प्रक्रिया और भी तेजी से जारी रही। 1910-11 से 1914-15 और 1934-35 के पांच वर्षों का औसत यदि लें तो पता चलता है कि खाद्य पदार्थवाली फसलों के क्षेत्रफल में 12.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और उन खाद्य फसलों में 54 प्रतिशत की वृद्धि हुई (आर० मुखर्जी की पुस्तक 'फूड प्लानिंग फार फोर हंड्रेड मिलियंस' पृष्ठ 16 पर बनी तालिका देखें)। 1934-35 से 1939-40 के दौरान उन खाद्य फसलों के क्षेत्रफल में 1 करोड़ 60 लाख एकड़ की वृद्धि की तुलना में खाद्य फसलों के क्षेत्रफल में वस्तुत: गिरावट आई और यह 15 लाख एकड़ दर्ज की गई। कपास का निर्यात 1900-1 में 178,000 टन किया गया जो 1936-37 में बढ़कर 762,133 टन हो गया। इससे पता चलता है कि 328 प्रतिशत की वृद्धि हुई (1939-40 में यह राशि 526,411 टन थी), 1900-1 में कुल 19 करोड़ पौंड चाय का निर्यात किया गया जो 1939-40 में बढ़कर 35 करोड़ 90 लाख पौंड हो गया, 1900-1 में 549,000 टन तिलहन का निर्यात किया गया जो 1938-39 में बढ़-कर 1,172,802 टन हो गया।

इस प्रकार ब्रिटिश पूंजीवादी नीति का प्रत्यक्ष दुष्परिणाम यह है कि कृषि पर दिन ब दिन अधिक से अधिक दबाव बढ़ता गया, निर्यात के लिए उन खाद्य फसलों के उत्पादन पर निरंतर जोर दिया जाने लगा (साथ में भारत की जनता की भुखमरी भी बढ़ती गई) और इस नीति ने भारत को कच्चे माल के स्रोत तथा अपने माल की मंडी बनाकर रख दिया।

लेकिन कृषि पर यह जबरदस्त दबाव और किसानों के शोषण की सामाजिक स्थितियां ही भारतीय जनता की गरीबी की बुनियाद हैं। भारत में ब्रिटिश पूंजीवादी नीति का सीधा नतीजा यह है कि पुरानी पद्धति से की जाने वाली खेती पर लगातार जरूरत से ज्यादा दबाव डाला गया और यही भारतीय जनता की निर्धनता की बुनियादी स्थिति है। 1880

के अकाल आयोग ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था, उसने लिखा :

> भारत की जनता की गरीबी और अभाव के दिनों में आसन्न खतरों की जड़ में जो दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति है वह यह है कि यहां की जनता का एकमात्र व्यवसाय खेती है।

आज से एक सौ वर्ष पूर्व 1840 में, चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने हाउस आफ कामंस की प्रवर समिति को बताया था :

> हमने उनके उत्पादनों का सफाया कर दिया, उनके पास अपनी जमीन से हुई उपज के अलावा और कुछ नहीं है जिस पर वे निर्भर कर सकें।

एक शताब्दी बाद 1928 में कृषि के बारे में शाही आयोग ने वही पुरानी दुखभरी कहानी दुहराई (रिपोर्ट, पृष्ठ 433) :

> जमीन पर लोगों का बढ़ता दबाव, जीवनयापन के लिए किसी वैकल्पिक साधन का न होना, बचाव का कोई रास्ता पाने में कठिनाई, और वह प्रारंभिक युग जिसमें एक कमाने वाला और दस खाने वाले होते थे, इन सारी बातों ने किसान को इस बात के लिए मजबूर कर दिया था कि जहां भी और जिस भी शर्त पर संभव हो वह अनाज पैदा करे।

2. कृषि पर अत्यधिक दबाव के नतीजे

कृषि पर अत्यधिक संख्या में लोगों की निर्भरता का अर्थ यह है कि भारत की वर्तमान पिछड़ी हुई खेती को, एक बढ़ती हुई आबादी के दिनोंदिन ज्यादा होते भाग को जीविका के साधन देने पड़ते हैं।

दूसरी तरफ, जमीन के एकाधिकार तथा किसानों को अपाहिज बनाने वाले शोषण के कारण खेती का विकास मौजूदा व्यवस्था के अंतर्गत ऐसी सीमाओं में कैद हो गया है कि वर्तमान खेती आबादी की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में अत्यधिक असमर्थ हो गई है।

यही वह दुर्दम्य स्थिति है जिसने भारत की खेती को अपने शिकंजे में कस लिया है। कृषि के क्षेत्र में संकट की जड़ में यही कारण है। इसका नतीजा हम खेती के विकास में आए ठहराव में देख सकते हैं। यहां तक कि कृषि पर लदे असहनीय बोझ के कारण उत्पादन के वर्तमान स्तर में गिरावट के और कृषि में जुटे लोगों की तबाह हालत के भी संकेत देखे जा सकते हैं।

खेती पर बढ़ते हुए अत्यधिक दबाव का अर्थ यह है कि कृषि के कार्य में लगे प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपलब्ध जमीन में कमी आती जा रही है। 1911 में सर थामस होल्डरनेस ने लिखा था :

> संरक्षित देशी राज्यों सहित भारत की कुल आबादी साढ़े इकतीस करोड़ है। इस विशाल आबादी का तीन चौथाई हिस्सा कृषि पर निर्भर है। देशी राज्यों के बारे में प्राप्त विवरण चूंकि अपूर्ण है इसलिए इस बात की सही सही जानकारी नहीं है कि कुल कितनी जमीन में खेती होती है। लेकिन यदि हम यह मानकर चलें कि जो हिस्सा कृषि पर सीधे सीधे निर्भर है, उसमें प्रति व्यक्ति के हिस्से में सवा एकड़ जमीन आती है, तो ज्यादा गलत नहीं होगा···
>
> भारत की जमीन न सिर्फ इस बड़ी आबादी को भोजन देती है बल्कि उसके काफी बड़े हिस्से को उन चीजों की पैदावार के लिए अलग कर दिया गया है जो देश से बाहर निर्यात के लिए बोई जाती है···दरअस्ल यह मुख्यतया खेती से हुई उपज को बेचकर आयात के लिए अपने बिलों का भुगतान करती है और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान करती है। इस प्रकार विदेशी बाजार को माल सप्लाई करने के लिए इस्तेमाल होने वाली जमीन को कृषि के काम में लगी कुल जमीन में से घटाने से जो जमीन बचती है वह भारत की कुल आबादी के बीच 2/3 एकड़ प्रति व्यक्ति से ज्यादा नहीं पड़ती। इसलिए 2/3 एकड़ प्रति व्यक्ति से जितनी पैदावार हो पाती है, उसी से भारत की आबादी को भोजन और कुछ हद तक कपड़ा मिलता है। विश्व में शायद ही कोई देश हो जहां जमीन से इतना काम लिया जाता हो। (सर थामस होल्डरनेस, 'पीपुल्स और प्राब्लम्स आफ इंडिया', 1911, पृष्ठ 139)

1917 में बंबई के कृषि निदेशक, डा० हेराल्ड एच० मान ने पूना के एक खास गांव की जांच के परिणाम प्रकाशित किए। जांच के दौरान उन्होंने देखा कि 1771 में औसत जोत 10 एकड़ थी। 1818 में यह 17½ एकड़ थी। 1820-40 में यह घटकर 14 एकड़ हो गई और 1914-15 में महज 7 एकड़ रह गई। उन्होंने जांच के दौरान पाया कि 81 प्रतिशत जोतें 'अत्यंत अनुकूल परिस्थितियों में भी अपनी मिल्कियत नहीं बनाए रख सकीं।' उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला :

> इससे यह जाहिर है कि पिछले 60 या 70 वर्षों में जमीन की जोतों का स्वरूप बदल गया है। ब्रिटिश शासन से पहले के दिनों में और ब्रिटिश शासनकाल के प्रारंभिक दिनों में जोतों का आकार आमतौर से ठीक ठाक था। अधिकांश मामलों में यह 9 या 10 एकड़ से अधिक था और 2 एकड़ से कम की व्यक्तिगत जोतें शायद ही कहीं थीं। अब जोतों की संख्या दुगुनी से भी ज्यादा हो गई है और इन

> जोतों में से 81 प्रतिशत जोतों का आकार 10 एकड़ से कम है जबकि कम से कम 60 प्रतिशत जोतें 5 एकड़ से भी कम की हैं। (डाक्टर एच० एच० मान : 'लैंड ऐंड लेबर इन ए डकन विलेज,' खंड 1, 1917, पृष्ठ 46)

अन्य सूबों के लिए भी इसी तरह के नतीजे मिले हैं। श्री कीटिंग ने विचार व्यक्त किया है कि 'बंबई प्रेसीडेंसी की कृषीय जोतें काफी बड़े पैमाने पर ऐसी स्थिति में पहुंच गई हैं जिसमें उनकी कारगर ढंग से खेती असंभव है,' और डा० स्लेटर की खोज के अनुसार 'मद्रास के कुछ हिस्सों में इसी तरह की स्थितियां मौजूद हैं। अन्य सूबों में स्थितियां काफी हद तक ऐसी ही हैं।' (एग्रीकल्चरल कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ 132)

1921 की जनगणना के अनुसार प्रति व्यक्ति कृषि भूमि की संख्या एकड़ में इस प्रकार है :

मद्रास	4.9	बर्मा	5.6
संयुक्त प्रांत	2.5	पंजाब	9.2
आसाम	3.0	मध्य प्रांत और बरार	8.5
बिहार और उड़ीसा	3.1	बंबई	12.2
बंगाल	3.1		

ये औसत संख्याएं हैं जिनमें बहुसंख्यक की अत्यधिक कमी को अल्पसंख्यक की बड़ी बड़ी जोतों से अंशतः छिपाया गया है।

'सोशल ऐंड इकानामिक सर्वे आफ ए कोंकण विलेज', (प्रांतीय सहकारिता संस्थान, बंबई द्वारा प्रकाशित, रूरल इकानामिक सीरीज, संख्या-3) के नतीजों से पता चलता है कि 192 एकड़ की कृषियोग्य भूमिवाले एक गांव में ऐसे 24 व्यक्तियों के पास 113 एकड़ जमीन या औसतन प्रति व्यक्ति 4.71 एकड़ जमीन थी जो खेती नहीं करते थे जबकि 28 खेतिहरों के पास कुल 78 एकड़ या प्रति व्यक्ति 2.85 एकड़ जमीन थी।

मलाबार के एक गांव के आर्थिक जीवन, 'इकानामिक लाइफ इन ए मलाबार विलेज' (मद्रास विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र सीरीज नं० 2 द्वारा प्रकाशित) के सर्वेक्षण से पता चलता है कि उक्त गांव में 34 प्रतिशत जोतें 1 एकड़ से कम की थीं।

स्थाई अधिकारविहीन कृषकों के संबंध में अर्थात कृषकों की बहुसंख्या के संबंध में कृषि संबंधी आयोग की रिपोर्ट के अनुसार (पृ० 133) :

> सूबे के आंकड़ों में केवल पंजाब के आंकड़े उपलब्ध हैं जिनसे यह पता चलता है कि 22.5 प्रतिशत किसान एक एकड़ या इससे कम में खेती करते हैं, 15.4 प्रतिशत किसान एक से ढाई एकड़ जमीन में, 17.9 प्रतिशत किसान ढाई से पांच एकड़ जमीन में और 20.5 प्रतिशत किसान 5 से 10 एकड़ जमीन में

> खेती करते हैं। बंबई को छोड़कर जिसके नतीजे संभवत: काफी हद तक पंजाब जैसे होंगे और बर्मा को छोड़कर जहां यह औसत अपेक्षाकृत काफी अधिक होगा, अन्य सभी सूबों में प्रति कृषक औसत जमीन काफी कम है।

इस प्रकार अपेक्षाकृत अधिक 'समृद्ध' पंजाब में भी (जो अन्य सूबों की अपेक्षा कम समय तक ब्रिटिश शासन के अधीन रहा है), आबादी का एक तिहाई से अधिक भाग ढाई एकड़ से कम में और आधे से अधिक भाग 5 एकड़ से कम में खेती करता है।

बंगाल में, 1921 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार प्रति कार्यरत किसान द्वारा जोती गई जमीन 2.2 एकड़ थी। 1921 की बंगाल जनगणना रिपोर्ट ने लिखा कि 'ये आंकड़े खुद ही कृषकों की गरीबी के बारे में बताते हैं।'

ये ऐसे तथ्य हैं जिनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। इनसे जमीन के लिए एक पुरानी और निरंतर बढ़ने वाली भयंकर भूख का पता चलता है। ये सारे तथ्य केवल एक दिशा की ओर संकेत करते हैं और यह संकेत ठीक वैसा ही है जैसा रूस के कृषीय इतिहास ने इस तरह के तथ्यों से संकेत दिया था।

3. खेती में ठहराव और गिरावट

क्या जमीन के लिए इस पुरानी और बढ़ती हुई भूख का अर्थ यह है कि हमारे सामने आबादी की तुलना में, प्रकृति द्वारा अनिवार्य रूप से थोपी गई भूमि की कमी की समस्या है ? स्थिति इसके एकदम विपरीत है। आजकल व्यापक रूप से फैली हुई इस धारणा के बावजूद यदि तथ्यों की जांच करें तो पता चलेगा कि स्थिति कुछ और ही है (प्रमाण के लिए देखें अध्याय 2, उपशीर्षक 3)।

समस्या यह नहीं है कि भारत में भूमि की बेहद कमी है। जो कमी महसूस होती है उसका कारण प्रथमत: यह है कि प्रतिबंधों और विकास की उपेक्षा की वजह से उपलब्ध कृषियोग्य जमीन का पूरा पूरा उपयोग नहीं किया जाता। दूसरे, यह कमी इस कारण पैदा हुई है कि जिस जमीन में खेती होती है, उसमें उत्पादन का स्तर बहुत गिरा हुआ है। इसकी वजह है वर्तमान समाज व्यवस्था का दुर्दम्य बोझ जिसने कृषि को अपाहिज बना दिया है और तकनीकी विकास तथा व्यापक संगठन के मार्ग में आने वाली बाधाएं।

अनुमान लगाया गया है कि तकनीक के छोटे पैमाने पर इस्तेमाल के बावजूद, भारत में उपलब्ध समूची कृषियोग्य भूमि में यदि भूमि सुधार और सिंचाई के आवश्यक उपाय काम में लाए जाएं, तो 44 करोड़ 70 लाख लोगों की जीविका चल सकती है। यह संख्या वर्तमान आबादी से 7 करोड़ अधिक की संख्या है। (आर० मुखर्जी ; 'फूड प्लानिंग फार फोर हंड्रेड मिलियंस', पृष्ठ 26)।

भारतीय अर्थशास्त्री आर० के० दास का अनुमान है कि कृषियोग्य उपलब्ध भूमि का 70 प्रतिशत भाग बेकार जाता है और उत्पादन संबंधी कार्यों के लिए केवल 30 प्रतिशत भाग का इस्तेमाल होता है :

> वस्तुत: जितनी जमीन में फसल बोई जाती है वह कुल मिलाकर 22 करोड़ 80 लाख एकड़ है जो कृषियोग्य समूची भूमि का 53 प्रतिशत है। लेकिन जिन खेतों में एक बार से अधिक फसल बोई गई है, उन्हें यदि प्रत्येक फसल के लिए अलग खेत मानें तो कुल जमीन, जिसमें खेती की जाती है, 26 करोड़ 20 लाख एकड़ होती है। यहां की जलवायु का शुक्रिया अदा करना चाहिए जिसमें कृषियोग्य भूमि के उल्लेखनीय हिस्से में साल में दो से अधिक फसल बोई जा सकती हैं। लेकिन दूसरी तरफ, कुल जमीन का एक हिस्सा ऐसा है जिसमें एक बार से अधिक फसल नहीं बोई जा सकती और कुछ खेत तो ऐसे भी हैं जिनमें आने वाले कुछ वर्षों में एक भी फसल नहीं बोई जा सकती। इसलिए यह माना जा सकता है कि औसतन कुल कृषियोग्य भूमि में साल में दो फसलें बोई जा सकती हैं। इस प्रकार क्षमतायुक्त कृषियोग्य भूमि लगभग 86 करोड़ 40 लाख एकड़ है जिसमें से केवल 26 करोड़ 20 लाख एकड़ या 30 प्रतिशत भूमि का उत्पादन कार्य के लिए इस्तेमाल होता है और 60 करोड़ 20 लाख एकड़ या 70 प्रतिशत बेकार पड़ी रहती है। (आर० के० दास : 'दि इंडस्ट्रियल एफिसिएंसी आफ इंडिया', 1930, पृष्ठ 13)

वस्तुत: वर्तमान मंदी के प्रभाव के कारण लगी रोक से पहले तक, पिछले 25 वर्षों में, खेती की जाने वाली मौजूदा भूमि का क्षेत्रफल आबादी की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ा। निम्न तालिका से इसका संकेत मिलता है :

खेती की गई जमीन और जनसंख्या का सूचक अंक

	जनसंख्या	बोई गई कुल जमीन	खाद्यान्नवाली जमीन
युद्धपूर्व का औसत (1910-11 से 1914-15)	100	100	100
1930-31	107	118.6	113.9
1934-35	120	117.2	112.4

(आर० मुखर्जी : 'फूड प्लानिंग फार फोर हंड्रेड मिलियंस', पृष्ठ 16-17)

इस प्रकार 1910-14 से 1930-31 के बीच जनसंख्या में सात प्रतिशत की वृद्धि हुई लेकिन खेती करने वाली जमीन में 18.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इधर हाल के वर्षों में युद्ध के

फलस्वरूप आई मंदी के कारण कृषियोग्य भूमि के क्षेत्र में बेहद कमी के अशुभ संकेत मिले हैं और खाद्यान्नोंवाले क्षेत्र में तो और भी ज्यादा कमी हुई है। किंतु इन सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि कृषियोग्य भूमि का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसपर अभी खेती नहीं की जा रही है। मौजूदा आंकड़ों से यह तस्वीर और साफ होती है :

ब्रिटिश भारत का कृषीय क्षेत्र, 1939-40
(बर्मा को छोड़कर)

	एकड़-करोड़ में
सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त कुल भूमि का क्षेत्रफल	51.27
जंगलवाली भूमि	6.81
खेती के लिए अनुपलब्ध भूमि	8.93
बंजर के अलावा कृषियोग्य बेकार पड़ी भूमि	9.72
बंजर भूमि	4.73
फसल बोई गई कुल जमीन	20.99

('स्टेटिस्टिकल ऐब्स्ट्रेक्ट फार ब्रिटिश इंडिया')

इस प्रकार कृषियोग्य कुल 35 करोड़ 50 लाख एकड़ जमीन के महज 59 प्रतिशत हिस्से में फसल बोई गई है जबकि 13.2 प्रतिशत जमीन बंजर पड़ी है और खेती लायक कम से कम 27.3 प्रतिशत जमीन बेकार पड़ी है। यह भी ध्यान देने की बात है कि सरकारी तौर पर कुल जमीन के छठे हिस्से से भी अधिक भाग के बारे में कहा गया है कि यह जमीन 'कृषि के लिए उपलब्ध नहीं है' लेकिन कृषि संबंधी आयोग की रिपोर्ट में यह कहना पड़ा (पृष्ठ 605) कि 'यह विश्वास करना कठिन है कि कृषि के लिए अनुपलब्ध खाने में जिस जमीन को डाला गया है वह या तो उपलब्ध नहीं है या खेती के लिए उपयुक्त नहीं है।' इसीलिए यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण हैं कि कृषियोग्य वह जमीन जिसपर खेती नहीं की गई है, सरकारी आंकड़े से 27.3 प्रतिशत से भी ज्यादा है और एक तिहाई के करीब भी हो सकती है।

इस विशाल जमीन का, जो 'बंजर नहीं थी और कृषियोग्य होने के बावजूद बेकार पड़ी थी' क्या स्वरूप है और क्या कारण है कि उसपर खेती नहीं की गई ? यह जानना जरूरी है कि विभिन्न प्रांतों में इस जमीन की मात्रा अलग अलग थी। यहां तक कि सबसे ज्यादा आबादीवाले और सबसे अधिक विकसित प्रांतों बंगाल, मद्रास या संयुक्त प्रांत में 'बंजर को छोड़कर कृषियोग्य बेकार भूमि' की मात्रा काफी अधिक थी। बंगाल में यह 18 प्रतिशत, मद्रास में 21 प्रतिशत और संयुक्त प्रांत में 20,3 प्रतिशत थी। इस सवाल का जवाब सर

जेम्स केर्ड की रिपोर्ट में 1879 में ही दे दिया गया था। यह रिपोर्ट अकाल आयोग के बारे में थी और इसे भारत के मामलों के मंत्री को सौंपा गया था :

> भारत में उपलब्ध अच्छी जमीन के लगभग पूरे हिस्से पर दखल किया जा चुका है। देश के विभिन्न हिस्सों में ऐसी बहुत सी अच्छी जमीन बेकार पड़ी है जिसपर जंगल लगे हुए हैं और जिसे साफ करके तथा सुधार करके खेती के योग्य बनाया जा सकता है लेकिन इस काम को पूरा करने के लिए पूंजी की जरूरत है और जनता के पास ऐसे कामों में लगाने के लिए पूंजी नहीं है। (सर जेम्स केर्ड की रिपोर्ट भारतीय मामलों के मंत्री के नाम, 31 अक्तूबर 1879)

ऐसी बात नहीं है कि इस जमीन में खेती नहीं की जा सकती थी। लेकिन यहां के किसान बेहद गरीब हैं, उनके पास यदि एक औंस भी अतिरिक्त राशि आती है तो उससे ज्यादा जबरन वसूल ली जाती है जिसकी वजह से किसानों का एक विशाल जनसंख्या जीवनयापन के स्तर से भी निम्न स्तर पर अपनी गुजर कर रहा है। यही कारण है कि इस कार्य को पूरा करने के लिए उनके पास कोई साधन नहीं है। यह कार्य महज सरकार की सहायता से सामूहिक संगठन के जरिए और समुदाय के अतिरिक्त साधनों को उत्पादन के इस महत्त्वपूर्ण विस्तार कार्य में लगाकर ही पूरा किया जा सकता है। सरकार ने अपनी इस जिम्मेदारी को कभी महसूस नहीं किया और इसी स्थल पर आकर वर्तमान सरकारी और सामाजिक व्यवस्था की असाधारण विफलता की अभिव्यक्ति होती है। इस व्यवस्था ने ब्रिटिश शासनकाल से पहले की सरकारों द्वारा सार्वजनिक निर्माण और सिंचाई के कार्यों की देखरेख करने में पूरी तरह उपेक्षा की और किसानों से जबरदस्ती उनकी संपत्ति वसूल कर उनके हाथ से खेती का काम छीन लिया। इसके साथ ही अभी हाल के वर्षों में भूमिसुधार और सिंचाई कार्यों की जो शुरुआत की गई है वह इसकी संभावनाओं और आवश्यकताओं की तुलना में नगण्य है।

शुरू में सरकार ने सिंचाई तथा सार्वजनिक निर्माण कार्यों के प्रति उपेक्षा का जो रवैया अपनाया उसके लिए उसे काफी कुख्याति प्राप्त हो चुकी है और मार्क्स ने तो इसका बहुत पहले ही उल्लेख किया था :

> एशिया में अति प्राचीन काल से सामान्यतया सरकार के तीन विभाग काम करते हैं : पहला वित्त विभाग अर्थात घरेलू स्तर पर लूटपाट करने वाला विभाग, दूसरा युद्ध विभाग अर्थात विदेशों के स्तर पर लूटपाट करने वाला विभाग और अंतिम सार्वजनिक निर्माण विभाग···भारत में अंगरेजों ने अपने पूर्ववर्ती शासकों से वित्त और युद्ध विभाग तो ले लिया लेकिन उन्होंने सार्वजनिक निर्माण विभाग की पूरी तरह उपेक्षा की। इसलिए कृषि के क्षेत्र में काफी गिरावट आई

> क्योंकि ब्रिटिश शासकों के मुक्त प्रतिस्पर्धा, अहस्तक्षेप और स्वच्छंदता के सिद्धांत के आधार पर कृषि का काम नहीं चल सकता था। (कार्ल मार्क्स : 'दि ब्रिटिश रूल इन इंडिया,' न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून, 25 जून 1853)

1838 में एक प्रेक्षक (जी० थाम्सन : 'इंडिया ऐंड दि कालोनीज,' 1838) ने लिखा था कि 'देश की सेवा के लिए और जनता की भलाई के लिए हिंदू या मुसलमान सरकारों ने जिन सड़कों, तालाबों और नहरों का निर्माण किया था उनकी हालत आज जीर्ण शीर्ण हो गई है, आज स्थिति यह है कि सिंचाई के साधनों के अभाव में जनता को अकाल का सामना करना पड़ रहा है।' भारत में आधुनिक सिंचाई कार्य के पथप्रदर्शक सर आर्थर काटन ने 1854 में अपनी पुस्तक 'पब्लिक वर्क्स इन इंडिया' में जो कुछ लिखा वह मार्क्स से भी ज्यादा तीखा है :

> समूचे भारत में सार्वजनिक निर्माण कार्य की लगभग पूरी तरह उपेक्षा की गई है··· यहां का नारा बस यही रहा है कि कुछ मत करो, कुछ मत करने दो और कुछ करने की जरूरत नहीं है; हर तरह का घाटा उठाओ, जनता को अकाल से मरने दो, लाखों लोगों को पानी और सड़क के लिए पैसा वसूल कर कंगाल बना दो··· (लेफ्टिनेंट कर्नल काटन : 'पब्लिक वर्क्स इन इंडिया,' 1854, पृष्ठ 272)

मांटगुमरी मार्टिन ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'दि इंडियन इंपायर' (1858) में लिखा है कि पुरानी ईस्ट इंडिया कंपनी ने 'विकास कार्य शुरू तो नहीं ही किए, उसने उन पुराने निर्माण कार्यों की मरम्मत की भी उपेक्षा की जिससे उसे राजस्व प्राप्त होता था।' निश्चय ही यह उपेक्षा ब्रिटेन के अंदर समकालीन ब्रिटिश अप्रबंधित व्यापार की तुलना में उल्लेखनीय रूप से और भी ज्यादा तेज हुई। जैसा जान ब्राइट ने 24 जून 1858 को हाउस आफ कामंस में कहा : 'अकेले मानचेस्टर शहर ने अपने निवासियों को केवल पानी की सप्लाई पर जो राशि खर्च की है वह राशि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपने विशाल डोमीनियन में 1834 से 1848 के 14 वर्षों के दौरान सार्वजनिक निर्माण के प्रत्येक कार्य पर खर्च की गई राशि से कहीं ज्यादा है।'

यहां तक कि 1900 तक सरकार ने रेल व्यवस्था के निर्माण पर अपने कोष से 22 करोड़ 50 लाख पौंड खर्च किए ताकि भारत में ब्रिटिश व्यापार की घुसपैठ हो सके लेकिन इस अवधि तक कृषि जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य के लिए आवश्यक नहरों के निर्माण पर केवल ढाई करोड़ पौंड खर्च किए गए। यह राशि रेल व्यवस्था पर खर्च की गई राशि का नवां हिस्सा है।

इससे पहले कि हम यह मानें कि यह उपेक्षा अतीत में ही बरती गई और वर्तमान युग में

अब इन चीजों पर ध्यान दिया जा रहा है, यहां 1930 में बंगाल सिंचाई विभाग समिति की हाल की एक रिपोर्ट का उल्लेख करना काफी प्रासंगिक होगा :

> प्रत्येक जिले में नाव के जरिए सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने के लिए जो नहरें बनाई गई हैं उनमें समय बीतने के साथ ही पानी सूखता जा रहा है और वह दलदल का रूप ले रहा है। पूर्वी बंगाल में नहरें और नदियां ही वहां की सड़कें और राजमार्ग हैं। इस प्रांत के लोगों के आर्थिक जीवन के लिए इनका कितना महत्व है इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। (पृष्ठ 6)
>
> मध्य बंगाल आज एक पतनशील भूभाग बन गया है। यहां बड़े पैमाने पर मलेरिया का खतरा है, जनसंख्या में तेजी से कमी आ रही है और जमीन की उत्पादन क्षमता नष्ट हो रही है। बेशक यह कहा जा सकता है कि गिरावट की यह स्थिति अब इतनी आगे बढ़ चुकी है कि इसपर रोक नहीं लगाई जा सकती और अब यह क्षेत्र लाजमी तौर पर धीरे धीरे दलदल और जंगल में बदल जाएगा। (पृष्ठ 11)
>
> जहां तक छोटे मोटे रास्तों के रखरखाव और उनको फिर से शुरू करने की बात है··· व्यावहारिक रूप से कुछ भी नहीं किया गया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि इस सूबे के कुछ हिस्सों में नहरें सूख गई हैं, नावों का चलना वर्ष में कुछ ही महीनों तक हो पाता है और फसल को बाजार में तभी भेजा जा सकता है जब बरसात के पानी से नहरें इस लायक हो जाएं कि नावों के जरिए एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाया जा सके। (पृष्ठ 11) (बंगाल की सिंचाई विभाग समिति की रिपोर्ट, 1930)

जल विज्ञान (हाइड्रोलिक्स) के प्रमुख इंजीनियर सर विलियम विलकाक्स ने बंगाल की सिंचाई व्यवस्था के पतन पर अपना जो निर्णय दिया था वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है :

> विख्यात हाइड्रोलिक इंजीनियर सर विलियम विलकाक्स का नाम मिस्र और मैसोपोटामिया में किए गए विशाल सिंचाई कार्यों के साथ जुड़ा हुआ है। उन्होंने हाल ही में बंगाल की स्थिति की छानबीन की। अपनी खोज के द्वारा उन्होंने पता लगाया कि डेल्टा क्षेत्र की असंख्य विनाशकारी छोटी नदियां निरंतर अपना मार्ग बदल रही हैं और यह मूलतः नहरें थीं जिन्हें अंगरेजी शासनकाल ने खतरनाक नदियों का रूप दे दिया। पहले इन नहरों से गंगा की बाढ़ का पानी इधर उधर बंट जाता था और इससे खेतों की उचित ढंग से सिंचाई हो जाती थी। इन्हीं नहरों के कारण बंगाल की समृद्धि इस सीमा तक बढ़ गई थी कि 18वीं सदी के प्रारंभिक दिनों में ईस्ट इंडिया कंपनी के सौदागरों की लालच भरी निगाहें

इसकी तरफ आकर्षित हुई···इस बुनियादी नहर व्यवस्था को विकसित करने और इसका इस्तेमाल करने की कोई कोशिश कभी नहीं की गई उल्टे रेलवे के तटबंधों को क्रमशः तोड़ दिया गया जिससे नहरों का पूरी तरह विनाश हो गया। गंगा के पानी के साथ दोमट मिट्टी तमाम इलाकों में पहुंचती थी जिससे जमीन की उत्पादन क्षमता बढ़ती थी लेकिन इन इलाकों को गंगा के जल से अलग थलग कर दिया गया और वे धीरे धीरे बंजर तथा अनुर्वर होते गए। कुछ अन्य इलाकों में पानी की निकासी का उचित प्रबंध न होने से काफी बड़े पैमाने पर पानी एक ही जगह इकट्ठा होने लगा जिससे अनिवार्य रूप से मलेरिया फैल गया। इसके अलावा गंगा के ढालू बहाव के लिए उचित तटबंधों के निर्माण की कोई कोशिश नहीं की गई जिसका नतीजा यह हुआ कि प्रति वर्ष बड़े पैमाने पर मिट्टी के कटाव से अनेक गांव, पेड़ पौधे और खड़ी फसलवाले खेत गंगा की गोद में समाने लगे।

सर विलियम विलकाक्स ने आधुनिक प्रशासकों और अधिकारियों की कटु आलोचना की है। उनका आरोप है कि ये लोग तकनीकी सहायता के लिए किसी भी विशेषज्ञ को कभी भी बुला सकते थे और सलाह ले सकते थे लेकिन उन्होंने इस विनाशकारी स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए कुछ भी नहीं किया। इसका नतीजा यह हुआ कि हर दशक में स्थिति बदतर होती गई। (जी० इमरसन : 'वायसलेंस मिलियंस' 1931, पृष्ठ 240-41)

सर विलियम विलकाक्स का समूचा बयान उनकी पुस्तक 'लेक्चर्स आन दि एनसिऐंट सिस्टम आफ इरिगेशन इन बंगाल ऐंड इट्स ऐप्लीकेशन टू माडर्न प्राब्लम्स' (कलकत्ता यूनिवर्सिटी रीडरशिप लेक्चर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1930) में मिल सकता है। इसके साथ ही उस विवाद के अंश भी मिल जाएंगे जो बंगाल में सिंचाई के बारे में सर विलियम विलकाक्स के लेक्चर पर बंगाल के सिंचाई विभाग के भूतपूर्व चीफ इंजीनियर सी० ऐडम्स विलियम्स सी० आई० ई० ने उठाए थे। साथ में श्री विलयम्स द्वारा उठाए गए मुद्दों पर सर विलियम विलकाक्स का जवाब भी उपलब्ध हो जाएगा। (बंगाल सक्रेटेरियट बुक डिपार्टमेंट, 1931)

इस प्रकार जो लापरवाही और उदासीनता बरती गई है वह किसी भी अर्थ में ब्रिटिश शासनकाल के पिछले डेढ़ सौ वर्षों के इतिहास की बात नहीं है बल्कि वह आज के युग में भी जारी है। 1930 की एक सरकारी रिपोर्ट की शब्दावली में कहें तो मौजूदा कृषियोग्य भूमि पर अत्यधिक दबाव बढ़ने और भूमि की बेहद कमी की स्थिति में 'जमीन फसल पैदा करने की अपनी क्षमता खोती जा रही है।' 1789 में लार्ड कार्नवालिस ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा शासित प्रदेश का अधिकांश 'जंगली जानवरों से भरे हुए जंगल के रूप में' तबदील होता जा रहा है। 1930 में मध्य बंगाल के बारे में सरकारी समिति की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि 'निश्चय ही यह स्थिति हो सकती है कि समूची

स्थिति में इस सीमा तक गिरावट आ गई है कि अब इसमें सुधार नहीं किया जा सकता और यह भूभाग धीरे धीरे दलदल और जंगल का रूप लेने के लिए अभिशप्त है।

लेकिन भारत के किसानों की अत्यधिक संख्या को अपनी फसलें महज कृषियोग्य भूमि के 59 प्रतिशत हिस्से तक ही सीमित नहीं करना होगा। कृषियोग्य भूमि के इस सीमित क्षेत्र के अंदर भी यहां की सामाजिक स्थितियां, किसानों को अपाहिज बना देने वाला बोझ, उनकी भयंकर गरीबी और आदिकालीन तकनीक जिसे विकसित करने का कोई साधन उनके पास नहीं छोड़ा गया, का अर्थ यह है कि भारत में अन्य देशों की तुलना में खेती करने वालों की अधिक जरूरत है। उत्पादन का स्तर किसी भी देश की तुलना में बहुत कम है।

यदि हम भारत में हुई चावल और गेहूं की उपज की तुलना चीन, जापान या अमरीका की पैदावार से करें तो हमें महत्वपूर्ण विषमता दिखाई देगी :

प्रति एकड़ में हुई उपज (क्विंटल में)

	भारत	चीन	जापान	अमरीका
चावल	16.5	25.6	30.7	16.8
गेहूं	8.1	9.7	13.5	9.9

('प्राब्लम्स आफ दि पैसिफिक' 1931, पृष्ठ 70)

राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) के आंकड़ों के आधार पर की गई तुलना भी उपलब्ध है :

प्रति एकड़ में हुई उपज (पौंड में)

	चावल	गेहूं
भारत	1,357	652
जापान	2,767	1,508
मिस्र	2,356	1,688
अमरीका	2,112	973
इटली	4,601	1,241
जर्मनी	...	1,740
ब्रिटेन	...	1,812

('स्टेटिस्टिकल इयर बुक आफ दि लीग आफ नेशंस', 1932-33)

खेत में काम करने वाले मजदूरों की संख्या को ध्यान में रखें तो यह विषमता और भी

उल्लेखनीय है। भारत में प्रत्येक 2.6 एकड़ भूमि पर खेती के काम में एक व्यक्ति लगा है जबकि ब्रिटेन में 17.3 एकड़ और जर्मनी में 5.4 एकड़ भूमि पर एक व्यक्ति खेती करता है। श्रम की इस भयंकर बरबादी से पता चलता है कि कृषि पर आबादी का कितना जबरदस्त दबाव है और जिस तकनीक का इस्तेमाल किया जाता है वह कितनी पिछड़ी हुई है। पैदावार में अन्य देशों की तुलना में जो कमी है वह प्राकृतिक रूप से यहां की मिट्टी की कम उत्पादकता के कारण नहीं है :

> कहा यह जाता है कि भारत की मिट्टी अपनी प्रकृति से ही कम उपजाऊ है। यह बात सही नहीं है। यहां की मिट्टी को कम उपजाऊ बनाया गया है। यहां की विशाल नदी उपत्यकाएं एक जमाने में दुनिया के सबसे उर्वर प्रदेश रहे होंगे। डेनमार्क और जर्मनी में जमीन का एक बहुत बड़ा हिस्सा बुनियादी तौर पर रेतीला बंजर हिस्सा है जहां केवल घासपात और कंटीली झाड़ियां पैदा होती हैं। (इंडियन सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी रिपोर्ट, एनक्लोजर XIII, पृष्ठ 700। ए० पी० मैकडोगल का ज्ञापन, 19 मार्च 1931)

इसी ज्ञापन में निम्न बात कही गई है :

> यदि प्रति एकड़ उत्पादन को फ्रांस के उत्पादन के बराबर बढ़ा दिया जाए तो देश की संपदा में 669,000,000 पौंड की वृद्धि हो जाएगी। यदि इस उत्पादन को ब्रिटेन के बराबर बढ़ा दिया जाए तो इसमें प्रति वर्ष 1,000,000,000 पौंड की वृद्धि हो जाएगी। फिर भी इंग्लैंड किसी भी मायने में अत्यधिक खेतिहर देश नहीं है। इस राशि में भारत की जमीन के उस हिस्से को ध्यान में नहीं रखा गया है जिसमें साल में दो फसलें तैयार होती हैं। भारत को जो यह लाभ प्राप्त है उससे सूखे से होने वाली किसी क्षति की पूर्ति मान ली जानी चाहिए…डेनमार्क में गेहूं की उपज के संदर्भ में देखें तो बढ़ी हुई संपदा प्रतिवर्ष 1,500,000,000 पौंड होनी चाहिए। इसलिए यह कहना गलत है कि भारत की ग्रामीण जनता की गरीबी के लिए यहां की मिट्टी जिम्मेदार है।

खेती का मौजूदा उत्पादन न सिर्फ आज बहुत निम्न स्तर पर है बल्कि इस बात के प्रमाण हैं कि खेती की उत्पादन क्षमता में बराबर गिरावट आई है। उपर्युक्त उद्धृत मैकडोगल ज्ञापन में बताया गया है कि यहां की मिट्टी की उत्पादकता इसलिए कम होती गई क्योंकि 'बिना खाद डाले लगातार खेती की गई और ईंधन की जगह पर खाद का इस्तेमाल करके खाद की बरबादी की गई' (जंगल संबंधी कड़े कानूनों के दुष्परिणामों की इससे झलक मिलती है)। ज्ञापन में यह भी रेखांकित किया गया है कि 'पश्चिमी देशों में फसलों के डंठल और भूसे का इस्तेमाल खाद के रूप में किया जाता है जबकि भारत में सारा का सारा भूसा जानवरों को खिला दिया जाता है' (इससे चरागाहों की सुविधा न होने की

झलक मिलती है) । भारत का किसान गाय का गोबर जलाने के काम में लाता है और उसकी इस क्रिया को प्रायः एक विचित्र तथा बरबादी करने वाली आदत मान लिया जाता है । इस संदर्भ में कृषि संबंधी आयोग की रिपोर्ट मे प्रस्तुत निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं । इसमें कहा गया है कि जंगली लकड़ी या कोयले के इस्तेमाल पर लगाए गए प्रतिबंधों तथा रेल द्वारा परिवहन के लिए 'ऊंची' दरों के कारण भारतीय किसान फिलहाल इंधन के रूप में गोबर का ही इस्तेमाल करता है क्योंकि यही उसे आसानी से सुलभ हो पाता है (पृष्ठ 264) । इस स्थिति का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत किया गया है जिससे अनिवार्य रूप से मिट्टी की उत्पादकता में गिरावट आती जा रही है । बंगाल के बारे में इस रिपोर्ट में कहा गया है :

> खाद के अभाव में खेतिहर भूमि की उर्वरता में तेजी से गिरावट आ रही है । विभिन्न फसलों की पैदावार दिनोंदिन कम होती जा रही है । (बंगाल प्राविंसियल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी रिपोर्ट, 1930, पृष्ठ 21)

इस कथन के समर्थन में कुछ आंकड़े दिए गए हैं :

बंगाल में प्रति एकड़ में औसत उपज (पौंड में)

निम्न सन में समाप्त होने वाले 5 वर्ष	जाड़ा			
	गेहूं	चावल	चना	सरसों और तिलहन
1906-07	801	1,234	881	492
1911-12	861	983	881	492
1916-17	698	1,036	867	460
1921-22	688	1,029	826	485
1926-27	721	1,022	811	483
20 वर्षों में आई कमी	80	212	70	9

भारत सरकार के एक विशिष्ट अधिकारी डब्ल्यू० बर्नस् सी० आई० ई० ने भी समूचे भारत के लिए कुछ इसी तरह के आंकड़े पेश किए थे तालिका पृष्ठ 236 पर) :

गेहूं की उपज के बारे में भी बिगड़ती हुई स्थिति का पता चलता है । 1909-13 में गेहूं की पैदावार औसतन प्रति एकड़ 724 पौंड थी जो 1924-33 में घटकर 636 पौंड हो गई । (वही, पृ० 57)

चावल की औसत उपज
(प्रति एकड़ पौंड में)

1914-15	से	1918-19	का	औसत	...	982
1926-27	से	1930-31	का	औसत	...	851
1931-32	से	1935-36	का	औसत	...	829
1938-39	...	...	...	...	...	728

('टैक्नोलाजीकल पासिबिलिटीज आफ ऐग्रीकल्चरल डेवलपमेंट इन इंडिया, 1944, पृष्ठ 55)

इस प्रकार यदि हम केवल वर्तमान परिस्थितियों को देखें और समूची अर्थव्यवस्था के संदर्भ में भारत में कृषि की पैदावार की प्रवृत्तियों पर ही विचार करें तथा बढ़ते हुए सामाजिक अंतर्विरोधों को फिलहाल दरकिनार कर दें तो भी हर दृष्टिकोण से यह जाहिर हो जाता है कि भारत की खेती का संकट दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

इस बढ़ते हुए संकट के कारणों की तलाश हमें प्राकृतिक दशाओं में नहीं बल्कि सामाजिक संबंधों के क्षेत्र में करनी चाहिए। बिलकुल हाल के अनुभवों से पता चलता है कि दंभपूर्ण और अदूरदर्शितापूर्ण ढंग से हमेशा किसानों को यही उपदेश देने की कोशिश की गई है कि वे पिछड़े हुए हैं और इस बात की कोशिश नहीं की गई कि उनके शोषण को रोकने के लिए कुछ किया जाए या खेती के उनके तरीके विकसित करने के लिए प्रयास किए जाएं। इन किसानों के पास न तो कोई साधन हैं जिससे वे उन्नत तकनीकी पद्धतियां अपना सकें और न तो भूमि की पट्टेदारी की मौजूदा स्थितियों में इन बातों की कोई संभावना ही है।

निश्चय ही वर्तमान स्थितियों और सीमाओं के भीतर भारतीय किसानों की कुशलता और साधनसंपन्नता की परख विशेषज्ञों ने की है। 1889 में सरकार ने रायल ऐग्रीकल्चरल सोसायटी के कंसल्टिंग कैमिस्ट जे० ए० वोल्कर को इस बात के लिए नियुक्त किया कि वह भारतीय कृषि की तकनीक की जांच करें और उसमें विकास के सुझाव दें। उनकी जांच की रिपोर्ट दो वर्ष बाद प्रकाशित हुई। यह भारतीय कृषि के बारे में एक असाधारण कृति है। इसमें उन्होंने लिखा :

> एक मुद्दे पर कोई असहमति नहीं हो सकती, और वह यह है कि इंग्लैंड में और कभी कभी भारत में भी यह जो धारणा व्यक्त की जाती है कि भारतीय कृषि कुल मिलाकर आदिकालीन और पिछड़ी हुई है तथा इसमें सुधार करने के कोई उपाय नहीं किए गए हैं, पूरी तरह भ्रांतिपूर्ण है।...यदि उसकी फसल अच्छी रही तो भारतीय रैयत या किसान उतना ही अच्छा है जितना ब्रिटेन

का औसत किसान और कुछ मामलों में तो वह ब्रिटिश किसान से भी ज्यादा अच्छी स्थिति में है। लेकिन यदि फसल खराब हो गई तो केवल यही कहा जा सकता है कि इस स्थिति के लिए सुधार की सुविधाओं का न होना काफी हद तक जिम्मेदार है। सुधार की सुविधाओं का यहां जितना अभाव है उतना शायद ही किसी और देश में हो। इसके अलावा कठिनाइयों के मुकाबले में यहां का किसान जितने धैर्य और बिना शिकायत के संघर्ष करता है उतना कोई दूसरा नहीं।

हमारे ब्रिटिश किसानों को मेरे इस कथन पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि भारत के रहने वाले गेहूं की खेती इंग्लैंड द्वारा गेहूं की खेती किए जाने से सैंकड़ों वर्ष पहले से करते आ रहे हैं। इसलिए इस बात की संभावना नहीं है कि उनके तौर तरीके में अधिक विकास की क्षमता है तो भी अधिक फसल पैदा करने में जो चीज उन्हें बाधा पहुंचा रही है वह है वे सीमित साधन जो उनकी पहुंच में हैं उदाहरण के लिए पानी या खाद की सप्लाई।

लेकिन कृषि कर्म के साधारण कार्यों को यदि देखें तो हमें इस तरह के दृष्टांत इतने बेहतर ढंग से और कहीं नहीं मिलेंगे जहां लोग इतने कायदे से अपने खेत को छोटे छोटे घासपात से साफ रखते हों, सिंचाई के इतने अच्छे उपकर्ण इस्तेमाल में लाते हों, मिट्टी और उसकी क्षमता की इतनी अच्छी जानकारी रखते हों, बोने और काटने के ठीक ठीक समय के बारे में जानते हों। ये सारे गुण भारतीय कृषि में ही मिलेंगे। यह विशेषताएं किसी सर्वोत्तम स्थिति की भारतीय कृषि की विशेषताएं नहीं हैं बल्कि साधारण स्तर पर यह चीजें मिल जाएंगी। यह भी अद्‌भुत है कि फसलों को हेरफेर कर बोने की उन्हें काफी जानकारी है और दो फसलों को मिलाकर बोने का तरीका उन्हें बखूबी मालूम है। निश्चय ही कम से कम मैंने तो इतनी सावधान खेती किसी और देश में नहीं देखी थी जहां खेती में पूरी मुस्तैदी बरतने के साथ साथ कठोर परिश्रम, फसल का संरक्षण और साधन की उर्वरता पर इतना जोर दिया जाता हो। भारत की अपनी यात्रा के दौरान मैं कई स्थानों पर रुका और ये सारी खूबियां मैंने वहां देखीं। (डाक्टर जे० ए० वोल्कर : 'रिपोर्ट आन दि इंप्रूवमेंट आफ इंडियन ऐग्रीकल्चर' 1891)

भारतीय कृषि के बढ़ते हुए संकट का कारण न तो प्राकृतिक परिस्थितियां हैं और न ही किसानों की कुशलता अथवा साधनसंपन्नता का अभाव है। जिन सीमाओं के अंतर्गत उन्हें काम करना पड़ता है उन्हें यदि देखें तो यह कहना गलत होगा कि भारतीय किसान की गरीबी का कारण उनका तथाकथित पिछड़ापन है जिसकी वजह से उनका विकास

नहीं हो पा रहा है। वस्तुतः इस संकट का कारण साम्राज्यवाद है और साथ ही साम्राज्य-वाद द्वारा पोषित वे सामाजिक संबंध हैं जिनकी वजह से कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ता जा रहा है, कृषि के विकास में गतिरोध पैदा हो गया है, उसमें गिरावट आने लगी है, अधिकांश किसानों को दिनोंदिन परेशान रहना पड़ता है और आधा पेट खाकर किसी तरह गुजर बसर करना पड़ता है। साम्राज्यवादी शासन और इससे उत्पन्न सामाजिक संबंधों के कारण ही आज ऐसी परिस्थितियां पैदा हो रही हैं जिनका एकमात्र परिणाम और समाधान दूरगामी प्रभावयुक्त क्रांति ही हो सकती है। कृषि के क्षेत्र में इन सामाजिक संबंधों पर विचार किया जाना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि इनसे ही हमें कृषीय संकट दूर करने की प्रेरक शक्तियों का पता चलेगा।

8

किसानों पर बोझ

'कृषीय प्रणाली अब ध्वस्त हो चुकी है और समाज का नया संगठन अवश्यंभावी है।'—
1933 में जवाहरलाल नेहरू का कथन।

मौजूदा शासन के अंतर्गत कृषि पर आबादी के अत्यधिक दबाव, कृषि का निम्न स्तर, कृषि के क्षेत्र में ठहराव और गिरावट के रूप में खेती की पैदावार में जो संकट दिखाई पड़ता है वह खेती के सामाजिक संबंधों के आंतरिक संकट की बाहरी अभिव्यक्ति मात्र है। साम्राज्यवादी परिस्थितियों में किसानों के शोषण की ऐसी जबरदस्त प्रणाली विकसित हुई है जिसकी मिसाल किसी और देश में नहीं मिल सकती। साम्राज्यवादी प्रभुत्व और शोषण के रक्षात्मक कवच के भीतर कई तरह का पूरक परोपजीवितावाद विकसित हुआ है जो समूची व्यवस्था पर निर्भर है और व्यवस्था का अभिन्न अंग है। इसके परिणाम-स्वरूप जो प्रक्रिया सामने आती है उससे न केवल किसानों पर बढ़ते हुए बोझ, उनकी गरीबी और कर्ज के बोझ से उनके दबे होने का ही पता चलता है बल्कि वर्गों के बीच बढ़ते हुए भेदभाव और बड़े पैमाने पर किसानों को उनके खेतों से बेदखल किए जाने का भी पता चलता है। जमीन से बेदखल किसान एक ऐसी स्थिति में पहुंच गए हैं जो कृषि दास प्रथा के काफी करीब है या वे दिन ब दिन बढ़ती हुई भूमिहीन सर्वहारा की एक सेना की शक्ल अख्तियार कर रहे हैं। यही वह प्रक्रिया है जो आने वाले तूफान की सूचना दे रही है।

1. जमीन की इजारेदारी

ब्रिटिश शासनकाल से पहले भारत में जो परंपरागत भूमि व्यवस्था कायम थी उसमें जमीन पर किसानों का हक था और सरकार को फसल का एक हिस्सा मिल जाता था। 'भारत

की धरती पर जनजाति का या उसके उपविभागों का स्वामित्व था। इसमें ग्रामीण समाज कबीला या गांव में बसे बिरादरी के अन्य लोगों की मिल्कियत थी, जमीन कभी राजा की संपत्ति नहीं समझी गई' (आर० मुखर्जी : 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया', 1933, पृष्ठ 16)। 'चाहे सामंती व्यवस्था हो या शाही योजना, जमीन पर किसानों को छोड़कर कभी किसी अन्य का स्वामित्व नहीं रहा' (वही, पृष्ठ 36)।

'राजा का हिस्सा' अथवा राजा को दी जाने वाली माला हिंदू राजाओं के शासनकाल में छठे भाग से लेकर बारहवें भाग तक हुआ करती थी। युद्ध के काल में उपज की यह राशि एक चौथाई तक की जा सकती थी। मनु ने अपनी संहिता में कहा था :

> जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और मधुमक्खी अपना आहार ग्रहण करते हैं उसी प्रकार राजा को अपने राज्य से मामूली कर ग्रहण करना चाहिए। राजा को मवेशियों और स्वर्ण की बढ़ी हुई राशि का पांचवां हिस्सा तथा फसल का आठवां, छठवां या बारहवां अंश प्राप्त करना चाहिए। फिर भी एक क्षत्रिय राजा जो युद्ध के दिनों में फसल का एक चौथाई अंश तक ग्रहण करता है वह यदि अपनी सामर्थ्य भर अपनी प्रजा की रक्षा करता है तो किसी प्रकार के दोषारोपण से मुक्त है।

मुगल बादशाहों ने अपना साम्राज्य स्थापित करने के बाद इस राशि को बढ़ाकर एक तिहाई कर दिया था। अकबर ने इस प्रकार का कानून बनाया था :

> पुराने बीते दिनों में हिंदुस्तान के सम्राट भूमि की पैदावार का छठा हिस्सा नजराना और कर के रूप में वसूलते थे। शहंशाह ने तय किया है कि सामान्य तौर पर बोए गए खेत की उपज का एक तिहाई हिस्सा राजस्व के रूप में प्राप्त किया जाए।

मुगल साम्राज्य के विघटन के दिनों में वे लोग, जिनके जिम्मे कर की वसूली का काम सौंपा गया था और जिन्होंने अपने को खुद ही अर्धसामंती सरदारों या स्वतंत्र सरदारों का दर्जा दे दिया था, नजराने की इस राशि को क्रमशः बढ़ाने लगे और इस राशि को एक तिहाई से बढ़ाकर आधा तक कर दिया।

जब मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर अंगरेजों ने अपने साम्राज्य की स्थापना की तो उन्होंने जमीन की आय से सरकारी कोष को समृद्ध करने की पुरानी पद्धति भी अपना ली लेकिन इसके साथ ही उन्होंने इस प्रणाली का स्वरूप बदल दिया और ऐसा करके उन्होंने भारत की भूमि व्यवस्था का रूपांतरण कर दिया। जिस समय उन्होंने शासन संभाला उस समय तक भारत का पुराना शासन प्रबंध अस्तव्यस्त हो चुका था और पतन की दिशा में बढ़ रहा था। उन दिनों किसानों से जबरन बहुत अधिक धन वसूला जाता था और उन्हें एक तरह

से लूट लिया जाता था। फिर भी गांव की सामुदायिक व्यवस्था और जमीन के साथ उसका परंपरागत संबंध उस समय तक भी टूटा नहीं था और नजराने के रूप में किसानों को राज्य को जो कुछ देना पड़ता था वह सालाना पैदावार का एक हिस्सा ही होता था। (नजराने की राशि सामान्य तौर पर पैदावार के रूप में और कभी कभी नकदी के रूप में दी जाती थी।) उस समय तक पैदावार चाहे कम हो या ज्यादा प्रतिवर्ष एक निश्चित जोत के आधार पर निश्चित मालगुजारी देने की प्रणाली अभी नहीं शुरू हुई थी।

अराजकता के दिनों में किसानों से जितनी निर्दयता के साथ नजराना वसूला जाता था उसें नए विजेताओं ने कर वसूलने का सामान्य ढंग समझा। समकालीन लेखकों की रचनाओं से पता चलता है कि शुरू में नए शासकों में पहले से ज्यादा संपत्ति वसूलने की प्रवृत्ति काम कर रही थी अथवा यह हो सकता है कि कर वसूलने की अपेक्षाकृत अधिक कुशल व्यवस्था के कारण किसानों का पहले से ज्यादा शोषण होने लगा था। डा० बुकानन ने 19वीं सदी के प्रारंभिक दिनों में कंपनी की ओर से एक सर्वेक्षण किया था जो सरकारी तौर पर इतनी सावधानी के साथ की गई पहली जांच थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'स्टेटिस्टिकल सर्वे' में लिखा कि वसूली की यह नई प्रणाली अत्यंत दुस्सह है। उन्होंने 1800 ई० में दक्षिण भारत का और 1807-14 ई० में उत्तर भारत का सर्वेक्षण पूरा किया। फिर उन्होंने बंगाल के दिनाजपुर जिले के संदर्भ में लिखा :

> ग्रामवासियों ने अपने आरोपों में बताया कि हालांकि मुगल शासकों के अधिकारियों द्वारा उनसे प्राय: जबरदस्ती संपत्ति वसूल ली जाती है और सभी अवसरों पर उन्हें बेहद अपमानित किया जाता है फिर भी जब उनके ऊपर काफी राशि बकाया रूप में जमा हो जाती है और उनकी जमीन बेच दी जाती है उस समय वे इन तकलीफों को बरदाश्त कर लेते हैं। यह एक ऐसा चलन है जिससे वे बच नहीं सकते। इसके अलावा अधिकांश अवसरों पर घूसखोरी का काफी बोलबाला है और उनका आरोप है कि आज वे घूस के रूप में जितना कुछ देते हैं वस्तुत: उसका आधा हिस्सा भी वे पहले नहीं देते थे। (डा० फ्रांसिस बुकानन : 'स्टेटिस्टिकल सर्वे' खंड IV, हाउस आफ कामंस की प्रवर समिति की पांचवीं रिपोर्ट में उद्धृत, 1872)

1826 में बिशप हेबर ने लिखा :

> मेरा विचार है कि करारोपण की वर्तमान दर से मूल देशवासी अथवा अंगरेज कोई भी संपन्न नहीं हो सकता है। एक व्यक्ति जो कुछ पैदा करता है उसके आधे हिस्से की सरकार मांग करती है···हिंदुस्तान (उत्तर भारत) में मैंने राजा के अधिकारियों में सामान्य तौर से यह भावना देखी और कुछ परिस्थितियों के कारण मैं स्वयं भी उनकी इस भावना से सहमत हूं कि कंपनी के सूबों में रहने वाली

> किसान जनता कुल मिलाकर देशी राजाओं की रियासतों में रहने वाली जनता की तुलना में अधिक गरीब, अधिक परेशान और अधिक बुरी हालत में है। साथ ही यहां मद्रास में, जहां की मिट्टी सामान्य तौर पर उर्वर नहीं है यह अंतर और भी साफ दिखाई देता है। वास्तविकता यह है कि किसी भी देशी रियासत का शासक उतनी मालगुजारी की मांग नहीं करता है जितनी कि हम करते हैं। (बिशप हेबर : 'मेमायर्स ऐंड कोरसपौंडेंस', 1830; खंड II, पृष्ठ 413)

थांपसन और गैरट नामक इतिहासकारों ने लिखा :

> विद्रोह से पूर्व कर निर्धारण का इतिहास 'आर्थिक लगान' की वसूली के लिए किए गए असफल प्रयासों की श्रृंखला का इतिहास है। इस आर्थिक लगान को बहुधा 'कुल उत्पादन' माना जाता था। जिन खेतों से बंगाल को राजस्व की प्राप्ति होती थी उनकी नीलामी का उद्देश्य 'कुल उत्पादन' का अधिक से अधिक हिस्सा प्राप्त करना था। इस प्रणाली की विफलता के कारण ही स्थाई बंदोबस्त लागू किया गया। मद्रास और बंबई में शुरू में जो राशि निर्धारित की गई थी वह आमतौर से अनुमानित 'कुल उत्पादन' का 4/5 भाग थी। यह राशि बहुत अधिक थी। इसी तरह उत्तर पश्चिम सूबों के लिए कर निर्धारण का पहला प्रयास विफल हो गया और इस प्रयास को 1842 में तिलांजलि दे दी गई···इसमें कोई संदेह नहीं कि 19वीं सदी के शुरू के 25 वर्षों के दौरान जो जबरदस्त कर निर्धारण थोपा गया, उससे मद्रास और बंबई सूबों को काफी तकलीफ उठानी पड़ी। यहां तक कि पंजाब में, जहां ब्रिटिश निर्धारणों ने सिखों की पुरानी मांगों में कमी कर दी, ऐसा लगता है कि नकद भुगतानों और वसूली में कठोरता से किसानों के हित को सामान्य तौर पर ठेस पहुंची। (एच० क्लवर्ट : 'वेल्थ ऐंड वेलफेयर आफ दि पंजाब', पृष्ठ 122), (थांपसन ऐंड गैरट : 'राइज ऐंड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया', पृष्ठ 427)

1921 में डा० हेराल्ड मान ने दकन के एक गांव का दूसरी बार सर्वेक्षण किया। उन्होंने अंगरेजों के शासन से पहले और अंगरेजों के शासन के बाद के दिनों में ली जाने वाली मालगुजारी में जबरदस्त अंतर पाया :

> अंगरेजों की विजय के बाद स्थिति पूरी तरह बदल गई। 1823 में 2,121 रुपये की मालगुजारी वसूल की गई और गांव का खर्च 1817 के खर्च का आधा रह गया। (मान और कानिटकर : 'लैंड ऐंड लेबर इन ए दकन विलेज', खंड II, 1921, पृष्ठ 38)

1844 से 1874 तक के तीस वर्षों में भू राजस्व निर्धारण की राशि पूरे गांव के लिए

1,161 रुपया या 9 आना 8 पाई प्रति एकड़ थी। 1874 से 1904 के तीस वर्षों के दौरान यह राशि 1,467 रुपया या 11 आना 4 पाई प्रति एकड़ थी। 1915 में नए सिरे से यह राशि निर्धारित की गई और इसे बढ़ाकर 1,581 रुपया या 12 आना 2 पाई प्रति एकड़ कर दिया गया।[1] 1917 में डाक्टर मान ने दकन के एक गांव के अपने पहले सर्वेक्षण में देखा कि कुल राजस्व की राशि समय समय पर बढ़ाई गई है, यह राशि 1829-30 में 889 रुपये थी जो 1849-50 में बढ़ाकर 1,115 रुपये और 1914-15 में बढ़ाकर 1,660 रुपये कर दी गई।

बंगाल में मुगल शासकों के प्रतिनिधियों के शासन के अंतिम वर्ष अर्थात 1764-65 में वहां मालगुज़ारी के रूप में 818,000 पौंड की राशि वसूल की गई। 1765-66 में अर्थात ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल का वित्तीय प्रशासन अपने हाथ में लिए जाने के पहले वर्ष में यह राशि बढ़ाकर 1,470,000 पौंड कर दी गई। 1793 में जब बंगाल में स्थाई (इस्तमरारी) बंदोबस्त लागू किया गया तो यह राशि 3,091,000 पौंड हो चुकी थी।

कंपनी अपने पूरे राज्य से जो मालगुजारी वसूलती थी वह 1800-01 में 42 लाख पौंड थी (यह वृद्धि मुख्यतया इलाका बढ़ने से हुई थी लेकिन साथ ही मालगुजारी की बढ़ी हुई दर भी इस वृद्धि के लिए जिम्मेदार थी) और 1857-58 तक जब ब्रिटिश सरकार ने भारत का शासन कंपनी के हाथों से अपने हाथों में ले लिया तो यह राशि बढ़कर 1 करोड़ 53 लाख पौंड हो गई। ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष शासन के दौरान मालगुजारी की राशि 1900-01 में 1 करोड़ 75 लाख पौंड और 1911-12 में 2 करोड़ पौंड हो गई। 1936-37 में यह राशि 2 करोड़ 39 लाख पौंड हो गई थी।

आधुनिक काल में भू राजस्व निर्धारण के आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि ब्रिटिश शासनकाल के प्रारंभिक दिनों के मुकाबले बाद में उपज का पहले से कम भाग किसान से लिया जाने लगा था (इस गणना का सामान्य आधार लगान पर कुल उत्पादन का आधा हिस्सा माना जाता था, मुखर्जी : 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया', पृष्ठ 202)। लेकिन उस समय तक शोषण के दूसरे तरीकों में भी इसी अनुपात में वृद्धि हुई और उन्होंने पहले से ज्यादा उल्लेखनीय भूमिका निभानी शुरू कर दी थी। उन्होंने सरकार द्वारा मालगुजारी प्रत्यक्षत: वसूलने की भूमिका त्याग दी और इसके लिए जो रास्ते अपनाए गए वे थे : जमींदारी प्रथा का विकास, लगान की बढ़ी हुई राशि, व्यापार के क्षेत्र में घुसपैठ, उपभोक्ता सामानों पर बढ़े हुए अतिरिक्त कर तथा दिनोंदिन बढ़ता कर्ज। मुख्य रूप से मालगुजारी पर टिके साधारण नजराने ने भारतीय अर्थव्यवस्था में घुसे हुए अनेक परोपजीवियों सहित आधुनिक महाजनी पूंजी द्वारा किए जा रहे शोषण के स्वरूप को स्थान दिया।

इसके अलावा भू राजस्व के निर्धारण का स्तर आज के युग में भी प्रत्येक संशोधन के बाद

निरंतर बढ़ता जा रहा है। इसका नतीजा यह होता है कि प्रत्येक संशोधन के बाद किसानों पर जबरदस्त बोझ पड़ जाता है जिससे विद्रोह आंदोलन जन्म लेते हैं। 1928 में बारदोली में कांग्रेस के नेतृत्व में 87 हजार किसानों का आंदोलन हुआ जिसने बढ़ी हुई मालगुजारी का सफल विरोध किया और सरकार को यह मानने पर मजबूर किया कि यह संशोधन अन्यायपूर्ण है और मालगुजारी की निर्धारित राशि कम की जानी चाहिए।[2] आर० मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया' (पृष्ठ 206) में लिखा है कि 'मद्रास, बंबई और संयुक्त प्रांत में खासतौर से मालगुजारी की राशि दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ी है।' उनका कहना है कि 1890-91 से 1918-19 के बीच भू राजस्व 24 करोड़ रुपये से बढ़कर 33 करोड़ रुपये तक पहुंच गया। उन्होंने आगे लिखा है :

> इन 30 वर्षों के दौरान खेती से होने वाली आय में जहां मोटे तौर पर 30, 60 और 23 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई वहीं संयुक्त प्रांत, मद्रास और बंबई के लिए भू राजस्व की राशि में क्रमश: 57, 22.6 और 15.5 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई। इन सूबों में गैरआर्थिक जोतोंवाले किसानों का बहुमत है और भू राजस्व में हुई इस वृद्धि से तथा नकद रूप में इसके विनिमय और फसल काटने के समय इसकी वसूली से इन किसानों की आर्थिक स्थिति को बहुत धक्का लगा। (पृष्ठ 345)

2. भूमि व्यवस्था का रूपांतरण

शुरू के वर्षों में मालगुजारी की दर में जो वास्तविक वृद्धि हुई उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण था भारत पर अंगरेजों के शासन के बाद यहां की भूमि व्यवस्था में एक क्रांतिकारी परिवर्तन। इस क्रांति की दिशा में पहला कदम मालगुजारी निर्धारण की प्रणाली और भूमि के स्वामित्व का पंजीकरण था जिसमें ब्रिटेन की आर्थिक और कानूनी धारणाओं ने भारत की परंपरागत आर्थिक संस्थाओं और धारणाओं को हटाकर उनका स्थान ले लिया अथवा उन पर अपने को थोप दिया। ये दोनों धारणाएं एक दूसरे से काफी भिन्न थीं। पहले परंपरा थी कि सालभर की उपज का एक अंश 'राजा का हिस्सा' होता था जो संयुक्त मिल्कियत वाले किसानों या गांव का स्वयं प्रबंध करने वाले ग्रामीण समुदाय द्वारा नजराने या कर के रूप में शासक को दिया जाता था। 'राजा का हिस्सा' भी वार्षिक पैदावार के घटने बढ़ने के साथ घटता बढ़ता रहता था। अंगरेजों ने इस परंपरा को समाप्त कर, मालगुजारी के रूप में एक निश्चित रकम लेना शुरू किया। यह राशि जमीन के हिसाब से तय कर दी जाती थी और साल में फसल कम हुई हो या ज्यादा, यह निर्धारित राशि देनी ही पड़ती थी। अधिकांश मामलों में, यह मालगुजारी अलग अलग व्यक्तियों पर लगाई गई थी। ये लोग या तो खुद खेती करते थे या सरकार द्वारा नियुक्त किए गए जमींदार थे। शुरू के दिनों में सरकारी प्रशासकों द्वारा और शुरू के सरकारी दस्तावेजों में इस राशि को आमतौर से 'लगान' कहा जाता था। इससे पता चलता है कि वस्तुत: किसान अब सीधे राज्य का या राज्य द्वारा नियुक्त जमींदार का

काश्तकार बन गया हालांकि इस सबके बावजूद उसके कुछ मालिकाना तथा परंपरागत अधिकार भी होते थे। इस सारी प्रक्रिया को भारत में इंग्लैंड के ढंग की जमींदारी प्रथा (भारत में इस तरह की व्यवस्था की अतीत में कोई मिसाल नहीं है। कर देने वाले पुराने किसानों के आधार पर नए वर्ग की रचना की जा रही है), व्यक्तिगत जोतों की प्रणाली, जमीन को बंधक रखने तथा बेचने की प्रणाली और वहां की पूंजीवादी कानून व्यवस्था जारी करके पूरा कर दिया गया। भारत की अर्थव्यवस्था के लिए यह नई व्यवस्था बिलकुल अजनबी थी और इस व्यवस्था का प्रशासन एक ऐसी विदेशी नौकरशाही करती थी जो कानून बनाने (विधानांग), उसे लागू करने (कार्यांग) और न्याय करने (न्यायांग) का काम स्वयं करती थी। इस रूपांतरण से अंगरेज विजेताओं ने व्यवहारतः भूमि पर पूरा पूरा अधिकार कर लिया और किसानों को ऐसे काश्तकार का दर्जा दे दिया जिन्हें लगान का भुगतान न करने पर जमीन से बेदखल किया जा सके या उस जमीन को स्वयं द्वारा नामजद किए गए जमींदार के नाम लिखा जा सके। ये जमींदार भी सरकार की इच्छा से ही जमीन के मालिक थे और लगान न देने पर उन्हें भी जमीन से बेदखल किया जा सकता था। पुराने जमाने में अपना प्रबंध संचालन स्वयं करने वाले ग्रामीण समुदाय को उसके आर्थिक कार्यों और प्रशासनिक भूमिका से वंचित कर दिया गया। जो जमीन पहले गांव में साझे की जमीन समझी जाती थी उसे अलग अलग लोगों में बांट दिया गया।

इस प्रकार औपनिवेशिक प्रणाली की विशिष्ट प्रक्रिया वस्तुतः बहुत बेरहमी के साथ भारत में पूरी की गई—भारत की जनता को उसकी जमीन से बेदखल कर दिया गया हालांकि इस प्रक्रिया को और भी जटिल कानूनी रूपों की भूलभुलैया द्वारा अंशतः ढका गया जो आज डेढ़ सौ वर्षों के बाद एक दूसरे में उलझी प्रणालियों, काश्तकारियों, परिपाटियों और अधिकारों का अभेद्य जंगल बन गई है। किसान पहले जमीन के मालिक थे, अब उनकी मिल्कियत छीन ली गई और वे लगान देकर दूसरे की जमीन पर खेती करने वाले काश्तकार बन गए। इसके साथ ही बंधक रखने और कर्जदार होने की तकलीफें जिनका उनकी अधिकांश जोतों को सामना करना पड़ता है, वे भुगत रहे हैं। यह प्रक्रिया जब और आगे बढ़ी तो किसानों का एक बढ़ता हुआ हिस्सा पिछले सौ वर्षों में और खासतौर से पिछले पचास वर्षों में भूमिहीन मजदूर बन गया अर्थात खेतिहर सर्व-हारा का एक नया वर्ग तैयार हो गया जो आज खेती पर निर्भर एक तिहाई आबादी से बढ़कर आधी आबादी तक पहुंच गया है।

दरअस्ल मार्क्स ने इसी रूपांतरण के प्रारंभिक चरण का उल्लेख किया था जब उन्होंने इस तथ्य पर जोर दिया था कि प्राचीन ग्रामीण समुदायों का विघटन बुर्जुआ व्यापारिक घुसपैठ की अप्रत्यक्ष कार्यवाहियों और मशीन निर्मित सामानों के भारत में प्रवेश के कारण ही नहीं बल्कि इसलिए भी हुआ क्योंकि अंगरेज विजेताओं ने 'शासकों और जमींदारों के रूप में प्रत्यक्षतः राजनीतिक और आर्थिक सत्ता' का प्रयोग किया। यह

स्थिति चीन में इस तरह के समाज के विघटन की प्रक्रिया की तुलना में ज्यादा तीव्र है क्योंकि वहां 'अंगरेजों की ओर से किसी प्रत्यक्ष राजनीतिक सत्ता का समर्थन नहीं था' :

> भारत और चीन के साथ अंगरेजों के संबंधों में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है कि वाणिज्य व्यापार के क्षयकारी प्रभाव के विरोध में पूर्व पूंजीवादी राष्ट्रीय उत्पादन प्रणाली की आंतरिक मजबूती और संधियोजन ने काफी अवरोध प्रस्तुत किए। सामान्य तौर पर यहां की उत्पादन प्रणाली का आधार छोटे पैमाने की कृषि और घरेलू उद्योगों की एकता से निर्मित है। भारत में इन चीजों के साथ साथ कम्यून जैसे कुछ संगठन हैं जिनका जमीन पर साझे का स्वामित्व है। भारत में अंगरेजों ने इन छोटे छोटे आर्थिक संगठनों को ध्वस्त करने के लिए शासकों और जमींदारों के रूप में अपनी प्रत्यक्ष राजनीतिक और आर्थिक दोनों ताकतों का एक साथ इस्तेमाल किया।

इसके आगे उन्होंने अपनी पादटिप्पणी में लिखा :

> यदि किसी देश के इतिहास को लें तो यह भारत में अंगरेजों के प्रबंध संचालन का इतिहास है जो अर्थशास्त्र के क्षेत्र में असफल और सही अर्थों में बेतुके (और व्यवहार में कुख्यात) प्रयोगों का एक सिलसिला है। अंगरेजों ने बंगाल में बड़े पैमाने पर इंग्लैंड की जमींदारी प्रथा की भौंड़ी नकल की, दक्षिण पूर्व भारत में उन्होंने छोटे छोटे खेतों के आवंटन की नकल की और उत्तर पश्चिम में उन्होंने भारतीय गांव के कम्यून (पंचायती समाज) को, जिसमें जमीन सबकी साझे की संपत्ति हुआ करती थी अपनी सामर्थ्य पर उन्होंने इस तरह बदल डालने का प्रयास किया कि वह खुद ही मजाक बनकर रह जाए। (कार्लमार्क्स : 'कैपिटल', खंड III, XX, पृष्ठ 392-93)

3. जमींदारी प्रथा की शुरुआत

पश्चिमी विजेताओं ने भारत में जमीन का बंदोबस्त सबसे पहले इस तरह करने की कोशिश की कि इंग्लैंड की जमींदारी प्रथा थोड़े परिष्कृत रूप में वहां लागू कर दी गई। 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा तथा बाद में उत्तरी मद्रास के कुछ इलाकों के लिए जो विख्यात इस्तमरारी बंदोबस्त (स्थाई भूमि बंदोबस्त) लागू किया उसका असली स्वरूप यही था। इन प्रांतों में पहले से मौजूद जमींदार वस्तुतः जमीन के मालिक नहीं थे बल्कि कर या मालगुजारी वसूलने वाले सरकारी कर्मचारी थे जिन्हें इन प्रांतों के पुराने शासकों ने कमीशन पर मालगुजारी वसूलने के लिए नियुक्त किया था (अधिकृत रूप से उन्हें ढाई प्रतिशत कमीशन मिलता था हालांकि व्यवहार में वे लूट खसोट कर कुछ अधिक पैसे पा जाते थे)। अंगरेज सरकार ने इन जमींदारों को हमेशा के लिए जमीन का मालिक बना दिया और स्थाई तौर पर एक ऐसी राशि तय

कर दी जो वे सरकार को दे सकें। यह राशि किसानों की कुल मौजूदा भुगतान राशि के 10/11 की दर से जोड़ी गई और 11वें हिस्से को जमींदार द्वारा भुगतान करने के लिए छोड़ दिया गया।

उस जमाने में समझौते की ये शर्तें जमींदारों और काश्तकारों के लिए बहुत कष्टकर और सरकार के लिए बहुत फायदेमंद थीं। सरकार ने यह निर्धारित किया कि बंगाल के जमींदार प्रतिवर्ष 30 लाख पौंड किसानों से वसूल करके सरकारी कोष को दिया करेंगे। पुराने राजाओं के शासनकाल में सरकार के लिए जमींदार जो वसूली करते थे उससे यह राशि बहुत ज्यादा थी। बहुत से जमींदार लगान की वसूली में अपनी पारिवारिक परंपरा के अनुसार किसानों पर कुछ रहम दिखाते थे और कड़ाई के साथ नहीं पेश आते थे। वे मालगुजारी की इस निर्धारित राशि के बोझ को नहीं उठा सके और उनकी जमींदारी बड़ी बेरहमी के साथ सरकार द्वारा नीलाम कर दी गई। पुराने जमींदारों में कुछ भले किस्म के लोग थे जिन्होंने हमेशा यह समझा था कि उनकी देख रेख में रहने वाली किसान जनता के प्रति उनका कुछ दायित्व है ऐसे जमींदारों की बरबादी की अनेक दर्दनाक कहानियां सुनने को मिलती हैं। चूंकि वे जमींदार अपने नाम निर्धारित राशि को सरकारी कोष में जमा करने में सफल नहीं हो सके इसलिए उन्हें बेरहमी के साथ निकाल बाहर किया गया। धूर्त और धनलोलुप व्यापारियों का एक ऐसा वर्ग सामने आया जिसने इन जमींदारियों को खरीद लिया। ये किसानों से एक एक पाई वसूलने के लिए हर तरह का हथकंडा अपनाते थे। 'भद्र मालिकों के नए वर्ग' का यही स्वरूप था और इस्तमरारी बंदोबस्त का उद्देश्य भी ऐसे ही वर्ग तैयार करना था। 1802 में मिदनापुर के कलक्टर द्वारा पेश की गई रिपोर्ट में कहा गया था :

> ज़मीन की बिक्री और जब्ती की प्रणाली ने बंगाल के अधिकांश बड़े बड़े जमींदारों को बहुत थोड़े वर्षों के अंदर एकदम गरीब और भिखारी बना दिया। इसने बंगाल की भू संपत्ति में संभवतः इतना बड़ा परिवर्तन किया जितना किसी भी युग में या किसी भी देश में इतने कम समय में महज आंतरिक कानून के जरिए नहीं किया गया होगा।

लेकिन साथ ही इस प्रणाली ने एक और दिशा ले ली जिसके बारे में सरकार ने पहले कभी कल्पना भी नहीं की थी। मुद्रा का मूल्य गिर जाने और जमींदारों द्वारा किसानों से लगान में वसूल की जाने वाली राशि के बढ़ाने के साथ साथ इस लूट में सरकार का हिस्सा, जो स्थाई तौर पर 30 लाख पौंड तय हो चुका था, बराबर कम होता गया जबकि जमींदारों का हिस्सा दिनोंदिन बढ़ता गया। आज स्थिति यह है कि बंगाल में स्थाई बंदोबस्त के अंतर्गत वसूली जाने वाली कुछ मालगुजारी अनुमानतः 1 करोड़ 20 लाख पौंड है जिसका एक चौथाई हिस्सा सरकार के पास और तीन चौथाई हिस्सा जमींदार के पास जाता है।[3]

इस स्थिति के साफ हो जाने के बाद से स्थाई बंदोबस्त पर आज हर तरफ से प्रहार किया जाने लगा है और इसकी भर्त्सना हो रही है। यह भर्त्सना जमींदारों को छोड़कर किसानों और समूची भारतीय जनता द्वारा ही नहीं की जा रही है, बल्कि साम्राज्यवादियों ने भी इसकी निंदा की है। इस बंदोबस्त में संशोधन करने के लिए एक मजबूत आंदोलन छिड़ा हुआ है (स्थाई बंदोबस्त पर साम्राज्यवादियों द्वारा किए जा रहे समकालीन प्रहार की तीव्रता का उदाहरण 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया' के पृष्ठ 561-70 पर की गई जबरदस्त भर्त्सना में देखा जा सकता है)। साम्राज्यवाद के आधुनिक समर्थक यह सफाई देने की कोशिश करते हैं कि यह समूचा बंदोबस्त अनजाने में और गलती से हो गया था और यह गलती इसलिए हुई क्योंकि इस तथ्य की जानकारी नहीं थी कि यहां के जमींदार लोग जमीन के मालिक नहीं थे। एंस्टे ने अपनी मशहूर पुस्तक 'इकोनोमिक डेवलपमेंट आफ इंडिया' (पृष्ठ 98) में ऐसा ही लिखा है :

> शुरू में भारत की जटिल प्रणाली कंपनी के कर्मचारियों के लिए एक बंद किताब की तरह थी। उन्होंने जमींदारों की खोज शुरू की...बाद में यह पता चला कि अधिकांश मामलों में ये जमींदार जमीन के मालिक नहीं थे...उस समय कंपनी के कर्मचारियों को 'जमींदार' शब्द का वही अर्थ समझ में आया जिस अर्थ में यह शब्द इंग्लैंड में जमीन के मालिकों के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

लेकिन यह परीकथा मूर्खतापूर्ण है। उन दिनों के दस्तावेजों को देखने से यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि लार्ड कार्नवालिस और तत्कालीन राजनेताओं के दिमाग में यह बात पूरी तरह स्पष्ट थी कि वे जमींदारों का एक नया वर्ग पैदा कर रहे हैं और उन्हें यह भी पता था कि ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य क्या है।

स्थाई जमींदारी बंदोबस्त का उद्देश्य इंग्लैंड के ढंग पर जमींदारों का एक ऐसा नया वर्ग तैयार करना था जो अंगरेजी राज के लिए सामाजिक आधार का काम करे। अंगरेजों ने यह महसूस किया कि उनकी संख्या काफी कम है और उन्हें एक विशाल आबादी पर अपना आधिपत्य कायम रखना है इसलिए अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए एक सामाजिक आधार तैयार करना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने एक ऐसा नया वर्ग पैदा किया जो लूट खसोट का एक हिस्सा पाकर अपने निहित स्वार्थ को अंगरेजी राज के बने रहने के साथ जोड़ ले। उस ज्ञापन में जिसमें लार्ड कार्नवालिस ने अपनी नीति की वकालत की थी यह साफ साफ कहा था कि वह इस बात के प्रति पूरी तरह सजग हैं कि वह एक नया वर्ग पैदा कर रहे हैं और ऐसे अधिकारों की स्थापना कर रहे हैं जिनका जमींदारों के पुराने अधिकारों से कोई संबंध नहीं है। उन्होंने कहा कि 'मैं इस बात से पूरी तरह सहमत हूं कि जमींदारों के अधिकार का दावा पूरा न होने पर जनता के हित के लिए उन्हें या अन्य लोगों को संपत्ति का अधिकार देना जरूरी होगा।' सर रिचार्ड टेंपुल ने अपनी पुस्तक 'मैन ऐंड इवेंट्स आफ माई टाइम इन इंडिया' (पृष्ठ 30) में लिखा है कि

लार्ड कार्नवालिस का स्थाई बंदोबस्त 'एक ऐसा उपाय था जो बंगाल की जनता के बीच इंग्लैंड की जमींदारी से संबंधित संस्थाओं को स्वाभाविक बनाने में कारगर साबित हुआ।' लार्ड विलियम बैंटिक ने, जो 1828 से 1835 तक भारत के गवर्नर जनरल थे, अपने कार्यकाल के दौरान एक भाषण में स्थाई बंदोबस्त के बारे में बड़े साफ साफ शब्दों में कहा कि यह क्रांति को रोकने के लिए बचाव का काम करेगा :

> यदि जबरदस्त जनविद्रोहों या क्रांति का मुकाबला करने के लिए सुरक्षा की जरूरत है तो मैं यह कहना चाहूंगा कि कई मामलों में और कई महत्वपूर्ण बातों में असफल होने के बावजूद स्थाई बंदोबस्त का कम से कम यह एक बहुत बड़ा फायदा है कि उसने धनी भूस्वामियों का एक विशाल संगठन खड़ा किया जो तहेदिल से यह चाहते हैं कि अंगरेजी राज बना रहे और जिनका जनता पर पूरी तरह दबदबा कायम है। (8 नवंबर 1829 को दिया गया लार्ड विलियम बैंटिक के भाषण का अंश। यह ए० बी० कीथ की पुस्तक 'स्पीचेज ऐंड डाक्यूमेंट्स आन इंडियन पालिसी 1750-1921', खंड 1, पृष्ठ 215 पर पुनः प्रकाशित किया गया है।)

भारत में जमींदारी प्रथा के साथ ब्रिटिश शासन का गठबंधन आज भी जारी है। यह मुख्यतया अंगरेजों द्वारा अपना सामाजिक आधार तैयार करने के लिए किया गया था और यह आज ब्रिटिश शासनकाल को ऐसे विकट अंतर्विरोधों में उलझा रहा है जो जमींदारी प्रथा के पतन के साथ साथ ब्रिटिश राज के पतन की भी तैयारी कर रहे हैं। जैसे जैसे भारत की जनता की आजादी की लड़ाई तेज होती जा रही है प्रत्येक सूबे में जमींदारों की लैंड-होल्डर्स फेडरेशन, लैंड ओनर एसोसिएशन जैसी विभिन्न संस्थाएं ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी अटूट निष्ठा की घोषणा करने में लगी हुई हैं। 1925 में बंगाल लैंड ओनर एसोसिएशन के अध्यक्ष ने वाइसराय को जो अभिनंदनपत्र दिया वह इस संदर्भ में एक अच्छा उदाहरण है। इसमें कहा गया था :

> महामहिम इस बात का भरोसा कर सकते हैं कि जमींदार लोग सरकार का पूरा पूरा समर्थन करेंगे और पूरी निष्ठा के साथ सरकार की सहायता करेंगे।

1938 में पहला आल इंडिया लैंड होल्डर्स कांफ्रेंस (जमींदारों का सम्मेलन) आयोजित की गई जो सभी जमींदारों का मिलाजुला संगठन स्थापित करने की तैयारी के लिए आयोजित हुई थी। इस सम्मेलन की खास बात मेमनसिंह के महाराजा का अध्यक्षीय भाषण था जिसमें उन्होंने घोषित किया था कि 'यदि हमें एक वर्ग के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखना है तो हमारा कर्तव्य है कि हम सरकार के हाथ मजबूत करें।' 1935 के संविधान में इस बात का विशेष प्रावधान किया गया कि प्रांतीय विधानसभाओं और संघीय विधानसभाओं में जमींदारों को प्रतिनिधित्व दिया जाए।

लेकिन स्थाई बंदोबस्त के सिलसिले में हुई भूलों को दोहराया नहीं गया। इसके बाद जमींदारी से संबंधित जो बंदोबस्त किए गए उन सबको 'अस्थाई' रखा गया अर्थात समय समय पर जमीन का नए सिरे से बंदोबस्त होता था ताकि सरकार को अपनी जरूरत के मुताबिक मालगुजारी बढ़ाते रहने का अवसर मिले।

स्थाई बंदोबस्त के बाद जो वर्ष शुरू होते हैं उनमें अनेक जिलों में विकल्प के रूप में एक नया तरीका अपनाने की कोशिश की गई और इसकी शुरुआत मद्रास से की गई। इस बंदोबस्त की खास बात यह थी कि सरकार को किसानों के साथ सीधे सीधे कोई बंदोबस्त करना चाहिए जो स्थाई नहीं, अस्थाई हो अर्थात जिसमें हमेशा कुछ वर्षों के अंतर पर संशोधन किया जा सके और इस प्रकार लूट के धन को किसी बिचौलिये में बांटने की बजाय पूरा का पूरा स्वयं हड़प लिया जाए और स्थाई बंदोबस्त की बुराइयों से बचा जाए। इस प्रणाली को रैयतवारी बंदोबस्त नाम दिया गया और इसे सबसे पहले मद्रास में शुरू किया गया। रैयतवारी बंदोबस्त के साथ सर थामस मुनरो का नाम खासतौर से जुड़ा हुआ है क्योंकि 1807 की जमींदारी प्रणाली के विरोध में उन्होंने सबसे पहले मद्रास के गवर्नर की हैसियत से 1820 में मद्रास के अधिकतर हिस्सों के लिए सामान्य बंदोबस्त के रूप में यह व्यवस्था जारी की थी। यह व्यवस्था बाद में अन्य कई सूबों में लागू की गई और आज यह व्यवस्था ब्रिटिश भारत के आधे से अधिक हिस्से में लागू है।

हालांकि रैयतवारी बंदोबस्त के बारे में यह दलील दी गई थी कि यह भूमि व्यवस्था भारतीय संस्थाओं के काफी समान है परंतु वास्तविकता यह थी कि यह बंदोबस्त जमींदारी प्रथा से किसी भी मामले में कम घातक नहीं था। इसका कारण यह था कि इस प्रणाली के अंतर्गत किसानों से अलग अलग समझौता कर लिया जाता था और मालगुजारी का निर्धारण वास्तविक उपज की मात्रा के आधार पर न करके जमीन के क्षेत्रफल के आधार पर किया जाता था। असल में, मद्रास के बोर्ड आफ रेवेन्यू ने इस नई प्रथा का काफी दिनों तक डटकर विरोध किया और उसने चाहा कि हर गांव की आबादी के साथ सामूहिक बंदोबस्त किया जाए जिसे मौजावारी बंदोबस्त कहा जाता था। लेकिन बोर्ड को अपने इन प्रयासों में सफलता नहीं मिली। 1818 में रैयतवारी व्यवस्था की आलोचना करते हुए उन्होंने जो ज्ञापन दिया वह देखने योग्य है :

> हम देखते हैं कि विदेशी विजेताओं का एक छोटा सा गिरोह एक ऐसे विशाल भूभाग पर अधिकार जमा लेता है जिसमें रहने वाले लोग विभिन्न राष्ट्रीयताओं के हैं और जिनकी भाषा, रीति रिवाज तथा आदतें विजेताओं की आदतों से एकदम भिन्न हैं। इन लोगों को नए विजित क्षेत्रों के सही साधनों का और यहां के बाशिंदों की जमीन की काश्त की वास्तविक प्रकृति का कोई ज्ञान नहीं है। इन लोगों ने विजय हासिल करने के साथ ही एक ऐसी खयाली योजना बनानी शुरू कर दी जैसी यूरोप के अत्यंत सभ्य देशों में भी मिलनी मुश्किल है।

इन्होंने जमीन का लगान निर्धारित किया और यह लगान प्रत्येक प्रांत, जिले या गांव के लिए नहीं बल्कि उनके आधिपत्य वाले प्रदेश में पड़ने वाले हर अलग अलग खेतों पर लगाया गया।

हम देखते हैं कि इस तथाकथित विकास के नाम पर अनजाने में ही उन्होंने पुराने बंधनों को समाप्त कर दिया और उन प्रथाओं को खत्म कर दिया जिन्होंने प्रत्येक हिंदू गांव की जनता को एक सूत्र में बांध रखा था। इसके साथ ही कृषि संबंधी कानून के जरिए उस जमीन पर से ग्रामीणों का अधिकार समाप्त कर दिया जिसपर सदियों से ग्रामीण समाज का सामूहिक स्वामित्व था।…उन्होंने घोषणा की कि वे प्रत्येक खेत के लिए उनकी मांगें सीमित कर देंगे लेकिन वास्तविकता यह थी कि इस तरह की सीमा निर्धारित करके और एक ऐसी अधिकतम सीमा की घोषणा करके जिसे प्राप्त करना संभव नहीं था तथा अपने से पूर्ववर्ती मुस्लिम सरकार की तरह जनता पर मनमाने कर का निर्धारण करके उन्होंने किसानों को जबरदस्ती खेत जोतने के लिए मजबूर किया। यदि किसानों ने खेत जोतने से इंकार किया और गांव छोड़ने की कोशिश की तो वे उन्हें जबरन वापस घसीट लाए, उनकी मांगों को तब तक टालते रहे जब तक फसलें पककर तैयार नहीं हो गईं। इसके बाद जितना भी वे वसूल सकते थे, उतना उन्होंने वसूल लिया और बैलों तथा अनाज के दानों (बीज के लिए) के अलावा किसानों के पास कुछ भी नहीं छोड़ा। यह कहना ज्यादा सही होगा कि उन्होंने किसानों की उनके बैल और बीज के लिए थोड़ा अनाज देने का अनुग्रह किया। इस प्रकार उन्होंने इन किसानों को खेतीबारी के ऐसे काम में लगा दिया जिसमें वे सारी मेहनत इन विजेताओं के लिए करते रहें न कि अपने लिए। (मद्रास बोर्ड आफ रेवेन्यू की 5 जनवरी 1918 की रिपोर्ट का विवरण)

वहां के अधिकारियों ने सामूहिक समझौते के पक्ष में तर्क दिए और इस तथ्य को मान्यता देने की बात कही कि 'ये जमीनें युगों युगों से ग्रामीण समुदाय के सामूहिक स्वामित्व के अधीन हैं,' लेकिन उनके तर्कों को अनसुना कर दिया गया। लंदन के कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने रैयतवारी प्रथा के पक्ष में फैसला लिया था उस समय के दस्तावेज की शब्दावली में कहें तो 'किसानों को निजी मिल्कियत का वरदान देने' का फैसला किया और उनके निर्देशों से लैस होकर थामस मुनरो लंदन से वापस आए ताकि वे इस प्रथा को सामान्य समझौते के रूप में लागू करें।

इस प्रकार ब्रिटिश भारत में जमीन की काश्तकारी को परंपरागत रूप में तीन मुख्य वर्गों में रखा गया। तीनों वर्गों की व्यवस्था में लोगों को जमीन पर अधिकार की प्राप्ति ब्रिटिश सरकार से होती थी क्योंकि उसका दावा था कि देश की समूची जमीन का सर्वोच्च स्वामित्व उसके पास है।

एक तो, बंगाल, बिहार और उत्तरी मद्रास के कुछ हिस्सों में स्थाई जमींदारी बंदोबस्त था जिसके अंतर्गत ब्रिटिश भारत की कुल 19 प्रतिशत जमीन पड़ती थी। दूसरा, अस्थाई जमींदारी बंदोबस्त जिसमें संयुक्त प्रांत और मध्य प्रांत का अधिकांश तथा बंगाल, बंबई और पंजाब के कुछ हिस्से शामिल थे (यह या तो अलग अलग लोगों के साथ किया गया था या समूह के मालिकों के साथ था जैसाकि पंजाब में आजमाए गए तथाकथित साझा बंदोबस्त के मामले में था)। इस व्यवस्था के अंतर्गत 30 प्रतिशत क्षेत्र आता था। तीसरा, रैयतवारी बंदोबस्त जिसके अंतर्गत 51 प्रतिशत क्षेत्र था। यह बंदोबस्त बंबई, मद्रास के अधिकांश इलाकों, बरार, सिंध, असम तथा अन्य हिस्सों में लागू था।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ब्रिटिश भारत के केवल 49 प्रतिशत इलाकों में ही जमींदारी प्रथा थी। व्यवहार में, जमीन को बटाई पर उठाकर तथा सूदखोर महाजनों एवं अन्य लोगों द्वारा असली किसान को उसकी जमीन से बेदखल करके और खुद उसे हथिया कर रैयतवारी इलाकों में भी जमींदारी प्रथा बड़े व्यापक रूप में और बड़ी तेजी से फैल गई थी। मुमकिन है कि इस प्रथा को शुरू करते समय असली किसान के साथ सीधे बंदोबस्त करने का इरादा रहा हो पर अब तक इन संबंधों में काफी परिवर्तन हो चुका है। अनुमान लगाया गया है कि 'मद्रास और बंबई में 30 प्रतिशत से अधिक जमीन ऐसी है जिसे काश्तकार खुद नहीं जोतते हैं' (मुखर्जी : 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया', पृष्ठ 329), 1901 से 1921 के बीच मद्रास में, गैरखेतिहर भूस्वामियों की संख्या, प्रति हजार 19 से बढ़कर 49 हो गई; जबकि खेतिहर भूस्वामियों की संख्या प्रति हजार 484 से घटकर 381 हो गई; खेतिहर काश्तकारों की संख्या प्रति हजार 151 से बढ़कर 225 हो गई। 1921 के लिए की गई पंजाब की जनगणना रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि कृषीय भूमि से मिलने वाले लगान पर जीविका चलाने वालों की संख्या 1911 में 626,000 थी, जो 1921 में बढ़कर 1,008,000 हो गई। 1891 से 1921 के बीच संयुक्त प्रांत में ऐसे लोगों की संख्या 46 प्रतिशत तक बढ़ गई जिनकी आय का मुख्य स्रोत कृषीय लगान था। मध्य प्रांत और बरार में इसी अवधि में लगान प्राप्त करने वालों की संख्या में 52 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

भारत भर में जमींदारी प्रथा का इस तरह फैलना और आधुनिक युग में इसका अधिकतम तेजी से बढ़ना इस बात का प्रतीक है कि किसानों को तेजी से उनकी जमीन से बेदखल किया जा रहा है और छोटे बड़े धनवान लोग उद्योग धंधों में पूंजी लगाने का कोई कारगर उपाय न देखकर खेती में पूंजी लगाने की कोशिश में लगे हैं। काफी बड़े बड़े इलाकों में शिकमी दर शिकमी एक श्रृंखला तैयार हो गई है ('कुछ इलाकों में तो छोटे दर्जे के जमींदारों की संख्या में जबरदस्त वृद्धि हुई है। कहीं कहीं तो जमीन जोतने वाले वास्तविक काश्तकार तथा जमींदार के बीच पचास या इससे भी अधिक मध्यस्थ स्वार्थी उत्पन्न किए गए हैं।' साइमन रिपोर्ट, खंड 1, पृष्ठ 340)

इसका परिणाम यह हुआ है कि सरकार ने किसानों की रक्षा के लिए काश्तकारी से

संबंधित जो कानून बनाए हैं, वे केवल छोटे दर्जे के जमींदारों तक ही पहुंचे हैं और वास्त-
विक किसानों की ज्यादातर संख्या यदि भूमिहीन मजदूर की स्थिति में नहीं तो ऐसी
अधिकारहीन स्थिति में तो पहुंच ही गई है जिनका सरकार और बड़े मुफ्तखोरों के अति-
रिक्त ऐसे तमाम बिचौलियों द्वारा बेरहमी के साथ शोषण किया जा रहा है जो काम कुछ
नहीं करते और किसानों की मेहनत पर ऐश करते हैं। यह प्रक्रिया जिसने जमींदारी प्रथा
की असंगतियों को चरम सीमा पर पहुंचा दिया है, इस बात की अभिव्यक्ति है कि भारत
में खेती का संकट दिनोंदिन गंभीर होता जा रहा है।

4. किसानों की दरिद्रता

इन स्थितियों के नतीजे के रूप में, भारत में कृषि संबंधों की जो तस्वीर हमारे सामने
उभरती है वह बहुत उग्र और निरंतर बढ़ते हुए वर्गभेदों की तस्वीर है। 1931 की जन-
गणना के आंकड़े देखने से भारत की खेती में वर्ग विभाजन के निम्न स्वरूप का पता
चलता है :

लगान वसूलने वाले ऐसे भूस्वामी जो खेती नहीं करते	4,150,000
खेती करने वाले भूस्वामी और दूसरों की जमीन जोतने वाले किसान	65,495,000
खेत मजदूर	33,523,000

इस वर्गीकरण का बहुत सीमित महत्व है क्योंकि 'खेती करने वाले भूस्वामी और दूसरे
की जमीन जोतने वाले किसान' के नाम से जो सामान्य वर्गीकरण किया गया है उससे
जोतों के क्षेत्र पर कोई रोशनी नहीं पड़ती और फलस्वरूप बड़े किसान, मंझोले किसान
और गरीब किसान के बीच भेद नहीं हो पाता। खासतौर से इस वर्गीकरण से यह नहीं
मालूम हो पाता कि उन किसानों की कितनी बड़ी संख्या है जिनके पास गैरआर्थिक जोतें
हैं, जिनकी हालत मजदूरों जैसी हो गई है और जिन्हें मेहनत मजदूरी करके किसी तरह
अपनी रोटी चलानी पड़ती है। व्यवहार में छोटे शिकमी किसान और मजदूर में बड़ा
मामूली फर्क रह जाता है। इसलिए किसानों की हालत की सही तस्वीर की जानकारी
के लिए हमें जनगणना के आंकड़ों के साथ साथ सरकारी और गैरसरकारी स्तर पर की
गई क्षेत्रीय तथा स्थानीय जांच पड़ताल के नतीजों को भी देखना चाहिए।

वर्गीकरण की प्रणाली में परिवर्तनों के कारण जनगणना के पुराने आंकड़ों के साथ तुलना
भी नहीं हो पाती। 1921 की जनगणना से पता चलता है कि खेती से जीविका चलाने
वालों की संख्या 22 करोड़ 10 लाख थी जो 1931 में 10 करोड़ 30 लाख हो गई। इनमें
परिवार के आश्रितों की संख्या भी शामिल है। इसलिए यह जरूरी है कि पुरानी जन-
गणना में 'वास्तविक कामगरों' की संख्या अर्थात 10 करोड़ को 1931 की संख्या अर्थात
10 करोड़ 30 लाख' के साथ ध्यान में रखें ताकि मोटे तौर पर ही सही, तुलना तो की

जा सके। वर्गीकरण की प्रणाली में और परिवर्तन करके इस तुलना को भी निष्प्रभाव बना दिया गया है। बाद के वर्गीकरण में उन सब लोगों को अलग कर दिया गया जिनके खेती के पेशे को अन्य पेशों का पूरक माना जाता था। इसके अलावा खेती के काम में मदद देने वाली महिलाओं को, जो किसानों की संबंधी थीं और जिनकी संख्या 70 लाख होती थी 'घरेलू काम' के वर्ग में डाल दिया गया। इस प्रकार खेती के काम में लगे लोगों की संख्या में गिरावट आने का भ्रामक चित्र पेश किया गया (जैसाकि पृष्ठ 188-89 में पहले ही बताया जा चुका है)। फिर भी, बाद का परिवर्तन जो निष्कर्ष निकाले जाने हैं उनके सामान्य प्रभाव को मजबूत ही करता है। इस आधार पर किए गए तुलनात्मक अध्ययन से निम्न नतीजे निकलते हैं :

	1921 लाख में	1931 लाख में
खेती न करने वाले जमींदार	37	41
किसान (भूस्वामी या काश्तकार)	746	655
खेत मजदूर	217	335

इन आंकड़ों के जरिए खासतौर से दूसरे वर्ग के संबंध में कोई विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकता। ऐसा क्यों नहीं संभव है, इसके कारण पहले ही बताए जा चुके हैं। लेकिन यहां, निस्संदेह एक सामान्य प्रवृत्ति का पता चलता है, जिसे हम खेती न करने वाले जमींदारों की संख्या में हुई वृद्धि (1911 के आंकड़े के अनुसार यह संख्या 28 लाख थी) तथा भूमिहीन खेत मजदूरों की संख्या में हुई जबरदस्त वृद्धि में देख सकते हैं। मद्रास के बारे में और विस्तृत आंकड़े लिए जा सकते हैं :

मद्रास में कृषि के क्षेत्र में वर्ग विभाजन
(कृषीय आबादी का प्रति हजार)

	1901	1911	1921	1931
काम न करने वाले भूस्वामी	19	23	49	34
काम न करने वाले काश्तकार	1	4	28	16
काम करने वाले भूस्वामी	481	426	381	390
काम करने वाले काश्तकार	151	207	225	120
खेत मजदूर	345	340	317	429

(1901-21 के आंकड़े जनगणना रिपोर्टों पर आधारित हैं और पी० पी० पिल्ले की पुस्तक 'इकानामिक कंडीशंस इन इंडिया' के पृष्ठ 114 पर इनका उल्लेख है; 1931 के आंकड़े, मद्रास की 1931 की जनगणना रिपोर्ट से लिए गए हैं।)

1901 से 1931 के तीस वर्षों में ऐसे लोगों की संख्या बढ़कर ढाई गुनी हो गई है जो काम नहीं करते और लगान वसूलते हैं (प्रति हजार 20 से बढ़कर 50); खेती करने वाले भूस्वामियों या काश्तकारों की संख्या में एक चौथाई तक की कमी हुई है (प्रति हजार 625 से घटकर 510); भूमिहीन मजदूरों की संख्या, जो पहले कुल आबादी का एक तिहाई थी, अब आबादी की लगभग आधी हो गई (प्रति हजार 345 से बढ़कर 429)।

बंगाल में हमें निम्न स्थिति का पता चलता है (जनगणना परिणामों पर आधारित):

	1921	1931	परिवर्तन
खेती न करने वाले जमींदार या लगान वसूलने वाले	390,562	633,834	+61%
खेती करने वाले भूस्वामी और काश्तकार	9,274,924	6,079,717	—50%
मजदूर	1,805,502	2,718,939	+34%

यहां भी इन आंकड़ों से कोई तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकता क्योंकि वर्गीकरण में परिवर्तन कर दिया गया है जिससे कुल कृषीय आबादी में 20 लाख तक की गिरावट का एक भ्रम पैदा होता है। लेकिन इससे खेती न करने वाले पर लगान वसूलने वाले लोगों और भूमिहीन खेत मजदूरों की संख्या में आनुपातिक वृद्धि की वास्तविकता सिद्ध होती है।

ऐसे लोगों की संख्या में जो लगान तो वसूलते हैं पर खेती नहीं करते, आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। देश के विभिन्न हिस्सों से मिले साक्ष्यों से इसकी पुष्टि होती है। पिछले अध्याय में इसका उल्लेख हो चुका है। इससे पता चलता है कि किसानों को कितने बड़े पैमाने पर जमीन से बेदखल किया गया था।

भूमिहीन खेत मजदूरों की संख्या बढ़ने की बात इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। 1842 में सर थामस मुनरो ने जनगणना कमिश्नर की हैसियत से कहा कि भारत में एक भी भूमिहीन किसान नहीं है (यह निश्चित रूप से एक गलत बयान था लेकिन इससे संकेत मिलता है कि भूमिहीन किसानों की संख्या ऐसी नहीं मानी गई थी जिसका हिसाब रखने की जरूरत हो)। 1882 की जनगणना में अनुमान लगाया गया कि खेती के काम में 75 लाख 'भूमिहीन दिन-मजदूर' लगे हैं। 1921 की जनगणना के समय खेत मजदूरों की संख्या 2 करोड़ 10 लाख थी जो खेती में लगे लोगों की आबादी का पांचवा हिस्सा थी। 1931 की जनगणना से पता चला कि यह संख्या 3 करोड़ 30 लाख हो गई जो खेती में लगे लोगों की आबादी का एक तिहाई है। तब से यह अनुमान लगाया गया है कि वर्तमान वास्तविक अनुपात लगभग आधा है[4] (जैसाकि 1938 में बंगाल विधानसभा में काश्तकारी

कानून में संशोधन संबंधी बहसों में देखा गया, मद्रास के बारे में ऊपर उद्धृत आंकड़े भी इसी बात का संकेत देते हैं)।

इन खेत मजदूरों की मजदूरी के संदर्भ में निम्नांकित तालिका काफी महत्वपूर्ण है :

	1842	1852	1862	1872	1911	1922
खेत मजदूर की दैनिक मजदूरी, बिना भोजन के (आनों में)	1	1½	·2	3	4	4 से 6
चावल का मूल्य (सेर प्रति रुपया)	40	30	27	23	15	5

(आर० मुखर्जी : 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया', पृष्ठ 222)

इस प्रकार, इस दौरान खेत मजदूरों की नकद मजदूरी में जहां चार से लेकर छ: गुनी वृद्धि हुई, वहीं चावल का मूल्य आठ गुना बढ़ गया। कहने का अर्थ यह है कि 'प्रगति' के इन 80 वर्षों के दौरान, वास्तविक मजदूरी में एक चौथाई से आधे तक की गिरावट आई है। 1934 के पंचवार्षिक मजदूरी सर्वेक्षण (क्विगक्वेनियल वेज सर्वे) की रिपोर्ट के अनुसार 1934 में औसत दैनिक मजदूरी 3 आना या 3 पैंस थी। 326 गांवों में दैनिक मजदूरी डेढ़ आना या डेढ़ पैंस थी।

इस मापदंड के और नीचे उतरने पर, यदि और नीचे आना संभव हो तो, हम कृषि दासता बेगार, साहूकारों की गुलामी, मजदूरी से वंचित भूमिहीन मजदूरों के ऐसे अंधकारपूर्ण क्षेत्र में पहुंच जाते हैं जो भारत के सभी हिस्सों में मौजूद है, जिसके बारे में आंकड़े मौन हैं।

> भारत में आर्थिक सीढ़ी के सबसे निचले हिस्से में वे स्थाई खेतिहर मजदूर खड़े हैं जिन्हें शायद ही कभी नकद मजदूरी मिलती हो, जिनकी स्थिति पूर्ण दास या आंशिक दास की है। भारत के अनेक भागों में यह प्रथा प्रचलित है कि जमींदार, मालगुजार या साधारण कृषक लगभग हमेशा ही अपने नौकर को कर्ज के जाल में फंसाने में सफल हो जाता है और इस प्रकार नौकर पर उसकी जकड़ मजबूत हो जाती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है।
>
> बंबई प्रेजीडेंसी में डबला और कोली लोग हैं जो कमोवेश बंधुआ गुलाम मजदूर

हैं। इनमें से अधिकांश के परिवार के सदस्य, पिछली कई पीढ़ियों से अपने मालिकों के परिवार की सेवा एकदम गुलाम की तरह कर रहे हैं···

मद्रास के दक्षिण पश्चिम में इझवा, चेरुमा, पुलेया और होलिया लोग हैं। ये सब वस्तुत: गुलाम हैं। पूर्वी तटवर्ती प्रदेश में जमीन पर सबसे मजबूत पकड़ ब्राह्मणों की है और खेतिहर मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा पारिया लोगों का है जो प्राय: पाडियाल होते हैं। पाडियाल खेतिहर गुलामों की एक जाति है जो कर्ज के कारण किसी जमींदार की पुश्तैनी गुलामी की जकड़ में फंस गए— यह कर्ज कभी चुकता नहीं हो सका बल्कि एक पुश्त से दूसरे पुश्त पर चढ़ता चला गया और देनदार जब अपनी जमीन किसी के हाथ बेचता था या मरता था तो पडियाल लोगों का भी जमीन के साथ ही नए मालिक के पास स्थानांतरण हो जाता था···

खेतिहर मजदूरों का सबसे निकृष्ट रूप बिहार के कामिया लोगों में दिखाई देता है। ये लोग बंधुआ मजदूर हैं जो लिए गए कर्ज पर चढ़ रहे सूद के बदले में अपने मालिक के लिए नीच से नीच कर्म करने के लिए मजबूर हैं। (आर० मुखर्जी : 'लैंड प्राब्लम्स आफ इंडिया', पृष्ठ 225-29)

अनेक इलाकों में ये खेतिहर गुलाम और साहूकारों के दास आदिवासी जातियों के लोग हैं। लेकिन जिसकी जमीन छिन गई है और जो कर्ज के कारण साहूकार की गुलामी में जकड़ा गया है या जो बटाई पर खेती करने के लिए मजबूर है उस किसान की हालत भी कानूनी खेतिहर गुलाम से कोई बहुत अच्छी नहीं है।

इनसे काफी हद तक मिलती जुलती स्थिति बागान मजदूरों की है। चाय, काफी और रबर के बड़े बड़े बागानों में 10 लाख से भी अधिक मजदूर काम करते हैं और इन बागानों में से 90 प्रतिशत से अधिक पर यूरोपीय कंपनियों का स्वामित्व है। इन मजदूरों की मेहनत से बागान मालिक काफी मुनाफा कमा रहे हैं। इन बागानों में देश भर से मजदूर भरती किए गए हैं। मजदूर इन बागानों में अपने परिवार के साथ रहते हैं जिनपर बागान मालिकों का पूरा पूरा नियंत्रण है। मजदूरों के परिवार के सदस्यों को अत्यंत बुनियादी नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। पुरुषों, महिलाओं और बच्चों के श्रम का अत्यंत कम मूल्य पर शोषण किया जाता है। हालांकि हाल के वर्षों में कठोर श्रम वाले अनुबंध विधिवत समाप्त कर दिए गए हैं और 1930 की ह्विटले रिपोर्ट के बाद कई कानून लागू किए गए हैं लेकिन अब भी यहां काम करने वाले मजदूर बड़े कारगर ढंग से अपने मालिकों की मरजी से बंधे हैं। इन मजदूरों को काफी लंबी अवधि के लिए, यहां तक कि जीवन भर के लिए, मालिकों की गुलामी करनी पड़ती है।

किसानों को कंगाल बनाए जाने का पता भूमिहीन मजदूरों की संख्या में निरंतर वृद्धि से चलता है। इनकी संख्या कृषि में लगी कुल आबादी का एक तिहाई या कहीं कहीं ½ तक है। दरअस्ल गैरआर्थिक जोतों के मालिक किसानों, शिकमी देने वाले काश्तकारों और आरक्षित काश्तकारों के बहुमत की स्थिति में भी खेतिहर मजदूरों से बहुत फर्क नहीं है और दोनों के बीच का भेद बहुत अस्पष्ट है। 1930 में मद्रास बैंकिंग इंक्वायरी रिपोर्ट ने लिखा :

> खेतों में काम करने वाले नौकरों और शिकमी किसानों के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींचना हमारे लिए काफी कठिन है। शिकमी की प्रथा में ऐसा कम ही होता है कि किराए का भुगतान मुद्रा में किया जाता हो। यह प्रथा आमतौर से बटाई के आधार पर चलती है। जमींदार को फसल का 40 से 60 प्रतिशत और कहीं कहीं 80 प्रतिशत हिस्सा मिलता है तथा शेष अंश काश्तकार प्राप्त करता है। आमतौर से काश्तकार साल दर साल इन्हीं शर्तों पर कठोर परिश्रम करता रहता है, जमींदार से कर्ज लेता रहता है और जमींदार ही उसे बीज तथा हल बैल देता है। दूसरी तरफ, खेत पर काम करने वाला नौकर जमींदार से बीज और हल बैल प्राप्त करता है, छोटी मोटी जरूरतों के लिए समय समय पर उसे जमींदार से अग्रिम धनराशि मिल जाती है और फसल तैयार होने पर उसे फसल का कुछ हिस्सा मिल जाता है। कुछ मामलों में इन नौकरों को अनाज की एक निश्चित मात्रा के साथ साथ थोड़ी नकद राशि भी मिल सकती है। मुमकिन है कि कोई काश्तकार अपने बीज और हल बैल से खेती करे लेकिन व्यवहार में इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है; और ऐसी हालत में जब जमींदार अनुपस्थित हो तो यह हमेशा स्पष्ट नहीं रहता है कि वास्तविक किसान शिकमी काश्तकार है या खेती पर काम करने वाला नौकर।

1927 में एन० एम० जोशी ने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के समक्ष अपना यह अनुमान प्रस्तुत किया था कि देश भर में खेतिहर मजदूरों की संख्या ढाई करोड़ है और 5 करोड़ लोग ऐसे हैं जो आंशिक तौर पर खेत मजदूर हैं। इस प्रकार बहुसंख्यक भारतीय किसानों की स्थिति छोटे किसान की बजाय ग्रामीण सर्वहारा के ज्यादा करीब है।

साम्राज्यवादियों के आत्मसंतोष का महत्वपूर्ण दस्तावेज 1930 की साइमन कमीशन रिपोर्ट ने, दो वर्ष पूर्व की कृषि आयोग रिपोर्ट को दुहराते हुए एलान किया था :

> आज भी सही अर्थों में खेतिहर वही व्यक्ति है जिसके पास एक जोड़ा बैल हैं और जो अपने परिवार की मदद से तथा कभी कभी किराए पर मजदूर लगाकर कुछ एकड़ जमीन जोत लेता हो। (साइमन रिपोर्ट, खंड 1, पृष्ठ 18)

मौजूदा सच्चाइयों के संदर्भ में यह तस्वीर कितनी काल्पनिक है, यह यहां प्रस्तुत तथ्यों से देखा जा सकता है। 1927 में कृषि आयोग के समक्ष दिए गए साक्ष्य में, बंबई के एक जिले का विश्लेषण दिया गया था। इस जिले का क्षेत्रफल 10 लाख एकड़ था और इसे 'अन्य अनेक ज़िलों की तुलना में अत्यधिक खुशहाल' घोषित किया गया था। 1917 से 1922 के महज पांच वर्षों के जोतों के अनुपात में जो परिवर्तन आया वह इस प्रकार था (खंड II, साक्ष्य का प्रथम भाग, पृष्ठ 292) :

जोतों की संख्या

जोत एकड़ में	1917	1922	कमी या वृद्धि (प्रतिशत)
5 से कम	6,272	6,446	+2.6
5 से 15	17,909	19,130	+6.8
15 से 25	11,908	12,018	+0.9
25 से 100	15,532	15,020	—3.3
100 से 500	1,234	,117	—9.5
500 से अधिक	20	19	—5.0

गवाह ने, जो सरकारी अधिकारी था, टिप्पणी की :

> इन आंकड़ों को, जो केवल पांच वर्षों की अवधि के हैं, देखने से मुझे ऐसा लगता है कि 15 एकड़ तक की जोतों में खेती करने वाले किसानों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। लेकिन 15 एकड़ का यह क्षेत्र कुछ जमीनों को छोड़कर ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें दो बैलों से खेती करने पर कोई फायदा हो···25-100 एकड़ की जोतों में भी गिरावट आई है जिसका अर्थ यह है कि अपेक्षाकृत समृद्ध खेतिहर वर्ग की जो थोड़ी पूंजी के साथ अपने को स्थापित करने में भाग्यशाली साबित हों, संख्या में कमी आई है।

इस प्रकार 1922 तक कुल खेतिहर जोतदारों का आधा हिस्सा (भूमिहीन मजदूरों की विशाल संख्या को छोड़कर) ऐसा था जिसके पास इस तरह की जोतें नहीं थीं जिसमें वह दो बैलों से खेती करके लाभ कमा सके। इनकी संख्या तेजी से बढ़ रही थी।

किसानों की वास्तविक स्थिति के किसी भी सर्वेक्षण से जोतों के आकार के महत्वपूर्ण मसले के बारे में जानकारी मिल सकती है। इस संदर्भ में इस अध्याय के दूसरे भाग में कुछ सूचनाएं दी गई हैं। पुरानी जनगणना की शब्दावली में 'साधारण किसानों' (चाहे वे खेत के मालिक हों या काश्तकार) और भूमिहीन मजदूरों के बीच जो भेद किया गया है उससे वास्तविक स्थिति का बहुत कम संकेत मिलता है। सही स्थिति का पता उस भेद-भाव से चल सकता है जो भूमिहीन मजदूरों की विशाल संख्या और गैरआर्थिक जोतों वाले

किसानों तथा आर्थिक जोतों वाले किसानों की भी छोटी संख्या के बीच किया जाता है। इस छोटी संख्या को भले ही 'अपेक्षाकृत समृद्ध खेतिहर' और लगान वसूलने वाले गैर-खेतिहर किसानों के वर्ग में क्यों न रखा जाए।

बंगाल मालगुजारी आयोग (बंगाल लैंड रेवेन्यू कमीशन, फ्लाउड कमीशन) के सामने जो गवाहियां पेश हुई थीं उनमें आमतौर पर यह विचार प्रकट किया गया था कि एक औसत परिवार के लिए अपना पूरा खर्च चलाने के लिए कम से कम पांच एकड़ जमीन की जरूरत है। लेकिन आयोग को जांच के दौरान पता चला कि बंगाल के लगभग तीन चौथाई किसान परिवारों के पास पांच एकड़ से कम जमीन है और 57.2 प्रतिशत जोतों का क्षेत्र तीन एकड़ से भी कम है।

डा० हैराल्ड एच० मान द्वारा किए गए महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण 'लाइफ ऐंड लेबर इन ए दक्कन विलेज' से इस स्थिति पर और अधिक रोशनी पड़ती है। डा० मान बंबई में कृषि निदेशक थे और 1914-15 में उन्होंने दक्कन के एक गांव की स्थितियों की व्यापक तौर पर जांच पड़ताल की। यह जांच पड़ताल वास्तविक स्थितियों, खेती, फसल, जमीन की जोतों, ऋण और परिवार के आय व्यय के बारे में की गई विशुद्ध वैज्ञानिक जांच थी जो दक्कन के एक 'गैर उपजाऊ' गांव को सामने रखकर की गई थी। यह पहला मौका था जब इतने व्यापक और सर्वांगीण रूप से कोई जांच की गई हो। इसके परिणाम बेहद चौंका देने वाले थे (खुद लेखक के शब्दों में ये परिणाम अप्रत्याशित अत्यधिक निराशाजनक थे)। ये परिणाम इतने आश्चर्यजनक थे कि इनकी आलोचना की गई और कहा गया कि जिस गांव का सर्वेक्षण किया गया है उसके नतीजों को सर्वमान्य नहीं माना जा सकता। इस खोज की वैज्ञानिकता की आलोचना संभव नहीं थी। इसके बाद डा० मान ने अपनी जांच के लिए एक दूसरा गांव लिया और 1921 में उन्होंने इस गांव का जो अध्ययन प्रकाशित किया उसमें भी लगभग वही निष्कर्ष निकले और इस बार के निष्कर्ष पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे तब से देश के अनेक हिस्सों में इस तरह के सर्वेक्षण किए गए हैं जिनसे आमतौर पर इन निष्कर्षों की सत्यता की पुष्टि हुई है।

जिस पहले गांव का उन्होंने सर्वेक्षण किया था उसमें देखा गया कि 81 प्रतिशत जोतें ऐसी थीं जिनके द्वारा अत्यंत अनुकूल परिस्थितियों में भी उनके मालिकों का खर्च नहीं चल सकता था। 156 जोतों के विभाजन से निम्न तस्वीर उभर कर सामने आई :

30 एकड़ से अधिक	2
20-30 एकड़	9
10-20 एकड़	18
5-10 एकड़	34
1-5 एकड़	71
1 एकड़ से कम	22

भारतीय रैयत के जीवनस्तर के अनुकूल तथा पश्चिमी दक्कन के इस गांव में अधिकांशतः उपलब्ध अच्छी सूखी जमीन की आर्थिक जोत लगभग 10 से 15 एकड़ होगी, कीटिंग के इस अनुमान का अनुसरण करते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'यदि प्रत्येक जोत को एक ही खंड में रखा जाए तो भी यह जाहिर है कि एक बड़े हिस्से (81 प्रतिशत) का क्षेत्र इससे कम है।' रैयत के जीवनस्तर के न्यूनतम आर्थिक राशि के अनुमान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया। इस जीवनस्तर के अंतर्गत शामिल खाने और पहनने की चीजें घटिया से घटिया हैं और कृत्रिम प्रकाश जैसे आराम की भी गुंजाइश नहीं है। कुल 103 परिवारों की जांच से वह इस नतीजे पर पहुंचे कि : 103 में से केवल 8 परिवार ऐसे थे जो अपनी जोतों के आधार पर 'सुदृढ़ आर्थिक स्थिति' में थे; उन परिवारों की संख्या 28 थी जो अपनी जमीन होने के बावजूद बाहर काम करके अपनी स्थिति ठीक बनाए रख सके थे; लेकिन अपनी जोत से पूरी पूरी आय करने के साथ साथ बाहर भी काम करने के बावजूद 'डांवाडोल' आर्थिक स्थितिवाले परिवारों की संख्या 67 थी अर्थात ऐसे परिवारों की संख्या 65 प्रतिशत थी। फिर भी, जहां तक इस पहले गांव की बात है, इसके पड़ोस में हथियार बनाने का एक बड़ा कारखाना था जिसमें कुल आबादी के 30 प्रतिशत हिस्से को रोजगार मिल जाता था और इस सामा तक स्थितियां कोई प्रातिनिधिक स्थितियां नहीं थीं।

दूसरे गांव में, जिसके आसपास कोई कारखाना या औद्योगिक केंद्र नहीं था, 85 प्रतिशत परिवारों की आर्थिक स्थिति काफी 'डांवाडोल' पाई गई। इस गांव में जहां न्यूनतम आर्थिक जोत लगभग 20 एकड़ थी, 77 प्रतिशत जोतें इस स्तर से नीचे थीं। यहां के 147 परिवारों में, पहले वर्ग में 10 परिवार आते थे जो अपनी जोतों के आधार पर अपनी 'सुदृढ़ आर्थिक स्थिति' बनाए रख सकते थे, दूसरे वर्ग में 12 व्यक्ति थे जो अपनी जमीन के साथ साथ बाहर काम करके अपनी स्थिति ठीक रख सकते थे और 125 व्यक्ति अथवा 85 प्रतिशत लोग ऐसे थे जो अपनी जमीन से पूरी पूरी आय करने के अलावा बाहर भी काम करते थे और फिर भी उनकी आर्थिक स्थिति 'डांवाडोल' थी। इस अंतिम वर्ग में कुल 732 लोगों की आबादी में से 664 व्यक्ति आते थे, अर्थात आबादी के 91 प्रतिशत लोग इस 'डांवाडोल' आर्थिक स्थिति में थे।

सर्वाधिक न्यूनतम स्तर से भी नीचे रहने वाली यह विशाल संख्या किस पर अपना जीवन निर्वाह कर पाती है? वे अपना काम नहीं चला सकते। नतीजा यह होता है कि वे अनिवार्य रूप से कर्ज के गड्ढे में दिनोदिन डूबते जाते हैं, अपनी जमीन से हाथ धो बैठते हैं और भूमिहीन खेत मजदूरों की फौज का एक हिस्सा बन जाते हैं। जांच से पता चला कि गांवों पर कर्ज की जबरदस्त पकड़ है जो दिनोदिन सख्त होती जा रही है। सर्वेक्षण किए गए पहले गांव की कुल वार्षिक आय 8,338 रुपये थी जबकि कर्ज की राशि 2,515 रुपये थी। इस समय गांवों पर कर्ज का असह्य बोझ है जो गांव के कुल पूंजीगत मूल्य का 12 प्रतिशत है और जमीन से जितनी आय होती है उसका 24.5 प्रतिशत ऋण के भुगतान

में जाता है' (पृष्ठ 152)। दूसरे सर्वेक्षण से पता चला कि जमीन से कुल आय 15,807 रुपए की हुई जबकि ऋण के भुगतान के रूप में 6,755 रुपये अदा किए गए। अर्थात जमीन से हुई आय का $\frac{2}{5}$ भाग सूदखोर महाजन के पास गया।

अपने सर्वेक्षण के अंत में डा० मान ने सामान्य निष्कर्ष के रूप में लिखा :

> ऐसा लगता है कि यदि हमारी खोजबीन और गणनाएं गांव के जीवन की कोई सही तस्वीर पेश करती हैं तो औसतन भोजन मिलता है, कर्ज के बोझ से वे पहले से ज्यादा दब जाते हैं और वर्तमान आबादी तथा खेती के वर्तमान साधनों से वे वास्तविक आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में प्रत्यक्षत: पहले से भी कम समर्थ हैं।

5. कर्ज का बोझ

जैसे जैसे किसान की कठिनाइयां बढ़ती जाती हैं, वैसे वैसे उसके ऊपर कर्ज का बोझ भी ज्यादा बढ़ता जाता है और उसकी कठिनाइयों में वृद्धि होती जाती है। इस तरह वह एक दुश्चक्र में फंस जाता है जिसकी अंतिम परिणति यह होती है कि वह अपनी जमीन से बेदखल कर दिया जाता है। इस प्रकार कर्ज के बोझ का बढ़ते जाना, और इससे जुड़ी प्रक्रियाओं यानी गैरखेतिहरों के हाथों जमीन को गिरवी रखने, बेचने या हस्तांतरण करने का सिलसिला ही वह प्रमुख मापदंड है जिससे इस कृषि के क्षेत्र में व्याप्त संकट को नाप सकते हैं। साइमन कमीशन रिपोर्ट (खंड 1, पृष्ठ 16) के अनुसार 'किसानों की विशाल संख्या सूदखोर से मिले ऋण पर गुजारा करती है।'

ब्रिटिश राज के साथ साथ किसानों पर कर्ज का बोझ भी बढ़ता गया है और यह प्रश्न एक बहुत आवश्यक और व्यापक बन गया है यह बात सभी लोग स्वीकार करते हैं। 1911 में सर एडवर्ड मैकलागन ने लिखा :

> बहुत पहले से यह माना जाता है कि कर्ज के बोझ से दबा होना भारत के लिए कोई नई स्थिति नहीं है। मुनरो, एलफिस्टन और अन्य लोगों ने अपनी पुस्तकों में स्पष्ट कर दिया है कि हमारे शासन की शुरुआत से पहले भी काफी लोग कर्ज से दबे थे। लेकिन यह भी माना गया है कि हमारे शासनकाल में और खासतौर से पिछले 50 वर्षों में लोगों के कर्जदार होने की दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। समय समय पर मिली रिपोर्टों से वार्षिक बिक्री तथा गिरवी रखने से संबंधित आंकड़ों को देखने से साफ पता चलता है कि पिछले 50 वर्षों में कर्ज की राशि में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। (1911 में सर एडवर्ड मैकलागन का कथन जो सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी की 1931 की रिपोर्ट में पृष्ठ 55 पर उद्धृत है।)

1880 में ही अकाल अयोग ने कहा था :

> जिन लोगों के पास जमीनें हैं उनका एक तिहाई हिस्सा गंभीर और विकट रूप से कर्ज में डूबा हुआ है और कम से कम इतनी ही संख्या में अन्य लोग कर्ज के बोझ में लदे हैं हालांकि उनमें इस कर्ज से उबरने की क्षमता भी है।

तब से कर्ज का यह बोझ तेजी से बढ़ा है। 1928 में कृषि आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा :

> इसकी काफी अधिक संभावना है कि कुल ग्रामीण ऋण में वर्तमान शताब्दी में ही वृद्धि हुई है। क्या जनता की बढ़ती हुई परिसंपत्ति और ऋण का अनुपात एक ही स्तर पर बना हुआ है ? और पुराने किसानों की तुलना में समृद्ध किसानों पर यह बोझ भारी है या हल्का ? इन सवालों का, उपलब्ध प्रमाणों से कोई जवाब नहीं मिलता। (रिपोर्ट आफ दि ऐग्रीकल्चरल कमीशन, 1928, पृष्ठ 441)

कर्ज में वृद्धि के इस तथ्य की पुष्टि 1931 में सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी से होती है :

> कृषीय ऋणग्रस्तता के परिमाण में वृद्धि हुई है या कमी, इस प्रश्न पर आम धारणा यही है कि पिछली सदी के दौरान इसके परिमाण में वृद्धि हुई है। (रिपोर्ट आफ दि सेंट्रल बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी, 1931, पृष्ठ 55)

उस समय (1931) ग्रामीण ऋण के बारे में समिति ने अनुमान लगाया था कि यह 900 करोड़ रुपये या 67 करोड़ 50 लाख पौंड था। लेकिन उसके बाद से, आर्थिक संकट पैदा होने और कृषीय दाम गिरने से ऋण की मात्रा में तेजी से वृद्धि हुई और हाल के अनुमानों से पता चलता है कि यह राशि बढ़कर दुगनी हो गई। (पृष्ठ 262 देखें)

ब्रिटिश शासन के दौरान और खासतौर से आधुनिक काल में ऋणग्रस्तता के इतनी तेजी से बढ़ने के क्या कारण हैं ? समस्या को गंभीरता से न लेने वाले लेखकों तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद के समर्थक लेखक आज भी इस ऋणग्रस्तता को किसानों की 'अदूरदर्शिता' और 'फिजूलखर्ची' का नतीजा साबित करने की कोशिश कर रहे हैं। इसके साथ ही उनका कहना है कि शादी ब्याह, मृत्यु के बाद का क्रिया कर्म इस तरह के दकियानूस सामाजिक समारोहों या मुकदमेबाजी पर पैसा खर्च करने की आदत ही उनकी ऋणग्रस्तता की जड़ है। लेकिन ठोस यथार्थों से इस विश्लेषण की पुष्टि नहीं होती। पहले ही 1875 में दक्कन रायट्स कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था :

> शादी विवाह तथा अन्य समारोहों पर होने वाले खर्च को जरूरत से ज्यादा महत्व दिया गया है......इन अवसरों पर किया जाने वाला खर्च उसके (रैयत के) कुल खर्च में कुछ महत्वपूर्ण जरूर होता है लेकिन उसकी कर्जदारी का यही कारण है, ऐसा मुझे बहुत कम लगता है।

बंगाल की प्रांतीय बैंकिंग जांच समिति का कहना है कि 'गांवों की हालत की गहरी जांच पड़ताल' के फलस्वरूप, यह नतीजा निकलता है कि उपर्युक्त आरोप गलत है। उदाहरण के लिए बोगरा जिले के करीमपुर गांव में, जहां 52 परिवार ऋण के बोझ से दबे थे, 1928-29 के एक वर्ष के दौरान, जिन कामों के लिए कर्ज दिया गया वे इस प्रकार थे :

	रुपयों में
पुराने कर्जों की अदायगी	389
मवेशियों की खरीद सहित पूंजी के और स्थाई विकास के लिए	1,087
जमीन की मालगुजारी और लगान के लिए	573
खेती के लिए	435
सामाजिक और धार्मिक कार्यों के लिए	150
मुकदमेबाजी के लिए	15
अन्य कार्यों के लिए	66
कुल योग	2,715

सामाजिक और धार्मिक कार्यों के लिए या मुकदमेबाजी के लिए कर्ज की जो राशि ली गई वह कुल राशि का केवल 16वां भाग थी। केवल दूसरे मद की राशि ऐसी है जिसे किसी अर्थ में उत्पादक ऋण कहा जा सकता है। यह कुल राशि का 2/5 है और इससे पता चलता है कि किसानों के पास पूंजी की कमी है। शेष राशि, जो कुल राशि की आधी से अधिक है, इसलिए ली गई ताकि जमीन की मालगुजारी, लगान, कर्जों की अदायगी और मौजूदा खेती की अत्यावश्यक जरूरतों को पूरा किया जा सके।

1933-34 में बंगाल में, दक्षिण पश्चिम बीरभूम में एक जांच की गई और उसमें भी इसी तरह के नतीजे सामने आए। यहां 6 गांवों के 426 परिवारों में से 234 परिवार अर्थात 55 प्रतिशत परिवार कर्ज से ग्रस्त पाए गए; इनपर 53,799 रुपये का कर्ज था अर्थात औसतन प्रति परिवार 230 रुपये (17 पौंड 5 शिलिंग) का कर्ज था। कर्ज लेने के निम्न कारण ज्ञात हुए :

कर्ज की मुख्य मद, जो मोटे तौर पर एक चौथाई है, लगान के भुगतान के लिए ली गई; पुराने कर्ज और लगान की मिलीजुली राशि कुल राशि की एक तिहाई है; [illegible] के विकास के लिए कुल राशि का एक चौथाई से भी कम अंश खर्च किया गया; सामाजिक और धार्मिक कार्यों के लिए निर्धारित राशि दूसरे उदाहरण की तुलना में अधिक थी फिर भी

	रुपया	प्रतिशत
लगान देने के लिए	13,007	24.2
पूंजी के विकास के लिए	12,736	23.7
सामाजिक और धार्मिक कार्यों के लिए	12,021	22.3
पुराने कर्जों की अदायगी के लिए	4,503	8.4
खेती में होने वाले खर्च के लिए	2,423	4.5
मुकदमेबाजी के लिए	708	1.3
अन्य कार्यों के लिए	8,401	15.6

(एस० बोस : ए सर्वे आफ रूरल इनडेटनेस इन साउथ वेस्ट बीरभूम, बंगाल, इन 1933-34,' इंडियन जर्नल आफ स्टैटिस्टिक्स, सितंबर 1937)

यह पांचवें हिस्से से थोड़ी ही अधिक रही। कर्ज का मुख्य अंश आर्थिक जरूरतों के लिए लगाया गया; इसका महज एक मामूली हिस्सा उत्पादक ऋण है।

इस प्रकार भारतीय किसानों के ऋण लेने के आर्थिक कारण हैं और जमीन की मालगुजारी तथा लगान के बोझ के जरिए होने वाले उनके शोषण से इनका गहरा संबंध है। उपर्युक्त समिति के शब्दों में 'ऋणग्रस्तता का मुख्य कारण सामान्य तौर पर कृषक वर्ग की गरीबी है।' बंबई के राजस्व विभाग के एक अधिकारी सर टी० होप ने 1879 में दक्कन के खेतिहरों के लिए राहत बिल (दक्कन ऐग्रीकल्चररिस्ट्स रिलीफ बिल) पेश करते हुए अपने भाषण में कहा था : 'किसानों पर लदे हुए कर्ज के बोझ का एक कारण हमारी मालगुजारी व्यवस्था भी है।' दक्कन खेतिहर राहत ऐक्ट की कार्यप्रणाली के बारे में 1892 के आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि 'यह निर्विवाद है कि दक्कन के किसानों के नए नए कर्जों से लदने में वर्तमान प्रणाली की सख्ती एक मुख्य कारण है।' एक ऐसी प्रणाली जो फसल के अच्छी या बुरी होने अथवा आर्थिक परिवर्तनों को ध्यान में रखे बिना 30 वर्षों के लिए एक जैसी मालगुजारी की रकम निर्धारित कर रही हो, उससे भले ही मालगुजारी वसूलने वाले अधिकारी को या अपना बजट तैयार करने वाले सरकारी राजनेता को सहूलियत हो पर जहां तक देश की जनता का सवाल है, जिसे अपनी बेहद अनिश्चित आय में से मालगुजारी के रूप में एक निश्चित रकम दे देनी है, वह फसल न होने वाले वर्षों में बरबाद हो जाती है और उसे अनिवार्यतः सूदखोर महाजन की गिरफ्त में आना पड़ता है। अत्यंत बुरी स्थितियों में मालगुजारी में माफी दे देने या अनिच्छापूर्वक वसूली को स्थगित कर देने से यह प्रक्रिया नहीं रुक सकती। उपर्युक्त आयोग ने पूना जिले के अनेक गांवों से इस बात के प्रमाण इकट्ठे किए कि जमीन की मालगुजारी का किस प्रकार भुगतान होता है। गांवों से मिले जवाबों का यहां सार प्रस्तुत किया जा रहा है जो स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है :

वैवंड मालगुजारी देने के लिए किसान को कर्ज लेना पड़ता है।

पिंपलगांव	अच्छी फसल के दिनों में भी थोड़ा कर्ज लेना पड़ता है।
देउलगांव	कुछ मामलों में कर्ज लेना पड़ता है।
कनगांव	मालगुजारी की वसूली के समय शायद ही कभी फसल पककर तैयार होती हो इसलिए उसे कर्ज लेना पड़ता है।
नंदगांव	यदि बारिश ठीक से नहीं हुई तो खड़ी ज्वार की जमानत पर उसे ऋण लेना पड़ता है।
ढोंड	खड़ी फसलों की जमानत पर कर्ज लेते हैं।
गिरिम	खाते पर उधार लिया जाता है या साख न होने की अवस्था में खड़ी फसलें बेच दी जाती हैं।
सोनवाड़ी	यदि बचत से और मवेशियों को बेचने से जो पैसे मिलते हैं उनसे माल-गुजारी न दी जा पाए तो कर्ज लेना पड़ता है।
बघाना	खड़ी फसलों पर ऋण लेकर मालगुजारी की पहली किस्त अदा की जाती है। यदि फसल न हो तो जमीन को गिरवी रख दिया जाता है या बेच दिया जाता है।
मोरगोना	इसी प्रकार।
अंबी	इसी प्रकार।
तारदोली	खड़ी फसलों पर कर्ज लेकर पहली किस्त चुकाई जाती है। यदि फसल नही हो तो सूद पर कर्ज लिया जाता है।
कुसीगांव	इसी प्रकार।

1900 में प्रकाशित 'दि ग्रेट फेमिन' में वागान नैश ने आयोग की रिपोर्ट से ऊपर लिखी तालिका का सारांश प्रस्तुत करते हुए कहा था : 'अपनी बंबई यात्रा के दौरान इस बात से पूरी तरह सहमत हो गया हूं कि सरकारी अधिकारी, सूदखोर महाजनों को मालगुजारी के भुगतान के लिए एक मुख्य सहारा मानते हैं।'

भारतीय समाज में सूदखोर महाजन और कर्ज कोई नई चीज नहीं है। लेकिन पूंजीवादी शोषण और खासतौर से साम्राज्यवाद के युग में सूदखोर महाजन की भूमिका ने नए नए आयाम ग्रहण किए हैं और उसका महत्व बढ़ा है। पहले के जमाने में कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत जमानत पर ही महाजन से पैसा ले सकता था और इसलिए महाजन का कारोबार काफी अनिश्चित और जोखिम भरा होता था; व्यवहार में उसका लेनदेन गांव के फैसले के अधीन होता था। पुराने कानून के अनुसार कर्ज देने वाला व्यक्ति कर्ज लेने वाले व्यक्ति की जमीन पर कब्जा नहीं कर सकता था। ब्रिटिश शासनकाल में ये सारी स्थिति बदल गई। ब्रिटिश कानूनी प्रणाली ने महाजन को कर्जदार की कुर्की करने और जमीन का हस्तांतरण करने का अधिकार देकर सूदखोर महाजनों को स्वर्ण अवसर प्रदान किया और इनकी मदद के लिए पुलिस और कानून की पूरी ताकत उनके पीछे लगा दी। इस प्रकार सूदखोर महाजन पूंजीवादी शोषण की समूची व्यवस्था की धुरी बन गया।

इसका कारण यह है कि महाजन की मदद के बिना न केवल मालगुजारी ही नहीं जमा हो सकती बल्कि बहुधा महाजन सूद पर रुपया देने के अलावा अनाज की खरीद और बिक्री भी करता है। फसल कटने के समय किसानों की उपज पर उसका एक तरह से एकाधिकार रहता है; प्राय: वह किसानों को बुआई के समय किसानों को बीज और हल बैल आदि देता है। किसानों के पास इतनी योग्यता तो होती नहीं कि वे महाजन का बहीखाता देख-कर इस बात की जांच करें कि उन्होंने कितना पैसा दिया या लिया और कितना लिखा गया है इसलिए वे दिन ब दिन महाजन के चंगुल में फंसते जाते हैं। इस प्रकार सूदखोर महाजन गांव का तानाशाह बन जाता है। जैसे जैसे किसानों की जमीन उसके हाथ में आती जाती है वैसे वैसे वह यह प्रक्रिया और आगे बढ़ाता जाता है। फिर किसान खेत मजदूर बन जाते हैं या उस महाजन के खेतों को बटाई पर जोतने लगते हैं और जो कुछ वे पैदा करते हैं उसका एक बड़ा हिस्सा वे लगान और सूद के रूप में महाजन को देते जाते हैं। फिर सूदखोर महाजन गांव की अर्थव्यवस्था में छोटे किसानों को अपना मजदूर बना लेता है। संभव है कि शुरू शुरू में किसानों का गुस्सा महाजन पर हो क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में वही सारे अत्याचार और दुखदर्द का कारण मालूम देता है। शांतिपूर्ण और सदियों से तकलीफ उठाने वाले भारतीय किसानों के द्वारा भी महाजनों की हत्याओं की जो छुटपुट खबरें आती हैं उनसे इस प्रक्रिया का पता चलता है लेकिन जल्दी ही उन किसानों को यह पता चल जाता है कि इन महाजनों के पीछे ब्रिटिश राज की समूची शक्ति काम कर रही है। सूद-खोर महाजन, महाजनी पूंजी द्वारा किए जा रहे शोषण के समूचे रचनातंत्र का एक ऐसा पुर्जा है जो एकदम उस जगह काम करता है जहां उत्पादन होता है।

जैसे जैसे साहूकार की ज्यादतियां बढ़ती जाती हैं, सरकार सामान्य तौर पर शोषण के हितों को ध्यान में रखकर ही, कुछ ऐसे उपाय करने की कोशिशें कर रही है जिससे महाजन इस सोने के अंडे देने वाली मुर्गी यानी किसान वर्ग को खत्म ही न कर दे। सूद की दर को कम करने के लिए और किसानों के हाथ से जमीन का निकलना रोकने के लिए सरकार ने विशेष कानूनों का अंबार लगा दिया है। लेकिन उसे स्वयं यह मानना पड़ा है कि ये कानून असफल साबित हुए हैं (ग्रामीण ऋणग्रस्तता को रोकने के इरादे से बनाए गए कानूनों का जो अनुभव है उसके संदर्भ में कृषि आयोग की रिपोर्ट का 'कानून की विफलता' पृष्ठ 436-37 अध्याय देखें)। इसका प्रमाण यह है कि किसानों पर कर्ज का बोझ दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है और इस बढ़ोतरी पर कोई अंकुश नहीं है।

ब्रिटिश शासनकाल के दौरान कर्जदारी और इसकी वृद्धि की समूची समस्या की काफी विस्तार से एम० एल० डार्लिंग ने अपनी पुस्तक 'दि पंजाब पीजेंट इन प्रास्पेरिटी ऐंड डेट' में छानबीन की है। यह पुस्तक सबसे पहले 1925 में प्रकाशित हुई थी। अपनी बाद की पुस्तकों 'रस्टिकस लोकिटर' (1930) और 'विजडम ऐंड वैस्ट इन ए पंजाब विलेज' (1934) में भी उन्होंने इस समस्या का काफी विवेचन किया है। इसमें हालांकि अमतौर पर लेखक का दृष्टिकोण पक्षसमर्थक है फिर भी इससे तथ्यों की जानकारी तो हो ही जाती

है। अपनी पहली पुस्तक में उन्होंने बताया है कि किस प्रकार अंगरेजों द्वारा भारत पर शासन स्थापित करने के बाद से पंजाब में लोगों पर कर्ज निरंतर लदता गया है :

> सिखों के शासनकाल में खेतों का रेहन रखा जाना मुश्किल था लेकिन अंगरेजों के आने के बाद प्रत्येक गांव में लोगों के खेत रेहन रखे जाने लगे और 1878 तक इस सूबे का सात प्रतिशत रेहन हो चुका था…

> 1880 तक किसान भूस्वामी और महाजन के बीच का असमान संघर्ष सूदखोर महाजन की विजय के साथ समाप्त हो गया…इसके बाद 30 वर्षों तक महाजन अपनी पराकाष्ठा पर रहा और इस दौरान इन महाजनों की समृद्धि बढ़ती रही और इनकी संख्या में यहां तक वृद्धि हुई कि बैंकरों और महाजनों की संख्या जहां (उनके आश्रितों सहित) 1868 में 53,263 थी, 1911 में बढ़कर 193,890 हो गई। (एम० एल० डार्लिंग : 'दि पंजाब पीजेंट इन प्रास्पेरिटी ऐंड डेट', पृष्ठ 208)

डार्लिंग महोदय की धारणा थी कि 1911 तक सूदखोर महाजन अपनी 'पराकाष्ठा' पर पहुंच गया था और 1927 में कृषि आयोग के समक्ष अपने साक्ष्य में उन्होंने बड़ी आशा के साथ यह संकेत किया था कि, 'पंजाब में दो जिलों को छोड़कर हर कहीं सूदखोर महाजन क्रमशः अपने व्यापार में कमी कर रहा है और इस कमी का मुख्य कारण है सहकारिता आंदोलन का विकास, किसान कर्जदारों को कानूनी संरक्षण दिया जाना और कृषक सूदखोरों का जन्म।' (रिपोर्ट, पृष्ठ 442)। लेकिन 1930 में अपनी दूसरी पुस्तक 'रेस्टिक्स लोकिटर' के प्रकाशित होने तक, एक आशावादी लहजे के बावजूद, उन्हें एक बार फिर आगाह करना पड़ा था :

> भूमि हस्तांतरण कानून (लैंड एलिएनेशन ऐक्ट) के बावजूद इस बात का खतरा है कि किसानों को एक बार फिर बड़े पैमाने पर जमीन से बेदखल किया जाए। पश्चिमी पंजाब में, जहां बड़े जमींदार इस कानून का फायदा उठाकर किसानों की कीमत पर अपनी जमीनें बढ़ाने में लगे हैं, इस आशंका के संकेत पहले ही मिल चुके हैं। (पृष्ठ 326)

1935 तक पंजाब के भूराजस्व अधिकारियों ने अपनी रिपोर्ट में कहा था :

> ग्रामीण इलाकों में कृषक सूदखोर प्रत्यक्ष रूप से अपने को मजबूत बना रहे हैं। (पंजाब भूराजस्व प्रशासन की रिपोर्ट, 1935, पृष्ठ 6)

1919 में की गई जांच में डार्लिंग महोदय इस नतीजे पर पहुंचे थे कि केवल 17 प्रतिशत

भूस्वामी ऋणमुक्त थे और औसत ऋण की राशि कम से कम 463 रुपये अर्थात जमीन की मालगुजारी की रकम की 12 गुना थी।

बंगाल में फरीदपुर जिले के आंकड़ों से कर्जदारी की वृद्धि का जबरदस्त उदाहरण मिलता है। 1906 में, जे० सी० जैक ने, जो बाद में कलकत्ता के हाईकोर्ट के जज हो गए थे, इस जिले की जांच की थी और इस जांच के परिणाम बाद में 'इकानामिक लाइफ इन ए बंगाल डिस्ट्रिक्ट' (1916) में प्रकाशित हुए थे। इन परिणामों से पता चला था कि उस समय फरीदपुर में 55 प्रतिशत परिवार कर्ज से मुक्त थे। 1933-34 में यानी 25 वर्षों बाद बंगाल के बोर्ड आफ इंक्वायरी ने उसी जिले में फिर जांच की और यह नतीजा निकाला कि उस समय फरीदपुर के केवल 16.9 प्रतिशत परिवार कर्ज से मुक्त थे।

6. तीन तरह का बोझ

इस प्रकार किसान खेतिहर यदि वह भूमिहीन सर्वहारा की श्रेणी में अब तक भी नहीं तो, आज तीन तरह के बोझ के नीचे दबा है। अतिरिक्त राशि का उपभोग करने वाले तीन तत्व हैं। वे उस अल्प राशि में से अपना हिस्सा वसूलने के लिए दबाव डालते हैं जो उस किसान ने अपनी थोड़ी सी जमीन और अत्यंत सीमित साधनों के द्वारा पैदा की है और जिसके लिए उपज की यह अल्प राशि खुद ही इतनी कम है कि वह अपनी और अपने परिवार की छोटी से छोटी जरूरतें भी पूरी नहीं कर सकता।

जमीन की मालगुजारी के लिए सरकार के दावे सब पर समान रूप से अपना असर डालते हैं और इसी प्रकार अप्रत्यक्ष करों का बोझ इन किसानों की छोटी से छोटी खरीद को भी प्रभावित करता है (साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर आंसू बहाए थे कि 'भारतीय गांवों की आत्मनिर्भरता ने नमक, मिट्टी का तेल और शराब जैसी छोटी मोटी चीजों पर लगने वाले गृह आबकारी कर के दायरे को सीमित कर दिया है। इन चीजों के लिए ग्रामीण इलाके बाहरी सप्लाई पर निर्भर करते हैं।' यहां तक कि नमक पर, जो गरीबों की सबसे बुनियादी जरूरत है, लगाया गया कर 1939-40 में कम से कम 81 लाख पौंड अर्थात मालगुजारी के 2/5वें हिस्से तक पहुंच गया।

सरकार की मालगुजारी के अतिरिक्त जमींदार द्वारा लगाए गए लगान का बोझ किसानों के बहुमत पर पड़ता है, ऐसा इसलिए है क्योंकि ब्रिटिश भारत के कुल क्षेत्रफल का आधा हिस्सा जमींदारी प्रणाली के अंतर्गत है और इसके अतिरिक्त रैयतवारी प्रणाली के अंतर्गत पड़ने वाले क्षेत्र का कम से कम एक तिहाई हिस्सा काश्तकारों के अधीन है।

सूद के लिए महाजन के दावे काफी बड़ी संख्या को प्रभावित करते हैं। डार्लिंग महोदय के आंकड़ों और फरीदपुर के उदाहरण को देखें तो यह राशि 4/5 तक पहुंचती है।

इस प्रकार कुल पैदावार का कितना हिस्सा किसान से छीन लिया गया ? उसकी रोजी रोटी चलाने के लिए कितना हिस्सा उसके पास छोड़ दिया गया ? भारतीय कृषि के इस बुनियादी प्रश्न के बारे में कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। यहां तक कि इस बात की भी कोई कोशिश नहीं की गई कि किसानों द्वारा जमीन की मालगुजारी के अलावा लगान के रूप में कितनी राशि दी जाती है, इसका पता लगाया जाए। कर्ज पर किसानों को कितना सूद देना पड़ता है, यह जानने की कोशिश नहीं की गई। ठीक ठीक सूचना के अभाव में केंद्रीय बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी के अल्पमत की रिपोर्ट में सामान्य अनुमान लगाने की कोशिश की गई है (पृष्ठ 36-37)। अपने अनुमान में समिति ने मालगुजारी की राशि को 35 करोड़ रुपये मानकर गणना शुरू की। इसने संभवतः बहुत घिसेपिटे तरीके से कर्ज पर लगने वाली सूद की राशि को मालगुजारी की 35 करोड़ रुपये की राशि का तीन गुना अर्थात 1 अरब रुपये निर्धारित किया। इसी प्रकार मालगुजारी के अलावा लगान की कुल राशि को मालगुजारी की राशि का डेढ़ गुना मान लिया। इस प्रकार किसानों पर जो कुल बोझ पड़ता है वह मालगुजारी की राशि का लगभग पांच गुना है। फिर भी जैसा कि रिपोर्ट से संकेत मिलता है यह निश्चित रूप से कुल राशि को घटाकर देखना हुआ। बिचौलियों द्वारा लिए गए लगान की राशि को मालगुजारी का डेढ़ गुना अधिक मानना उस बिल पर आधारित है जो मद्रास में जारी किया गया लेकिन किसानों की स्थितियों को सुधारने के लिए जिसे लागू नहीं किया गया। निश्चित तौर पर बंगाल में यह वास्तविक राशि (जहां लगान की कुल राशि मालगुजारी की राशि की कम से कम चार गुना और संभवतः छः गुना है) और संभवतः अन्य स्थानों पर और भी ज्यादा होने की आशंका है। इस रिपोर्ट में यह धारणा व्यक्त की गई है कि 'जहां कहीं भी बिचौलिये मौजूद हैं वहां किसानों पर पड़ने वाला बोझ एक और डेढ़ के अनुपात से कहीं ज्यादा है हालांकि जमीन और उत्पादकता के लिहाज से स्थान स्थान पर और अलग अलग व्यक्तियों के लिए अलग अलग स्थितियां होंगी ही। 'कर्ज पर दी जाने वाली सूद की दर कुल 9 अरब रुपये पर एक अरब रुपये अर्थात 11 प्रतिशत जोड़ी गई है जो निश्चित रूप से बहुत कम है। आमतौर से गांव का सूदखोर महाजन प्रतिमाह एक रुपये पर एक आना (कभी कभी डेढ़ आना) सूद लेता है अर्थात सलाना सूद की दर 75 प्रतिशत हुई। इसलिए वास्तविक बोझ उस राशि से निश्चित रूप से काफी अधिक होगा जो इस अनुमान में शामिल की गई है। यदि नमक पर लगने वाले कर का बोझ जोड़ दिया जाए तो भी यह अनुमान 2 अरब रुपया सालाना अथवा 20 रुपये प्रति किसान के नजदीक पहुंच जाता है। इसके मुकाबले हमारे सामने केंद्रीय बैंकिंग इंक्वायरी कमेटी की बहुमत रिपोर्ट द्वारा प्रस्तुत अनुमान ही है जिसमें कहा गया है कि 'ब्रिटिश भारत में एक किसान की औसत आमदनी लगभग 42 रुपये सालाना या 3 पौंड सालाना से ज्यादा नहीं है।' (पृष्ठ 39)

शोषण की एक सही झलक एन० एस० सुब्रह्मण्यम की कृति 'स्टडी आफ ए साउथ इंडियन विलेज' (कांग्रेस पोलिटिकल ऐंड इकोनोमिक स्टडीज, संख्या 2, 1936) में मिलती है। त्रिचनापल्ली जिले में नेरूर नाम का एक गांव है। इसकी आबादी 6,200 है। इस गांव की

अर्थव्यवस्था का अ᠁ययन किया गया और यहां के निवासियों की सभी स्रोतों से होने वाली कुल आय, कुल खर्च और उपभोग के लिए बची राशि का सही सही विवरण प्रस्तुत किया गया ! शोषण की सीमा की झलक यहां बहुत साफ तौर पर देखी जा सकती है क्योंकि यहां जमीन पर जिनका स्वामित्व है वे गांव से बाहर रहते हैं और यहां के लोगों को जिनसे कर्ज पर रुपया मिला है वे भी गांव से बाहर हैं। इस प्रकार लगान और सूद के रूप में काफी बड़ी राशि गांव से बाहर चली जाती है जो गांव की कुल आय में से निकली हुई रकम का बहुत साफ साफ चित्र प्रस्तुत करती है।

इस जांच से कौन से नतीजे सामने आए? बाजार भाव पर यदि सारे उत्पादन का मूल्यांकन करें तो कृषि से हुई कुल आय 344,000 रुपये होती है। खेती के काम में खर्च राशि को यदि घटा दें (इसमें मजदूरी की राशि शामिल नहीं है और गांव के अंदर मजदूरी के रूप में जो पैसे दिए गए हैं उसे अलग करके रखें) तो कृषि से हुई कुल आय 212,000 रुपये निकलती है। अकृषीय स्रोतों से हुई कुल आय (बाहर कमाई गई मजदूरी, सरकारी कर्मचारियों के वेतन और पेंशनें, पूंजी पर लगा सूद आदि छोड़कर) 24,000 रुपये होती है और इस प्रकार सभी स्रोतों से हुई कुल आय की राशि 2,36,000 है।

इसके मुकाबले गांव से बाहर जाने वाली निम्न राशियों पर ध्यान दिया गया : जमीन की मालगुजारी, सिंचाई तथा अन्य खर्च 30,000 रुपये, गांव से बाहर रहने वाले भूस्वामियों को दिया गया लगान 70,000 रुपये, कर्ज पर दिया गया सूद (8 प्रतिशत की कम से कम दर पर जोड़ी गई राशि) 40,000 रुपये; ताड़ी आदि की दुकानों के लिए सरकार को दिया जाने वाला किराया, पेड़ का कर और पेड़ के मालिक को दिया जाने वाला किराया 12,000 रुपये। इस प्रकार सरकारी राजस्व, टैक्स, किराया और सूद के रूप में दी जाने वाली कुल राशि 1,52,000 रुपये हुई। 4 हजार रुपये की राशि को छोटे मोटे कामों के लिए बाहर जाने वाली राशि मान लें तो गांव से कुल 1,56,000 रुपये का भुगतान हुआ है उसमें से गांव के लिए केवल 80,000 रुपये बचे रहते हैं अर्थात प्रति व्यक्ति मात्र 13 रुपये बचते हैं।

यह देखा जा सकता है कि इस गांव का प्रत्येक निवासी औसतन 38 रुपये या 2 पौंड 17 शिलिंग प्रति वर्ष कमाता है। कर वसूलने वाले अधिकारी, जमींदार और सूदखोर महाजन द्वारा अपना हिस्सा वसूल लेने के बाद उसके पास 13 रुपये या 19 शिलिंग से भी कम की राशि बचती है जिससे उसे सालभर का अपना खर्च चलाना होता है। इस प्रकार कुल कमाई का दो तिहाई हिस्सा उससे ले लिया जाता है और एक तिहाई हिस्सा उसके पास बचा रहता है।

कुल आय में से दो तिहाई से भी अधिक भाग जमीन की मालगुजारी और उत्पादन कर, सूद के भुगतान और गांव से बाहर रहने वाले भूस्वामियों के लगान के रूप में गांव से

बाहर चला जाता है।' इस विस्तृत अध्ययन के बाद यही निष्कर्ष निकला था जिसका यहां महज सारांश प्रस्तुत किया गया है। महान फ्रांसीसी क्रांति के पहले फ्रांस के किसानों की स्थिति का वर्णन करते हुए कार्लाइल ने लिखा था :

> विधवा मां अपने बच्चों की भूख शांत करने के लिए जड़ें इकट्ठा कर रही है और अपने शानदार होटल के बरामदे में नजाकत के साथ आराम करते हुए इत्र लगाए हुए भद्र पुरुष के पास एक ऐसी कीमियागीरी है जिससे वह विधवा मां से हर तीसरी जड़ छीन लेगा और अपनी इस हरकत को नाम देगा लगान और कानून।

आज के ब्रिटिश भारत में इससे भी ज्यादा रहस्यमय कीमियागीरी देखी गई है। यहां किसान के पास तीन में से केवल एक जड़ छोड़ी जाती है और शेष दो जड़ें भद्र पुरुष के पास पहुंच जाती हैं।

पाद टिप्पणियां

1. जमीन की मालगुजारी निर्धारण की उनकी तालिका जो 17वीं सदी से शुरू होती है, काफी दिलचस्प है :

एक भारतीय गांव में भूराजस्व में वृद्धि

वर्ष	भूराजस्व (रुपये)	निर्धारित क्षेत्र (एकड़)
1698	301	1,963
1727	620	2,000
1730	1,173	2,000
1770	1,632	2,008
1785	552	1,954
1790	66	1,954
1803	1,009	1,981
1808	818	1,954
1817	792	1,954
1823 (ब्रिटिश राज के बाद)	2,121	2,089
1844-74	1,161	2,089
1874-1904	1,467	2,271
1915	1,581	2,271

2. बारदोली में कर के बारे में हुई हड़ताल की सफलता पर अफसरशाही ने जो टिप्पणी की थी वह काफी महत्वपूर्ण है। लोगों की शिकायतों के औचित्य पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाया गया है बल्कि यह शिकायत की गई है कि सभी तरह के कर निर्धारणों के औचित्य को चुनौती देने के लिए वहां एक अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया गया है :

> इस भूभाग (बारदोली) के लिए किए गए निर्धारण को सामान्य प्रक्रिया के दौरान संशोधित किया गया था। मालगुजारी की नई मांग के विरुद्ध राजनीतिज्ञों ने आवाज उठाई थी और इसके फलस्वरूप बंबई सरकार की संतुष्टि की सीमा तक एक सरकारी जांच समिति नियुक्त की गई थी। इस मामले में, यदि नतीजों को देखें तो यह आंदोलन उचित

था लेकिन इसका वास्तविक महत्व यह है कि इसने एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया। भविष्य में अब जो निर्धारण किए जाएंगे उनपर राजनीतिक बहस की काफी संभावना है। (डब्ल्यू० एच० मूरलैंड, सी० एस० आई०, सी० आई० ई० : 'पीजेंट्स लैंडहोल्डर्स ऐंड दि स्टेट इन माडर्न इंडिया', 1932, पृष्ठ 166).

3. लगान की कुल राशि में अनुचित और गैरकानूनी वसूली द्वारा वृद्धि की गई। 1937 में बंगाल विधान-सभा के दूसरे अधिवेशन के दौरान, जब काश्तकारी कानून पर बहस चल रही थी, तीन अलग अलग वक्ताओं ने बंगाल के लिए लगान की कुल राशि 29 करोड़ रुपये (17 करोड़ वैधानिक और 12 करोड़ अवधानिक), 30 करोड़ रुपये (20 करोड़ वैधानिक और 10 करोड़ अवैधानिक), और 26 करोड़ रुपये (20 करोड़ वैधानिक और 6 करोड़ अवैधानिक) निर्धारित किया था। ये आकलन पूर्णयोग का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें लगभग 2 करोड़ पौंड की अवैधानिक वसूली भी शामिल है।
4. 1939 में उत्तर बिहार में खिरहार नामक गांव की दशा की जांच की गई जिससे यह निष्कर्ष निकला कि 'सबसे बड़ी संख्या यहां भूमिहीन मजदूरों की है। ऐसे लोगों के 760 परिवार हैं जिनमें 5023 लोग रहते हैं और जो गांव की कुल आबादी का 72 प्रतिशत है।' (एस० सरकार : 'इकानामिक कंडीशंस आफ ए विलेज इन नार्थ बिहार,' इंडियन जर्नल आफ इकानामिक्स, जुलाई 1939)

9

किसान क्रांति की ओर

अब जागो, वीर किसानो जागो, कृष्ण का ही तुम पंथ गहो,
अब चोर लुटेरे अपने घर में घुस आये हैं, मत सोओ
अब जागो, वीर किसानो जागो, कृष्ण का ही तुम पंथ गहो,
जब जब बैसाख महीने में अपनी फसलें काटें किसान
तब जब्त करें बौहरे जमीन और फसलें लूट जमींदार
एक दिन को भी है चैन नहीं
मिहनत तेरी जो फल लाती सब आंख सामने लुट जाते,
वे नहीं छोड़ते एक दाना जो बन पाये तेरा आहार।
अब जागो, वीर किसानो जागो, कृष्ण का ही तुम पंथ गहो
—सतोकी शर्मा, मथुरा जिला के भूमिहीन किसान, अध्यक्ष ग्रामीण कवि सम्मेलन, फरीदाबाद, मई 1938

इस विश्लेषण के आधार पर अब संक्षेप में यह बताया जा सकता है कि कृषि के क्षेत्र में संकट किन विशेषताओं के साथ बढ़ रहा है। कृषि संकट के कारणों और पूर्ववर्ती स्थितियों का विकास समूचे ब्रिटिश शासन के दौरान हुआ है और आज ये सारी स्थितियां अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच रही हैं।

1. कृषि क्षेत्र में संकट का विकास

पहली विशेषता है राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में खेती की स्थिति का तेजी से असंतुलित होते जाना, खेती पर आबादी का जरूरत से ज्यादा दबाव पड़ना और विकास का न होना.

इसके साथ ही भारत की औपनिवेशिक स्थिति के कारण 'अनुद्योगीकरण' की क्रिया भी जारी रहती है। यह स्थिति अन्य बातों को प्रभावित करती है और उन्हें गंभीर भी बनाती है। दूसरी विशेषता है खेती के विकास में ठहराव और गिरावट आ जाना, जमीन की उपज कम होना, श्रम की बरबादी होना, कृषि योग्य जमीन को खेती के काम में लाने में विफल होना, वर्तमान कृषि योग्य जमीन का विकास न करना। इसके फलस्वरूप कुछ समय बाद खेती की उपज में गिरावट आने लगती है और खेती के लिए कुल उपलब्ध जमीन में कमी आने लगती है। तीसरी विशेषता है जमीन के लिए किसानों की भूख का बढ़ते जाना, जोतों का आकार निरंतर कम होते जाना, जोतों का छोटे छोटे टुकड़ों में बंटते जाना और ऐसी जोतों का अनुपात बढ़ते जाना जिनके बल पर किसान के लिए अपनी आजीविका चलाना मुश्किल होता है। आज ज्यादातर जोतें इसी तरह की हैं।

चौथी विशेषता है जमींदारी प्रथा का विस्तार होना, तरह तरह के शिकमी दर शिकमी का बढ़ते जाना, ऐसे लोगों की संख्या में वृद्धि होना जो खेती नहीं करते लेकिन लगान वसूलते हैं। इस प्रकार अधिकांश किसानों की जमीनें इन भूस्वामियों के हाथों में जाने लगती हैं। पांचवीं विशेषता यह है कि उन किसानों पर कर्ज का दबाव बढ़ता जाता है जिनके पास अब भी कुछ जमीन है। अभी एकदम हाल के वर्षों में किसानों पर बेहद कर्ज चढ़ गया है। छठी विशेषता है कर्ज के बदले में किसानों की जमीनों का सूदखोर महाजनों और सट्टेबाजों के हाथ में पहुंचते जाना। इसका परिणाम हम जमींदारी प्रथा के विकास में और भूमिहीन सर्वहारा की संख्या में वृद्धि में देखते हैं। सातवीं विशेषता यह है कि उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप खेतिहर सर्वहारा की संख्या में तेजी से वृद्धि होती जाती है। 1921 से 1931 के दस वर्षों के अंदर इनकी संख्या खेती में लगे कुल व्यक्तियों के पांचवे हिस्से से बढ़कर तीसरे हिस्से तक पहुंच गई। 1931 के बाद से तो स्थिति यह हो गई कि खेती में लगे कुल व्यक्तियों की आधी संख्या के बराबर खेतिहर सर्वहारा अस्तित्व में आ गए।

यह सभी लोग मानते हैं कि ऋणग्रस्तता के कारण ही जमीन की बेदखली की यह प्रक्रिया पूरी हुई। 1892 में ही खेतिहरों के लिए बनाए गए राहत कानून की कार्यप्रणाली की जांच के लिए गठित दक्कन आयोग ने बड़ी कड़वाहट के साथ लिखा था कि 'भारत जैसे कृषिप्रधान देश में जमीन का हस्तांतरण कठोरता से लगान वसूलने वाले ऐसे बाहरी लोगों को किया जा रहा है जो जमीन के विकास के लिए कुछ भी नहीं करते हैं।' आयोग ने भूस्वामियों के नए वर्ग के बारे में अपना मत प्रकट किया कि किसी गैरजिम्मेदार जमींदार की शक्तियों का इस्तेमाल करने के लिए ये दुनिया में संभवतः सबसे कम उपयुक्त हैं।··· एक जमींदार के रूप में उनकी मूल प्रवृत्ति एक सूदखोर की है जो अपने काश्तकार पर, जो उनका कर्जदार भी है, कड़ी से कड़ी शर्तें थोपते हैं और प्रायः उनसे लगभग गुलामों जैसा व्यवहार करते हैं।' 1928 में कृषि आयोग ने स्वीकार किया कि 'किसानों को लगता है कि कर्ज के बिना उनका काम नहीं चल सकता और इस धारणा से सूदखोरों को असीम अधिकार मिल जाता है। इससे किसान लोग अपनी जमीन का सूदखोर के हाथों में तेजी

से जाना भाग्यवादी ढंग से स्वीकार कर लेते हैं और उसकी सर्वोच्च स्थिति निर्विरोध बनी रहती हैं' (पृ० 435)। प्रसंगवश, जमीन हड़पने वाले इन सूदखोरों के प्रति सरकारी आयोगों ने बड़ी ईमानदारी के साथ जो रोष प्रकट किया है उसमें इन आयोगों ने यह कहीं नहीं कहा है कि सूदखोरों की शक्ति के पीछे सरकार द्वारा मिल रहा कानूनी समर्थन है। सरकार द्वारा मालगुजारी की जबरन वसूली के कारण ही किसानों ने सबसे पहले अपनी जमीन किसी सूदखोर महाजन को दी। 1931 में केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति ने इस सामान्य धारणा को स्थान दिया :

> ऋणग्रस्तता का परिणाम अंततोगत्वा यह होता है कि खेतिहर वर्ग अपनी जमीन का हस्तांतरण गैरखेतिहर सूदखोर के नाम कर देता है जिससे एक ऐसे भूमिहीन सर्वहारा (मजदूर) का वर्ग पैदा होता है जिसकी आर्थिक स्थिति काफी कमजोर होती है। कहा जाता है कि इससे खेती की क्षमता में कमी आती है क्योंकि सूदखोर महाजन इस जमीन को ऐसी दर पर शिकमी चढ़ा देता है कि किसान को अच्छी फसल पैदा करने का कोई लाभ नहीं दिखाई देता। (केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति की रिपोर्ट, पृष्ठ 59)

1931 की जनगणना रिपोर्ट ने निष्कर्ष निकाला कि, 'गैरखेतिहर भूस्वामियों के पास जमीन इकट्ठी होते जाने की आशंका है।' (सेंसस आफ इंडिया, 1931, खंड I, भाग I, पृष्ठ 288)

लेकिन खेती में गिरावट आने, किसानों की जमीन छिनने और उनमें वर्ग विभेद के बढ़ने की यह समूची प्रक्रिया विश्वव्यापी अर्थसंकट के कारण, कृषीय उत्पादन की कीमतों में गिरावट आने के कारण और तत्पश्चात दूसरे महायुद्ध तथा देशव्यापी अकाल के कारण काफी आगे बढ़ गई है और बहुत तेजी से बढ़ रही है।

व्यापारिक आसूचना और सांख्यिकी (कार्मशियल इंटेलिजेंस ऐंड स्टेटिस्टिक्स) के महानिदेशक द्वारा प्रकाशित आंकड़ों से इस गिरावट की सीमा का अनुमान लगाया जा सकता है। 1928-29 में मंदी का दौर शुरू होने से पहले के वर्ष में, फसल कटने के समय के औसत दामों को आधार मानने पर खेती से लगभग 10 अरब 34 करोड़ रुपये मूल्य की पैदावार हुई थी। 1933-34 में केवल 4 अरब 73 करोड़ की पैदावार हुई। इससे पता चलता है कि पैदावार में 55 प्रतिशत की गिरावट आई।

अचानक आय आधी हो जाने से उन किसानों को, जो पहले से असहाय स्थिति में थे, कितनी दुर्दशा का सामना करना पड़ा होगा इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। रुपये के रूप में उन्हें जो भुगतान करना पड़ता था उसपर रियायत उन्हें अब नहीं मिल पाती थी। इसके विपरीत जमीन की मालगुजारी, जो 1928-29 में 33 करोड़ 10 लाख

रुपये थी, 1931-32 में वस्तुतः 33 करोड़ रुपये निर्धारित की गई जो 1933-34 में 30 करोड़ रुपये हो गई। कहने का तात्पर्य यह है कि इस राशि में 9 प्रतिशत से अधिक की कमी आई जो अधिकांश मामलों में मालगुजारी का भुगतान करने की अक्षमता और जमीन छोड़ देने के कारण थी।

1934 की बंगाल जूट जांच समिति की रिपोर्ट में दिए गए अनुमान को 1920-21 और 1932-33 के बीच क्रयशक्ति में हुई कमी और वृद्धि के संदर्भ में देखें तो बंगाल के किसानों की असहाय स्थिति का पता लगाया जा सकता है। इन आंकड़ों के अनुसार बंगाल में विक्रीयोग्य फसलों के कुल मूल्य में 1920-21 से 1929-30 के बीच में काफी गिरावट आई। इन वस्तुओं का औसत वार्षिक मूल्य 1920-21 से 1929-30 के दशक में 72 करोड़ 40 लाख रुपये था जो 1932-33 में 32 करोड़ 70 लाख रुपये हो गया। इसके साथ ही मौद्रिक देयता में 27 करोड़ 90 लाख से बढ़कर 28 करोड़ 30 लाख रुपये हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि किसानों की 'स्वतंत्र क्रय शक्ति' 44 करोड़ 50 लाख रुपये से घटकर 4 करोड़ 40 लाख रुपये हो गई। इसी अवधि में कलकत्ता में मूल्यों का सूचक अंक औसतन 223 से घटकर 129 हो गया अर्थात 44 प्रतिशत की गिरावट आई जबकि 'स्वतंत्र क्रयशक्ति' में 90 प्रतिशत की कमी आई।

यही वह दौर था जब भारतीयों की परंपरागत बचत अर्थात सोने के आभूषणों को किसानों से छीन लिया गया ताकि दीवालियेपन का निवारण किया जाए और भारत से जाने वाले वार्षिक नजराने को बनाए रखा जाए। ऐसा इसलिए करना पड़ा क्योंकि माल के निर्यात से यह घाटा पूरा नहीं हो रहा था। 1931 से 1937 के बीच कम से कम 24 करोड़ 10 लाख पौंड का सोना भारत से वसूल कर बाहर भेजा गया। लेकिन इस 'जब्त किए गए' सोने से केवल एक वर्ग लाभ उठा सका और आने वाली मुसीबतें एक सीमित अवधि तक ही टाली जा सकीं।

संयुक्त प्रांत में उन काश्तकारों द्वारा जो लगान नहीं दे सके काफी बड़ी संख्या में भूमि का परित्याग किया गया। यह संख्या 1931 में 71,430 थी। 2,56,284 लोगों से जबरन मालगुजारी वसूलने का आदेश जारी किया गया। हमने पहले ही देखा है कि किस प्रकार 1930 में बंगाल में सिंचाई संबंधी समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि 'कृषि के क्षेत्र से जमीन निकलती जा रही है।'

1934-35 तक स्थिति यह हो गई कि कृषि संबंधी आंकड़ों से यह पता चलने लगा कि कृषि क्षेत्र में 50 लाख एकड़ से भी ज्यादा की कमी आई। 1933-34 में कुल 23 करोड़ 32 लाख एकड़ जमीन में फसलें बोई गई थीं। 1934-35 में यह संख्या 22 करोड़ 69 लाख एकड़ हो गई अर्थात 5,266,000 एकड़ की कमी आई। खाद्यान्नोंवाली भूमि के क्षेत्र में 5,589,000 एकड़ की कमी आई।

1934 के बाद मूल्य वृद्धि की स्थिति में मामूली सा सुधार हुआ लेकिन इससे आर्थिक मंदी की स्थिति में कोई तब्दीली नहीं आई और विध्वंस के प्रभावों पर भी काबू नहीं पाया जा सका। एंस्टे ने अपनी पुस्तक 'इकोनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया' में लिखा कि '1934 के बाद से जनता का कष्ट और भी गंभीर हुआ होगा'।

किसानों की आय आधी होने से कर्ज का भार दुगना हो गया। अनिवार्य रूप से इसका यह अर्थ हुआ कि कर्ज में वृद्धि हुई जो अब अनुमानतः 1931 के स्तर से दुगनी हो गई। 1921 में अनुमान लगाया गया कि कुल कृषीय ऋण 40 करोड़ पौंड था (देखें एम० एन० डार्लिंग की पुस्तक 'दि पंजाब पीजेंट इन प्रास्पेरिटी ऐंड डेट')। 1931 में केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट में अनुमान लगाया कि यह राशि 9 अरब रुपये या 67 करोड़ 50 लाख पौंड थी। 1937 में रिजर्व बैंक आफ इंडिया के कृषीय ऋण विभाग (ऐग्रीकल्चरल क्रेडिट डिपार्टमेंट) ने अनुमान लगाया कि यह राशि 18 अरब रुपये या 1 अरब 35 करोड़ पौंड थी।

यह राशि 1921-31 के दस वर्षों में 40 करोड़ पौंड से बढ़कर 67 करोड़ 50 लाख पौंड और 1931-37 के 6 वर्षों में 67 करोड़ 50 लाख से बढ़कर 1 अरब 35 करोड़ पौंड हो गई। इस अवधि के दौरान किसानों पर ऋण की इस राशि को यदि आधार मानें तो इससे पता चलता है कि कृषि के क्षेत्र में संकट दिन ब दिन गहरा होता जा रहा था।

भारतीय कृषीय अर्थव्यवस्था का दीवालियापन उस समय अपने नग्न रूप में सामने आ गया जब द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के शामिल होने के साथ ही बर्मा से चावल का आयात बंद कर दिया गया। इससे तत्काल ही आनाज की कमी की स्थिति पैदा हो गई और भारत में कीमतें तेज़ी से बढ़ने लगीं। इस स्थिति पर काबू पाया जा सकता था। इसके लिए सबसे पहले काश्तकारों पर बोझ कम करके और उन्हें सिंचाई तथा अन्य आवश्यक सुविधाएं देकर अनाज का उत्पादन बढ़ाने का जबरदस्त अभियान छेड़ना चाहिए था। दूसरे, कीमतों पर काबू पाया जा सकता था और सभी खाद्यान्नों की राशनिंग की जा सकती थी। तीसरे, जमींदारों और व्यापारियों द्वारा की जा रही जमाखोरी और कालाबाजारी को कारगर ढंग से रोका जा सकता था लेकिन ये सारे कदम उठाने के बजाय साम्राज्यवादी सरकार ने जो आम जनता का शोषण करके युद्ध को आर्थिक मदद पहुंचाने के लिए कृतसंकल्प थी, मुद्रास्फीति और मूल्यवृद्धि पर भरोसा किया तथा स्वयं सेना के लिए अनाज की सप्लाई के लिए जमाखोरों का सहारा लिया। उसने इस बात की तनिक भी परवाह नहीं की कि जनता के बीच खाद्यान्नों का समान वितरण करने की व्यवस्था की जाए। इसका नतीजा यह हुआ कि हालांकि 1943 में महज 14 लाख टन अनाज की ही कमी थी (जो भारत की कुल जरूरत का बहुत मामूली अंश है) लेकिन देश के अनेक हिस्सों में जबरदस्त अकाल पड़ा जिससे भारी संख्या में मौतें हुईं।

प्रोफेसर के० पी० चट्टोपाध्याय द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार केवल बंगाल में अकाल में मरने वालों की संख्या 35 लाख थी। यहां तक कि अकाल की जांच के लिए गठित सरकारी आयोग ने भी मरने वालों की संख्या 15 लाख बताई थी।

अकाल के बाद भयंकर महामारी फैली और सितंबर, 1944 तक विभिन्न बीमारियों से 12 लाख व्यक्तियों की बंगाल में मृत्यु हुई (भवानी सेन : 'रूरल बंगाल इन रूइंस', पृष्ठ 18)।

यह अकाल 'मानवनिर्मित' अकाल था। बंगाल में दरअस्ल, केवल 6 हफ्ते के राशन की कमी थी और बाहर से अनाज मंगाकर तथा खाद्यान्नों का लोगों के बीच समान वितरण करके इस कमी को आसानी से दूर किया जा सकता था। लेकिन बंगाल की एक तिहाई से भी अधिक जनता अकाल की चपेट में आ गई। अनाज का समूचा भंडार जमींदारों और व्यापारियों द्वारा दबा लिया गया और भ्रष्ट नौकरशाही ने इन भंडारों को जमाखोरों के हाथों से बाहर निकालने की कोशिश के बजाय इनकी कीमतें बढ़ाने में मदद पहुंचाई और करोड़ों लोगों की जिंदगी के साथ खिलवाड़ किया। जनवरी 1942 में कलकत्ता में चावल का मूल्य 6 रुपये प्रति मन था जो नवंबर 1942 में 11 रुपये; फरवरी अप्रैल 1943 में 24 रुपये; मई में 30 रुपये; जुलाई में 35 रुपये; अगस्त में 38 रुपये; और अक्तूबर 1943 में 40 रुपये तक पहुंच गया। मुफस्सिल जिलों में चावल की कीमत 50 रुपये से लेकर 100 रुपये प्रति मन तक हो गई। अकाल के दौरान चावल हमेशा उपलब्ध था और असीमित मात्रा में उपलब्ध था लेकिन उसका मूल्य 100 रुपये प्रति मन था। इसके फल-स्वरूप बड़े व्यापारियों ने इस अकाल के दौरान काला बाजार के जरिये 1 अरब 50 करोड़ रुपये तक का अतिरिक्त मुनाफा कमाया (वही, पृष्ठ 1)।

अकाल की मार सबसे पहले बंगाल के 75 प्रतिशत किसान परिवारों पर पड़ी जिनके पास 5 एकड़ से भी कम जमीन थी और जो अनाज की अपनी जरूरतें इस जमीन से पूरी नहीं कर सकते थे। मई 1943 तक इन 75 प्रतिशत परिवारों के पास खाने के लिए कुछ भी नहीं बचा और सारा अनाज 'जोतदारों और व्यापारियों तथा सरकारी एजेंटों और कार-खाना मालिकों के पास जमा हो गया' (वही, पृष्ठ 4)। अकाल ने सबसे पहले सबसे गरीब तबके को अपना निशाना बनाया और फिर धीरे धीरे इसका असर मंझोले किसानों पर भी पड़ने लगा। जो किसान जितना ही गरीब था उसे उतनी ही जल्दी अपना सारा सामान बेच देना पड़ा, वह असहाय हो गया और मौत की गोद में जा पहुंचा। जैसाकि प्रोफेसर पी० सी० महलनवीस तथा भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अन्य लोगों ने एक सर्वेक्षण के बाद बताया :

> वस्तुत: अकाल के पहले प्रत्येक परिवार के हिसाब से धान के खेतों का सब डिवीजनों में जो वर्गीकरण किया गया था वह मोटे तौर पर अकाल की स्थितियों के प्रभाव की मात्रा के समानांतर पाया गया। ('ए सैंपुल सर्वे आफ आफ्टर

इफैक्ट्स आफ दि बंगाल फेमिन आफ 1943', पृष्ठ 3, सांख्य, खंड 7, भाग 4, 1946)

इस अकाल के फलस्वरूप किसान जनता की गरीबी और बढ़ी और जमीन का अधिक से अधिक हिस्सा धनी जमींदारों और सूदखोर महाजनों के पास इकट्ठा होता गया।

इस सर्वेक्षण के अनुसार अप्रैल 1943 से अप्रैल 1944 के एक वर्ष के अकाल के दौरान लगभग 15 लाख 90 हजार परिवारों ने (अकाल से पहले जिनके पास धान के खेत थे उनकी एक चौथाई संख्या) या तो अपने धान के खेत बिलकुल ही बेच दिए या रेहन रख दिए। इनमें से 2 लाख 60 हजार परिवारों को पूरी तरह अपनी जोतों से हाथ धोना पड़ा और इस प्रकार वे भूमिहीन मजदूर की स्थिति में पहुंच गए। 6 लाख 60 हजार परिवारों ने अपने खेत का कुछ हिस्सा बेचा और 6 लाख 70 हजार परिवारों ने अपने धान के खेत रेहन रखे। इनमें से अधिक से अधिक एक प्रतिशत किसानों को अपनी जमीन वापस मिल सकी। अन्य किसानों को कानूनी उपायों से भी जमीन वापस नहीं मिली ('रूरल बंगाल इन रूइंस', पृष्ठ 6)। अकाल के दौरान 7 लाख 10 हजार एकड़ धान के खेत बेचे गए थे जिनमें से गांव द्वारा केवल 20 हजार एकड़ वापस खरीदे गए। मोटे तौर पर कहें तो 4 लाख 20 हजार एकड़ खेत पर बाहरी लोगों का कब्जा हो गया जो संभवतः शहर में रहने वाले गैरखेतिहार व्यक्ति थे ('सैंपुल सर्वे', पृष्ठ iv)।

बिक्री की प्रक्रिया इस बार जमीन तक ही सीमित न रही। जनता का संपूर्ण जीवन छिन्न भिन्न हो गया। मां बाप अपने छोटे छोटे बच्चों को इस आशा में सड़क के किनारे फेंकने को मजबूर हो गए कि कोई उन्हें उठाकर ले जाएगा और उन्हें खाना खिला देगा। पतियों ने मजबूरी में अपनी पत्नियों को छोड़ दिया और सारे परिवार को भाग्य के सहारे छोड़ दिया। महिलाएं अपना शरीर बेचने पर मजबूर हुईं और वे चकलाघरों में पहुंच गईं। अनुमान लगाया गया है कि कलकत्ता में आए 1 लाख 25 हजार निराश्रितों में से लगभग 30 हजार जवान औरतों ने वेश्यावृत्ति अपना ली ताकि वे किसी तरह सांस लेती रह सकें।

हजारों लाखों की संख्या में लोग अनाथ हो गए। एक सर्वेक्षण के अनुसार मई 1944 में बंगाल में कुल निराश्रितों की संख्या 10 लाख 80 हजार थी जिनमें से 4 लाख 80 हजार व्यक्ति महज युद्ध और अकाल के कारण इस हालत में पहुंचे थे वही पृष्ठ 5)। उन लोगों की संख्या 60 लाख थी जो पूरी तरह निराश्रय तो नहीं हुए थे लेकिन अत्यधिक निर्धन थे ('रूरल बंगाल इन रूइंस', पृष्ठ 16)।

गांव की समूची अर्थव्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई। अकाल के दौरान जिन लोगों पर सबसे जबरदस्त मार पड़ी वे गांव के दस्तकार और कारीगर थे जिनमें मछुआरे, मोची, लुहार,

कुम्हार और जुलाहे आदि थे। वस्तुतः सबसे पहले इन्हीं पर अकाल की मार पड़ी और ये पूरी तरह कंगाल हो गए। यहां तक कि जो लोग पहली चोट को बर्दाश्त कर गए वे भी कंगाली की हालत की तरफ बढ़ रहे हैं। गांव के दस्तकारों के लिए पुनर्वास का काम बहुत कठिन हो गया है। उनकी जरूरत की सभी चीजें मसलन धागा, लोहा, जाल, चमड़ा इत्यादि कालाबाजार में पहुंच गया है। किसानों के पास खेत जोतने के लिए बैल नहीं हैं। बंगाल के गांवों में रहने वाले 3 लाख अर्थात 8.5 प्रतिशत परिवारों के पास अब कोई मवेशी नहीं है जबकि अकाल पड़ने से पहले इनके पास काफी संख्या में मवेशी थे। इस एक वर्ष के दौरान 20 प्रतिशत बैल या तो मर गए या गैरखेतिहर लोगों के हाथों में पहुंच गए।

कर्जदार परिवारों की संख्या में भी तेजी से वृद्धि हुई। किसान समिति के कार्यकर्ताओं ने निम्नलिखित आंकड़े एकत्र किए थे जिनसे अकाल से अर्वाधिक बुरी तरह ग्रस्त इलाकों में रहने वाले परिवारों की ऋणग्रस्तता में वृद्धि का पता चलता है :

	कर्ज में डूबे परिवारों का प्रतिशत	
	1943	1944
किसान परिवार	43	66
विभिन्न दस्तकार	27	56
विविध	17	46

(वही, पृष्ठ 12)

आज स्थिति यह है कि किसानों की एक बहुत बड़ी संख्या के पास न तो जमीन है, न बीज है, न मवेशी हैं और न ही अपनी जरूरत की चीजें खरीदने के लिए पैसा है। इसके साथ ही बार बार रोग के आक्रमण के कारण अनेक स्वस्थ व्यक्ति पूरी तरह अक्षम हो गए हैं। वस्तुतः 'संपत्तिवान किसान आज गांव के समृद्ध किसान अथवा जोतदार पर निर्भर कर रहा है ताकि उसे जमीन, मवेशी, खली और बीज मिल सके। जमीन पाने के लिए और मवेशियों तथा बीज की व्यवस्था के लिए उसे अपने को किसी भी शर्त पर बेचना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो वह एक मजदूर की हैसियत में पहुंच जाएगा। (वही, पृष्ठ 10)

बंगाल में जो कुछ हुआ वह उस संकट का उग्रतम रूप था जो समूचे देश पर छा रहा था। युद्ध के समय में हुई मूल्यवृद्धि से किसान जनता कहीं भी लाभ न उठा सकी। केवल मझोले किसानों का एक बहुत मामूली तबका अपना कुछ कर्ज उतार सका। लेकिन आम जनता कर्ज के बोझ के नीचे दिनोंदिन दबती गई और इस प्रकार जमीन उसके हाथ से निकल गई। हाल ही में मद्रास सरकार ने डाक्टर वी० वी० नायडू की देखरेख में युद्ध के दौरान गांवों में कर्ज की स्थिति का एक सर्वेक्षण कराया। इस जांच के बाद जो विभिन्न आंकड़े सामने आए उनसे कोई सही तस्वीर नहीं मिल पाती है : वे जो तस्वीर पेश करते हैं वह

पूरी तरह पक्षपातपूर्ण है और इसमें जमीदारों के पक्ष को काफी महत्व दिया गया है। लेकिन इस जांच के जरिये भी वास्तविक प्रवृत्ति को छिपाया नहीं जा सका अर्थात यह बात सामने आ गई कि युद्ध के फलस्वरूप छोटे भूस्वामियों, काश्तकारों और खेतिहर मजदूरों के कर्ज में जबरदस्त वृद्धि हुई है।

जितने दिनों तक युद्ध चलता रहा किसानों से जमीन की बेदखली की प्रक्रिया भी भयंकर रूप से जारी रही। इसकी वजह से भारत अभाव, भुखमरी और अकाल की स्थिति में पहुंच गया। अकाल के तीन वर्षों के अंदर, 1946 में भारत के सामने एक बार फिर वह स्थिति आ गई है जब खाद्यान्नों की कमी के बारे में अनुमान लगाया गया है कि 60 लाख टन अनाज कम है और आबादी का एक चौथाई हिस्सा विनाश की आशंका से ग्रस्त है।

2. किसान क्रांति की आवश्यकता

इस प्रकार भारतीय किसान के सामने जो सबसे महत्वपूर्ण समस्या पैदा हो गई है वह उनके अस्तित्व की है और इस समस्या का समाधान अनिवार्य रूप से उन्हें ढूंढ़ना है। क्या मौजूदा शासन व्यवस्था के तहत, मौजूदा भूमि व्यवस्था और इसपर आधारित साम्राज्य-वादी शासन के तहत कोई हल ढूंढ़ा जा सकता है? जाहिर है और इसे सभी लोग मानते हैं कि कुछ बहुत बुनियादी परिवर्तन आवश्यक हैं जो जमीन की काश्तकारी के समूचे आधार को और जमीन के वितरण की मौजूदा प्रणाली को बदल डालें। खेती की तकनीक में तब्दीली करना भी इतना ही महत्वपूर्ण है। फ्लाउड कमीशन को दिए गए एक ज्ञापन में बंगाल प्रांतीय किसान सभा ने कहा था :

> स्थाई बंदोबस्त ने जमींदारों को असीमित अधिकार दे दिए हैं और इसने बदले में इस प्रणाली को अपने जबरदस्त दबाव के तहत एकाधिकार और यातना का रूप दे दिया है···हमारा अनुभव हमें बताता है कि स्थाई बंदोबस्त एक ऐसा कठोर ढांचा तैयार करता है जिसमें कोई भी व्यावहारिक सुधार काम नहीं कर सकते। वैधानिक सुधार की बात को भले ही विधान की पुस्तिका में स्थान दे दिया जाए पर जमींदार वर्ग के पास जो अधिकार हैं उनसे वह निरर्थक किया जा सकता है···यही वह प्रणाली है जो अपने विभिन्न प्रतिनिधियों, जमींदारों, सूदखोर महाजनों और पुलिस के जरिए उत्पीड़ित किसानों के दिमाग में यह बात डालने की कोशिश करती रहती है कि वे अपनी जमीन छोड़कर चले जाएं। इन परिस्थितियों में यदि स्थाई बंदोबस्त व्यवस्था को समाप्त करने की मांग की जाती है तो यह किसी गड़बड़ सोच का नतीजा नहीं है बल्कि इस मांग के पीछे एक गहरी समझदारी है और वह यह है कि जमीन की काश्तकारी प्रणाली में कोई सुधार करना असंभव है। (ज्ञापन, पृष्ठ 4-5)

जमींदारी प्रथा समाप्त होनी ही चाहिए। जैसा हमने भारत में देखा है, जमींदारी प्रथा

उस विदेशी सरकार की एक कृत्रिम देन है जो पश्चिमी संस्थाओं को यहां आरोपित करना चाहती है और जिसकी यहां की जनता की परंपराओं में कोई जड़ नहीं है। इसका नतीजा यह है कि यहां की जमींदारी प्रथा किसी भी देश के मुकाबले बिलकुल ही कर्तव्यहीन है, यहां तक कि वह दिखाने के लिए भी भूमि के विकास या संरक्षण के काम में अपनी आवश्यक भूमिका नहीं निभाती। उलटे, वह अपनी अदूरदर्शितापूर्ण बहुत अधिक मांगों से भूमि का गलत इस्तेमाल और इसकी बरबादी करती है। यह किसानों पर विशुद्ध रूप से परोपजीविता का दावा है और जहां बड़ी जमींदारियां हैं वहां जमींदार प्रायः अपना एक नुमाइंदा नियुक्त कर देता है जो छोटे जमींदार की भूमिका निभाता है और फिर बिचौलिये जमींदार के कारण परोपजीविता में और वृद्धि होती है। किसानों की पहले से ही अपर्याप्त उपज पर इन परोपजीवियों के दावे के लिए कोई जगह नहीं है। जो कुछ भी पैदा किया जाता है उससे पहले, जीवन यापन की आवश्यकताएं फिर सामाजिक आवश्यकताएं और अंत में कृषि के विकास की आवश्यकताएं पूरी की जानी चाहिए।

यही बात महाजनी प्रथा और कर्ज के पहाड़ के बारे में भी सच है। कर्ज की राशि में जबरदस्त कमी और फिर इसे रद्द कर देना एकदम जरूरी है। लेकिन केवल इतना कर देने से कोई फायदा नहीं होगा या अस्थाई तौर पर ही थोड़ी राहत मिल सकेगी यदि इसके साथ साथ कर्जदारी को रोकने के लिए या महाजनों की भूमिका के विकल्प में कोई अन्य संगठन न तैयार किया गया। इसका अर्थ सबसे पहले तो यह हुआ कि किसानों पर किए जाने वाले अत्यधिक दावे समाप्त किए जाएं और आर्थिक जोतों को संगठित किया जाए और दूसरे, जब तक कोई सामूहिक संगठन न तैयार हो जाए जो अंततः कर्ज की जरूरतों का स्थान ले ले तब तक सस्ती दर पर ऋण की सुविधा होनी चाहिए।

यह मानना पड़ेगा कि लगान की माफी और लगान की राशि में कमी तथा ऋण में कमी और ऋण पर लगने वाले ब्याज की दर में कमी के अस्थाई और आंशिक उपाय तत्काल संभव हैं और कांग्रेस सरकारों द्वारा विभिन्न प्रांतों में कहीं कम और कहीं अधिक उपाय किए जा रहे हैं पर समस्या के बुनियादी हल के लिए पूरी भूमि व्यवस्था का पुनर्संगठन जरूरी है। लगभग 30 लाख छोटे और अधीनस्थ जमींदारों के एक बड़े वर्ग के अस्तित्व ने, जो स्वयं बहुत गरीब हैं और जिनकी जोतें लगभग उतनी ही हैं जितनी कि शहर में रहने वाले किसी अल्प वेतनभोगी व्यक्ति की 'वृद्धावस्था की पैंशन' होती है, जमींदारी प्रथा की समूची प्रणाली को जटिल बना दिया है। इसके फलस्वरूप लगान में कमी करने का कोई भी उपाय ऐसा होना चाहिए जिससे इस बात की निश्चितता रहे कि मुख्य भार बड़े जमींदारों पर पड़ेगा। यह सुझाव दिया गया है कि श्रेणीगत कृषीय आय कर (वर्तमान आय कर व्यवस्था में कृषीय आय पर कर नहीं लगता और इस प्रकार एक तरफ तो जमींदार आय कर देने से मुक्त हो जाता है और दूसरी तरफ उद्योग धंधों पर अधिकाधिक बोझ पड़ जाता है) की व्यवस्था की जाए जिसमें बड़े जमींदारों पर कर की ऊंची से ऊंची दर लगाई जाए और छोटे जमींदारों को कर से मुक्त रखा जाए तो इस लक्ष्य को

प्राप्त किया जा सकता है। फिर भी, राज्य की आय बढ़ाकर या लोकशासन अथवा कांग्रेस सरकार के जरिए खेती के विकास के लिए काफी पैसा जारी कराकर भी किसानों पर बोझ कम करने की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति तब तक नहीं की जा सकती जब तक इस तरह प्राप्त की गई राशि का इस्तेमाल जमीन की मालगुजारी कम करने और इसके साथ ही अनिवार्य रूप से लगान की राशि में कमी करने के लिए न की जाए। तद-नुसार जमींदारी प्रथा की बुराइयों से और व्यवस्थित ढंग से निबटने का काम व्यापक आर्थिक पुनर्गठन के कार्यक्रम का एक हिस्सा होना चाहिए जो छोटी जोतोंवाले विस्थापित किसानों और उन लाखों लोगों के लिए जो निश्चय ही खेती के क्षेत्र में अत्यधिक भीड़ होने से अपने व्यवसाय से अलग हो चुके हैं, जीवनयापन का कोई वैकल्पिक साधन प्रस्तुत करे। इसलिए खेती के विकास और उद्योग धंधों के विकास के लिए किए जाने वाले उपायों में एकता जरूरी है।

बुनियादी समस्या महज जमींदारी प्रथा की समस्या नहीं है बल्कि वर्तमान भूमि व्यवस्था और जोतों के वितरण को पुनर्गठित करने की व्यवस्था है। गैरआर्थिक जोतों तथा खेतों के छोटे छोटे टुकड़ों में बंटे होने की खामियों को दूर करने के लिए जोतों का पुनर्वितरण बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था। उदाहरण के लिए जब यह स्मरण किया जाता है कि बंबई प्रेसीडेंसी में 48 प्रतिशत खेत 5 एकड़ से भी कम क्षेत्र के हैं और फिर भी उनका कुल योग समूचे क्षेत्रफल के 2.4 प्रतिशत से अधिक नहीं है उसी समय यह महसूस किया गया था कि पुनर्वितरण का काम कितना जरूरी है (कृषि आयोग का साक्ष्य, खंड II, भाग 1, पृष्ठ 76)। फिर भी इस तरह के पुनर्वितरण का काम जिसमें निश्चित रूप से संख्या के दावों की तरफ से व्यक्तिगत निहित स्वार्थों को नुकसान पहुंचाना है, किसी विदेशी सरकार की नौकरशाही नहीं पूरा कर सकती है चाहे वह इसके लिए कितनी भी इच्छुक क्यों न हो। यह काम केवल किसानों के पहल और उनकी कार्यवाही के जरिए हो सकता है और यह काम ऐसी सरकार के नेतृत्व के अंतर्गत हो सकता है जो उन किसानों का प्रतिनिधित्व करे और उनके हितों के लिए संघर्ष करे।

फिर भी कृषि संबंधी विकास की समूची समस्या से निपटने के लिए भूमि का पुनर्वितरण केवल पहला कदम है। इसके लिए सबसे जरूरी यह है कि कृषि में तकनीक को आधुनिक स्तर तक लाया जाए, खेती के काम में मशीनों का इस्तेमाल किया जाए और खेती के लायक जमीन के जो इलाके बंजर पड़े हैं उन्हें खेती योग्य बनाया जाए। इस संदर्भ में केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति (इनक्लोजर 13, पृष्ठ 700) के उस अनुमान को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा जिसमें कहा गया था कि यदि प्रति एकड़ उपज को उस स्तर तक उठा दिया जाए जिस स्तर पर इंग्लैंड में उपज होती है तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रति वर्ष संपत्ति में एक अरब पौंड की तत्काल वृद्धि हो जाएगी। इसी प्रकार यदि उपज का स्तर डेनमार्क में गेहूं के उत्पादन के स्तर तक पहुंचा दिया जाए तो प्रति वर्ष संपत्ति में कुल वृद्धि 1 अरब 50 करोड़ पौंड की होगी (अर्थात 1933-34 में हुई फसलों के कुल मूल्य

का 5 गुना और भारतीय जनता की संभावित वास्तविक आय दो गुना)। फिर भी इस तरह की प्रगति के लिए छोटे स्तर की तकनीक और सरकारी उपेक्षा की परंपरा को निर्णायक रूप से तोड़ने की जरूरत है और भारत की स्थितियों के अंतर्गत बड़े पैमाने पर सामूहिक खेती की दिशा में विकास करने की आवश्यकता है :

साम्राज्यवाद के विशेषज्ञों ने सिद्धांतत: यह माना था कि बड़ी मशीनों का इस्तेमाल संभव बनाने के लिए बड़े पैमाने पर खेती जरूरी है।

> यदि बड़ी मशीनों की बात शुरू करें, जिनमें सबसे बड़ी मशीनें भाप के इंजन से जुताई करने वाले उपकरण और गाइरोटिलर (गुड़ाई करने की मशीन) हैं तो इस तरह की बड़ी मशीनों की स्थिति स्पष्ट है। इनका इस्तेमाल केवल बहुत बड़ी बड़ी जमींदारियों में ही किया जा सकता है और वह भी तब जब आवश्यक पूंजी उपलब्ध हो। उपर्युक्त स्थितियों के होने पर ही उनका काम समान रूप से अच्छा माना जा सकता है। यदि सामूहिक या सहकारी ढंग से खेती की जाए तो उनकी मांग बढ़ने की आशा की जा सकती है लेकिन फिलहाल यह स्थिति अभी काफी दूर है। (इंपीरियल ऐग्रीकल्चर रिसर्च इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली के वाइन सायर 'यूज आफ मशीनरी इन ऐग्रीकल्चर' शीर्षक लेख) टाइम्स ट्रेड ऐंड इंजीनियरिंग सप्लीमेंट, अप्रैल 1939 के अंक में।

साम्राज्यवाद के विशेषज्ञ की विचारधारा यह है कि इस तरह विकास की स्थिति 'अभी काफी-दूर है।' लेकिन तबाह किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की उभरती हुई सामाजिक शक्तियां आने वाले दिनों में यह बताने में पूरी तरह समर्थ हैं कि इस तरह के विकास की स्थिति 'अब काफी दूर नहीं है।' यहां भारत के लिए सोवियत संघ का उदाहरण काफी महत्वपूर्ण है जिसने 20 वर्षों के अंदर तेजी से विकास किया, जारशाही के शासनकाल में गरीबी से त्रस्त किसानों की स्थिति को बेहतर बनाया, जमींदारी प्रथा की समाप्ति की और भूमि के पुनर्वितरण के प्रारंभिक कार्य से वर्तमान सामूहिक खेती के विकास तक की मंजिल तय करके किसानों को समृद्ध बनाया।

3. सरकारी सुधारों की असफलता

क्या साम्राज्यवाद की स्थितियों में इस तरह के विकास की या कृषि संबंधी समस्या को बुनियादी ढंग से हल करने की कोई संभावना है? इसका उत्तर इस प्रश्न में ही निहित है। इस तरह की कल्पना करना ही निश्चित रूप से बहुत अजीब होगा। साम्राज्यवादी शासन को संचालित करने वाले तत्वों की इस तरह की किसी इच्छा की बात तो दूर रही, साम्राज्यवाद के हित एक तरफ जमींदारी प्रथा और सामंती तथा अर्धसामंती संस्थाओं को सुरक्षित रखने के साथ जुड़े हुए हैं क्योंकि जनता पर जबरन शासन कायम करने के लिए उसे इस सामाजिक आधार की आवश्यकता होती है। दूसरी तरफ साम्राज्यवाद के

हित महाजनी पूंजी द्वारा भारतीय जनता के शोषण के साथ जुड़े हुए हैं ताकि भारत एक पिछड़ा हुआ कृषीय उपनिवेश बना रहे। इन बातों से साम्राज्यवाद के लिए खेती की समस्या को हल करने का प्रयत्न करना असंभव है।

स्वयं साम्राज्यवादियों ने भी यह स्वीकार किया है कि अत्यंत आवश्यक कृषीय समस्या को हल करने में साम्राज्यवाद असफल साबित हुआ है। इस संदर्भ में 1927 में भारतीय कृषि की जांच के लिए गठित शाही आयोग के विचारार्थ विषयों का प्रतीकात्मक महत्व है। इस आयोग का गठन अंगरेजों द्वारा शासन स्थापित करने के 170 वर्षों बाद किया गया। आयोग की स्थापना का उद्देश्य 'ब्रिटिश भारत में कृषीय और ग्रामीण अर्थव्यवस्था की समस्याओं पर विचार करना था लेकिन आयोग को भूमि व्यवस्था पर हाथ भी नहीं लगाने दिया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि इसकी छोटी मोटी सिफारिशें अनिवार्य रूप से सीमित महत्व की सिफारिशें बनकर रह गईं जो व्यवहार में पूरी तरह बेअसर साबित हुईं। इन्हें रिपोर्ट और साक्ष्य के 17 खंडों में दफना दिया गया। कृषि के क्षेत्र में बढ़ते हुए संकट को किसी सीमा तक रोकने के लिए इसमें कृषि संबंधी स्थितियों के प्रमाण का भंडार था लेकिन इस रिपोर्ट के तैयार होने के बाद से खेती की समस्या बड़ी तेजी से उग्र रूप लेती गई है।

खेती की समस्या के संदर्भ में साम्राज्यवाद की नपुंसकता का प्रमाण उसके दिवालियेपन का व्यवहारिक लेखा जोखा प्रस्तुत करता है। अभी हाल के वर्षों में बहुत सीमित क्षेत्र में कृषि संबंधी शोध संस्थाओं और केंद्रों की व्यवस्था की गई है (इंपीरियल ऐग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना तभी संभव हो सकी जब शिकागो के एक लखपती व्यक्ति ने भारी धनराशि दान में दी; 1936-37 में कृषि संबंधी विभागों पर केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों द्वारा कुल 22 लाख 50 हजार पौंड खर्च किया गया जो कुल बजट का 1.4 प्रतिशत था। लेकिन इस तरह के संस्थान और केंद्र किसान जनता को व्यवहार रूप में तब तक सहायता नहीं पहुंचा सकते जब तक उनके पास तकनीकी विकास के लिए साधन नहीं उपलब्ध होते और जब तक वह शोषण नहीं बंद होता जो उन्हें अर्धभुखभरी, गुलामी और अज्ञानता की सर्वाधिक पिछड़ी स्थितियों में कैद किए हुए हैं।

कृषि संबंधी आयोग की रिपोर्ट में (पृष्ठ 436-37) इस बात का पहले ही उल्लेख किया गया है कि कर्जदारी के विकास पर रोक लगाने के लिए खेतिहरों की सहायता के लिए कानून संबंधी जो विभिन्न उपाय किए गए वे असफल साबित हुए। इसी प्रकार काश्तकारों की सुरक्षा के लिए काश्तकारी संबंधी कानून बनाने के लिए किए गए विभिन्न प्रयासों को जमींदारी व्यवस्था के तेजी से विस्तार को रोकने में तथा शिकमी की प्रणाली और जबरदस्त लगान वसूली का तरीका रोकने में सफलता नहीं मिली। सुविधा प्राप्त 'संरक्षित'काश्तकार' बहुधा खुद ही छोटे जमींदार की भूमिका निभाने लगते हैं और उन काश्तकारों का शोषण करने लगते हैं जिन्हें कोई संरक्षण नहीं प्राप्त है।

जैसा पहले ही बताया गया है (देखें पृष्ठ 176-78) पुरानी सिंचाई व्यवस्था की भरपूर उपेक्षा और अंततः बरबादी के बाद 19वीं सदी के मध्य से ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई की व्यवस्था के संबंध में जो थोड़ा बहुत काम किया है उसे बहुधा कृषि के क्षेत्र में बहुत बड़ी उपलब्धि का नाम दिया जाता है। लेकिन ब्रिटिश भारत में कुल बोए गए क्षेत्र का 23 प्रतिशत हिस्सा ही आज भी सिंचाई की सुविधा पा सका है (1939-40 में 24 करोड़ 50 लाख एकड़ में से केवल 5 करोड़ 50 लाख एकड़ ही सिंचित क्षेत्र था)। सरकार की सिंचाई व्यवस्था से केवल 10 प्रतिशत जमीन को ही लाभ मिलता है (1939-40 में ढाई लाख एकड़ जमीन)। इसके अलावा भारतीय रियासतों में लगभग 15 लाख एकड़ में सिंचाई होती थी और इस प्रकार कुल सिंचित क्षेत्र 6 करोड़ 55 लाख एकड़ हुआ। सिंचाई के लिए काफी पैसा लिया जाता है और यही कारण है कि यह सुविधा गरीब किसानों के लिए नहीं है। इससे किसानों पर और भी बोझ बढ़ जाता है। सरकार की सिंचाई व्यवस्था ने 1918-21 में कुल 7-8 प्रतिशत का मुनाफा कमाया और यहां तक कि 1935-36 में भी उसने 5.7 प्रतिशत का विशुद्ध मुनाफा कमाया।

खेती के क्षेत्र में जो दुर्व्यवस्था है उसको अंतिम तौर से समाप्त करने के लिए सरकार ने रामबाण के रूप में सरकारी विभाग के अंतर्गत सहकारी ऋण समितियों के आधार पर कृषीय सहयोग को विकसित और पोषित किया। सहयोग में सरकार ने जो यह विशेष दिलचस्पी दिखाई उसके मूल में कौन से उद्देश्य काम कर रहे थे और कौन सी आशाएं थीं इसे डार्लिग महोदय ने अपनी ताजा पुस्तक में बड़ी कुशलता के साथ समझाया है। लगान और जमींदारी न देने के लिए कांग्रेस ने जो आंदोलन किया था उसका उल्लेख करते हुए श्री डार्लिग ने लिखा है कि पंजाब का एक जिला 'मूर्खतापूर्ण प्रचार से ग्रस्त हो गया है।' और उन्होंने टिप्पणी की कि 'यह महत्वपूर्ण बात है कि इन गांवों में से केवल एक में सहकारी समिति थी।' उन्होंने आगे कहा :

> इस तरह के आंदोलनों का सबसे अच्छा प्रतिकारक है—सहयोग : और इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि पिछले वर्ष सूबे में जो 20 हजार समितियां काम कर रही थीं उनका गांव पर एक उपशामक असर था और उन्होंने कानून भंग करने की घटनाओं को आमतौर से फैलने से रोका। इस तरह की घटनाओं से अनेक नगर परेशान हो चुके हैं। (एम० एल० डार्लिग : 'वेल्थ ऐंड वेस्ट इन दि पंजाब विलेज', 1934, पृष्ठ 83-84)

दुर्भाग्यवश खेतिहरों को ऋण देने के लिए जो सहकारिता कायम की गई उससे गरीब किसान लाभान्वित हो सके हैं क्योंकि उनके पास इनकी सदस्यता के लिए आवश्यक साधन नहीं हैं। इसका लाभ मुख्यतः मंझोले किसानों को मिलता है जो पहले ही से अच्छी स्थिति में हैं और जिन्हें आंदोलनों से निरापद रहने की जरूरत है।

हम जो पैमाना इस्तेमाल करेंगे उसके एक सिरे पर ऐसे लोग हैं जो अच्छे खाते पीते हैं और जो स्वयं को सदस्य बनाकर असीमित देयता का खतरा अपने ऊपर मोल लेना नहीं चाहते। दूसरे सिरे पर ऐसे व्यक्ति हैं जो इतने गरीब हैं कि उन्हें सदस्यता नहीं मिल सकती। इसलिए यह मानना उचित नहीं होगा कि सहकारिता आंदोलन में लगी आबादी औसत कृषि आबादी का प्रतिनिधित्व करती है।' (बंगाल प्रांतीय बैंकिंग जांच समिति की रिपोर्ट, पृष्ठ 69)

एक और बड़ी कठिनाई यह है कि निर्धनतम जिलों में, जहां किसानों को सहायता की सबसे ज्यादा आवश्यकता है, ऋण समितियों का कोई इस्तेमाल नहीं है। इन समितियों के बेकार पड़े रहने से बेहतर यह है कि वे उन किसानों को कर्ज दें जो जमीन के टुकड़े टुकड़े होने या अन्य कठिनाइयों की वजह से अपनी जोतों का भुगतान करने में स्थाई तौर पर अक्षम हैं। इस प्रकार मुख्यतया अत्यंत समृद्ध इलाकों में ही ऋण समितियां कामयाब हुई हैं। (एंस्टे : इकोनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया, पृष्ठ 202)

यह मौजूदा स्थितियों में कृषि संबंधी सहयोग का क्षेत्र अत्यंत सीमित होने के कारण है। 1939-40 में ब्रिटिश भारत में कृषीय सहकारी समितियों के सदस्यों की कुल संख्या 4,098,426 थी जो गांवों में रहने वाली कुल आबादी का 1.6 प्रतिशत थी। ग्रामीण इलाकों में रहने वाले परिवारों के अनुपात के बारे में कृषि आयोग की रिपोर्ट में निम्न तालिका दी गई थी (पृष्ठ 447) :

कृषीय सहकारी समितियों के सदस्यों और ग्रामीण इलाकों में रहने वाले परिवारों का अनुपात

	प्रतिशत
बंगाल	3.8
बंबई	8.7
मध्य प्रांत	2.3
मद्रास	7.9
पंजाब	10.2
संयुक्त प्रांत	1.8

रिपोर्ट में की गई टिप्पणी के अनुसार, 'यह देखा गया कि पंजाब, बंबई और मद्रास को छोड़कर, प्रमुख सूबों में यह आंदोलन गांवों में रहने वाली आबादी के एक छोटे हिस्से तक ही पहुंच सका है। इन अनुपातों से प्राप्त स्तर का पता चलता है (यह ध्यान देने की बात है कि बंगाल और संयुक्त प्रांत जैसे सर्वाधिक अभावग्रस्त सूबों में, जहां सबसे ज्यादा गरीबी है, यह अनुपात काफी कम है) और यह जानकारी मिलती है कि जब तक वर्तमान असमर्थता और बोझ बने रहेंगे, तब तक कृषीय सहकारिता से यह आशा नहीं की जा सकती कि इससे किसानों की समस्याएं हल होंगी।

साम्राज्यवाद के समर्थकों के लेखों में भी अब यह काफी खुलकर आने लगी है कि भारतीय कृषि की समस्या को अर्थात भारतीय जनता की अत्यावश्यक जीवन समस्या को हल करने के लिए, एक बुनियादी पुनर्गठन की जरूरत है जो भूमि प्रणाली की जड़ तक पहुंचे। वे अब यह भी मानने लगे हैं कि इस तरह के पुनर्गठन की कोशिश साम्राज्यवादियों द्वारा नहीं की जा सकती बल्कि यह काम केवल भारतीय जनता ही एक जिम्मेदार सरकार के तहत पूरा कर सकती है :

> राजनीतिज्ञों और अधिकारियों ने भी ग्रामीण जीवन के सुधार की अत्यावश्यक जरूरत को स्वीकार किया है लेकिन इस दिशा में किए गए खास खास उपाय बहुधा या तो अपर्याप्त साबित हुए हैं या इनके लिए क्रांतिकारी परिवर्तनों की जरूरत है जिसके लिए भारत के स्वायत्त होने तक प्रतीक्षा करनी होगी। (थाम्पसन और गैरेट : 'राइज ऐंड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया,' 1934, पृष्ठ 648)

> यह सुझाव दिया गया है कि इसका सबसे अच्छा उपाय यह होगा कि एक एक करके खास खास इलाकों को लिया जाए और हर तरह के पारिवारिक तथा कानूनी अधिकारों सहित वहां की समूची व्यवस्था को 'दुरुस्त' किया जाए। (इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग की बुलेटिन संख्या 9, 1918 में एच० स्टैनले जेवोंस का लेख 'दि कंसालिडेशन आफ ऐग्रीकल्चरल होल्डिंग्स इन दि यूनाइटेड प्राविंसेज,')। फिर भी यह तब तक पूरी तरह अव्यावहारिक लगता है जब तक एक जिम्मेदार सरकार न कायम हो जाए। (एंस्टे : 'दि इकोनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया,' 1936, पृष्ठ 101)

> हालांकि यह सच है कि यदि ज्ञात विकसित साधनों का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाए तो कृषि की पैदावार में क्रांति लाने के लिए यह पर्याप्त होगा लेकिन इसमें संदेह है कि उन बुनियादी कठिनाइयों को निकट भविष्य में समाप्त किया जा सकेगा जो अतीत में विकास की प्रक्रिया तेज करने में बाधा पहुंचाती थीं। ऐसा इसलिए क्योंकि किसी भी आवश्यक सुधार के दौरान धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं और रीति रिवाजों में एक अंश तक हस्तक्षेप करना पड़ेगा और यह काम ऐसी सरकार नहीं कर सकती जिसे जनता का भरपूर विश्वास और समर्थन न प्राप्त हो। (वही, पृष्ठ 177)

इस दृष्टिकोण का आधार जिस सिद्धांत पर टिका है वह निस्संदेह ठीक है भले ही इन भाष्यकारों द्वारा जो तर्क पेश किया जाता है वह मौजूदा स्थिति में किसी बुनियादी सुधार के काम को विलंबित करने और अस्वीकार करने के लिए पेश किया जाता हो ('निश्चित

तौर पर इंतजार करना होगा,' 'पूरी तरह अव्यावहारिक है बशर्ते···,' 'निकट भविष्य में···संदिग्ध है···')।

भारतीय कृषि में अर्थात भारत की अर्थव्यवस्था और यहां के लोगों के जीवन में जिन महान परिवर्तनों की आवश्यकता है और जिनकी जरूरतों को प्रत्येक पक्ष स्वीकार करता है, ऐसे वे परिवर्तन केवल भारतीय जनता ही एक ऐसी सरकार के नेतृत्व में ला सकती है जिसका चुनाव स्वयं उसने किया हो, जिसमें उसका विश्वास हो, जो खुद जनता की स्वतंत्र क्रियाशीलता और सहयोग प्राप्त कर सकती हो।[1] इसीलिए कृषि के क्षेत्र में पुनर्गठन का काम, जो अब बहुत जरूरी है, राष्ट्रीय मुक्ति, और जनतांत्रिक स्वतंत्रता के काम से जुड़ा है। किसान क्रांति का संबंध जनतांत्रिक क्रांति से है।

4. किसान आंदोलन का विकास

हाल के कुछ वर्षों में किसान आंदोलन का जो विकास हुआ है, वह इस परिस्थिति में भारत की एक सबसे महत्वपूर्ण घटना है। जब से भारत में अंगरेजों का शासन स्थापित हुआ तब से समय समय पर किसान असंतोष और किसान विद्रोह की घटनाएं सामने आईं और इनकी संख्या में बराबर वृद्धि होती गई। प्रारंभ में किसानों का यह असंतोष और गुस्सा आदिम और स्वतःस्फूर्त रूप में अलग अलग सूदखोर महाजनों और जमींदारों से बदला लेने तथा हिंसा का प्रयोग करने की छुटपुट कार्यवाहियों का रूप लेता रहा। 1852 में बंबई सरकार को भेजी गई एक रिपोर्ट में सर जार्ज विगनेट ने लिखा था :

> हमारी प्रेसीडेंसी के दो विरोधी छोरों पर गांव के सूदखोर महाजनों की उनके कर्जदारों द्वारा हत्या की गई है जिनके बारे में मेरी आशंका यह है कि इन घटनाओं को कर्जदारों पर दमन के फलस्वरूप की गई कार्यवाही मात्र न समझा जाए। यह एक ऐसा उदाहरण है जिससे पता चलता है कि हमारी खेतिहर आबादी और सूदखोर महाजनों के बीच आमतौर पर जो संबंध बन रहा है वह कितना गंभीर है। और यदि ऐसा है ही तो इन घटनाओं से एक तरफ जबरदस्त दमन और दूसरी तरफ घोर पीड़ा का किस सीमा तक पता चलता है? वे कौन सी स्थितियां हैं जिनमें किसानों को, जो बड़े सहनशील और सदियों से चले आ रहे दुर्व्यवहार तथा अन्याय को चुपचाप झेलने वाले माने जाते हैं, महाजनों की गलतियां सुधारने के लिए और अपनी घृणित मृत्यु रोकने के लिए हत्या तक का सहारा लेना पड़ता है? किस तरह न्याय की उनकी धारणा का नाश किया जाना चाहिए? कानून या सरकार से उन्होंने कैसे यह आशा छोड़ दी कि उनकी शिकायतों पर सुनवाई की जाएगी और वह कौन सी सीमा थी जहां आकर उनके धैर्यपूर्ण और शांत स्वभाव ने इतना गंभीर कदम उठा लिया? (सर जार्ज विनगेट, रिपोर्ट टु दि बांबे गवर्नमेंट इन 1852)

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए किसान विद्रोहों में 1855 का संथाल विद्रोह और 1875 का दक्कन विद्रोह सबसे महत्वपूर्ण थे। लेकिन वस्तुत: 1914-18 के विश्वयुद्ध के बाद और खासतौर से विश्वव्यापी अर्थसंकट के अंतिम दशक के बाद से किसानों का असंतोष अभूतपूर्व तेजी के साथ बढ़ा है और उसका स्वरूप दिनोंदिन क्रांतिकारी हुआ है। विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने कृषि की अर्थव्यवस्था पर जबरदस्त आघात किया। भारत के सभी हिस्सों में किसानों ने लगान बढ़ाने, कर्जदारों को गुलाम बनाने और किसानों की जमीनें जबरन छीनने की कार्यवाही के विरुद्ध आंदोलन किए। बेदखलियों का प्रतिरोध करने के लिए कुर्क जमीनों के नीलाम का बहिष्कार करने और सूदखोर महाजनों के खिलाफ आपस में एकता स्थापित करने के लिए उन्होंने स्वत:स्फूर्त ढंग से ग्राम समितियां बनाईं।

गांवों के किसान अपनी तकलीफों के कारण भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक संघर्ष की ओर खिंचे लेकिन राजनीतिक संघर्ष कभी स्थानीय किसान समितियों के साथ संबंध नहीं कायम कर सका। किसानों ने इसे महसूस किया और उन्होंने इनको विकसित करने तथा अपने निजी जनसंगठन तैयार करने की जरूरत को भी महसूस किया। किसानों की गांव समितियां धीरे धीरे जिला समितियों के साथ संवद्ध हो गईं और फिर ये समितियां, प्रारंभ में बेशक बहुत ढीले ढंग से, प्रांतीय संगठनों में तबदील हो गईं।

1936 में पहला अखिल भारतीय किसान संगठन बना, जिसका नाम अखिल भारतीय किसान सभा रखा गया। संगठन की पहली कांग्रेस दिसंबर 1936 में फैजपुर में ठीक उसी समय आयोजित की गई जिस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था। इस कांग्रेस में 20 हजार किसानों ने भाग लिया। इनमें से कुछ तो सैकड़ों मील की दूरी से पैदल चलकर आए थे। इनके साथ साथ फैजपुर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपना कृषि संबंधित कार्यक्रम पारित किया और दोनों संगठनों की राजनीतिक एकता की घोषणा की गई।

मई 1938 में किसान सभा की तीसरी कांग्रेस कोमिल्ला में हुई। इस समय तक किसान सभा के सदस्यों की संख्या साढ़े पांच लाख तक पहुंच गई थी। भाषावार 20 सूबों में से 19 में इस समय तक प्रांतीय किसान समितियां बन चुकी थीं। कोमिल्ला अधिवेशन में जमींदारी प्रथा के विरुद्ध और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के बारे में तथा किसानों की तात्कालिक जरूरतों के संबंध में बहुत ही स्पष्ट कार्यक्रम पारित किए गए।

1937 में कांग्रेस के मंत्रिमडलों का गठन हुआ और इससे किसान संगठन को जबरदस्त प्रेरणा मिली। 1938 के समूचे वर्ष में भारत के सभी सूबों में किसानों के बड़े बड़े संघर्ष हुए और लगान वृद्धि, बेदखली, जबरन मजदूरी तथा लगान की गैरकानूनी वसूली की कोशिशों के खिलाफ तथा लगान की दर में कमी करने के लिए अनेक मामलों में उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। इसके साथ ही किसानों के बहुत बड़े बड़े जुलूस निकले और

समय समय पर विशाल प्रदर्शन हुए जिनमें 30 हजार से लेकर 40 हजार किसानों ने भाग लिया, इनके साप्ताहिक समाचारपत्रों का प्रकाशन शुरू हुआ, इनके लिए गाने लिखे गए और पर्चे तैयार किए गए। किसानों की शिक्षा के लिए स्कूलों की शुरुआत हुई। इससे साबित होता है कि किसानों का आंदोलन काफी मजबूत और ठोस होता जा रहा था। कांग्रेस मंत्रिमंडलों पर इस बात के लिए जबरदस्त दबाव डाले जा रहे थे कि वे सुधार के उपाय अमल में लाएं। इन सरकारों पर जमींदारों के प्रभाव को कम करने की भी कोशिशें जारी रहीं।

अखिल भारतीय किसान सभा का चौथा अधिवेशन अप्रैल 1939 में गया में हुआ। इस समय तक संगठन के सदस्यों की संख्या 8 लाख तक पहुंच गई थी। इस अधिवेशन में पारित राजनीतिक प्रस्ताव में घोषणा की गई :

> पिछले वर्ष भारत के किसानों में चमत्कारी जागृति और उनकी संगठनात्मक शक्ति के विकास का प्रमाण मिला है। देश के सामान्य जनतांत्रिक आंदोलन में किसानों ने पहले से कहीं अधिक बड़े पैमाने पर हिस्सा लिया है। इतना ही नहीं उन्होंने चेतना के स्तर को भी प्राप्त कर लिया है जो उन्हें उनके वर्ग से परिचित कराती है और यह वर्ग सामंतों और साम्राज्यवादियों के निर्मम शोषण के खिलाफ अपना अस्तित्व बनाए रखने की जी तोड़ कोशिश में लगा है। इसलिए उनके वर्ग संगठनों में निरंतर वृद्धि हुई है और इस शोषण के खिलाफ उनका संगठन इतने ऊंचे स्तर तक उठा है कि विभिन्न आंशिक संघर्षों में उन्हें हिस्सा लेना पड़ा है और इस प्रकार उनमें एक नई राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई है। उन्होंने उन शक्तियों के स्वरूप को समझ लिया है जिसके विरुद्ध वे संघर्ष कर रहे हैं और अब वे यह जान चुके हैं कि उनकी गरीबी और शोषण की समाप्ति के लिए सही तरीका कौन सा है। देश की अन्य साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों के साथ मिलकर की गई कार्यवाहियों ने अब उनकी दृष्टि को सीमित नहीं रखा है। वे इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि रोज ब रोज के संघर्ष की तर्कसंगत परिणति साम्राज्यवाद पर जबरदस्त आक्रमण और साम्राज्यवाद की समाप्ति में ही होनी चाहिए। इसके साथ ही एक किसान-क्रांति आवश्यक है जो उन्हें जमीन देगी, राज्य और उनके बीच बिचौलियों द्वारा किए जा रहे हर तरह के शोषण को समाप्त करेगी, कर्ज के बोझ से उन्हें मुक्त करेगी और उनके परिश्रम का पूरा पूरा फल उन्हें प्राप्त हो सकेगा।
>
> दूसरे, पिछला वर्ष प्रांतीय सरकारों द्वारा किसानों को दी गई छोटी मोटी राहतों का वर्ष रहा। ये राहतें बेहद अपर्याप्त थीं और निहित स्वार्थों ने इनके मार्ग में बड़ी बड़ी रुकावटें डालीं जिनका मुकाबला करना पड़ा। इससे यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि बुनियादी किसान समस्याओं को हल करने में प्रांतीय स्वायत्तता बिलकुल ही असमर्थ है। इन बातों ने प्रांतीय स्वायत्तता के खोखलेपन

को पूरी तरह सामने ला दिया। संगठन को आज यह घोषित करते हुए गर्व हो रहा है कि भारत के किसान अपने को सामंती साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए और इस काम को पहले के मुकाबले और तेजी से करने के लिए कृतसंकल्प हैं।

…किसान संगठन यह घोषणा करता है कि समय आ गया है जब देश की संयुक्त शक्तियां कांग्रेस, राज्यों की जनता, किसानों, मजदूरों और सामान्य जनों तथा संगठनों के साथ मिलकर साम्राज्यवादी प्रभुत्व के गुलाम संविधान पर आक्रमण करने, पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राप्त करने और भारतीय जनता के जनतांत्रिक राज्य की स्थापना के लिए आगे आएं जिससे अंततः किसान मजदूर राज कायम किया जा सके।

गया के इस अधिवेशन के कुछ ही महीनों के अंदर विश्वयुद्ध छिड़ गया। इसके बाद 'भारत रक्षा अधिनियम' के अंतर्गत भारतीय जनता पर दमन का एक जबरदस्त दौर चला। मजदूरों और किसान आंदोलनों के नेताओं की देश भर में व्यापक गिरफ्तारियां हुई और बिना मुकदमा चलाए उन्हें जेलों में डाल दिया गया। लेकिन तमाम दमन के बावजूद किसानों ने देश भर में साम्राज्यवादी सामंती व्यवस्था के विरुद्ध अपना जबरदस्त संघर्ष जारी रखा। पंजाब में लाहौर और अमृतसर के किसानों ने जमीन की मालगुजारी कम करने की मांग को लेकर बड़े बड़े जुलूस निकाले और प्रदर्शन किए। 5 हजार से भी अधिक किसानों को, जिनमें सैकड़ों महिलाएं भी शामिल थीं, जेलों में ठूंस दिया गया। उनकी कुछ मांगें छः महीने बाद आंशिक तौर पर मान ली गई और तब आंदोलन समाप्त हुआ लेकिन इससे पहले इन बंदी किसानों में से चार की मृत्यु जेल के अंदर हो गई। बिहार, आंध्रप्रदेश, बंगाल, मध्य प्रांत, संयुक्त प्रांत, मालाबार, सिंध और सुरमा घाटी में किसानों ने मनमानी कर वसूली तथा जबरन बेदखली आदि के खिलाफ जबरदस्त संघर्ष चलाया। मार्च 1940 में पलास में अखिल भारतीय किसान सभा का पांचवां अधिवेशन हुआ जिसमें पारित प्रस्ताव में घोषणा की गई :

…सभा का यह विश्वास और भी दृढ़ हुआ है कि भारत के किसान, जिनकी शांति में सबसे बड़ी बाजी लगी हुई है, देश के मजदूरों के साथ मिलकर स्वतंत्रता के संघर्ष में हरावल दस्ते का काम करेंगे, विदेशी सरकार की सत्ता को चुनौती देंगे तथा देश के संसाधनों को देश से बाहर भेजे जाने का विरोध करेंगे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसानों को चाहिए कि वे अपने रोज ब रोज के संघर्ष को अपनी किसान सभाओं के नेतृत्व के तहत चलाएं और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष के साथ साथ भारतीय राजाओं और महाराजाओं, जमींदारों तथा साहूकारों के विरुद्ध भी जोरदार संघर्ष चलाएं क्योंकि ब्रिटिश सरकार के ये ही आधार स्तंभ हैं। दिनोंदिन तेज होते और व्यापक क्षेत्रों में फैलते इन संघर्षों को शीघ्र ही देशव्यापी

> कर और लगान न देने के आंदोलन का रूप ले लेना चाहिए ताकि साम्राज्यवाद के इन परोपजीवियों की आर्थिक सत्ता समाप्त हो जाए और भारत में ब्रिटिश सरकार की राजनीतिक सत्ता की नींव हिल उठे…।

1942-45 की अवधि पूरे किसान आंदोलन के लिए बड़ी परीक्षा की थी। अगस्त 1942 में ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन पर निर्मम आक्रमण किया गया, कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारियां हुईं और इसके बाद दमन का एक जबरदस्त दौर चला। इसके साथ ही देश की अर्थव्यवस्था बुरी तरह चरमरा गई। जमींदारों, व्यापारियों, जमाखोरों और कालाबाजारियों ने भ्रष्ट नौकरशाही के साथ साठ गांठ करके करोड़ों लोगों के जीवन के साथ भयंकर खिलवाड़ किया। बड़े पैमाने पर गांवों की किसान जनता अकाल और विनाश की चपेट में आ गई, बंगाल में गरीब निर्धन किसान मक्खियों की तरह मारे गए।

इस प्रकार संगठित किसान आंदोलन के कंधों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी। इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए अखिल भारतीय किसान सभा और उसकी प्रांतीय शाखाओं ने राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई के लिए तथा एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए दृढ़तापूर्वक आंदोलन चलाया, सरकारी दमनचक्र का बहादुरी से सामना किया, युद्ध के लिए जबरन की जा रही धन की वसूली के खिलाफ संघर्ष किया और अधिक अन्न पैदा करने के लिए तथा प्रत्येक गांव में नौकरशाहों, जमाखोरों और कालाबाजारियों के इरादों को नेस्तनाबूद करने के लिए आत्मसहायता आंदोलन को संगठित किया।

यह समूचा दौर भारतीय किसानों की शानदार उपलब्धियों से भरा है। आंध्र प्रदेश में हजारों एकड़ बंजर जमीन को खेती के योग्य बनाया गया। किसानों ने आपस में एक-जुटता कायम की, बड़े बड़े बांध बनाए और विशाल भूभागों को बाढ़ की बरबादी से बचाया। बंगाल में भयंकर अकाल के दिनों में भी अधिकांश गांवों में किसानों ने घूम घूम कर अनाज इकट्ठा किया और गांव की अतिरिक्त खाद्य सामग्री को उन अभावग्रस्त इलाकों में भेजा जहां उनके किसान भाई भूख से मर रहे थे। अखिल भारतीय किसान सभा के नेतृत्व में एक देशव्यापी अभियान छेड़ा गया जिसका उद्देश्य भयंकर अकाल से बंगाल की जनता को राहत पहुंचाना था। इस अवसर पर देश भर के किसान उठ खड़े हुए और उन्होंने बंगाल की सहायता के लिए बड़े पैमाने पर अनाज और धन इकट्ठा किया। स्वयं अपने सूबों के अंदर किसानों ने अनाज समितियां कायम कीं, चोरबाजारियों का भंडाफोड़ किया और अनाज के छिपे हुए गोदामों का पता लगाया तथा जरूरतमंदों के बीच अनाज का वितरण किया। सरकार के स्थानीय अधिकारियों की तरफ से दमन आदि की हर कार्यवाही का अपूर्व साहस और विश्वास के साथ मुकाबला किया गया।

देश की आजादी के लिए और सामान्य आदमी के अधिकारों के लिए निरंतर संघर्ष करने

के कारण तथा जनता को अनाज सुलभ कराने के लिए अखिल भारतीय किसान सभा अधिकाधिक शक्तिशाली और लोकप्रिय संगठन बन गई। 1942 में उनके सदस्यों की संख्या 225,781 थी जो 1944 में 553,427 हो गई और 1945 में 829,686 तक पहुंच गई। युद्ध समाप्त होने पर भारत की गरीब किसान जनता में जागरण की नई लहर आई। लगातार गहराते अन्न संकट ने, आवश्यक उपभोक्ता सामग्रियों की कमी और मूल्यवृद्धि ने तथा सरकारी जुल्म और गांवों में जमींदारों के दमन ने किसानों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अधिक से अधिक जुझारू कदम उठाने के लिए प्रेरित किया है। एक तरफ किसान यह मांग कर रहे हैं कि जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए तत्काल कानून बनाए जाएं और दूसरी तरफ वे खुद भी किसान सभा के नेतृत्व में जमींदारों की बंजर जमीन पर कब्जा करने के काम में पहल कर रहे हैं। इसके साथ ही वे बेदखली तथा लगान वृद्धि की जमींदारों की कोशिशों का जबरदस्त मुकाबला कर रहे हैं।

पाद टिप्पणी

1. कृषि संबंधी आयोग की रिपोर्ट में एक दिलचस्प बयान शामिल है जिसका महत्व निस्संदेह इसके लेखकों द्वारा सोचे गए महत्व से कहीं ज्यादा है :
जहां पर पांच लाख गांवों की समस्या का मामला है, यह बात बहुत साफ है कि सरकारी संगठन उन गांवों में प्रत्येक व्यक्ति से मिलने की आशा नहीं कर सकता। ऐसा संभव बनाने के लिए जनता को खुद अपनी सहायता करने के लिए संगठित होना चाहिए और उनके स्थानीय संगठनों को बड़े संघों के रूप में उस समय तक बने रहना चाहिए जब तक सरकार की तरफ से कोई ऐसी व्यवस्था न तैयार कर ली जाए जो प्रत्येक गांव में उन संदेशों को पहुंचा सके जो विभिन्न विशेषज्ञ विभाग पहुंचाना चाहते हैं। (पृष्ठ 468)
यह टिप्पणी काफी सही है यद्यपि इसके लेखकों का ऐसा कोई इरादा नहीं था। उनका मकसद वास्तविक तथ्यों को केवल पेश कर देना था लेकिन इसमें भावी ग्राम सोवियतों के सिद्धांत का एक बुनियादी तत्व भी निहित है।

खण्ड चार

भारतीय जनता का आंदोलन

10
भारतीय राष्ट्रवाद का उदय

ज्योंही गदर का खतरा सामने आता है भले ही यह गदर का रूप ले, राष्ट्रीयता की सार्व-भौमिक भावना की अभिव्यक्ति का ही रूप ले, उस क्षण अपने साम्राज्य को बनाए रखने की समस्त आशाओं पर पानी फिर जाता है, यों उसे सुरक्षित रखने की हमारी इच्छा भी समाप्त हो जानी चाहिए।—जे० आर० सीले : दि एक्सपैंशन आफ़ इंग्लैंड 1883.

इससे पहले के अध्यायों में हमने मुख्यतः इतिहास के विषय के रूप में भारतीय जनता की दुखद स्थिति का वर्णन किया है। अब हमारे सामने अपेक्षाकृत एक अधिक सुखद दृश्य है और वह है इतिहास के कर्ता के रूप में भारतीय जनता की भूमिका। पूर्ववर्ती विश्लेषण ने उस स्थिति को और उन शक्तियों को हमारे सामने अनावृत करके रखने का प्रयास किया है जो भारतीय जनता के मुक्ति आंदोलन को तेज करने की तैयारी कर रही हैं और उसे अनिवार्य बना रही हैं। अपनी पहली अवस्थाओं में यह आंदोलन अनिवार्यतः विदेशी शासन से मुक्ति के लिए राष्ट्रीय जनतांत्रिक संघर्ष का स्वरूप ग्रहण करता है और इसके साथ ही यह संघर्ष जमींदारों और सूदखोरों के शोषण से मुक्ति के लिए किसानों द्वारा चलाए जा रहे संघर्ष के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ता है।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास उस राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की प्रगामी चेतना और जन आधार का इतिहास है जिसकी शुरुआत उदीयमान बुर्जुआ और व्यवसाई वर्ग के थोड़े से लोगों ने अपने अत्यधिक सीमित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की थी और इतिहास की प्रक्रिया के दौरान, जो अब कहीं जाकर, अपने पूर्णस्वरूप और अपनी उप-लब्धियों तक पहुंच रहा है तथा और भी दूरगामी सामाजिक मुक्ति के लिए रास्ता तैयार कर रहा है।

1. एकता और अनेकता

साम्राज्यवाद के समर्थक शुरू शुरू के दिनों में एक विशेष प्रश्न किया करते थे जिसे वे आज भी बहुधा दुहराते हैं हालांकि अलग अलग अवस्थाओं में इस प्रश्न का स्वरूप बदला हुआ होता है। उनका प्रश्न है कि क्या भारत की जनता जैसी कोई चीज है? क्या उप-महाद्वीप जैसे विस्तारवाली विशाल भारतभूमि पर जातपांत की दीवारों तथा भाषा एवं अन्य दूसरे कारणों से अनेक टुकड़ों में बंटे विभिन्न नस्लों और धर्मों के लोगों के विविधता-पूर्ण जमघट को, जिसके सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर भी व्यापक तौर पर भिन्न हैं, एक 'राष्ट्र' माना जा सकता है या कभी वह एक 'राष्ट्र' बन सकता है? क्या यह बिलकुल ही बदली हुई परिस्थितियों में पश्चिमी अवधारणाओं का स्थानांतरण नहीं है? क्या ऐसा नहीं है कि भारत में जो एकमात्र एकता है वह ब्रिटिश शासन के जरिए थोपी गई एकता है?

इस बुनियादी प्रश्न के प्रति जो दृष्टिकोण है वह कई अवस्थाओं से गुजरा है। पुराने मत के साम्राज्यवादियों ने भारतीय राष्ट्र की प्रत्येक धारणा को तिरस्कारपूर्ण ढंग से ठुकरा दिया और इसे कल्पनामात्र कहा। 20वीं सदी में राष्ट्रीय आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति को देखते हुए भारतीय राष्ट्र के अस्तित्व को कम से कम साम्राज्यवादियों के उदार मताव-लंबियों द्वारा व्यापक मान्यता मिली। फिर यह दलील दी जाने लगी कि भारतीय राष्ट्र के अस्तित्व को मान्यता दिए जाने जैसी स्थितियों का विकास ब्रिटिश शासन की देन है और लोगों के मन में अंगरेजी के उदारतावादी आदर्शों के घर कर जाने का नतीजा है। अभी बिलकुल हाल के वर्षों में भारत की अधिकाधिक जनता में राजनीतिक जागरूकता के पैदा न होने और उनके बहुराष्ट्रीय चरित्र के बढ़ते हुए संकेत ने इस प्रश्न को एक नया आयाम दिया है। इस पहलू को, जिसे ठीक ही समझा जाता है कि यह किसी भी अर्थ में भारत की एकता के प्रतिकूल नहीं है, 'पाकिस्तान' के इस विशेष प्रचार अभियान द्वारा तोड़ा मरोड़ा गया है जिसमें हिंदुओं और मुसलमानों को 'दो राष्ट्र' के सिद्धांत के साथ जोड़ा गया है। बेशक, साम्राज्यवाद के समर्थकों ने इस बाद की दलील का पूरा पूरा लाभ उठाया है।

राष्ट्रवादी आंदोलन की बढ़ती शक्ति के सामने पुराने मत के साम्राज्यवादियों द्वारा दिए गए जवाब ने उनके सशंकित सहज आत्मविश्वास को फीका कर दिया था। 1888 में सर जान स्ट्रेची ने बड़े दृढ़ शब्दों में घोषणा की थी: 'भारत जैसी कोई चीज न तो है और न कभी होगी।' यह घोषणा करते समय उनकी मुद्रा कुछ वैसी ही थी जैसी किसी जिराफ का बहादुरी के साथ मुकाबला करते समय चिड़ियाघर के किसान की होती है:

> भारत के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए पहली और अत्यावश्यक बात है यह जानना कि भारत जैसी कोई चीज या कोई देश न तो है और न कभी होगा

> जिसमें यूरोपीय विचारों के अनुसार भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक एकता जैसी कोई एकता हो। जिसके बारे में हम इतना कुछ सुनते आए हैं वैसा न तो कोई भारतीय राष्ट्र है और न कहीं 'भारत की जनता' है। (सर जान स्ट्रेची : इंडिया, इट्स ऐडमिनिस्ट्रेशन एंड प्रोग्रैस, 1888, पृष्ठ 5)

सर जान सीले की भी धारणा यही थी :

> भारत को एक राष्ट्र मानने की धारणा उस भद्दी भूल पर आधारित है जिसको राजनीतिशास्त्र मुख्यतया दूर करना चाहता है। भारत कोई राजनीतिक नाम नहीं है बल्कि यह यूरोप या अफ्रीका की तरह मात्र एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है। यह किसी एक राष्ट्र या एक भाषा की सीमारेखा को नहीं बल्कि अनेक राष्ट्रों और अनेक भाषाओं की सीमा का अंकन करता है। (सर जान सीले : दि एक्सपैंशन आफ इंग्लैंड, 1883, पृष्ठ 254-7)

'सम्मान क्या है ?' सर जान फलस्टाफ ने सवाल किया और खुद ही जवाब दिया, 'एक शब्द।' उस शब्द 'सम्मान' में क्या है; वह सम्मान क्या है ? एक दिखावा। उसी गहन यथार्थवाद की भावना में हमारे आधुनिक 'सर जान' 'महाशयों ने विदेशी शासन से मुक्ति के लिए करोड़ों भारतीयों के संघर्ष को एक' 'भद्दी भूल' साबित किया है। इसी प्रकार आस्ट्रियाई साम्राज्य के सिद्धांतकारों ने अपने संतोष के लिए यह साबित कर दिया था कि इटली एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' है।

उन प्रारंभिक दिनों में इन देशों के अस्तित्व को बड़े साफ शब्दों में नकारने की हरकतों के बावजूद राष्ट्रीय आंदोलन की तीव्र धारा में कोई रुकावट नहीं आई और तब बादशाह कानुते के दरबारियों ने अपनी रणनीति बदल दी। अब यह दलील दी जाने लगीं है कि साम्राज्यवाद द्वारा पहले तो नकारने और बाद में उसे समाप्त करने की असफल कोशिशों के बावजूद यदि आज भारतीय राष्ट्र जैसी कोई चीज है तो यह जाहिर है कि इसका श्रेय ब्रिटिश राज्य की उपलब्धियों को दिया जाना चाहिए जिसके कारण भारतीय राष्ट्र अस्तित्व में आया है। इस दावे का किस अंश तक ऐतिहासिक औचित्य था, इस पर हम अगले अनुच्छेद में विचार करेंगे।

भारत की विविधता को अपना आधार बनाने वाली दलील आज भी बहुत प्रचलित है। इसका आशय या तो भारत राष्ट्र को नकारना होता है या इसे मान्यता देने में बरती गई अत्यधिक धीमी रफ्तार का औचित्य ठहराना होता है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट 'सर्वेक्षण खंड' में वह आज भी अपनी पूरी तड़क भड़क के साथ देखी जा सकती है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट का यह खंड भारत के बारे में आधुनिक ब्रिटिश साम्राज्य के दुष्प्रचार का मुख्य हिस्सा है। इसे 1930 में प्रकाशित किया गया था और भारतीय

समस्याओं पर आम जनता की जानकारी के लिए तथाकथित सूचनाप्रद दस्तावेज के रूप में इसका बड़े पैमाने पर वितरण किया गया था। इस अविस्मरणीय दस्तावेज के प्रारंभ में ही बड़े इत्मीनान के साथ घोषणा की गई थी कि जिसे 'भारत का राष्ट्रवादी आंदोलन' कहा जाता है, वह वस्तुत: 'भारत की विशाल आबादी के केवल एक मामूली हिस्से की अकांक्षाओं को सीधे सीधे प्रभावित करता है।' इस फैसले के पीछे कितनी कुशाग्र अंतर्दृष्टि काम कर रही थी इसका पता इस घोषणा के फौरन बाद ही उस समय चल गया जब 1930-34 के सविनय अवज्ञा आंदोलन का स्वरूप और 1937 के चुनावों के परिणाम सामने आए। इस घोषणा के बाद रिपोर्ट में भारत की जो रूढ़िगत तस्वीर पेश की गई थी उसके बारे में हालांकि लेखकों ने हमेशा यह दावा किया कि उनका विवेचन विशुद्ध वैज्ञानिक निष्पक्ष और वस्तुगत है पर अपने विवेचन के जरिए वे पाठक को आतंकित करना चाहते थे। अपने विवेचन में वे कभी भारत की 'समस्या' की 'विशालता और कठिनाई' का वर्णन करते हैं तो कभी भारत की 'विशाल जनसंख्या और भारत के विशाल क्षेत्रफल' का हवाला देकर पाठकों को आतंकित करते हैं; कभी '222 बोलियों' का उल्लेख करके यहां की 'भाषा की समस्या' का वर्णन करते हैं तो कभी 'असंख्य जातियों के कारण उत्पन्न जटिलता' की चर्चा करते हैं; कभी 'धार्मिक क्षेत्र में पाई जाने वाली लगभग असीम विविधता' का और हिंदुओं तथा मुसलमानों के 'बुनियादी विरोध' का जिक्र करते हैं तो कभी 'विभिन्न जातियों और धर्मों के रंग बिरंगे जमघट' का चित्र पेश करते हैं। कभी 'विभिन्न नस्लों और धर्मों के जमाव' के बारे में बताते हैं तो कभी 'तरह तरह के लोगों के जनसमूहों के समुदाय' की चर्चा करते रहते हैं, इसी तरह के नम्रता और शिष्टता से भरे तमाम वाक्य इस खंड में भरे पड़े हैं।

इस रवैये का उद्देश्य एकदम स्पष्ट है। दरअस्ल इसके जरिए उन पाठकों के मन में जो किसी पूर्वग्रह से ग्रस्त नहीं हैं, यह धारणा बैठाना है कि भारत में तेजी से स्वशासन स्थापित करने की योजना असंभव है और साथ ही पाठक को इसी मुख्य नतीजे पर पहुंचने के लिए प्रेरित किया जाता है (एच० डब्ल्यू० नेविंसन ने एक समाजवादी पत्रिका में इस रिपोर्ट की समीक्षा की थी और पूरी सद्भावना के साथ यह समीक्षा की गई थी। उनके शब्दों में इसे देखें) :

> एक ऐसे छोटे महाद्वीप के अनुकूल संविधान या सरकार के स्वरूप की रचना (न कि आलोचना) के काम में अत्यंत दुस्तर कठिनाइयां हैं, जिसमें 560 देशी रियासतें (नाममात्र के लिए स्वतंत्र) हैं, 222 विभिन्न भाषाओंवाली जातियां हैं, दो प्रमुख और एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण धर्म हैं (अकेले ब्रिटिश भारत में 16 करोड़ 80 लाख हिंदू और 6 करोड़ मुसलमान), 1 करोड़ लोग ऐसे हैं जो जाति से निकाले गए हैं या 'उत्पीड़ित' हैं और जिन्हें 'अछूत' कहा जाता है··· भारत के बारे में जो व्यक्ति कुछ जानना चाहता है उसे अपना अध्ययन शुरू करने के लिए इन ठोस तथ्यों को जानना होगा। यदि उसे इनकी जानकारी

> नहीं है तो उसे रिपोर्ट का खंड 1 पढ़ना चाहिए। यदि वह इन्हें न तो जानता है और न पढ़ता है तो वह वेशक चैन से पड़ा रहे। (एच० डब्ल्यू नेविंसन, 'न्यू लीडर' के 27 जून 1930 के अंक में साइमन कमीशन की रिपोर्ट की समीक्षा)

भारत के बारे में जो रवैया अख्तियार किया गया और जिस तरीके से इसे प्रचारित किया गया उस तरीके की सफलता का प्रमाण इसी से मिलता है कि एच० डब्ल्यू० नेविंसन जैसे वामपंथी हमदर्द भी एक 'समाजवादी' पत्रिका में इसी तरह के नतीजे पर पहुंचते हैं। साइमन कमीशन के इस प्रचार को सरकारी समाचारपत्रों में ही नहीं वल्कि उस समय के उदारवादी, श्रमिक या 'समाजवादी' सभी वामपंथी समाचारपत्रों ने स्वीकार कर लिया। सभी ने इस सरकारी प्रचार को प्रत्यक्षत: दिखाई पड़ने वाले आधार पर स्वीकार कर लिया। सचाई तो यह है कि निष्पक्षता और राजनीतिज्ञों की तरह अवांछनीय तथ्यों को मान्यता देने के ढोंग के बावजूद ये बातें दुष्प्रचार और नग्न प्रचार थीं। ये किसी भी हालत में ऐसे बुनियादी 'ठोस तथ्य' नहीं थे जो भारत के बारे में जानकारी हासिल करने के इच्छुक व्यक्ति को 'जरूर जानने चाहिएं।' इन तथ्यों का चयन करने में पूरी सतर्कता बरती गई थी और यह सब जानबूझकर इस मकसद से किया गया था ताकि इन तथ्यों के मूल में जो बातें हैं उन्हें भी तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाए। आज के भारत की कल्पित 'समस्याओं' के बारे में सरकारी स्तर पर जो तस्वीर पेश की गई है उसमें उन सभी तथ्यों को छिपाया गया है जो भारत की मौजूदा हालत को वास्तविक तौर पर समझने के लिए जरूरी है; इसमें साम्राज्यवादियों द्वारा भारत के शोषण की सभी सचाइयों पर, भारत में ब्रिटिश महाजनी पूंजी की भूमिका पर, ब्रिटिश सत्तारूढ़ वर्ग द्वारा कमाए गए मुनाफे पर, शोषण के उन तरीकों पर जो जनता के दुख दर्द के कारण हैं, जनता के उभरते संघर्षों पर (जातिगत या धार्मिक भेदभाव से निरपेक्ष रहकर) और साम्राज्यवाद द्वारा उस संघर्ष के दमन के तरीकों पर परदा डाला गया है। बुनियादी 'ठोस तथ्य' तो ये हैं जिनके बारे में किसी ईमानदार समाजवादी पत्रिका या जनवादी पत्रिका को घोषणा करनी चाहिए थी कि ये हैं वे तथ्य जिन्हें भारत के बारे में जानकारी हासिल करने के इच्छुक लोगों को 'अवश्य जानना चाहिए।' इसके बजाय इस रिपोर्ट ने ('साइमन कमीशन ने…अपना काम साहस के साथ और पूरी तरह किया…जहां तक इस पहली रिपोर्ट का प्रश्न है, सर जान साइमन और उनके सहयोगियों ने अपना काम जितनी समझदारी के साथ किया उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। मुझे इसमें संदेह है कि वेहद उग्र राष्ट्रवादी भी बड़े बड़े तथ्यों के बारे में कोई गंभीर भूल निकाल पाएंगे', (फेन्नर ब्राकवे 'न्यू लीडर', 13 जून 1930 में) उन सभी तथ्यों की बड़े प्रेम और विस्तार के साथ चर्चा की जो भारत की जनता के प्रतिकूल थे और जिनसे 'फूट डालो और राज करो' की सरकारी नीति को बल मिलता था।

अमरीका के किसी नागरिक को यदि उसके देश की स्थिति के बारे में किए गए निष्पक्ष

सर्वेक्षण से संबंधित ब्रिटेन की निम्न अधिकृत रिपोर्ट पढ़ने को मिले तो वह हैरान रह जाएगा :

> अमरीकी उपमहाद्वीप की खास बात यह है कि उसकी जलवायु और भौगोलिक विशेषताएं अत्यंत विविधता लिए हुए हैं और इसी प्रकार वहां की जनता की जातियों और धर्मों में बड़ी विविधताएं हैं। अमरीका को एक इकाई मानने की प्रचलित धारणा से कोई साधारण ब्रिटिश प्रेक्षक इस धोखे में आ सकता है कि यहां उन विभिन्न नस्लों और धर्मों का जमाव है जिनसे मिलकर अमरीका का अस्तित्व है। अकेले न्यूयार्क शहर में लगभग 100 विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोग रहते हैं। इनमें से कुछ की संख्या तो इतनी अधिक है कि न्यूयार्क एक साथ ही इतालवियों, यहूदियों और नीग्रो लोगों का दुनिया का सबसे बड़ा शहर कहा जा सकता है। इस तरह के विविध तत्वों के पास पास रहने के कारण अत्यंत भयंकर सांप्रदायिक संघर्ष भी हुए हैं। खासतौर से दक्षिणी राज्यों में इसकी वजह से नस्लवादी दंगे और हत्याएं हुई हैं जिनकी पुनरावृत्ति तभी रोकी जा सकी है जब कोई ऐसी बाहरी निष्पक्ष शक्ति तैनात की गई जो कानून और व्यवस्था लागू कर सके। न्यूयार्क में शिकागो के हथियारबंद डाकुओं और चीनी कोठियों के प्रतिद्वंद्वी गिरोहों की कुख्याति ने लोगों का ध्यान जिन मामलों से हटाया वे कम महत्वपूर्ण नहीं थे मसलन उटा में मोरमोंस के, मिनेसोटा में फिनलैंडवासियों के, मिसीसिपी तक मैक्सिकी आप्रवास तथा पश्चिमी तट पर जापानियों के पृथक अस्तित्व की समस्या। आदिम निवासियों की उल्लेखनीय संख्या के अस्तित्व की तो बात अलग रही।[1]

फिर भी, यही वह भावना थी जिसके अंतर्गत साइमन कमीशन ने भारत की स्थिति के सर्वेक्षण का काम पूरा किया।

निश्चय ही अमरीकी क्रांति की पूर्वसंध्या तक अंगरेज लोग अमरीकी जनता के बारे में भी ऐसे ही विश्लेपण किया करते थे और इस बात के 'प्रमाण' दिया करते थे कि अमरीकी जनता की एकजुटता असंभव है। लेकी ने अपने इतिहास में इसका उल्लेख किया है :

> अंगरेजों के वंशजों के साथ भारी संख्या में डच, जर्मन, फ्रांसीसी, स्वीडश, स्काच और आयरिश लोगों ने उपनिवेशों का एक ऐसा पंचमेल चरित्र बनाया और उन्होंने सरकार, धार्मिक विश्वास, व्यापारिक हित और सामाजिक रूप की इतनी किस्मों की रचना की कि क्रांति से पहले तमाम लोगों को इस बात में संदेह था कि उनके बीच कोई एकता हो सकती है। (डब्ल्यू० ई० एच० लेकी : 'हिस्ट्री आफ इंग्लैंड इन दि एटींथ सेंचुरी'' खंड iv, पृष्ठ 12)

और पुनः;

> एक ऐसा देश जहां बसने वाले लोगों का इतना बड़ा अनुपात अलग अलग देशों और अलग अलग धर्मों का हो और जो हाल में आए आप्रवासी हों, जहां अत्यंत विशाल प्रदेश और अविकसित संचार साधनों के कारण उनके बीच एक दूसरे से बड़ा मामूली सा संपर्क कायम हो रहा हो और जहां पैसा कमाने की प्रवृत्ति आश्चर्यजनक रूप से बहुत तीव्र हो, वहां इस बात की बहुत कम संभावना थी कि देशभक्ति या समुदाय की भावना उत्पन्न हो सके। (वही, पृष्ठ 34)

बर्नबी ने 1759 और 1760 में उत्तरी अमरीकी उपनिवेशों की यात्रा की थी और लिखा था :

> आग और पानी में भी उतनी विषमता नहीं है जितनी उत्तरी अमरीका के विभिन्न उपनिवेशों में है—यदि मानव मस्तिष्क के बारे में मैं पूरी तरह अनभिज्ञ नहीं हूं तो मेरा ख्याल है कि विभिन्न उपनिवेशों के स्वरूप तौर तरीकों, धर्म, स्वार्थ में इतना फर्क है कि यदि उन्हें अकेले छोड़ दिया जाए तो शीघ्र ही उपमहाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक गृहयुद्ध छिड़ जाएगा; जबकि रैड इंडियन और नीग्रो लोग बड़ी आतुरता से उस अवसर के इंतजार में रहेंगे जब वे उन्हें पूरी तरह समाप्त कर दें।

विख्यात अमरीकी देशभक्त ओटिस ने 1765 में लिखा :

> ईश्वर न करे कि ये लोग कभी अपनी मातृभूमि के प्रति कर्तव्यच्युत साबित हों। यदि कभी ऐसा दिन आया तो यह एक भयंकर दृश्य की शुरुआत होगी। यदि आने वाले कल में इन उपनिवेशों को अपनी जिम्मेदारी खुद संभालने को कह दिया जाए तो अमरीका रक्तपातमय वधस्थल बनकर रह जाएगा जहां सब कुछ अस्तव्यस्त होगा।[2]

इस प्रकार आधुनिक कट्टरपंथियों की ये भविष्यवाणियां कि, यदि अंगरेजों ने भारत छोड़ दिया तो 'हत्याकांड और गड़बड़ी की उबाऊ चीख और कोलाहल से वातावरण भर जाएगा' (चर्चिल), उसी जानी पहचानी राग की पुनरावृत्ति है। इसलिए एक राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की विजय की पूर्वसंध्या में किसी साम्राज्य के शासकों की ओर से की जा रही इन स्वार्थपूर्ण भविष्यवाणियों और तथ्यों की प्रस्तुति के प्रति जनतांत्रिक चेतना के लोगों को सजग रहना होगा।

बीते हुए कल के भारत में किस सीमा तक एकता थी और किस सीमा तक विघटन था

यह प्रश्न इतिहासकारों के लिए छोड़ा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक युग के इतिहासविषयक अनुसंधानकर्ता, यहां तक कि साम्राज्यवाद का समर्थन करने वाले इतिहासकार भी उनमें शामिल हैं, अब उन बातों का समर्थन नहीं करते जो 50 वर्ष पूर्व सीले और स्ट्रेचे जैसे लोगों ने कही थीं। उनके कथन बेहद अपर्याप्त जानकारी पर आधारित थे।

> समस्त भारत की राजनीतिक एकता यद्यपि कभी पूरी तरह स्थापित नहीं हुई लेकिन वह सदियों से जनता का आदर्श रही है। संस्कृत भाषा का साहित्य देखने से चक्रवर्ती राजाओं की सार्वभौम प्रभुसत्ता की धारणा का पता चलता है और इसपर अनेक अभिलेखों में जोर दिया गया है। महाभारत की कथा के अनुसार कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में विभिन्न राष्ट्रों के एकत्र होने की कहानी से यह पता चलता है कि समस्त भारतीय जनता, जिनमें धुर दक्षिण के लोग भी शामिल थे वास्तविक बंधन द्वारा एक दूसरे से बंधे हुए थे—और उनकी चिंताएं समान रूप से सभी लोगों के लिए थीं। यूरोप के लेखकों ने एक तरह से यह नियम बना लिया है कि वे भारतीयों की एकता के बारे में बताने के बजाय उनकी अनेकता के बारे में ज्यादा बताएंगे। असाधारण रूप से स्वतंत्र भावनाओं के लेखक जोसेफ कनिंघम इस मामले में एक अपवाद हैं। 1845 में अंगरेजों के हमले के बारे में सिक्खों के भय का वर्णन करते हुए जोसेफ कनिंघम ने बहुत सही ढंग से स्थितियों का निरीक्षण किया और कहा कि 'काबुल से लेकर असम की घाटी तक और श्रीलंका द्वीप तक हिंदुस्तान एक देश माना जाता है और जनता के मस्तिष्क में इसमें अधिराज्य के बारे में जो धारणा है वह किसी एक अधिपति या एक नस्ल के आधिपत्य से जुड़ी हुई है।' इसलिए भारत आज भी और दो हजार वर्षों से भी अधिक समय से एक आदर्श राजनीतिक एकता का उदाहरण प्रस्तुत करता है…
>
> इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में एक गहरी बुनियादी एकता है जो भौगोलिक अलगाव या राजनीतिक अधिराज्य से उत्पन्न स्थितियों से ज्यादा शक्तिशाली है। यह एकता खून, रंग, भाषा, पोशाक, तौर तरीके और संप्रदाय जैसी असंख्य विभिन्नताओं से परे है। (विनसेंट ए० स्मिथ : दि आक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इंडिया, 1919, भूमिका पृष्ठ 9-10)

इस समय जो विचारणीय विषय है उसमें सबसे महत्वपूर्ण यह प्रश्न है कि फिलहाल भारत में कितनी एकता है और कितनी विभिन्नताहै और तब उन विभिन्नताओं के बारे में कुछ कहना जरूरी हो जाता है जिनका साम्राज्यवादी प्रचारकों ने काफी प्रचार किया है और जिनके कारण वे यह दलील देते हैं कि भारत के लोगों को स्वराज्य देना अभी उचित नहीं है तथा अंगरेजी राज्य का कायम रहना यहां की जनता के लिए जरूरी है।

2. जाति, धर्म और भाषा के प्रश्न

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत की जनता को अतीत से विरासत के रूप में तमाम तरह की समस्याएं, भेद और असमानताएं मिली हैं जिनपर उन्हें काबू पाना है और जो बीते हुए जमाने के अवशेष के रूप में आज भी मौजूद हैं। हर देश की जनता की कुछ अपनी विशिष्ट समस्याएं होती हैं जो उसे अपने इतिहास से विरासत में मिलती हैं। स्वशासन स्थापित करने का एक सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि इसी के द्वारा भारतीय जनता के प्रगतिशील नेताओं को इन समस्याओं से निपटने और उन्हें हल करने का मौका मिलेगा और वे भारत की जनता को जनवादी एवं सामाजिक प्रगति के रास्ते पर ले जा सकेंगे। इसका कारण यह है कि पिछले 50 वर्षों में खासतौर से यह महसूस किया गया है कि साम्राज्यवादी पतन के आधुनिक युग में (19वीं सदी के पूर्वार्ध में भारत में ब्रिटिश शासन की वस्तुगत रूप से प्रगतिशील भूमिका की समाप्ति के साथ) छुआछूत, जातपात के भेदभाव, सांप्रदायिक भेदभाव, निरक्षरता और इस तरह की बुराइयों के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतिनिधियों द्वारा अधिक सक्रियता से हमला किया जा रहा है जबकि साम्राज्यवाद सुधार संबंधी तमाम योजनाओं के रास्ते में अड़चनें डाल रहा है ताकि ये बुराइयां बनी रहें, कभी न समाप्त हों और इनकी जड़ गहरी होती जाए।

ऐसी नीति स्वयं ही अपने को निंदनीय बना देती है जो एक तरफ तो गुलाम जनता की फूट और पिछड़ेपन का पोषण करती हो और उसको मजबूत बनाती हो तथा दूसरी तरफ सार्वजनिक रूप से यह ढिंढोरा पीटती हो कि इन बुराइयों से यह बात साबित हो जाती है कि वहां की जनता न तो कभी अपने अंदर एकता महसूस कर सकती है और न स्वराज्य के योग्य बन सकती है।

जहां तक सांप्रदायिक और धार्मिक भेदभाव का प्रश्न है, जो भारत की जनता के सामने अत्यंत गंभीर और आवश्यक समस्या है, इस पर बाद के अध्याय में विस्तार से विवेचन की जरूरत है (देखें अध्याय 13, उपशीर्षक 2,3। इस बात के प्रमाण मिल जाएंगे कि वस्तुत: सांप्रदायिक और धार्मिक भेदभाव को ब्रिटिश सरकार ने अपनी एक सतर्क नीति के अंतर्गत काफी बढ़ावा दिया है हालांकि सरकारी तौर पर वे इससे इंकार करते हैं। दर-अस्ल साइमन कमीशन को स्वयं अपनी रिपोर्ट में यह मानना पड़ा कि जिन प्रदेशों में प्रत्यक्ष रूप से अगरेजों का शासन है वहां हिंदू मुसलमान के बीच वैरभाव का बढ़ना एक खास विशेषता है ('आज की भारतीय रियासतों में सांप्रदायिक तनावों का अपेक्षाकृत न होना,' पृष्ठ 29) और अंगरेजी राज में इसमें वृद्धि हुई है ('ब्रिटिश भारत में एक पीढ़ी पहले तक सांप्रदायिक तनाव से जनजीवन की शांति भंग होने का खतरा बहुत कम था लेकिन सुधारों की शुरुआत और उन सुधारों के बाद की स्थिति के पूर्वानुमानों ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच प्रतिस्पर्धा को एक नया मोड़ दिया,' पृष्ठ 29)। निश्चय ही सांप्रदायिक समस्या तब तक पूरी तरह हल नहीं की जा सकती जब तक साम्राज्यवादी

शासकों को हटा नहीं दिया जाता। यही बात भारतीय रियासतों या रजवाड़ों के साथ लागू होती है। इनको पूरी तरह अंगरेजों का संरक्षण प्राप्त है। इस संरक्षण की वजह से ही इनका खर्च चलता है तथा इनका अस्तित्व बना रहता है।

जहां तक जातपांत और छूत अछूत के भेदभाव का प्रश्न है, इन भेदभावों के विरुद्ध काल्टंल क्लब और रंगभेद [प्रसंगवश, मूलत: जाति (कास्ट) शब्द का अर्थ 'रंग' होता है और इससे आर्य हमलावरों की श्रेष्ठता और विशिष्टता का पता चलता है] के प्रतिनिधियों के उग्र रोष को ब्रिटेन के उन झाड़दारों द्वारा भी पूरे गुण दोष विवेचन के साथ पढ़ा जा सकता है जिनकी स्थिति एकदम भिन्न है, और जिन्हें, जैसाकि सभी जानते हैं, बड़े सहज ढंग से मेफयेर के भोजनकक्ष में निमंत्रित किया जाता है। अछूतों तथा उत्पीड़ित वर्गों पर साम्राज्यवादियों की इतनी कृपा है कि वे सदा उनकी संख्या बढ़ाते रहने का प्रयत्न करते आए हैं और हम इसकी सराहना किए बिना नहीं रह सकते। एक पीढ़ी पहले तक, जब राजनीतिक स्थिति इतनी उग्र नहीं थी, इनकी संख्या आमतौर से 3 करोड़ बताई जाती थी। 1910 में वैलेंटाइन चिरोल ने अपनी पुस्तक 'इंडियन अनरेस्ट' में यह संख्या 5 करोड़ बताई। एंस्टे की पुस्तक 'इकोनामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया' सबसे पहले 1929 में प्रकाशित हुई और उसमें बिना किसी प्रमाण के इस संख्या को 6 करोड़ तक पहुंचा दिया गया। इस संख्या को आमतौर से सभामंचों और संसद में सबसे ज्यादा प्रभावशाली माना गया। 'माडर्न इंडिया' नाम से अर्धसरकारी निबंध संग्रह 1931 में सर जान कमिंग के संपादन में प्रकाशित हुआ जिसमें यह संख्या, 3 करोड़ से 6 करोड़ तक' बताई गई। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यह संख्या 4 करोड़ 20 लाख निर्धारित करने का प्रयास किया लेकिन साथ ही उसने यह भी कहा कि बंगाल, संयुक्त प्रांत और बिहार तथा उड़ीसा प्रांतों में, जहां 4 करोड़ 30 लाख में से 2 करोड़ 80 लाख लोग रहते हैं, 'सैद्धांतिक रूप से अस्पृश्यता और वास्तविक असमर्थता के बीच कम घनिष्ठ संबंध है और यदि खासतौर से छानबीन की जाए तो शायद यह पता चल सके कि स्कूलों, कुएं से जल लेने और ऐसे ही मामलों में समान अधिकारों से जिन्हें वंचित रखा गया है उनकी संख्या उन इलाकों के लिए उत्पीड़ित वर्ग की प्रस्तुत कुल संख्या से कम है।' (पृष्ठ 41) इसलिए वस्तुत: कुल संख्या विवादास्पद है।

छुआछूत के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व ब्रिटिश सरकार ने नहीं बल्कि प्रगतिशील राष्ट्रीय आंदोलन ने किया। वस्तुत: इस सिलसिले में उस घटना को याद किया जा सकता है जब सदियों से अछूतों के लिए वर्जित दक्षिण भारत के कुछ प्रसिद्ध मंदिरों के दरवाजे गांधी के आंदोलन की प्रेरणा से खोल दिए गए और इसके बाद अछूतों को मंदिर में घुसने से रोकने के लिए अंगरेज सरकार ने इस दलील के साथ वहां अपनी पुलिस भेजी थी कि अछूतों के मंदिर में प्रवेश से जनता की धार्मिक भावनाओं को ठेस लगेगी और सरकार का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह जनता की भावनाओं की रक्षा करे।

निश्चय ही ब्रिटिश सरकार को इस बात की फिक्र थी कि अछूतों या उत्पीड़ित वर्गों के लोगों की मतदाता सूची अलग से बनाई जाए और उनको अलग से अपना प्रतिनिधि चुन कर भेजने की गारंटी दी जाए ताकि लोगों में और अधिक फूट पड़े तथा राष्ट्रीय कांग्रेस कमजोर पड़ जाए। इस तरह पृथक मतदाताओं की लंबी सूची में हरिजनों को जोड़ दिया गया (हालांकि व्यवहार में जो नतीजा सामने आया उसमें अलग प्रतिनिधि भेजने की बात को उल्लेखनीय सीमा तक पूना संधि की कार्यप्रणाली ने निष्प्रभावित कर दिया)। लेकिन सरकार के इस स्नेह के विषय में स्वयं अछूत लोगों का क्या विचार था इसका प्रमाण हरिजनों के महासंघ के नेता डा० अंबेडकर के उस वक्तव्य से मिल जाता है जो उन्होंने 1930 में अखिल भारतीय दलित वर्ग कांग्रेस के अध्यक्ष पद से दिया था। डा० अंबेडकर को ब्रिटिश सरकार अछूतों का नेता और उनका प्रवक्ता मानती थी। अपने भाषण में डा० अंबेडकर ने कहा था :

> मुझे आशंका है कि ब्रिटिश सरकार हमारी दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों का विज्ञापन इसलिए नहीं करती कि वह इन्हें दूर करना चाहती है बल्कि इसलिए करती है ताकि इसको वह भारत की राजनीतिक प्रगति को पीछे खींच ले जाने का एक बहाना बना सके। (दलित वर्गों के अखिल भारतीय अधिवेशन में डा० अंबेडकर का अध्यक्षीय भाषण, अगस्त 1930)

डा० अंबेडकर ने आगे कहा :

> अंगरेजों के आने से पहले आप अछूत प्रथा के कारण घृणित स्थितियों में रह रहे थे। क्या ब्रिटिश सरकार ने अछूत प्रथा समाप्त करने के लिए कुछ किया ? अंगरेजों के आने से पहले आप गांव से पानी नहीं ले सकते थे। क्या ब्रिटिश सरकार ने कुएं से पानी लेने का अधिकार आपको दिलाया ? अंगरेजों के आने से पहले आप मंदिरों में नहीं जा सकते थे। क्या अब आप मंदिरों में जा सकते हैं ? अंगरेजों के आने से पहले आप पुलिस में भरती नहीं हो सकते थे। क्या ब्रिटिश सरकार आपको पुलिस सेवा में भर्ती करती है ? अंगरेजों के आने से पहले आप सेना में भरती नहीं हो सकते थे। क्या अब आप सेना में भरती हो सकते हैं ? उपस्थित जनो ! इन प्रश्नों में से किसी का जवाब आप हां में नहीं दे सकते। जिन लोगों ने इतने दिनों से देश का शासन संभाला है उन्हें आपके लिए कुछ करना चाहिए था। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि आपकी हालत में कोई बुनियादी तब्दीली नहीं आई है। जहां तक आपकी बात है ब्रिटिश सरकार ने उन प्रबंधों को उसी रूप में स्वीकार किया है जिस रूप में उन्हें ये प्राप्त हुए। उसने बड़ी ईमानदारी के साथ उन्हें जैसा का तैसा बना रहने दिया है, ठीक उसी तरह जिस तरह किसी चीनी दर्जी को जब नमूना दिखाने के लिए एक पुराना कोट दिया गया तो उसने पुराने कोट में लगे पैबंद आदि की ही तरह नए कोट में

भी पेबंद लगा दिए ताकि यह पता चले कि उसने दिए गए नमूने की ठीक ठीक नकल कर दी। आप पर किए गए अन्याय एक खुले घाव की तरह से बने रहे और उन्हें ठीक नहीं किया गया…

आपके सिवा दूसरा कोई आपके दुःख दर्द दूर नहीं कर सकता और आप भी इन्हें तब तक दूर नहीं कर सकते जब तक राजनीतिक सत्ता आपके हाथों में न आ जाए। जब तक अंगरेज सरकार बनी रहेगी तब तक सत्ता का एक अंश भी आपके हाथों में नहीं आएगा। केवल स्वराज के संविधान में ही आपको अपने हाथ में राजसत्ता लेने का मौका मिल सकता है और इसके बिना आप अपनी जनता का उद्धार नहीं कर सकते।

उत्पीड़ित वर्गों के हित और उनकी मुक्ति अनिवार्य रूप से भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से जुड़ी है। जातपांत की घिसटती हुई प्रथा, उपदेश देने या कोसते रहने से नहीं दूर होगी; वह आधुनिक उद्योग और राजनीतिक जनतंत्र के विकास से ही दूर होगी। नए सामाजिक संबंध और समान हित पुराने बंधनों का स्थान लेते जाएंगे। जैसा मार्क्स ने कहा :

आधुनिक उद्योग धंधे मजदूरी के उस पुश्तैनी विभाजन को समाप्त कर देंगे जिसपर भारत की वह जाति व्यवस्था आधारित है जो भारत की प्रगति में रुकावट डालती है और भारत को शक्तिशाली नहीं होने देती। (मार्क्स : 'फ्यूचर रेजल्टस आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया', न्यूयार्क ट्रिब्यून, 8 अगस्त 1853)

मार्क्स ने 70 वर्ष पहले जो भविष्यवाणी की थी वह कितनी सच थी, इसका प्रमाण 1921 की जनगणना रिपोर्ट से मिलता है :

जमशेदपुर जैसी जगहों में जहां आधुनिक स्थितियों में काम होता है, कारखाने में सभी जातियों और नस्लों के लोग साथ साथ काम करते हैं और उन्हें अपने बगल में काम कर रहे व्यक्ति की जाति को लेकर कोई चिंता नहीं रहती। (बिहार और उड़ीसा की जनगणना रिपोर्ट, 1921)

निस्संदेह उन विशेष असमर्थताओं के कारण जो अछूतों, हरिजनों या सरकारी भाषा में कहें तो 'अनुसूचित जातियों' को कमजोर बनाती हैं, बड़ी गंभीर समस्याएं पैदा हो गई हैं। इन्हीं विशेष असमर्थताओं और शिकायतों ने अनुसूचित जातियों के महासंघ के विकास का आधार तैयार किया है और इस संघ को कुछ इलाकों में एक सीमा तक संगठित रूप से समर्थन भी मिला है। लेकिन इन समस्याओं का समाधान मजदूर आंदोलन तथा जनतंत्र के विकास के जरिए और इन असमर्थताओं के निवारण के लिए जनवादी

राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में संघर्ष चलाकर किया जा सकता है। वर्गीय आधार पर इन गुटों का आर्थिक और राजनीतिक आंदोलन चलाने के लिए पृथकतावादी संगठन बनाकर समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

जहां तक भाषाओं के भेद का सवाल है और '222 अलग अलग भाषाओं' की प्रसिद्ध उक्ति की बात है, हम एक बार फिर देखते हैं कि साम्राज्यवादियों ने अपने कुप्रचार के जरिए इस कठिनाई को बेहद बढ़ाचढ़ाकर पेश किया। जो आंकड़े प्रस्तुत किए उनका उद्देश्य भोलेभाले लोगों को गुमराह करना था। विभिन्न विशेषज्ञों ने, जो 16 से लेकर 300 तक हैं, विभिन्न अनुमान पेश किए। इस विभिन्नता से ही पता चलता है कि इन अनुमानों के पीछे कौन से राजनीतिक स्वार्थ थे। 1901 की जनगणना में भाषाओं की संख्या 147 बताई गई थी। यदि हम 1921 की जनगणना रिपोर्ट से इसकी तुलना करें जिसे साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने इस्तेमाल किया है तो हम दिलचस्प नतीजे पर पहुंचते हैं। हम देखते हैं कि 1901 से 1921 के बीच जहां जनसंख्या 29 करोड़ 20 लाख से बढ़कर 31 करोड़ 60 लाख हो गई (किसी नई विदेशी आबादी की वृद्धि के बिना) वहीं बोली जाने वाली भाषाएं 147 से बढ़कर 222 हो गईं (किसी नए या बहुभाषी प्रदेश के शामिल हुए बिना)। सचमुच एक ही पीढ़ी के दौरान नई नई भाषाएं पैदा करने की अद्भुत क्षमता भारतीयों में है।

लेकिन यदि थोड़े और विस्तार से जांच की जाए तो '222 विभिन्न भाषाओं' की इस वीरोचित पुराण कथा पर, जिसने गैरभारतीय जनमत को इतना अधिक प्रभावित किया, और भी रोशनी पड़ सकती है।[3] जांच से पता चलता है कि इन '222 अलग अलग भाषाओं' में से कम से कम 134 भाषाएं 'तिब्बती बर्मी उपवर्ग' की भाषाएं हैं। इन 'भाषाओं' का स्वरूप क्या है? 1909 में प्रकाशित 'इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया' (खंड 1, पृष्ठ 390-394) में 103 हिंदी चीनी भाषाओं की पूरी सूची दी गई है जिससे इसपर प्रकाश पड़ता है। 103 भाषाओं की इस सूची से हमें इन 'विभिन्न भाषाओं' के बोलने वालों की संख्या का पता चलता है जो, उदाहरण के लिए निम्न हैं :

भाषा	बोलने वालों की संख्या
कबुई	4
आंद्रो	1
कसुई	11
भ्रानु	15
आका	26
ताइरोंग	12
नौरा	2

जाहिर है कि संप्रेषणीयता के साधन के रूप में भाषा की जो दार्शनिक अवधारणा है उसमें हमें संशोधन करना होगा क्योंकि हम देख रहे हैं कि आंद्रो भाषा को केवल 1 आदमी बोलता है और नीरा नामक भाषा बोलने वालों की भी संख्या महान है, उसे दो व्यक्ति बोलते हैं।

यदि विस्तार से जांच करें और इस जांच का महत्व केवल इस तरह के साम्राज्यवादी कुप्रचार का भंडाफोड़ करना ही है, तो पता चलता है कि 1. तथाकथित हिंदी चीनी परिवार की 'भाषाओं' की संख्या 1901 में 92 से बढ़कर 1921 में 145 हो गई; 2. ये 'भाषाएं' भारत में बिलकुल ही नहीं बोली जातीं, ये हिमालय और बर्मी चीनी सीमा के दूरस्थ प्रदेशों में बोली जाती हैं; 3. इनमें से अधिकांश भाषाएं किसी भी रूप में 'भाषा' नहीं हैं, या तो ये थोड़े लोगों द्वारा बोली जाने वाली बोलियां हैं या जनजातियों के नाम हैं; 4. इस समूह में शामिल 103 'भाषाओं' में से 17 को 100 से भी कम व्यक्ति; 39 को 1,000 से भी कम व्यक्ति; 65 को 10,000 से भी कम व्यक्ति; 83 को 50,000 से भी कम व्यक्ति; 97 को 200,000 से भी कम व्यक्ति बोलते हैं। इस समूह की एकमात्र भाषा बर्मी है। फिर भी इस तरह की चीजों को जोड़कर '222 अलग अलग भाषाओं' की संख्या थोप दी गई और इसे साम्राज्यवादियों ने प्रत्येक मंच से, प्रत्येक समाचारपत्र के जरिए और संसद की प्रत्येक बहस में प्रदर्शित किया।

इसके बाद 1931 की जनगणना में भाषाओं की संख्या 203 ही रह गई। जाहिर है कि जिन भाषाओं को केवल एक, दो या चार व्यक्ति बोलते थे वे बेचारे इस बीच दुर्भाग्यवश मर गए और इसपर अपनी मूर्खतापूर्ण कार्यवाही के द्वारा उन लोगों ने भारतीय जनता की स्वराज्य की मांग के विरुद्ध साम्राज्यवादियों की दलील को कमजोर कर दिया। 1937 में बर्मा के भारत से अलग हो जाने के बाद भाषाओं की मृत्युसंख्या और भी बढ़ गई क्योंकि भारतीय जनता का टुकड़े टुकड़े में बंटा होना साबित करने के लिए जिन सैंकड़ों भाषाओं की सूची गिनाई जाती थी उनमें से अधिकांश भाषाएं (128) बर्मा की भाषाएं थीं। दिलचस्प बात यह है कि बर्मा को अलग करने के पक्ष में दलील देने के लिए भाषाओं की बहुलता का अवरोध, जिसकी रचना मुख्यत: बर्मा पर आधारित थी—अचानक गायब हो गया और उसके स्थान पर बर्मा में भाषाओं की अनिवार्य एकता पर जोर दिया जाने लगा। साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने लिखा है कि (पृष्ठ 79), 'हालांकि इस प्रांत में 128 देशी जबानें हैं, फिर भी समूची आबादी का 70 प्रतिशत भाग बर्मी या इससे घनिष्ठ रूप से मिलती जुलती भाषा बोलता है और इस संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है।' अपनी नीति के हित में साम्राज्यवादियों के आंकड़े सचमुच कितने लचीले होते हैं।

भारत के लिए एक आम भाषा की समस्या का समाधान अब ढूंढ़ा जा रहा है और इसके लिए कांग्रेस की अधिकाधिक राष्ट्रीय भाषा हिंदुस्तानी (लिपि के अनुसार हिंदी या उर्दू) को आधार बनाया गया है। इसे भारत की अधिकांश जनता या तो बोलती है या समझ

लेती है। गांधी ने लिखा था कि समूचे भारत में हिंदू धर्मोपदेशक या मुसलमान मौलवी अपने धार्मिक प्रवचन हिंदी और उर्दू में देते हैं और उन प्रवचनों को बिना पढ़ी लिखी जनता भी अच्छी तरह समझ लेती है ('स्पीचेज ऐंड राइटिंग', पृष्ठ 398)। इसी प्रकार भारतीय सेना में जहां '222 अलग अलग भाषाओं' जैसी अनर्गल बातों के लिए कोई स्थान नहीं है सभी आदेश हिंदुस्तानी में दिए जाते हैं। भारत के बारे में बहुधा यह प्रचारित किया जाता है कि अंगरेजी यहां की सामान्य भाषा है लेकिन यह एक कपोल कल्पना है। 100 वर्षों की अंगरेजी 'शिक्षा' के बावजूद केवल एक प्रतिशत जनता अंगरेजी पढ़ या लिख सकती है (35 करोड़ लोगों में से केवल साढ़े तीन लाख लोग अंगरेजी पढ़ या लिख सकते हैं—1931 की जनगणना रिपोर्ट)। इसके विपरीत 'हिंदुस्तानी को विभिन्न बोलियों में 12 करोड़ से भी अधिक लोग समझते हैं और यह संख्या बढ़ती जा रही है' (जवाहरलाल नेहरू, 'इंडिया ऐंड दि वर्ल्ड', पृष्ठ 118)। भारत में भाषाओं की समस्या व्यवहारतः 12 या 13 भाषाओं की समस्या है (सर हरकोर्ट बटलर ने अपनी पुस्तक 'माडर्न इंडिया' में पृष्ठ 8 पर लिखा है कि भारत में 'कुल 12 प्रमुख भाषाएं हैं।' यह पुस्तक 1932 में प्रकाशित हुई थी)। इन 12 या 13 भाषाओं में से उत्तर भारत की 9 भाषाओं का एक दूसरे से इतना घनिष्ठ संबंध है कि 1921 की जनगणना रिपोर्ट को भी यह स्वीकार करना पड़ा था :

> इसमें कोई संदेह नहीं कि उत्तर तथा मध्य भारत की मुख्य भाषाओं में एक सामूहिक तत्व है जिसके कारण उन भाषाओं को बोलने वाले अपनी बोलचाल में कोई खास तब्दीली किए बिना एक दूसरे की बातचीत समझ लेते हैं। इस प्रकार भारत के बहुत बड़े हिस्से के लिए समान भाषा का आधार पहले से ही तैयार है।' (सेंसस आफ इंडिया, 1921, खंड 1, भाग 1, पृष्ठ 199)[4]

साइमन कमीशन की रिपोर्ट में यदि इस अंश को ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया गया होता तो यह ज्यादा ईमानदारी की बात होती लेकिन इस रिपोर्ट के जरिए लोगों को गुमराह करने के लिए कुछ दूसरी तरह की ही बातें कही गईं।

ये विशेष मसले, जिन्हें प्रायः तथाकथित ऐसी कठिन समस्याओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिन्हें भारतीय जनता की एकता स्थापित करने या स्वराज्य की दिशा में तेजी से बढ़ने के कार्य में अवरोध बताया जाता है, ऐसे हैं जिन्हें देश के राजनेताओं द्वारा हल किया जा सकता है और हल किया जाना है। उन्हीं समस्याओं के कारण यहां इतने विस्तार से विवेचन करने की आवश्यकता पड़ी ताकि लोगों को वह आधार बताया जा सके जिसपर साम्राज्यवादियों का निरर्थक कुप्रचार टिका हुआ है। इसके साथ ही इस विवेचन की जरूरत इसलिए भी है ताकि भारत से बाहर रहने वाले जनवादी विचारधारा के लोगों को साम्राज्यवादी प्रचार से गुमराह होने से रोका जा सके।

साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में भारतीय जनता की वास्तविक एकता, अपनी स्वाधीनता और अपना राजनीतिक भविष्य स्वयं निर्धारित करने के उनके अधिकार के संदर्भ में भारतीय राष्ट्र का वास्तविक अस्तित्व है या नहीं है, इसका प्रमाण आंकड़ेबाजों के दफ्तरों में या संसदों के बहस कक्षों में नहीं मिल सकता। यह वास्तविक कार्यक्षेत्र में ही साबित किया जाएगा, किया जा रहा है और पिछले 25 वर्षों के अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि किया जा चुका है। कारण यह है कि भारतीय जनता की अनेकता या बहु-राष्ट्रीय स्वरूप से इस बुनियादी एकता का कोई विरोध नहीं है। ये ऐसी समस्याएं हैं जिन्हें स्वयं भारतीय जनता ही हल कर सकती है और हल करेगी।

3. भारत में राष्ट्रवाद की शुरुआत

आधुनिक युग में भारतीय राष्ट्र की वास्तविकता से व्यवहार रूप में अब अधिक समय तक इंकार नहीं किया जा सकता हालांकि पुराने इंकार की गूंज आज भी मौजूद है। इसलिए साम्राज्यवादियों ने अपनी उन दलीलों के संदर्भ में जिसे वे एक पीढ़ी पहले तक दुहराते आ रहे थे, एक अजीब भुलक्कड़पन का परिचय दिया। अभी तक वे भारत को 'एक भौगोलिक अभिव्यक्ति' कहा करते थे और उसके राष्ट्रीय अस्तित्व को अत्यंत हठधर्मिता-पूर्ण ढंग से मानने से इंकार करते थे लेकिन अब साम्राज्यवादियों के अपेक्षाकृत अधिक चालाक प्रवक्ताओं ने एक दूसरी दलील देनी शुरू कर दी है। उनका कहना है कि यदि भारतीय राष्ट्र का कहीं अस्तित्व है और यदि इसका अस्तित्व मानने की मजबूरी है तो इसे साम्राज्यवाद की गौरवपूर्ण उपलब्धि कहा जाना चाहिए क्योंकि उसने ही भारतीय राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात किया और ब्रिटेन के जनतांत्रिक आदर्शों के बीज भारत में डाले। उन्होंने यहां तक कहा कि एक तरह के उद्देश्यपूर्ण कालदोष के कारण इसे शुरू से ही अंगरेजी का वास्तविक लक्ष्य माना जाना चाहिए।

> भारत के लोगों का वह हिस्सा जिसमें राजनीतिक चेतना है—बौद्धिक रूप से हमारी संतान है। उन्होंने उन आदर्शों को आत्मसात कर लिया है जो हमने उनके सामने रखे और इसके लिए हमें उन्हें श्रेय देना चाहिए। वर्तमान बौद्धिक और नैतिक खलबली का अर्थ यह नहीं कि भारतीय जनता हमारी भर्त्सना कर रही है बल्कि यह हमारे कार्य के प्रति उनकी सराहना है। (मौंटागू—चैम्सफोर्ड रिपोर्ट, 1918, पृष्ठ 115)

इस प्रकार भारतीय जनता का साम्राज्यवाद विरोधी अदम्य संघर्ष नहीं बल्कि साम्राज्य-वादी शासकों के परोपकारी कृत्य भारतीय जनता की राष्ट्रीय स्वाधीनता का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। जनता के बीच आधुनिक सुसंस्कृत साम्राज्यवादी शासक अपने भाषणों से इसी तरह का चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं। बीते हुए दिनों में इन शासकों द्वारा जनता के बीच जो बातें कही जाती थीं उन्हें अब ऊपर के सरकारी खेमों में कुरुचिपूर्ण कहा जाता है और पहले से ही पर्याप्त रूप से परेशानी पैदा करने वाली स्थिति में नीति के हिसाब से अवांछ-

नीय कहा जाता है (उदाहरण के लिए जायंसन हिक्स की प्रमुख घोषणा कि 'हमने भारतीयों के हित के लिए भारत पर विजय नहीं हासिल की। मुझे पता है कि मिशनरी बैठकों में कहा जाता है कि हमने भारतीयों का स्तर उठाने के लिए भारत पर शासन किया। ऐसा नहीं हो सकता। हमने तलवार के जोर से भारत को जीता है और इसी के जोर से कायम इस पर शासन कायम रखेंगे। यह ब्रिटिश सामानों का सबसे अच्छा बाजार है इसलिए हम यहां बने हुए हैं।' अथवा लार्ड रदरमीर का यह कथन कि 'अनेक अधिकारियों का यह अनुमान है कि ब्रिटेन का प्रमुख व्यापार बैंकिंग और जहाजरानी व्यापार सीधे तौर पर भारत पर 20 प्रतिशत निर्भर करता है। भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रमुख आधार है। यदि हम भारत को खोते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य पहले आर्थिक रूप से और फिर राजनीतिक रूप से ढह जाएगा।')।

सरकारी वक्तव्यों के लहजे में आज के युग में कोई तब्दीली आई हो, इसका सवाल ही पैदा नहीं होता। किंतु संशयवादी को इस जिज्ञासा के लिए क्षमा किया जा सकता है। लहजे में आया यह परिवर्तन उदीयमान राष्ट्रीय आंदोलन का कारण नहीं अपितु उसका परिणाम है। इससे ज्यादा खतरनाक कोई बात नहीं होगी कि सरकारी वक्तव्यों को इस नए लहजे से साम्राज्यवादी नीति और शक्ति की ठोस वास्तविकताओं के प्रति या इस शक्ति को बनाए रखने के लिए साम्राज्यवादियों द्वारा प्रत्येक साधन इस्तेमाल करने के इरादे के प्रति भ्रम पैदा हो (हर साधन का मतलब मशीनगनों सहित दमन के सभी प्रचलित हथियार)। नवीनतम ब्रिटिश योजना के प्रश्न पर विचार करते समय इन वास्तविकताओं पर विचार करना जरूरी होगा।

इस तरह की दलील का व्यावहारिक महत्व स्पष्ट है। आधुनिक साम्राज्यवाद ने भारतीय राष्ट्रवाद को अपनी पोषित संतान मानने का कृपापूर्ण दावा किया है और उसका यह दावा एक पतनशील शक्ति की निरीह आत्मभ्रांति तथा आत्मपरितुष्टि कदापि नहीं है। पिछड़ी हुई जनता को राष्ट्रीय चेतना और संभाव्य स्वराज्य की भावना (जिसे मार्क्सवाद की शब्दावली में 'उपनिवेशवाद की समाप्ति' का सिद्धांत कहा जाता है) का प्रशिक्षण देने और इस दिशा में आगे बढ़ने में मदद पहुंचाने के लिए एक सभ्य बनाने वाली व्यवस्था के रूप में साम्राज्यवाद के सिद्धांत को सबसे पहले मैकडोनल्ड जैसे साम्राज्यवाद के चाकरों और गद्दार समाजवादियों के एक गुट ने पेश किया। उन्होंने बाद में साम्राज्यवाद की 'सभ्य बनाने वाली' इस भूमिका की व्यावहारिक समझदारी का परिचय भारत में अपना आतंकपूर्ण शासन कायम करके और जनतांत्रिक अधिकारों की मांग के अपराध में 60,000 भारतीयों को कैद करके दिया। साम्राज्यवाद के आधुनिक प्रवक्ताओं ने अत्यंत व्यावहारिक मकसद से इस सिद्धांत को ग्रहण किया है। इससे निकलने वाले व्यावहारिक निष्कर्ष इस प्रकार होंगे कि उस हालत में 'समझदार' और 'रचनात्मक' भारतीय राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद को अपना दुश्मन मानना छोड़ देगा; वह राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन त्यागकर इसके स्थान पर साम्राज्यवाद के साथ तालमेल बैठाना और सहयोग करना शुरू

करेगा और साम्राज्यवाद को अपना ऐसा पथप्रदर्शक तथा शिक्षक मानेगा जो भविष्य के एक कल्पित समय में, और वह भी साम्राज्यवादियों द्वारा निर्धारित समय में, भारतीय जनता को बड़े आराम के साथ धीरे धीरे एक अनिश्चित और अपरिभाषित स्वराज्य की दिशा में ले जाएगा।

क्या यह मानना सही है कि भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन की संतान है और इसका परिणाम है? निस्संदेह एक अर्थ में उनका दावा सही है हालांकि यह दावा करने वाले जिस अर्थ में इस तरह के दावे करते हैं वह एकदम भिन्न है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि जापानी हमलावर चाहें तो यह दावा कर सकते हैं कि अपने आक्रमण के जरिए उन्होंने चीन की जनता में राष्ट्रीय एकता कायम कराने में मदद की और वस्तुपरक दृष्टि से देखें तो उनका यह दावा सही है। इसी तरह, चूंकि आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म और विकास साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के दौरान हुआ है इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद भी यह दावा कर सकता है कि उसने ही इसके लिए स्थितियां तैयार कीं। इसी तरह जारशाही भी रूस में मजदूर वर्ग की विजय का सूत्रपात करने का दावा कर सकती है और चार्ल्स प्रथम इस बात का दावा कर सकता है कि उसने क्रामवेल की विजय के लिए परिस्थितियां तैयार कीं।

फिर भी, आधुनिक युग के साम्राज्यवाद समर्थकों का यह मतलब नहीं है। वे यह कहना चाहते हैं कि ब्रिटिश शासन की सकारात्मक उपलब्धियों ने भारत के राजनीतिक एकीकरण और आधुनिक केंद्रीकृत प्रशासन के जरिए ही नहीं (यहां उनके पक्ष में ठोस तर्क हैं) बल्कि ब्रिटिश वैधानिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को आरोपित करके और शिक्षा प्राप्त करने वाले एक मामूली अल्पमत के लिए 'अंगरेजी ढंग की' शिक्षा लागू करके अनिवार्य रूप से भारतीय राष्ट्रवाद का बीज बोया और पढ़े लिखे लोगों के बीच संसदीय सरकार तथा जनतांत्रिक स्वतंत्रता के अंगरेजी आदर्शों को आरोपित किया। 'इंग्लैंड के इतिहास ने लोगों को धीरे धीरे नागरिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का पाठ पढ़ाया। अंगरेजों के राजनीतिक विचारों ने, जिन्हें बर्क और मिल ने अभिव्यक्ति दी, इस पाठ को और मजबूती से उनके दिलों में स्थान दिया। बुनियादी तौर पर कुशाग्र बुद्धिवाले और तेजी से उत्साह में आने वाले शिक्षित भारतीयों को ज्ञान का एक नया भंडार मिला।' (एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स 'ह्वाट एबाउट इंडिया?', 1928, पृ० 105)

इस दावे में किस हद तक सचाई है? आधुनिक युग की जनतांत्रिक चेतना का विकास बहुत से देशों में हो चुका है और इंग्लैंड में बहुत शुरू में हुआ था। यह कोई इंग्लैंड की ही चीज नहीं है। यह भी कथन सही नहीं है कि जनतांत्रिक क्रांति के बीज बोने के लिए किसी देश पर विदेशी प्रभुत्व होना जरूरी है। अमरीका की स्वतंत्रता की घोषणा से और उससे भी ज्यादा स्वतंत्रता, समानता और सद्भाव के आदर्शों से ओतप्रोत फ्रांस की महान क्रांति से 19वीं सदी के जनतांत्रिक आंदोलन ने जितनी प्रेरणा प्राप्त की उतनी

उसने इंग्लैंड से नहीं की जहां सम्राट और संसद के बीच समझौता हो गया था। 20वीं सदी में 1905 और 1917 की रूसी क्रांति ने जनता की ओर खासतौर से एशिया तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की मां करने वाले सभी उपनिवेशों की गुलाम जनता के बीच जागृति की लहर पैदा करने में विशिष्ट भूमिका अदा की।

भारत में जनता की जागृति का विकास संसार की इन्हीं धाराओं के साथ साथ हुआ है और विकास के विभिन्न चरणों द्वारा इसे दिखाया जा सकता है। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय राष्ट्रवाद के जनक राममोहन राय ने जब 1830 में इंग्लैंड की यात्रा की तो उन्होंने तमाम असुविधाओं के बावजूद फ्रांसीसी जहाज पर यात्रा करने के लिए इसलिए जोर दिया ताकि वह फ्रांसीसी क्रांति के सिद्धांतों के प्रति अपना उत्साह प्रदर्शित कर सकें। यह घटना स्मरणीय है। राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसका गठन मूलतः जनता के उभरते आंदोलन को रोकने के लिए और ब्रिटिश शासन की रक्षा के लिए सरकारी प्रेरणा से हुआ था, 20 वर्षों तक सोती रही और 1905 की महान जन उत्तेजना और हलचल के बाद पहली बार अपनी नींद से जगी। इसके बाद जब क्रांतिकारी लहर शांत हो गई तो वे फिर शांतभाव से स्वामिभक्ति का मार्ग अपनाने लगी। और जब 1917 के बाद विश्व भर में क्रांतिकारी आंदोलन की लहर उठी तब वह फिर एक बार अपनी नींद से उठकर पहले से भी ज्यादा तेजी से आगे बढ़ चली।

इंग्लैंड ने अगर मध्यस्थता न की होती तो राष्ट्रीय और जनतांत्रिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की इन विश्वधाराओं में भारत कभी हिस्सा न ले पाता, यह धारणा मूर्खतापूर्ण है और ऐसा केवल आत्मतुष्टि के लिए कहा जाता है। इसके विपरीत चीन का उदाहरण हमें बतलाता है कि किस प्रकार एक ऐसे देश में जहां साम्राज्यवाद पूरी तरह पहले कभी अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सका था राष्ट्रीय जनतांत्रिक अंतःप्रेरणा कितनी ज्यादा शक्ति के साथ आगे बढ़ सकी और अपने लिए जमीन तैयार कर सकी। और इस राष्ट्रीय जनतांत्रिक मुक्ति आंदोलन को लगातार साम्राज्यवादी हमलों और घुसपैठ के द्वारा थोपे गए अवरोधों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा।

क्या भारत में राष्ट्रीय आंदोलन इसलिए पैदा हुआ क्योंकि भारत के शिक्षित वर्ग ने अपने मालिकों से बर्क, मिल और मैकाले पढ़ने की शिक्षा ली थी तथा ग्लैडस्टोन और ब्राइट जैसे वक्ताओं के संसदीय भाषण में आनंद लेना सीखा था? साम्राज्यवादियों द्वारा प्रचारित कहानी कुछ इसी तरह की है। यह कहानी बहुत साधारण है और इसके समानांतर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक फ्रांस की स्थापना नेपोलियन की इच्छा से हुई या कैथोलिक कहते हैं कि प्रोटेस्टेंट धर्म लूथर की व्यक्तिगत विलक्षणताओं से पैदा हुआ। भारत का राष्ट्रीय आंदोलन यहां की सामाजिक परिस्थितियों से, साम्राज्यवाद की परिस्थितियों और उसकी शोषण प्रणाली से पैदा हुआ है। वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हो

गई हैं। उसके पैदा होने का कारण यह है कि भारत में पूंजीपतिवर्ग का उदय हो चुका है और चाहे शिक्षा की कैसी भी व्यवस्था क्यों न होती ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग के प्रभुत्व के साथ उसकी प्रतिस्पर्धा अनिवार्य है। यदि भारत के पूंजीपतिवर्ग ने केवल संस्कृत में लिखे वेदों का अध्ययन किया होता अथवा सभी तरह की विचारधाराओं से अलग हटकर मठों में ज्ञान प्राप्त किया होता तो निश्चय ही उसे संस्कृत वेदों में भी अपनी आजादी के संघर्ष की प्रेरणा से भरपूर सिद्धांत मिल जाते।

जब मैकाले ने साम्राज्यवाद की तरफ से अंगरेजी पद्धति की शिक्षा भारतीयों पर थोप दी और प्राच्यविदों को परास्त कर दिया तो उसका उद्देश्य भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना पैदा करना नहीं था बल्कि उस चेतना को पैदा होने से रोकने के लिए उसकी जड़ तक खोद डालना था। इस कार्य के पीछे ठीक वही भावना काम कर रही थी जो पुराने रूसी साम्राज्य की विजित जातियों के लिए रूसीकरण की जारशाही पद्धति के पीछे थी। मैकाले का उद्देश्य ऐसे विनीत आज्ञाकारी लोगों का एक वर्ग तैयार करना था जो अपनी जनता से पूरी तरह कटकर अंगरेजों की इच्छा की पूर्ति कर सकें। जनतंत्र के बीज बोने की भावना के लिए मैकाले काम कर रहा था। इस प्रश्न पर उसके विचार बहुत स्पष्ट हैं। मैकाले ने ही यह घोषित किया था कि 'हमें पता है कि भारत के पास कभी एक स्वतंत्र सरकार नहीं हो सकती लेकिन उसके पास दूसरे दर्जे की सर्वोत्तम चीज अर्थात एक दृढ़ और निष्पक्ष तानाशाही हो सकती है।' साम्राज्यवाद की समूची प्रणाली में निहित अंतर्विरोधों का ही यह परिणाम था कि शिक्षा की जो पद्धति कुशल साम्राज्यवादी प्रशासन के लिए थोपी गई थी उसी ने भारत के लोगों के लिए इंग्लैंड के जनतांत्रिक और लोकप्रिय आंदोलनों तथा जनसंघर्षों से और भारत में चल रहे अत्याचारों की ही तरह के अत्याचारों से लड़ रहे मिल्टन, शेली तथा बायरन जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त करने का भी रास्ता खोल दिया। कभी कभी तो इनका मुकाबला शासकवर्ग के उन्हीं कुलीन तंत्रों, पिटों, हेस्टिंग्जों और वेलिंगटनों से होता था जो भारत पर शासन कर रहे थे और भारत का शोषण कर रहे थे। लेकिन यह ऐसा विरोधाभास था जिसका पूर्वानुमान उस समय नहीं लगाया गया और तब से आज तक साम्राज्यवादियों की बाद की पीढ़ी ने[5] जिन्होंने इसके दुष्परिणामों को टालने की पूरी कोशिश की और इसके लिए भारत में पुस्तकों पर सेंसरशिप बढ़ा दी, कभी इन स्थितियों पर खेद नहीं प्रकट किया।

भारत में अंगरेजी राज की या जिन शक्तियों ने भारत के लोगों को इच्छा या अनिच्छा-पूर्वक एक राष्ट्र के सांचे में ढाला है उनकी ऐतिहासिक भूमिका को कम करके दिखाने की जरूरत नहीं है। हमने पहले ही मार्क्स का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है (अध्याय 4, उपशीर्षक 4) जिसमें उन्होंने उस उपलब्धि के दो प्रमुख तत्वों के बारे में बताया है जिनके कारण भारत में ब्रिटिश शासन ने 'अत्यंत घृणित स्वार्थों' से प्रेरित होकर अनजाने में भारत के विकास के लिए 'इतिहास के साधन' का काम किया।

भारत पर अंगरेजों की विजय और अंगरेजों द्वारा भारत के शोषण की सबसे पहली और महत्वपूर्ण देन या उसकी ध्वंसात्मक भूमिका यह थी कि उसने भारत में पुरानी समाज-व्यवस्था का आधार निर्ममतापूर्वक नष्ट कर दिया। किसी भी नई तरह की प्रगति के लिए इस आधार का नष्ट होना जरूरी था। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि अंगरेज यहां नहीं आते तो यह आधार नष्ट होना असंभव था। इसके विपरीत उपलब्ध स्रोतों के आधार पर हम यह धारणा बना सकते हैं कि जिस समय अंगरेज भारत में आए उस समय यहां का परंपरागत भारतीय समाज, जो सड़न की स्थिति में था, समाजवादी क्रांति की पहली अवस्था के कगार पर खड़ा कांप रहा था और इस अवस्था को वह केवल अपने साधनों के बल पर पार करने वाला था। लेकिन भारतीय समाज अभी संक्रमणकालीन अव्यवस्था के दौर में ही था कि ब्रिटेन की पूर्णतया परिपक्व पूंजीवादी क्रांति ने उसे जा पकड़ा और भारत पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। फिर भी वास्तविक ऐतिहासिक दस्तावेजों में यही लिखा गया कि पुरानी समाज-व्यवस्था का नष्ट होना ब्रिटिश शासन की देन थी।

ब्रिटिश शासन की दूसरी देन यह थी कि उसने देश की राजनीतिक एकता के जरिए भारत में नई समाज-व्यवस्था का भौतिक आधार तैयार किया। उसने भारत का संपर्क विश्व बाजार के साथ किया, आधुनिक संचार व्यवस्था खासतौर से रेल व्यवस्था और टेलीग्राफ प्रणाली की स्थापना की। इसके बाद आधुनिक उद्योगधंधों की शुरुआत की और इसके लिए प्रशासनिक तथा वैज्ञानिक योग्यताओंवाले आवश्यक कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया। हालांकि ये सारे काम उतने पूर्ण रूप में नहीं किए गए जितने पूर्ण रूप में अंगरेजी राज ने अपनी ध्वंसात्मक भूमिका अदा की थी।

लेकिन इन दोनों कार्यों से न तो भारतीय जनता को स्वतंत्रता मिल सकती थी और न उसकी हालत में कुछ सुधार हो सकता था। उन्होंने इन दोनों चीजों के लिए महज एक भौतिक परिसर तैयार किया। लेकिन 'क्या पूंजीपतिवर्ग ने कभी इससे ज्यादा कुछ किया है? क्या उसने व्यक्तिगत और सामूहिक तौर पर लोगों को रक्तपात और गंदगी, दु:ख दर्द और अपमान के बीच घसीटे बिना कभी किसी प्रगति को प्रभावित किया है?'

उसके लिए तीसरा कदम उठाना अभी शेष था। उसके लिए यह जरूरी था कि भारत की जनता उत्पादन की नई शक्तियों पर अधिकार कर ले और उन्हें अपने हित में संगठित करे। जैसा मार्क्स ने जोर देकर कहा था यह काम भारत की जनता साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चलाकर और 'अंगरेजों के जुए को पूरी तरह उतार फेंकने के लिए' अपनी समूची शक्ति को विकसित करके ही पूरा कर सकेगी। भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का यह ऐतिहासिक दायित्व है। इस आंदोलन का राष्ट्रीय मुक्ति का लक्ष्य भारत की सामाजिक मुक्ति की ओर पहला कदम है।

19वीं सदी के पूर्वार्ध में अर्थात ब्रिटिश शासनकाल के प्रारंभिक दिनों में अंगरेज शासकों ने भारत में जो तबाही और बरबादी की और यहां के उद्योग धंधों को जिस तरह नष्ट-भ्रष्ट किया उसके बावजूद उन्होंने कुछ बातों में अर्थात भारतीय समाज के दकियानूस और सामंती शक्तियों के साथ सक्रियतापूर्वक लड़कर इतिहास की दृष्टि से एक क्रांतिकारी भूमिका अदा की। देशी रजवाड़ों को जबरदस्ती हड़प लेने की उनकी नीति के कारण तमाम रियासतें खत्म होती जा रही थीं और जो बची हुई रियासतें थीं उनके शासक चिंतित हो उठे थे। यह साहसपूर्ण सुधारों का युग था। उदाहरण के लिए इस दौर में सती प्रथा पर रोक लगा दी गई (इस काम में भारतीय समाज के प्रगतिशील तत्वों ने पूरा पूरा सहयोग दिया), गुलामी प्रथा समाप्त कर दी गई (हालांकि यह एक रस्मी ढंग की कार्यवाही साबित हुई) शिशु हत्याओं और गुंडागर्दी के खिलाफ अभियान चलाया गया, पश्चिमी ढंग की शिक्षा शुरू की गई और समाचारपत्रों को स्वतंत्रता दी गई। प्रारंभिक दिनों में इन अंगरेज शासकों का रवैया बहुत कठोर था और भारत की परंपरागत प्रथाओं में जितनी भी पिछड़ी चीजें थीं उनके प्रति उनका रवैया बहुत असहानुभूतिपूर्ण था। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि 19वीं सदी की अंगरेजों की पूंजीवादी तथा ईसाई अवधारणाओं को समस्त मानवता की मान्यताएं बन जाना चाहिए। फिर भी ये लोग उस दौर के उभर रहे पूंजीपतियों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते थे और इस रूप में उन्होंने भारत में सीमित ढंग से काफी परिवर्तन किए। इनमें सर हेनरी लारेंस जैसे लोगों को काफी सम्मान और प्यार मिला। उस दौर की सभी परंपराएं ब्रिटिश और भारतीयों के बीच घनिष्ठ संबंधों पर आधारित हैं। अंगरेजों के सबसे बड़े शत्रु थे पुराने प्रतिक्रियावादी शासक जिन्हें यह लगा कि अंगरेज लोग चालाकी से उनका स्थान ले लेंगे। उस समय भारतीय समाज के प्रगतिशील तत्वों में राजा राममोहन राय का नाम और ब्रह्म समाज नामक उनके सुधारवादी आंदोलन का उल्लेख प्रमुख रूप से आता है। इन लोगों ने अंगरेजों की खुलेआम प्रशंसा की और उन्हें भारत की प्रगति का समर्थक माना इसलिए उनके सुधारवादी कार्यक्रमों को इन्होंने निस्संकोच रूप से पूरा समर्थन दिया और उन्हें एक नई सभ्यता के हरावल के रूप में देखा।

1857 का विद्रोह बुनियादी तौर पर पुराने दकियानूस और सामंती शक्तियों तथा पदच्युत राजाओं द्वारा अपने अधिकारों और विशेष सुविधाओं की मांग के लिए किया गया विद्रोह था। विद्रोह के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप के कारण जनता के व्यापक समर्थन का अभाव रहा और उसे विफल हो जाना पड़ा। फिर भी इस विद्रोह से यह बात स्पष्ट हो गई कि सतह के नीचे नीचे जनता में बेचैनी और असंतोष की कैसी भयानक आग सुलग रही है और इससे अंगरेज शासकों में अभूतपूर्व घबराहट पैदा हुई। लार्ड मेटकाल्फ ने, जो 1835-36 में भारत के गवर्नर जनरल थे इस दौर के बारे में पहले ही लिखा है ('पेपर्स ऐंड कारेसपोंडेंस', पृष्ठ 116, जे०एल० मारिसन की 'लारेंस आफ लखनऊ', पृष्ठ 55 पर उद्धृत) : 'समूची जनता हमारे विनाश पर आनंद मनाएगी अथवा मनाना चाहेगी और उन लोगों की संख्या कम नहीं है जो अपनी ताकत भर इस काम को बढ़ावा देंगे।'

1857 के बाद अंगरेजों की नीति और ब्रिटिश शासन के स्वरूप में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया। अब अंगरेजों की नीति अधिक से अधिक इस बात पर जोर देने लगी कि जनता के विरुद्ध अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए भारत के प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन प्राप्त किया जाए। इसके साथ ही भारत के उदीयमान पूंजीपतिवर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली नई प्रगतिशील शक्तियों के साथ अंगरेज शासकों के संबंध जो पहले काफी मैत्रीपूर्ण और घनिष्ठ थे अब संदेह, शत्रुता और उदासीनता से भर गए। इस स्थिति में यदि कभी थोड़ी कमी आती भी थी तो केवल उस समय जब अंगरेज शासक परिस्थितियों से विवश होकर जनता के खिलाफ उनसे अस्थाई तौर पर कोई गठबंधन कर लेते थे। भारतीय रियासतों को जबरदस्ती ब्रिटिश भारत में शामिल कर लेने की नीति अचानक समाप्त कर दी गई। इसके बाद से जो रियासतें शेष बची थीं उनके शासकों को अपनी कठपुतली बनाकर रखने की नीति का अनुसरण किया जाने लगा। उन्हें 'प्रभुसत्ता संपन्न' घोषित कर दिया गया और अपना सहयोगी बताया गया तथा उनके हर तरह के भ्रष्ट सामंती दमन तथा कुप्रशासन को संरक्षण ही नहीं दिया गया बल्कि उसे और मजबूत बनाया गया। अब रजवाड़ों के शासक एकदम परोपजीवी भूमिका निभाने लगे। इसका नतीजा यह हुआ कि भारत का राजनीतिक मानचित्र बेतुकी छोटी छोटी जागीरों के पेबंदों से भर गया। बिलकुल हाल के वर्षों में इन रियासतों और रजवाड़ों के शासकों को, जो अब पूरी तरह से साम्राज्यवादी मालिकों के हाथ के भ्रष्ट औजार बन चुके हैं फिर एक बार भारत के सांविधानिक विकास के मामले में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की शक्तियों का विरोध करने के लिए सामने लाया गया। सामाजिक सुधार के रास्ते पर चलना भी अब बंद कर दिया गया और शासकवर्ग ने इसके स्थान पर हर प्रतिक्रियावादी धार्मिक प्रथा और रीति रिवाजों का जोरदार समर्थन करना शुरू किया (1891 का दि एज आफ कंसेंट ऐक्ट इस बात की अवधि में लगभग एकमात्र अपवाद है)। 1858 में महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा की उसमें एक तरफ तो भारत के लोगों को अंगरेजों की बराबरी का दरजा देने का नाटक किया गया था (इस संदर्भ में बाद के वायसराय लार्ड लिटन ने बड़े साफ शब्दों में घोषित किया कि 'ये दावे और ये उम्मीदें न तो कभी पूरी हो सकती हैं और न होंगी।') और दूसरी तरफ उसमें सरकार के इस फैसले पर जोर दिया गया था कि भविष्य में ब्रिटिश सरकार 'धार्मिक विश्वास और पूजापाठ के मामलों में कभी किसी तरह का हस्तक्षेप न करेगी।' इसके साथ ही भारतीय जनता की दकियानूस ताकतों को यह विश्वास दिलाया गया था कि 'भारत के प्राचीन अधिकारों, रीतियों और तौर तरीकों का पूरा पूरा ध्यान रखा जाएगा।' 1876 में रायल टाइटिल्स ऐक्ट की घोषणा हुई जिसके अंतर्गत 1877 में महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित कर दिया गया। इस संदर्भ में वायसराय लार्ड लिटन ने कहा कि यह कानून 'एक ऐसी नई नीति की सूचना देता है जिसके फलस्वरूप अब से इंग्लैंड के राजसिंहासन को भारत के एक शक्तिशाली देशी अभिजात वर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं, उद्देश्यों और हितों का प्रतिनिधि और रक्षक समझा जाने लगेगा।' इस अवधि से ही अंगरेज शासकों ने हिंदुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ा देने और भारत के लोगों के अन्य छोटे मोटे मतभेदों को अपने हित में

इस्तेमाल करने के तरीकों का अध्ययन शुरू किया और अंततः उन्होंने सांप्रदायिक आधार पर मतदाता सूची तैयार करने की आधुनिक पद्धति के जरिए इस मसले को भारत की राजनीति का प्रमुख मसला बना दिया। इसके साथ ही 1857 के बाद से अंगरेज शासकों और भारतीय समाज के प्रगतिशील तत्वों के बीच दूरी बढ़ती गई। दोनों पक्षों के लोग इस बात पर एकमत हैं कि 1857 के बाद से ही अंगरेज शासकों और प्रगतिशील भारतीयों के संबंधों में बुनियादी रूप से तब्दीली आ गई।

इस प्रकार ब्रिटेन में और समूचे विश्व में पूंजीवाद के सामान्य स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ था और पूंजीवाद के उदय की प्रारंभिक काल की प्रगतिशील भूमिका के स्थान पर जिस प्रकार एक अधिक प्रतिक्रियावादी और पतनशील भूमिका का सूत्रपात हो गया था, उसी प्रकार भारत में ब्रिटिश शासन के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया था। आधुनिक साम्राज्यवाद या पतनोन्मुख पूंजीवाद की अंतिम अवस्था के विकास के साथ ही उसकी यह प्रतिक्रियावादी भूमिका विशेष रूप से स्पष्ट हो गई।

दूसरी तरफ 19वीं सदी के अंतिम दशकों में भारत में ब्रिटिश शासन के पूर्ववर्ती दौर की वस्तुपरक ढंग से प्रगतिशील भूमिका की समाप्ति के साथ ही भारतीय समाज में नई शक्तियां तेजी से विकसित हो रही थीं। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत का पूंजीपति वर्ग सामने आ रहा था। 1853 में बंबई में सूती कपड़ा बनाने का पहला कारखाना सफलतापूर्वक शुरू किया गया। 1880 तक इन कारखानों की संख्या 156 हो गई जिनमें 44,000 मजदूर काम कर रहे थे। 1900 तक कारखानों की संख्या 193 और मजदूरों की संख्या 161,000 हो गई थी। प्रारंभ से ही सूती वस्त्रों के इस नए उद्योग में मुख्यतया भारतीयों ने पूंजी लगाई और उन्होंने ही इसका संचालन किया। अनेक कठिनाइयों के बीच इसे अपने विकास के लिए मार्ग तैयार करना पड़ा। इसी के साथ साथ नया शिक्षित मध्यवर्ग भारतीय रंगमंच पर सामने आ रहा था जो वकीलों, डाक्टरों, अध्यापकों और प्रशासकों के रूप में पश्चिमी शिक्षा के सिद्धांतों का प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका था। यह वर्ग नागरिकता की 19वीं सदी की जनतांत्रिक धारणाओं को आगे बढ़ा रहा था। पूंजीवादी उद्योग धंधों तथा पश्चिमी ढंग की शिक्षा से लैस बुद्धिजीवियों के क्षेत्र में हुई यह शुरुआत अब भी अपेक्षाकृत काफी धीमी थी। लेकिन उस नए वर्ग ने जन्म ले लिया था जिसको आगे चलकर अनिवार्य रूप से अपने से ज्यादा शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी और अपने विकास के रास्ते में बाधक ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग का मुकाबला करना था और इसीलिए वह भारत की राष्ट्रीय मांग को सबसे पहले स्पष्ट अभिव्यक्ति देने और देश का नेतृत्व करने के लिए बाध्य था।

भारत के इस नए पूंजीपतिवर्ग और ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग के बुनियादी आर्थिक संघर्ष की अभिव्यक्ति 1882 में ही उस समय हो गई जब लंकाशायर के निर्माताओं की मांग पर सरकार ने भारत के विकसित हो रहे कपड़ा उद्योग के विरुद्ध भारत में आने वाले सूती

कपड़े पर से हर तरह का सीमा शुल्क हटा लिया। इसके तीन वर्षों बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गई।

अंतिम बात यह है कि भारत में ब्रिटिश पूंजी के अनुप्रवेश के फलस्वरूप यहां के किसान-वर्ग की गरीबी और परेशानी बढ़ रही थी और 19वीं सदी के उत्तरार्ध तक और खासतौर से इसके अंतिम 30 वर्षों के दौरान स्थिति यह हो गई कि किसान हर तरफ से निराश हो गए और जन असंतोष की घटनाएं सामने आने लगीं। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि 19वीं सदी के पूर्वार्ध में देश में जहां 7 अकाल पड़े थे और उनमें 15 लाख आदमी मरे थे, वहां 19वीं सदी के उत्तरार्ध में 24 अकाल पड़े और उनमें 2 करोड़ 85 लाख आदमी मरे। इन 24 अकालों में से 18 अकाल 19वीं सदी के अंतिम 25 वर्षों में पड़े थे (अध्याय 5, पृष्ठ 106)। 1875 का दकन का किसान-विद्रोह इस बढ़ते हुए असंतोष का एक खतरनाक संकेत था। सरकार को उससे कितनी चिंता हुई इसका पता इसी बात से चलता है कि उसने 1875 में दकन के दंगों की जांच के लिए एक आयोग नियुक्त किया जिसने गांवों की हालत की पूरी जांच की और उपद्रवों के कारणों तथा कृषि की समूची स्थिति की छानबीन की। 1878 में सरकार ने एक अकाल आयोग (फैमिन कमीशन) की नियुक्ति की। इस प्रकार 19वीं सदी का तीन चौथाई हिस्सा समाप्त होते होते भारत में वे सारी स्थितियां तैयार हो गई थीं जो 19वीं सदी के 75 वर्षों में यहां मौजूद नहीं थीं और जो भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की शुरुआत के लिए आवश्यक थीं।

4. राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के पहले संगठन और आज भी प्रमुख संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के बारे में बताकर अक्सर यह निष्कर्ष निकालने की कोशिश की जाती है कि भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन को ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने ही पालपोस कर बड़ा किया है। लेकिन सचाई यह है कि कांग्रेस का जिस तरह जन्म हुआ और बाद में जिस तरह उसका विकास हुआ उसके बीच एक अंतर्विरोध है और यह बतलाता है कि भारत में राष्ट्रीय चेतना की शक्तियां कितनी मजबूत थीं और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का तेज होना अनिवार्य था।

जैसा सबको पता है कि राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना पूर्ववर्ती वर्षों की घटनाओं और भारत के मध्यवर्ग की गतिविधियों की शुरुआत के बीच हुई लेकिन यह संस्था एक अंगरेज की पहल से और उसके पथप्रदर्शन में स्थापित हुई। लेकिन एक बात जिसे बहुत कम लोग जानते हैं वह यह है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार की नीति के अनुसार और उसके सीधे नेतृत्व में की गई थी। उसकी पूरी योजना वायसराय की सलाह से पहले ही बहुत गुप्त ढंग से तैयार कर ली गई थी। इसके पीछे इरादा यह था कि जनता के बीच बढ़ते हुए असंतोष और ब्रिटिश विरोधी भावना से अंगरेजी हकूमत को बचाने के लिए इस नई संस्था का इस्तेमाल किया जाए।

फिर भी अपनी सीमित मूलतः अभीष्ट सीमाओं के बावजूद एक राष्ट्रीय संगठन के कानूनी तौर पर अस्तित्व में आने के साथ ही अनिवार्यतः ऐसी प्रवृत्तियां दिखाई देने लगीं जो राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत थीं। अपनी स्थापना के प्रारंभिक वर्षों से ही कांग्रेस के राष्ट्रीय चरित्र ने इसके स्वामिभक्ति वाले चरित्र को धुंधला करना शुरू कर दिया हालांकि शुरू के दिनों में यह काम बहुत सीमित रूप में हुआ। कुछ ही वर्षों के अंदर ब्रिटिश सरकार ने इस संस्था पर संदेह करना शुरू कर दिया और इसके बारे में 'राजद्रोह' का केंद्र बनने का संदेह किया जाने लगा। घटनाक्रमों के बाद के विकास के रूप में राष्ट्रीय संघर्ष के जन आंदोलन जो 1914 के युद्ध से पहले प्रारंभिक अवस्था में थे अब ज्यादा निर्णायक रूप से सामने आने लगे और इन्होंने अर्धक्रांतिकारी जनसंघर्ष का रूप ले लिया। इन संघर्षों ने पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता का लक्ष्य प्राप्त करने का संकल्प किया जबकि सरकार ने इन संघर्षों का नेतृत्व करने वाली संस्था यानी कांग्रेस को गैरकानूनी घोषित कर दिया और इसका दमन करना चाहा। आज राष्ट्रीय कांग्रेस राष्ट्रीय आंदोलन में लगे करोड़ों संगठित जनों का मुख्य केंद्रबिंदु है और व्यापक तौर पर लोगों की यह धारणा है कि अंगरेजों के जाने के बाद भारत का शासन संभालने का दावा कर सकती है।

साम्राज्यवाद के सभी बुनियादी दावों को पराजित करके कांग्रेस की प्रगति का जो इतिहास रहा उससे यही प्रमाणित होता है कि राष्ट्रीय आंदोलन की शक्तियां बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थीं और साम्राज्यवाद ने उन शक्तियों को रोकने के लिए जो छोटे छोटे अवरोध तैयार किए थे उनसे इन शक्तियों को रोक सकना असंभव था।

बहुधा भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारंभ को 1885 में कांग्रस की नींव पड़ने के साथ जोड़ा जाता है। लेकिन सचाई यह है कि यदि इससे पहले के 50 वर्षों का अध्ययन करें तो आंदोलन के अग्रदूतों की तलाश की जा सकती है।[6] उस सुधारवादी आंदोलन का पहले ही जिक्र किया जा चुका है जिसकी अभिव्यक्ति 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना में हुई। 1843 में बंगाल में ब्रिटिश इंडिया सोसायटी की स्थापना हुई जिसने 'अपनी जनता के सभी वर्गों के हितों को बढ़ाने, उन्हें न्यायोचित अधिकार दिलाने और उन्हें खुशहाल रखने' का लक्ष्य घोषित किया। 1851 में यह संस्था ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन में शामिल हो गई जिसने 1852 में ब्रिटेन की संसद में एक याचिका भेजी जिसमें घोषणा की गई थी कि 'वे यह महसूस करते हैं कि ग्रेट ब्रिटेन के साथ अपने संबंधों से उन्हें उतना लाभ नहीं मिल सका है जितने की आशा करने का उन्हें हक है।' इस याचिका में मालगुजारी व्यवस्था, कारखानेदारों को हतोत्साहित किए जाने, शिक्षा और उच्च प्रशासनिक सेवाओं में भरती के प्रश्न पर अपनी शिकायतें व्यक्त की गई थीं और एक ऐसी संविधान परिषद की मांग की गई थी जिसका 'लोकप्रिय स्वरूप हो और वह ऐसी हो कि कुछ मामलों में वह जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करे।' इन प्रारंभिक संगठनों का संबंध उस समय भी मुख्यतया भूस्वामियों के हितों से जुड़ा हुआ था और जिन संस्थाओं के मेल से ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की स्थापना हुई उनमें बंगाल के जमींदारों की संस्था बंगाल लैंड होल्डर्स सोसायटी

भी शामिल थी। 1875 में सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की। यह पहला संगठन था जिसमें मध्यवर्ग के शिक्षित लोग थे और जो बड़े भूस्वामियों के प्रभुत्व के खिलाफ थे। प्रतिक्रियावादी संस्था ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन और प्रगतिशील संस्था इंडियन एशोसिएशन, दोनों की शाखाएं देश के विभिन्न हिस्सों में खोली गईं। 1833 में कलकत्ता के इंडियन एसोसिएशन ने पहला अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया जिसमें बंगाल, मद्रास, बंबई और संयुक्त प्रांत के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। 1883 के राष्ट्रीय सम्मेलन की अध्यक्षता आनंदमोहन बोस ने की जो बाद में 1898 में राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने घोषणा की कि यह सम्मेलन एक राष्ट्रीय संसद का पहला चरण है। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की एक अवधारणा पहले ही रूप ले चुकी थी और भारतीय प्रतिनिधियों की पहल और सक्रियता से वह अभी परिपक्वता की स्थिति में पहुंच ही रही थी कि ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप कर दिया। इसलिए सरकार ने ऐसे किसी आंदोलन की स्थापना नहीं की जिसका पहले से कोई अस्तित्व या आधार नहीं था। वस्तुतः सरकार एक ऐसे आंदोलन की जिम्मेदारी लेने के लिए आगे बढ़ी जो किसी भी स्थिति में अस्तित्व में आ रहा था और जिसका विकास सरकार की दृष्टि में भी अवश्यंभावी था।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पीछे सरकार का दृष्टिकोण यह था कि इससे आसन्न क्रांति की संभावना मिट जाएगी या उसका खतरा टल जाएगा। उपलब्ध दस्तावेजों और संस्मरणों को देखने से यह बात साबित हो चुकी है हालांकि पूरा विवरण जानने के लिए तब तक इंतजार करना पड़ेगा जब तक संग्रहालयों से वे चीजें भी बाहर न आ जाएं जो अभी गुप्त रखी गई हैं और जिन्हें तब तक गुप्त रखे जाने की आशंका है जब तक दूसरी सरकार न आ जाए।

राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिकृत संस्थापक एक अंगरेज प्रशासक श्री ए० ओ० ह्यूम थे जो 1882 तक सरकारी सेवा में रहे। सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्होंने कांग्रेस की स्थापना का काम शुरू किया। सरकारी अधिकारी होने के कारण ह्यूम को पुलिस की काफी विशालकाय गुप्त रिपोर्टें पढ़ने को मिली थीं जिनसे पता चलता था कि देश भर में जन असंतोष बढ़ रहा है और अनेक भूमिगत षडयंत्रकारी संगठन तैयार होते जा रहे हैं। 19वीं सदी का आठवां दशक भयंकर अकाल और तंगी का दौर था और किसानों में कितना असंतोष बढ़ रहा था इसका परिचय दक्कन के किसान विद्रोह से मिल चुका था। 1877 में एक तरफ भयंकर अकाल पड़ रहा था और दूसरी तरफ पूरी शान-शौकत के साथ राज दरबार लग रहा था जिसमें महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित किया गया। द्वितीय अफगान युद्ध भी इसी वर्ष हुआ था। असंतोषों का मुकाबला दमन के जरिए किया गया था। 1878 के वर्नाकुलर प्रेस एक्ट के जरिए समाचार-पत्रों की स्वाधीनता समाप्त कर दी गई। इसके बाद के वर्ष में आर्म्स ऐक्ट लागू किया गया जिसके जरिए ग्रामीणों से वे हथियार भी ले लिए गए जिनसे वे जंगली जानवरों से

अपनी रक्षा करते थे। सार्वजनिक सभाओं का अधिकार समाप्त कर दिया गया। ह्यूम के जीवनी लेखक ने लिखा है:

> सरकार ने जिन दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिक्रियावादी उपायों से काम लिया और जिन रूसी तरीकों से पुलिस के जरिए दमन किया उन सबका यह परिणाम हुआ कि लार्ड लिटन के जमाने में भारत में कुछ ही दिनों के अंदर एक क्रांतिकारी विस्फोट होने का खतरा पैदा हो गया। यही वह समय था जब श्री ह्यूम और उनके भारतीय सलाहकारों ने इसमें हस्तक्षेप की बात सोची। (सर विलियम वेडरबर्न: ऐलेन आक्टेवियन ह्यूम, फादर आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस (1913), पृष्ठ 101)

सर विलियम वेडरबर्न ने आगे बताया है कि इस हस्तक्षेप का उद्देश्य क्या था:

> लगभग 1878 या 1879 में जब लार्ड लिटन की वायसराय की अवधि समाप्त होने वाली थी, श्री ह्यूम इस बात पर सहमत हो गए कि बढ़ते हुए असंतोष का मुकाबला करने के लिए कोई निश्चित कदम उठाना जरूरी है। देश के विभिन्न भागों में रहने वाले उनके शुभचिंतकों ने उनके पास यह लिखकर भेजा था कि सरकार और भारत की भावी खुशहाली को गंभीर खतरा है; जनता को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ेगा और बुद्धिजीवी वर्ग सरकार से अलग हो जाएगा। (वही, पृष्ठ 50)

कांग्रेस की स्थापना से पहले सरकारी आशीर्वाद के साथ जबरदस्त दमनचक्र चला। ये दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे की विरोधी नहीं बल्कि पूरक थीं। जब तक शक्तिशाली क्रांतिकारी आंदोलन का दमन नहीं कर दिया गया, तब तक 'जनता के बढ़ते असंतोष' को रोकने के लिए नरमदली नेताओं के नेतृत्व में कानूनी आंदोलन नहीं शुरू किया गया। दमन और समझौते का यह दोहरा या वैकल्पिक तरीका, साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों का पुराना हथियार था जिसका वे आने वाले दिनों में भी इस्तेमाल करने के लिए अभिशप्त थे। इसके जरिए एक तरफ तो अड़ियल जुझारू शक्तियों को दबाया जाता था और दूसरी तरफ 'वफादार' मध्यमवर्गी नेताओं के साथ गठबंधन किया जाता था।

वे किस तरह के प्रमाण थे जिनके आधार पर ह्यूम ने यह लिखा कि: 'मुझे न तो तब तनिक भी संदेह था और न आज है कि उस समय हम सचमुच एक भयंकर क्रांति के खतरे के बीच से गुजर रहे थे।' इन बातों को श्री ह्यूम के ही शब्दों में बताना लाभप्रद होगा। उनके कागजातों में जो ज्ञापन मिला है उसमें इन बातों का उल्लेख है (ज्ञापन से लिए गए जिन अंशों को यहां दिया गया है उन्हें श्री ह्यूम के जीवनी लेखक ने उद्धृत किया; अन्य उद्धृत अंश वे हैं जिनका सारांश उस जीवनीकार ने दिया है।):

मेरा ख्याल है कि लार्ड लिटन के भारत छोड़ने से तकरीबन 15 महीनों पहले मैंने जो सबूत देखे उनसे मैं इस बात पर सहमत हो गया कि हम लोग भयंकर विस्फोट के आसन्न खतरे के बीच थे। मुझे सात बड़ी बड़ी जिल्दें दिखाई गईं (जो बर्मा, असम तथा कुछ छोटे भूखंडों को छोड़कर देश के कुछ भागों में विभाजन के मुताबिक थीं) इनमें तमाम बातें दर्ज थीं। उनमें देशी भाषाओं में लिखी गई किसी न किसी तरह की रिपोर्ट या समाचार का अंगरेजी में सारांश या संक्षिप्त अथवा विस्तृत अनुवाद था। यह सारी सामग्री अलग अलग जिलों, उप जिलों, सब डिवीजनों, शहरों, कस्बों या गांवों के हिसाब से दी गई थी। इसमें प्रचुर मात्रा में रिपोर्ट दर्ज थीं जिनके बारे में बताया गया था कि इन जिल्दों में तीस हजार से अधिक संवाददाताओं की रिपोर्टें दर्ज थीं। 'बहुत सी रिपोर्टों में सबसे निचले तबके के लोगों की बातचीत का ब्यौरा था' जिनसे पता चलता था कि ये लोग अपनी मौजूदा हालत से एकदम निराश हो चुके थे, वे यह मान चुके थे उन्हें भूखों मर जाना है और इसलिए वे अब 'कुछ' करना चाहते थे। वे कुछ करने जा रहे थे और कंधे से कंधा मिलाकर खड़े थे। इस 'कुछ' करने का अर्थ था हिंसा। 'अन्य तमाम रिपोर्टों में पुरानी तलवारों, बंदूकों और हथियारों को छिपाकर जमा करने की बात का उल्लेख था। हथियारों को जमा करने का उद्देश्य यह था कि मौका हाथ लगते ही उनसे काम लिया जाए। यह नहीं समझा गया था कि इन सारी बातों के फलस्वरूप शुरू में ही सरकार के खिलाफ सही अर्थों में विद्रोह हो जाएगा। अनुमान यह लगाया गया था कि पहले छिटपुट अपराध होंगे, घिनौने व्यक्तियों की हत्या होगी, बैंकों में डाके डाले जाएंगे और बाजार लूटे जाएंगे।' समूची स्थिति पर विचार करने से यह अनुमान लगाया गया कि अर्धभुखमरी की हालत में रहने वाले अत्यंत गरीब तबके द्वारा शुरू में किए गए इन अपराधों के बाद इस तरह के अपराधों का सिलसिला चल पड़ेगा और कानून तथा व्यवस्था की स्थिति सामान्य तौर पर इतनी बिगड़ जाएगी कि अधिकारियों और भद्रजनों के बस में कुछ भी नहीं रह पाएगा। यह भी सोचा गया कि हर जगह छोटे छोटे गिरोह धीरे धीरे बड़े होते जाएंगे, ठीक वैसे ही जैसे पत्तियों पर पड़ी पानी की बूंदें जुड़ जुड़ कर बड़ी हो जाती हैं; देश के सभी अराजक तत्वों में एकजुटता आ जाएगी फिर जब इनके गिरोह काफी मजबूत हो जाएंगे तब पढ़े लिखे वर्ग के कुछ लोग भी इनके साथ हो जाएंगे। कारण चाहे उचित हो या अनुचित लेकिन पढ़े लिखे लोग पहले से ही सरकार से असंतुष्ट हैं और इस बात की आशंका थी कि ये लोग धीरे धीरे आंदोलनों का नेतृत्व करने लगेंगे तथा उपद्रवों को एक निश्चित क्रम देने के बाद वे उन्हें एक राष्ट्रीय विद्रोह का रूप दे देंगे और उसका नेतृत्व करने लगेंगे। (सर विलियम वेडरबर्न, देखें पृष्ठ 80-81)

ह्यूम ने 1885 के प्रारंभिक दिनों में अनुभवी राजनीतिज्ञ वायसराय लार्ड डफरिन से संपर्क कायम किया और सारी स्थिति उनके सामने रखी। यह बातचीत साम्राज्यवाद के मुख्यालय

शिमला में हुई और इस बातचीत में ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस नामक संस्था की स्थापना की योजना तैयार की गई। कांग्रेस के पहले अध्यक्ष श्री डब्ल्यू० सी० बनर्जी ने कांग्रेस के जन्म का वर्णन इस प्रकार किया है :

> बहुत लोगों को शायद यह पता हो कि शुरू शुरू में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की जिस रूप में स्थापना हुई और जिस प्रकार वह तब से काम करती आई है, वह वस्तुत: डफरिन और आवा के मारक्विस की बनाई हुई है। उस समय वह सज्जन भारत के गवर्नर जनरल थे। 1884 में श्री ए० ओ० ह्यूम के मन में यह विचार आया कि यदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञों को साल में एक बार एक जगह इकट्ठा किया जा सके जिसमें वे दोस्ताना लहजे में एक दूसरे के साथ सामाजिक मसलों पर विचारविमर्श करें तो देश का काफी हित हो सकता है। ह्यूम का विचार था कि इस बातचीत में राजनीतिक मसलों को शामिल किया जाए—
>
> लार्ड डफरिन ने इस मामले में काफी दिलचस्पी ली और कुछ समय तक इस प्रस्ताव पर विचार करने के बाद उन्होंने श्री ह्यूम से कहा कि उनके (लार्ड डफरिन के) विचार में यह योजना बहुत लाभप्रद नहीं है। उन्होंने कहा कि इस देश में ऐसे लोग एकदम नहीं हैं जो ऐसे कार्य कर सकें जो इंग्लैंड में साम्राज्ञी के प्रतिपक्ष ने किए हैं—शासकों और शासितों के हित में यही ठीक है कि भारतीय राजनीतिज्ञ प्रति वर्ष एक साथ मिल-बैठकर सरकार को बताएं कि प्रशासन में क्या दोष हैं और इसमें किस तरह सुधार किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि इस तरह की बैठकों की अध्यक्षता स्थानीय गवर्नर न करें क्योंकि उनकी मौजूदगी के कारण हो सकता है कि लोग खुलकर अपनी बातें न कहें। श्री ह्यूम ने लार्ड डफरिन की दलीलों से इत्तफाक किया और जब उन्होंने कलकत्ता, बंबई, मद्रास तथा देश के अन्य हिस्सों में प्रमुख राजनीतिज्ञों के सामने अपनी तथा लार्ड डफरिन की योजनाएं रखीं तो सर्वसम्मति से लार्ड डफरिन की योजना स्वीकार कर ली गई और इसको व्यावहारिक रूप देने का फैसला लिया गया। लार्ड डफरिन ने श्री ह्यूम से यह शर्त मनवा ली थी कि जब तक वह भारत में रहें उनका नाम गुप्त रखा जाए। (डब्ल्यू० सी० बनर्जी : 'इंट्रोडक्शन टु इंडियन पालिटिक्स', 1898)

उदारवादी साम्राज्यवाद की परंपरागत नीति का यहां साफ तौर पर पता चलता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभिक दिनों का जिन लोगों ने अभी हाल में इतिहास लिखा है, उन्होंने इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया है :

> कांग्रेस की स्थापना के ठीक पहले देश की जैसी स्थिति थी, वैसी स्थिति 1857 के बाद पहले कभी पैदा नहीं हुई थी। अंगरेज अधिकारियों में श्री ह्यूम ही ऐसे थे

> जिन्होंने इस आसन्न खतरे को महसूस किया और उसे टालने की कोशिश की··· वह शिमला गए ताकि अधिकारियों को बता सकें कि कितनी खतरनाक स्थिति पैदा हो गई है। इस बात की संभावना है कि ह्यू म की बातचीत से नए वायसराय को, जो काफी कुशल प्रशासक थे, स्थिति की गंभीरता का अंदाजा हुआ और उन्होंने कांग्रेस की स्थापना के लिए ह्यू म को अनुमति दे दी। इस अखिल भारतीय आंदोलन के लिए स्थितियां पूरी तरह परिपक्व थीं। एक ऐसे किसान विद्रोह के स्थान पर, जिसे शिक्षित वर्ग की सहानुभूति और समर्थन मिलता, इस संस्था के जरिए उभरते वर्गों को नए भारत का निर्माण करने के लिए एक राष्ट्रीय मंच मिल गया। कुल मिलाकर यह अच्छा ही हुआ कि हिंसा पर आधारित क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा होने से एक बार फिर रोक दी गई। (ऐंड्रू ज और मुकर्जी : राइज ऐंड ग्रोथ आफ दि कांग्रेस इन इंडिया, पृष्ठ 128-29)

महत्वपूर्ण बात यह है कि 'हिंसा पर आधारित क्रांतिकारी परिस्थिति' को पैदा होने से रोकने की जिस भूमिका का निर्वाह राष्ट्रीय कांग्रेस ने किया उसकी शुरुआत गांधी के आने से पहले ही हो चुकी थी। कांग्रेस की स्थापना के साथ ही साम्राज्यवाद ने उसके अंदर यह बीज बो दिया था और इसकी सरकारी भूमिका निर्धारित कर दी थी।

कांग्रेस की भूमिका के बारे में ह्यू म की क्या धारणा थी, यह भी जानना जरूरी है :

> हमारी अपनी हरकतों से जो विशाल और बढ़ती हुई शक्तियां यहां पैदा हो गई थीं, उनके समूचे जोश को बिना हमें कोई नुकसान पहुंचाए निकाल देने के लिए एक साधन की जरूरत थी और इस काम के लिए हमारे कांग्रेस आंदोलन से ज्यादा कारगर कोई साधन नहीं बनाया जा सकता था। (वेडरबर्न, देखें, पृष्ठ 77)

लार्ड डफरिन का मकसद यह था कि कांग्रेस के द्वारा 'वफादार' लोगों को 'उग्रपंथियों' से अलग करके सरकार की मदद के लिए एक आधार तैयार किया जाए और अपने इस उद्देश्य को उन्होंने कांग्रेस की स्थापना के एक वर्ष बाद 1886 में, शिक्षित वर्गों की मांगों के विषय में भाषण करते हुए बड़े ही साफ शब्दों में बताया था :

> भारत ऐसा देश नहीं है जिसमें यूरोप के ढंग का जनतांत्रिक आंदोलन सुरक्षा के साथ लागू कर दिया जाए। मैं खुद ही उन मांगों की सावधानीपूर्वक और गंभीरता के साथ जांच करना चाहूंगा जो विभिन्न आंदोलनों से पैदा हुई हैं; जहां तक संभव या वांछनीय हो पूरी रियायत के साथ उनसे मेल बैठाना चाहूंगा; यह घोषित करना चाहूंगा कि इन रियायतों को अगले 10 या 15 वर्षों के लिए भारतीय प्रणाली का अंतिम समझौता मान लिया जाए और जन सभाओं तथा उत्तेजना फैलाने वाले भाषणों पर रोक लगा दूंगा।

> उग्रपंथियों की मांगों को यदि दरकिनार कर दिया जाए—तो अपेक्षाकृत अधिक अग्रवर्ती दल के भी लक्ष्य न तो खतरनाक हैं और न फालतू— यहां के जिन देशी लोगों से मेरी मुलाकात हुई है उनमें काफी लोग ऐसे हैं जो योग्य भी हैं और बुद्धिमान भी और जिनके निष्ठापूर्ण सहयोग पर कोई भी बिना संदेह भरोसा कर सकता है। यदि ये लोग सरकार का समर्थन करने लगेंगे तो सरकार के बहुत से ऐसे कामों का जनता में प्रचार हो जाएगा जो आज उसकी दृष्टि में विधान मंडलों में कानून बनवाकर किए जाते हैं। और यदि इन लोगों के पीछे यहां के देशी लोगों की एक पार्टी खड़ी हो जाती है तो फिर भारत सरकार आज की तरह अकेली नहीं रह जाएगी। आज तो भारत सरकार तूफानी सागर के बीच अकेली चट्टान की तरह खड़ी है और चारों दिशाओं से भयंकर लहरें आकर उसपर टूट रही हैं। (सर अल्फ्रेड लायल : लाइफ आफ दि मारक्विस आफ डफरिन ऐंड आवा', खंड 2, पृष्ठ 151-52)

लार्ड डफरिन ने जो हिसाब लगाया था वह बहुत साफ था और शुरू के दिनों में जो नतीजे सामने आए उनसे लगा कि उन्हें अपने काम में पूरी सफलता मिल गई। कांग्रेस के पहले अधिवेशन ने साम्राज्यवाद के प्रति अपनी पूरी भक्ति का परिचय दिया। अधिवेशन में पारित नौ प्रस्तावों में केवल प्रशासन में छोटे मोटे सुधारों की मांग थी। राष्ट्रीय जनतांत्रिक मांगों से मिलती जुलती बस एक मांग थी और उसमें विधानपरिषदों में कुछ चुने हुए सदस्यों के लिए जाने की प्रार्थना की गई थी। श्री ह्यूम ने अपने शिष्यसमुदाय को किस सफलता से संचालित किया यह अधिवेशन समाप्त होने के समय की एक घटना से स्पष्ट हो जाता है। इस घटना का विवरण कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की रिपोर्ट में दिया गया है :

> श्री ह्यूम ने अपने प्रति प्रकट किए गए सम्मान का जवाब देने के बाद कहा कि चूंकि जयकार का काम मुझे सौंपा गया है इसलिए मैं सोचता हूं कि देर आयद दुरुस्त आयद के सिद्धांत को मानते हुए हम सभी तीन बार ही नहीं तीन गुना तीन अर्थात नौ बार और यदि हो सके तो नौ गुना तीन अर्थात सत्ताइस बार उस महान विभूति की जय बोलें जिसके जूतों के फीते खोलने के लायक भी मैं नहीं हूं, जिसके लिए आप सब प्यारे हैं और जो आप सबको अपने बच्चों के समान समझती हैं अर्थात सब मिलकर बोलिए महामहिम महारानी विक्टोरिया की जय।
>
> श्री ह्यूम ने आगे क्या कहा यह नहीं सुना जा सका क्योंकि उसी समय चारों तरफ से जयजयकार होने लगी और उस शोर में वक्ता की आवाज डूब गई। उनकी इच्छानुसार लोगों ने बार बार जयजयकार की।

इस तरह कांग्रेस की शुरुआत जी हजूरी से हुई (यहां भी तलवे चाटने वाली जिस शब्दावली का इस्तेमाल किया गया है उसकी भी शुरुआत पूरब के लोगों ने नहीं बल्कि अंगरेजों ने ही की) लेकिन वही कांग्रेस एक दिन गैरकानूनी घोषित कर दी गई। सरकार उसके सदस्यों की धरपकड़ करने लगी और उसने देखा कि इस संस्था में लाखों करोड़ों लोग स्वाधीनता के संघर्ष के लिए पूरी निष्ठा के साथ आ घुसे हैं।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय से ही कांग्रेस का जो दोहरा चरित्र सामने आया था कांग्रेस के बाद के इतिहास के लिए भी उसका बहुत महत्व था। उसकी भूमिका का यह दोरंगापन उसके समूचे इतिहास में बना रहा : एक तरफ तो वह जन आंदोलन के 'खतरे' से बचने के लिए साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करती थी और दूसरी ओर वह राष्ट्रीय संघर्ष में जनता का नेतृत्व करती थी। कांग्रेस के चरित्र का यह दोहरापन पुराने युग के नेता गोखले से लेकर नए युग के नेता गोखले के शिष्य गांधी तक के नेतृत्व के अंतर्विरोधों में मिलता है (हालांकि इन दोनों का अंतर मुख्यत: जन आंदोलन की अलग अलग अवस्थाओं का अंतर है जिसके फलस्वरूप दोनों नेताओं को अलग अलग कार्य नीति अपनानी पड़ी)। यह दोहरापन भारतीय पूंजीपतिवर्ग की दोरंगी या ढुलमुल भूमिका का परिचायक है। भारत के पूंजीपति के हितों का टकराव ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग के हितों से होता है इसलिए वह भारतीय जनता का नेतृत्व तो करना चाहता है पर उसे सदा यह आशंका भी रहती है कि जन आंदोलन की रफ्तार कहीं 'इतनी तेज' न हो जाए कि साम्राज्यवादियों के साथ साथ उनके भी विशेषाधिकार समाप्त कर दिए जाएं। जैसे जैसे राष्ट्रीय आंदोलन का विकास जनता को आधार बनाकर होगा और आंदोलन का हित उन हितों के विरुद्ध होगा जो साम्राज्यवादी हित हैं या साम्राज्यवादियों से सहयोग करने के इच्छुक विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के हित हैं वैसे वैसे यह विसंगति अंतिम तौर पर हल होती जाएगी।

पाद टिप्पणियां

1. यह प्रशंसनीय पैरोडी आर० पेज अर्नाट ने 'लेबर मंथली' के जुलाई 1930 अंक में 'दि साइमन कमीशन रिपोर्ट' नामक लेख में दी थी।
2. प्रस्तुत उद्धरण तथा इस तरह के अनेक उद्धरण मेजर बी०डी० बसु की पुस्तक 'रूइन आफ इंडियन ट्रेड ऐंड इंडस्ट्रीज', कलकत्ता, 1935 पृ० 254-67 पर 'कंटेंपररी इंडिया ऐंड अमेरिका आन दि ईव आफ विकमिंग फ्री' नामक दिलचस्प परिशिष्ट में दिए गए हैं।
3. सितंबर 1930 के 'लेबर मंथली' में प्रकाशित लेख 'फेक्ड इंडियन स्टेटिस्टिक्स ऐज इंपीरियलिस्ट प्रोपेगंडा' में विस्तृत विश्लेषण मिलेगा। उपर्युक्त तथ्यों की पूरी व्याख्या के लिए इसका संदर्भ दिया जाना चाहिए।
4. यह एक दिलचस्प बात है कि जब भी ब्रिटिश शोषकों के [illegible] भारतीय बाजार पर कब्जा करने का मसला आया है, भाषा संबंधी समस्या, जिसे राजनीतिक [illegible]सद के लिए इतना गंभीर बताया जाता रहा है, बड़ी सहज और सरल हो जाती है : 'तमाम भाषाओं की मौजूदगी से भाषा की समस्या जितनी विराट लगती है वह दरअस्ल इतनी विराट नहीं है जो हल न की जा सके।'

(एच०जी० फैल्स : 'दि इंडियन मार्केट : हिंट्स टु दि ब्रिटिश एक्सपोर्टर,' दि टाइम्स ट्रेड ऐंड इंजीनियरिंग इंडिया सप्लीमेंट, अप्रैल 1939)

5. भारत में पश्चिमी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किए थे, उसका इस पुस्तक के लेखक ने अध्ययन किया है। यह राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत गलत अनुमान के आधार पर किया गया है। (सर अल्फ्रेड लायल, जी० सी० आई० ई०, वैलेंटाइन चिरोल की पुस्तक 'इंडियन अनरेस्ट', 1910 की भूमिका, पृष्ठ 13)
6. इन अग्रदूतों और राष्ट्रीय आंदोलन की प्रारंभिक अवस्थाओं का पूर्ण विवरण सी० एफ० एंड्रूज और जी० मुकर्जी की पुस्तक 'दि राइस ऐंड ग्रोथ आफ दि कांग्रेस इन इंडिया', 1938 में देखा जा सकता है।

11

राष्ट्रीय संग्राम की तीन मंजिलें

> मुझे खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि इस देश की जनता को यदि राजनीतिक संकट के दौरान कोई निर्देश न दिए गए सिवाय इसके कि वे हिंसा से नफरत करें, व्यवस्था से प्यार करें और संयम का परिचय दें, 'तो इस देश में नागरिक स्वतंत्रताएं कभी अस्तित्व में नहीं आ सकेंगी।' (विलियम एवर्ट ग्लैडस्टोन)

पिछले 50 वर्षों से भी अधिक समय में भारतीय राष्ट्रवाद का जो विकास हुआ है उसका निरूपण करने के लिए अलग से अध्ययन की जरूरत है क्योंकि इसमें एक ऐसी जनता का समूचा राजनीतिक इतिहास शामिल है जो राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता के अपने संघर्ष की गंभीरतम मंजिलों से गुजरी है। फिर भी वर्तमान राजनीतिक स्थिति पर रोशनी डालने के तात्कालिक उद्देश्यों के लिए उस विकास और एक के बाद एक व्यक्त होने वाली प्रमुख प्रवृत्तियों की युगांतरकारी घटनाओं को बारीकी से देखना होगा जिन्होंने मौजूदा आंदोलन का स्वरूप निर्धारित करने में मदद की है और अपनी भूमिका निभाई है।

भारतीय राष्ट्रवाद का ऐतिहासिक विकास, संघर्ष की तीन बड़ी लहरों से गुजरा है। इनमें से प्रत्येक लहर पहले की अपेक्षा अधिक ऊंची थी और प्रत्येक लहर ने आंदोलन पर स्थाई चिन्ह छोड़े तथा एक नए दौर का सूत्रपात किया। जैसा हमने देखा है, भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारंभिक दौर ने केवल बड़े पूंजीपतिवर्ग का प्रतिनिधित्व किया जिसमें जमींदारों के प्रगतिशील तत्व; नए औद्योगिक पूंजीपति और खुशहाल बुद्धिजीवी शामिल थे। 1914 के पहले के वर्षों में पहली बार इस शांत जल में उस समय हलचल पैदा हुई जब देश में

बड़े पैमाने पर असंतोष की अभिव्यक्ति सामने आई। इसमें शहरों में रहने वाले निम्न पूंजीपतिवर्ग का असंतोष व्यक्त हुआ लेकिन वह आम जनता तक नहीं पहुंच सका। 1914-18 के युद्ध के बाद ही यह स्पष्ट हुआ कि राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों और देश की नई शक्ति औद्योगिक मजदूरों अर्थात आम जनता की क्या भूमिका है। इसके बाद जनसंघर्षों की दो बड़ी लहरें आई, पहली लहर युद्ध के तत्काल बाद के वर्षों में और दूसरी लहर विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बाद आई। संघर्ष के इस इतिहास के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद आज अपनी शुरुआत के बाद से शक्ति के सर्वोच्च बिंदु पर पहुंच चुका है। राष्ट्रीय कांग्रेस, 1946 के चुनावों में जबरदस्त सफलता प्राप्त करने और अधिकांश प्रांतों में अपनी सरकारें बनाने के बाद प्रतिनिधित्व की निर्णायक स्थिति में पहुंच चुकी है और अब उसके सामने नेतृत्व की गंभीर जिम्मेदारियां हैं। एक बार फिर राष्ट्रीय आंदोलन नाजुक मोड़ पर आ पहुंचा है। सभी प्रेक्षकों के सामने यह स्पष्ट है कि संघर्ष के एक ऐसे नए महान युग का सूत्रपात हो रहा है जो भारत में अंगरेजी राज के लिए और भारतीय जनता के भविष्य के लिए निर्णायक साबित हो सकता है। इस मौजूदा स्थिति की समस्याओं के संदर्भ में संघर्ष की इन पुरानी मंजिलों और उनके सबक का तेजी से सर्वेक्षण किया जा सकता है।

1. संघर्ष की पहली बड़ी लहर 1905-1910

बीस वर्षों तक राष्ट्रीय कांग्रेस अपने संस्थापकों द्वारा तैयार किए गए रास्ते पर चलती रही। इन बीस वर्षों में उसके प्रस्तावों में किसी भी रूप में स्वराज की बुनियादी मांग नहीं की गई अर्थात किसी भी प्रकार का राष्ट्रीय दावा नहीं किया गया; उसकी मांग केवल वहीं तक सीमित रही कि शासन की ब्रिटिश प्रणाली में ही भारतीयों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व हो। शुरू के नरमदली नेताओं का दृष्टिकोण जानने के लिए अत्यंत योग्य और सबसे ज्यादा नरमदली नेता श्री रमेशचंद्र दत्त का उदाहरण दिया जा सकता है। श्री दत्त 1890 में कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने 1901 में 'भारत की जनता' की मांग को निम्न शब्दों में रखा :

> भारत की जनता अचानक होने वाले परिवर्तनों और क्रांतियों को पसंद नहीं करती है। उसे नए संविधान की कोई दरकार नहीं। भारत के लोग पहले से ही निर्धारित कर दिए गए तरीकों पर काम करना पसंद करते हैं। वे मौजूदा सरकार को बहुत मजबूत बनाना चाहते हैं और सरकार तथा जनता के बीच संपर्क और बढ़ाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि भारतीय मामलों के मंत्रालय से संबद्ध परिषद में और वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में कुछ भारतीय सदस्य शामिल किए जाएं जो भारतीय कृषि तथा उद्योग धंधों का प्रतिनिधित्व करें। वे चाहते हैं कि प्रत्येक सूबे के लिए बनी कार्यकारिणी परिषद में भारतीय भी सदस्यं की हैसियत से रहें। वे चाहते हैं कि प्रशासन संबंधी हर महत्वपूर्ण विचार विमर्श में भारतीय

जनता के हितों का भी प्रतिनिधित्व हो। वे चाहते हैं कि साम्राज्यवाद तथा उसके विशाल सूबों का प्रशासन जनता के सहयोग से चलाया जाए।

भारत के प्रत्येक बड़े सूबे में एक विधान परिषद है और इन परिषदों के कुछ सदस्यों का चुनाव 1892 के कानून के तहत होता है। यह प्रयोग सफल साबित हुआ है और इन विधान परिषदों का थोड़ा विस्तार कर देने से प्रशासन और मजबूत होगा तथा जनता के साथ इसका संबंध और घनिष्ठ होगा···30 जिलों और 3 करोड़ की आबादी वाले सूबे के लिए बने विधानपरिषद में निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम में कम 30 तो होनी ही चाहिए। प्रत्येक जिले को महसूस होना चाहिए कि सूबे के प्रशासन में उसकी भी कोई आवाज है। (रमेशचंद्र दत्त, 1901, 'दि इकानामिक हिस्ट्री आफ इंडिया,' खंड 1 की भूमिका—'इंडिया अंडर अर्ली ब्रिटिश रूल', पृष्ठ xviii)

इन मांगों की नरमी से इस बात की सही तौर पर अभिव्यक्ति होती है कि शुरू के दिनों के भारतीय पूंजीपतिवर्ग की क्या स्थिति थी। उन दिनों कांग्रेस बिलकुल ही उच्च पूंजीपतिवर्ग और खासतौर से उसके वैचारिक प्रतिनिधि अर्थात शिक्षित मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी। शुरू से ही इन क्षेत्रों से कांग्रेस में शामिल होने वालों की संख्या काफी उत्साहवर्धक रही। यहां तक कि प्रतिनिधियों की संख्या सीमित रखने के उपाय करने पड़े। ब्रिटेन के एक संसद सदस्य डब्ल्यू० एस० केन ने, जिन्होंने कांग्रेस के 1889 के अधिवेशन में भाग लिया था, लिखा कि, 'मेरे चारों तरफ जो चार हजार भद्र जन बैठे हुए हैं, वे समूचे भारत के वकीलों, डाक्टरों, इंजीनियरों और लेखकों में से चुने हुए लोग हैं।' शुरू के नरमदली नेताओं को अच्छी तरह पता था कि वे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे हैं और वे जनता के नाम पर भले ही उनकी बातें कहने की कोशिश करते रहे हों पर वे इस बात का दावा नहीं कर सकते थे कि उनकी आवाज जनता की आवाज है। शुरू के दिनों में कांग्रेस के मुख्य पथप्रदर्शक सर फीरोजशाह मेहता ने कहा था कि, 'निश्चय ही कांग्रेस जनता की आवाज नहीं है लेकिन पढ़े लिखे भारतीयों का यह कर्तव्य है कि वे जनता की शिकायतों को सामने लाएं और उनको दूर करने का सुझाव प्रस्तुत करें।'

उन दिनों के भारत का प्रारंभिक पूंजीपतिवर्ग भी अच्छी तरह जानता था कि वह अंगरेजी राज को चुनौती देने की स्थिति में नहीं है। इसके विपरीत वह अंगरेजी राज को अपना सहयोगी समझता था। वह अंगरेजी राज को अपना मुख्य दुश्मन नहीं समझता था। उसके लिए मुख्य दुश्मन थे : जनता का पिछड़ापन, देश में आधुनिक विकास की कमी, अज्ञान और अंधविश्वास की शक्तियां, और 'नौकरशाही' शासन व्यवस्था की कमियां जिनके कारण यह स्थिति पैदा हुई है। इन बुराइयों के विरुद्ध अपने संघर्ष में वे ब्रिटिश शासकों के सहयोग की आशा लगाए रहते थे। 1898 के कांग्रेस अधिवेशन के

अध्यक्ष श्री आनंदमोहन बोस ने कहा था कि, 'शिक्षित वर्ग इंग्लैंड का दुश्मन नहीं, दोस्त है। इंग्लैंड के सामने आज जो काम पड़े हैं उन्हें पूरा करने में भारत का शिक्षित वर्ग इंग्लैंड का सहज और आवश्यक सहयोगी है।' 1890 में सर फीरोजशाह मेहता ने कहा था कि, 'मुझे इसमें एकदम संदेह नहीं कि ब्रिटेन के राज नेता समय की पुकार को समझेंगे।' कांग्रेस के जनक दादाभाई नौरोजी ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में अध्यक्ष पद से दिए गए अपने भाषण में ब्रिटेन से अपील की थी कि 'वह इस शक्ति को (भारतीयों के शिक्षित वर्ग को) अपने पक्ष में करने के बजाय अपना दुश्मन न बनाएं।' पुराने कांग्रेस नेताओं में सबसे मशहूर वक्ता सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कांग्रेस के आदर्शों की घोषणा करते हुए कहा था कि 'वह (कांग्रेस) सदा अंगरेजों के साथ अटूट निष्ठा के साथ काम करे क्योंकि इसका लक्ष्य भारत से ब्रिटिश शासन को समाप्त करना नहीं है बल्कि उसके आधार को और व्यापक बनाना है। उसकी आत्मा को और उदार बनाना है, उसके स्वरूप को और परिष्कृत करना है और उसे राष्ट्र के स्नेह की अपरिवर्तनीय नींव पर खड़ा कर देना है।'[1]

इन घोषणाओं से जो ध्वनि निकलती है उससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि शुरू के दिनों के ये कांग्रेस नेता अंगरेज सरकार के प्रतिक्रियावादी और राष्ट्रविरोधी नौकर थे। इसके विपरीत, वे उस समय भारतीय समाज की सबसे प्रगतिशील शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे। जब तक नवोदित मजदूरवर्ग पूरी तरह संगठनविहीन था और उसकी कोई आवाज नहीं थी तथा किसानवर्ग भी असंगठित और खामोश था, भारत का पूंजीपतिवर्ग ही सबसे ज्यादा प्रगतिशील और सबसे ज्यादा क्रांतिकारी शक्ति था। वह समाज सुधार का काम करता था, लोगों में जागृति फैलाता था, तथा पिछड़ी और दकियानूस तमाम चीजों के खिलाफ लोगों में शिक्षा का प्रसार करने तथा उन्हें आधुनिक बनाने का काम करता था। उन्होंने मांग की थी कि भारत का तकनीकी और औद्योगिक आर्थिक विकास किया जाए।

लेकिन उनके इस काम में ब्रिटिश साम्राज्य उनकी मदद करेगा यह विश्वास और आशा झूठी साबित होने लगी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने इन लोगों से ज्यादा बेहतर इस रूप में प्रगतिशील कार्य के महत्व को समझा और महसूस किया कि साम्राज्यवादी हितों और शोषण से अनिवार्यतः इसका आगे चलकर टकराव होगा। इसलिए शुरू के दिनों में कांग्रेस को जो संरक्षण मिला था वह संदेह और शत्रुता में बदल गया। कांग्रेस की स्थापना के तीन वर्षों के अंदर ही लार्ड डफरिन ने, जिनकी प्रेरणा से कांग्रेस की स्थापना हुई थी, बड़े अपमानजनक ढंग में कांग्रेस के बारे में कहा कि यह 'केवल मुट्ठी भर लोगों का' संगठन है। श्रीमती बेसेंट ने अपनी पुस्तक 'हाउ इंडिया राट फार फ्रीडम' में लिखा है कि '1887 में जब एक प्रतिनिधि ने अपने जिला अधिकारी के आदेश की अवहेलना करके कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया तो उससे 20,000 रुपये की जमानत मांगी गई कि वह शांति न भंग करे।' 1890 में सरकार ने एक सर्कुलर के जरिए सरकारी अधिकारियों को कांग्रेस अधिवेशनों में भाग लेने से मना कर दिया। यहां तक कि उन्हें दर्शक की हैसियत से

भी भाग लेने की मनाही की गई। 1900 में लार्ड कर्जन ने भारतीय मामलों के मंत्री के पास एक पत्र में लिखा कि 'कांग्रेस अब लड़खड़ा कर गिरने ही वाली है और मेरी बड़ी महत्वाकांक्षाओं में से एक महत्वाकांक्षा यह भी है कि भारत में रहते हुए मैं इसकी शांतिपूर्ण मौत में मदद करूं।' (रोनॅल्डशे : 'लाइफ आफ लार्ड कर्जन', खंड 2, पृष्ठ 151)

अतः भारतीय राष्ट्रवाद की पुरानी धारा के नेताओं के अंदर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से जो आशा पैदा हो गई थी, वह अब टूट गई। नरमपंथियों के शीर्षस्थ नेता श्री गोखले ने अपने अंतिम वर्षों में बड़े क्षोभ के साथ कहा कि 'नौकरशाही बहुत साफ तौर पर और तेजी से स्वार्थी होती जा रही है और राष्ट्र की आकांक्षाओं का खुलकर विरोध कर रही है। पहले यह ऐसी नहीं थी।' ('हिस्ट्री आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस', 1935, पृष्ठ 151)

पुरानी नीति के असफल होने की बात जैसे जैसे साफ होती गई वैसे वैसे एक ऐसी नई धारा का जन्म होना अनिवार्य होता गया जो 'पुराने महारथियों' की आलोचना करे और वास्तविक कार्यक्रम की मांग करे तथा ऐसी नीति अपनाए जिसका अर्थ साम्राज्यवाद से निश्चित रूप से संबंध तोड़ लेना हो। यह नई धारा जिसका संबंध खासतौर से बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व से था, 19वीं सदी के अंतिम दशक में ही देश के सामने आ गई थी लेकिन वह तब तक कोई निर्णायक भूमिका नहीं अदा कर सकी जब तक बाद के दशक में स्थितियां पूरी तरह तैयार नहीं हो गईं। तिलक का क्षेत्र बंबई प्रेसीडेंसी में महाराष्ट्र था जहां 19वीं सदी के आठवें दशक में महत्वपूर्ण किसान विद्रोह हुआ था। तिलक के साथ साथ जिस नए नेतृत्व का उदय हुआ उनमें बंगाल में बिपिनचंद्र पाल और अरविंद घोष तथा पंजाब में लाला लाजपतराय प्रमुख थे।

नई धारा के नेता अपने आपको 'राष्ट्रवादी' तथा 'अखंड राष्ट्रवादी' और 'कट्टर राष्ट्र-वादी' भी कहते थे। व्यापक तौर पर वे 'नरमदली' नेताओं के मुकाबले 'उग्रपंथी' के रूप में जाने जाते थे। इन शब्दावलियों से यह समझ लेना गलत होगा कि उनमें मात्र इतना ही फर्क था कि एक पक्ष प्रगतिशील वामपंथी पक्ष था और दूसरा दकियानूसी विचारों वाले लोगों का दक्षिणपंथी खेमा। दरअस्ल उस स्थिति का एक परस्पर विरोधी चरित्र था जिससे यह पता चलता था कि राष्ट्रवादी आंदोलन का अभी भी अधकचरा विकास हुआ था।

पुराने महारथियों के मुकाबले विरोध पक्ष की शुरुआत के पीछे निस्संदेह यह आकांक्षा निहित थी कि साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने की नीति को तिलांजलि दी जाए और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक निर्णायक और दृढ़प्रतिज्ञ संघर्ष का रास्ता अपनाया जाए। जहां तक इस आकांक्षा का प्रश्न है ये लोग प्रगतिशील और क्रांतिकारी शक्तियों का प्रति-निधित्व करते थे। लेकिन यह आकांक्षा अब भी उनकी आत्मपरक आकांक्षा थी। अब भी

किसी ऐसे जनआंदोलन का आधार नहीं बना था जो निर्णायक संघर्ष को संभव बना सकता। इन नेताओं का प्रभाव असंतुष्ट निम्न मध्यवर्ग पर, पढ़े लिखे नौजवानों के दिलों पर और खासतौर से निर्धन छात्रों तथा बेरोजगारों की बढ़ती संख्या या अत्यंत निम्न वेतनभोगी बुद्धिजीवियों पर था। बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में इनकी स्थिति लगातार बिगड़ती जा रही थी। इन्हें बराबर यह अहसास होता जा रहा था कि साम्राज्यवादी शासन के अधीन न तो इनकी प्रगति का कोई मार्ग प्रशस्त हो सकता है और न इनकी कोई इच्छा पूरी हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में निम्न मध्यवर्ग के लोगों के अंदर इतना धैर्य नहीं था कि वे उच्चवर्ग के नेताओं की उन बातों को सुनते रहें जिनमें धीरे धीरे विकास होने का आरामदायक सिद्धांत प्रस्तुत किया जाता था। सामाजिक संक्रमण और पुरानी समाज व्यवस्था के आसन्न विघटन के दौर में ऐसे तत्व जनता के असंतोष और उसकी दृढ़ क्रांतिकारी शक्ति को बढ़ाने में काफी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन इनकी स्थिति ऐसी है कि जब तक ये लोग जन आंदोलनों से अपना संबंध नहीं जोड़ते तब तक ये लोग अपनी आकांक्षाएं पूरी नहीं कर सकते और ऐसी स्थिति में वे या तो जबानी विरोध व्यक्त करके अपना रोष निकाल लेते हैं या अराजकतावादी और व्यक्तिवादी काम करते हैं जिनका अंततः राजनीतिक दृष्टि से कोई लाभ नहीं होता।

यदि नए नेताओं के पास कोई आधुनिक सामाजिक या राजनीतिक दृष्टि होती तो वे यह जरूर समझते कि उनका और उनके समर्थकों का मुख्य काम है मजदूरों और किसानों के संगठन को उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुक्ति संग्राम के आधार पर विकसित करना। लेकिन 20वीं सदी के पहले दशक में भारत की जो स्थिति थी उसमें इस तरह की समझदारी की अपेक्षा करने का अर्थ यह होता कि सामाजिक विकास की मौजूदा अवस्था में जैसी समझदारी होनी चाहिए उससे बढ़कर कोई अपेक्षा की जा रही है।

समाज तथा राजनीति के किसी वैज्ञानिक सिद्धांत से कटे होने के कारण इन नए नेताओं ने नरमदली नेताओं की समझौतावादी और प्रभावहीन नीति का कारण यह समझा कि पुराने नेताओं के अंदर 'राष्ट्रीयता का अभाव' है और उनके अंदर 'पश्चिमी रंग ढंग' की प्रवृत्तियां हैं। इसलिए नए नेताओं ने अपने प्रहार का निशाना इन प्रवृत्तियों को बनाया। इस प्रकार इन नेताओं ने नरमदली नेताओं की ठीक उन्हीं बातों की आलोचना की जो सचमुच प्रगतिशील बातें थीं। इनके मुकाबले में उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को सामाजिक रुढ़िबाद की उन प्रवृत्तियों पर खड़ा करना चाहा जो भारत में अब भी बहुत शक्तिशाली थीं। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के निर्माण के लिए कट्टर हिंदुत्व का सहारा लिया और इस मान्यता को बल दिया कि आधुनिक 'पश्चिमी सभ्यता' की तुलना में प्राचीन हिंदू या 'आर्य' सभ्यता आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। उन्होंने भारत के सर्वाधिक प्रगतिशील आंदोलन अर्थात राष्ट्रीय आंदोलन को पुरातनपंथी धर्म और धार्मिक अंधविश्वास की नींव पर खड़ा करना चाहा। इस युग से ही भारत में उग्रवादी राजनीति और सामाजिक

प्रतिक्रियावाद का घातक गठजोड़ हुआ जिसका राष्ट्रीय आंदोलन के लिए बेहद विध्वंसकारी परिणाम हुआ जिसके प्रभाव को नष्ट करना अब भी बहुत कठिन है।

उग्र राष्ट्रवाद का कट्टर हिंदूवाद की जबरदस्त प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ गठबंधन की अभिव्यक्ति 1890 में उस समय हुई जब तिलक ने 'एज आफ कंसेंट बिल' के खिलाफ अपना अभियान शुरू किया। इस बिल में यह प्रावधान था कि लड़की की उम्र दस की बजाय बारह वर्ष हो जाने के बाद ही उसका पति उसके साथ सहवास कर सकता है। इस बिल का रानाडे तथा अन्य प्रगतिशील राष्ट्रीय नेताओं ने समर्थन किया था। तिलक ने उसके खिलाफ जबरदस्त आंदोलन का नेतृत्व किया और हिंदूवाद की घोर प्रतिक्रियावादी शक्तियों की ओर से आवाज उठाई। बाद में उन्होंने 'गोरक्षा समिति' का गठन किया। (हिंदुत्व के सिद्धांतों के अनुसार गाय की पवित्रता की जो बात की गई है वह उस युग विशेष की जब इस मत का प्रवर्तन किया गया—सामाजिक आवश्यकताओं को देखते हुए सभी धार्मिक रिवाजों की तरह मूलतः व्याख्येय है किंतु इससे अनुपयोगी मवेशियों को प्रोत्साहन देना आर्थिक दृष्टि से एक प्रतिक्रियावादी कदम है। इससे मवेशियों की स्थिति में गिरावट आती है और साथ ही यह मुसलमानों के साथ संघर्ष का एक खतरनाक स्रोत भी है क्योंकि वे गाय का मांस खाना अनुचित नहीं समझते हैं)। मराठों के राष्ट्रीय नायक शिवाजी की स्मृति में ही नहीं बल्कि हाथी की सूंड़ वाले देवता गणेश की स्मृति में भी धार्मिक ढंग से राष्ट्रीय त्यौहार मनाए जाने लगे। बंगाल में कुछ विशेष उत्साही लोगों द्वारा संहार की देवी काली की पूजा भी बड़ी धूमधाम से शुरू की गई।

इन धार्मिक स्वरूपों के पीछे जो राष्ट्रीय और देशभक्ति पूर्ण उद्देश्य छिपे हैं उन्हें जान लेना आवश्यक है। धार्मिक कृत्यों की आड़ लेकर व्यापक तौर पर वार्षिक समारोह और सभाओं के जरिए राष्ट्रीय आंदोलन चलाए गए। धार्मिक नामों से अनेक संस्थाएं बनाई गईं और युवकों की जिमनास्टिक समितियों का गठन करने के लिए एक संगठन का निर्माण किया गया। जब तक राष्ट्रीय आंदोलन को जन आधार नहीं प्राप्त था तब तक तो इन रूपों का सहारा लेने की बात समझ में आती है क्योंकि तब तक सभी प्रत्यक्ष राजनीतिक संगठनों और आंदोलनों का साम्राज्यवादियों द्वारा जबरदस्त दमन किया जाता था। फिर भी यहां महज यह प्रश्न नहीं है कि राजनीतिक प्रचार के लिए धार्मिक उत्सवों का सहारा लिया जाता था। यहां यह भी प्रश्न नहीं है कि किसी राजनीतिक आंदोलन के विकास का ऐतिहासिक स्वरूप क्या है। इस बात पर जोर दिए जाने से कि कट्टर धार्मिकता ही राष्ट्रीय आंदोलन की जान है और आधुनिक 'पश्चिमी' सभ्यता के मुकाबले प्राचीन हिंदू सभ्यता की कल्पित आध्यात्मिक श्रेष्ठता (जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक निस्संदेह एक प्रतिकारी भ्रांति कहेंगे) की घोषणा करने से राष्ट्रीय आंदोलन और राजनीतिक चेतना के वास्तविक विकास में अनिवार्यतः रुकावट आई और यह कमजोर हुआ है। मुस्लिम जनमत के एक बहुत बड़े हिस्से के राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रहने का एक कारण यह भी है कि आंदोलन में हिंदुत्व पर बराबर जोर दिया जाता रहा।

ये अवधारणाएं भारतीय राष्ट्रवाद के बाद के विकास के लिए बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि आधुनिक युग में गांधीवाद में ये अवधारणाएं और भी परिष्कृत रूप में प्रकट हुई हैं, अतः इनका और भी सावधानी से विश्लेषण करना जरूरी है। इसका कारण यह है कि इन धारणाओं में इस विश्वास की अभिव्यक्ति की गई है कि भारत की आजादी का रास्ता सामाजिक विकास, तथा पुरानी कमजोरियों, आपसी फूटों और हानिप्रद परंपराओं को दूर करने का रास्ता नहीं है बल्कि वह समाज को पीछे खींच ले जाने तथा अतीत के अवशेषों और तौर तरीकों को फिर से जीवित करने का रास्ता है।

हमने यह देखा है कि यह दृष्टिकोण कैसे पैदा हुआ। कट्टर राष्ट्रवादियों की दृष्टि में उच्चवर्ग के पुराने नरमदली नेताओं की दृष्टि और कार्यपद्धति 'राष्ट्रीयताविहीन' हो चुकी थी और वे ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग का सामाजिक जीवन और राजनीति सीख चुके थे। इस 'राष्ट्रीयता-विहीनता' या ब्रिटिश संस्कृति के प्रति आत्मसमर्पण के खिलाफ उन्होंने विद्रोह का नेतृत्व करना चाहा। लेकिन किस आधार पर वे इस विद्रोह का नेतृत्व कर सके ?

वस्तुतः वे खुद ही पूंजीवादी विचार के संकुचित दायरे में कैद थे (उस समय तक भारत के राजनीतिक जीवन का व्यवहार रूप में समाजवाद के साथ कोई संपर्क नहीं हो सका था), और इसीलिए वे पूंजीवाद की कार्यपद्धति को उसके अच्छे और बुरे दोनों पक्षों को आलोचनात्मक समझ के साथ नहीं देख सके। फलस्वरूप वे यह नहीं समझ सके कि जिस तथाकथित 'ब्रिटिश' संस्कृति की वे निंदा कर रहे हैं वह वास्तव में पूंजीवाद की संस्कृति है; वे यह नहीं समझ सके कि जहां तक पूंजीपतिवर्ग के नेतृत्व का संबंध है, राष्ट्रीय आंदोलन अभी तक उस आधार से परे नहीं जा सका है; और वे यह नहीं देख सके कि निर्णायक रूप से उस संस्कृति का प्रगतिशील विरोध मजदूरवर्ग ही कर सकता है। भारत में उस समय के अपने अनुभवों के आधार पर वे उदीयमान मजदूरवर्ग के दृष्टिकोण और उसकी संस्कृति की कोई धारणा नहीं बना सके जबकि यह संस्कृति ही बुजर्आ संस्कृति का विकल्प थी और यह संस्कृति ही बुजुर्आ संस्कृति की अच्छाइयों को ग्रहण करके और बुराइयों को छांटकर उससे आगे बढ़ सकती थी। इसलिए जब उन्होंने विजेताओं की संस्कृति के विरोध के लिए किसी मजबूत आधार की तलाश शुरू की तो उन्हें आधार रूप में विजेताओं से आने के पहले भारत में पूंजीवाद से पूर्व की जो संस्कृति थी, बस वही दिखाई पड़ सकी।

इसलिए पतनशील और भ्रष्ट तत्वमीमांसा के वर्तमान दूषित घालमेल से, छिन्न-भिन्न हुई ग्रामीण अर्थव्यवस्था के टूटे अवशेषों से, एक लुप्त सभ्यता की दरबारी भव्यता के शवों से, उन्होंने हिंदू संस्कृति का, 'शोधित' हिंदू संस्कृति का सुनहरा सपना फिर से तैयार करने की कोशिश की और इसे ही आदर्श और मार्गदर्शक प्रकाश माना।

उन्होंने देखा कि ब्रिटिश पूंजीवादी संस्कृति और विचारधारा की प्रचंड बाढ़ में भारतीय

पूंजीपतिवर्ग तथा बुद्धिजीवी पूरी तरह बहे जा रहे हैं इसलिए इस स्थिति पर काबू पाने के लिए उन्होंने एक पुनर्निर्मित कमजोर हिंदू विचारधारा का सहारा लिया हालांकि वास्तविक जीवन में इस विचारधारा का अब कोई सहज आधार नहीं रह गया था। अपेक्षाकृत अधिक उग्रपंथी नेताओं द्वारा हर तरह के सामाजिक तथा वैज्ञानिक विकास की भर्त्सना की जाने लगी और हर तरह की पुरानी बातों को सम्मान दिया जाने लगा। यहां तक कि बुरी प्रथाओं, स्वेच्छाचारिता और अंधविश्वासों को भी श्रद्धा और सम्मान दिया जाने लगा।

यही वजह थी कि जनता के ये जुझारू राष्ट्रीय नेता, जिनमें से अनेक काफी निडर और निष्ठावान थे और जो अतीत के अवशेषों से लोगों को दूर खींचकर मुक्ति और समझदारी के रास्ते पर आगे बढ़ा सकते थे, व्यवहार में सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के समर्थक बन गए, जातपांत के भेदभावों और विशेषाधिकारों की हिमायत करने लगे और काफी बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करने वाली एक रहस्यवादी 'राष्ट्रीय' भावना के नाम पर उन्होंने उन सामाजिक और विचारधारात्मक पुरानी बेड़ियों को बनाए रखने की कोशिश की जो अंगरेजों के आने से पूर्व यहां मौजूद थीं।

कट्टर राष्ट्रवादियों की धारणा थी कि इसी तरीके से वे साम्राज्यवाद के विरोध के लिए एक राष्ट्रीय जनआंदोलन का निर्माण कर रहे हैं। केवल इसी बात से यह तथ्य समझ में आता है कि क्यों तिलक जैसा बौद्धिक व्यक्ति भी बालविवाह तथा गोरक्षा के समर्थन में आंदोलन चल रहा था।

लेकिन सचाई यह थी कि यह नीति सिद्धांत में ही नहीं व्यवहार में भी घातक थी। इससे न केवल लाजिमी तौर पर राजनीतिक चेतना के विकास और आंदोलन के प्रति स्पष्टता में बाधा पैदा हुई (लगभग सभी सुविख्यात उग्रवादी नेताओं ने, किसी ने कम किसी ने अधिक, बाद में या तो साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करना शुरू किया या राजनीति के प्रति संदिग्ध अन्यमनस्कता का परिचय दिया और धीरे धीरे वे ऐसी स्थिति में आते गए कि बाद के वर्षों में आंदोलन की प्रगति से उनकी हमदर्दी खत्म हो गई), बल्कि प्रगामी शक्तियां आपस में बंट भी गईं। सामाजिक मामलों में उग्रपंथी नेताओं के प्रतिक्रियावादी कार्यक्रमों के कारण ऐसे तमाम लोग आंदोलन से दूर हटते गए जो एक जुझारू राष्ट्रीय नीति का समर्थन करने को तो तैयार थे पर इतने विलक्षण नहीं थे कि वामपंथी कार्यक्रम के स्थान पर प्रतिक्रियावादी और अलौकिक कूड़ा-कचरा स्वीकार करने लगें। यह विभाजन मोतीलाल नेहरू के मामले में बहुत साफ तौर पर देखा गया। मोतीलाल नेहरू, एक चरित्रवान व्यक्ति थे और उग्रपंथियों के विरुद्ध नरमदली नेताओं द्वारा चलाए जा रहे संघर्ष के नेताओं में से एक थे। उनके बारे में उनके पुत्र ने लिखा है :

दृढ़ विचारों, ओजस्वी मनोभावों, जबरदस्त आत्माभिमान और महान इच्छाशक्ति

> से युक्त होने के कारण वह (मोतीलाल नेहरू) नरमदली विचारों की प्रकृति से काफी दूर थे। और फिर भी 1907 और 1908 में तथा बाद के वर्षों में निस्संदेह वह नरमदलियों में भी नरमदली थे और उग्रवादियों के काफी कटु आलोचक थे, हालांकि, मेरा ख्याल है कि वह तिलक की प्रशंसा करते थे।
>
> ऐसा क्यों था ?---अपने स्पष्ट सोच से वह इस नतीजे पर पहुंचे थे कि बड़ी जोशीली और उग्र भाषा से तब तक कुछ नहीं हो सकता जब तक उस भाषा के अनुकूल व्यवहार न किया जाए। उन्हें ऐसे किसी व्यवहार की संभावना नहीं दिखाई दी—और इसके अलावा इन आंदोलनों की पृष्ठभूमि धार्मिक राष्ट्रवाद थी जो उनकी प्रकृति के विरुद्ध थी। उन्होंने भारत के अतीत के पुन:प्रवर्तन की ओर कभी नहीं देखा। उन्हें उन चीजों से कोई हमदर्दी न थी और वे तमाम पुराने रीति रिवाजों, जातपांत के भेदभाव जैसी चीजों को प्रतिक्रियावादी समझते थे और इनसे बेहद नफरत करते थे। उन्होंने पश्चिमी देशों की तरफ देखा और पश्चिमी देशों की प्रगति से काफी आकर्षण महसूस किया। उन्होंने महसूस किया कि इंग्लैंड के साथ साहचर्य के जरिए यह प्रगति भारत तक पहुंच सकती है। सामाजिक विकास की दृष्टि से कहें तो 1907 में भारतीय राष्ट्रवाद का जो पुन:प्रवर्तन हुआ, वह निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी था। (जवाहरलाल नेहरू : 'आत्मकथा', पृष्ठ 23-24)

कट्टर राष्ट्रवादियों ने हालांकि अपने तर्कों के लिए यह धार्मिक आधार तैयार कर लिया था पर व्यावहारिक संघर्ष में वे कोई नया अस्त्र या कोई नई कार्ययोजना नहीं बना सके, सिवाय उस व्यक्तिवादी आतंकवाद के अस्त्र के जो हर देश में निराश किंतु नपुंसक और जनआंदोलन से कटे निम्नपूंजीपतिवर्ग का अस्त्र रहा है। यहां भी उस अस्पष्ट धार्मिक उत्प्रेरणा और उत्तेजना ने तथा गुप्त समितियों के गठन ने बहुत कम असर दिखाया (हालांकि आतंकित साम्राज्यवादियों ने उनका काफी प्रचार किया और उनके गठन पर काफी चिल्लपों की। जनता के विध्वंस के साम्राज्यवादियों के अपने तरीके बेहद भयानक थे जिसकी जबरदस्त मिसाल बाद में अमृतसर में देखने में आई) और तब तक उसने कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं अदा की जब तक बाद में आंदोलन के एक नए युग की शुरुआत के लिए स्थितियां परिपक्व नहीं हो गईं और आतंकवादी आंदोलन ने सहयोगी की भूमिका नहीं निभाई।

1905 तक, जब आंदोलन के एक नए चरण के लिए स्थितियां तैयार हो गईं तब जो नया अस्त्र ढूंढ निकाला गया वह उनकी तमाम धार्मिक और आध्यात्मिक अटकलबाजियों से बहुत दूर की चीज था और मूलत: उसका एक आधुनिक और आर्थिक स्वरूप था—और यह अस्त्र आर्थिक बहिष्कार का अस्त्र था। आर्थिक बहिष्कार का यह अस्त्र उस युग का एकमात्र संभव प्रभावकारी अस्त्र था और इस तरीके के चुनाव से ही आंदोलन के बुजुर्आ

चरित्र का पता चलता है। निस्संदेह, नरमदली नेताओं ने इस हथियार का समर्थन किया।

1905 में संघर्ष के नए दौर की शुरुआत के लिए जो शक्तियां एकजुट हुईं वे वस्तुत: विकास की उस विश्वव्यापी लहर का ही प्रतिबिंब थीं जो जापान के हाथों जारशाही की पराजय (आधुनिक युग में यूरोपीय शक्ति पर किसी एशियाई शक्ति की यह पहली विजय थी और भारत पर इसका जबरदस्त प्रभाव पड़ा) और पहली रूसी क्रांति की प्रारंभिक विजय के बाद विश्व में आई थी। जिस तात्कालिक मसले पर भारत में संघर्ष का सूत्रपात हुआ वह बंगाल के विभाजन (बंगभंग) का मसला था। बंगाल उन दिनों भारत में राजनीतिक प्रगति का केंद्र था और उसके विभाजन की योजना लार्ड कर्जन ने तैयार की तथा उनके उत्तराधिकारी ने इसको असली रूप दिया। इस विभाजन के विरोध में देश भर में रोष की लहर फैल गई और 7 अगस्त 1905 को विदेशी सामानों के बहिष्कार की घोषणा की गई।

इसके बाद राष्ट्रीय आंदोलन में बड़ी तेजी आई। फिर भी 1905 के कांग्रेस अधिवेशन ने इस बहिष्कार को सशर्त समर्थन दिया। लेकिन 1906 में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन ने, जो बुरी तरह उग्रपंथियों के प्रभाव में था, एकदम नया कार्यक्रम स्वीकार किया। इस कार्यक्रम को स्वयं कांग्रेस के पुराने जन्मदाता दादाभाई नौरोजी ने पेश किया था। इस कार्यक्रम में पहली बार घोषणा की गई कि कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज प्राप्त करना है जिसे इस प्रकार परिभाषित किया गया कि ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए भारत को स्वयं अपना शासन चलाने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए ('ऐसी राज्य व्यवस्था जैसी अंगरेजों के अपना शासन प्रबंध स्वयं चलाने वाले उपनिवेशों में कायम हैं')। इस कार्यक्रम में बहिष्कार आंदोलन का समर्थन किया गया, 'स्वदेशी' या देशी उद्योग धंधों को प्रोत्साहन देने का समर्थन किया गया और राष्ट्रीय शिक्षा की हिमायत की गई। कांग्रेस कार्यक्रम की अब ये चार मूलभूत बातें हो गईं : स्वराज, विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा।

एक वर्ष बाद अर्थात 1907 में सूरत कांग्रेस के दो टुकड़े हो गए, नरमदली गुट का नेतृत्व गोखले ने और उग्रपंथियों का नेतृत्व तिलक ने किया। एक घटना के आधार पर जो काफी समय तक विवादास्पद मसला रहा, यह बात बिना किसी संदेह के कही जा सकती है कि उग्रपंथियों के बढ़ते प्रभाव से नरमदली नेताओं ने डरकर बहुत मनमाने ढंग से ऐसी हरकतें कीं जिससे कांग्रेस के दो टुकड़े हो गए। इसके बाद 1916 में दोनों गुटों में फिर एकता हो गई लेकिन 1918 में नरमदली लोगों ने अंततः कांग्रेस को छोड़ दिया और अलग से अपना लिबरल फेडरेशन बना लिया।

आंदोलन में नई जागृति के आते ही सरकारी दमन भी काफ़ी तेज हो गया। 1907 में

राजद्रोही सभाओं पर रोक लगाने वाला कानून, सेडीशश मीटिंग्स ऐक्ट बनाया गया और 1910 में एक नया और सख्त प्रेस कानून बनाया गया (1878 का पुराना प्रेस कानून लार्ड रिपन के उदार शासनकाल में रद्द कर दिया गया था)। 1818 के एक कानून के आधार पर उग्रपंथी नेताओं के विरुद्ध बिना मुकदमा चलाए देशनिकाला का तरीका अपनाया गया। यह सारा काम 'उदार' भारतमंत्री लार्ड मोर्ले के शासनकाल में हुआ। 1908 में तिलक को, जिनसे सरकार सबसे ज्यादा डरती थी, अपने अखबार में एक लेख प्रकाशित करने के जुर्म में 6 वर्ष की सजा दी गई और उन्हें मांडले में तब तक कैद रखा गया जब तक 1914 का विश्वयुद्ध नहीं छिड़ गया। तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में बंबई के कपड़ा मिलमजदूरों ने आम हड़ताल की। भारत के सर्वहारा वर्ग द्वारा की गई यह पहली राजनीतिक कार्यवाही थी और लेनिन ने इसे भविष्य का शुभ संकेत मानकर इसका स्वागत किया। अन्य महत्वपूर्ण नेताओं को या तो सजा दी गई या देशनिकाला दे दिया गया। कुछ लोग सजा से बचने के लिए देश छोड़कर चले गए। 1906 से 1909 के बीच अकेले बंगाल में 550 राजनीतिक मुकदमे अदालतों में पड़े थे। पुलिस का दमनचक्र बड़ी तेजी से चला, अनेक सभाएं तोड़ी गईं, पंजाब में किसानों के विद्रोह का बड़ी निर्ममता-पूर्वक दमन किया गया और राष्ट्रीय गीत गाने पर स्कूली बच्चों को गिरफ्तार किया गया।

पहले ही की तरह इस बार भी दमन के साथ साथ रियायतों का सिलसिला जारी रहा ताकि 'नरमदली नेताओं को साथ' लिया जा सके। 1909 में प्रस्तुत मार्ले मिंटो सुधार का अत्यंत सीमित रूप था। 1892 के इंडियन कौंसिल्स ऐक्ट के जरिए विधानपरिषदों में भारतीय प्रतिनिधि लेने के कार्यक्रम को थोड़ा विस्तार दिया गया। अब केंद्रीय विधान-परिषद में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों के एक अल्पमत को तथा प्रांतीय विधान-परिषदों में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों के बहुमत को शामिल किया गया। ये परिषदें केवल सलाहकार संस्थाएं थीं और इनके पास कोई ठोस अधिकार नहीं थे। कांग्रेस पर अब नरमदली नेताओं का एकछत्र अधिकार हो गया और उन्होंने अंगरेज सरकार के साथ अपनी एकता व्यक्त करने के लिए इन सुधारों का लाभ उठाया; 1910 में नए वाय-सराय के आने पर कांग्रेसी नेताओं ने अपनी वफादारी से भरी भावनाएं व्यक्त कीं और 1911 में जब एक शाही फरमान के जरिए बंगाल के विभाजन का संशोधन किया गया तो कांग्रेस के प्रवक्ता ने एलान किया कि 'ब्रिटिश सम्राट के प्रति हरएक व्यक्ति का हृदय श्रद्धा और आदर से भरा हुआ है; हम ब्रिटिश राजनेताओं के प्रति कृतज्ञ हैं और हमारा विश्वास उनमें फिर से दृढ़ हो गया है।'

1911 में बंगभंग का संशोधन किया जाना, बहिष्कार आंदोलन की आंशिक सफलता की अभिव्यक्ति करता है। 1906 से 1911 के बीच संघर्ष की जो लहर उठी थी वह तुरंत बाद के वर्षों में अपनी शक्ति बनाए नहीं रह सकी लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन में जो स्थाई विकास हुआ था वह कभी नष्ट नहीं हुआ। 1914 से पहले के वर्षों में अपनी तमाम सीमाओं

के बावजूद उग्रपंथी नेताओं ने एक महान और स्थाई काम कर डाला था; इतिहास में पहली बार भारतीयों की आजादी की मांग विश्व राजनीति के मंच पर एक प्रमुख प्रश्न का रूप ले चुकी थी, भारत के राजनीतिक आंदोलन में पूर्ण राष्ट्रीय मुक्ति और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प के बीज रोपे जा चुके थे। यही बीज आगे चलकर आम जनता के बीच अंकुरित हुए।

2. संघर्ष की दूसरी बड़ी लहर, 1919-1922

प्रथम विश्वयुद्ध ने साम्राज्यवाद के समूचे ढांचे पर स्थाई और जबरदस्त प्रहार किया तथा 1917 और इसके बाद के वर्षों में विश्व भर में क्रांति की एक लहर चल पड़ी जिसके परिणामस्वरूप भारत में भी विद्रोह के रूप में जनआंदोलन का सूत्रपात हुआ।

जिस प्रकार 1905 के जागरण के द्वारा विश्वव्यापी आंदोलन की अभिव्यक्ति हुई उसी प्रकार बल्कि उससे भी ज्यादा उस महान जनआंदोलन द्वारा विश्वव्यापी आंदोलन का संकेत मिला जिसने 1917 के बाद के वर्षों में अंगरेजी राज की नींव हिला दी। विश्व की जनता के संघर्ष के साथ भारतीय जनता के संघर्ष के विकास की एकता को समझना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा इसलिए जरूरी है क्योंकि भारत की परंपरागत राजनीतिक धारा में कुछ ऐसे भी मनोगतवादी और अलगाववादी तत्व हैं जो बड़े बड़े आंदोलनों के बारे में भी यह भ्रम पैदा करते हैं कि इन आंदोलनों को कोई व्यक्ति विशेष या दल विशेष चलाता है और इनकी सफलता या विफलता से ही आंदोलन चल पाता है या बंद हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 1917 के बाद के वर्षों से ही भारत में राजनीतिक आंदोलन का रूपांतरण शुरू हुआ और जो आंदोलन समाज के इने गिने लोगों तक ही सीमित था वह आम जनता तक पहुंच गया। लेकिन यह रूपांतरण भारत तक ही सीमित नहीं रहा।

एक दशक पूर्व जापान द्वारा जारशाही रूस की पराजय के बाद 1914 के विश्वयुद्ध ने एशियावासियों के सामने इस मिथक को चकनाचूर कर दिया कि पश्चिमी साम्राज्यवाद अपराजेय है। साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच आपस में जो आत्मघाती संघर्ष छिड़ा उससे गुलाम देशों की करोड़ों जनता का हृदय इस उल्लास से भर उठा कि साम्राज्यों के दिन अब गिने चुने ही रह गए हैं।

शुरू से ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने विशेष कानूनों और अधिकारों—खास तौर से भारत रक्षा अधिनियम का निर्माण करके और क्रांतिकारी गुटों के अत्यंत जझारू सदस्यों को गिरफ्तार करके या नजरबंद करके स्थिति पर काबू पाने के लिए बड़ी सख्ती से काम लिया। साम्राज्यवादी युद्ध के शुरू के वर्षों में उसे इस काम में राजनीतिक आंदोलन के उच्चवर्ग ने स्वेच्छा से मदद दी। कांग्रेस ने, जिसपर नरमदली नेताओं का कब्जा था, युद्ध के दौरान हुए अपने चार अधिवेशनों में से प्रत्येक अधिवेशन में प्रस्ताव पारित करके साम्राज्यवादी युद्ध के प्रति अपनी निष्ठा और हमदर्दी की घोषणा की। 1918 में युद्ध की

समाप्ति पर दिल्ली में आयोजित अधिवेशन में तो उसने अंगरेज सम्राट के प्रति निष्ठा का एक प्रस्ताव पारित किया और सम्राट को इस बात के लिए बधाई दी कि 'युद्ध सफलता-पूर्वक समाप्त' हो गया। बदले में सरकार ने भी कांग्रेस पर कृपा की; 1914 के कांग्रेस अधिवेशन में मद्रास के गवर्नर लार्ड पेंटलैंड ने भाग लिया। इसी प्रकार 1915 के अधिवेशन में बंबई के गवर्नर लार्ड विलिंगटन ने और 1916 के अधिवेशन में संयुक्त प्रांत के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने भाग लिया। इन अधिवेशनों में सरकारी प्रतिनिधियों का बड़ी गरमजोशी के साथ स्वागत किया गया। युद्ध शुरू होने के समय भारत के जो प्रमुख नेता लंदन में थे उन्होंने सरकार के प्रति अपना समर्थन घोषित करने में बड़ी तेजी दिखाई। कांग्रेस का एक प्रतिनिधिमंडल उन दिनों लंदन में था जिसमें लाजपत राय, जिन्ना, सिनहा आदि थे। इस प्रतिनिधि मंडल ने भारतीय मामलों के मंत्री को एक निष्ठापूर्ण पत्र लिखकर यह विश्वास प्रकट किया कि 'साम्राज्यवाद की शीघ्र विजय के लिए भारत के राजे रजवाड़े और भारत की जनता तत्काल और स्वेच्छा से अपनी पूरी सामर्थ्य भर सहयोग करेगी और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह देश के सभी साधन सम्राट को अर्पित कर देगी।' गांधी उसी समय दक्षिण अफ्रीका से लंदन पहुंचे थे। उन्होंने 'सेसिल होटल में अपने सम्मान में आयोजित एक समारोह में अपने नौजवान भारतीय दोस्तों से कहा कि उन्हें 'साम्राज्य के दृष्टिकोण से सोचना चाहिए' और अपने 'कर्तव्य का पालन करना चाहिए।' उन्होंने अपने तथा अन्य लोगों के हस्ताक्षर सहित भारतीय मामलों के मंत्री के नाम एक पत्र भेजा और अपनी सेवाएं अर्पित करने का वचन दिया :

> हममें से तमाम लोगों ने यह उचित समझा है कि ब्रिटिश साम्राज्य के सामने उत्पन्न वर्तमान संकट की घड़ी में···जो भारतीय ब्रिटेन में रह रहे हैं और जो इस योग्य हैं उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों को बिना शर्त अपनी सेवाएं पेश करनी चाहिएं। हम अपनी तरफ से और संलग्न सूची में उल्लिखित नामों की तरफ से ब्रिटिश अधिकारियों को अपनी सेवाएं अर्पित करते हैं।

बाद में उन्होंने लंदन में रहने वाले भारतीयों का एक स्वयंसेवी चिकित्सा दल संगठित करने के सिलसिले में जो काम किया वह किसी से छिपा नहीं है। भारत वापस लौटने पर उन्होंने वायसराय के समक्ष फिर अपनी सेवाएं प्रदान करने का प्रस्ताव किया और कहा कि मेसोपोटामिया के युद्ध में होने वाले घायलों को स्ट्रेचर पर लादकर अस्पताल पहुंचाने के लिए वह एक दल का गठन करना चाहते हैं। वायसराय ने गांधी के स्वास्थ्य को देखते हुए ऐसा न करने की सलाह दी और कहा कि 'ऐसे संकट के समय भारत में उनकी मौजूदगी ही अपने आप में किसी भी सेवा से ज्यादा महत्वपूर्ण होगी।' वायसराय ने जब 1917 में दिल्ली में एक युद्ध सम्मेलन बुलाया तो उसमें गांधी भी शरीक हुए और जुलाई 1918 में तो उन्होंने गुजरात में किसानों के बीच यह कहना शुरू किया कि फौज में भरती होकर ही स्वराज मिल सकता है और उन्होंने रंगरूटों की भरती का प्रचार किया।

अंगरेज सरकार के अधिकारियों ने नरमदली नेताओं की 'वफादारी' के इन प्रदर्शनों और वक्तव्यों का यह अर्थ लगाया कि ब्रिटिश शासनाधिकारियों के उपकारों को देखकर भारतीय नेताओं में काफी उत्साह पैदा हुआ है और वे कृतज्ञ महसूस कर रहे हैं। लेकिन सच्चाई यह थी कि भारतीय नेताओं ने यह सोचा था कि युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सहायता करने से भारत में स्वराज की स्थापना तेजी से हो सकेगी। इसी आशय का वक्तव्य 1922 में गांधी ने अपने मुकदमे के दौरान दिया था :

> ब्रिटिश साम्राज्य की सेवा करने के इन सारे प्रयत्नों के पीछे मेरा यह विश्वास था कि इस प्रकार की सेवाओं के जरिए मैं अपने देश की जनता के लिए पूर्ण समानता का स्थान प्राप्त कर सकूंगा।

बाद में इन नेताओं का मोह भंग हुआ और इसे उन्होंने स्वीकार भी किया। राजनीतिक नेतृत्व के उच्चवर्ग की इस नीति के बावजूद जनता का असंतोष, जो युद्ध के कारण काफी बढ़ गया था और भी बढ़ता गया। युद्ध का खर्च चलाने के लिए भारत की अत्यंत गरीब जनता से काफी कड़ाई के साथ पैसा वसूला गया, चीजों की कीमतों में जबरदस्त वृद्धि हुई और मुनाफाखोरों ने अधाधुंध कमाई की जिससे लोग तबाह और बरबाद हो गए। इन सारी बातों का नतीजा यह हुआ कि युद्ध समाप्त होने पर भारत में बहुत बड़े पैमाने पर इनफ्लुएंजा फैला जिसमें एक करोड़ 40 लाख लोगों की मृत्यु हुई। जनता के बढ़ते असंतोष की अभिव्यक्ति पंजाब के गदर आंदोलन और सेना में हुए विद्रोहों में हुई। इन आंदोलनों और विद्रोहों को बड़ी बेरहमी से कुचल दिया गया और तमाम लोगों को फांसी और कैद की सजा दी गई। 1917 में इंग्लैंड के एक जज की देखरेख में रौलट कमीशन नियुक्त किया गया जिसका काम, 'भारत में चल रहे क्रांतिकारी आंदोलनों से संबंधित षडयंत्रों की जांच' के बाद यह सिफारिश करना था कि इन आंदोलनों का दमन करने के लिए कौन से नए दमनात्मक कानून बनाए जाएं।

धीरे-धीरे जनता का बढ़ता हुआ असंतोष राजनीतिक आंदोलन के रूप में सामने आने लगा और 1916 के बाद के वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन में कुछ नई प्रवृत्तियां दिखाई देने लगीं। 1916 में तिलक ने होम रूल फार इंडिया लीग अर्थात भारत में स्वराज की स्थापना का संबंधित संस्था का गठन किया। उनके अभियान में एक अंगरेज थियोसोफिस्ट महिला श्रीमती एनी बेसेंट शामिल हुईं जो-राष्ट्रीय आंदोलन को ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति 'वफादारी' के रास्ते पर खींचने की कोशिश करती थीं। श्रीमती बेसेंट ने बाद के वर्षों में असहयोग आंदोलन का सक्रिय रूप से विरोध किया। 1916 में लखनऊ में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन में उग्रपंथियों और नरमदली नेताओं में फिर मेल हो गया। इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह थी कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग (1905 में स्थापित) के बीच गठबंधन कराने की जो कोशिशें 1913 में कांग्रेस के कराची अधिवेशन से शुरू हुई थीं उन कोशिशों को 1916 के अंत तक सफलता मिल गई। इस सफलता के पीछे एक

कारण यह भी था कि अंग्रेजों ने टर्की के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी जिसकी वजह से मुस्लिम जनता में काफी रोष फैल गया था और 1915 में मुस्लिम लीग कांफ्रेंस में यह भावना व्यक्त भी की जा चुकी थी। 1916 में दोनों संस्थाओं के बीच लखनऊ में एक समझौता हुआ जिसका आधार ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर रहते हुए आंशिक स्वराज था (इस समझौते की खास बातें ये थीं कि कौंसिल में चुने हुए सदस्यों का बहुमत हो, कौंसिल के अधिकार बढ़ाए जाएं और वायसराय की कार्यकारिणी के आधे सदस्य भारतीय हों)। इस समझौते को कांग्रेस-लीग योजना नाम दिया गया। इसके साथ ही दोनों संस्थाओं द्वारा यह घोषणा की गई कि भारत का लक्ष्य यह है कि उसे 'साम्राज्य के अंदर स्वशासी डोमीनियनों जैसा बराबरी का दरजा मिले।'

जब 1917 में रूसी क्रांति के बाद विश्व की स्थिति में तेजी के साथ परिवर्तन आया तो समूचा घटनाचक्र इससे प्रभावित हुआ और इसकी अभिव्यक्ति ब्रिटेन और भारत के संबंधों में हुई। रूसी क्रांति ने राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सवाल को और पुराने साम्राज्यों के विघटन के मसले को इस तरह विश्व के सामने ला दिया कि दोनों पक्षों की साम्राज्यवादी शक्तियां काफी परेशानी में पड़ गईं। जारशाही के पतन के पांच महीनों के अंदर ही ब्रिटिश सरकार ने जल्दी जल्दी एक ऐलान किया (इस घोषणा को मोंटागू घोषणा के नाम से जाना जाता है। मोंटागू उस समय भारतीय मामलों के मंत्री थे लेकिन वस्तुतः इस घोषणा की योजना कर्जन और चेंबरलेन ने बनाई थी और उन्होंने ही इसे तैयार भी किया था)। इस घोषणा के अंतर्गत भारत में ब्रिटिश शासन के लक्ष्यों की व्याख्या करते हुए कहा गया था कि अंगरेजी राज्य का उद्देश्य 'स्वायत्त शासन की संस्थाओं का धीरे धीरे विकास करना है जिससे भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अभिन्न अंग बने रहने के बावजूद क्रमशः जिम्मेदार प्रशासन की दिशा में बढ़ सके।' इसके साथ ही इस घोषणा में यह भी वायदा किया गया था कि 'इस दिशा में जल्द से जल्द ठोस कदम उठाए जाएंगे।' ब्रिटिश सरकार ने कितनी जल्दबाजी में यह घोषणा की थी इसका पता इस तथ्य से ही चल जाता है कि घोषणा कर देने के बाद इस बात की जांच शुरू की गई कि इस घोषणा का मकसद क्या था। इस जांच के परिणाम के आधार पर कहीं एक साल बाद जाकर मोंटागू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट तैयार हुई। 1919 की समाप्ति तक सुधारों को (प्रांतों में तथाकथित 'डाईआर्की' प्रथा के अनुसार अर्थात अंगरेजों और भारतीय मंत्रियों के बीच विभागों का बंटवारा किया जाना) लागू नहीं किया गया। उन सुधारों पर अमल करना 1920 में शुरू हुआ और तब तक भारत की समूची परिस्थिति में तब्दीली आ चुकी थी।

इससे दस वर्ष पहले मोर्ले मिंटो योजना के साथ इस तरह के सुधारों को आंशिक सफलता मिल चुकी थी और इन सुधारों के जरिए उच्च वर्ग के राष्ट्रीय खेमे में फूट के बीज बोए जा चुके थे लेकिन इस प्रकार नरमदली नेताओं का जो समर्थन प्राप्त किया गया था उस का वर्तमान घटनाक्रमों के दौर में कम राजनीतिक महत्व था। 1917 के अंत में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता श्रीमती बेसेंट ने की। उन्होंने इस

अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास कराया जिसमें कहा गया था कि 'एकता के सूत्र में बंधी हुई भारतीय जनता की ओर से कांग्रेस, महामहिम सम्राट को अत्यंत निष्ठापूर्वक और सम्मान के साथ अपने गहरे प्रेम का विश्वास दिलाती है तथा यह निवेदन करती है कि भारत की जनता हर कीमत पर और हर तरह की परेशानियों के बीच रहकर भी ब्रिटिश साम्राज्य का साथ देगी।' लेकिन 1918 की गर्मियों में जब मोंटागू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो बंबई में कांग्रेस के एक विशेष अधिवेशन में इन प्रस्तावों की भर्त्सना की गई और इन्हें काफी 'निराशाजनक और असंतोषजनक' कहा गया। कांग्रेस के इस विशेष अधिवेशन के बाद ही गांधी को छोड़कर अन्य सभी नरमदली नेता कांग्रेस से अलग हो गए और बाद में उन्होंने इंडियन लिबरल फेडरेशन की स्थापना की जिसमें बुर्जुआ वर्ग के उन्ही तत्वों का प्रतिनिधित्व था जो साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करना चाहते थे। दिसंबर, 1919 तक कांग्रेस ने फिर सुधारों को स्वीकार करने का प्रस्ताव पारित किया लेकिन इस बार इस मसले पर काफी मतभेद दिखाई दिया जिसमें गांधी ने श्रीमती बेसेंट के समर्थन से सहयोग के लिए संघर्ष का नेतृत्व किया और इसके विरोधी पक्ष का नेतृत्व सी० आर० दास ने किया। अंतिम पारित प्रस्ताव में सुधारों की एक बार फिर आलोचना की गई और साथ ही यह मांग की गई कि 'आत्मनिर्णय के सिद्धांत के अनुसार पूरी तौर पर उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार कायम करने के लिए जल्द से जल्द कदम उठाए जाएं।' लेकिन इसके साथ साथ प्रस्ताव में गांधी द्वारा पेश किए गए इस संशोधन को भी जोड़ दिया गया जिसमें कहा गया था कि 'जब तक ऐसे कदम नहीं उठाए जाते तब तक कांग्रेस का यह विश्वास है कि जहां तक संभव होगा भारत की जनता इन सुधारों से इस तरह काम लेगी कि जल्द ही देश में उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना की जा सके।' 1919 की समाप्ति तक भी गांधी की धारणा सरकार के साथ सहयोग करने और सुधारों को मंजूर करने की थी। उन्होंने वर्ष की समाप्ति पर अपने साप्ताहिक पत्र में एक लेख में लिखा था :

> सरकारी घोषणा के साथ सुधारों से संबंधित जो कानून पारित हुआ है उससे पता चलता है कि अंगरेज लोग भारत के साथ न्याय करना चाहते हैं और इस बारे में अब हमारे संदेह दूर हो जाने चाहिएं…इसलिए हमारा कर्तव्य यह है कि सुधारों की अकारण आलोचना न करके चुपचाप उनके अनुसार काम करना शुरू करें ताकि इन सुधारों को सफलता मिल सके। (एम०के० गांधी : 'यंग इंडिया', 31 दिसंबर 1919)

यह घोषणा काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इस घोषणा से पहले ही रौलट कानून बन चुके थे, अमृतसर की घटना घट चुकी थी और पंजाब में मार्शल ला लागू हो चुका था। कहने का तात्पर्य यह है कि यह घोषणा इन तीनों घटनाओं के बाद की घोषणा है जिनको बाद में असहयोग आंदोलन शुरू करने का कारण बताया गया था। इस प्रकार यह पता चल जाता है कि जब इस घोषणा के अगले वर्ष राष्ट्रीय नेताओं ने असहयोग आंदोलन

छेड़ने का फैसला किया उस समय इन घटनाओं से अलग कुछ और बातें भी उनके ध्यान में थीं।

दरअस्ल कांग्रेस वैसे तो अब भी सरकार के साथ सहयोग कर रही थी लेकिन 1919 में भारत की समूची स्थिति बिलकुल बदल गई थी और कांग्रेस की सहयोग की नीति का समूचा आधार नष्ट होता जा रहा था। 1919 में समूचे देश में क्रांतिकारी असंतोष की व्यापक लहर देखने में आई। वर्ष 1918 के अंतिम और 1919 के शुरू के महीनों में हड़तालों का एक ऐसा सिलसिला शुरू हो चुका था जैसा पहले भारत में कभी नहीं देखा गया था। दिसंबर 1918 में बंबई की मिलों से हड़ताल की शुरुआत हुई। जनवरी 1919 तक एक लाख 25 हजार मजदूरों ने हड़ताल में भाग लिया। 1919 के शुरू के दिनों में रौलट ऐक्ट पेश किया गया और मार्च के महीने में इसे लागू कर दिया गया। इस कानून का उद्देश्य यह था कि युद्ध के दौरान सरकार ने विशेष कानूनों को पारित करके दमन के जो असाधारण अधिकार अपने हाथ में ले लिए थे उन्हें युद्ध समाप्त हो जाने और विशेष कानूनों की अवधि खत्म हो जाने के बाद भी सरकार के हाथों में बनाए रखा जा सके ताकि उसे अदालती कार्यवाही किए बिना मुकदमा चलाए बिना लोगों को जेल में बंद रखने का अधिकार मिल सके। रौलट ऐक्ट से जनता के बीच काफी असंतोष फैला और जनता ने यह महसूस किया कि सुधारों की आड़ लेकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने जबरदस्त हथकंडों का इस्तेमाल कर रहा है। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका के अपने अनुभवों के आधार पर रौलट कानूनों के खिलाफ अहिंसात्मक सत्याग्रह आंदोलन चलाने की कोशिश की और इस उद्देश्य से उन्होंने फरवरी में सत्याग्रह लीग नामक एक संगठन की स्थापना भी कर दी। जनता से अनुरोध किया गया कि वह 6 अप्रैल को हड़ताल करे या सारे कामकाज ठप कर दे। हड़ताल की इस अपील पर जनता ने जो उत्साह दिखाया उससे स्वयं वे लोग आश्चर्य में पड़ गए जिन्होंने अपील की थी। मार्च और अप्रैल के महीनों में देश भर में बड़े बड़े जुलूस निकाले गए, हड़तालें हुईं, जनता के असंतोष की अभिव्यक्ति हुई और कहीं कहीं पर जनता और पुलिस के बीच संघर्ष हुआ तथा सरकार द्वारा किए गए हिंसात्मक दमन का जनता ने बहादुरी के साथ सामना किया। सरकारी दमन के फलस्वरूप अनेक लोग घायल भी हुए लेकिन उनका मनोबल नहीं टूटा। इस वर्ष की सरकारी रिपोर्ट में इस बात पर काफी आश्चर्य प्रकट किया गया है कि लोगों के बीच अचानक ऐसी एकता किस तरह बन गई और हिंदुओं तथा मुसलमानों के बीच विरोध की सारी बातें कहां चली गईं। रिपोर्ट में कहा गया था :

> इस आम उत्तेजना और उत्साह में एक खास बात यह देखी गई कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच भाईचारे का अभूतपूर्व रिश्ता कायम हो गया। नेताओं ने बहुत दिनों से हिंदू मुस्लिम एकता को राष्ट्रवादी कार्यक्रम का एक निश्चित अंग बना रखा था। सार्वजनिक उत्साह के इस अवसर पर निचली जातियों में भी मतभेदों को भुला देने की शक्ति पैदा हो गई। भाईचारे के असाधारण दृश्य

देखने को मिले। हिंदुओं ने मुसलमानों के हाथ से खुलेआम जल ग्रहण किया और मुसलमानों ने भी ऐसा किया। जुलूसों में नारों और झंडों से हिंदू मुस्लिम एकता का स्वर गूंज उठा। यह सचाई है कि हिंदू नेताओं को मस्जिदों के गुंबदों से खड़े होकर भाषण देने का अवसर दिया गया। ('इंडिया इन 1919')

इसके बाद सरकार ने दमन के असाधारण तरीके इस्तेमाल किए। अमृतसर में जलियांवाला बाग की घटना इसी समय हुई जहां जनरल डायर ने चारों तरफ दीवारों से घिरी एकत्रित जनता पर 1600 गोलियां बरसाईं। जनता बिलकुल निहत्थी थी और उसके बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं था। इस हत्याकांड में (सरकारी आंकड़ों के अनुसार) 379 लोग मारे गए और 1200 लोग घायल हुए जिन्हें इलाज के लिए भी कहीं नहीं ले जाया गया। बाद में दिए गए बयान के अनुसार इस निहत्थी जनता पर गोली चलाने का उद्देश्य 'वहां पर मौजूद लोगों पर ही नहीं बल्कि खास तौर से पूरे पंजाब के लोगों पर सैनिक दृष्टि से नैतिक प्रभाव डालना था।' कहने का अर्थ यह है कि इस गोलीकांड का उद्देश्य समूची जनता को आतंकित करना था। भारत में उस समय दमन का कितना जबरदस्त सिलसिला चल रहा था इसका पता इसी से लगाया जा सकता है कि कांग्रेस कमेटी के नेताओं को भी इस हत्याकांड की जानकारी घटना के चार महीने के बाद हुई और लगभग आठ महीनों तक इस हत्याकांड के किसी भी समाचार को सरकार ने न तो अखबारों में छपने दिया और न उसे ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा ब्रिटिश जनता के सामने आने दिया। आंदोलनों और कांग्रेस द्वारा घटना की जांच के लिए एक समिति का गठन कर देने के बाद ब्रिटिश सरकार ने भी कूटनीतिक कारणों से मजबूर होकर घटना की निंदा की और इसकी जांच की। लेकिन जनरल डायर को साम्राज्यवादियों से काफी प्रशंसा मिली (और उसे 20 हजार पौंड की थैली भी भेंट की गई) तथा हाउस आफ लार्ड्स ने सरकारी तौर पर उसके काम की प्रशंसा की। पंजाब में मार्शल ला लगा दिया गया। आतंक के इस शासन के दौरान वहां कितने बड़े पैमाने पर गोलीकांड हुए, कितने लोगों को फांसियां दी गईं, हवाई जहाजों से कितनी जगह बम गिराए गए, और अदालतों द्वारा कितनी भयानक सजाएं दी गईं इसका पूरा पूरा हिसाब अभी तक नहीं लगाया जा सका है। बाद के वर्षों में जो जांच पड़ताल हुई उससे भी केवल अधूरी जानकारी मिल सकी।

ब्रिटिश सरकार के मत के अनुसार इस अवधि में 'आंदोलन ने निस्संदेह ब्रिटिश राज के खिलाफ संगठित विद्रोह का रूप ले लिया था' (सर वेलेंटाइन चिरोल : 'इंडिया', 1926, पृष्ठ 207)। गांधी ने इस परिस्थिति से चिंता महसूस की। कलकत्ता, बंबई, अहमदाबाद तथा अन्य स्थानों पर जनता ने अंगरेज शासकों के खिलाफ छुटपुट रूप से हिंसा का प्रयोग किया जिस पर गांधी जी ने घोषणा की कि 'मैंने एक महान भूल की थी जिससे कुछ ऐसे लोगों को अव्यवस्था फैलाने का अवसर मिल गया जो सही अर्थों में सत्याग्रही नहीं थे और जिनका उद्देश्य अच्छा नहीं था।' फलस्वरूप गांधी ने एक हफ्ता हड़ताल चलने के बाद ही

अप्रैल के मध्य में सत्याग्रह आंदोलन रोक दिया और इस प्रकार आंदोलन को ठीक ऐसे वक्त पर, बंद कर दिया गया, जब वह अपने शिखर पर पहुंचने ही वाला था। बाद में उन्होंने 21 जुलाई को अखबारों के नाम एक पत्र लिखकर यह बताया कि आंदोलन वापस लेने का कारण यह था कि 'एक सत्याग्रही कभी सरकार को परेशान करना नहीं चाहता।' 'सत्याग्रह' का यह अनुभव आगे चलकर और भी व्यापक स्तर पर दोहराया जाने वाला था।

हम देख चुके हैं, दिसंबर 1919 में कांग्रेस सुधारों से काम लेने का फैसला कर रही थी और गांधी इस बात के प्रचार में लगे थे कि राष्ट्रीय आंदोलन का कर्तव्य है कि 'वह चुपचाप काम करे ताकि सुधार सफल हों।' लेकिन इस तरह के सपने सच होने की स्थितियां अब नहीं बच रही थीं। 1919 में जनता में असंतोष की जो क्रांतिकारी लहर उठी थी वह 1920 और 1921 में भी बराबर आगे बढ़ती रही और 1920 के उत्तरार्ध में शुरू हुए आर्थिक संकट से तेजी में और वृद्धि हुई। 1920 के शुरू के छः महीनों में हड़तालों का काफी जोर रहा। कम से कम 200 हड़तालें हुईं जिनमें 15 लाख मजदूरों ने भाग लिया। 'सुधारों से चुपचाप काम लेने' की पंडिताऊ सलाह को इन क्रांतिकारी आंदोलनों ने मखौल बना दिया। सितंबर 1920 में कांग्रेस के एक विशेष अधिवेशन में अध्यक्ष ने घोषणा की :

> इस तथ्य से आंख मूंद लेने से कोई लाभ नहीं है कि हम एक क्रांतिकारी दौर से गुजर रहे हैं…हम अपने मूल स्वभाव और अपनी परंपरा से क्रांति के खिलाफ हैं। पारंपरिक रूप से हम आहिस्ता चलने वाले लोग हैं लेकिन जब हम आगे चलने की सोच लेते हैं तो फिर बहुत तेजी से चलते हैं और लंबे कदमों से रास्ता तय करते हैं। कोई भी जीवित पदार्थ अपने जीवनकाल में क्रांतियों से अपने को एकदम अलग नहीं रख सकता। (सितंबर 1920 में कलकत्ता में आयोजित राष्ट्रीय कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में अध्यक्ष पद से लाजपतराय का भाषण)

जहां तक बुनियादी मुद्दों की बात है, कांग्रेस अध्यक्ष का विश्लेषण सही था। कांग्रेस के प्रवक्ता की घोषणा का आशय यथार्थतः यह था कि क्रांति के इस युग में नेतृत्व के सामने यह समस्या पैदा हो गई है कि वह उभरते आंदोलनों का नेतृत्व किस तरह करे क्योंकि 'वह स्वभाव और परंपरा से क्रांति के खिलाफ है।' अनेक देशों में यह देखने में आया कि युद्ध के बाद जो परिस्थितियां पैदा हुई थीं और युद्ध ने जो अवसर दिए थे उनका लाभ इसलिए नहीं उठाया जा सका क्योंकि उन देशों में राजनीतिक आंदोलन इतने परिपक्व नहीं थे जितने होने चाहिए थे। युद्ध के बाद की भारतीय परिस्थिति का अंतर्विरोध भी यही है।

यही वह परिस्थिति थी जब 1920 में गांधी और कांग्रेस नेतृत्व के प्रमुख लोगों ने (इस समय तक नरम दली नेता कांग्रेस छोड़ चुके थे) अपना मोर्चा निर्णायक रूप से बदल दिया।

उन्होंने सुधारों से सहयोग करने की बात ताक पर रख दी, उभरते जनआंदोलनों का नेतृत्व संभालने का संकल्प किया और इस उद्देश्य के लिए 'अहिंसात्मक असहयोग' की योजना तैयार की। इसके बाद से जनसंघर्षों का नेतृत्व कांग्रेस के हाथ में आ गया लेकिन इस नेतृत्व के लिए यह कीमत चुकानी पड़ी कि संघर्ष सदा 'अहिंसात्मक' रहेगा।

सितंबर 1920 में कांग्रेस ने कलकत्ता के अपने विशेष अधिवेशन में अहिंसात्मक असहयोग की नई योजना को स्वीकार किया। इसका विरोध हुए बिना नहीं रहा पर इसको अमल में लाने के लिए गांधी और मोतीलाल नेहरू तथा जुझारू मुस्लिम नेता अली बंधुओं के बीच एक गठबंधन हुआ और कार्यान्वित किया गया। अली बंधु उस समय के काफी मजबूत आंदोलन खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे (यह आंदोलन वैसे तो तुर्की के साथ सेव्रेज की संधि के द्वारा किए गए अन्याय का विरोध करने के लिए था लेकिन व्यवहार में इसने मुस्लिम जनता के असंतोष को एक सूत्र में बांधने का काम किया)। प्रस्ताव में घोषणा की गई कि, 'महात्मा गांधी द्वारा छेड़े गए प्रगतिशील अहिंसात्मक आंदोलन को तब तक चलाया जाएगा जब तक उपर्युक्त खामियों का निराकरण नहीं कर लिया जाता और स्वराज की स्थापना नहीं हो जाती।' इस नीति को कई चरणों से गुजरना था और इसकी शुरुआत सरकार द्वारा दी गई उपाधियों को त्यागने तथा तीन तरह के बहिष्कार (विधान सभाओं, कानूनी अदालतों तथा शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार) से होने वाली थी। इसके साथ ही 'घर घर में चरखा और करघा फिर से चालू करने' की बात थी। आंदोलन के अंतिम चरण में भविष्य में किसी समय से कर न देने का अभियान शुरू करने की योजना थी। आगे चलकर यह देखा गया कि तुरंत जो कदम उठाए गए वे मध्यवर्गीय लोगों, वकीलों और छात्रों द्वारा उठाए गए कदम थे जबकि आम जनता के जिम्मे केवल 'चरखा कातने और करघा चलाने' का काम सौंपा गया। कर न देने का अभियान (जिसका अर्थ अनिवार्य रूप से लगान न देने का अभियान था) जिसमें जनता की सक्रिय भूमिका हो सकती थी, बाद के लिए टाल दिया गया।

नवंबर में नई विधानसभाओं के चुनाव का बहिष्कार किया गया और इसमें काफी सफलता मिली। इस चुनाव में दो तिहाई मतदाताओं ने भाग नहीं लिया। शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार को भी काफी सफलता मिली, भारी संख्या में छात्रों ने जोश के साथ असहयोग आंदोलन में हिस्सा लिया। वकीलों द्वारा किया गया बहिष्कार कम सफल रहा। मोतीलाल नेहरू और सी०आर० दास जैसे कुछ प्रमुख वकीलों ने अदालतों के बहिष्कार में भाग लिया।

दिसंबर 1920 में नागपुर में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में कांग्रेस का नया कार्यक्रम अंतिम तौर पर पारित कर दिया गया। प्रस्ताव पर लगभग सर्वसम्मति थी। इस बार कांग्रेस के सिद्धांत में तब्दीली आई। अब उसने साम्राज्य के अधीन रहते हुए औपनिवेशिक स्वायत्त सरकार की स्थापना के अपने लक्ष्य को छोड़कर नया लक्ष्य अपनाया जो 'शांति-

पूर्ण और वैधानिक उपायों से स्वराज प्राप्त करना' था। कांग्रेस के संगठन का भी स्वरूप बदला! पहले कांग्रेस का संगठन बड़ा ढीलाढाला था पर अब उसने अपने संगठन को काफी आधुनिक बना लिया, कांग्रेस की इकाइयां हर गांव और मुहल्ले में कायम की गईं और 15 सदस्यों की एक स्थाई कार्यकारिणी ('कार्य समिति') बनाई गई।

गांधी द्वारा शुरू किए गए नए कार्यक्रम और नीति से राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक बहुत बड़ा कदम उठाया। अब कांग्रेस एक ऐसी राजनीतिक पार्टी बन गई थी जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जनसंघर्ष का नेतृत्व करने को उठ खड़ी हुई थी। यहां से प्रगति करते करते कांग्रेस इस स्थिति (जिसे देखकर प्रारंभिक दिनों के उग्र राष्ट्रवादी भी हैरान हो गए) तक पहुंच गई कि वह राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य केंद्रबिंदु बन गई।

लेकिन इस नए कार्यक्रम और इस नई नीति में एक और तत्व भी था जो जनसंघर्ष से अपरिचित था। यह तत्व था निम्न पूंजीवादी नैतिकतापूर्ण निराधार चिंतन तथा सुधारवादी शांतिवाद का जिसकी अभिव्यक्ति बड़े मासूम लगने वाले शब्द 'अहिंसा' में हुई। गांधी ने इस शब्द का इस्तेमाल समूची धार्मिक एवं दार्शनिक अवधारणा को व्यक्त करने के लिए किया। उन्होंने इस विचारधारा का प्रचार-प्रसार बड़ी वाक्पटुता और निष्ठा के साथ किया। गांधी की विचारधारा कुछ मामलों में भारत की पुरानी निराधार चिंतनधारा जैसी थी पर उसका घनिष्ठ संबंध ताल्सताय, थोरो और इमर्सन जैसे पश्चिम के आधुनिक विचारकों के चिंतन के साथ था। अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में जब गांधी विदेश में थे तब इन दार्शनिकों के विचारों का काफी प्रभाव था और गांधी की विचारधारा के निर्माण में इन विचारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। गांधी के उन अनेक सहयोगियों ने भी अहिंसा के सिद्धांत को स्वीकार किया जो गांधी की दार्शनिक अवधारणाओं से सहमत नहीं थे। इसकी वजह यह थी कि उन्होंने सोचा कि दुश्मन के रूप में एक शक्तिशाली सशस्त्र शासक वर्ग से निहत्थी जनता की लड़ाई शुरू कराने के लिए अहिंसा के इस हथियार का सहारा लिया जा सकता है। लेकिन बाद की घटनाओं के अनुभवों और अहिंसा शब्द की नित नई व्याख्याओं से यह स्पष्ट हो गया कि वस्तुतः ऊपर से यह शब्द बहुत निर्दोष, मानवीय और उपयोगी लगता है पर इसके पीछे न केवल अंतिम संघर्ष को नकारने की बात छिपी है बल्कि तात्कालिक संघर्ष को रोकने की भी बात छिपी है क्योंकि हमेशा आम जनता के हितों को बड़े बुजुर्आवर्ग और जमींदारवर्ग के हितों के साथ जोड़ने की कोशिश की गई। भारत का बड़ा पूंजीपतिवर्ग और जमींदारवर्ग निश्चय ही किसी भी निर्णायक जनसंघर्ष के खिलाफ था। यही वह अंतर्विरोध था जिसके कारण अपनी महान उपलब्धियों के बावजूद पहली बार और दस साल बाद दूसरी बार भी जब पहले से बड़े पैमाने पर संघर्ष छेड़ा गया, आंदोलन को सफलता नहीं मिली। इसी अंतर्विरोध के कारण स्वराज की प्राप्ति भी नहीं हो सकी जबकि नेताओं ने जनता से वायदा किया था कि नई नीति अपनाने पर स्वराज की प्राप्ति शीघ्रतापूर्वक हो सकेगी।

स्वराज प्राप्ति का काम तेज करने के लिए कांग्रेस ने सरकार के विरुद्ध संघर्ष चलाने का जो नया जुझारू कार्यक्रम अपनाया, उससे जनआंदोलन ने और जोर पकड़ा। गांधी ने बहुत दृढ़ और निश्चित शब्दों में एक भविष्यवाणी की जिसमें उन्होंने यह अविवेकपूर्ण वायदा किया कि स्वराज की प्राप्ति 12 महीनों के अंदर हो जाएगी (यह वायदा, हालांकि, बड़ा बचकाना था फिर भी उन दिनों कुछ ऐसा उत्साहपूर्ण वातावरण था कि गांधी के अनुयायियों को इस वायदे के पूरा होने का पक्का यकीन था)। 12 महीनों की सीमा का अर्थ यह था कि 31 दिसंबर 1921 तक स्वराज मिल जाएगा। गांधी ने तो सितंबर 1921 में एक सम्मेलन में यहां तक कह डाला कि, 'यह वर्ष खत्म होने से पहले तक स्वराज प्राप्त करने के बारे में मैं इस हद तक निश्चित हूं कि यदि स्वराज नहीं मिला तो 31 दिसंबर के बाद मैं जीवित रहने की कल्पना ही नहीं कर सकता।' (सुभाषचंद्र बोस, 'दि इंडियन स्ट्रगल', पृष्ठ 84) लेकिन इस तिथि के बाद भी गांधी अनेक वर्षों तक सक्रिय राजनीति में रहे हालांकि उन्हें स्वराज देखने का सौभाग्य तक नहीं मिला।

गांधी ने अपनी विजय की तिथि तो स्पष्ट कर दी थी पर उनके अभियान का कार्यक्रम स्पष्ट नहीं था। 'हिस्ट्री आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस' में लिखा है :

> जनता का आकर्षण जिस चीज में था वह था सामूहिक रूप से किया जाने वाला सविनय अवज्ञा आंदोलन। यह कैसा आंदोलन था, इसका क्या रूप होगा ? स्वयं गांधी ने न तो कभी इसे परिभाषित किया, न इसकी व्याख्या की और न वह खुद भी इसका कोई स्वरूप स्पष्ट कर सके। कोई कुशाग्र बुद्धि का व्यक्ति ही एक एक कदम चलने के बाद समझ सकता था कि इस आंदोलन की दिशा क्या है। यह ठीक वैसे ही था जैसे कोई राहगीर किसी घने अंधेरे जंगल में रास्ते की तलाश में तब तक भटकता रहे जब तक कहीं से कोई प्रकाश की किरण उसे न दिखाई दे। (हिस्ट्री आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, 1935, पृष्ठ 376)

सुभाष बोस ने अपनी पुस्तक 'दि इंडियन स्ट्रगल 1920-1934' में बताया है कि किस प्रकार 1921 के उन महत्वपूर्ण दिनों में उन्होंने एक नौजवान शिष्य के रूप में महात्मा गांधी से पहली बार मुलाकात की थी और घोर निराशा का अनुभव किया था। उन्होंने सारी बातों की 'स्पष्ट जानकारी' चाही थी। उन्होंने जानना चाहा था कि 'उनकी (गांधी की) योजना किन किन चरणों से गुजरेगी और उसे किस प्रकार कदम ब कदम बढ़ाया जाएगा जिससे अंततोगत्वा विदेशी नौकरशाही से सत्ता पर कब्जा किया जा सकेगा।' लेकिन सुभाष बोस को गांधी कोई जवाब न दे सके :

> वह सचमुच चाहते क्या थे, यह मैं नहीं समझ सका। या तो वह अपनी सारी योजनाओं को गुप्त रखना चाहते थे और समय से पहले कुछ बताना नहीं चाहते थे या उनके दिमाग में यह बात साफ नहीं थी कि सरकार को पलटने के लिए कौनसी

> कार्यनीति अपनाई जाए। (सुभाष बोस : 'दि इंडियन स्ट्रगल 1920-1934', पृष्ठ 68)

जवाहरलाल नेहरू ने गांधी की 'दिलचस्प अस्पष्टता' के बारे में लिखा है :

> यह बात जाहिर थी कि हमारे अधिकांश नेताओं की निगाह में स्वराज का अर्थ स्वतंत्रता से कोई काफी छोटी चीज थी। दिलचस्प बात यह है कि गांधी जी खुद भी इस प्रश्न पर साफ नहीं थे और वह दूसरों को कोई स्पष्ट समझ बनाने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते थे। (जवाहरलाल नेहरू : 'आत्मकथा', पृष्ठ 76)

फिर भी, नेहरू के अनुसार :

> हम सब यह महसूस करते थे कि वह एक महान और अद्भुत व्यक्ति हैं और एक तेजस्वी नेता हैं। हम उन पर पूरी तरह विश्वास करते थे और कम से कम उस समय सब कुछ करने का अधिकार हमने उन्हें दे दिया था। (वही, पृष्ठ 73)

1921 में आंदोलन की प्रगति का पता केवल इसी तथ्य से नहीं चलता कि लोग जोश के साथ असहयोग आंदोलन का साथ दे रहे थे बल्कि देश के सभी भागों में दिनोंदिन बढ़ रहे जनसंघर्ष से भी आंदोलन के विकास की जानकारी मिलती है। असम-बंगाल में रेल कर्मचारियों ने हड़ताल की, मेदिनीपुर में लोगों ने कर न देने का अभियान चलाया, दक्षिण में मलाबार में मोपला विद्रोह हुआ और पंजाब में जुझारू अकालियों ने उन महंतों के खिलाफ आंदोलन चलाया जिन्हें सरकार का संरक्षण प्राप्त था।

1921 के अंतिम दिनों में संघर्ष और भी तेज हो गया। इन सारी स्थितियों को देखकर सरकार काफी चिंतित हो गई और इस बार उसने काफी सोच समझ कर गांधी के विरुद्ध अपने अमोघ अस्त्र का इस्तेमाल किया। कनाट के ड्यूक को वर्ष के शुरू में भारत यात्रा के लिए भेजा गया था, इस बार स्वयं प्रिंस आफ वेल्स को भारत यात्रा के लिए भेजा। सरकार को यह झूठी आशा तो नहीं थी कि इस तरह भारत की जनता खुश हो जाएगी लेकिन रहस्यमय पूर्व का हर अंगरेज विशेषज्ञ यह समझता था कि भारत के लोग किस चीज को सबसे ज्यादा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। सरकार प्रिंस आफ वेल्स को भारत की यात्रा कराकर यह जांच करना चाहती थी कि जनता की भावनाएं इस समय क्या हैं। सरकार ने जो आशा की थी उससे कहीं अधिक ही उसे इस यात्रा का परिणाम देखने को मिला, लेकिन विपरीत दिशा में। 17 नवंबर को जब प्रिंस आफ वेल्स भारत पधारे तो उनका स्वागत एक देशव्यापी हड़ताल से हुआ। जनता की नफरत का ऐसा व्यापक और सफल प्रदर्शन भारत में पहले कभी नहीं हुआ था। जनता के विरोध और सरकार के जबरदस्त दमन के बीच जमकर टक्कर हुई जिसे गांधी ने रोकने की कोशिश की पर उन्हें

कामयाबी नहीं मिली। नतीजा यह हुआ कि गांधी ने यह एलान किया कि स्वराज शब्द से उन्हें बदबू आने लगी है।

इसी समय से राष्ट्रीय सेवा दल (नेशनल वालंटियर) का आंदोलन तेज होने लगा। दल के स्वयंसेवक अब भी 'अहिंसात्मक सहयोग' के सिद्धांत के आधार पर कांग्रेस या खिलाफत आंदोलन के ढांचे के अधीन संगठित थे। लेकिन अनेक स्वयंसेवक वर्दियां पहनते थे, कवायद करते थे और विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के लिए पिकेटिंग करने तथा शांतिपूर्ण ढंग से लोगों को समझाने के लिए एवं हड़ताल कराने के लिए जुलूस बनाकर जाते थे।

सरकार ने राष्ट्रीय सेवा दल का दमन करने के लिए अपनी पूरी ताकत लगा दी। 'स्टेट्समैन' और 'इंगलिशमैन' जैसे सरकारी अखबारों ने जोरशोर से यह प्रचार किया कि सेवा दल के स्वयंसेवकों ने कलकत्ता पर कब्जा कर लिया है और सरकार भंग हो गई है। इन अखबारों ने तत्काल कार्यवाही करने की मांग की। सरकार ने सेवा दल को गैरकानूनी संगठन घोषित कर दिया। हजारों की संख्या में गिरफ्तारियां हुईं। हजारों छात्रों और कारखाना मजदूरों ने स्वयंसेवकों की गिरफ्तारी की वजह से रिक्त हुए स्थान को भर दिया। दिसंबर की समाप्ति तक गांधी को छोड़कर कांग्रेस के शेष सभी महत्वपूर्ण नेता गिरफ्तार कर लिए गए। बीस हजार राजनीतिक कैदियों से जेलों को भर दिया गया। अगले वर्ष जब आंदोलन अपनी चरम स्थिति पर पहुंचा तो राजनीतिक बंदियों की संख्या तीस हजार हो गई। लोगों में जोश का तूफान उमड़ पड़ा।

सरकार काफी चिंतित और परेशान हो गई और उसके हाथ पांव फूलने लगे। उसने सोचा कि यदि सार्वजनिक खिलाफत की यह बीमारी शहरों से होकर गांवों की करोड़ों आबादी के बीच पहुंच गई तो ब्रिटिश शासन को कोई नहीं बचा सकता। उसके सारे हवाई जहाज और बारूद गोले भी 30 करोड़ लोगों की क्रोधाग्नि को शांत नहीं कर सकेंगे। इस आशंका से भयभीत होकर वायसराय ने जेल में राजनीतिक बंदियों से सुलह समझौता करना शुरू किया। इसके लिए उसने पंडित मदनमोहन मालवीय की मध्यस्थता का सहारा लिया। वायसराय ने यह प्रस्ताव रखा कि यदि वे सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस ले लें तो राष्ट्रीय सेवा दल को कानूनी संगठन के रूप में मान्यता दे दी जाएगी और राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया जाएगा। लेकिन कोई समझौता नहीं हो सका।

इन्हीं परिस्थितियों में, वर्ष के अंत में अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस समय तक गांधी ही लगभग एकमात्र नेता बच रहे थे। बंगाल के बहादुर नेता सी०आर० दास, जिन्हें अधिवेशन की अध्यक्षता करनी थी, जेल में थे इसलिए गांधी एक अंगरेज पादरी को अपने साथ ले आए जिन्हें अधिवेशन की कार्यवाही शुरू करने से पहले कांग्रेस

के नाम एक धार्मिक संदेश देना था। लेकिन उन्होंने इस अवसर का फायदा उठाया और विदेशी कपड़े की होली जलाए जाने के विरुद्ध एक प्रवचन दे डाला।

अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन ने एक जोशपूर्ण वातावरण में अनेक प्रस्ताव पारित किए जिनमें यह घोषणा की गई थी कि 'जब तक स्वराज की स्थापना नहीं हो जाती और जनता के हाथों में शासन की बागडोर नहीं पहुंच जाती तब तक कांग्रेस अहिंसक असहयोग आंदोलन और भी शक्ति के साथ जारी रखने के लिए कृतसंकल्प है।' अठारह वर्ष की आयु से अधिक के सभी लोगों से अपील की गई कि वे राष्ट्रीय सेवा दल में भरती हों और इस लक्ष्य को पूरा करने का संकल्प किया गया कि 'सारा ध्यान सविनय अवज्ञा आंदोलन पर दिया जाएगा, भले ही यह आंदोलन सार्वजनिक हो या व्यक्तिगत, इसका स्वरूप सुरक्षात्मक हो या आक्रामक।' इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 'महात्मा गांधी को कांग्रेस का एकमात्र अधिकारी' बनाकर सारे अधिकार उनके हाथ में दे दिए गए। गांधी अब कांग्रेस के डिक्टेटर या एकछत्र नेता हो गए। आंदोलन अपने शिखर पर था। विजय प्राप्ति के लिए उनके हाथों में समस्त अधिकार दे दिए गए। बड़े पैमाने पर सत्याग्रह छेड़ने के लिए अंतिम शक्ति परीक्षा की घड़ी आ गई थी। सारे देश की निगाह गांधी की ओर लगी थी। लोग देख रहे थे कि वह अब क्या करते हैं ?

राष्ट्रीय उत्साह और आशा के इस जोशीले वातावरण में कांग्रेस का केवल एक व्यक्ति ऐसा था जो तत्कालीन घटनाक्रम को देखकर चिंतित और अप्रसन्न था। वह व्यक्ति थे गांधी। उनका यह आंदोलन, जिस रास्ते की उन्होंने कल्पना की थी उस रास्ते पर नहीं बढ़ रहा था। ऐसा लगता था जैसे कहीं कुछ गड़बड़ हो गई हो। यह तो वह रमणीय और दार्शनिक 'अहिंसात्मक' आंदोलन नहीं था जिसकी उनके दिमाग में तस्वीर थी। ऐसा लग रहा था जैसे उन्होंने किसी दैत्य के बंधन खोल दिए हों। आंदोलन में गलत किस्म के लोग घुसते जा रहे थे। उतावले किस्म के लोगों ने, जिनमें खास तौर पर गांधी के मुसलमान साथी थे, यहां तक मांग करनी शुरू कर दी थी कि 'अहिंसा' का रास्ता छोड़ दिया जाए। 1921 के अंतिम दिनों में, जब हजारों लाखों देशभक्त सिपाही गांधी की जयजयकार करते हुए जेल जा रहे थे तब गांधी अपनी घबराहट और नफरत व्यक्त कर रहे थे और कह रहे थे कि उन्हें स्वराज शब्द से बदबू आने लगी है।

अहमदाबाद में कांग्रेस ने पीछे हटना शुरू किया। लेकिन यह क्रिया अभी खुलकर सामने नहीं आई क्योंकि देश में आसन्न लड़ाइयों की आशंका से तनाव था और हजारों लोग इस लड़ाई में शिरकत करने के लिए तैयार थे। लेकिन इस बात के छोटे मोटे संकेत वहां मौजूद थे कि कांग्रेस पीछे हटने जा रही है। कांग्रेस का अहमदाबाद अधिवेशन अपने आप में एक ऐतिहासिक अवसर था जब देश भर में व्यापक और आम सत्याग्रह के सूत्रपात की घोषणा की जा सकती थी, जनता भी इसी क्षण का इंतजार कर रही थी। यही वह क्षण था जब विजय के लिए अंतिम संघर्ष की रणभेरी बजाई जा सकती थी। अहमदाबाद

कांग्रेस के नाम भारत की नवगठित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने संदेश में कहा :

> यदि कांग्रेस उस क्रांति का नेतृत्व करना चाहती है जो भारत को उसकी नींव से हिला रही है तो उसे केवल प्रदर्शनों और अस्थाई जोश पर ही भरोसा नहीं करना चाहिए। उसे मजदूर संघों की तात्कालिक मांगों को अपनी मांगें बना लेना चाहिए, उसे किसान सभा के कार्यक्रम को अपना कार्यक्रम घोषित करना चाहिए और तब वह दिन दूर नहीं जब कांग्रेस सारी बाधाएं दूर कर ले। तब अपने भौतिक हितों के लिए सचेतन ढंग से लड़ रही समस्त जनता की विपुल शक्ति कांग्रेस के पीछे होगी। (राष्ट्रीय कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन के नाम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, 1921)

संघर्ष शुरू करने का आवाहन अहमदाबाद अधिवेशन में नहीं किया गया। इतना ही नहीं सजग प्रेक्षकों ने गौर किया कि अहमदाबाद के प्रस्ताव में 'कर न देने' का कहीं भी जिक्र नहीं होने दिया गया है। आम सत्याग्रह का जहां जहां जिक्र आता था वहां वहां उसे बेशुमार अगर मगर की शर्तों से गोलमोल कर दिया गया था : कहीं 'उचित सुरक्षा उपायों के तहत' तो कहीं 'आंदोलन के लिए जारी आवश्यक निर्देशों के अंतर्गत' और कहीं 'जनता द्वारा अहिंसा का तरीका पर्याप्त रूप से सीख लिए जाने के बाद ही' आंदोलन छेड़ने की बात थी। इसके बाद रिपब्लिकन मुस्लिम नेता मौलाना हजरत मोहानी वाली घटना हुई। उन्होंने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें कहा गया था कि स्वराज का अर्थ 'पूर्ण स्वाधीनता है जिसमें संपूर्ण विदेशी नियंत्रण से मुक्ति मिल जाएगी।' गांधी ने इस प्रस्ताव का जबरदस्त विरोध किया ('इस प्रस्ताव से मुझे तकलीफ हुई है क्योंकि इसमें जिम्मेदारी की भावना का अभाव है।') और प्रस्ताव को नामंजूर करा दिया।

भारत सरकार आंखें फाड़कर अहमदाबाद की कार्यवाहियां देख रही थी। उसने उन छोटे छोटे सकेतों को पहचाना जो अहमदाबाद में अभिव्यक्त हुए थे और राहत की सांस ली। वायसराय ने लंदन स्थित भारतीय मामलों के मंत्री के पास एक तार भेजा :

> बड़े दिन की छुट्टियों में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। गांधी पर बंबई के दंगों ने गहरा असर डाला था, इस बात का पता उनके उस समय दिए गए भाषणों से चलता है। इन दंगों से उन्हें यह आशंका पैदा हुई कि आम सत्याग्रह शुरू करने पर काफी उग्र स्थिति पैदा हो सकती है। अधिवेशन में पारित प्रस्तावों को देखने से भी इसी तथ्य का पता चलता है क्योंकि इन प्रस्तावों में न सिर्फ खिलाफत पार्टी के सर्वाधिक उग्रवादी लोगों का यह सुझाव नहीं माना गया है कि कांग्रेस को अहिंसा की नीति छोड़ देनी चाहिए बल्कि उनमें यह घोषणा करते हुए कि दिल्लीवाली शर्तें पूरी हो जाने पर सत्याग्रह

शुरू किया जाए, कहीं पर भी कर न देने के अभियान का जिक्र नहीं है।
('टेलीग्राफिक करेसपोंडेंस रिगार्डिंग दि सिच्यूएशन इन इंडिया', 1922)

गांधी के सामने अब कौन सा रास्ता है ? अहमदाबाद का कांग्रेस अधिवेशन कोई योजना निर्धारित किए बिना समाप्त हो गया। सारी योजनाएं गांधी के ऊपर छोड़ दी गईं। जब पेरिस चारों तरफ से घेर लिया गया था उस समय पेरिस निवासी यह कहकर अपने को आश्वस्त करते थे कि 'जनरल त्रोचू ने अवश्य ही कोई योजना तैयार की होगी।' भारतीय जनता की स्थिति भी इसी तरह की थी। एक तरफ तो वह साम्राज्यवादियों के जबरदस्त दमन का शिकार हो रही थी और दूसरी तरफ गांधी की ओर आशाभरी निगाह से देख रही थी कि वह जल्दी ही अपनी कोई योजना शुरू करेंगे।

लेकिन गांधी ने एक अजीब रवैया अपनाया। एक महीने तक वह चुपचाप इंतजार करत रहे। इस बीच विभिन्न जिलों के लोगों ने गांधी को लिखा कि वे कर न देने का आंदोलन जल्दी शुरू करें लेकिन गांधी ने इन लोगों को ऐसी कोई अनुमति नहीं दी। गुंटूर जिले के लोगों ने गांधी की अनुमति के बिना ही यह आंदोलन शुरू कर दिया। इसपर गांधी ने फौरन ही जिले के कांग्रेस अधिकारियों को लिखा कि निर्धारित तिथि तक सारे कर जमा कर दिए जाएं। इसके बाद उन्होंने एक छोटे से जिले बारदोली में कर न देने का अपना अभियान शुरू करने का निश्चय किया। इस जिले की आबादी 87,000 अर्थात भारत की कुल आबादी का चार हजारवां हिस्सा थी। यहां गांधी ने बड़ी सतर्कता के साथ 'अहिंसात्मक' स्थितियां तैयार की थीं। जिस समय पूरा देश गांधी के नेतृत्व की आशा लगाए बैठा था, उस समय उन्होंने बारदोली जैसे छोटे इलाके में अपने आपको सीमित कर लिया था। 1 फरवरी को उन्होंने वायसराय के पास अपना अल्टीमेटम भेजा जिसमें यह कहा गया था कि यदि राजनीतिक बंदियों को रिहा नहीं किया जाता और दमनात्मक तरीके छोड़े नहीं जाते तो 'व्यापक स्तर पर सत्याग्रह' शुरू कर दिया जाएगा जो खास तौर से बारदोली से शुरू होगा। गांधी के इस अल्टीमेटम के कुछ ही दिनों बाद यह खबर आई कि संयुक्त प्रांत (उत्तरप्रदेश) में गुस्से से भरे किसानों ने वहां के थाने पर हमला करके उसे जला दिया है और समूचा थाना आग में जलकर स्वाहा हो गया है। किसानों में असंतोष बढ़ने की यह घटना भारत की क्रांति के लिए निश्चय ही एक निर्णायक स्थिति का संकेत देती है लेकिन इस घटना से गांधी ने यह सोचा कि अब ज्यादा देर तक रुकने का समय नहीं है। उन्होंने जल्दी जल्दी 12 फरवरी को बारदोली में कांग्रेस की कार्य समिति की बैठक बुलाई और इस बैठक में यह फैसला किया गया कि 'चौरीचौरा में जनता की अमानवीय हरकत' को देखते हुए न सिर्फ आम सविनय अवज्ञा आंदोलन को बल्कि उसके प्रचार सहित समूचे आंदोलन को ही बंद कर दिया जाए। यह भी फैसला किया गया कि स्वयंसेवकों के जुलूस निकालने, सरकारी प्रतिबंध को तोड़कर सभाएं करने आदि गतिविधियों को रोक दिया जाए और इसके बदले चरखा, शराबबंदी और

शिक्षा से संबंधित 'रचनात्मक' कार्य किया जाए। इसका अर्थ यह हुआ कि लड़ाई रोक दी गई। पूरा आंदोलन समाप्त हो गया। खोदा पहाड़ निकली चुहिया।

बारदोली के फैसले से कांग्रेस के सभी लोग हतप्रभ रह गए, यह कहने मात्र से उनकी सही सही भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अंगरेज पाठकों को समझाने के लिए यह कहा जा सकता है कि 1922 में भारत में बारदोली के फैसले का यही असर हुआ था जो 1926 में इंग्लैंड में आम हड़ताल वापस ले लेने का हुआ था।

> जिस समय जनता में उत्साह और जोश उबला पड़ रहा था ठीक उसी वक्त पीछे हटने का आदेश देना संपूर्ण राष्ट्र के लिए महान दुर्घटना थी। महात्मा गांधी के प्रमुख सहयोगियों देशबंधु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय ने, ये सब जेल में थे, आम जनता की ही तरह इस फैसले पर गहरा असंतोष व्यक्त किया। मैं उस समय देशबंधु के साथ था और मैं यह देख पा रहा था कि वह क्रोध और दुःख से व्याकुल हो रहे थे। (सुभाषचंद्र बोस : 'दि इंडियन स्ट्रगल', पृष्ठ 90)

मोतीलाल नेहरू, लाजपत राय तथा अन्य नेताओं ने गांधी के फैसले के विरोध में जेल से लंबे और बड़े रोषपूर्ण पत्र भेजे लेकिन गांधी ने बड़े निश्चल भाव से यह प्रतिक्रिया व्यक्त की कि जेल में पड़े लोग 'नागरिकता की दृष्टि से मृत हो चुके हैं' और नीति के मामले में उन्हें कुछ कहने का अधिकार नहीं है।

समूचा आंदोलन, जिसका संगठन ही इस आधार पर हुआ था कि जनता की किसी तरह की स्वतःस्फूर्त गतिविधियों को पूरी तरह हतोत्साहित किया जाए और एक व्यक्ति के आदेशों का यंत्रवत पालन किया जाए, बारदोली के फैसले से अनिवार्य रूप से एक तरह की लाचारी, उलझन और पस्तहिम्मती का शिकार हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने बारदोली के फैसले का समर्थन करते हुए यह तर्क पेश किया था कि यदि आंदोलन को रोका न जाता तो यह हाथ से निकल जाता और निश्चित रूप से सरकार के विरुद्ध हिंसा और रक्तपात का रास्ता अख्तियार कर लेता। लेकिन जवाहरलाल नेहरू को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि जिस ढंग से यह फैसला किया गया उससे :

> कुछ पस्तहिम्मती आई। यह भी संभव है कि इतने बड़े आंदोलन को अचानक रोक देने से देश में एक के बाद एक दुःखद घटनाओं का क्रम शुरू हुआ। राजनीतिक संघर्ष में छिटपुट और निरर्थक हिंसा की प्रवृत्ति तो रुक गई किंतु इस दबी हुई हिंसा को कोई रास्ता तो ढूंढना ही था और बाद के वर्षों में शायद इसने ही सांप्रदायिक दंगों को बढ़ावा दिया। (जवाहरलाल नेहरू, 'आत्मकथा', पृष्ठ 86)

आंदोलन को इस तरह अपंग बना दिए जाने के बाद सरकार ने पूरे आत्मविश्वास के साथ

हमला किया। 10 मार्च को गांधी को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें छः वर्ष कैद की सजा दी गई लेकिन इससे कहीं छोटा मोटा जनआंदोलन भी नहीं हुआ। सरकार ने दो वर्ष के भीतर ही गांधी को रिहा कर दिया। इस समय तक संकट समाप्त हो चुका था।

बारदोली फैसले को लेकर और इस फैसले के बाद छः वर्षों तक राष्ट्रीय आंदोलन पर इसके गंभीर परिणामों के प्रश्न पर काफी बहसें हुई। बारदोली के फैसले के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इस फैसले की असली वजह केवल चौरीचौरा कांड न थी जैसाकि आधिकारिक तौर पर बताया जाता है बल्कि इस फैसलें का कारण कुछ और ही था जो चौरीचौरा कांड से ज्यादा गंभीर था। वस्तुतः वह समय आ गया था जब आंदोलन को रोकना जरूरी हो गया था क्योंकि 'ऊपर से हमारा आंदोलन बहुत मजबूत दिखाई देता था और लगता था कि इस आंदोलन को लेकर लोगों में काफी जोश है लेकिन यह अंदर से टुकड़े टुकड़े हो रहा था' (नेहरू, आत्मकथा, पृष्ठ 85)। प्रश्न किया जा सकता है कि आंदोलन किन अर्थों में 'टुकड़े टुकड़े' हो रहा था।' यदि इसका अर्थ यह है कि आंदोलन पर सुधारवादियों और शांतिवादी विचारधारा के लोगों की पकड़ ढीली पड़ रही थी तो यह निस्संदेह रूप से सही है। लेकिन आंदोलन के विकास के फलस्वरूप यह होना ही था और यदि ऐसा न होता तो भविष्य में आंदोलन सफल नहीं हो सकता था। (नेहरू ने यह मान लिया था कि सारे देश में जनविद्रोह होने पर ब्रिटिश सरकार की जीत होती जबकि सरकार को अपनी जीत का इतना विश्वास नहीं था)। दूसरी ओर यदि आंदोलन के टुकड़े टुकड़े होने का अर्थ यह है कि जनसंघर्ष अपने उच्च स्तर से गुजर चुका था और अब वह कमजोर पड़ने लगा था तो यह बात निश्चय ही गलत है और बारदोली फैसले का समर्थन करने वाले भी इस बात का दावा नहीं करते थे। इसका सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि स्वयं भारत सरकार ने बारदोली के दुर्भाग्यपूर्ण फैसले के तीन दिन पहले वास्तविक स्थितियों का बिलकुल दूसरा ही मूल्यांकन किया था। 9 फरवरी 1922 को वायसराय ने एक तार लंदन भेजा था जिसमें उन्होंने लिखा था :

> शहरों के निम्न वर्गों पर असहयोग आंदोलन का गहरा असर पड़ा है···कुछ क्षेत्रों में खास तौर पर असम घाटी, संयुक्त प्रांत, बिहार और उड़ीसा तथा बंगाल में किसानों पर भी प्रभाव पड़ा है। जहां तक पंजाब का सवाल है, अकाली आंदोलन···देहात में रहने वाली सिख जनता तक पहुंच गया है। देश भर में मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग नाराज हो गया है और कुढ़ रहा है···स्थिति काफी खतरनाक है···भारत सरकार, अभी तक जैसी अव्यवस्था फैली है उससे भी गंभीर अव्यवस्था का सामना करने के लिए तैयार बैठी है। सरकार इस बात को बिलकुल ही छिपाना नहीं चाहती कि देश की मौजूदा हालत से वह काफी चिंतित है। (9 फरवरी 1922 को भारतीय मामलों के मंत्री के नाम वायसराय

का संदेश, 'टेलीग्राफिक करेसपोंडेंस रिगार्डिंग दि सिच्यूएशन इन इंडिया' सी एम डी 1586, 1922)

12 फरवरी को जब बारदोली के फैसले से समूचा आंदोलन रोक दिया गया, उससे तीन दिन पहले भारत सरकार ने देश की स्थिति की यह तस्वीर खींची थी।[2]

गुंटूर के उदाहरण से यह काफी स्पष्ट हो जाता है कि जनता कितने अनुशासित ढंग से आंदोलन चला रही थी और निर्णायक लड़ाई के लिए किस सीमा तक तैयार थी। गुंटूर में गांधी के आदेशों के बावजूद एक गलतफहमी के कारण कर न देने का आंदोलन शुरू कर दिया गया था। जब तक गांधी के पास से आंदोलन रोकने का आदेश नहीं आया तब तक गुंटूर में सरकार पांच प्रतिशत भी कर वसूल नहीं पाई थी। कांग्रेस के केंद्र से आदेश मिलने की देर थी और देश भर में यह प्रक्रिया शुरू हो जाती तथा जनता भूमि कर और लगान देने से इंकार कर देती। लेकिन इस प्रक्रिया के फलस्वरूप केवल साम्राज्यवाद का ही नहीं बल्कि जमींदारी प्रथा का भी नाश हो जाता।

बारदोली के फैसले के पीछे इन्हीं बातों पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया था। इसका सबूत फैसले के मूल पाठ से ही मिल जाता है। 12 फरवरी को कार्य समिति द्वारा बारदोली में जो प्रस्ताव पारित किया गया था वह इतना महत्वपूर्ण है कि उसे यहां पूरा का पूरा उद्धृत कर देना उचित होगा। इस फैसले का सावधानी के साथ अध्ययन करने से भारत के राष्ट्रीय आंदोलन की शक्तियों और अंतर्विरोधों को समझने में काफी मदद मिलेगी। बारदोली के प्रस्ताव की प्रमुख धाराएं निम्न हैं :

> परिच्छेद 1 : कार्यसमिति चौरीचौरा में उपद्रवी भीड़ द्वारा किए गए अमानवीय आचरण की निंदा करती है जिसमें कांस्टेबलों की निर्मम ढंग से हत्या की गई और बिना सोचे समझे पुलिस थाने को जला दिया गया।
>
> परिच्छेद 2 : जब भी सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत की जाती है, हिंसात्मक उपद्रव होने लगते हैं जिससे पता चलता है कि देश अभी पर्याप्त रूप से अहिंसक नहीं हुआ है। इसलिए कांग्रेस कार्यसमिति फैसला करती है कि व्यापक सविनय अवज्ञा आंदोलन…फिलहाल स्थगित कर दिया जाए और वह स्थानीय कांग्रेस समितियों को निर्देश देती है कि वे किसानों को सरकार को लगान तथा दूसरे कर अदा करने की सलाह दें और हर तरह की आक्रामक कार्यवाहियां बंद कर दें।
>
> परिच्छेद 3 : सविनय अवज्ञा का व्यापक आंदोलन उस समय तक स्थगित रहेगा जब तक देश का वातावरण इतना अहिंसक नहीं हो जाता कि इस बात की

गारंटी हो जाए कि अब गोरखपुर जैसी बर्बरता या बंबई और मद्रास में क्रमशः 17 नवंबर और 13 जनवरी को हुई गुंडागर्दी की घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं होगी।

परिच्छेद 5 : सरकारी आदेशों का उल्लंघन करके जुलूस निकालना और सभाएं करना बंद कर देना चाहिए।

परिच्छेद 6 : कार्यसमिति कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और संगठनों को सलाह देती है कि वे रैयत (किसानों) को यह सूचित कर दें कि जमींदारों को लगान न देना कांग्रेस के प्रस्तावों और देश के हितों के खिलाफ है।

परिच्छेद 7 : कार्यसमिति जमींदारों को इस बात का आश्वासन देती है कि कांग्रेस के आंदोलन का उद्देश्य किसी भी रूप में उनके कानूनी अधिकारों पर चोट पहुंचाना नहीं है और जहां किसानों को किसी तरह की शिकायत है वहां कार्यसमिति यही चाहेगी कि आपसी सलाह मशविरे से और समझौता वार्ता से मामले को निपटा लिया जाए।

प्रस्ताव से पता चलता है कि उसे पेश करने वालों के मन में विशुद्ध रूप से अहिंसा के सिद्धांत की प्रेरणा नहीं काम कर रही थी। यह ध्यान देने की बात है कि प्रस्ताव को कम से कम तीन परिच्छेदों में (परिच्छेद 2, 6 और 7) खास तौर पर बहुत जोर देकर और एक बहुत ही आवश्यक निर्देश के रूप में किसानों को यह सलाह दी गई है कि उन्हें जमींदारों और सरकार का लगान अदा कर देना चाहिए। यहां हिंसा या अहिंसा का कोई सवाल नहीं पैदा होता। यहां प्रश्न केवल वर्गहितों का है, शोषकों और शोषितों का है। कोई यह नहीं कह सकता कि लगान न देना 'हिंसक' कार्य है। इसके विपरीत यह विरोध प्रकट करने का सबसे शांतिपूर्ण (और सबसे क्रांतिकारी भी) तरीका है। फिर क्यों उस प्रस्ताव में जो हिंसा की भर्त्सना करने के लिए तैयार किया गया था, लगान न देने और जमींदारों के 'कानूनी अधिकारों' के सवाल पर इतना जोर दिया गया? इस सवाल का सिर्फ एक ही जवाब हो सकता है। दरअस्ल 'अहिंसा' की शब्दावली महज एक दिखावा है जिसकी आड़ लेकर जाने अनजाने वर्गहितों की रक्षा की जाती है और वर्ग शोषण को बनाए रखा जाता है।

गांधी के साथ जुड़े कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने आंदोलन को इसलिए रोक दिया था क्योंकि वे जनता में फैल रही व्यापक जागृति से डर गए थे और उनके डर की वजह यह थी क्योंकि उससे उन संपत्तिवान वर्गों के हितों के लिए खतरा पैदा हो रहा था जिनके साथ कांग्रेस के इन वरिष्ठ नेताओं का घनिष्ठ संबंध था। 1922 में राष्ट्रीय आंदोलन के टूटने का कारण 'हिंसा' या 'अहिंसा' का प्रश्न नहीं था बल्कि जनआंदोलनों के विरुद्ध वर्गहितों

का प्रश्न था। यही वह चट्टान थी जिसपर आंदोलन टुकड़े टुकड़े हुआ था। 'अहिंसा' का वास्तविक अर्थ भी यही था।

3. संघर्ष की तीसरी बड़ी लहर, 1930-34

बारदोली में राष्ट्रीय आंदोलन को जो आघात लगा उसके बाद पांच वर्षों तक आंदोलन एकदम पस्त पड़ा रहा। कांग्रेस में भी काफी पस्ती आ गई। 1924 में गांधी ने घोषणा की कि कांग्रेस एक करोड़ लोगों को सदस्य बनाने का लक्ष्य लेकर चली थी किंतु वह दो लाख से ज्यादा सदस्य नहीं बना सकी है: 'हम राजनीतिक लोग सरकार का विरोध करने के अलावा और किसी मामले में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते।' उस वर्ष गांधी ने 'चरखा कातने की शर्त' विधान में रखवा दी थी (इसके अंतर्गत कांग्रेस के चुने हुए संगठनों के सदस्यों को प्रति माह दो हजार गज सूत स्वयं कात कर देना था) लेकिन इसके फलस्वरूप 1925 की सर्दियों तक सदस्यों की संख्या दस हजार ही हो सकी थी। 1925 में इस शर्त को समाप्त कर दिया गया और सूत कातकर देना सदस्यों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। 1925 में 'बांबे क्रानिकल' ने लिखा कि देश में 'गतिरोध और जड़ता की स्थिति फैली हुई है।' उसी वर्ष लाला लाजपत राय ने 'अराजकता और उलझाव' की स्थिति की बात कही। उन्होंने कहा कि 'देश की राजनीतिक स्थिति में तनिक भी आशा और उत्साह के संकेत नहीं हैं। जनता में भयकर रूप से निराशा फैली हुई है। सिद्धांतों, व्यवहार, राजनीतिक पार्टियों और समूची राजनीति हर चीज में एक बिखराव और विघटन की स्थिति व्याप्त है।' राष्ट्रीय आंदोलन की इस निराशाजनक स्थिति में सांप्रदायिक अव्यवस्था के लक्षण देश भर में फैल सके। मुस्लिम लीग ने फिर अपने को कांग्रेस से अलग कर लिया। हिंदू महासभा मुस्लिम लीग के जवाब में अत्यंत संकीर्ण प्रतिक्रियावादी प्रचार करने लगी।

कांग्रेस के नेतृत्व के एक वर्ग ने, जिसका प्रतिनिधित्व चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू कर रहे थे, बारदोली फैसले के बाद एक निर्णायक मोड़ लेने की कोशिश की क्योंकि वे गांधी की नीतियों को अव्यावहारिक समझते थे। उन्होंने कांग्रेस के अंदर रहते हुए ही चुनाव लड़ने और संसदीय स्तर पर नई विधानसभाओं में संघर्ष चलाने के लिए एक नई पार्टी का गठन किया। इस पार्टी का नाम स्वराज पार्टी रखा गया। जन आंदोलनों की कमजोरी को देखते हुए चुनावों का और विधानसभाओं का बहिष्कार समाप्त करने का फैसला निस्संदेह एक प्रगतिशील कदम था। उन कांग्रेस के नपुंसक और दकियानूस नेताओं ने इसका विरोध किया जो कांग्रेस के अंदर 'अपरिवर्तनवादी' माने जाते थे। और जो गांधी के चरखा, शराबबंदी, अछूतोद्धार तथा सामाजिक सुधारों के इस तरह के अन्य 'रचनात्मक कार्यक्रम' को ही मुक्ति का एकमात्र रास्ता समझते थे। लेकिन इन लोगों में कांग्रेस के उस वर्ग को रोकने की ताकत नहीं थी जो अपेक्षाकृत अधिक प्रभावकारी नीति अपनाना चाहता था। 1925 तक कांग्रेस ने स्वराज पार्टी के सामने पूरी तरह और बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। कांग्रेस में स्वराज पार्टी का बहुमत हो गया और इसके

नेताओं ने कांग्रेस का नियंत्रण निर्णायक रूप से अपने हाथों में ले लिया तथा गांधी को थोड़े समय के लिए पृष्ठभूमि में चला जाना पड़ा।

स्वराज पार्टी के नेताओं ने गांधी की नीतियों से जिनके कारण आंदोलन अनिश्चय की स्थिति में फंस गया था, अलग हटने की कोशिश में खुद को जनता से भी दूर कर लिया। गांधी की नीति से सही अर्थों में आगे बढ़ने का तरीका केवल यही था कि उच्चवर्ग के जिन हितों के प्रभुत्व के कारण राष्ट्रीय आंदोलन के साथ विश्वासघात किया गया था उसे हटाकर राष्ट्रीय आंदोलन को एक नए आधार अर्थात राष्ट्र के बहुमत मजदूरों और किसानों के हितों के आधार पर खड़ा किया जाए क्योंकि यही वह वर्ग था जिसका साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने का कोई आधार नहीं था। जहां तक अमूर्त सिद्धांतों की बात है इस नई पार्टी अर्थात स्वराज पार्टी ने यह बात मान ली। चितरंजन दास ने कहा कि 'हम लोग देश के 98 प्रतिशत लोगों के लिए स्वराज्य चाहते हैं।' और उनका यह वक्तव्य देश भर में गूंज उठा। जो नया कार्यक्रम तैयार किया गया उसमें भी सामान्य तौर पर मजदूरों और किसानों के संगठन की आवश्यकता की बात की गई थी। लेकिन व्यवहार में स्वराज पार्टी पूंजीपतिवर्ग के ऊपरी स्तर के प्रगतिशील लोगों की पार्टी थी। उसके अस्तित्व का आधार इन्हीं लोगों का समर्थन था और उसके प्रमुख नेता भी इसी वर्ग के थे। वे लोग मजदूरों और किसानों के हितों के बारे में कितनी ही भावुकतापूर्ण बातें क्यों न करते रहे हों, पर उच्चवर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्हें यह बात बहुत स्पष्ट कर देनी पड़ती थी कि स्वराज पार्टी से जमींदारी प्रथा और पूंजीवाद को कोई खतरा नहीं है। इसलिए स्वराज पार्टी की स्थापना के समय अपने उद्देश्यों की घोषणा करते हुए उन्हें यह बात शामिल करनी पड़ती थी कि 'निजी और व्यक्तिगत संपत्ति को मान्यता दी जाएगी और इसे बने रहने दिया जाएगा, तथा प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अधिकार होगा कि वह चल और अचल दोनों तरह की अपनी व्यक्तिगत संपत्ति को मनमाने ढंग से बढ़ा सकता है।' कार्यक्रम की व्याख्या करते हुए जो बयान दिया गया था उसमें इस 'दुष्प्रचार' का खंडन किया गया था कि स्वराज पार्टी जमींदारों के खिलाफ है। बयान में यह कहा गया था कि 'यह सच है कि हमारी पार्टी काश्तकारों के साथ न्याय करना चाहती है लेकिन यदि जमींदारों के साथ अन्याय हुआ तो उचित न्याय कैसे किया जा सकेगा!'

इसलिए हालांकि स्वराज पार्टी के गठन का उद्देश्य एक कदम आगे बढ़ना था पर व्यवहार में यह क्रांतिकारी ज्वार के उतार का द्योतक था। स्वराज पार्टी प्रगतिशील बुजुर्आवर्ग की पार्टी थी जो संसदवाद की ढालू जमीन पर साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन करने की दिशा में बढ़ रही थी। अपने जन्म से ही स्वराज पार्टी अपने तथाकथित दुश्मन की ओर खिसकने लगी थी। शुरू में कहा गया था कि विधानसभाओं में जाने का उद्देश्य 'निरंतर और समान रूप से बाधा पहुंचाना है।' इस आधार पर 1923 के चुनाव में पार्टी को काफी सफलता मिली और उसने केंद्रीय असेंबली में अकेले सबसे बड़ी और मजबूत पार्टी

का स्थान प्राप्त किया। निर्दल या लिबरल (पुराने नरमदली नेता) सदस्यों के साथ मिलकर यह किसी तरह अपना बहुमत भी बना सकती थी। चित्तरंजन दास ने असेंबली में प्रवेश करने के समय ही यह घोषणा कर दी थी कि 'मेरी पार्टी यहां सहयोग करने के लिए आई है। यदि सरकार उनका सहयोग स्वीकार करेगी तो वह देखेगी कि स्वराज पार्टी के सदस्य उसके अपने आदमी हैं।' 1925 तक चित्तरंजन दास यह कहने लगे थे कि (फ़रीदपुर के अपने बहुचर्चित वक्तव्य से) उन्हें सरकार में 'हृदय परिवर्तन' के संकेत दिखे हैं (यह वक्तव्य कितना निरर्थक था इसे भारतीय मामलों के तत्कालीन मंत्री लार्ड बर्किनहेड के रुख देखा जा सकता है जिन्होंने उन्हीं दिनों एक सार्वजनिक भाषण में 'भारतीय राष्ट्रीयता के काल्पनिक प्रेत' की खिल्ली उड़ाई थी)। चित्तरंजन दास ने अपने इस वक्तव्य के साथ ही कुछ शर्तों के साथ सरकार से सहयोग करने का विधिवत प्रस्ताव भी रखा था। इनमें एक शर्त यह भी थी कि सरकार और स्वराज पार्टी दोनों मिलकर क्रांतिकारी आंदोलन के खिलाफ संघर्ष चलाएंगे। लिबरल पार्टी के प्रवक्ताओं ने इसके बाद कहा कि उनके और स्वराज पार्टी के बीच अब कोई महत्वपूर्ण मतभेद नहीं रह गया है। 1926 के बसंत में साबरमती समझौते के रूप में पदों को ग्रहण करने के बारे में फैसला होने जा रहा था लेकिन साधारण सदस्यों के विरोध के कारण यह नहीं हो सका। 1926 के पतझड़ में नए चुनाव हुए जिनमें मद्रास के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर स्वराज पार्टी को जबरदस्त धक्का लगा।

लेकिन साम्राज्यवाद के साथ मैत्रीपूर्ण सहयोग के जो सपने पूंजीपतिवर्ग ने देखे थे, वे टूटने ही थे। जैसे ही यह बात साफ हुई कि राष्ट्रीय आंदोलन की शक्तियां कमजोर पड़ गई हैं और जनआंदोलन से कट जाने के कारण स्वराज पार्टी के लोगों के सामने समझौते के लिए मिन्नतें करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं रह गया है, साम्राज्यवादियों ने भी अपना रुख बदल दिया और पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने भारत के पूंजीपतिवर्ग को जो आंशिक आर्थिक रियायतें दी थीं उन्हें वापस लेना शुरू कर दिया। उसने अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए 1927 के मुद्रा कानून (करेंसी बिल) के जरिए एक बड़ा आर्थिक हमला शुरू किया। इस कानून से रुपये की कीमत एक शिलिंग 6 पैंस निश्चित कर दी गई जिसका देश भर में विरोध हुआ लेकिन इस विरोध का कोई नतीजा नहीं निकला। इसके साथ ही 1927 के अंत में नया इस्पात संरक्षण कानून (स्टील प्रोटेक्शन बिल) बनाकर 1924 के कानून से भारत के इस्पात उद्योग को जो संरक्षण मिला था, वह समाप्त कर दिया गया और इंग्लैंड आने वाले इस्पात पर चुंगी कम कर दी गई। भारत के भावी संविधान का भाग्य निर्धारित करने के लिए 1927 के अंत में साइमन कमीशन के गठन की घोषणा की गई। इसमें एक भी भारतीय प्रतिनिधि नहीं शामिल किया गया।

इस प्रकार भारत का पूंजीपतिवर्ग न चाहते हुए भी एक बार फिर इस नतीजे पर पहुंचा कि साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने की आशाएं पूरी नहीं हो सकतीं और यदि जमकर सफलतापूर्वक सौदेबाजी करने के लायक अपने को बनाना है तो एक बार फिर जनता की

शक्तियों को काम में लाना होगा और उनका समर्थन प्राप्त करना होगा। लेकिन दस वर्ष पहले के मुकाबले में आज की स्थिति ज्यादा कठिन और पेचीदा हो गई थी। इसकी वजह यह थी कि इन दस वर्षों में जनता की शक्तियों ने एक नए जीवन की दिशा में बढ़ना शुरू कर दिया था और वे स्वतंत्र रूप से तथा अपने स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्यों के साथ देश के रंगमंच पर उभरने लगी थीं। अब उनका संघर्ष सक्रिय रूप से साम्राज्यवादियों के खिलाफ ही नहीं बल्कि भारतीय शोषकों के खिलाफ भी तेज होने लगा था। इस प्रकार अब संघर्ष का त्रिकोणात्मक स्वरूप पहले से ज्यादा स्पष्ट हो गया था। अब साम्राज्यवाद और भारतीय जनता का अधिक गहरा संघर्ष और भारतीय बुजुर्आवर्ग की ढुलमुल भूमिका अधिक स्पष्ट हो गई थी। इसलिए इस बार संघर्ष की नई लहर एक नए रूप में सामने आई। इसके संकेत पहली बार 1927 के उत्तरार्ध में दिखाई दिए थे और 1930-34 तक पूरी शक्ति के साथ उभर गए थे। यह लहर एक तरफ तो पहले से ज्यादा व्यापक, जबरदस्त और टिकाऊ थी दूसरी तरफ इसका विकास रुक-रुककर और लक्ष्य के मामले में काफी ढुलमुलपन दिखाते हुए और टेढ़े मेढ़े रास्तों पर चलते हुए हुआ। बीच बीच में कई बार सुलह समझौते की बातें होती थीं और बिना किसी समझौते के अचानक संधि हो जाती थी। यह सिलसिला तब तक चला जब तक आंदोलन अंतिम रूप से ध्वस्त नहीं हो गया।

बीसवीं सदी के मध्यवर्ती वर्षों में जो नया तत्व सबसे पहले प्रकट हुआ और संघर्ष की इस नई लहर को जिस नए तत्व से प्रेरणा मिली थी वह था मजदूरवर्ग का एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में सामने आना। संघर्ष की नई लहर यद्यपि मजदूरवर्ग के नेतृत्व में नहीं उठी थीं मगर प्रेरणा उसी से मिली थी। इस बीच औद्योगिक मजदूरवर्ग ने अपने संघर्ष अत्यंत वीरतापूर्वक और शक्तिशाली ढंग से चलाए थे और अपने बीच से वह नेतृत्व को भी जन्म देने लगा था। इसके साथ ही मजदूरवर्ग की नई विचारधारा अर्थात समाजवाद का पहली बार एक राजनीतिक कारक के रूप में भारत में प्रचार होने लगा था। इस नई विचार-धारा का नौजवानों और भारतीय राष्ट्रवाद के वामपंथी वर्गों के बीच काफी असर हुआ था और उससे उन्हें नया जीवन और शक्ति तथा व्यापक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ था। 1924 के कानपुर षडयंत्र के मामले से यह बात साफ हो गई थी कि साम्राज्यवाद भी काफी सतर्क होकर मजदूरवर्ग की क्रांतिकारी राजनीति के पहले संकेतों को ही कुचल देना चाहता है। 1926 और 1927 के दौरान मजदूर किसान पार्टी (वर्कर्स पीजेंट्स पार्टी) का गठन हुआ। 1928 के ट्रेड यूनियन आंदोलनों और हड़तालों के विकास में उसकी महत्व-पूर्ण भूमिका रही। 1928 में मजदूर हड़तालों का जबरदस्त सिलसिला चला जिसमें 31,647,000 काम के दिनों का नुकसान हुआ। पिछले पांच वर्षों में हुई हड़तालों में कुल मिलाकर भी इतने दिन काम का नुकसान नहीं हुआ था। बंबई के कपड़ा मजदूरों की नई संघर्षशील यूनियन गिरनी कामगर यूनियन या लाल झंडा यूनियन (रेड फ्लैग यूनियन) के सदस्यों की संख्या सरकारी आंकड़ों के अनुसार साल भर के अंदर 65,000 तक पहुंच गई। देश भर में मजदूर यूनियनों के सदस्यों की संख्या में 70 प्रतिशत की वृद्धि हो गई। इसी वर्ष साइमन कमिशन के विरोध में जो प्रदर्शन हुए उनमें मजदूरवर्ग की हिस्सेदारी

राजनीतिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। मजदूर संघों की जुझारू चेतना का तेजी से विकास हुआ और 1929 में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अंदर वामपंथी गुट की जीत हुई। ये ही वे नई शक्तियां थीं जो इस बार भारतीय जनता को संघर्ष के मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रेरित कर रही थीं।

घटनाक्रमों के इस विकास का प्रतिबिंब कांग्रेस में भी दिखाई पड़ने लगा था और कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आंदोलन के अंदर एक नए वामपंथी गुट का जन्म हो गया था। 1927 के अंत में जवाहरलाल नेहरू डेढ़ वर्ष से भी अधिक समय तक यूरोप का दौरा करने के बाद भारत लौटे। नेहरू ने यूरोप में समाजवादी लोगों और साम्यवादी विचार-धारा के साथ संपर्क किया था। 1927 के अंत में मद्रास कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें खास तौर से युवकों के बीच वामपंथी प्रवृत्तियों की झलक मिली। मद्रास अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें सर्वसम्मति से यह घोषित किया गया कि राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति है। (यह प्रस्ताव गांधी की अनुपस्थिति में पारित किया गया। गांधी ने बाद में इस प्रस्ताव की यह कहकर निंदा की कि 'यह बहुत जल्द बाजी में और बिना सोचे समझे किया गया है')। इससे पहले इस तरह के किसी भी प्रस्ताव का कांग्रेसी नेता विरोध करते आए थे। मद्रास अधिवेशन में पारित प्रस्ताव में साइमन कमिशन के बहिष्कार का निश्चय किया गया और यह भी फैसला लिया गया कि वैकल्पिक सांविधानिक योजना तैयार करने के लिए सभी दलों का एक सम्मेलन हो और उसमें कांग्रेस भाग ले। कांग्रेस ने साम्राज्यवाद विरोधी अंतर्राष्ट्रीय लीग (इंटरनेशनल लीग अगेंस्ट इंपीरियलिजम) से अपने को संबद्ध किया। नौजवानों और कांग्रेस के अंदर बढ़ती हुई वामपंथी प्रवृत्तियों के मुख्य नेता जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस को कांग्रेस का महामंत्री नियुक्त किया गया।

1927 के कांग्रेस अधिवेशन में वामपंथ की ऊपरी तौर पर जो विजय हुई वह एक सतही विजय थी और इस विजय का कारण यह था कि उसका विरोध किसी ने नहीं किया था। लेकिन 1928 में एक के बाद एक घटना ने, साइमन कमिशन के खिलाफ प्रदर्शनों की सफलता ने, हड़तालों की वृद्धि ने और नवगठित स्वतंत्रता लीग तथा छात्र युवक संगठनों के विकास ने कांग्रेस के पुराने नेतृत्व के सामने यह स्पष्ट कर दिया कि वामपंथी शक्तियां काफी तेजी से बढ़ रही हैं और जल्दी ही वे कांग्रेस का सफाया कर सकती हैं। सभी दलों के सम्मेलन में पुराने नेताओं ने कांग्रेस के बाहर के नरमदली या प्रतिक्रियावादी नेताओं के साथ मिल कर एक वैज्ञानिक योजना बनाई (जो नेहरू रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि योजना बनाने वाली समिति के अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू थे)। इस योजना में यह मांग की गई थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर रहते हुए उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार का गठन किया जाए और इस प्रकार स्वतंत्रता की मांग को अलग छोड़ दिया जाए। लेकिन जनता की बढ़ती हुई भावनाओं को देखते हुए इस बात में संदेह था कि इस योजना को कांग्रेस स्वीकार करेगी।

शक्ति संतुलन की इस नाजुक घड़ी में और पिछले दस वर्ष के मुकाबले आने वाले नए बड़े संघर्षों की स्थिति में दक्षिणपंथी नेताओं ने एक बार फिर उसी गांधी की शरण ली जिसे उन्होंने किनारे फेंक दिया था और इस प्रकार गांधी का सितारा फिर चमक उठा। 1928 के अंत में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गांधी को फिर से कांग्रेस का सक्रिय नेतृत्व दे दिया गया। गांधी की व्यक्तिगत स्वभावगत विलक्षणताओं के बारे में नरमदली नेता चाहे कुछ भी कहते रहे हों लेकिन इसमें कोई शक नहीं था कि पुराने नेताओं में गांधी ही सबसे चतुर और अनुभवी आदमी थे जिनका जनता पर जबरदस्त प्रभाव था और विश्वव्यापी प्रचार ने जिनको भारत का सबसे महान व्यक्ति बना दिया था। निर्धनों के प्रति प्रेम और विनम्रता के अति धार्मिक और आदर्शवादी सिद्धांतों के नाम पर गांधी ने एक तपस्वी की मुद्रा में संपत्ति का हमेशा समर्थन किया; गांधी अलौकिक और ईश्वरपरक वाक्जाल का ऐसा तानाबाना तैयार करते रहे हैं जिसमें बेशुमार, तर्कों और दलीलों की आश्चर्यजनक गुत्थी के जरिए वह दुनिया की किसी भी चीज को उचित और सही साबित कर सकें। साधारण आदमी यदि ऐसा करे तो उसे बेईमान समझा जा सकता है पर मैकेडोनल्ड या गांधी जैसे महान लोगों को ऐसा असाधारण व्यक्तित्व माना जाता है जिनके तर्कों का मूल्यांकन आध्यात्म के ऊंचे शिखर पर रखकर किया जाता रहा है। गांधी एक ऐसा पैगंबर था जो व्यक्तिगत साधुता तथा निस्वार्थता के जरिए अपनी आवाज जनता के हृदय तक पहुंचा सकता था और यह एक ऐसा काम था जो नरमदली बुजुर्आ नेता कभी नहीं कर पाते थे। जिस जनआंदोलन के साथ गांधी का संबंध हो जाता था उस आंदोलन के सर्वनाश की भी गारंटी हो जाती थी। क्रांति का यह दुश्मन अटूट विनाश का यह सेनानी भारतीय जनता के संघर्ष की प्रत्येक लहर का मुकाबला करने में पूंजीपतिवर्ग का सबसे बड़ा सहारा था। इसी से एक बार फिर आधुनिक भारतीय राजनीति का यह वैशिष्ट्य प्रत्येक क्रमिक संविधान का अलिखित नियम उभरकर सामने आया कि प्रत्येक आंदोलन के लिए गांधी का नेतृत्व अनिवार्य है। दरअस्ल इससे यह पता चलता है कि वर्ग शक्तियों का संतुलन कितना निराधार है। बुजुर्आ वर्ग की सभी आशाएं (प्रतिपक्षी यह कह सकते हैं कि साम्राज्यवाद की सभी आशाएं) प्रत्येक आंदोलन की लहर आने पर गांधी पर केंद्रित हो जाती थीं क्योंकि वही एक ऐसे व्यक्ति थे जो आंदोलन की लगाम थाम सकते थे, और आंदोलन को उसी सीमा तक आगे ले जा सकते थे जिस पर साम्राज्यवाद के साथ सौदेबाजी की जा सके और भारत को क्रांति से बचाया जा सके।

दिसंबर 1928 में कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन में, नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कराने में गांधी को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। उन्होंने जो प्रस्ताव तैयार किया था उसमें कहा गया था कि इस रिपोर्ट का अर्थ यह नहीं है कि पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य से हटा जा रहा है। रिपोर्ट में यह भी वादा किया गया था कि यदि 31 दिसंबर 1929 तक सरकार ने इस रिपोर्ट को मजूंर नहीं किया तो कांग्रेस अपना अहिंसक असहयोग आंदोलन फिर छेड़ देगी और इस बार इस आंदोलन की शुरुआत कर न देने के अभियान से होगी (गांधी ने मूलतः अपने मसौदे में यह तिथि 31 दिसंबर 1930 रखी थी और

सरकार को दो वर्ष का समय दिया था लेकिन अधिवेशन ने सिर्फ एक वर्ष की मोहलत देना ही मजूंर किया)। यह प्रस्ताव भी अपेक्षाकृत कम वोटों से पारित हुआ। प्रस्ताव के पक्ष में 1350 वोट पड़े जबकि सुभाषचंद्र बोस और जवाहरलाल नेहरू के उस वामपंथी संशोधन के पक्ष में 903 वोट पड़े जिसमें नेहरू रिपोर्ट के विपरीत पूर्ण स्वाधीनता को तात्कालिक लक्ष्य घोषित किया गया था। 1928 की घटनाओं ने यह बात साफ कर दी थी कि जनता का असंतोष अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है फिर भी आंदोलन छेड़ने में 12 महीनों की देर की गई। साम्राज्यवाद को 12 महीने का नोटिस दे दिया गया ताकि वह अपनी तैयारी पूरी कर ले। सुभाषचंद्र बोस ने लिखा है कि 'कलकत्ता अधिवेशन के समझौतावादी प्रस्ताव का नतीजा यह हुआ कि बेशकीमती समय बरबाद किया गया।' ('दि इंडियन स्ट्रगल', पृष्ठ 181) इस बीच खतरे का एक संकेत भी मिल गया जब कलकत्ता के 20,000 मजदूरों ने ('कांग्रेस का इतिहास' में यह संख्या 50,000 बताई गई है) अधिवेशन के दौरान राष्ट्रीय स्वतंत्रता और 'स्वतंत्र समाजवादी भारतीय गणराज्य' के नारों के साथ प्रदर्शन किया। मजदूर दो घंटे तक अधिवेशन के पंडाल पर कब्जा किए रहे। सुधारवादी नेताओं को उन्हें रास्ता देना पड़ा और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए अटूट संघर्ष छेड़ने की उनकी मांग सुननी पड़ी।

12 महीनों की देर ने साम्राज्यवाद को भरपूर समय दे दिया और उसने यह अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। मार्च 1929 में, उभरते हुए मजदूर आंदोलन के सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर मेरठ जैसे दूरवर्ती स्थान पर मुकदमा चलाया गया (जहां बिना जूरी के उन पर अदालती कार्यवाही की जा सके)। मुकदमा चार वर्षों तक चला और इन नेताओं को इस अवधि के दौरान जेल में रखा गया। इन वर्षों के दौरान एक के बाद एक संघर्ष की लहरें उठती रहीं लेकिन इन राजनीतिक बंदियों को सजाएं भी नहीं सुनाई गईं। मजदूर संगठनों और मजदूर किसान पार्टी के प्रमुख नेताओं के अलावा गिरफ्तार लोगों में तीन नेता अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी या राष्ट्रीय कांग्रेस की निर्वाचित कार्यकारिणी के सदस्य थे। इस प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व में संघर्ष शुरू होने से पहले ही मजदूरवर्ग का सिर काट दिया गया और वामपंथ के अत्यंत सुलझे तथा संकल्पशील नेताओं को, जिनकी सही अर्थों में जनता के बीच पैठ थी, अलग कर दिया गया। इसके साथ वायसराय ने एक सरकारी आदेश के जरिए जन सुरक्षा अध्यादेश (पब्लिक सेफ्टी आर्डिनेंस) जारी कर दिया। इस अध्यादेश का उद्देश्य क्रांतिकारी आंदोलन को कुचलना था।

कांग्रेस के अत्यंत महत्वपूर्ण आगामी अधिवेशन के अवसर पर और संघर्ष शुरू होने से पहले गांधी को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। गांधी ने वर्तमान स्थिति को, शक्तियों के तत्कालीन संबंध को समझने में कुशलता का परिचय दिया तथा अपने स्थान पर युवकों तथा इंडेपेंडेंस लीग के नेता जवाहरलाल नेहरू का नाम अध्यक्ष पद के लिए नामजद कर दिया। जवाहरलाल नेहरू इस समय तक समाजवाद के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त कर

चुके थे। अपने चयन के पक्ष में तर्क पेश करते हुए गांधी ने जवाहरलाल के गुणों का बयान किया और कहा :

> देशप्रेम के मामले में वह किसी से पीछे नहीं हैं, वह वीर और भावप्रवण हैं और आज के समय में इन गुणों की अत्यंत आवश्यकता है। लेकिन संघर्ष में वीर और भावप्रवण होने के बावजूद उनमें एक राजनेता के विवेक का भी गुण है। उनके अंदर अनुशासन की तीव्र भावना है और अपने कार्यों के जरिए उन्होंने साबित कर दिया है कि उनके अंदर उन निर्णयों को भी मानने की क्षमता है जिनसे उनकी सहमति नहीं है। स्वभाव से वह विनम्र हैं इतने व्यावहारिक हैं कि अकारण उग्रपंथ का सहारा नहीं लेते। उनके हाथ में देश पूरी तरह सुरक्षित है।

नरमदली नेताओं ने साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने की एक बार अंतिम कोशिश की। 31 अक्तूबर 1929* को वायसराय ने एक बहुत ही अस्पष्ट वक्तव्य दिया जिसमें आगे चलकर कभी 'डोमीनियन स्टेट के लक्ष्य तक' पहुंचने की बात कही गई थी। (यह एक ऐसा बयान था जिसके बारे में अगले ही दिन 'दि टाइम्स' समाचारपत्र ने लिखा कि 'इस वक्तव्य में न तो कोई वायदा था और न इससे नीति में किसी परिवर्तन का संकेत मिलता है।') भारतीय नेताओं ने इस वक्तव्य के बाद ही एक संयुक्त वक्तव्य जारी किया जिसे 'दिल्ली का घोषणापत्र' नाम से जाना जाता है। इस वक्तव्य में सरकार के साथ जी जान से सहयोग करने का प्रस्ताव किया। 'हम इस वक्तव्य से प्रकट होने वाली सरकार की हार्दिक भावनाओं की प्रशंसा करते हैं...हम आशा करते हैं कि भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किए जाने वाले डोमीनियन संविधान के लिए सम्राट के प्रयासों के साथ भरपूर सहयोग कर सकेंगे।' इस वक्तव्य पर गांधी, श्रीमती बेसेंट, मोतीलाल नेहरू, सर तेज बहादुर सप्रू, जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं ने हस्ताक्षर किए थे। जवाहरलाल नेहरू ने इस वक्तव्य से असहमति प्रकट की और बाद में उन्होंने इसे 'गलत और खतरनाक' बताया। उन्होंने कहा कि उनसे यूं ही 'हस्ताक्षर करा लिया गया था' और उनसे कहा गया कि चूंकि वह कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए हैं इसलिए यदि उन्होंने हस्ताक्षर नहीं किया तो इससे कांग्रेस की एकता भंग हो जाएगी। बाद में गांधी ने उन्हें एक 'संतोष देने लायक पत्र' लिखा जिससे उनकी शंकाएं दूर हो गईं। दिल्ली के घोषणापत्र से ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को काफी खुशी हुई क्योंकि उन्हें लगा कि भारतीय नेता कमजोर पड़ गए हैं ('कल रात के वक्तव्य का अर्थ यह है कि जिस कार्यक्रम के लिए लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था, उसे अब समाप्त कर दिया गया है।'—'दि टाइम्स', 4 नवंबर 1929)। इस वक्तव्य से कोई लाभ नहीं हुआ, इससे कांग्रेस के सदस्यों में और भटकाव ही आया। कांग्रेस अधिवेशन से कुछ दिन पहले कांग्रेसी नेताओं की वायसराय से हुई भेंट का कोई नतीजा नहीं निकला।

1929 के अंतिम दिनों में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें आंदोलन छेड़ने का फैसला किया गया। नेहरू रिपोर्ट में डोमीनियन कायम करने के घोषित लक्ष्य को पुराना घोषित कर दिया गया और एलान किया गया कि कांग्रेस का लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज' रहेगा। अधिवेशन ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को यह अधिकार दिया कि 'वह जब भी उचित समझे, सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ दे जिसमें कर न देना भी शामिल हो।' 31 दिसंबर 1929 की आधी रात को, 1930 का वर्ष शुरू होते ही, भारतीय स्वाधीनता का तिरंगा झंडा फहराया गया (इस झंडे में पहले लाल, सफेद और हरा रंग था—बाद में लाल रंग के स्थान पर केसरिया रंग चुना गया)। 26 जनवरी 1930 को देश भर में पहला स्वाधीनता दिवस मनाया गया। जगह जगह विशाल जुलूस निकले और प्रदर्शन किए गए जिनमें पूर्ण स्वाधीनता के लिए संघर्ष का संकल्प किया गया और ऐलान किया गया कि ब्रिटिश शासन को 'अब और स्वीकार करना मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति पाप करना है।' इसके साथ ही यह विश्वास प्रकट किया गया कि, 'यदि हमने स्वेच्छा-पूर्वक सरकार के साथ सहयोग करना और कर देना बंद कर दिया और उकसाए जाने पर भी हिंसा का सहारा नहीं लिया तो यह अमानवीय शासन निश्चित रूप से समाप्त हो जाएगा।'

जो संघर्ष अब शुरू हो रहा था उसका उद्देश्य क्या था ? इस अभियान की योजना क्या थी ? वे कौन सी न्यूनतम शर्तें थीं जिन पर सरकार के साथ समझौता करने का औचित्य था ? वह कौन सा तरीका था जिससे ब्रिटिश सरकार पर इतना जबरदस्त दबाव डाला जाता कि यह 'अमानवीय शासन' समाप्त हो जाता ? शुरू से ही इन तमाम सवालों का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं था। ऊपरी तौर पर इस आंदोलन का घोषित लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति लगता था और कांग्रेस के सदस्यों तथा कांग्रेस के आवाहन पर इस आंदोलन में शामिल जनता का भी संभवतः यही ख्याल था। बेशक, मोतीलाल नेहरू ने भी अपनी मृत्यु के समय जो शब्द कहे थे (मोतीलाल नेहरू की मृत्यु गांधी इर्विन समझौते की पूर्व-संध्या पर हुई) उनसे भी आंदोलन के बारे में इसी धारणा का पता चलता है : 'यदि मुझे मरना ही है तो मेरी मौत स्वतंत्र भारत की गोद में हो। मेरी चिरनिद्रा की शुरुआत एक गुलाम देश में नहीं बल्कि आजाद देश में हो।'

फिर भी गांधी की धारणा यह नहीं थी। लाहौर अधिवेशन के तुरंत बाद 9 जनवरी के 'न्यूयार्क वर्ल्ड' नामक अखबार में उनका एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने कहा था कि 'स्वतंत्रता के प्रस्ताव से किसी को डरने की जरूरत नहीं है' (मार्च में वायसराय को लिखे पत्र में भी उन्होंने यही बात दुहराई थी)। 30 जनवरी को अपने अखबार 'यंग इंडिया' में उन्होंने ग्यारह सूत्री प्रस्ताव रखा जिसमें विभिन्न सुधारों का जिक्र करते हुए कहा गया था कि यदि इन सुधारों को मान लिया गया तो सविनय अवज्ञा आंदोलन नहीं होगा (इन सुधारों में मांग की गई थी कि रुपये की कीमत 1 शिलिंग 4 पैंस हो, देश में पूर्ण शराबबंदी हो, मालगुजारी और सैनिक खर्च में कमी की जाए, विदेशी कपड़ों पर

चुंगी लगाई जाए आदि)। संघर्ष की पूर्वबेला में इन ग्यारह शर्तों को प्रकाशित करके साम्राज्यवादियों के सामने यह स्पष्ट कर दिया गया था कि स्वाधीनता की मांग केवल मोलभाव करने के लिए है; जिस तरह खरीद फरोक्त की बातचीत शुरू होने पर काफी मोलभाव की गुंजाइश रखकर दाम बताया जाता है पर सौदा तय हो जाने पर दाम में कमी की जा सकती है उसी प्रकार यहां भी देश की मांग को खूब बढ़ा चढ़ाकर बताया गया है और यदि कोई समझौता होता है तो मांगें कम की जा सकती हैं।

आंदोलन की रणनीति भी उतनी ही अस्पष्ट थी। फरवरी 1930 में साबरमती में कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें एक बार फिर आंदोलन का नेतृत्व करने और उसको चलाने के सारे अधिकार 'महात्मा गांधी तथा उनके सहयोगियों' के हाथों में (न कि कांग्रेस के किसी चुने गए संगठन के हाथों में) सौंप दिए गए। ऐसा करने के पीछे यह दलील पेश की गई कि 'जिन लोगों का अहिंसा के सिद्धांत में…एक धार्मिक विश्वास है, उन्हें ही आंदोलन की शुरुआत करनी चाहिए और उनके ही द्वारा आंदोलन का संचालन होना चाहिए।' लेकिन कांग्रेस के चुने हुए नेताओं द्वारा बिना किसी निर्देश के समूचा आंदोलन उनके हाथों में सौंप देन से संघर्ष कौन सा रूप लेने वाला था? लाहौर अधिवेशन की चर्चा करते हुए सुभाष बोस ने लिखा :

> वामपंथी खेमे की ओर से मैंने यह प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस का लक्ष्य देश में एक समानांतर सरकार की स्थापना करना होना चाहिए और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे मजदूरों, किसानों और युवकों का संगठन बनाना चाहिए। यह प्रस्ताव पारित नहीं हुआ जिसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस ने अपने लक्ष्य के रूप में पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय तो मान लिया लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई योजना नहीं बनाई गई और न तो आगामी वर्ष के लिए कोई कार्यक्रम ही तैयार किया गया। अब और किस हास्यास्पद स्थिति की कल्पना की जा सकती है। (सुभाषचंद्र बोस : 'दि इंडियन स्ट्रगल', पृष्ठ 200)

जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है :

> भविष्य के बारे में हमारे सामने अब भी कुछ स्पष्ट नहीं था। कांग्रेस अधिवेशन में प्रदर्शित उत्साह के बावजूद कोई यह नहीं जानता था कि संघर्ष के कार्यक्रम में देश के लोग कहां तक साथ चल सकेंगे। हम जिस स्थल तक पहुंच गए थे वहां से अब लौट नहीं सकते थे पर आगे का रास्ता हमारे लिए एकदम अज्ञात था। (जवाहरलाल नेहरू, 'आत्मकथा', पृष्ठ 202)

जो लोग आंदोलन की योजना की जानकारी चाहते थे उनको फटकार बताते हुए कांग्रेस के आधिकारिक तौर पर लिखे गए इतिहास में यह कहा गया है :

> साबरमती में जो लोग इकट्ठा हुए थे उन्होंने गांधी जी के योजना के बारे में उनसे जानकारी चाही। उनका यह पूछना ठीक ही था हालांकि विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले किसी ने लार्ड किचनर या मार्शल फौक अथवा वान हिंडेनबर्ग से यह कभी नहीं पूछा कि उनकी योजना क्या है। उनके पास योजनाएं थीं पर उन्होंने कभी उन योजनाओं के बारे में बताया नहीं। सत्याग्रह के साथ ऐसी बात नहीं थी। हमारी योजनाएं किसी भी रूप में गोपनीय नहीं थीं लेकिन वे बहुत साफ भी नहीं थीं। हम जानते थे कि वे अपने आप अपना रास्ता उसी तरह तैयार करती जाएंगी जिस तरह कोहरे से भरी सुबह में एक तेज चलती मोटर को आगे का रास्ता धीरे धीरे एक एक गज करके अपने आप दिखाई पड़ता जाता है। सत्याग्रही अपने मस्तक पर मशाल बांध कर चलता है। उसकी रोशनी में उसे अगले कदम के लिए रास्ता मिलता जाता है। (हिस्ट्री आफ दि नेशनल कांग्रेस, पृष्ठ 628)

इस प्रकार सारी बातें इस पर निर्भर थीं कि आंदोलन के बारे में गांधी की धारणा क्या है ? देश का भाग्य उनके हाथों में सौंप दिया गया था।

यह स्पष्ट है कि आंदोलन के लक्ष्य के विषय में दो विरोधी धारणाएं संभव हैं। या तो इसका उद्देश्य यह होगा कि ब्रिटिश शासन की समाप्ति और पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना के लिए भारतीय जनता की सभी शक्तियां एक निर्णायक संघर्ष में कूद पड़ें ('कांग्रेस का इतिहास' में इस संघर्ष से संबंधित अध्याय का शीर्षक 'अंतिम दम तक संघर्ष' रखा गया है) या सरकार पर जनता का थोड़ा और सीमित दबाव डाला जाए ताकि उससे कुछ बेहतर शर्तें और रियायतें प्राप्त कर ली जाएं। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में निश्चय ही पहली तरह के आंदोलन की बात सोची गई थी और भारत की जनता भी यही आशा कर रही थी। लेकिन यदि यही उद्देश्य था तो इतने विशाल कार्य का संचालन करने के लिए और इतने शक्तिशाली दुश्मन को मात देने के लिए यह जरूरी था कि दुश्मन द्वारा जवाबी हमला शुरू किए जाने से पहले ही भरपूर ताकत बटोरकर उस पर धावा बोल दिया जाए। कांग्रेस और मजदूर आंदोलन की पूरी शक्ति के साथ देश में आम हड़ताल का नारा दिया जाना, कर और लगान न देने का अभियान शुरू करने के लिए समूचे किसानवर्ग का आवाहन, तथा देश भर में अपने विभागों, अपनी अदालतों और अपने स्वयंसेवकों आदि से लैस समानांतर सरकार कायम किया जाना आदि जरूरी था। उन दिनों देश में जैसा वातावरण था और जनता में जैसी संभावनाएं थीं उसे देखते हुए यह कहा जा सकता था कि यदि इस तरह का आंदोलन अत्यंत तेजी और मजबूती के साथ चलाया जाता तो इस बात की पर्याप्त संभावना थी कि दुश्मन एकदम लाचार हो जाता, उसकी सेना बिलकुल कमजोर पड़ जाती (गढ़वाली सिपाहियों के विद्रोह और पेशावर तथा शोलापुर के अनुभवों से इस बात की काफी संभावनाएं दिखती हैं) और आजादी हासिल कर ली जाती।

लेकिन गांधी की यह धारणा नहीं थी। उस समय के और बाद के प्रमाणों से यही पता चलता है कि गांधी की मुख्य समस्या इस तरह के विकास को आगे बढ़ने से रोकने की थी। मई 1931 में प्रकाशित अपने एक लेख में उन्होंने कहा है कि यदि अहिंसा के सिद्धांत से 'रत्ती भर भी हटने से' मुझे विजय मिल जाती है तो मैं इस विजय से अपनी पराजय ज्यादा पसंद करूंगा: 'अहिंसा से रत्ती भर भी हटने से संदेहपूर्ण सफलता के बदले में मैं यह ज्यादा पसंद करूंगा कि अहिंसा पर आंच न आए भले ही मैं हार क्यों न जाऊं।' (8 मई 1931 के 'दि टाइम्स' ने गांधी के मई 1931 के लेख को उद्धृत किया था।) मार्च 1930 में गांधी ने वायसराय के नाम एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने वायसराय को बताया था कि संघर्ष के पीछे कौन सी शक्तियां हैं और यह (गांधी) उनका नेतृत्व क्यों कर रहे हैं?

> हिंसा का पक्ष मजबूत हो रहा है और इसका अनुभव भी किया जाने लगा है… मेरा मकसद यह है कि ब्रिटिश शासन की संगठित हिंसा के साथ साथ हिंसा के बढ़ते हुए पक्ष की असंगठित हिंसा के खिलाफ मैं उस शक्ति का (अहिंसा का) प्रयोग शुरू करूं। हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने का अर्थ दोनों शक्तियों को बेलगाम छोड़ देना होगा। (गांधी का पत्र वायसराय के नाम, 2 मार्च 1930)

इस प्रकार क्रांतिकारी लहर की उठान से ठीक पहले गांधी ने दो मोर्चों पर लड़ाई चलाने की घोषणा कर दी। उन्होंने केवल अंगरेजों के खिलाफ ही नहीं बल्कि देश के अंदरूनी दुश्मनों के खिलाफ भी संघर्ष चलाने की घोषणा की। दो मोर्चों पर लड़ने की यह धारणा भारतीय पूंजीपतिवर्ग की भूमिका के अनुरूप है। भारत के पूंजीपतिवर्ग ने इस खतरे को महसूस किया, उसने देखा कि साम्राज्यवाद और जनआंदोलन के बीच बढ़ते संघर्ष से उसके पैरों तले से जमीन खिसकने लगी है। उसे मजबूरी में संघर्ष का नेतृत्व करना पड़ा हालांकि इस काम में उसे 'भयंकर खतरा' (वायसराय के पत्र में गांधी ने इसी शब्द का प्रयोग किया था) दिखाई पड़ा और उसके लिए आंदोलन को सीमाओं में बांधकर रखना जरूरी हो गया ('खामोश बैठने का अर्थ था दोनों शक्तियों को मनमानी करने की छूट देना')। उसके लिए यह जरूरी हो गया कि वह 'अहिंसा' की जादुई छड़ी से दोनों शक्तियों को मनाने की कोशिश करे। फिर भी यह 'अहिंसा' ठीक उसी तरह 'एकतरफा अहिंसा' थी जिस तरह बाद के वर्षों में जनतांत्रिक शक्तियों ने स्पेन के संदर्भ में 'हस्तक्षेप न करने' की शरारतपूर्ण नीति का पालन किया। यह 'अहिंसा' भारतीय जनता के लिए थी न कि साम्राज्यवादियों के लिए। उन्होंने जमकर हिंसा का सहारा लिया और विजय भी उन्हें ही मिली।[3]

गांधी ने संघर्ष के बारे में अपनी धारणा के अनुरूप ही अपनी रणनीति भी तैयार की। यदि यह मानकर चला जाए कि इस रणनीति का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्त करना नहीं बल्कि दुर्जेय क्रांतिकारी लहर के बीच जनआंदोलन पर अपना नेतृत्व बनाए रखना और

इस पर अधिक से अधिक रोक लगाना था तो इसमें कोई शक नहीं कि गांधी की रणनीति बहुत ही कुशल और योग्य रणनीति थी। इसका पता उसी समय लग गया था जब गांधी ने अपने आंदोलन का पहला लक्ष्य तैयार किया था और उसकी प्राप्ति के लिए रास्ता निर्धारित किया था। अपने लक्ष्य और तरीके के निर्धारण में उन्होंने बेहद कुशलता का परिचय दिया था। उन्होंने सरकार के नमक बनाने के एकाधिकार के खिलाफ लड़ाई छेड़ना तय किया। इस आंदोलन से यह संभावना खत्म हो गई कि मजदूर वर्ग संघर्ष में भाग लेगा। गांधी ने अपने लगभग सभी वक्तव्यों में यह कहा था कि भारत में उन्हें मजदूरवर्ग से ही काफी डर लगता था। इस आंदोलन में किसानों का समर्थन प्राप्त करने की योग्यता थी और इस बात का कोई भय नहीं था कि किसान वर्ग जमींदारों के खिलाफ संघर्ष करेगा। इसकी और भी ज्यादा गारंटी के लिए गांधी ने घोषणा की कि नमक सत्याग्रह की शुरुआत वह स्वयं अपने शिष्यों के एक दल के साथ करेंगे : 'जहां तक मेरा संबंध है, मैं चाहता हूं कि यह आंदोलन मैं आश्रमवासियों और उन लोगों के जरिए शुरू करूं जिन्होंने आश्रम का अनुशासन स्वीकार कर लिया है और कार्यपद्धति मान ली है।' ('यंग इंडिया' में गांधी का लेख, 27 फरवरी 1930)

इसके बाद गांधी ने अपने 78 चुने हुए शिष्यों के साथ समुद्र के किनारे किनारे डांडी यात्रा शुरू की और इसमें उन्होंने तीन बेशकीमती हफ्ते निकाल दिए। दुनिया भर के समाचारपत्रों और न्यूजरीलों के फोटोग्राफर इस यात्रा की तस्वीरें खींचते रहे, जनता से कहा गया कि वह चुपचाप इंतजार करे कि आगे क्या होता है। समाचारपत्रों, सिनेमा तथा अन्य प्रचार साधनों द्वारा डांडी यात्रा को जो धुआंधार प्रचार किया गया, उसे देख कर कांग्रेस नेताओं ने समझा कि जनता में जागृति पैदा करने और उसे आंदोलित करने के रूप में इस रणनीति को जबरदस्त सफलता मिली है। यह भी सच है कि इससे जनता के पिछड़े तबके को जगाने में मदद मिली लेकिन साथ ही साम्राज्यवादियों ने अपने बाद के रुख के विपरीत (जब प्रमुख वामपंथी राष्ट्रवादी नेता सुभाष बोस को संघर्ष शुरू होने के पहले, स्वतंत्रता दिवस के पहले ही पकड़ लिया गया) डांडी यात्रा को प्रचारित करने की जो खुली छूट दे रखी थी वह किसी नासमझी या अज्ञानता के कारण नहीं थी। इसके विपरीत सरकार इस आंदोलन के महत्व को खूब अच्छी तरह समझती थी। सरकार ने उसका प्रचार महज इसीलिए किया ताकि जनआंदोलन उस दलदल में जाकर फंस जाए जो गांधी ने तैयार कर दिया था।

तो भी, तीन सप्ताह समाप्त होते ही 6 अप्रैल को जब गांधी ने समुद्र तट पर काफी समारोहपूर्वक नमक बनाया (और वह गिरफ्तार नहीं किए गए) तो देश भर में जनआंदोलन की ऐसी जबरदस्त लहर चल पड़ी कि दोनों तरफ के नेता आश्चर्यचकित रह गए। आंदोलन के सिलसिले में गांधी की तरफ से जो निर्देश दिए गए थे उनमें बहुत ही सीमित और अपेक्षाकृत अहानिकर ढंग से सविनिय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने की बात थी। इसमें कहा गया था कि लोग नमक कानून का उल्लंघन करें, विदेशी वस्त्र का बहिष्कार

करें, विदेशी कपड़ों की दूकानों पर और शराब की सरकारी दूकानों पर पिकेटिंग करें। 9 अप्रैल को गांधी ने जो निर्देश जारी किए थे उनसे पता चलता है कि आंदोलन के बारे में उनकी क्या धारणा थी :

> हमारा रास्ता पहले से ही हमारे लिए निश्चित किया जा चुका है। हर गांव को चाहिए कि वह गैरकानूनी नमक तैयार करे। बहनों को चाहिए कि वे शराब की दूकानों, अफीम के ठेकों और विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने पिकेटिंग करें। हर घर में बूढ़ों और जवानों को चाहिए कि वे तकली और चरखा कातें और रोज का बुना सूत इकट्ठा करें। विदेशी कपड़ों की होली जलानी चाहिए। हिंदुओं को छुआछूत से दूर रहना चाहिए। हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी और ईसाई, सबको आपस में मिलकर रहना चाहिए। अल्पसंख्यकों को संतुष्ट करने के बाद जो कुछ बचे उसी से बहुसंख्यकों को संतुष्ट रहना चाहिए। छात्रों को चाहिए कि वे सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार करें और सरकारी कर्मचारियों को चाहिए कि वे अपनी नौकरियों से इस्तीफा देकर जनता की सेवा में लग जाएं। तब हम देखेंगे कि पूर्ण स्वराज हमारे दरवाजे पर खड़ा दस्तक दे रहा है।

जनआंदोलन, जो अप्रैल में ही काफी विकसित हो चुका था, इन सरल सीधी सीमाओं को काफी दूर तक पार कर गया। देश भर में हड़तालों का सिलसिला चल पड़ा, जबरदस्त प्रदर्शन होने लगे, बंगाल में चटगांव के हथियारखाने पर छापा मारा गया, पेशावर में विद्रोह की घटनाएं हुईं जिसके फलस्वरूप पेशावर पर दस दिनों तक जनता का कब्जा रहा। जगह जगह किसानों द्वारा लगान न देने का स्वतःस्फूर्त आंदोलन शुरू हुआ। यह आंदोलन खास तौर से संयुक्त प्रांत में काफी तेज रहा जहां कांग्रेस ने कोशिश की कि 50 प्रतिशत लगान का भुगतान करा कर समझौता करा दिया जाए पर इस कोशिश में उसे सफलता नहीं मिली।

समूचे भविष्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण घटना पेशावर में गढ़वाली सिपाहियों द्वारा की गई बगावत थी जहां स्थानीय नेताओं की गिरफ्तारी के बाद जनता के रोषपूर्ण प्रदर्शन को दबाने के लिए बख्तरबंद गाड़ियां भेजी गईं। जनता ने एक बख्तरबंद गाड़ी को जला दिया। गाड़ी के भीतर जो लोग थे वे भाग खड़े हुए। इसके बाद जनता पर धुआंधार गोलियां चलाई गईं जिससे सैंकड़ों लोग मारे गए और बहुत से लोग घायल हुए। स्थिति की गंभीरता को देखकर 18वीं रायल गढ़वाल राइफल्स की दूसरी बटालिन की तीन टुकड़ियां भेजी गईं। मुसलमानों की भीड़ से निबटने के लिए हिंदू सैनिकों को भेजा गया पर उन्होंने भीड़ पर गोली चलाने के आदेश को मानने से इंकार किया, अपनी कतारें तोड़ दीं, भीड़ के साथ भाईचारा कायम कर लिया और अनेक सिपाहियों ने तो अपने हथियार भी जनता को सौंप दिए। इसके फौरन बाद पेशावर से सारी फौज और पुलिस हटा ली गई। 25 अप्रैल

से 4 मई तक शहर पर जनता का कब्जा रहा। बाद में ब्रिटिश सरकार ने हवाई टुकड़ियों के साथ एक शक्तिशाली फौज पेशावर पर 'फिर से कब्जा' करने के लिए भेजी। बिना किसी प्रतिरोध के सेना ने फिर से पेशावर पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। गढ़-वाली राइफल्स के 17 आदमियों का कोर्ट मार्शल हुआ और उन्हें गंभीर सजाएं दी गईं, एक को काले पानी की सजा, एक को 15 वर्ष का कठोर कारावास और 15 लोगों को 3 से 10 वर्ष तक की कैद की सजा दी गई।

अपने देशवासियों पर गोली न चलाने की जो मिसाल गढ़वाली सिपाहियों ने कायम की उसके विषय में कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि यह गांधी के सबसे प्रिय सिद्धांत 'अहिंसा' का एक सफल प्रदर्शन था। लेकिन गांधी का मत यह नहीं था। यह एक ऐसी अहिंसा थी जिसने सचमुच अंगरेजी राज्य की नींव हिला दी। गांधी-इर्विन समझौते में उल्लिखित राजबंदियों की रिहाई की धारा में गढ़वाली सिपाहियों को खास तौर से अलग रखा गया। 'कांग्रेस का इतिहास' में अनेक छोटी मोटी आतंकवादी कार्यवाहियों का जिक्र है और इनके जरिए यह बताया गया है कि इनसे राष्ट्रीय भावना के बढ़ने में मदद मिली। लेकिन इस पूरे इतिहास में गढ़वाल राइफल्स के सैनिकों के इस कार्य को कहीं भी स्थान नहीं दिया गया। गढ़वाली वीर इस दौरान जेलों में पड़े रहे और 1937 के उत्तरार्ध में वे तब रिहा किए गए जब कांग्रेसी मंत्रियों ने अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया। गढ़वाली सिपाहियों की वीरता की कहानी को जनता ने अपने हृदय में स्थान दिया और जब आजाद भारत में लोग अनेक राजनीतिज्ञों को भूल चुके होंगे, गढ़वाली बहा-दुरों का नाम गर्व और सम्मान के साथ याद किया जाता रहेगा। बाद में गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए गांधी लंदन गए थे, एक फ्रांसीसी पत्रकार के साथ अपनी भेंटवार्ता में उन्होंने बताया कि उन्होंने गढ़वाली सिपाहियों के कार्य को क्यों नहीं पसन्द किया :

> एक सिपाही जो गोली चलाने का आदेश मानने से इंकार करता है वह आज्ञाकारिता की शपथ का उल्लंघन करता है और आज्ञा भंग करने के अपराध का दोषी है। मैं अफसरों और सिपाहियों से आज्ञा का उल्लंघन करने को नहीं कह सकता। क्योंकि जब मेरा शासन होगा तब संभव है कि मैं भी इन्हीं अफसरों और सिपाहियों से काम लूं। यदि मैं इन्हें आज्ञा उल्लंघन करना सिखाऊंगा तो कल वे मेरे राज्य में भी ऐसा ही कर सकते हैं। (गढ़वाली सैनिकों के प्रश्न पर फ्रांसीसी पत्रकार चार्ल्स पैत्रास के सवालों का गांधी द्वारा दिया गया जवाब, 'मोंद', 20 फरवरी 1932)

बारदोली के फैसले की ही तरह यह वाक्य (जिस पर गांधी के प्रत्येक शांतिवादी प्रशंसक को विचार करना चाहिए) भी 'अहिंसा' के अर्थ को बहुत स्पष्ट कर देता है।

जब यह स्पष्ट हो गया कि जनआंदोलन का तूफान अपने ऊपर थोपी गई सीमाओं को

तोड़ता जा रहा है और गांधी की बात लोग अब कम मानने लगे हैं तो सरकार ने, जिसने अभी तक गांधी को स्वतंत्र छोड़ रखा था, 5 मई को उन्हें गिरफ्तार कर लिया। सरकारी 'कम्यूनिके' (विज्ञप्ति) में गिरफ्तारी का कारण बताते हुए कहा गया :

> हालांकि मिस्टर गांधी इन हिंसात्मक उपद्रवों की लगातार निंदा करते आए हैं लेकिन अपने उच्छृंखल अनुयायियों के खिलाफ उनकी आवाज दिनोंदिन कमजोर पड़ती जा रही है और यह बात स्पष्ट है कि अब वह इन तत्वों को काबू में रखने में असमर्थ हैं...गिरफ्तारी के दौरान उनके स्वास्थ्य और आराम का पूरा ध्यान रखा जाएगा।

इस गिरफ्तारी के बाद देश भर में हड़तालों की लहर चल पड़ी। बंबई प्रेसीडेंसी के औद्योगिक नगर शोलापुर में आबादी के कुल 140,000 लोगों में से 50,000 कपड़ा मिल मजदूर थे। इन मजदूरों ने पुलिस को हटाकर अपना प्रशासन कायम कर लिया और शहर पर एक सप्ताह तक उनका कब्जा बना रहा। 13 मई को मार्शल ला लागू करके ही मजदूरों का प्रशासन समाप्त किया जा सका। 'दि टाइम्स' के संवाददाता ने 14 मई 1930 को लिखा कि 'यहां तक कि कांग्रेस नेताओं का भी भीड़ पर कोई काबू नहीं रह गया था। भीड़ स्वयं अपना शासन कायम करना चाहती थी।' पूना के समाचारपत्र 'स्टार' ने लिखा : 'जनता ने प्रशासन अपने हाथों में संभाल लिया था और वे अपने कायदे कानून चलाने की कोशिश कर रहे थे।' समकालीन प्रमाणों से पता चलता है कि पूरी व्यवस्था कायम हो गई थी।

साम्राज्यवादी दमन की कोई सीमा न थी। एक के बाद एक अध्यादेश जारी किए जा रहे थे जिससे स्थिति मार्शल ला जैसी ही हो गई थी। जून में कांग्रेस और इसके तमाम संगठनों को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 1931 में गांधी-इर्विन समझौता होने तक के एक साल से भी कम समय में 60,000 सत्याग्रहियों को सजा दी गई थी। यह संख्या निश्चित रूप से कम करके बताई गई है क्योंकि जिन लोगों को दंगा आदि करने के आरोप लगाकर पकड़ा गया था, उन्हें इस संख्या में शामिल नहीं किया गया था। इसमें केवल उन्हीं लोगों की गिनती की गई थी जिन्हें सरकार राजनीतिक बंदी मानती थी। राष्ट्रवादियों ने उन दिनों का जो विस्तृत विवरण तैयार किया है उसके अनुसार 90,000 लोगों को सजा दे दी गई। '1930-31 में, 10 महीने के अल्प अंतराल के अंदर ही 90,000 पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को सजाएं दी गईं ('हिस्ट्री आफ दि नेशनल कांग्रेस', पृष्ठ 876)। ये सारे काम 'लेबर' सरकार के शासन काल में हुए। 27 अप्रैल 1930 को प्रतिक्रियावादी पत्र 'आब्जर्वर' ने लिखा कि यह एक 'सुखद संयोग' है कि इस समय लेबर सरकार सत्ता में है और यह कि 'भारत को ध्यान में रखते हुए अब यह एक सार्वजनिक आवश्यकता है कि लेबर मंत्रिमंडल सत्ता में बने रहने दिया जाए।'

लोगों को गिरफ्तार कर लेना दमन का सबसे हल्का रूप। जेलों में लोग ठसाठस भर

दिए गए थे और यह बात स्पष्ट थी कि गिरफ्तारियों से आंदोलन को रोकना असंभव था। इसलिए सरकार शारीरिक यातना के हथियार को अपना मुख्य हथियार बना रही थी। जितने बड़े पैमाने पर अंधाधुंध लाठीचार्ज हुए, लोगों को जिस बर्बरता से पीटा गया, निहत्थी जनता पर जिस तरह गोली चलाई गई, पुरुषों और महिलाओं की जितने व्यापक ढंग से हत्याएं की गईं (कई मामलों में तो लोगों को गोलियों से भून दिया गया और फांसी दे दी गई, टैंकों और बख्तरबंद गाड़ियों का इस्तेमाल किया गया और विमानों से बम बरसाए गए) उसकी तुलना किसी भी देश में हुए दमनचक्र से नहीं की जा सकती। जिन अत्यंत अनुभवी पत्रकारों ने इन घटनाओं की एक झलक भी पा ली उनका दिल दहल उठा।[4] इन कार्यवाहियों पर परदा डालने के लिए खबरों पर सख्त सेंसरशिप लगा दी गई लेकिन कांग्रेस ने बड़ी सावधानीपूर्वक इन तमाम घटनाओं का ब्यौरा तैयार किया। इसके लिए उसने ढेर सारे प्रमाण इकट्ठे किए जिनसे पता चलता है कि कितनी बर्बरतापूर्वक दमन किया गया था।

फिर भी 1930 के दौरान आंदोलन जितना शक्तिशाली हो गया था उसका अंगरेजों ने अनुमान भी नहीं लगाया था। दमन के बावजूद आंदोलन दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था जिससे साम्राज्यवादी खेमे में आतंक फैल गया था। 1930 की गर्मियों तक यह बात अब काफी खुलकर सामने आने लगी थी। खास तौर से ब्रिटेन का व्यापारीवर्ग बेहद घबरा गया था क्योंकि विदेशी सामानों के बहिष्कार से सबसे बुरी तरह वही प्रभावित हुआ था। बंबई के संदर्भ में यह बात खास तौर से देखी जा सकती थी। वहां औद्योगिक मजदूरों का केंद्र था और दमन भी यहां काफी जबरदस्त था। यहां आंदोलन सबसे जबरदस्त था और पुलिस द्वारा बार बार लाठीचार्ज के बावजूद लोग सड़कों पर कब्जा कर लेते थे। बड़े बड़े जुलूस निकलते थे जो कांग्रेसियों के बहुत निवेदन करने पर भी पीछे नहीं हटते थे। इन जुलूसों में कांग्रेसी झंडों के साथ साथ लाल झंडे लहराते हुए देखे जाते थे, कहीं कहीं तो लाल झंडों की ही भरमार रहती थी। 29 जून को 'आब्जर्वर' के संवाददाता ने लिखा कि 'कलकत्ता तथा अन्य बड़े शहरों से आए लोग बंबई की हालत देखकर दंग रह जाते थे। 5 जुलाई के 'स्पेक्टेटर' में' बंबई का एक पत्र प्रकाशित हुआ था जिसमें कहा गया था कि 'यदि यहां सेना और सशस्त्र पुलिस तैनात न की गई होती तो बंबई की सरकार का एक दिन में तख्ता पलट जाता, प्रशासन पर कांग्रेस का कब्जा हो जाता और इस काम में उसे सबका समर्थन मिलता। 'बंबई में रहने वाले अंगरेज व्यापारियों ने भारतीय व्यापारियों के साथ साथ 'मिल ओनर्स एसोसिएशन' (जिसमें एक तिहाई यूरोपीय थे) और चेंबर आफ कामर्स के जरिए यह मांग शुरू की कि भारत को डोमीनियन राज्य के आधार पर फौरन स्वराज दे दिया जाए। बंबई के 'टाइम्स आफ इंडिया' का यह चमत्कार भी सामने आया जिसमें उसने केंद्र में जिम्मेदार संसदीय सरकार की हिमायत की थी। 6 जुलाई आते आते 'आब्जर्वर' ने यह चिंता जाहिर करनी शुरू कर दी थी कि भारत में रहने वाले 'यूरोपीयों का मनोबल टूट रहा है':

कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' के स्तंभों को छोड़कर हर जगह पस्तहिम्मती छाई हुई है। इस आशय की भी अफवाहें काफी फैल रही थीं कि कलकत्ता और बंबई के अंगरेज व्यापारियों तथा कांग्रेसी तत्वों के बीच इस तरह की बातचीत चल रही है कि बहिष्कार तथा दूसरी अस्थाई बुराइयों को यदि थोड़ा कम कर दिया जाए तो स्थाई तौर पर राजनीतिक आत्मसमर्पण हो सकता है। यूरोपीय लोगों का मनोबल टूट रहा है··· लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि हर जगह यूरोपीय लोगों का मनोबल टूट रहा है। कलकत्ता में इसके खिलाफ जबरदस्त जनमत है। ('आब्जर्वर', 6 जुलाई 1930)

अगस्त आते आते 'आब्जर्वर' का कलकत्ता स्थित संवाददाता 'वीकनेस इन बांबे' ('बंबई में कमजोरी') शीर्षक से यह लिखने लगा था :

बंबई के इस समाचार से यहां के जनमत को बड़ा धक्का लगा है कि अंगरेजों की देखरेख में चलने वाली कुछ मिलों को कांग्रेस की शर्तें मान लेनी पड़ी हैं और इसलिए एक प्रमुख नागरिक बंबई की लाइट होर्स से इस्तीफा दे रहा है। योरोपियन एसोसिएशन की बंबई शाखा के ध्वस्त होने की खबर का भी यही असर हुआ है। इसने उल्लेखनीय बहुमत से साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर इसलिए राय देने से इंकार कर दिया था कि क्योंकि यह भारतीय जनमत को मान्य नहीं था। गोलमेज सम्मेलन के लिए बंबई शाखा ने अपने उम्मीदवार का नाम भी वापस ले लिया है। ('आब्जर्वर', 24 अगस्त 1930)

इस प्रकार सारी धमकियों और दमन के बावजूद साम्राज्यवादी खेमे में 'पराजय बोध' और 'पस्तहिम्मती' की हालत पैदा होने लगी थी। साम्राज्यवादियों के लिए अब यह जरूरी हो गया था कि वे किसी भी कीमत पर कोई समझौता कर लें। भारतीय जनता के संघर्ष और बलिदानों के आधार पर कांग्रेस के नेताओं का पलड़ा भारी था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के सामने अपने कल्याण का एकमात्र रास्ता यह रह गया था कि वे नरम-दली राष्ट्रीय नेताओं से कुछ आशा करें। सरकार को यह पता था कि नरमदली नेता जनसंघर्ष के व्यापक स्वरूप को देखकर बहुत घबरा गए हैं। सितंबर में सैली ओक कालेज, बरमिंघम में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रोफेसर एच० जी० एलेग्जेंडर ने गांधी से भेंट की और उन्होंने गांधी के विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा :

जेल के एकांत में भी उनको इस बात का पूरा पूरा एहसास है कि इस तरह की कटुता फैल रही है और इस कारण जितनी जल्दी ईमानदारी के साथ शांति और सहयोग की भावना फिर से स्थापित हो जाए, वह उतना ही उसका स्वागत करेंगे···उनका प्रभाव अब भी बहुत ज्यादा है लेकिन हर दिन जो शक्तियां मजबूत होती जा रही हैं वे अपेक्षाकृत काफी खतरनाक हैं और उन पर काबू पाना

> मुश्किल है। (प्रोफेसर एच० जी० एलेग्जेंडर : 'मिस्टर गांधीज प्रजेंट आउटलुक', 'इस्पैक्टेटर', 3 जनवरी 1931)

इस प्रकार दोनों तरफ चिंता बढ़ रही थी और इस दोनों ओर की चिंता तथा घबराहट के कारण समझौते की संभावना पैदा हो गई थी, लेकिन यह समझौता भारतीय जनता के खिलाफ ही होना था।

1930 के शरद में समझौते की बातचीत शुरू हुई लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। 20 जनवरी 1931 को प्रधानमंत्री की हैसियत से मैकडोनल्ड ने गोलमेज सम्मेलन में घोषणा की :

> मैं इस बात की प्रार्थना करता हूं कि हमारी मेहनत से भारत उस एकमात्र वस्तु को पा जाए जिसके अभाव के कारण ही उसे अभी तक ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंदर डोमीनियन का दर्जा नहीं मिल सका है, भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण स्वशासी शासन की जिम्मेदारी और भार तथा गर्व और सम्मान प्राप्त हो सके।

जैसाकि बाद की घटनाओं से पता चला, भारत के सामने बड़े गोलमोल शब्दों में यह एक चारा डाला गया था और इस घोषणा के जरिए ब्रिटिश सरकार ने कोई वायदा नहीं किया था। इसके बाद गोलमेज सम्मेलन आगे के लिए स्थगित कर दिया गया ताकि कांग्रेस इसमें हिस्सा ले सके।

26 जनवरी को गांधी और कांग्रेस कार्यसमिति को बिना शर्त रिहा कर दिया गया और उन्हें बैठक करने की स्वतंत्रता दी गई। गांधी ने एलान किया कि वह 'पूरी तरह खुला हुआ दिमाग' लेकर जेल से बाहर निकले हैं (यह किसी क्रांतिकारी आंदोलन के नेता के लिए जिसे एक धूर्त और बेईमान दुश्मन का मुकाबला करना हो, बड़ी खतरनाक स्थिति है)। इसके बाद समझौते की लंबी बातचीत चली। 4 मार्च को गांधी-इर्विन समझौते पर हस्ताक्षर हो गए और आंदोलन को अस्थाई तौर पर स्थगित करने की घोषणा की गई।

इर्विन-गांधी समझौते ने कांग्रेस के संघर्ष के एक भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की (यहां तक कि नमक कर भी रद्द नहीं हुआ)। सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस ले लेना पड़ा। कांग्रेस को गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना पड़ा जिसमें भाग न लेने की उसने कसम खाई थी। स्वराज की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। गोलमेज सम्मेलन में बातचीत के लिए यह आधार निश्चित किया गया कि 'भारतीयों के हाथों में जिम्मेदारी' सहित संघीय संविधान के आधार पर विचारविमर्श किया जाए लेकिन 'भारत के हितों की रक्षा के लिए कुछ विशेष अधिकार अंगरेजों के हाथ में सुरक्षित रहेंगे।' यह तय हुआ कि अध्यादेश वापस ले लिए जाएंगे और राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया जाएगा, लेकिन

जिन बंदियों पर 'हिंसा' या 'हिंसा के लिए भड़काने' की कार्यवाहियों का आरोप लगाया गया है अथवा आज्ञा का उल्लंघन करने के आरोप में जो सैनिक बंद हैं उनको नहीं छोड़ा जाएगा। विदेशी सामानों के बहिष्कार की आजादी दे दी गई लेकिन इसके साथ कुछ शर्तें भी लगाई गईं। इन शर्तों के अधीन बहिष्कार 'केवल ब्रिटिश सामानों' का न किया जाए, किसी राजनीतिक उद्देश्य के लिए 'इस आंदोलन का इस्तेमाल न हो, इस आंदोलन में पिकेटिंग का सहारा न लिया जाए जिसमें लोगों को जबरदस्ती रोका जाता हो, विरोधी प्रदर्शन होते हों या जनता के कामकाज में रुकावट पैदा होती हो।' समझौते की अन्य धाराएं भी इसी तरह की थीं जिनमें अगर एक हाथ से कुछ दिया जाता था तो दूसरे हाथ से उसे छीन भी लिया जाता था। इस समझौते का अधिक से अधिक केवल यह लाभ हुआ कि जनता को विदेशी कपड़ों के शांतिपूर्ण बहिष्कार का अधिकार मिल गया। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि इस समझौते की आड़ में भारत के लोगों के हित के नाम पर किन लोगों का स्वार्थ काम कर रहा था।

निस्संदेह इस तथ्य से राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति का पता चलता है कि ब्रिटिश सरकार को कांग्रेस के साथ सार्वजनिक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े जबकि उसने शुरू में कांग्रेस को एक गैरकानूनी संगठन घोषित कर दिया था और इसे ध्वस्त करने की भरपूर कोशिश की थी। शुरू शुरू में इस बात से जनता में खुशी और विजय की भावना काफी फैली। केवल वे लोग इन चीजों से प्रभावित नहीं हो सके जो राजनीतिक तौर पर काफी जागरूक थे और जिनका ख्याल था कि इस समझौते से अब तक के सारे संघर्ष और अब तक की सारी कुर्बानियों को व्यर्थ कर दिया गया है। समझौते की शर्तों का अर्थ बहुत धीरे धीरे लोग समझ सके और उन्होंने महसूस किया कि देश को कुछ भी नहीं मिला है। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में काफी जोर शोर से घोषणा की गई थी कि कांग्रेस का उद्देश्य पूर्ण-स्वराज की प्राप्ति है और इस सिलसिले में साम्राज्यवाद के साथ किसी भी तरह का समझौता नहीं किया जाएगा लेकिन ये सारी बातें भुला दी गईं। यहां तक कि गांधी ने कांग्रेस की पीठ पीछे समझौते की जो 11 शर्तें रखी थीं उन सबका भी अब कहीं नामो-निशान नहीं था, उनमें से एक भी शर्त नहीं मानी गई थी। कांग्रेस की हालत अब यह हो गई थी कि जिस गोलमेज सम्मेलन का बहिष्कार करने का उसने फैसला किया था, अब वह उसी में भाग लेने जा रही थी जबकि यह काम बिना संघर्ष चलाए भी वह कर सकती थी (बेशक यदि शुरू में वह चाहती तो उसे ज्यादा प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल सकता था)।

इस प्रकार इर्विन-गांधी समझौते के जरिए बारदोली के अनुभव को ही और बड़े पैमाने पर दोहराया गया। एक बार फिर आंदोलन को बड़े रहस्यमय ढंग से अचानक ठीक उस समय रोक दिया गया जब वह अपने शिखर पर पहुंच रहा था ('यह कहना सरासर झूठ है कि हमारा आंदोलन ध्वस्त होने वाला था, आंदोलन धीमा पड़ने का कोई भी संकेत दिखाई नहीं देता था'—समझौते के अवसर पर भारत की स्थिति के बारे में 'मोंद' की

गांधी से भेंटवार्ता, 20 फरवरी 1932)। 5 मार्च को 'दि टाइम्स' ने लिखा कि 'इस तरह की जीत शायद ही किसी वायसराय को पहले कभी मिली हो।' 5 मार्च को विस्मय से भरे पत्रकारों के बीच गांधी ने समझौते का औचित्य साबित करते हुए कहा कि 'कांग्रेस ने विजय के लिए कभी कोशिश ही नहीं की थी' (गांधी : स्पीचेज ऐंड राइटिंग्ज', पृष्ठ 778)। इस प्रकार गांधी ने निश्चय ही अपनी रणनीति की असलियत को जाहिर कर दिया था। बाद में उन्होंने अपने विचारों की और भी व्याख्या की। जून 1931 में उन्होंने अपने पत्र 'यंग इंडिया' में लिखा कि 'फिलहाल हमें स्वराज का विधान प्राप्त करने की कोशिश छोड़ देनी चाहिए। हम राजनीतिक सत्ता पाए बिना भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं।' 6 मार्च को उन्होंने संवाददाताओं के साथ एक बातचीत में कहा था कि पूर्ण स्वराज का असली अर्थ 'आंतरिक अनुशासन और आत्मनियंत्रण' है और किसी भी रूप में इसका अर्थ यह नहीं है कि 'इंग्लैंड के साथ संबंध न रखा जाए' ('संबंध रखने' की बात भी कितनी दिलचस्प है—खास तौर से जब इसका अर्थ तेज नोकवाली संगीन के साथ 'संबंध रखना' हो)। इस प्रकार एक तरफ मैकडोनल्ड ने और दूसरी तरफ गांधी ने शब्दों का आडंबर फैलाकर ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिसमें आजादी जैसे सरल शब्द का अर्थ भी गड़बड़ा गया। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में आजादी के उद्देश्य को बड़े साफ शब्दों में परिभाषित किया गया था ('ब्रिटिश प्रभुत्व और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से पूर्ण स्वाधीनता') लेकिन इन दोनों संतों ने इस सीधी सी बात को कानूनी व्याख्याओं और धार्मिक सूत्रों के शब्दाडंबर से इस तरह ढक दिया कि यह कहना भी मुश्किल हो गया कि बाजी किसके हाथ रही, मैकडोनल्ड के या गांधी के। ये दोनों व्यक्ति गुलामी और आत्म-समर्पण की कठोर वास्तविकता पर आध्यात्मिक और चौंकाने वाले शब्दाडंबरों का पर्दा डालने की कला में बहुत माहिर थे।

उसी महीने जल्दी जल्दी कांग्रेस का कराची अधिवेशन कर इस समझौते को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। अधिवेशन के सामने समझौते को पेश करने का काम जवाहरलाल नेहरू को दिया गया था और उन्हें यह काम करने में 'काफी मानसिक संघर्ष और शारीरिक कष्ट का अनुभव करना पड़ा था।' वह बार बार यह सोच रहे थे कि 'क्या इसी के लिए हमारे देश के लोगों ने इतनी बहादुरी के साथ संघर्ष किया था? क्या हमारी तमाम वीरतापूर्ण बातें और कामों का यही नतीजा होना था?' फिर भी उन्होंने यह महसूस किया कि समझौते से अपनी असहमति प्रकट करना 'व्यक्तिगत दंभ' का परिचय देना होगा। सुभाषचंद्र बोस ने समझौते की कड़ी आलोचना की थी लेकिन उन्हें लगा कांग्रेस अधिवेशन में इसका विरोध करना संभव नहीं है क्योंकि इससे राष्ट्रीय एकता भंग होने का खतरा हो सकता है। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार यह समझौता 'लोकप्रिय' नहीं था। लेकिन कांग्रेस अधिवेशन में बहुत कम आवाजें उसके खिलाफ उठीं। एक प्रतिनिधि ने कहा कि यदि गांधी जी के बजाय कोई दूसरा व्यक्ति इस तरह का समझौता हमारे सामने पेश करता तो हम लोग उसे उठाकर समुद्र में फेंक देते। लेकिन खुले अधि-वेशनों में इस तरह के विचार अपवादस्वरूप ही आते हैं। कांग्रेस के अनम्य तंत्र और

जनता के व्यापक आंदोलन के बीच जो घातक दरार पैदा हो गई थी उसकी अभिव्यक्ति कराची अधिवेशन में ही हो चुकी थी। सुभाषचंद्र बोस ने लिखा है कि समझौते के विरोधियों को 'चुने हुए प्रतिनिधियों से बहुत कम समर्थन प्राप्त होता और कांग्रेस के अधिवेशन में केवल चुने हुए प्रतिनिधि मतदान में हिस्सा ले सकते थे लेकिन आम जनता में और खासकर नौजवानों में काफी बड़ी संख्या में लोग उनके साथ थे' ('दि इंडियन स्ट्रगल', पृष्ठ 233)। कांग्रेस के भीतर इन 'तमाम समर्थकों' की आवाज बुलंद करने वाला कोई नहीं था। कराची अधिवेशन में वामपंथी राष्ट्रवादिता के ध्वस्त होने की घटना से गांधी की मजबूत स्थिति का पता चलता है।

बदले में एक प्रगतिशील सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम को स्वीकार करके वामपंथी राष्ट्रवादियों को रियायत दी गई। यह कार्यक्रम 'मूल अधिकार' वाले प्रस्ताव के रूप में था। उसमें काफी आधुनिक किस्म की मूल जनवादी मांगों की सूची थी जिसमें प्रमुख उद्योगों और यातायात का राष्ट्रीयकरण, मजदूरों के अधिकार और कृषिव्यवस्था में सुधार की मांगें शामिल थीं। यह कार्यक्रम, जिसे कांग्रेस आज भी मानती है, स्वीकार करके कांग्रेस ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया था। फिर भी इर्विन-गांधी समझौते के फलस्वरूप आत्मसमर्पण से देश को जो नुकसान हुआ था उसकी पूर्ति इस कार्यक्रम से नहीं हो सकती थी।

कांग्रेस के बाहर युवकों और मजदूरवर्ग के आंदोलन ने समझौते की तीखी आलोचना की। इसकी अभिव्यक्ति युवक संगठनों और सम्मेलनों के अनेक प्रस्तावों में हुई है और गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए रवाना होने के अवसर पर गांधी के खिलाफ बंबई में मजदूरों ने जो जबरदस्त विरोध प्रदर्शन किए थे उनसे भी पता चलता है कि समझौते के बारे में इन लोगों की क्या राय थी। 'दि टाइम्स' समाचारपत्र ने लिखा कि 10 वर्ष पहले इस तरह के प्रदर्शनों के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था।

बड़ी तेजी से और लोगों के भ्रम भी टूटने लगे। 1931 में लंदन के गोलमेज सम्मेलन में (और उच्च आध्यात्मिक विचारों वाले भक्तों की उन अनेक सभाओं में जो गोलमेज सम्मेलन की बैठकों से फुरसत पाने पर जगदगुरु गांधी का संदेश सुनने के लिए हुआ करती थीं) गांधी की क्या भूमिका रही यह यदि उद्घाटित न किया जाए तभी अच्छा है। पुराने जमाने में जिस तरह रोम के सम्राट अपने देश की जनता को दिखाने के लिए विदेशों से कैदियों को पकड़कर मंगवाया करते थे उसी तरह ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्यों के मनोरंजन के लिए भारत से तरह तरह की सरकारी कठपुतलियां मंगवाकर लंदन में इकट्ठा की गई थीं और वे बड़े ही आत्मविश्वास के साथ अपनी मूर्खता और फूट का प्रदर्शन कर रही थीं। गांधी रास्ते में मुसोलिनी से मिलते हुए भारत लौट आए। गोलमेज सम्मेलन का उन्हें कोई लाभ नहीं मिला। वापस लौटते समय गांधी ने रास्ते में यह आशा व्यक्त की कि अब संघर्ष फिर से शुरू करने की आवश्यकता नहीं होगी। पोर्ट सईद से

उन्होंने इंडिया आफिस को तार भेजा कि जहां तक संभव हो सकेगा वह शांति कायम रखने का प्रयत्न करेंगे। भारत पहुंचते ही उन्होंने फौरन ही इस आशय का एक प्रस्ताव तैयार कर डाला। लेकिन उन्होंने इस पर ध्यान नहीं दिया कि ब्रिटिश सरकार कुछ और ही सोच रही थी।

कोड़े का हत्था अब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हाथ में था और उसने इस परिस्थिति का अधिकतम लाभ उठाने का फैसला किया। जो 'समझौता' हुआ था वह शुरू से ही एक-तरफा था, दमन बराबर जारी रहा। 1931 के अंतिम दिनों में जब गांधी स्वदेश वापस आए तो अपने सहयोगियों से उन्होंने एक दर्दभरी कहानी सुनी। उन्होंने फौरन ही वायसराय को तार भेजकर यह निवेदन किया कि उन्हें मिलने का मौका दिया जाए। वायसराय ने उनसे मिलने से इंकार कर दिया। समझौते के बाद के 9 महीनों के प्रत्येक दिन का साम्राज्य-वादियों ने भरपूर इस्तेमाल किया था (और इस बीच लंदन में एक प्रहसन का भी आयोजन कर डाला था)। इस 9 महीने की तैयारी में अंगरेजों ने एक निर्णायक युद्ध की योजना बनाई थी। इसके लिए सर जान एंडरसन को, जिन्होंने आयरलैंड में क्रूर दमन करने में काफी शोहरत हासिल की थी, खास तौर पर बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा गया। इस बार सरकार पूरी तरह तैयार बैठी थी। उसने कांग्रेस को सबक सिखाने की सोच ली थी। उसने तय किया था कि इस बार की लड़ाई में फैसला हो जाना है और जब तक कांग्रेस सरकार के सामने बिना शर्त आत्मसमर्पण नहीं कर देगी तब तक लड़ाई जारी रहेगी।

4 जनवरी 1932 को अंगरेजों ने अचानक बहुत जबरदस्त आक्रमण किया। उसी दिन समझौते की बातें भंग कर दी गईं। वायसराय ने अपना एक घोषणापत्र जारी किया और गांधी को गिरफ्तार कर लिया गया। एक साथ ही कई अध्यादेश जारी कर दिए गए (1930 की तरह इस बार एक एक करके अध्यादेश नहीं जारी किए गए बल्कि पहले ही दिन मानो किसी पिटारे से निकालकर ढेर सारे अध्यादेश लागू कर दिए गए)। देश भर में सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं और संगठनकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस पार्टी और उसके सभी संगठनों को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया, उनके अखबार बंद कर दिए गए। उनके दफ्तरों पर कब्जा कर लिया गया और उनका रुपया पैसा तथा हर तरह की संपत्ति जब्त कर ली गई। यह संगठन की विजय थी।

सरकार ने यह बात स्पष्ट कर दी कि इस बार के हमले का उद्देश्य कांग्रेस को पूरी तरह ध्वस्त करना है। सर सेम्यूअल होर ने हाउस आफ कामंस में बताया कि अध्यादेश 'बहुत कठोर और जबरदस्त हैं' और इस बार लड़ाई 'बिना हार जीत के फैसले' वाली नहीं होगी। भारत सरकार के गृहमंत्री सर हेरी हेग ने कहा : 'हम नकली नियमों के आधार पर खेल के मैदान में नहीं उतरे हैं।'' और जहां तक सरकार का संबंध है इस लड़ाई के लिए समय की कोई सीमा नहीं। बंबई सरकार के प्रवक्ता ने प्रांतीय विधानसभा में यह कहा कि 'दस्ताने पहनकर लड़ाई नहीं लड़ी जाती'।

कांग्रेसी नेता इस आक्रमण से हतप्रभ रह गए। वे यह समझ ही नहीं सके कि गोलमेज सम्मेलन का माहौल कहां गायब हो गया। उन्होंने इस लड़ाई की कोई तैयारी नहीं की थी। 1930 में कांग्रेस आक्रामक की स्थिति में थी। लेकिन इस बार उसे सुरक्षात्मक स्थिति की ओर धकेल दिया गया था। कांग्रेसी नेताओं ने नहीं समझा था कि इर्विन-गांधी समझौते की उन्हें क्या कीमत चुकानी पड़ेगी। कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य डा० सैयद महमूद ने इंडिया लीग के प्रतिनिधिमंडल को बताया :

> दुनिया को उस प्रस्ताव के बारे में कुछ भी नहीं पता है जो महात्मा गांधी ने तैयार किया था और कार्यसमिति के सामने पेश किया था। महात्मा गांधी सहयोग करने पर आमादा थे...सरकार सहयोग नहीं चाहती थी। अंदरूनी बातों की अपनी जानकारी के आधार पर मैं यह कह सकता हूं कि कांग्रेस संघर्ष के लिए तैयार नहीं थी। हमें यह आशा थी कि लंदन से लौटने पर महात्मा जी किसी तरह शांति कायम कर लेंगे। (इंडिया लीग डेलीगेशन की रिपोर्ट, 'कंडीशन आफ इंडिया', 1933, पृष्ठ 27)

उन्होंने आगे यह भी कहा कि 'उन्हें और उनके सहयोगियों को निश्चित रूप से यह जानकारी है कि सरकार ने दमन की तैयारी नवंबर में ही कर ली थी जब गांधी जी लंदन में थे। सरकार के इस अचानक हमले ने कांग्रेस को लड़खड़ा दिया।'

इस बार 1932-33 में जो दमन हुआ, वह 1930-31 के दमन से कहीं ज्यादा जबरदस्त था। 2 मई 1932 को पंडित मालवीय ने एक सार्वजनिक रिपोर्ट तैयार की जिसके अनुसार पहले चार महीनों में 80,000 लोग गिरफ्तार किए गए थे। अप्रैल 1933 में कांग्रेस के गैर-कानूनी ढंग से आयोजित कलकत्ता अधिवेशन में पेश की गई इस रिपोर्ट के अनुसार पंद्रह महीनों बाद अर्थात मार्च 1933 के अंत तक गिरफ्तार किए गए लोगों की संख्या 120,000 तक पहुंच गई थी। 1933 में प्रकाशित 'कंडीशन आफ इंडिया' शीर्षक से इंडिया लीग के प्रतिनिधिमंडल की रिपोर्ट से पता चलता है कि इन गिरफ्तारियों के साथ साथ सरकार की ओर से कितने बड़े पैमाने पर हिंसा की गई, लोगों को कितनी शारीरिक यातनाएं दी गईं, किस तरह उनपर गोलियां चलाई गईं, गांवों और शहरों पर पुलिस ने किस तरह हमले किए, सामूहिक जुर्माने किए और गांव वालों की जमीन जायदाद जब्त कर ली।

सरकार ने अनुमान लगाया था कि छः हफ्ते में लड़ाई का निपटारा हो जाएगा लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन इतना शक्तिशाली निकला कि प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद 29 महीनों तक लड़ाई चलती रही और इसके बाद ही कांग्रेस ने अंतिम रूप से आत्मसमर्पण किया। फिर भी यह लड़ाई केवल सैनिकों ने लड़ी थी जिनको सेनापतियों का नेतृत्व नहीं प्राप्त था। स्थितियां ऐसी थीं जिनमें सारा काम गैरकानूनी ढंग से करना पड़ता था और जबरदस्त दमनचक्र चल रहा था। ऐसी अवस्था में आंदोलन का नेतृत्व करना काफी

कठिन काम था। लेकिन गांधी और कांग्रेस हाई कमान ने इस काम को और आसान नहीं किया। उनके सारे काम ऐसे थे जिनसे पता चलता था कि गांधी और हाई कमान नेतृत्व की जिम्मेदारी से न केवल बच रहे थे बल्कि उसे अस्वीकार भी कर रहे थे। उनकी ओर से गोपनीयता के विरुद्ध आदेश जारी कर दिए गए (जबकि कांग्रेस गैरकानूनी घोषित की जा चुकी थी) क्योंकि यह कांग्रेस के सिद्धांतों के खिलाफ था। जमींदारों को एक प्रस्ताव द्वारा आश्वासन दिया गया कि उनके हितों के खिलाफ किसी आंदोलन को स्वीकृति नहीं दी जाएगी। 1932 की गरमियों तक गांधी ने राष्ट्रीय संघर्ष में दिलचस्पी लेना बिलकुल बंद कर दिया और सारा समय हरिजनों के हित के लिए काम करने लगे। सितंबर में उन्होंने नाटकीय 'आमरण अनशन' किया था। यह दमन के विरुद्ध न था और न ही यह अनशन जिंदगी और मौत की उस लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए किया गया था जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन पूरी तरह लगा हुआ था। इसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि विधानसभाओं में 'दलित वर्गों' के प्रतिनिधियों को अलग से निर्वाचित करने की योजना को रोका जाए। अनशन समाप्त हो गया, वह न तो आमरण हुआ और न ही उसका उद्देश्य पूरा हुआ, बल्कि पूना का समझौता हो जाने पर अनशन समाप्त किया गया। इस समझौते के द्वारा 'दलित जातियों' के लिए सुरक्षित सीटों की संख्या दुगनी कर दी गई। इस घटना का नतीजा यह हुआ कि लोगों का ध्यान राष्ट्रीय आंदोलन से हट गया जिसके नेता अब भी गांधी ही समझे जाते थे।

मई 1933 में गांधी ने एक नया अनशन शुरू किया। यह अनशन भी सरकार के खिलाफ नहीं था बल्कि इसका उद्देश्य देशवासियों का हृदय परिवर्तन करना था। गांधी ने अपने इस अनशन के बारे में बताया कि 'इस व्रत का उद्देश्य मेरी अपनी और मेरे सहयोगियों की आत्मशुद्धि करना है ताकि हम लोग हरजिन उद्धार के लिए और अधिक सतर्क हो जाएं।' इस वक्तव्य पर सरकार काफी प्रसन्न हुई और उन्हें बिना शर्त रिहा कर दिया गया ताकि यह संत पुरुष अपना शुभ कार्य कर सके। इसके फौरन बाद ही गांधी की सहमति से कांग्रेस के कार्यवाहक अध्यक्ष ने छः हफ्ते के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया। गांधी के शब्दों में कहें तो आंदोलन इसजिए नहीं बंद किया गया था कि सरकार ने कांग्रेस की कोई शर्त मान ली थी या इसकी कोई आशा पैदा हो गई थी बल्कि इसलिए बंद किया गया था कि जब तक उनका अनशन जारी रहेगा तब तक देश 'भयंकर रूप से बेचैनी की स्थिति' में रहेगा और इसलिए इस अवधि में आंदोलन रोक देना ही बेहतर होगा (भले ही सरकार अपना दमनचक्र न रोके)।[5]

जुलाई 1932 में गांधी ने वायसराय से मिलने का अनुरोध किया पर उनका यह अनुरोध नामंजूर कर दिया गया। वायसराय ने कहा कि जब तक सविनय अवज्ञा आंदोलन अंतिम तौर पर समाप्त नहीं कर दिया जाता, वह नहीं मिल सकते। कांग्रेस के नेताओं ने फैसला किया कि सामूहिक आंदोलन समाप्त करके व्यक्तिगत तौर पर सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया जाए। इसके साथ ही कांग्रेस के कार्यवाहक अध्यक्ष ने कांग्रेस के सभी संगठनों

को भंग कर दिया। सरकार ने इस पर जो प्रतिक्रिया व्यक्त की वह यही थी कि व्यक्तिगत सत्याग्रहियों पर दमन और तेज कर दिया गया। अगस्त में गांधी फिर गिरफ्तार कर लिए गए लेकिन उन्होंने अनशन शुरू कर दिया और एक महीने के अंदर ही उन्हें रिहा कर दिया गया। शरद में उन्होंने घोषणा की कि अब वह राजनीति में भाग नहीं लेंगे क्योंकि उनकी अंतरात्मा को अब यह गवारा नहीं है। उन्होंने हरिजनों के उद्धार के लिए यात्रा शुरू की। इस बीच आंदोलन घिसटता रहा, न तो वह समाप्त ही हुआ और न उसको नेतृत्व ही मिल सका।

वह आंदोलन मई 1934 में जाकर समाप्त हुआ जो 1930 में बड़ी शान के साथ शुरू हुआ था। अप्रैल के महीने में गांधी ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उन्होंने आंदोलन की विफलता के कारणों के बारे में अपनी राय जाहिर की थी। उनके विचार से आंदोलन की विफलता का सारा दोष जनता पर था। 'मेरे विचार से जनता अभी तक सत्याग्रह का संदेश ग्रहण नहीं कर पाई है क्योंकि यह जनता तक पहुंचते पहुंचते अशुद्ध हो जाता है। मेरे लिए अब यह बात साफ हो गई है कि आध्यात्मिक अस्त्रों के इस्तेमाल का तरीका जब गैरआध्यात्मिक माध्यमों से बताया जाता है जो वे अपनी ताकत खो बैठते हैं…तमाम लोगों के निष्क्रिय सत्याग्रह से…शासकों का हृदय नहीं पसीजा है।' जन सत्याग्रहों के स्थान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह का तरीका अपना लेने के बावजूद जनआंदोलन को नियंत्रण में रखने की समस्या का समाधान नहीं हो सका। इसलिए अकाट्य तर्कपद्धति के आधार पर यह नतीजा निकाला गया कि 'एक समय में केवल एक ही योग्य व्यक्ति को सत्याग्रह करना चाहिए।' 'वर्तमान परिस्थितियों में फिलहाल मुझे ही सत्याग्रह की जिम्मेदारी उठानी चाहिए।' गांधीवादी सिद्धांत ने भारतीय जनता की मुक्ति के लिए 'अहिंसक असहयोग' का जो रास्ता निर्धारित किया था, उसका अंत में जाकर यही असंगत प्रदर्शन रहा।

मई 1934 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को पटना में अपना अधिवेशन करने दिया गया ताकि वह बिना शर्त सत्याग्रह आंदोलन समाप्त कर दे (गांधी द्वारा सुझाए गए एक-मात्र अपवाद को छोड़कर)। सरकार ने न तो कोई शर्त रखी थी और न कोई रियायत दी थी। इसके साथ साथ कमेटी ने आने वाले चुनावों को सीधे कांग्रेस के नाम पर लड़ने के लिए कुछ फैसले भी ले लिए थे। इसके लिए पहले से ही जमीन तैयार कर ली गई थी।

जून 1934 में सरकार ने कांग्रेस पर से प्रतिबंध हटा लिया पर कांग्रेस की सहयोगी संस्थाओं, युवक संगठनों, किसान सभाओं और उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत (सरहदी सूबा) के लाल कुर्तीधारियों के संगठनों (खुदाई खिदमतगारों) पर प्रतिबंध बना रहा। जुलाई 1934 में सरकार ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को गैरकानूनी करार दिया। अब संघर्ष का एक नया अध्याय शुरू हो रहा था।

1934 के शरद में गांधी ने कांग्रेस की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया, उनका काम फिल-हाल पूरा हो चुका था। कांग्रेस से अलग होते हुए उन्होंने एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने बताया कि, 'मुझमें और अनेक कांग्रेसियों में मतभेद हैं और वह बढ़ता ही जा रहा है।' यह स्पष्ट था कि 'कांग्रेसियों के बहुमत' के लिए 'अहिंसा' कोई 'बुनियादी धर्म' नहीं था बल्कि यह एक 'नीति' थी। कांग्रेस में समाजवादी लोगों की संख्या बढ़ रही थी और उनका प्रभाव भी बढ़ रहा था। 'यदि कांग्रेस में उनका प्रभुत्व कायम हो गया जिसकी काफी संभावना है तो मैं कांग्रेस में नहीं रह सकता।' यह नया चरण महसूस किया जा रहा था और पुराने विचारों के लोगों को यह पसंद नहीं था। गांधी ने कांग्रेस छोड़ दी लेकिन वह उससे तब तक अलग नहीं हुए जब तक उन्होंने कांग्रेस के संविधान एवं संगठन में कुछ प्रतिक्रियावादी संशोधन नहीं करा दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रगतिशील दिशा में कांग्रेस के बढ़ने में काफी दिक्कतें आईं। अब वे पर्दे के पीछे रहकर कांग्रेस के अत्यंत शक्तिशाली पथप्रदर्शक बन गए और इस बात के लिए तैयार बैठे रहे कि जरूरत पड़ने पर फिर से कांग्रेस का नेतृत्व अपने हाथ में ले लें। 1939-40 के संकट में और फिर 1942 में उन्होंने कांग्रेस का नेतृत्व सीधे अपने हाथ में ले लिया।

1930-34 में संघर्ष की जो महान लहर उठी थी, उसके दुखद अंत में हमें एक क्षण के लिए भी यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इस आंदोलन की महान उपलब्धियां रहीं, इसने अत्यंत गंभीर और स्थाई महत्व के सबक दिए तथा इसके महान लाभ प्राप्त हुए। इस आंदोलन के पीछे जनता की असीम श्रद्धा, निष्ठा, त्याग और समर्थन था और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आंदोलन सफलता के काफी करीब तक पहुंच गया था लेकिन इसे अस्थाई तौर पर विफलता मिली। हमें यह खोज करनी चाहिए कि नेताओं के किन तरीकों और उनकी किन कार्यपद्धतियों के कारण यह असफल हो गया। इससे हमें एक महत्वपूर्ण सबक मिलता है जिसका हमें बार बार अध्ययन करना चाहिए ताकि भविष्य में हम उन खामियों को दूर कर सकें। असफलता के कारणों का हम इस अध्याय में वर्णन कर चुके हैं। लेकिन उन वर्षों में जो घटनाएं घटित हुईं, उनपर राष्ट्रीय आंदोलन गर्व कर सकता है। साम्राज्यवादियों ने इन वर्षों में दमन के अपने आधुनिक शस्त्रागार के प्रत्येक शस्त्र का इस्तेमाल किया ताकि भारत की जनता को वह अपनी मरजी के आगे झुका ले, उनको कुचलकर रख दे और आजादी की उनकी लड़ाई को मटियामेट कर दे लेकिन वह इस काम में विफल रहा। साम्राज्यवादियों के जबरदस्त दमन के बावजूद दो वर्षों के अंदर ही राष्ट्रीय आंदोलन पहले से भी ज्यादा तीव्र वेग से आगे बढ़ चला। यह संघर्ष व्यर्थ नहीं गया था। संघर्ष की भट्टी में तपकर इस आंदोलन ने जनता में एक नई और अपेक्षाकृत अधिक राष्ट्रीय एकता, आत्मविश्वास, गौरव और संकल्प को जन्म दिया। आज वे ही संघर्ष फल दे रहे हैं। अंतिम संघर्ष आज भी सामने है। लेकिन आज इस संघर्ष के लिए पहले से कहीं अधिक जबरदस्त तैयारी है।

पाद टिप्पणियां

1. ब्रिटिश संस्थाओं के प्रति इन पुराने कांग्रेसी नेताओं की प्रचुर प्रशंसा भरे रुख की विडंबना पर भी गौर किया जाना चाहिए। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने ही 1892 के कांग्रेस अधिवेशन में एलान किया था : हम एक विशाल और स्वतंत्र साम्राज्य के नागरिक हैं और हम एक ऐसे उदात्त संविधान की छत्रछाया में पल रहे हैं जैसा विश्व में पहले कभी न था। अंगरेजों के अधिकार हमारे अधिकार हैं, उनके विशेषाधिकार हमारे विशेषाधिकार हैं, उनका संविधान हमारा संविधान है। लेकिन हमें उनसे बहिष्कृत किया गया है।
2. बाद में बंबई के तत्कालीन गवर्नर लार्ड लायड ने एक भेंट वार्ता में 1922 के संकट के बारे में सरकार का दृष्टिकोण बताया। उन्होंने सरकार के इस दृष्टिकोण की भी अभिव्यक्ति की कि गांधी द्वारा आंदोलन वापस ले लिए जाने से ही सरकार बच सकी :

   उन्होंने हमारे अंदर दहशत फैला दी। उनके कार्यक्रम ने हमारी जेलें भर दीं। आप लगातार लोगों को गिरफ्तार करते ही जाएं यह नहीं हो सकता और खास तौर से तब जब लोगों की तादात 31 करोड़ 90 लाख हो। अगर लोग उनके अगले कार्यक्रम पर अमल करना शुरू कर देते और टैक्स देना बंद कर देते तो भगवान ही जानता है कि हमारी क्या हालत होती।

   विश्व इतिहास में गांधी का प्रयोग अत्यंत विराट था और इसे सफलता पाने में इंच भर की देर थी। लेकिन वह लोगों के उत्साह पर काबू नहीं पा सके। लोग उग्र हो उठे और उन्होंने अपना कार्यक्रम वापस ले लिया। बाद का किस्सा आपको पता ही है, हमने उन्हें जेल में डाल दिया। (ड्रियु पियर्सन के साथ लार्ड लायड की भेंटवार्ता जिसे सी० एफ० एंड्रूज ने 3 अप्रैल 1939 के 'न्यू रिपब्लिक' में उद्धृत किया है।)
3. 1930 में असहयोग आंदोलन शुरू करने का गांधी का उद्देश्य यह था कि हिंसक क्रांति की पहले से ही रोकथाम कर दी जाए और अपने इस उद्देश्य को उन्होंने अपने वक्तव्यों और पत्रों में स्पष्ट कर दिया था। उनके शिष्य सी० एफ० एंड्रूज ने ही लिखा है :

   उनके पत्र मुझे मिले हैं जिनमें उन्होंने अपने व्यक्तिगत कारण बताए हैं, और उन्होंने समाचारपत्रों में उन बातों पर विस्तार से प्रकाश डाला है जिनके कारण उन्हें ऐसे कदम उठाने पड़े जो ऊपर से देखने पर हताशा में उठाए गए कदम लगते हैं। मिसाल के तौर पर, उन्होंने मुझे लिखा कि भारत सरकार अपनी दमनकारी नीति के जरिए दिनोंदिन हिंसा बढ़ाती जा रही है और इसकी तीखी प्रतिक्रिया—खासतौर से 'यंग इंडिया' में व्यक्त हुई। इस तरह की स्थिति से निबटने का एकमात्र तरीका यह था कि अहिंसात्मक आंदोलन चलाकर इसकी रोकथाम की जाए और इस काम की अगुवाई वह स्वयं करते हैं, चाहे इसमें कितना भी खतरा क्यों न हो। ('स्पैक्टेटर' में सी० एफ० एंड्रूज का लेख, 27 सितंबर 1930)
4. 14 जुलाई 1930 को विधानसभा में सरकारी तौर पर दिए गए एक प्रश्नोत्तर में बताया गया कि 1 अप्रैल से 14 जुलाई तक गोलीकांड की 24 घटनाएं हुईं। इनमें 103 लोग मारे गए और 420 घायल हुए।
5. इस फैसले के जबरदस्त प्रहार के कारण ही सुभाषचंद्र बोस और वी० पटेल ने, जो उस समय भारत से बाहर थे, एक घोषणापत्र जारी किया जिसमें कहा गया था कि : गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने का जो ताजा कदम उठाया है कि वे असफल हो चुके हैं—हमारी यह स्पष्ट राय है कि राजनेता के रूप में गांधी असफल हो चुके हैं। अब वह समय आ गया है जब एक नए सिद्धांत और नई कार्यपद्धति के आधार पर कांग्रेस का आमूल पुनर्गठन किया जाए और इसके लिए एक नए नेतृत्व का होना आवश्यक है।

12
मजदूरवर्ग का उदय और समाजवाद

भारतीय मज़दूरवर्ग अब इतना परिपक्व हो चुका है कि वह वर्ग चेतना से पूर्ण और राजनीतिक जनसंघर्ष चला सकता है, और ऐसी स्थिति होने के कारण भारत में आंग्ल रूसी पद्धतियां पुरानी पड़ चुकी हैं। (1908 में लेनिन का कथन)

37 वर्ष पूर्व यह संभव था कि ब्रिटेन के मजदूरवर्ग को संगठित करके और उनमें राजनीतिक चेतना का संचार करने में समाजवाद के पक्षधर जिन ब्रिटिश नेताओं ने अग्रगामी का कार्य किया और जिन्होंने भारतीय जनता के मित्र तथा ब्रिटिश शासन के आलोचक के रूप में भारत की यात्रा की, वे भारत से लौटने पर भारत के बारे में ऐसी पुस्तक लिख लें जिसमें भारतीय मजदूरवर्ग का न तो कहीं उल्लेख हो और न इस बात की ही किसी संभावना का अंदाजा लगाया गया हो कि भविष्य में यहां किसी मजदूर आंदोलन का अस्तित्व हो सकता है (कैर हार्डी, इंडिया : 'इंप्रेशंस ऐंड सजेशंस', 1909 में प्रकाशित)। इसी प्रकार 1910 में प्रकाशित मैंकडोनल्ड की पुस्तक 'दि अवेकेनिंग आफ इंडिया' में हमें केवल एक स्थल ऐसा मिलता है जहां यह अटकल लगाई गई है कि भविष्य में कभी भारत का मजदूरवर्ग किसी तरह का 'मजदूर संगठन' बना सकता है : 'ये संगठन संभवत: भारत की जातियों और ग्रेट ब्रिटेन के मजदूर संघों के बीच होंगे।' (पृष्ठ 179)

भारतीय घटनाओं के विकासक्रम की इन भावी निर्णायक शक्तियों के प्रति यह संकीर्ण अंधापन जानबूझकर नहीं था। सतह के नीचे जो वास्तविक शक्तियां दबी पड़ी थीं उन्हें उस समय केवल वही देख सकता था जिसकी दृष्टि मार्क्सवादी हो, वही भविष्य के लिए उनके महत्व को समझ सकता था। लेनिन ने 1908 में ही 'भारतीय सर्वहारावर्ग' के उदय

का स्वागत किया था और कहा था कि यह वर्ग अब इतना परिपक्व हो चुका है कि वह वर्गचेतना से पूर्ण और राजनीतिक जनसंघर्ष छेड़ सकता है। लेनिन के इस कथन का आधार बंबई के मिल मजदूरों की वह राजनीतिक हड़ताल थी जो उन्होंने उस वर्ष तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में की थी। इस हड़ताल के ही आधार पर लेनिन ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत में ब्रिटिश शासन के दिन अब लद चुके हैं।

आज घटनाओं के वेग ने लेनिन की इस अंतर्दृष्टि को सही साबित कर दिया है। इन घटनाओं के प्रति अब पहले की तरह आंखें बंद रखना संभव नहीं है। भारत के राष्ट्रीय संघर्ष के इतिहास ने अपनी एक के बाद एक नई मंजिल से यह प्रदर्शित कर दिया है कि मजदूरवर्ग की भूमिका और उसका महत्व तेजी से बढ़ रहा है और समाजवाद या साम्य-वाद के प्रश्न भारत में चलने वाली राजनीतिक बहस के मुख्य प्रश्न बन गए हैं।

1914 से पहले के वर्षों में मजदूर वर्ग की यह भूमिका पृष्ठभूमि में पड़ी हुई थी। उस समय तक मजदूर वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन के आगे चलने के बजाय उसके पीछे पीछे चलता था। उन वर्षों में मजदूर वर्ग ने जो एकमात्र असाधारण राजनीतिक कार्य किया वह था तिलक को 6 वर्ष की सजा दिए जाने के विरोध में बंबई में आम हड़ताल। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर भारत में चेतना के एक नए युग का सूत्रपात हुआ। यह शुरुआत 1918-21 की जबरदस्त हड़ताल से हुई। इस हड़ताल ने राष्ट्रीय क्रांतिकारी लहर के लिए अग्रदूत का काम किया और इसने ही अंततः कांग्रेस को भी आंदोलन के लिए प्रेरित किया जिसके फलस्वरूप 1920-22 का असहयोग आंदोलन छिड़ा।

इसके दस वर्ष बाद स्थिति यह थी कि मजदूर वर्ग ने एक संगठित और स्वतंत्र शक्ति का रूप ले लिया, उसकी अपनी विचारधारा राजनीतिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष भूमिका अदा करने लगी हालांकि उसने अभी तक नेतृत्व की भूमिका नहीं प्राप्त की। 1928 में जबरदस्त हड़तालें हुईं जिनका नेतृत्व जुझारू वर्गचेतना से लैस सर्वहारावर्ग ने किया। इसके साथ साथ युवकों और निम्न पूंजीपतिवर्ग के बीच भी एक नई चेतना आई और उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष की नई लहर का नेतृत्व किया। 1930-34 के संघर्ष की इस नई लहर के दौरान भारत के बुजुर्ग नेताओं ने साफ साफ कहा कि उन्हें दो मोर्चों पर एक साथ संघर्ष चलाना पड़ रहा है, वे एक तरफ साम्राज्यवाद के खिलाफ और दूसरी तरफ नीचे से उठने वाले क्रांतिकारी आंदोलन के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद से यह बात अब पहले की तुलना में और स्पष्ट हो गई है कि भारत की भावी राजनीति में मजदूर-वर्ग ही निर्णायक शक्ति का काम करेगा।

1. औद्योगिक मजदूरवर्ग का विकास

प्रचलित अर्थों में कहें तो भारतीय मजदूरवर्ग संख्या की दृष्टि से भारत की आबादी की तुलना में अधिक नहीं है। लेकिन चूंकि निर्णायक केंद्रों पर इसका जमाव है इसलिए वह

सबसे ज्यादा सुसंगत, सबसे ज्यादा विकसित, सर्वाधिक कृतसंकल्प और बुनियादी तौर पर आबादी का सबसे अधिक क्रांतिकारी हिस्सा है।

अक्तूबर 1922 में लीग आफ नेशंस की कौंसिल में ब्रिटिश सरकार की ओर से बोलते हुए लार्ड चेम्सफोर्ड ने कहा था कि भारत में 2 करोड़ 'औद्योगिक मजदूर' हैं :

> भारत के इस खास दावे का औचित्य सिद्ध करना अभी शेष है कि उसे आठ प्रमुख औद्योगिक देशों में शामिल कर लिया जाए। उसके इस दावे के व्यापक सामान्य आधार हैं और इन दावों का औचित्य ठहराने के लिए आंकड़ों की जरूरत नहीं है। भारत में औद्योगिक मजदूरी पर जीवनयापन करने वालों की संख्या काफी है जो अनुमानतः 2 करोड़ है। इसके अलावा खेतिहर मजदूरों की एक बड़ी तादाद है।

विश्व के प्रमुख औद्योगिक देशों की श्रेणी में भारत को स्थान दिलाने के लिए बढ़ाचढ़ाकर इस तरह के दावे किए गए थे जो कूटनीतिक धोखाधड़ी का ही एक हिस्सा था। यह जिनेवा में ब्रिटिश सरकार के हाथों में अतिरिक्त मत दिलाने की चाल थी। मजदूरों की संख्या जो दो करोड़ बताई गई थी, उसमें प्रचुर संख्या दस्तकारों और घरेलू उद्योगों में लगे मजदूरों की थी जिनका आधुनिक उद्योग से कोई संबंध न था।

इसी प्रकार 1927-28 में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के जिस प्रतिनिधिमंडल ने भारत की यात्रा की थी उसने अपनी रिपोर्ट में अनुमान लगाया था कि भारत में 'संगठनीय मजदूरों' की संख्या ढाई करोड़ से अधिक है। लेकिन इस ढाई करोड़ में से कम से कम 2 करोड़ 15 लाख लोग खेतिहर सर्वहारा थे जो किसी पूंजीवादी खेती में नहीं लगे थे (इनमें से 10 लाख लोग बागानों में काम करते थे), इन्हें कभी रोजगार मिलता था कभी नहीं मिलता था, ये अत्यंत गरीबी की हालत में थे और प्रचलित अर्थों में किसी मजदूर संगठन की इनकी क्षमता नहीं थी (हालांकि किसान आंदोलन में इनकी बड़ी सक्षम भूमिका हो सकती थी)। उनके विश्लेषण के अनुसार, औद्योगिक 'संगठनीय मजदूरों' की संख्या मात्र 35 लाख थी।

भारतीय मजदूरवर्ग की शक्ति का अनुमान लगाने के लिए यह भेद समझ लेना जरूरी है कि भारत में संपत्तिहीन सर्वहारा की संख्या काफी अधिक है और आधुनिक उद्योग में लगे मजदूरों की संख्या कम है। लेकिन यही वह वर्ग है जो भारतीय मजदूरवर्ग का सबसे संगठित, निर्णायक, सचेतन और अग्रणी हिस्सा है।

भारतीय मजदूरवर्ग की संख्या को कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। 1931 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार :

> भारत जैसे विशाल आबादीवाले देश के सन्दर्भ में देखें तो संगठित श्रम में लगे मजदूरों की संख्या असाधारण रूप से कम है और ब्रिटिश भारत के संस्थानों में काम करने वालों की औसत दैनिक संख्या, जिनपर फैक्टरीज ऐक्ट लागू होता है, केवल 1,553,169 है···
>
> 1921 में संपूर्ण भारत में बागानों, खानों, उद्योग और परिवहन में काम कर रहे लोगों की संख्या 24,239,555 थी जिनमें से केवल 22,685,909 लोग ऐसे संगठित संस्थानों में थे जिनमें 10 या 10 से अधिक कर्मचारी काम करते हों।
>
> 1931 में इसी खाते में लोगों की कुल संख्या 26,187,689 थी और यदि इस तरह के संस्थानों में काम कर रहे श्रमिकों का अनुपात वही हो तो यह संख्या अब 2,901,776 हो जाएगी। औसतन रोजाना काम करने वालों की संख्या से पता चलता है कि पिछले 10 वर्षों के दौरान इस संख्या में लगभग 30 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है। इस हिसाब से यह संख्या इस समय 3,500,000 होनी चाहिए। 1931 में भारत में संगठित मजदूरों की संख्या यदि 5,000,000 मान लें तो संभवतः यह उचित संख्या होगी। (सेंसस आफ इंडिया, 1931, खंड 1, भाग I, पृष्ठ 285)

व्यापक अर्थों में लें, तो भारत में मजदूरी पर अपनी जीविका चलाने वालों की संख्या अनुमानतः लगभग 6 करोड़ थी। भारतीय मताधिकार समिति (इंडियन फैंचाइज कमेटी) के अनुसार 1931 में यह संख्या 5 करोड़ 65 लाख थी :

> 1921 में खेतिहर मजदूरों की कुल संख्या 2 करोड़ 15 लाख बताई गई थी जबकि 1931 की जनगणना से पता चला कि यह संख्या 3 करोड़ 15 लाख से अधिक हो गई है। इसमें से, भारतीय मताधिकार समिति के अनुसार, 2 करोड़ 30 लाख लोग भूमिहीन थे और समिति के अनुसार गैरखेतिहर मजदूरों की कुल संख्या 2 करोड़ 50 लाख थी। इस प्रकार संपूर्ण भारत में विभिन्न धंधों में लगे लोगों की 15 करोड़ 40 लाख की संख्या में से मजदूरी पर जीने वालों की संख्या 5 करोड़ 65 लाख आती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी तरह के धंधों में लगी पूरी कुल आबादी का 36 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा मजदूरी करके अपनी रोटी चलाता है। (आई० एल० ओ० रिपोर्ट 1938, 'इंडस्ट्रियल लेबर इन इंडिया', पृष्ठ 30)

यदि औद्योगिक सर्वहारा शब्द को बहुत संकीर्ण अर्थों में लिया जाए और इस श्रेणी में केवल उन्हीं लोगों को रखा जाए जो आधुनिक उद्योगों में लगे हैं और छोटे कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को छोड़ दिया जाए तो 1921 की जनगणना से हमें पता चलता

है कि दस या इससे ज्यादा मजदूरों से काम लेने वाले कारखानों के मजदूरों की कुल संख्या 26 लाख थी। इसके बाद कोई औद्योगिक जनगणना नहीं हुई लेकिन ऊपर 1931 की जिस जनगणना का उल्लेख है उसके अनुसार ऐसे मजदूरों की संख्या 35 लाख तक हो गई है। फैक्टरीज ऐक्ट प्रशासन ही सही आंकड़े दे सकता है। 1934 के ताजा फैक्टरीज ऐक्ट के अंतर्गत वही कारखाने आते हैं जिनमें विद्युतशक्ति से मशीनें चलती हैं और जिनमें बीस या उससे ज्यादा मजदूर और कहीं कहीं 10 या 10 से ज्यादा मजदूर काम करते हैं। इस तरह के कारखानों में 1938 में कुल 1,737,755 मजदूर काम करते थे। इस संख्या में उन 299,003 मजदूरों को जोड़ना पड़ेगा जो भारतीय रियासतों के 'बड़े औद्योगिक संस्थानों' में काम करते थे। इस प्रकार भारत के बड़े और आधुनिक उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की कुल संख्या 2,036,758 थी।

इसको आधार मानकर हम निम्नांकित निष्कर्ष पर पहुंचते हैं :

मंझोले और बड़े कारखानों में मजदूरों की संख्या

(उपर्युक्त आधार पर)..	2,036,758
खान मजदूर...	413,458
रेल मजदूर...	701,307
जल परिवहन (गोदी मजदूर, नाविक)*...	361,000
इन सब वर्गों का जोड़	3,512,523

*यह 1935 की संख्या है।

यह 35 लाख मजदूर आज के भारत के विशाल आधुनिक उद्योगों में कार्यरत औद्योगिक सर्वहारा के मूल तत्व हैं। इसमें वे मजदूर नहीं शामिल हैं जो छोटे उद्योगों में (अर्थात् दस से कम मजदूरोंवाले उद्योगों में) काम करते हैं या ऐसे बड़े कारखानों में काम करते हैं जिनमें विद्युत शक्ति का इस्तेमाल नहीं होता है (जैसे सिगरेट बनाने के कुछ कारखानों में जिनमें बिना पावर के मशीनें चलती हैं 50 से अधिक व्यक्ति काम करते हैं)। संगठित मजदूर आंदोलन की ताकत का सही सही अंदाजा लगाने की दृष्टि से हमें इस संख्या में उन दस लाख से ज्यादा मजदूरों को भी जोड़ना पड़ेगा जो बागानों में काम करते हैं। बागानों में काम करने वाले मजदूर ऐसे मजदूर हैं जिन्हें काफी बड़े उद्योगों में लगाकर अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से दासता की बेड़ियों में जकड़ दिया जाता है। इन मजदूरों ने अशांति के दिनों में अपनी जबरदस्त जुझारू गतिविधियों का परिचय दिया है हालांकि ये अभी तक हर तरह के संगठनों से कटे हुए हैं और इन्हें गुलाम बनाकर बिलकुल अलग थलग रखा गया है। इसके अलावा छोटे मोटे उद्योगों और फैक्टरीज ऐक्ट के दायरे में न आने वाले बड़े उद्योगों के मजदूरों के एक हिस्से को भी जोड़ना चाहिए। इस प्रकार भारत में संगठित किए जाने योग्य कुल मजदूरों की संख्या 50 लाख से ज्यादा होनी चाहिए।

फैक्टरीज ऐक्ट के आंकड़ों में औद्योगिक सर्वहारा की वृद्धि का ब्यौरा दिया हुआ है (इससे इस ऐक्ट के तहत निर्धारित क्षेत्र के विस्तार का भी पता चलता है) :

सन	कारखानों की संख्या	रोजाना काम करने वालों की औसत संख्या
1894	815	349,810
1902	1,533	541,634
1914	2,936	950,973
1918	3,436	1,122,922
1922	5,144	1,361,002
1926	7,251	1,518,391
1930	8,148	1,528,302
1935	8,831	1,610,932
1936	9,323	1,652,147
1938	9,743	1,737,755
1939	10,466	1,751,137
1943	13,209	2,436,310
1944	14,071	2,522,753

2. मजदूरवर्ग की हालत

भारत में मजदूरवर्ग की स्थिति के बारे में हमने इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में एक सामान्य तस्वीर पेश की है। 1928 में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रतिनिधिमंडल ने भारत की यात्रा के बाद जो रिपोर्ट पेश की थी, उसके निष्कर्षों को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा :

> सारी जांच पड़ताल से पता चलता है कि भारत के मजदूरों की एक विशाल संख्या को लगभग 1 शिलिंग प्रतिदिन से अधिक मजदूरी नहीं मिलती। बंगाल प्रांत में औद्योगिक मजदूरों का सबसे बड़ा हिस्सा है और इस सूबे में जांच से यही पता लगाया जा सका है कि यहां के 60 प्रतिशत मजदूरों की अधिकतम मजदूरी 1 शिलिंग 2 पेंस प्रतिदिन से अधिक नहीं है। यह राशि पुरुषों के लिए कहीं कहीं तो 7 पेंस प्रतिदिन और महिलाओं तथा बच्चों के लिए 3 से 7 पेंस प्रतिदिन तक है···हमारी अपनी जांचों से भी पता चला है कि इन्हें इतनी ही मजदूरी मिलती है और वस्तुतः दैनिक मजदूरी के बारे में हमें जो आंकड़े मिले हैं वे महिलाओं के लिए सवा तीन पेंस प्रतिदिन और पुरुषों के लिए 7 पेंस या इससे भी कम है।
> (ए० ए० परसेल और जे० हाल्सवर्थ, 'रिपोर्ट आन लेबर कंडीशंस इन इंडिया', ट्रेड यूनियन कांग्रेस, 1928, पृष्ठ 10)

इसी प्रतिनिधिमंडल ने मजदूरों के आवास के बारे में लिखा :

हम जहां कहीं भी ठहरे वहां हमने मजदूरों के क्वार्टरों को देखा और यदि हमने स्वयं यह सब नहीं देखा होता तो हमें यह यकीन नहीं होता कि ऐसी गंदी जगहें भी हैं···यहां 'लाइनों' में मकानों के समूह हैं जिनके मालिक इन मकानों के किरायेदारों से किराए के रूप में प्रतिमाह 4 शिलिंग 6 पेंस लेते हैं। मकान के नाम पर यह 9 फीट लंबी और 9 फीट चौड़ी एक अंधेरी कोठरी है जिसकी दीवालें मिट्टी की हैं, और टूटी-फूटी छत है। इसी कमरे में लोग रहते हैं, खाना बनाते हैं और सोते भी हैं। इन कमरों के सामने एक छोटा सा आंगन है जिसके एक कोने में पाखाना बना है। रहने के मकान में कोई खिड़की नहीं है, केवल दरवाजे के ऊपर छत को तोड़कर एक सुराख बनाया गया है जिससे रोशनी और हवा आ सकती है। इन कोठरियों के बाहर एक लंबी संकरी नाली है जिसमें हर तरह का कूड़ा कचरा डाला जाता है और जिसपर ढेर सारी मक्खियां भिनभिनाती रहती हैं···सभी कोठरियों के बाहर दोनों सिरों पर, लाइनों के बीच छोटी सी जगह है जहां खुली गलियां हैं। ये गलियां कूड़ों के मलबों से बंद हैं और इनसे भयंकर बदबू आती है। जाहिर है कि इन गलियों को लोग, खास तौर से बच्चे शौचालय के रूप में इस्तेमाल करते हैं··

हर जगह लोगों की भीड़ भरी है और गंदगी का साम्राज्य है। इससे पता चलता है कि संबद्ध अधिकारी अपने कर्तव्य की कितनी जबरदस्त उपेक्षा करते हैं। (वही, पृष्ठ 8-9)

यह रिपोर्ट 11 वर्ष पूर्व जारी की गई थी। तब से आज तक ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अपना कोई प्रतिनिधिमंडल भारत नहीं भेजा।

1938 में भारतीय मजदूरों के प्रतिनिधि एस० वी० परुलेकर ने जिनेवा में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन के समाने जो रिपोर्ट पेश की थी उससे इधर हाल के वर्षों की तस्वीर मिलती है। इससे पता चलता है कि मजदूरों की हालत में कितनी तब्दीली आई है, या यों कहें कि मजदूरों की हालत और कितनी बदतर हुई है :

भारत में मजदूरों के अधिकांश को जितनी मजदूरी मिलती है उससे वे अपनी मामूली से मामूली जरूरत भी पूरी नहीं कर सकते। 1921 में श्री फिंडले शिराज ने बंबई मजदूरों के मासिक आय व्यय की जांच के बाद बताया था कि औद्योगिक मजदूर उतना ही अनाज खाता है जितना अकाल संहिता के अंतर्गत सरकार अकालपीड़ितों को देती है लेकिन बंबई की जेल संहिता के अंतर्गत कैदियों को जितना भोजन दिया जाता है, मजदूर को उससे कम ही अनाज मिल पाता है। उस रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद से स्थिति बदतर ही हुई है क्योंकि 1921 की आय की तुलना में आज आय में और गिरावट आई है।

1935 में बंबई सरकार ने मजदूरी के संबंध में जो जांच की थी उसकी रिपोर्ट से पता चलता है कि संगठित और प्रमुख उद्योग, सूती कपड़ा उद्योग में मजदूरों की हालत कितनी दयनीय है। रिपोर्ट के अनुसार गोकाक में 18 प्रतिशत मजदूरों की मासिक आय 3 शिलिंग से 9 शिलिंग के बीच है। शोलापुर में 32 प्रतिशत मजदूरों की मासिक आय 7 शिलिंग 6 पेंस से 15 शिलिंग के बीच है और 20 प्रतिशत मजदूरों की मासिक आय 22 शिलिंग 6 पेंस से कम है। इसी प्रकार बंबई शहर में 32 प्रतिशत मजदूर 22 शिलिंग 6 पेंस से 30 शिलिंग के बीच मजदूरी पाते हैं।

असंगठित उद्योगों में, जिनकी संख्या भारत में काफी है, मजदूरों की क्या हालत होगी इसकी कल्पना की जा सकती है। जमीन से किसानों को बेदखल किए जाने का काम दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा है और मिलमालिकों ने इस वर्ग के होने का लाभ उठाकर मजदूरी इतनी कम कर दी है जिससे किसी का गुजारा भी नहीं चल सकता। और वे मजदूरी की दर को उसी सीमा तक भी बढ़ाना नहीं चाहते जहां तक उद्योग की स्थिति को देखते हुए वे बढ़ा सकते हैं···

भारत के मजदूरों को बीमारी, बेरोजगारी, वृद्धावस्था और मृत्यु के समय मदद मिलने की कोई व्यवस्था नहीं है···भारत सरकार ने, बेरोजगारों को कोई भत्ता देने की कोई योजना तैयार करने से लगातार इंकार किया है···ऐसी कई घटनाएं देखने में आई हैं जब बेरोजगारी से अपनी रक्षा के लिए मजदूरों ने आत्महत्या कर ली हो। बंबई शहर की नगरपालिका की रिपोर्ट में भूख से हुई मौतें भी दर्ज हैं।

1931 की जनगणना रिपोर्ट में यह बताया गया है कि भारत के सबसे बड़े औद्योगिक शहर बंबई में लोग जिस तरह से घरों में रहते हैं वह किसी भी सभ्य समाज के लिए शर्म की बात है। यहां 95 प्रतिशत मजदूर परिवार औसतन 110 वर्ग फीट की खोली में अपना जीवन बिताते हैं। बंबई में हजारों की संख्या में ऐसे मजदूर हैं जो फुटपाथ पर ही अपनी जिंदगी बिता रहे हैं।

	प्रति हजार पर मरने वाले बच्चों की संख्या
एक कोठरी या इससे कम में रहने वाले परिवार	524.0
दो कमरों में रहने वाले लोग	394.5
तीन कमरों में रहने वाले लोग	255.4
चार कमरों या इससे अधिक में रहने वाले लोग	246.5

पृष्ठ 397 पर दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि बंबई में 1933-34 में बच्चे की शैशवावस्था में मृत्यु दर क्या थी। बाकी आबादी के मुकाबले मजदूरों के कितने बच्चे मरते हैं यह देखकर हैरानी होती है :

तब से आज तक हालत में कोई सुधार नहीं हुआ है। सरकार ने ऐसा कोई उपाय नहीं किया जिससे मजदूरों को उतने किराए पर स्वास्थ्यप्रद मकान दिया जा सके जितना वे भुगतान कर सकते हों और इस प्रकार मृत्यु दर को या यह कहना ज्यादा सही होगा कि मजदूरों के बच्चों के नरसंहार को रोका जा सके।
(जुलाई 1938 में जिनेवा में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भारतीय मजदूरों के प्रतिनिधि एस० वी० परुलेकर का भाषण)

भारतीय उद्योग में वेतन स्तरों तथा मजदूरी के बारे में सामान्य तौर पर किया गया व्यापक सर्वेक्षण 1831 की व्हिटले कमीशन रिपोर्ट से बाहर डी० एच० बुकानन की पुस्तक 'दि डेवलपमेंट आफ कैपिटलिस्ट एंटरप्राइज इन इंडिया' (1934) के पंद्रहवें अध्याय में पृष्ठ 317-60 पर मिलेगा। इस पुस्तक में लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि '1860 से 1890 के बीच भारतीय कारखाना उद्योग की वास्तविक आय में बहुत मामूली तब्दीली का आभास मिलता है', 1890 से 1914 के बीच 'कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई और मजदूरी में भी इसके अनुरूप वृद्धि हुई हालांकि यह वृद्धि कीमतों में हुई वृद्धि से कम ही रही।' इसके साथ ही 'विश्वयुद्ध की विभीषिका के कारण अनेक वर्षों तक मजदूरी की दर में काफी कमी रही और फिर यह तेजी से बढ़ी। लेकिन यह वृद्धि बहुत असमान थी और कहीं कहीं तो ऊंची कीमतों के बिलकुल अनुरूप थी।' इस प्रकार 1914-18 के युद्ध की समाप्ति तक वास्तविक मजदूरी के स्तर में कोई वृद्धि नहीं हुई उलटे मजदूरी के स्तर में जो परिवर्तन आया उसे गिरावट ही कहा जाना ठीक होगा। बाद के वर्षों में कहीं जाकर इसमें कोई परिवर्तन हुआ। 'युद्ध के बाद से मजदूरी के प्रश्न को लेकर अनेक विवाद हुए और जबकि कहीं कहीं हल्की सी मंदी की स्थिति देखने में आई, कहीं कहीं उल्लेखनीय प्रगति के भी संकेत मिले।' 'कुछ उद्योगों में खासतौर से बंबई के कपड़ा उद्योग में मजदूरी की दर में जो वृद्धि हुई वह जीवनयापन के खर्च की तुलना में काफी अधिक थी। हाल के वर्षों में जबकि कीमतों में इतनी तेजी से गिरावट आई है, मजदूरी की पुरानी दर बनी रहने दी गई है। मजदूर इतना जागरूक हो गया है कि यदि उसके वेतन में कटौती की जाए तो भयंकर कठिनाई का सामना करना पड़ता है।' युद्ध के कारण जो आर्थिक मंदी आई थी उससे मजदूरी में कटौती के जरिए और बेरोजगारी आदि की वजह से काफी नुकसान का सामना करना पड़ा तो भी वास्तविक मजदूरी के क्षेत्र में जो उपलब्धियां थीं और युद्ध पूर्व के वर्ष में जो प्रगति की गई थी वह बनाए रखी गई। इसके लिए 1938 में कानपुर के कपड़ा मिलमजदूरों की सफल हड़ताल को देखा जा सकता है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि भारत के औद्योगिक मजदूरों की वास्तविक मजदूरी में वृद्धि तभी हुई है जब उनकी ट्रेड यूनियन गतिविधियों में भी वृद्धि हुई है। यह

भी देखा जाता है कि जहां जहां जिस सीमा तक मजदूर संगठनों की शक्ति थी वहां उसी के अनुसार मजदूरी भी बढ़ी। लेकिन अत्यंत पिछड़े मजदूरों के वर्ग को इससे कोई फायदा नहीं हुआ है।

भारत में कहां कितनी मजदूरी मिलती है इसके बारे में सामान्यतौर पर कोई आंकड़े नहीं मिलते। इसका भी कोई व्यौरा नहीं मिलता कि एक औद्योगिक केंद्र में एक ही तरह के काम के लिए एक जैसी मजदूरी मिलती हो। ह्विटले कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में 1925 से 1929 तक पांच वर्ष की अवधि में मजदूरों के मुआवजा कानून के अन्तर्गत चलने वाले मुकदमों के आंकड़ों का अध्ययन किया था जिससे इस बात का पता चलता है कि अर्धकुशल औद्योगिक मजदूरों को किस दर से मजदूरी मिलती है। यहां तक कि अकुशल मजदूरों या कम वेतन पाने वाले मजदूरों के बारे में इन मुकदमों से कुछ नहीं मालूम हो सकता था क्योंकि ऐसे मजदूर बहुत असहाय होते हैं और उनमें से बहुतों को तो मुआवजा कानून की कोई जानकारी नहीं होती। इन मुकदमों के कागजों से प्राप्त होने वाले आंकड़ों को सरकारी अधिकारियों ने यह कहकर पेश किया था कि उनसे 'संगठित उद्योगों के अर्धकुशल मजदूरों की मजदूरी की दरों का मोटेतौर पर अनुमान लग सकता है' (इसमें बच्चों, अकुशल मजदूरों और असंगठित उद्योगों के बहुत कम मजदूरी पाने वाले मजदूरों को छोड़ दिया गया है) इन आंकड़ों से बहुत ही चौंका देने वाली तस्वीर सामने आती है। गैरभारतीय पाठकों के सामने इन आंकड़ों को पेश करने के लिए हमने रुपये की मुद्रा को अंगरेजी मुद्रा में तब्दील ही नहीं किया है बल्कि रुपये की कीमत एक शिलिंग 6 पेंस मान कर और इसीके आधार पर महीने की कुल राशि को साप्ताहिक राशि में बांट दिया है। इस तरह के आंकड़ों से निम्नांकित तस्वीर सामने आती है :

संगठित उद्योग में लगे अर्धकुशल बालिग मजदूरों की औसत आय

	4 शि०6 पें० से कम	4 शि० 6 पें० से 6 शि०	6 शि० से 7 शि० 9 पें०	7 शि० 9 पें० से 9 शि० 6 पें०	9 शि०96 पें० से 11 शि०3 पें०	11 शि०3पें० तथा इससे अधिक
संयुक्त प्रांत	26	27	15	9	7	16
मद्रास	22	25	19	15	4	15
मध्य प्रांत	18	38	17	8	4	15
बिहार और उड़ीसा	21	24	21	12	8	14
बंगाल	13	18	18	15	10	26
बंबई	3	10	19	23	13	23

(भारत में श्रम स्थिति के बारे में ह्विटले कमीशन की रिपोर्ट से ली गई तालिका, पृष्ठ 204। इसे उपर्युक्त आधार पर ब्रिटिश मुद्रा के समतुल्य रखकर पेश किया गया है।)

इस प्रकार संयुक्त प्रांत में एक चौथाई से ज्यादा अर्धकुशल बालिग मजदूरों को प्रति सप्ताह 4 शिलिंग 6 पेंस से कम और आधे से ज्यादा को 6 शिलिंग से भी कम मजदूरी मिलती थी। मध्य प्रांत में आधे से ज्यादा अर्धकुशल मजदूरों को और मद्रास, बिहार तथा उड़ीसा में लगभग आधे मजदूरों को 6 शिलिंग से कम मजदूरी मिलती थी। बंगाल में आधे मजदूर 7 शिलिंग 9 पेंस से कम मजदूरी प्रति सप्ताह पाते थे और यहां तक कि बंबई में जहां जीवनयापन का खर्च अपेक्षाकृत अधिक है आधे से ज्यादा मजदूर प्रति सप्ताह 9 शिलिंग 6 पैंस से कम ही मजदूरी पाते थे।

ये आंकड़े अपेक्षाकृत बेहतर परिस्थितियों में रहने वाले मजदूरों के हैं। इनसे सभी मजदूरों के बारे में कोई आम जानकारी नहीं पाई जा सकती। इधर हाल के वर्षों में प्रांतीय श्रम विभागों की ओर से मजदूर परिवारों के आय व्यय के बारे में अनेक जांचें की गई हैं और उनके निष्कर्ष प्रकाशित किए गए हैं। इन विभागों द्वारा 1935 में बंबई में (जांच में 1932-33 की अवधि को लिया गया) 1937 में अहमदाबाद में और 1938 में मद्रास में की गई जांच के नतीजे प्रकाशित किए गए। इससे पहले 1928 में शोलापुर के बारे में इसी तरह की जांच की एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी जिसमें वर्ष 1925 की अवधि को जांच के लिए चुना गया था।

इन निष्कर्षों से पता चला कि औसतन एक परिवार की आय (किसी व्यक्ति की आय नहीं) बंबई में 50 रुपये मासिक या 17 शिलिंग 4 पेंस प्रति सप्ताह थी, अहमदाबाद में 46 रुपये मासिक या 15 शिलिंग 11 पेंस प्रति सप्ताह, शोलापुर में 40 रुपये मासिक या 13 शिलिंग 10 पेंस प्रति सप्ताह, मद्रास में संगठित उद्योगों के मजदूरों के लिए 37 रुपये मासिक या 12 शिलिंग 10 पेंस प्रति सप्ताह और असंगठित उद्योगों तथा व्यवसायों में लगे मजदूरों के लिए 20 से 27 रुपये मासिक या 7 शिलिंग से 9 शिलिंग 3 पेंस प्रति सप्ताह मजदूरी थी। बंबई, शोलापुर और अहमदाबाद की जांचों से पता चला कि औसतन एक परिवार में कुल सदस्यों की संख्या चार होती है जिनमें से डेढ़ या दो आदमी काम करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त आंकड़ों को एक तिहाई से लेकर आधे तक कम कर दिया जाना चाहिए। इससे जो परिणाम प्राप्त होगा वह इस प्रकार होगा, बंबई के लिए औसत मजदूरी 9 शिलिंग 10 पैंस प्रति सप्ताह, अहमदाबाद के लिए 9 शिलिंग 1 पेंस प्रति सप्ताह, शोलापुर के लिए 7 शिलिंग 11 पैंस प्रति सप्ताह, मद्रास के लिए संगठित उद्योगों के लिए 7 शिलिंग 4 पेंस और असंगठित उद्योगों के लिए 4 शिलिंग से लेकर 5 शिलिंग 3 पेंस प्रति सप्ताह।

यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि निर्धारित मजदूरी में से अनेक तरह की कटौती हो जाती है। कमीशन, जुर्माना, फोरमैन को दी जाने वाली रिश्वत और मजदूरों पर लदे हुए कर्जे को भयंकर सूद के कारण कटौती होते होते कागज पर लिखी तनख्वाह कुछ की कुछ हो

जाती है (मजदूरों के लिए कर्जा लेना जरूरी हो जाता है क्योंकि अधिकांश मजदूरों को मासिक वेतन मिलता है और प्रायः महीना खत्म हो जाने के भी दस पंद्रह दिन बाद पैसे दिए जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मजदूर को लगभग 6 सप्ताह उधार लेकर खर्च चलाना पड़ता है)। ह्विटले कमीशन ने अनुमान लगाया था कि 'अधिकांश औद्योगिक केंद्रों में कम से कम दो तिहाई मजदूर या उनके परिवार ऐसे हैं जो कर्ज से लदे हुए हैं और इनमें से ज्यादातर मजदूरों का कर्ज उनकी तीन महीने की तनख्वाह से ज्यादा है और कभी कभी तो कर्ज की राशि इन तीन महीनों की तनख्वाह की राशि से बहुत ज्यादा हो जाती है।' बाद की जांच पड़तालों से पता चला कि ह्विटले कमीशन ने अपने अनुमान से कर्ज से लदे मजदूरों की दो तिहाई की जो संख्या बताई थी वह वास्तविक संख्या से काफी कम है। ऊपर बंबई की जिस जांच का हमने उद्धरण दिया है, उसके अनुसार 75 प्रतिशत परिवार क़र्ज से लदे पाए गए। मद्रास की रिपोर्ट से पता चला कि संगठित उद्योगों के 90 प्रतिशत मजदूरों पर कर्ज का बोझ था और औसतन प्रत्येक का कर्ज छः महीने की तनख्वाह से ज्यादा था।

गोदी कर्मचारियों की तनख्वाह भी काफी कम है। रेगे कमेटी (1946) द्वारा की गई जांच पड़ताल के अनुसार कोचीन गोदी में काम करने वाले कुल कर्मचारियों में से 30.5 प्रतिशत कर्मचारी प्रतिदिन एक रुपये से कम मजदूरी पाते हैं और 68 प्रतिशत कर्मचारी प्रतिदिन एक रुपये से लेकर दो रुपये तक की मजदूरी पाते हैं। सिंधिया शिपयार्ड में 82 प्रतिशत कर्मचारियों की मजदूरी प्रतिदिन एक रुपये से भी कम है।

खानों में काम करने वालों की मजदूरी खासतौर से बहुत कम है और हाल के वर्षों में उनकी मजदूरी में से जबरदस्त कटौती भी हुई है। भारत की कोयला खानों में काम करने वाले कुल मजदूरों का 4/5 हिस्सा रानीगंज और झरिया की कोयला खानों में काम करता है। रानीगंज की कोयला खान में 1914 से पहले खनिकों की मजदूरी 6 आना या 6 पेंस प्रतिदिन थी। युद्ध के बाद इस राशि में वृद्धि हुई और 1929 तक यह राशि बढ़कर 13 आना या एक शिलिंग दो पेंस प्रतिदिन हो गई थी। 1936 तक यह राशि घटकर सवा सात आना या आठ पेंस प्रति दिन हो गई थी। कोयला खान मैनेजरों के राष्ट्रीय संघ के अध्यक्ष ने फरवरी 1937 में 'मजदूरों की अत्यंत दयनीय मजदूरी' के बारे में ठीक ही कहा था। भारत में एक खनिक औसतन 131 टन कोयला प्रति वर्ष निकालता है जबकि जापान में एक खनिक प्रति वर्ष 260 टन, ब्रिटेन में 298 टन और अमरीका में 671 टन कोयला निकालता है।

बागानों के मजदूरों की हालत तो सबसे खराब है। 'असम घाटी के चायबागानों में (भारत की ज्यादातर चाय असम और बंगाल में पैदा होती है) बसे मजदूरों में पुरुषों की औसत मासिक आय 7 रुपये 13 आने, औरतों की 5 रुपये 14 आने और बच्चों की 4 रुपये 4 आने होती है। (शिवराव 'दि इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया,' 1939, पृष्ठ 128) यह

राशि पुरुषों के लिए प्रति सप्ताह 2 शिलिंग 8 पेंस, महिलाओं के लिए 2 शिलिंग और बच्चों के लिए 1 शिलिंग 5.5 पेंस के बराबर है। इसके अलावा इन मजदूरों को निःशुल्क 'घर' की सुविधा और चिकित्सा की सुविधा तथा जो अन्य रियायतें मिली हुई हैं उनसे इनकी गुलामों जैसी हालत का ही सबूत मिलता है। सूरमा घाटी में मजदूरी की दर और भी कम है। रेगे कमेटी ने बताया था कि सूरमा घाटी में मासिक वेतन की जो दर है वह असम घाटी की तुलना में लगभग 2 रुपये कम है। दक्षिण भारत के बागानों में मजदूरी की दर पुरुषों के लिए 4 से 5 आना (4.5 पेंस से 5.5 पेंस) प्रतिदिन और महिलाओं के लिए 3 आना (3.5 पेंस) से भी कम है।

इतने बड़े पैमाने पर शोषण करके कितना जबरदस्त मुनाफा कमाया जाता है इसके बारे में बागानों के मालिक काफी कुख्यात हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद व्यवसाय में आई तेजी के कारण इन मालिकों का मुनाफा आसमान पर पहुंच गया। 1925 में डंडी की जूट मिल मजदूर यूनियनों के प्रतिनिधिमंडल ने जूट उद्योग के संदर्भ में यह रिपोर्ट दी थी :

> रिजर्व कोषों और मुनाफे को जोड़ने पर पता चलेगा कि 10 साल के दौरान (1915 से 1924 तक) 30 करोड़ पौंड का मुनाफा हिस्सेदारों को मिला है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह जूट उद्योग में लगी हुई पूंजी पर 90 प्रतिशत सालाना का लाभ है। जूट उद्योग में 3 लाख से लेकर 3 लाख 27 हजार मजदूर काम करते हैं और उन्हें औसतन प्रति वर्ष 12 पौंड 10 शिलिंग मजदूरी के रूप में प्राप्त होते हैं। 3 लाख मजदूरों से 10 वर्षों के दौरान 30 करोड़ पौंड का मुनाफा वसूलने का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक मजदूर से साल भर में 100 पौंड वसूले गए। मजदूरों की औसत मजदूरी चूंकि 12 पौंड 10 शिलिंग प्रति व्यक्ति है इससे यह पता चलता है कि मालिकों का सालाना मुनाफा मजदूरों की वार्षिक मजदूरी का 8 गुना होता है। (टी० जानसन और जे० एफ० सीमे : 'एक्सप्लायटेशन इन इंडिया', पृष्ठ 5-6)

सूती कपड़ा उद्योग के बारे में सीमा शुल्क बोर्ड ने 1927 में जांच करके एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी जो इस प्रकार थी :

> बंबई की मिलों की आमदनी और खर्च के हिसाब को देखकर पता चलता है कि 1920 में 35 कंपनियों ने, जिनके अंतर्गत 42 मिलें आती थीं, अपने हिस्सेदारों को 40 प्रतिशत या उससे भी अधिक लाभांश बांटा था। इनमें से 14 मिलों के स्वामित्ववाली 10 कंपनियों ने 100 प्रतिशत या उससे भी अधिक मुनाफा बांटा था और 2 मिलों ने 200 प्रतिशत से ज्यादा लाभांश अपने शेयर होल्डरों को दिया था। 1921 में 41 कंपनियां ऐसी थीं जिनके अधीन 47 मिलें आती थीं।

> इनमें से 9 कंपनियों ने, जिनका 11 मिलों पर स्वामित्व था, 100 प्रतिशत या उससे भी ज्यादा लाभांश बांटा था।

ऐसी कंपनियां भी देखने में आई हैं जिन्होंने लाभांश के रूप में 365 प्रतिशत बांटा है। 1927 में नागपुर की इंप्रेस मिल ने अपनी स्वर्णजयंती के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका में बड़े गर्व के साथ लिखा था :

> शुरू के 20 वर्षों के लाभांश को देखने से पता चलता है कि यह औसतन 16 प्रतिशत था और विश्वयुद्ध से पहले के वर्षों में व्यवसाय में जिस समय तेजी आई थी, हिस्सेदारों को औसतन 23 प्रतिशत का लाभांश दिया गया। युद्ध के कारण आई तेजी के वर्षों में 90 प्रतिशत से अधिक लाभांश दिया गया लेकिन उन दिनों जिस पैमाने पर मुनाफा हुआ उससे इस राशि के दिए जाने का औचित्य अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। यह इच्छा श्री टाटा ने ही प्रकट की थी कि इंप्रेस मिल्स को 100 प्रतिशत के लाभांश का भुगतान करना चाहिए। हालांकि टाटा की मृत्यु के बाद तक लाभांश का यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सका। लेकिन इस कंपनी ने अपने संस्थापक की परंपराओं का कितनी सफलतापूर्वक निर्वाह किया इसका पता हमें आसानी से चल जाता है। 1919 में 500 रुपये के प्रत्येक साधारण शेयरों पर लाभांश 350 रुपये था लेकिन 1922 में यह राशि बढ़कर 525 रुपये हो गई हालांकि कपड़ा मिलों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था।…1923 में सूती कपड़ा व्यापार के क्षेत्र में मंदी और हड़तालों के कारण हुई गड़बड़ी के बावजूद प्रत्येक साधारण शेयर पर 380 रुपये के लाभांश का भुगतान किया गया।
>
> वे शेयरहोल्डर जिन्हें बोनस शेयर मिला था और जिस पर उन्हें वही लाभांश प्राप्त हुआ था, 1920 में यह जोड़ सकते थे कि वास्तविक लाभांश उन्हें 488 प्रतिशत मिला है…
>
> सामान्यतः यह काफी दिलचस्प बात है कि 30 जून 1926 तक इंप्रेस मिल ने कुल 92,214,527 रुपये का मुनाफा कमाया जो मामूली शेयरहोल्डरों की कुल पूंजी का करीब 61.47 गुना होता है। इस अवधि तक कंपनी मामूली हिस्सेदारों को 59,431,267 रुपये का मुनाफा बांट चुकी है। इस प्रकार मूल पूंजी पर हिस्सेदारों को बांटे गए मुनाफे की दर 80.86 प्रतिशत सालाना बैठती है। इस प्रकार असली हिस्सेदार को फायदा हुआ है क्योंकि वह कंपनी की 500 रुपये की प्रदत्त पूंजी का शेयर लेने का सौभाग्य पाता है। उसको जो 2.05 का शेयर मिला है उससे वर्तमान बाजार दर के आधार पर 7838 रुपये के बराबर की राशि मिलती है…और इस प्रकार लाभांश के रूप में उसे 19,810 रुपये प्राप्त

होते हैं। ('दि इंप्रेस मिल्स, नागपुर, स्वर्णजयंती, 1877-1927', पृष्ठ 90-93)

मुनाफाखोरी का यह सिलसिला अनिश्चित काल तक नहीं चल सका हालांकि विश्वव्यापी आर्थिक संकट पैदा होने के समय तक असाधारण रूप से ऊंची दरें बनाई रखी गईं। इस प्रकार 1928, 1929 और 1930 में भी इंप्रेस मिल 28, 26 और 24 प्रतिशत का लाभांश घोषित कर रही थी। पटसन के मामले में गौरपुर का प्रमुख कारखाना (जिसने 1918 में 250 प्रतिशत का मुनाफा अपने हिस्सेदारों में बांटा था) 1927 में 100 प्रतिशत, 1928 में 60 प्रतिशत और 1929 में 50 प्रतिशत मुनाफा बांट रहा था। कोयले के क्षेत्र में 1929 में चार प्रमुख कंपनियां 70,55,36 और 30 प्रतिशत मुनाफा बांट रही थीं। चाय के मामले में भारत में काम कर रहीं 98 कंपनियों ने 1928 में औसतन 23 प्रतिशत का लाभांश घोषित किया और 1929 में 74 कंपनियों ने औसतन 20 प्रतिशत मुनाफा बांटा।

आर्थिक संकट और आर्थिक मंदी ने भारतीय उद्योग पर बहुत बुरा असर डाला। मुनाफाखोरी बनाए रखने के लिए बड़े पैमाने पर और बर्बरतापूर्वक विभिन्न उद्योगों में तथा खासतौर पर वस्त्र उद्योग में छटनी की गई और वेतन में कटौती की गई। कपास के क्षेत्र में 1922-23 में कुल खपत 47 लाख हंड्रेड वेट थी जो 1934 में बढ़कर 1 करोड़ 9 लाख हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि कुल खपत में 60 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि रोजगार में लगे लोगों की संख्या 3 लाख 56 हजार से बढ़कर 4 लाख 14 हजार अर्थात 16 प्रतिशत ही हुई। 1922-23 में कारखानों में पटसन की खपत 47 लाख गांठ थी जो 1935-36 में बढ़कर 60 लाख गांठ हो गई अर्थात कुल खपत में 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि रोजगार में लगे लोगों की संख्या 3 लाख 21 हजार से घटकर 2 लाख 78 हजार हो गई अर्थात इसमें 13 प्रतिशत की कमी हुई। 1929-30 में रेल विभाग में काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या 8 लाख 17 हजार थी जो 1936-37 में घटकर 7 लाख 10 हजार हो गई। 1921 में 1 करोड़ 93 लाख टन कोयले का उत्पादन हुआ जो 1935 में बढ़कर 2 करोड़ 30 लाख टन हो गया जबकि कर्मचारियों की संख्या 2 लाख 5 हजार से घटकर 1 लाख 79 हजार हो गई।

युद्ध से पहले के वर्षों में मुनाफा कमाने के स्तर, हालांकि यह 1914-18 के बाद आई अतिशय वृद्धि के बराबर न था, से भी पता चलता है कि असाधारण शोषण किया जाता था। इस प्रकार पटसन के क्षेत्र में रिलायंस जूट मिल्स कंपनी ने 1935 में अपने हिस्सेदारों के बीच 35 प्रतिशत, 1936 में 42.5 प्रतिशत और 1937 में 30 प्रतिशत लाभांश बांटा। सूती उद्योग में म्योर मिल्स कंपनी ने 1935 में 35 प्रतिशत, 1936 में 27.5 प्रतिशत तथा 1937 में 22.5 प्रतिशत लाभांश दिया। चाय के क्षेत्र में न्यू डूअर्स टी कंपनी ने 1935 और 1936 में 50 प्रतिशत लाभांश बांटा, नगाईसूक टी कंपनी ने 1935 में 60 प्रतिशत और 1936 में 50 प्रतिशत लाभांश बांटा तथा ईस्ट होप स्टेट्स कंपनी ने 1935 में 23 प्रतिशत, 1936 में 33 प्रतिशत और 1937 में 40 प्रतिशत लाभांश बांटा। युद्ध के दौरान इस बड़ी

राशि के बावजूद मुनाफे में कई गुना वृद्धि हुई (देखें छठा अध्याय, पृष्ठ 173-74)।

1914-18 के बाद के तीस वर्षों में बेतहाशा मुनाफे से कमाई गई राशि करोड़ों पौंड में थी। इस राशि से मजदूरों की आवास व्यवस्था को दुरुस्त किया जा सकता था और सामाजिक संरक्षण तथा जन स्वास्थ्य की दिशा में ठोस कदम उठाए जा सकते थे। इस संबंध में कोई कदम उठाने की आवश्यकता भारत की तत्कालीन सरकार ने कभी महसूस नहीं की। दुनिया का शायद ही ऐसा कोई देश हो जहां धनिकवर्ग को इतनी आसानी से कर देने से छुट्टी दे दी जाती हो जबकि सबसे निर्धनवर्ग के कंधों पर कर का बोझा सबसे ज्यादा लाद दिया जाता हो। किसानों को मालगुजारी देनी पड़ती है जबकि जमींदारों की आमदनी को आयकर से छूट दे दी गई है। मजदूरों को अप्रत्यक्ष रूप से जबरदस्त कर देने पड़ते हैं जबकि ऊंची आमदनी वाले लोगों पर आयकर का भार बहुत हल्का रखा गया है। अप्रैल 1938 में भारत सरकार के वित्तीय सदस्य सर जेम्स ग्रिग ने कहा था कि अप्रत्यक्ष करारोपण का कुल वार्षिक भार प्रत्यक्ष करारोपण से आठ गुना अधिक है। 1936-37 में आयकर से हुई कुल आमदनी 1 करोड़ 15 लाख पौंड थी जो कुल राजस्व का 14वां भाग है और राष्ट्रीय आय का यह 1 प्रतिशत से भी कम हिस्सा है। इसकी तुलना में ब्रिटेन में आयकर, मृत्युकर तथा अधिकर से जो आय होती है वह कुल राष्ट्रीय आय के 10 प्रतिशत से भी अधिक है।

भारत में श्रमिक और सामाजिक कानून भी कम पिछड़े हुए नहीं हैं और कागज पर इन कानूनों का जो रूप है वह व्यवहार में नहीं है। इसी तरह का एक कानून फैक्टरियों के बारे में है जो सबसे पहले 1881 में बना था। उस समय लंकाशायर के मिलमालिक भारतीय मिल उद्योग के विकास को देखकर चिंतित हो उठे थे। कई दशकों तक यह कानून सरकारी फाइलों में बंद पड़ा रहा हालांकि मजदूरों के हित के संदर्भ में इस कानून की बहुत सीमित भूमिका थी। इसको असली रूप इसलिए नहीं दिया जा सका क्योंकि इसको कार्यान्वित करने की कोई व्यवस्था नहीं थी।

> 1905 के प्रारंभिक दिनों में भारत में कारखाने की जांच प्रणाली आंशिक तौर पर छिन्न भिन्न हो गई थी। उस समय एक कारखाना कानून भी था लेकिन कई मामलों में यह बिलकुल बेकार था...बंबई शहर में 79 कपड़ा मिलें थीं जिनमें औसतन 1 लाख 14 हजार लोग रोजाना काम करते थे फिर भी बंबई के कारखानों की जांच से संबद्ध प्रत्येक अधिकारी को इन कारखानों को देखने की फुरसत नहीं थी। असिस्टेंट कलक्टर ही कारखानों का प्रधान निरीक्षक था। 1905 में इस पद पर 6 अलग अलग व्यक्तियों ने काम किया। इन सारे व्यक्तियों को इस काम का कोई अनुभव नहीं था और सामान्य तौर पर अपने तमाम कामों में वे कारखाने की जांच को कोई गंभीर काम नहीं समझते थे। केवल एक इंस्पैक्टर ऐसा था जो काटन एक्साइज ऐक्ट के अंतर्गत तैयार सामान की निगरानी के लिए

> पूरा समय देता था। इसकी वजह यह थी कि सरकार इन सामानों के बकाया पर काफी ध्यान देती थी···स्वाभाविक है कि इस तरह की व्यवस्था में कारखाना कानून के प्रावधानों की उपेक्षा होनी ही थी। कलकत्ता में कारखाने की जांच का काम असफल रहा और इसकी वजह से लगातार जो बुराइयां पैदा हुईं उनके बारे में भी सभी लोग जानते हैं। द्वितीय फैक्टरी लेबर कमीशन के सामने कलकत्ता के एक मिल मैनेजर ने बड़े साफ शब्दों में यह स्वीकार किया कि उसने कारखाना कानून पर कभी ध्यान ही नहीं दिया। एक और मैनेजर ने, जिसके कारखाने में लगभग चार सौ बच्चे काम करते थे, बताया कि उसने कभी यह सुना ही नहीं था कि कारखाना कानून के अंतर्गत बच्चों से मजदूरी कराने पर किसी तरह का प्रतिबंध है। (लोवाट फ्रेजर : 'इंडिया अंडर कर्जन ऐंड आफ्टर', पृष्ठ 330-31)

यहां तक कि 1924 में भी बंबई के कलक्टर ने, जिसकी देखरेख में उस वर्ष के लिए कारखानों की वार्षिक रिपोर्ट जारी की गई। (संयोगवश जिसमें यह बताया गया था कि 'व्यवहार रूप में प्रत्येक कारखाने में अनियमितताएं हैं'), अपनी भूमिका में सरकार के दृष्टिकोण का इस प्रकार परिचय दिया :

> फैक्टरीज ऐक्ट और इससे संबंधित नियमों के पालन पर बहुत जोर देने से, मेरे विचार में, उद्योग धंधों को नुकसान पहुंचेगा···इस कानून की वजह से किसी विशेष काम के आने पर मालिक और कर्मचारी दोनों के लिए छुट्टी के दिनों में या ओवरटाइम घंटों में काम करना मुश्किल हो जाएगा। ऐसे मामलों में जो कर्मचारी समय से ज्यादा काम करना चाहते हैं उनसे काम लेने में कोई नुकसान नहीं है, उन्हें ओवरटाइम का भुगतान कर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार इस विभाग की यह नीति रही है कि वह उचित छूटों की सिफारिश करे। (बंबई प्रेसीडेंसी की वार्षिक कारखाना रिपोर्ट, 1924—बंबई के कलक्टर की भूमिका)

वर्तमान 1934 का कारखाना कानून (फैक्टरीज ऐक्ट आफ 1934) स्थाई कारखानों के लिए अर्थात बारह महीने चलने वाले कारखानों के लिए दस घंटे का दिन और 54 घंटे का सप्ताह तथा सीजनल कारखानों (जो छः महीने से ज्यादा नहीं चलते हैं) के लिए 11 घंटे का दिन (महिलाओं के लिए दस घंटे) और 64 घंटे का सप्ताह निर्धारित करता है। इस 11 घंटे को अधिक से अधिक 13 घंटा किया जा सकता है लेकिन इसके साथ ओवरटाइम की व्यवस्था होनी चाहिए। महिलाओं से रात में काम लेने पर रोक है। बारह साल से कम उम्र के बच्चों को नौकरी पर नहीं लगाया जा सकता और 12 से 15 साल के बच्चों से दिन में पांच घंटे से ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता। इस समय को बढ़ाकर अधिक से अधिक साढ़े सात घंटे किया जा सकता है। इस कानून से केवल 25 लाख मजदूर प्रभावित होते हैं (1944)।

1935 के माइंस ऐक्ट में जमीन के ऊपर काम करने की सीमा 10 घंटे और जमीन से नीचे काम करने की सीमा 9 घंटे निर्धारित की गई है। 15 साल से कम उम्र के बच्चों से नौकरी कराने पर पाबंदी है। इस कानून से 2.5 लाख मजदूर प्रभावित होते हैं। 1937 में जमीन के नीचे खानों में महिलाओं से काम कराने पर पाबंदी थी लेकिन 1943 में एक अध्यादेश के जरिए इस पाबंदी को तब तक के लिए हटा दिया गया जब तक युद्ध जारी है। रेल कर्मचारियों के लिए काम की निर्धारित अवधि 60 घंटे प्रति सप्ताह है।

1931 के इंडियन पोर्ट्स ऐक्ट के अनुसार 12 वर्ष से कम उम्र के बच्चों से काम नहीं लिया जा सकता। इस कानून के द्वारा गोदी कर्मचारियों की सुरक्षा के भी सीमित उपाय प्रदान किए गए। 1934 के वर्कमेंस कंपंसेशन ऐक्ट के दायरे में लगभग 60 लाख मजदूर आते हैं लेकिन दंडित होने के भय से इन प्रावधानों का बहुत सीमित अंश में लाभ उठाया गया। 1936 के पेमेंट आफ वेजेज ऐक्ट के अनुसार वेतन देने की अधिकतम अवधि एक महीना निर्धारित की गई (साप्ताहिक या पाक्षिक वेतन की बात नामंजूर कर दी गई) और कहा गया कि महीना खत्म होने के एक सप्ताह के अंदर वेतन का भुगतान कर दिया जाना चाहिए। इसमें जुर्माना करने और मनमाने ढंग से कटौती करने की भी सीमा निर्धारित की गई। इन तथ्यों में यह देखा जा सकता है कि भारत में मजदूरों से संबंधित कानून किस हद तक सीमित हैं।

> मजदूरों से संबंधित सारे उन कानूनों को ध्यान में रखें जो कारखानों, खानों, बागानों, गोदियों, रेलों, बंदरगाहों आदि को प्रभावित करते हैं, तो इस बात में संदेह है कि इन कानूनों से बाहर के 70 या 80 लाख मजदूरों को भी कोई लाभ मिलता होगा। शेष मजदूर, जो औद्योगिक मजदूरों की एक और विशाल संख्या है, छोटे उद्योगों में या अनियमित उद्योगों में लगे हैं। (शिवराव : 'दि इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया', 1939, पृष्ठ 210)

कारखानों से संबंधित प्रमुख कानून को 1944 में व्यापक बनाया गया जिसके दायरे में केवल 2,522,753 मजदूर आते हैं जो भारतीय मजदूरवर्ग का एक मामूली हिस्सा है। यहां भी इन कानूनों को लागू करने की अक्षम व्यवस्था से इसकी प्रभावकारिता कम ही होती है। 1944 में फैक्टरीज ऐक्ट के तहत 14,071 कारखाने रजिस्टर्ड थे। इनमें से केवल 11,713 कारखानों का अर्थात 83.2 प्रतिशत कारखानों का निरीक्षण किया गया। 2358 कारखाने ऐसे थे जिनका साल में एक बार भी निरीक्षण नहीं किया गया और ऐसे कारखानों की भी संख्या काफी अधिक थी जिनका साल में केवल एक बार निरीक्षण किया गया। फलस्वरूप इन कानूनों की प्रभावकारिता की कल्पना की जा सकती है। यहां तक कि इन कानूनों का उल्लंघन करने के जो 1,775 मामले सामने आए उनपर बहुत कम जुर्माना किया गया जिससे प्रत्यक्ष रूप में कानूनों का उल्लंघन करने की प्रेरणा ही मिलती थी। संयुक्त प्रांत की एक रिपोर्ट में यह धारणा व्यक्त की गई (इस धारणा से कई दूसरे

प्रांत भी सहमत थे) कि 'इस तरह के जुर्मानों से अपराधी सुधरेगा नहीं क्योंकि जितना जुर्माना किया जाता है उससे ज्यादा लाभ उसे कानून का उल्लंघन करने में होता जा रहा है।' ('इंडियन लेबर गजट', सितंबर 1946, पृष्ठ 75) भारतीय रियासतों में स्थापित उद्योग पूरी तरह फैक्टरीज ऐक्ट के दायरे से बाहर हैं।

भारत में उद्योग धंधों का मुख्य भाग एकदम अनियंत्रित है। यहां छोटे छोटे बच्चों से भी मजदूरी कराना आम बात है। काम के घंटों पर कोई पाबंदी नहीं है। मजदूरों के स्वास्थ्य की अत्यंत मामूली सुविधाएं भी नहीं हैं। पूर्वोद्धृत मद्रास रिपोर्ट (1938) के अनुसार मद्रास के असंगठित उद्योगों में बच्चों से पहले से ज्यादा मजदूरी कराई जाने लगी है। चमड़े के समान, दरी और सिगरेट बनाने वाले कारखानों की जो हालत है उसका बयान नहीं किया जा सकता। सिगरेट बनाने वाले कारखानों में आमतौर पर बच्चे 5 या 6 वर्ष की उम्र से ही काम करने लगते हैं, उन्हें बिना किसी साप्ताहिक अवकाश के रोज 10 से 12 घंटे तक काम करना पड़ता है, इन 10 से 12 घंटों के काम के बदले में उन्हें प्रति दिन 2 आना या 2 पेंस मजदूरी मिलती है।

आधुनिक अर्थों में जिसे सामाजिक कानून कहते हैं, उसका पूरी तरह अभाव है। मजदूरों के स्वास्थ्य का बीमा नहीं होता, बीमारी के समय चिकित्सा की उन्हें कोई सुविधा नहीं मिलती, बुढ़ापे के दिनों के लिए कोई इंतजाम नहीं है। बेरोजगारी की स्थिति में उनकी मदद की कोई व्यवस्था नहीं है और उनके लिए शिक्षा का भी कोई प्रबंध नहीं है। मजदूर बस्तियों में जन स्वास्थ्य, सड़कों की सफाई, पानी की सप्लाई, बिजली आदि की बुनियादी जरूरतें भी नहीं पूरी की जातीं जबकि उन बस्तियों में जहां यूरोपीयों और भारतीयों का समृद्ध वर्ग रहता है, इन बातों पर अपार धन खर्च होता है, जनता से वसूले गए कर की राशि यहीं खर्च की जाती है। इन बदबूदार गंदी बस्तियों में रहने वाले लोगों को तरह तरह की बीमारियां हो जाती हैं और वे जल्दी ही मौत के शिकार होते हैं और इनके मालिकों को प्रति वर्ष 30 से 40 प्रतिशत का नियमित फायदा होता है, सरकारी अधिकारी भी इन गंदी बस्तियों की ओर से आंखें मूंदे रहते हैं। इन गंदी बस्तियों पर कुछ व्यक्तियों या ट्रस्टों का स्वामित्व है। यहां के मकानों के बीच की संकरी गलियां बदबूदार कूड़े के ढेर से भरी रहती हैं। जवाहरलाल नेहरू ने उन दिनों के अपने अनुभव बताए हैं जब वे इलाहाबाद के मेयर थे :

> अधिकांश भारतीय शहरों को दो भागों में बांटा जा सकता है : एक भाग में तो घनी आबादीवाला शहर का मुख्य भाग है और दूसरे भाग में काफी बड़े अहातों और बागोंवाले खूबसूरत बंगले हैं, अंगरेज लोग इस इलाके को आमतौर से 'सिविल लाइंस' कहते हैं। सिविल लाइंस के इस इलाके में ही अंगरेज अफसर और व्यापारी तथा उच्च मध्यवर्ग के अनेक भारतीय, व्यवसायी, अधिकारी आदि रहते हैं। नगरपालिका को सिविल लाइंस की तुलना में शहर के मुख्य

> भाग से ज्यादा आमदनी होती है पर सिविल लाइंस पर जितना धन खर्च किया जाता है वह शहर की तुलना में काफी अधिक होता है। इसकी वजह यह है कि सिविल लाइंस के काफी बड़े इलाके के लिए अपेक्षाकृत अधिक सड़कों की जरूरत होती है और उनकी मरम्मत तथा सफाई करनी पड़ती है, उनपर रोशनी का इंतजाम करना पड़ता है तथा पानी का छिड़काव किया जाता है। यहां की जल निकासी, जल सप्लाई और सफाई की व्यवस्था ज्यादा मुकम्मल होती है। शहर के हिस्से की हमेशा ही काफी उपेक्षा की जाती है और शहर का वह इलाका जो काफी निर्धन है बिलकुल ही उपेक्षित रहता है। इस इलाके में अच्छी सड़कें गिनी चुनी होती हैं और यहां की अधिकांश संकरी गलियों में न तो बिजली की उचित व्यवस्था होती है और न जलनिकासी या सफाई का ही कोई इंतजाम किया जाता है। (जवाहरलाल नेहरू, 'आत्मकथा,' पृष्ठ 143)

नेहरू ने जमीन के मूल्य पर टैक्स लगाने की प्रणाली शुरू करना चाही ताकि संभावित सुधार किए जा सकें लेकिन उनके इस काम में फौरन ही जिलाधीश ने टांग अड़ा दी और कहा कि इस तरह का कोई भी प्रस्ताव जमीन की काश्त से संबंधित विभिन्न शर्तों या अधिनियमों के विरोध में हो जाएगा, इस तरह के टैक्स से सबसे ज्यादा वही लोग प्रभावित होते जिनके बड़े बड़े बंगले सिविल लाइंस में बने हैं। इस प्रकार 'सुसंस्कृत' ब्रिटिश राज के प्रबुद्ध संरक्षण में भारतीय मजदूरों की गंदगी भरी स्थितियों, असीम शोषण और दासता की स्थितियों को बहुत उत्साह के साथ बरकरार रखा गया। अपने साफ सुथरे और पूर्ण-रूप से सुरक्षित महलों से अंगरेज शासकों ने गंदगी और यातना के साम्राज्य पर शासन किया।

> हावड़ा और उत्तरी कलकत्ता की मजदूर बस्तियों में गंदगी, दुर्गंध और सड़ांध का जो वातावरण है उसका कोई मुकाबला नहीं है...जूट मिलों में काम करने वाले अधिकांश मजदूर इन प्राइवेट बस्तियों में रहने के लिए मजबूर हैं। बंगाल म्यूनिसिपलिटीज ऐक्ट के तहत इन गंदी बस्तियों के विकास का दायित्व इन बस्तियों के मालिकों पर है जो इनमें रहने वाले गरीबों से अच्छा खासा पैसा वसूलते हैं। लेकिन निहित स्वार्थी तत्व हमेशा इस घात में रहते हैं कि इन कानूनों को कभी अमल में न आने दिया जाए। इन बस्तियों की दुर्दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता, इनके बारे में कहा जाता है कि ये 'दुर्गंध और बीमारियों से भरी झोंपड़ियां हैं जिनमें न तो कोई खिड़की है और न कमरे से धुआं निकलने के लिए कोई चिमनी है। इनके दरवाजे इतने नीचे हैं कि अंदर घुसने के लिए लगभग घुटने के बल रेंगना पड़ता है। इनमें बिजली पानी का और सफाई का कोई इंतजाम नहीं है। इन बस्तियों में पहुंचने के लिए आमतौर से बदबू भरी एक सुरंग से गुजरना पड़ता है जिसमें साल भर और खासतौर से बरसात के दिनों में मच्छरों और मक्खियों के झुंड के झुंड पलते और भिनभिनाते रहते हैं...

बंगाल की दूसरी सबसे बड़ी नगरपालिका हावड़ा नगरपालिका है जहां की हालत कलकत्ता के उत्तरी उपनगरों से भी बदतर है। यहां की जमीन बहुत महंगी है और उसमें उपलब्ध हर फुट भर जमीन पर भी निर्माण किया जा चुका है। जिन गलियों के दोनों तरफ ये बस्तियां बनाई गई हैं, वे अधिक से अधिक 3 फीट चौड़ी हैं लेकिन इन गलियों के साथ साथ खुले गंदे नाले भी हैं और यही स्थिति कारखाने वाले प्रत्येक इलाके की है। (शिवराव : दि 'इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया', पृष्ठ 113-14)

जूट मिल के मजदूरों के जीवनयापन की यही स्थिति है। इन मजदूरों की मेहनत से हुए शत प्रतिशत मुनाफे का फायदा अंगरेजों द्वारा संचालित कंपनियां उठाती हैं। यह मुनाफा मूल पूंजी से कई गुना अधिक होता है।

यह रही भारतीय मजदूर आंदोलन की पृष्ठभूमि। समाजवाद और ट्रेड यूनियन की भावना से दुर्दशाग्रस्त स्थिति में जीवन बिताने वाले मजदूरों के बीच पहली बार आशा और विश्वास की किरणें फूटीं, मजदूरों ने पहली बार एकजुटता की ताकत का एहसास किया और उन्हें पहली बार अपने सामने एक ऐसा लक्ष्य दिखाई दिया जिसकी प्राप्ति से उनके सारे दुःख दर्द दूर हो सकते हैं।

3. मजदूर आंदोलन की स्थापना

भारत में मजदूर आंदोलन की शुरुआत लगभग 50 वर्ष पहले हुई थी लेकिन एक संगठित आंदोलन के रूप में उसका निरंतर इतिहास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही शुरू होता है। 19वीं सदी के आठवें दशक में जब देश में कारखानों की स्थापना हो गई तब हड़ताल होना भी अवश्यंभावी हो गया हालांकि शुरू में इसका रूप बहुत प्रारंभिक और असंगठित था। इस बात का उल्लेख मिलता है कि मजदूरी की दर के प्रश्न को लेकर 1877 में नागपुर की इंप्रेस मिल में हड़ताल हुई थी। 1882 से लेकर 1890 के बीच बंबई और मद्रास प्रेसीडेंसी में हुई 25 हड़तालों का उल्लेख भी मिलता है।

'भारत में मजदूर आंदोलन के प्रचलित इतिहास के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इसकी शुरुआत 1884 में बंबई के मिल मजदूरों की बैठक से होती है जिसका आयोजन एन० एम० लोखंडे नामक एक स्थानीय संपादक ने किया था। श्री लोखंडे ने मजदूरों की मांगों का एक ज्ञापन तैयार किया था जिसमें काम के घंटों को सीमित करने, साप्ताहिक अवकाश देने, दोपहर में खाने की छुट्टी देने और घायल होने की अवस्था में मुआवजा देने की मांगें शामिल थीं। यह ज्ञापन इन मिल मजदूरों की तरफ से कारखानों के कमिश्नर को दिया जाना था। लोखंडे ने अपने को 'बंबई मिल मजदूर एसोसिएशन का अध्यक्ष' कहा था। आमतौर से इस संगठन को भारत का पहला मजदूर संगठन कहा जाता है। लोखंडे साहब ने बाद में 'दीनबंधु' नामक अखबार का प्रकाशन शुरू किया।

श्री लोखंडे की गतिविधियों की जो जानकारी हमें उपलब्ध है उसका भारतीय मजदूर आंदोलन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है लेकिन यह मान लेना बहुत भ्रामक बात है कि भारत में मजदूर आंदोलन की शुरुआत लोखंडे ने की। हम आगे चलकर बार बार यह देखेंगे कि इस आंदोलन का चरित्र भी काफी भ्रामक था। 'बंबई मिल मजदूर एसोसिएशन' (बांबे मिल हैंड्स एसोसिएशन) किसी भी अर्थ में मजदूर संगठन नहीं था। इसके न तो सदस्य थे, न कोई नियम थे और न इसका कोई कोष था।' बंबई मिलमजदूरों का कोई संगठित मजदूर आंदोलन नहीं था। यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि हालांकि श्री एन० एम० लोखंडे, जिन्होंने पिछले फैक्टरी आयोग में काम किया था, खुद को बंबई मजदूर एसोसिएशन का अध्यक्ष बताते थे लेकिन इस एसोसिएशन का कोई संगठित अस्तित्व न था। इसका एक भी सदस्य नहीं था। नही कोई इसका अपना कोष था और न कोई कायदा कानून था। मेरा खयाल है कि श्री लोखंडे ने स्वेच्छा से ऐसे सलाहकार का काम किया था जिससे कोई भी मिलमजदूर उनसे आकर सलाह ले सके।' (रिपोर्ट आन दि वर्किंग आफ दि फैक्टरी ऐक्ट इन बांबे फार 1892, पृष्ठ 15) लोखंडे साहब एक ऐसे परोपकारी व्यक्ति थे जो मजदूरों की भलाई चाहते थे और इस कोशिश में रहते थे कि मजदूरों के हित में कानून बनवाए जाएं। वह मजदूरों के संगठन या मजदूरों के संघर्ष के अग्रदूत नहीं थे।

भारत में मजदूर आंदोलन का प्रारंभिक इतिहास जानने के लिए 19वीं सदी के नवें दशक और उसके बाद के वर्षों में हुई हड़तालों से संबंधित दस्तावेज की जानकारी प्राप्त करना बहुत जरूरी है। हालांकि उस समय तक मजदूरों के किसी संगठन का अस्तित्व नहीं था फिर भी 1914 के युद्ध पूर्व के दशकों के दौरान भारतीय औद्योगिक मजदूर की प्रारंभिक वर्ग चेतना के विकास और उनकी संगठित शक्ति के विकास को कम करके आंकना गलत होगा। 1895 में बजबज जूट मिल के डायरेक्टर की रिपोर्ट में कहा गया था कि 'उन्हें इस बात का खेद है कि इन छः महीनों के दौरान मजदूरों ने एक बार हड़ताल की जिसकी वजह से छः हफ्ते तक मिल को बंद रखना पड़ा।' इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि 1895 में अहमदाबाद में 8 हजार बुनकरों ने अहमदाबाद के मिलमालिक संघ (अहमदाबाद मिल ओनर्स एसोसिएशन) के खिलाफ हड़ताल की थी। (बांबे फैक्टरी रिपोर्ट, 1895)

> 1880 से 1908 के बीच विभिन्न आयोगों के सामने प्रस्तुत की गई सभी गवाहियों में यह बात कही गई कि मजदूरों की अभी तक कोई वास्तविक यूनियन नहीं है। अनेक गवाहियों में लोगों ने यह भी बताया कि बहुधा अलग अलग मिलों के मजदूर आपस में एक साथ मिल जाते हैं और एक गुट के रूप में वे काफी स्वतंत्र हैं। 1892 में बायलरों के इंस्पैक्टर ने बताया था कि 'मजदूरों में एक अजीब किस्म की एकता दिखाई देती है जिसको न तो कोई खास नाम दिया जा सकता और न जिसके बारे में किसी तरह की लिखा पढ़ी है। बंबई के कलक्टर ने लिखा था कि हालांकि यह एकता 'केवल वायवीय' है फिर भी यह काफी 'शक्तिशाली' है।

उन्होंने सरकार को लिखा कि 'मेरा खयाल है कि काफी अरसे से इनकी मजदूरी का एक ही स्तर पर बने रहना या मजदूरी के मामले में इनके एकाधिकार का बना रहना इसी कारण संभव हो सका है क्योंकि इनके बीच काफी एकजुटता है।' 1908 में सर सेसून डेविड ने कहा कि 'यदि मजदूरों का कोई उचित संगठन नहीं है तो भी उनकी एक आपसी समझदारी है।' बंबई प्रेसीडेंसी में उद्योगों के डायरेक्टर श्री बरुचा ने कहा कि 'मालिकों की तुलना में मजदूरों की ताकत काफी अधिक है और हालांकि उनकी कोई यूनियन नहीं है लेकिन वे आपस में एकजुट हो सकते हैं'। इन वक्तव्यों में यदि किसी सीमा तक अतिशयोक्ति है तो वर्धा स्थित ब्रिटिश डिप्टी कमिश्नर ने तो अपने इस कथन से कमाल ही कर दिया कि 'चारों तरफ मजदूर हावी हो गए हैं और अब मजदूरों की बजाय मिलमालिकों की हिफाजत का इंतजाम करने की जरूरत है।' (डी० एच० बुकानन, 'दि डेवलपमेंट आफ केपिटलिस्ट एंटरप्राइज़ इन इंडिया', पृष्ठ 425)।

इन शब्दों से पता चलता है कि भारतीय मजदूरों की उभरती हुई वर्गचेतना को देखकर मालिकों में दहशत फैल गई थी।

1905-1909 के दौरान राष्ट्रीय आंदोलन की जुझारू लहर के समानांतर मजदूर आंदोलन ने भी उल्लेखनीय प्रगति की। इन वर्षों के स्वरूप का पता इससे ही चल जाता है कि काम के घंटे बढ़ाने के विरोध में बंबई के मिलमजदूरों ने हड़ताल की, रेल कर्मचारियों ने खासतौर से ईस्टर्न बंगाल स्टेट रेलवे कर्मचारियों ने कई बार गंभीर हड़तालें कीं, रेल के कारखानों में हड़तालें हुईं और कलकत्ता के गवर्नमेंट प्रेस में वहां के कर्मचारियों ने हड़ताल की। हड़तालों की यह लहर अपनी चरम सीमा पर उस समय पहुंच गई जब 1908 में तिलक को छः वर्षों की सजा दिए जाने के विरोध में बंबई के मजदूरों ने छः दिनों की सार्वजनिक राजनीतिक हड़ताल कर दी।

फिर भी अभी तक मजदूरों का कोई ठोस संगठन बनना संभव नहीं हो सका था। इसका कारण यह नहीं था कि मजदूरों की चेतना पिछड़ी हुई थी या उनमें जुझारूपन की कमी थी बल्कि इसकी वजह केवल यही थी कि भारत के मजदूर बेहद गरीब और निरक्षर थे तथा उनके पास साधनों का अभाव था। संगठन की संभावनाएं अब भी अन्य तत्वों के हाथ में थीं। 1910 में बंबई में कुछ परोपकारियों ने मजदूरों के हित के लिए एक संस्था बनाई जिसका नाम 'कामगर हितवर्धक सभा' था। इस संस्था का उद्देश्य मजदूरों और मालिकों के बीच उत्पन्न विवाद हल करने के लिए सरकार के समक्ष याचिकाएं पेश करना था। सामान्य अर्थों में 1914 से पहले मजदूर आंदोलन का विस्तार केवल यूरोपीय और आंग्ल भारतीय रेल कर्मचारियों तथा सरकारी कर्मचारियों के ऊपरी तबके तक सीमित था। इस प्रकार 1897 में 'अमलगमेटेड सोसाइटी आफ रेलवे सर्वेंट्स' नामक संस्था की स्थापना हुई जिसे कंपनीज ऐक्ट के तहत रजिस्टर्ड कराया गया। मूलतः इसका

काम आपसी लाभ तक सीमित था और हालांकि आज भी इसका अस्तित्व है (1928 में इसने अपना नाम बदलकर नेशनल यूनियन आफ रेलवेमैन रख लिया) लेकिन भारत के मजदूर आंदोलन में इसने कोई भी भूमिका नहीं अदा की।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो परिस्थितियां पदा हो गई थीं और रूसी क्रांति तथा इसके फलस्वरूप समूचे विश्व में जो क्रांतिकारी लहर आई थी उसने भारत के मजदूरवर्ग को भी पूरी तरह सक्रिय बना दिया और भारत में आधुनिक मजदूर आंदोलन का सूत्रपात किया। इन बातों के साथ साथ इस नई जागृति में आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने भी भरपूर योगदान किया। युद्ध के दिनों में चीजों की कीमतें दुगनी हो गई थीं, इस मूल्यवृद्धि के अनुरूप वेतन में बढ़ोतरी नहीं हुई और मिलमालिकों ने बेतहाशा मुनाफा कमाया। राजनीतिक क्षेत्र में नई मांगें सामने आने लगी थीं। देश को तुरंत स्वराज्य दिए जाने के कार्यक्रम के आधार पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एकता स्थापित हो गई थी। क्रांतिकारी चेतना की पहली लहरें भारत में पहुंचने लगी थीं।

1918 में हड़तालों का जो सिलसिला शुरू हुआ वह 1919 और 1920 में पूरी तेजी के साथ समूचे देश में फैल गया। 1918 के अंतिम दिनों में बंबई में सूती कपड़ामिलों में जबरदस्त हड़ताल हुई जिसके कारण औद्योगिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण शहर में समूचा उद्योग ठप हो गया : 1919 की जनवरी तक 1 लाख 25 हजार मजदूर, जो सभी मिलों का प्रतिनिधित्व करते थे, एक तरह से बिलकुल बाहर निकल आए। 1919 के वसंत में रौलट ऐक्ट के खिलाफ मजदूरों ने एक शानदार हड़ताल करके यह दिखा दिया कि देश का मजदूरवर्ग राष्ट्रीय संघर्ष में भी आगे के मोर्चे पर है। 1919 में देश भर में हड़तालों का तांता लग गया। 1919 की समाप्ति तक और 1920 के शुरू के छः महीनों में हड़तालों की लहर अपनी चरम सीमा तक पहुंच गई :

> इस अवधि में जितनी हड़तालें हुई और ये हड़तालें जितनी तीव्रता के साथ हुईं उसका अंदाजा नीचे दिए गए आंकड़ों से लग सकता है।
>
> 4 नवबर से 2 दिसंबर 1919 तक कानपुर की ऊनी मिलों के 17 हजार मजदूर हड़ताल में शामिल हुए; 7 दिसंबर 1919 से 9 जनवरी 1920 तक जमालपुर के 16 हजार रेल मजदूरों ने हड़ताल की; 1920 में 9 जनवरी से 18 जनवरी तक कलकत्ता के 35 हजार जूट मिलमजदूरों ने हड़ताल की; 2 जनवरी से 3 फरवरी तक बंबई में मजदूरों की आम हड़ताल रही जिसमें 2 लाख मजदूरों ने हिस्सा लिया। 20 जनवरी से 31 जनवरी तक रंगून के 20 हजार मिलमजदूरों ने काम बंद रखा। 31 जनवरी को बंबई में ब्रिटिश इंडिया नेवीगेशन कंपनी के 10 हजार मजदूरों ने हड़ताल की; 26 जनवरी से 16 फरवरी तक शोलापुर के 16 हजार मिलमजदूरों ने हड़ताल की; 2 फरवरी से 16 फरवरी तक इंडियन मेरी डाक वर्कर्स

के 20 हजार कर्मचारियों ने काम बंद रखा; 24 फरवरी से 29 मार्च तक टाटा आयरन ऐंड स्टील के 40 हजार मजदूरों ने हड़ताल में हिस्सा लिया; 9 मार्च को बंबई के 60 हजार मिलमजदूरों ने काम बंद रखा; 20 मार्च से 26 मार्च तक मद्रास के17 हजार मिलमजदूरों ने हड़ताल की; मई 1920 में अहमदाबाद के 25 हजार मजदूरों ने हड़ताल में हिस्सा लिया। (आर०के० दास : 'दि लेबर मूवमेंट इन इंडिया', 1923, पृष्ठ 36-37)

1920 के शुरू के छः महीनों में 200 हड़तालें हुईं जिनमें 15 लाख मजदूरों ने हिस्सा लिया।

यही वह परिस्थितियां थीं जिनमें भारत के ट्रेड यूनियन आंदोलन का जन्म हुआ। प्रमुख उद्योगों और औद्योगिक केंद्रों की अधिकांश ट्रेड यूनियनें इसी दौरान बनीं हालांकि कुछ अनिवार्य परिस्थितियों के कारण ये संगठन स्थाई रूप से नहीं चल पाए। जुझारूपन के इस महान दौर में ही आधुनिक भारत के मजदूर आंदोलन का उदय हुआ।

इन वर्षों के दौरान काफी बड़ी संख्या में मजदूर संगठनों की स्थापना हुई। इनमें से कुछ तो बुनियादी तौर पर महज हड़ताल समितियां थीं। इनका उद्देश्य फौरी तौर पर संघर्ष को चलाना होता था और ये बनी रहना नहीं चाहती थीं। मजदूरवर्ग तो संघर्ष के लिए तैयार रहता था लेकिन यूनियन के कार्यालय संबंधी काम लाजिमी तौर पर दूसरों को ही करते थे। इसलिए शुरू के दिनों में मजदूर आंदोलन में एक अंतर्विरोध पैदा हो गया। इस समय तक देश में समाजवाद के आधार पर, मजदूरवर्ग के विचारों तथा वर्गसंघर्ष की भावना पर आधारित कोई राजनीतिक आंदोलन नहीं तैयार हो सका था। नतीजा यह हुआ कि दूसरे वर्ग से 'बाहरी' तत्व या मददगार लोग विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर मजदूरों के संगठनों की सहायता के लिए आए और इन प्रारंभिक दिनों में वस्तुतः इनकी सहायता अपरिहार्य भी थी लेकिन इनमें मजदूर आंदोलन के उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं की कोई समझ नहीं थी। अपने साथ ये लोग मध्यवर्गीय राजनीति के विचार लेकर आए थे। उनमें से कुछ भले ही परोपकार की भावना से आए रहे हों या कुछ महज अपना राजनीतिक जीवन बनाने की लालसा लेकर आए रहे हों अथवा कुछ ऐसे लोग भी रहे हों जो मजदूर आंदोलन में शामिल होकर देश के राजनीतिक संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहते रहे हों लेकिन इन सबका दृष्टिकोण एक दूसरे वर्ग का दृष्टिकोण था और इसीलिए वे वर्गसंघर्ष की लड़ाई में जुटे मजदूरों का नेतृत्व नहीं कर सकते थे। भारत का मजदूर आंदोलन काफी दिनों तक इस दुर्भाग्य का शिकार रहा और इस दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति ने मजदूरों की शानदार जुझारू भावना और बहादुरी की वृद्धि में काफी बाधा डाली और उसका असर आज भी बरकरार है।

आमतौर से यह समझा जाता है कि यहां ट्रेड यूनियन आंदोलन की शुरुआत मद्रास लेबर

यूनियन से हुई जिसका गठन 1918 में बी० पी० वाडिया ने किया था। श्री वाडिया, थियोसाफिस्ट श्रीमती बेसेंट के सहयोगी थे। भारतीय मजदूर आंदोलन के वर्तमान इतिहास को देखते हुए यह बात कुछ भ्रामक लगती है। इस अवधि में देश भर में ट्रेड यूनियन बनाने की पहली कोशिशें जारी थीं। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि 1917 में अहमदाबाद की सूती कपड़ा मिलों में ताना बेना बुनने वाले लोगों ने (वार्पर्स ने) अपनी एक यूनियन बना ली थी। लेकिन इस समय तक संगठन का आधार बहुत कमजोर था और जहां तक मजदूरवर्ग के जुझारूपन का और उसकी क्रियाशीलता का संबंध है, यह संगठन काफी कमजोर था। इसमें कोई शक नहीं कि मद्रास लेबर यूनियन ही ऐसा पहला मजदूर संगठन था जो काफी सुव्यवस्थित था। उसके पास काफी सदस्य थे और उनसे चंदा लिया जाता था। इस पहल के लिए इसके संगठनकर्ताओं को पूरा श्रेय दिया जाना चाहिए। लेकिन अपेक्षाकृत कमजोर औद्योगिक केंद्र में (1921 से 1933 के दौरान यहां केवल 28 लाख दिन हड़ताल हुई थी जबकि बंगाल और बंबई में हड़ताल क्रमशः 2 करोड़ दिन और 6 करोड़ दिन तक ही थी। इस पहल से पता चलता है कि यहां मजदूरों की यूनियन संयोगवश और किन्हीं व्यक्तिगत कारणों से बन गई थी और भारत के मजदूर आंदोलन के विकास में उसके महत्व को बहुत बड़ा चढ़ाकर बताना ठीक नहीं होगा। इस यूनियन के संस्थापक बी० पी० वाडिया का दृष्टिकोण कितना सीमित था, इसका पता एक घटना से चल जाता है। अप्रैल 1918 में श्री वाडिया की अध्यक्षता में यूनियन की स्थापना के बाद मद्रास के मजदूरों ने अपनी कुछ मांगें मालिकों के सामने रखीं और मांगें नामंजूर हो जाने के बाद उन्होंने हड़ताल करने का प्रस्ताव रखा लेकिन वाडिया साहब ने इसका विरोध किया। उन्होंने इसके लिए यह तर्क दिया कि मजदूरवर्ग को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति निष्ठावान रहना चाहिए (राष्ट्रीय आंदोलन में श्रीमती बेसेंट का भी यही रुख था)। श्री वाडिया ने 3 जुलाई 1918 को दिए गए अपने भाषण में कहा :

> यदि हड़ताल करके आप लोग सिर्फ मेसर्स बिन्नी ऐंड कंपनी का नुकसान करते तो मुझे कोई एतराज न होता क्योंकि यह कंपनी काफी पैसे कमा रही है लेकिन हड़ताल से आप मित्र राष्ट्रों को नुकसान पहुंचाएंगे। हमें अपने सैनिकों के लिए कपड़े तैयार करने हैं और आपकी हड़ताल से उन सैनिकों के लिए असुविधा होगी। महज इसलिए कि इस मिल से संबंधित कुछ यूरोपीयों और सरकार का व्यवहार ठीक नहीं है, हमें उन लोगों को तकलीफ में डालने का कोई अधिकार नहीं है जो हमारे राजा की तरफ से लड़ाई लड़ रहे हैं। इसलिए हमें हड़ताल नहीं करनी चाहिए।

वाडिया साहब हड़ताल को रोकने में सफल रहे पर मैसर्स बिन्नी ऐंड कंपनी पर वाडिया के 'देशभक्तिपूर्ण' तर्कों का कोई असर न पड़ा और उसने तालाबंदी की घोषणा कर दी। मजदूर इस हमले के लिए तैयार नहीं थे और उन्होंने वाडिया साहब की सलाह पर हड़ताल का अपना हथियार छोड़ ही दिया था। नतीजा यह हुआ कि उन्हें मजबूरन

अपनी मांगों को फिलहाल छोड़ देना पड़ा। मद्रास में असली लड़ाई 1921 में हुई जब मिलों में तालाबंदी के बाद हड़ताल हुई। कंपनी मामले को अदालत में ले गई और हाई कोर्ट ने यूनियन पर 7000 पौंड का जुर्माना किया। कंपनी ने शर्त रखी कि यदि वाडिया अपने को मजदूर आंदोलन से अलग कर लें तो यूनियन से यह जुर्माना नहीं वसूला जाएगा। वाडिया को मजबूर होकर मजदूर आंदोलन से खुद को अलग कर लेना पड़ा। प्रारंभिक दिनों में भारत के मजदूर आंदोलन को कुचलने के लिए किन तरीकों का इस्तेमाल किया गया, इसका यह बहुत सटीक उदाहरण है।

अन्य केंद्रों में मजदूर संगठन की जिम्मेदारी उठाने के लिए अनेक तरह के मददगार सामने आए, इनमें से कुछ का मालिकों के साथ घनिष्ठ संबंध था। अहमदाबाद में गांधी ने मिलमालिकों की मदद से एक भिन्न मतावलंबी यूनियन बनाई जिसका उद्देश्य वर्ग-शांति कायम करना था और आज तक अहमदाबाद लेबर एशोसिएशन भारतीय मजदूर आंदोलन से कटा हुआ है।

इन्हीं दिनों 1920 में इंडियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। इसका पहला अधिवेशन 1920 के अक्तूबर में बंबई में हुआ जिसकी अध्यक्षता राष्ट्रीय नेता लाजपतराय ने और उपाध्यक्षता जोसेफ बेप्टिस्टा ने की। अपने शुरू के वर्षों में यह संस्था केवल 'उच्च-वर्ग' के नेताओं का संगठन थी और उसके बहुत से नेताओं का मजदूर आंदोलन से बड़ा सीमित संबंध था। उसकी स्थापना के पीछे जो मुख्य प्रेरणा काम कर रही थी, वह यह थी कि इस संगठन के आधार पर कुछ सदस्यों को नामजद करके जिनेवा के अंतर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन में भेजा जा सकेगा। इस आंदोलन के एक पुराने नेता श्री एन० एम० जोशी ने अपनी एक पुस्तिका 'दि ट्रेड मूवमेंट इन इंडिया' (पृष्ठ 10) में यह धारणा व्यक्त की है कि भारत में ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना वाशिंगटन के मजदूर सम्मेलन के प्रभाव से हुई थी : 'इससे यह बात काफी साफ हो गई कि मजदूरों का न केवल संगठन बनाना जरूरी है बल्कि उनके बीच किसी न किसी तरह का सहयोग भी स्थापित करना जरूरी है ताकि वे एक स्वर से अपनी बातें कह सकें।' 1924 में इसका चौथा अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता स्वराज पार्टी के नेता चित्तरंजन दास ने की। अधिवेशन में दिए गए भाषणों में प्रायः वर्ग शांति के सिद्धांतों तथा मजदूरों की सामाजिक एवं नैतिक उन्नति की बातें होती थीं और सरकार से यह मांग की जाती थी कि वह मजदूरों के हित में कानून बनाए तथा उनकी खुशहाली के उपाय करे। ट्रेड यूनियन कांग्रेस के शुरू के दिनों में मध्यवर्गी नेताओं का जो दृष्टिकोण था, उसका एक उदाहरण 1926 में छठे अधिवेशन के अवसर पर अध्यक्ष पद से दिया गया निम्न भाषण है :

> बंबई के केंद्रीय मजदूर बोर्ड के विशुद्धता अभियान द्वारा किए गए अच्छे कार्यों की मैं हार्दिक सराहना करता हूं···यह अभियान इस उद्देश्य से शुरू किया गया था कि वह मजदूरों को बुरी आदतें छोड़ने में मदद दे और उन्हें ईमानदार, शांतिपूर्ण

और संतुष्ट जीवन बिताने की प्रेरणा दे...सामाजिक कार्यकर्त्ता मजदूर बस्तियों में जाते हैं और उन्हें शराब, जुआ तथा अन्य बुराइयों के बारे में बताते हैं। मजदूरों को इसी तरह की शिक्षा की जरूरत है और इसी के जरिए वे सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से बेहतर स्थिति में आ सकते हैं। (मद्रास में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के छठे अधिवेशन (1926) में अध्यक्ष पद से वी० वी० गिरि का भाषण)

1927 में कानपुर में संगठन के आठवें अधिवेशन में महामंत्री ने जो रिपोर्ट पेश की, उससे भी पता चलता है कि हड़ताल के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण था :

जिस अवधि की यह रिपोर्ट है उसमें कार्यकारिणी ने हड़ताल की बिलकुल इजाजत नहीं दी लेकिन भारत के विभिन्न हिस्सों में और यहां के विभिन्न व्यापारों में मजदूरों की स्थिति अत्यंत गंभीर होने के कारण कुछ हड़तालें और तालाबंदी की घटनाएं हुईं। इनमें ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पदाधिकारियों को भी दिलचस्पी लेनी पड़ी। (कानपुर में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के आठवें अधिवेशन (1927) में महासचिव एन० एम० जोशी की रिपोर्ट)

1927 तक ट्रेड यूनियन कांग्रेस का मजदूरों के संघर्ष से व्यावहारिक रूप में बहुत सीमित संबंध था। फिर भी इस संस्था ने एक ऐसा आधार तैयार किया जिसके कारण नवगठित ट्रेड यूनियनों के नेता पास आ सके और इसीलिए अब इसको मजदूरों के संघर्ष की हवा लगने में कुछ ही देर थी। 1927 तक ट्रेड यूनियन कांग्रेस से 57 यूनियनें संबद्ध हो चुकी थीं जिनके सदस्यों की कुल संख्या 150,555 थी।

4. राजनीतिक जागरण

शुरू के दिनों में भारतीय मजदूर आंदोलन के नेताओं का जो चरित्र था उसके बावजूद सरकार को आने वाले दिनों में मजदूर आंदोलन के महत्व को समझने में देर नहीं लगी। उसने पिछले 20 वर्षों में भारतीय मजदूरवर्ग के आंदोलन के उदय का महत्व महसूस किया था। सरकार की चिंता का प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि उसने 1921 में बंगाल में औद्योगिक अशांति की जांच के लिए एक समिति नियुक्त की, 1922 में बंबई में औद्योगिक विवाद समिति बनाई गई, 1919-20 में मद्रास में सरकार को एक श्रमिक विभाग खोलना पड़ा और उसके बाद बंबई में भी इसी तरह का एक विभाग खोला गया। 1921 में एक ट्रेड यूनियन बिल तैयार किया गया हालांकि वह 1926 में जाकर पारित हो सका। 1921 से औद्योगिक विवादों के नियमित रूप से आंकड़े रखे जाने लगे। ये आंकड़े काफी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे आंदोलन की प्रगति की तस्वीर मिलती है। (कृपया पृष्ठ 418 तालिका देखें)। औद्योगिक झगड़ों में काम के कुल जितने दिनों का नुकसान हुआ उनमें से आधे से अधिक दिन अकेले कपड़ा मिलों से संबंधित हैं और आधे से ज्यादा दिन अकेले बंबई में हुए विवादों से संबंधित हैं।

आगे चलकर यह देखा जाएगा कि संघर्ष की तीन प्रमुख अवस्थाएं महत्त्वपूर्ण हैं। पहला चरण युद्ध के बाद आई विश्वव्यापी लहर थी जिसकी परिणति 1925 में बंबई कपड़ामिलों की सफल हड़ताल में हुई। यह हड़ताल वेतन में कटौती की धमकी के खिलाफ की गई थी और तीन महीनों के संघर्ष के बाद मिलमालिकों को यह धमकी वापस लेनी पड़ी। संघर्ष का दूसरा दौर 1928-29 का है जब मजदूरों में संयुक्त रूप से राजनीतिक और औद्योगिक जागृति आई। तीसरा दौर 1937 में कांग्रेस मंत्रिमंडल के गठन के बाद शुरू हुआ और प्रगति की यह नई शुरुआत आज भी विकासोन्मुख है।

औद्योगिक विवाद

वर्ष	हड़तालों और तालाबंदियों की संख्या	इनमें शामिल मजदूरों की संख्या	काम के नुकसान हुए दिनों की संख्या
1921	396	600,351	6,984,426
1922	278	433,434	3,972,727
1923	213	301,044	5,051,704
1924	133	312,462	8,730,918
1925	134	270,423	12,578,129
1926	128	186,811	1,097,478
1927	129	131,655	2,019,970
1928	203	506,851	31,647,404
1929	141	532,016	12,165,691
1930	148	196,301	2,261,731
1931	166	203,008	2,408,123
1932	118	128,099	1,922,437
1933	146	164,938	2,168,961
1934	159	220,808	4,775,559
1935	145	114,217	973,457
1936	157	169,029	2,358,062
1937	379	647,801	8,982,000
1938	399	401,075	9,198,708
1939	406	409,189	4,992,795
1940	322	452,539	7,577,281
1941	359	291,054	3,330,503
1942	694	772,653	5,779,281
1943	716	525,088	2,342,287
1944	658	550,015	3,447,306
1945	848	782,192	3,340,892
1946	1,593	1,951,756	12,678,121
1947	1,811	1,840,784	16,562,666
1948	1,639	1,332,956	7,214,456

सरकार को और सरकार द्वारा नियुक्त उन समितियों और आयोगों को जिनके जिम्मे जांच का काम दिया गया था, यह अच्छी तरह पता था कि यदि इस उभरते हुए मजदूर आंदोलन ने एक बार राजनीतिक चेतना प्राप्त कर ली और यदि उसे ठोस संगठन तथा वर्गचेतना से लैस नेतृत्व मिल गया तो यह साम्राज्यवाद के लिए एक बहुत बड़ा खतरा साबित हो सकता है। सरकार को मजदूरवर्ग की संघर्ष शक्ति का प्रमाण युद्ध के बाद के वर्षों में मिल चुका था। सरकार के सामने यह सवाल था कि मजदूर आंदोलन को किस तरह किसी ऐसे रास्ते पर लगाया जाए जिससे साम्राज्यवाद के लिए कोई खतरा न रहे अथवा जैसा कि सरकार की एक रिपोर्ट में कहा गया था, सरकार की समस्या यह थी कि 'सही ढंग' का ट्रेड यूनियन आंदोलन कैसे स्थापित किया जाए। यह काम साम्राज्य-वादी देश के मुकाबले औपनिवेशिक देश में ज्यादा कठिन है। 1926 के ट्रेड यूनियन ऐक्ट का यही उद्देश्य था। इसके जरिए यूनियनों की राजनीतिक गतिविधियों पर खास तौर से रोक लगा दी गई थी। सरकार हमेशा इस बात के प्रति सतर्क रहती थी कि मजदूरवर्ग में कहीं राजनीतिक जागरण के चिह्न तो प्रकट नहीं हो रहे हैं।

फिर भी इन सारे अवरोधों और शुरू के दिनों की उलझनों के बावजूद मजदूरवर्ग में समाजवादी और साम्यवादी विचारों की राजनीतिक चेतना की शुरुआत हो चुकी थी जो युद्ध के बाद के वर्षों में धीरे-धीरे भारत पहुंचने लगी थी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अभी काफी कमजोर थी लेकिन उसका साहित्य 1920 से ही लोगों के बीच पहुंचने लगा था। 1924 से बंबई से 'सोशलिस्ट' नामक एक पत्र का प्रकाशन शुरू हो गया था जिसके संपादक श्री एस० ए० डांगे थे। श्री डांगे के बाद में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सहायक मंत्री चुने गए। सरकार ने इसपर प्रहार करने में तनिक भी देर न की। 1924 में (जिस समय इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सरकार थी) चार कम्युनिस्ट नेताओं—डांगे, शौकत उस्मानी, मुजफ्फर अहमद और दास गुप्त पर कानपुर षडयंत्र केस के सिलसिले में मुकदमा चलाया गया। इन चारों नेताओं को चार-चार वर्ष की सजा सुना दी गई। यही भारत के राज-नीतिक मजदूर आंदोलन की अग्निदीक्षा थी।

जनता के बीच जो जागृति पैदा हुई थी उसे दमन से रोका नहीं जा सका। 1926-27 तक समाजवादी विचारधारा का व्यापक प्रचार हो गया था। देश में स्थान-स्थान पर मजदूर और किसान पार्टियों के रूप में मजदूरवर्ग के राजनीतिक और समाजवादी संगठन का एक नया रूप दिखाई देने लगा था जिनमें ट्रेड यूनियन आंदोलन के जुझारू तत्व और कांग्रेस के वामपंथी कार्यकर्ता एक मंच पर इकट्ठे होने लगे थे। फरवरी 1926 में बंगाल में पहली मजदूर किसान पार्टी का गठन हुआ। इसके बाद बंबई, संयुक्त प्रांत और पंजाब में भी इस तरह की पार्टियां बनीं। 1928 में ये सारी पार्टियां एक साथ मिल गईं और अखिल भारतीय मजदूर किसान पार्टी का जन्म हुआ जिसका पहला अधिवेशन दिसम्बर 1928 में हुआ। मजदूरों के बीच जिस नई राजनीतिक चेतना के पहले चिह्न 1927 में प्रकट हुए थे उसका राजनीतिक रूप इस संगठन से रूप में सामने आया। हालांकि शुरू-

शुरू में यह अनेक उलझनों का शिकार रहा। इन तथ्यों से उन नई शक्तियों का पता चलता है जो विकासोन्मुख हुईं।

1927 के बसंत में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन (इसमें ब्रिटिश पार्लियामेंट के कम्युनिस्ट सदस्य शापुरजी शकलतवाला भी शामिल हुए थे) और आगे चलकर इसी वर्ष कानपुर में आयोजित अधिवेशन में और भी स्पष्ट रूप से यह बात प्रकट हो गई कि ट्रेड यूनियन आंदोलन में जुझारू नेतृत्व की चुनौती भरी आवाजें सुनाई देने लगी हैं। यह बात बड़ी तेजी से स्पष्ट होने लगी कि भारत की अधिकांश ट्रेड यूनियनें मजदूरवर्ग के इस नये नेतृत्व के साथ हैं हालांकि ट्रेड यूनियनों का पंजीकरण कराने में देर होने के कारण 1929 तक इस तथ्य को सरकारी तौर पर नहीं माना गया। 1927 में पहली बार बंबई में 1 मई, मई दिवस के रूप ने मनाया गया और इसे मजदूर दिवस का नाम दिया गया। यह इस बात का प्रतीक था कि भारत के मजदूर आंदोलन के इतिहास में उस नए युग का सूत्रपात हो चुका है जब वह अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के एक सजग अंग के रूप में काम करेगा।

1928 में मजदूर आंदोलन जिस तेजी से आगे बढ़ा और उसने जिस सक्रियता का परिचय दिया, वह लड़ाई के बाद के वर्षों में पहले कभी देखने में नहीं आई थी। इस प्रगति का केन्द्र बंबई था। पहली बार मजदूरवर्ग के बीच से ऐसा नेतृत्व उभरकर सामने आया जिसका कारखानों में काम करने वाले मजदूरों से घनिष्ठ संपर्क था और जिसने वर्गसंघर्ष के सिद्धांत को अपना निदेशक सिद्धांत माना था और जो आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में एक शक्ति की तरह काम करता था। मजदूरों ने इस नेतृत्व का जोरदार स्वागत किया। फरवरी में साइमन कमीशन के भारत आने पर राजनीतिक हड़तालों और प्रदर्शनों का जो सिलसिला शुरू हुआ उससे कुछ समय के लिए मजदूरवर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन के हिरावल दस्ते का स्थान मिल गया। इसकी वजह यह थी कि कांग्रेस के और ट्रेड यूनियन आंदोलन के सुधारवादी नेता इस बात से सहमत नहीं थे कि साइमन कमीशन के खिलाफ होने वाली हड़तालों और प्रदर्शनों में मजदूरवर्ग भी भाग ले। लेकिन मजदूरवर्ग की सफलता से वे हैरान रह गए। बंबई के अनेक म्यूनिसिपल मजदूरों को इसलिए नौकरी से निकाल दिया गया क्योंकि उन्होंने हड़ताल में भाग लिया था। दुबारा हड़ताल करने पर ही उन्हें फिर नौकरी पर वापस लिया गया।

ट्रेड यूनियनों के संगठन का काम काफी तेजी से आगे बढ़ा। सरकारी आंकड़ों के अनुसार बंबई में 1923-26 के तीन वर्षों के दौरान ट्रेड यूनियनों के सदस्यों की संख्या 48,669 से बढ़कर महज 59,544 ही हुई थी लेकिन 1927 तक यह संख्या 75,602, मार्च 1928 तक 95,321 और मार्च 1929 तक यह संख्या बढ़कर 200,325 हो गई। इन सब यूनियनों में पहले स्थान पर प्रसिद्ध गिरनी कामगर (लाल झंडा) यूनियन थी। यह यूनियन बंबई के मिलमजदूरों का संगठन था और इसके सदस्यों की संख्या 1928 के शुरू में केवल 324

थी लेकिन सरकार के 'लेबर गजट' में प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार दिसंबर 1928 में यह संख्या 54,000 और मार्च 1929 तक 65,000 हो गई थी। इस बीच 1926 में बनी और ट्रेड यूनियन के सुधारवादी नेता एन० एम० जोशी के नेतृत्व में काम कर रही, बंबई की पुरानी सूती कपड़ा मजदूर यूनियन (बांबे टेक्सटाइल लेबर यूनियन) के सदस्यों की संख्या में कोई खास वृद्धि नहीं हुई। इस यूनियन को सरकार तथा मिलमालिकों दोनों की ओर से बढ़ावा दिया जा रहा था। लेबर गजट के ही आंकड़ों के अनुसार अक्तूबर 1928 में इस यूनियन के सदस्यों की संख्या 8,436 थी जो दिसंबर 1928 में केवल 6,749 रह गई। इससे साफ पता चलता है कि मजदूरों को कौन सी यूनियन पसंद थी। गिरनी कामगर यूनियन की शक्ति इस बात में निहित थी कि उसने मिलों में समितियां बनाई थीं जिनका मजदूरों के साथ घनिष्ठ संबंध था।

1928 में हुई हड़तालों में कुल 3 करोड़ 15 लाख काम के दिनों का नुकसान हुआ। पिछले पांच वर्ष में कुल मिलाकर भी इतनी बड़ी संख्या में काम के दिनों का नुकसान नहीं हुआ था। यद्यपि हड़तालों का केंद्र बंबई था जहां कपड़ा मिल के मजदूरों ने सक्रियता दिखाई थी लेकिन यह आंदोलन समूचे देश में फैल गया था। 1928 में औद्योगिक विवादों के 203 मामले सामने आए जिनमें से 111 मामले बंबई के, 60 बंगाल के, 8 बिहार तथा उड़ीसा के, 7 मद्रास के और 2 पंजाब के थे। इनमें 110 विवाद सूती और ऊनी कपड़ामिलों में हुए थे, 19 जूट मिलों में, 11 इंजीनियरिंग कारखानों में, 9 रेलवे तथा रेलवे कारखानों में और 1 कोयले की खान में हुआ था। इन सबमें सबसे ज्यादा शानदार बंबई के कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल थी और भारत के इतिहास में यह सबसे बड़ी हड़ताल थी। इस हड़ताल में अप्रैल से लेकर अक्तूबर तक अर्थात छः महीने तक इन मिलों के सभी डेढ़ लाख मजदूरों ने सरकारी हिंसा और दमन के हर रूप का जमकर सामना किया। यह हड़ताल मूलतः अभिनवीकरण के लिए उठाए गए कदमों और साढ़े सात प्रतिशत वेतन कटौती के विरुद्ध आरंभ हुई थी लेकिन बाद में इसमें और भी तमाम मांगें जुड़ गईं। शुरू में सुधारवादी नेताओं ने इस हड़ताल का विरोध किया और एन० एम० जोशी ने कहा कि हम लोगों की स्थिति 'दर्शकों' की है लेकिन बाद में ये नेता भी आंदोलन में खिंच आए। सरकार ने आंदोलन को विफल करने की तमाम कोशिशें कीं लेकिन उसकी सारी कोशिशें नाकामयाब हो गईं। अंत में उसने फासेट कमेटी की नियुक्ति की घोषणा की जिसने साढ़े सात प्रतिशत कटौती का प्रस्ताव वापस ले लिया और मजदूरों की कुछ अन्य मांगें भी मान लीं।

इस प्रकार 1929 का वर्ष शुरू होते होते एक नाजुक स्थिति पैदा हो गई थी। मजदूर आंदोलन आर्थिक और राजनीतिक रंगमंच पर सबसे आगे पहुंच गया था। पुराने सुधारवादी नेतृत्व को मजदूरवर्ग अपने रास्ते से हटा रहा था। 1927-28 में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस का एक प्रतिनिधिमंडल भारत आया। इस प्रतिनिधिमंडल से साम्राज्यवादियों को बड़ी आशाएं थीं ('ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने इधर भारतीय मजदूरों की स्थितियों में जो दिलचस्पी लेनी शुरू की है वह काफी लाभदायक सिद्ध हो सकती है बशर्ते उससे भारत

की मजदूर यूनियनों का संगठन सुधर जाए और इन यूनियनों से साम्यवादी तत्वों को निकाल बाहर किया जाए।' लंदन टाइम्स, 14 जून 1928) ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल का उद्देश्य भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का यूरोप की सुधारवादी ट्रेड यूनियन इंटरनेशनल से संबंध स्थापित करना था। लेकिन उसे इस काम में सफलता नहीं मिली। इस असफलता से सरकार काफी चिंतित हुई और उसकी यह चिंता छिपी न रह सकी। सरकार 1929 में विधानसभा में वायसराय लार्ड इर्विन ने अपने भाषण में कहा कि 'कम्युनिस्ट विचार-धारा के खुले प्रचार से चिंताजनक स्थिति पैदा हो गई है।' उन्होंने ऐलान किया कि सरकार इसे रोकने के लिए कदम उठाएगी। सरकार की वार्षिक रिपोर्ट 'इंडिया इन 1928-29' शीर्षक के अंतर्गत कहा है कि 'कम्युनिस्टों के प्रचार और प्रभाव से, विशेष रूप से कुछ बड़े शहरों के औद्योगिक केंद्रों में उनके प्रचार और प्रभाव से अधिकारियों को काफी चिंता हो गई है।' इंग्लैंड के उदारवादियों ने भी यही चिंता दोहराई। अगस्त 1929 में 'मैनचेस्टर गार्जियन' ने लिखा कि 'पिछले दो वर्षों के अनुभव ने यह बता दिया है कि कम्युनिस्टों के चक्कर में बड़े बड़े केंद्रों के औद्योगिक मजदूर बहुत जल्दी आ जाते हैं।' भारत के राष्ट्रवादी अखबारों ने भी इसी तरह की चीख पुकार मचाई। मई 1929 में 'बांबे क्रानिकल' ने लिखा कि 'पिछले कई महीनों से भारत में होने वाले विभिन्न सम्मेलनों में और खासतौर से किसानों तथा मजदूरों के सम्मेलनों में समाजवादी सिद्धांतों का प्रचार हो रहा है।' सुधारवादी नेताओं ने अपने पैरों तले जमीन खिसकती महसूस की और मांग की कि कम्युनिस्टों के खिलाफ कड़ी कार्यवाही की जाए। मई 1928 में ही ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कार्यकारिणी के अध्यक्ष श्री शिवराव ने कहा था कि 'अब समय आ गया है जब भारत के ट्रेड यूनियन आंदोलन को अपने संगठन से उन तत्वों को चुन चुन कर निकाल देना चाहिए जो शरारतपूर्ण कार्यवाहियां करते हैं। इस तरह की चेतावनी इसलिए भी आज बहुत जरूरी है क्योंकि कुछ लोग मजदूरों को हड़ताल का उपदेश देने में लगे हुए हैं।

1929 में सरकार ने कदम उठाए और मजदूरों के बढ़ते आंदोलनों पर जबरदस्त प्रहार किया। सितंबर 1928 में सार्वजनिक सुरक्षा बिल (पब्लिक सेफ्टी बिल) असेंबली में पेश किया गया। इस बिल का उद्देश्य सरकारी तौर पर यह बताया गया था कि इससे 'भारत में कम्युनिस्टों की गतिविधियों को रोका जाएगा।' लेकिन असेंबली ने इस बिल को नामंजूर कर दिया। 1929 के बसंत में वायसराय ने एक विशेष अध्यादेश के जरिए इस बिल को लागू कर दिया। इसके बाद मजदूरों की स्थिति की जांच के लिए ह्विटले कमीशन नियुक्त किया गया। बाद में ट्रेड डिस्प्यूटस ऐक्ट बनाया गया जिसका उद्देश्य मजदूरों और मालिकों के विवादों को बातचीत के जरिए सुलझाने की व्यवस्था करना, दूसरों के समर्थन में की जाने वाली हड़तालों पर रोक लगाना और सार्वजनिक सेवा के उद्योगों में हड़ताल करने पर प्रतिबंध लगाना था। इसी समय बंबई में हुए दंगों की जांच के लिए एक रायट इंक्वारी कमेटी का गठन किया गया और इस कमेटी ने सिफारिश की कि 'बंबई में कम्युनिस्टों की कार्यवाहियों को रोकने के लिए सरकार को सख्त कदम उठाने चाहिएं।' इस समिति ने यह सवाल भी उठाया कि क्यों न ट्रेड यूनियन ऐक्ट में इस तरह

का कोई संशोधन किया जाए जिससे पंजीकृत ट्रेड यूनियनों में कम्युनिस्टों को कोई पद न दिया जाए।

5. मेरठ का मुकदमा

मार्च 1929 में सरकार ने अपने मुख्य हथियार का इस्तेमाल किया। देश भर में मजदूर आंदोलन के प्रमुख सक्रिय नेताओं की गिरफ्तारी की गई और उन्हें मुकदमे के लिए औद्योगिक केंद्रों से काफी दूर मेरठ नामक एक छोटे कस्बे में लाया गया। यह मुकदमा इतिहास के सबसे लंबे और विशद सरकारी मुकदमों में गिना जाता है।

शुरू में 31 नेता पकड़े गए थे और बाद में इस संख्या में एक और वृद्धि हो गई। इन सबके नामों का यहां उल्लेख करना जरूरी है क्योंकि बाद में इनकी भूमिका और इनकी कार्यवाहियां चाहे कैसी भी क्यों न हों, लेकिन वे भारत के मजदूरवर्ग के आंदोलन के अग्रणी लोगों में गिने जाएंगे और उनमें बहुत से आज भी भारतीय मजदूरवर्ग के सर्वोत्तम नेताओं में से हैं। इनके नाम इस प्रकार थे :

एस० ए० डांगे : ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सहायक मंत्री; कानपुर षडयंत्र केस के पुराने अभियुक्त; गिरनी कामगर यूनियन के महामंत्री।
किशोरीलाल घोष : ट्रेड यूनियनों के बंगाल प्रांतीय महासंघ के मंत्री।
डी० आर० थेंगड़ी : ट्रेड यूनियन कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष और कार्यकारिणी के सदस्य : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य।
एस० वी० घाटे : ट्रेड यूनियन कांग्रेस (1927) के सहायक सचिव और बंबई म्यूनिसिपल वर्कर्स यूनियन के उपाध्यक्ष।
के० एन० जोगलेकर : जी० आई० पी० रेलवेमेंस यूनियन के संगठन मंत्री : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य।
एम० एच० झाबवाला : आल इंडिया रेलवेमेंस फेडरेशन के संगठन मंत्री; गिरनी कामगर यूनियन के भूतपूर्व उपाध्यक्ष।
शौकत उस्मानी : कानपुर षडयंत्र केस में दंडित; बंबई से प्रकाशित होने वाले उर्दू सर्वहारा अखबार के संपादक।
मुजफ्फर अहमद : ट्रेड यूनियन कांग्रेस के उपाध्यक्ष; बंगाल मजदूर किसान पार्टी के मंत्री : कानपुर षडयंत्र केस में दंडप्राप्त अभियुक्त।
फिलिप स्प्रेट : ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कार्यकारिणी के भूतपूर्व सदस्य।
बी० एफ० ब्रेडले : ब्रिटेन में अमलामेटेड इंजीनियरिंग यूनियन की लंदन डिस्ट्रिक्ट कमेटी के भूतपूर्व सदस्य; जी० आई० पी० रेलवेमेंस यूनियन और गिरनी कामगर यूनियन की कार्यकारिणी के सदस्य; आल इंडिया रेलवेमेंस फेडरेशन के उपाध्यक्ष और बंबई सूती कपड़ा मिल हड़ताल के लिए बनी संयुक्त हड़ताल समिति के कोषाध्यक्ष।
एस० एस० मिरजकर : गिरनी कामगर यूनियन के सहायक सचिव।

पी० सी० जोशी : संयुक्त प्रांत की किसान मजदूर पार्टी के सचिव।

ए० ए० आल्वे : गिरनी कामगर यूनियन के अध्यक्ष।

जी० आर० कासले : गिरनी कामगर यूनियन के अधिकारी।

गोपाल बसाक : सोशलिस्ट यूथ कांफ्रेंस के 1928 में अध्यक्ष।

जी० एम० अधिकारी : पी-एच० डी०, बंबई के समाजवादी अखबार 'स्पार्क' के लेखक।

एम० ए० मजीद : 1920 में खिलाफत आंदोलन के साथ उन्होंने भारत छोड़ दिया; रूस की यात्रा की और वापस आने पर गिरफ्तार कर लिए गए। कीर्ति किसान पार्टी, पंजाब के सचिव और पंजाब यूथ लीग के संस्थापक।

आर० एस० निबकार : बांबे ट्रेड्स कौंसिल और बंबई प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सचिव, अखिल भारतीय मजदूर किसान पार्टी के महासचिव; अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य।

विश्वनाथ मुखर्जी : संयुक्त प्रांत की मजदूर किसान पार्टी के अध्यक्ष।

केदारनाथ सहगल : पंजाब कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष और पंजाब प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के वित्तीय सचिव; आल इंडिया यूथ लीग के सदस्य।

राधारमण मित्रा : बंगाल जूट वर्कर्स यूनियन के सचिव।

धरनी के० गोस्वामी : बंगाल की मजदूर किसान पार्टी के सहायक मंत्री; प्रमुख मजदूर नेता।

गौरीशंकर : संयुक्त प्रांत की मजदूर किसान पार्टी की कार्यकारिणी के सदस्य।

शम्सुल हुदा : बंगाल ट्रांसपोर्ट वर्कर्स यूनियन के सचिव।

शिवनाथ बनर्जी : बंगाल जूट वर्कर्स यूनियन के अध्यक्ष; इससे पहले खड़गपुर रेल हड़ताल के सिलसिले में एक वर्ष की सजा काट चुके हैं।

गोपेंद्र चक्रवर्ती : ईस्ट इंडिया रेलवे यूनियन के अधिकारी; इससे पहले खड़गपुर रेल हड़-ताल के सिलसिले में डेढ़ वर्ष की सजा काट चुके हैं।

सोहनसिंह जोश : अखिल भारतीय मजदूर किसान पार्टी के पहले सम्मेलन के अध्यक्ष।

एस० जी० देसाई : बंबई के समाजवादी पत्र 'स्पार्क' के संपादक।

अयोध्याप्रसाद : बंगाल की मजदूर किसान पार्टी के सक्रिय सदस्य।

लक्ष्मण राव कदम : म्युनिसिपल वर्कर्स यूनियन, झांसी के संगठनकर्ता।

एच० एल० हचिसन : 'न्यू स्पार्क' के संपादक।

बाद में गिरफ्तार किए गए बत्तीसवें व्यक्ति लेस्टर हचिसन एक अंगरेज पत्रकार थे जिन्होंने गिरफ्तारी के बाद 'न्यू स्पार्क' का संपादन संभाला। इनको भी मुकदमे में शामिल कर लिया गया। गिरफ्तार किए गए व्यक्तियों में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के उपाध्यक्ष, एक भूतपूर्व अध्यक्ष, और दो सहायक मंत्री; बंबई के और बंगाल के प्रांतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन के मंत्रीगण, गिरनी कामगर यूनियन के सभी अधिकारी, जी० आई० पी० रेल कर्मचारियों की यूनियन के अधिकांश पदाधिकारी तथा अनेक दूसरी यूनियनों के पदाधिकारी और बंगाल, बंबई तथा संयुक्त प्रांत की मजदूर किसान यूनियन के अन्य अधिकारी थे। अखिल

भारतीय कांग्रेस कमेटी के तीन सदस्यों को भी गिरफ्तार किया गया, इनमें कांग्रेस के, बंबई के प्रांतीय सचिव भी शामिल थे। कानपुर षडयंत्र केस में जिन चार लोगों को सजा दी गई थी उनमें से तीन फिर इस मुकदमे की चपेट में आ गए थे। इनमें तीन अंगरेज भी थे। इंग्लैंड के मजदूर आंदोलन के ये तीन प्रतिनिधि जब भारतीय मजदूरों के साथ कटघरे में खड़े हुए और बाद में उनके साथ सजा काटने जेल में गए तो विश्व के सामने मेहनतकशवर्ग की अंतर्राष्ट्रीय एकता का उदाहरण उपस्थित हो गया जिसने पुरानी दीवारें तोड़ दीं और जिसने ब्रिट्रेन तथा भारत की जनता के भावी मैत्री संबंधों के लिए एक महत्वपूर्ण और युगांतरकारी घटना का काम किया।

भारत के मजदूर आंदोलन के गिरफ्तार नेताओं के व्यवहार से स्पष्ट हो गया कि संगठन के अभी प्रारंभिक अवस्था में होने के बावजूद मजदूर आंदोलन को अपनी भूमिका का पूरा पूरा एहसास है और उसे पता है कि इस देश में उसे एक गौरवपूर्ण भूमिका निभानी है। अभियुक्तों ने अपने बचाव में जो बयान दिए वे भारतीय मजदूर आंदोलन के अत्यंत मूल्यवान दस्तावेज बने रहेंगे। इस तरह के वक्तव्यों से एक नए भारत की तस्वीर सामने आई :

> यह ऐसा मामला है जिसका राजनीतिक और ऐतिहासिक महत्व है। यह कोई ऐसा साधारण मामला नहीं जिसमें पुलिस ने 31 अपराधियों के खिलाफ महज अपने कर्तव्य का पालन किया हो। यह वर्गसंघर्ष के इतिहास की एक घटना है। इसे अमल में लाने के पीछे एक निश्चित राजनीतिक नीति है। यह भारत में स्थापित ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार द्वारा उस ताकत पर प्रहार करने की कोशिश है जो असली दुश्मन को पहचानती है, जो अंततोगत्वा अपने इन दुश्मनों का तख्ता पलट देगी, जिसने इनके खिलाफ असमझौतापूर्ण वैर का रुख अपना लिया है और जिसने देश की अपार गरीब और शोषित जनता की प्रलयंकर शक्ति का प्रदर्शन किया है। (राधारमण मित्रा का बयान)
>
> मेरे ऊपर आरोप लगाया है कि मैंने ब्रिटेन के सम्राट के खिलाफ षडयंत्र किया। मैं पूरा जोर देकर कहना चाहूंगा कि मैंने ऐसा किया है। कम्युनिस्ट लोग किसी व्यक्ति विशेष के खिलाफ षडयंत्र नहीं करते हैं। कम्युनिस्ट चूंकि मेहनतकशवर्ग की पार्टियों के सबसे प्रगतिशील हिस्से हैं और सिद्धांत: वे सामान्य सर्वहारा जनता के हरावल दस्ते का काम करते हैं तथा इस बात का दावा करते हैं कि वे सर्वहारा आंदोलन के सर्वमान्य कार्यक्रमों को समझ सकते हैं और उनके संचालन की प्रक्रिया तथा परिणामों का पूर्वज्ञान रखते हैं इसलिए वे महज समाज के ढांचे के अंदर मौजूद वर्गसंघर्ष की ठोस परिस्थितियों को सामान्य भाषा में अभिव्यक्ति देते हैं।
>
> यदि कोई ऐसा अपराध है जिसपर अदालत मुझे दंड देना चाहे तो वह यही है

कि मैंने भारत को पूंजीवाद के शोषण से वंचित करना चाहा और लाखों करोड़ों उत्पीड़ितों को मुक्त करना चाहा। यदि आप मेरे ऊपर ये आरोप लगाते हैं तो मैं स्वीकार करता हूं कि मैंने अपराध किया है। (धरणी गोस्वामी का बयान)

चूंकि मेरा यह लक्ष्य था कि मेहनतकशवर्ग को शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति दिलाई जाए इसलिए मेरे लिए यह एक बुनियादी काम था कि मैं खुद को कमजोर और असंगठित मजदूर संगठनों को मजबूत बनाने के काम में पूरी निष्ठा के साथ लगा हूं।

ट्रेड यूनियन आंदोलन का एक बुनियादी सिद्धांत यह है कि वह किसी उद्योग के प्रत्येक वेतनभोगी कर्मचारी को एक मंच पर इकट्ठा कर देता है और उन्हें वर्ग आधार पर संगठित करता है। यदि कोई ट्रेड यूनियन सही अर्थों में मजदूरों का संगठन होना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह मालिकों और पूंजीपतियों के वर्ग के विरुद्ध मजदूरों के आर्थिक वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व करे। यदि कोई ट्रेड यूनियन मजदूरों को वर्ग चेतना और वर्ग एकता के बुनियादी सिद्धांत समझाने में असफल रहता है तो वह निश्चय ही अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारता है।
(गोपेन चक्रवर्ती का बयान)

मेरे ऊपर आरोप लगाया गया है कि मैंने युवकों के बीच काम किया और युवकों के संगठन बनाए। यह सच है, मैंने युवकों के बीच कुछ काम करने की कोशिश की। मैं भी भारत के हर युवक की तरह यह चाहता हूं कि भारत आजाद हो। मैं भी चाहता हूं कि देश को पूर्ण आजादी मिले, भारत का पूर्ण उद्योगीकरण हो तथा देश को राजनीतिक और आर्थिक आजादी मिले। आजादी की इच्छा करना और उसके लिए काम करना कभी अपराध नहीं हो सकता…

भारत का नौजवान यदि खुशहाली चाहता है तो उसके सामने दो ही आदर्श हो सकते हैं, आजादी की प्राप्ति और समाजवादी समाज की स्थापना।
(गोपाल बसाक का बयान)

हम लोगों के खिलाफ दर्ज किया गया मामला कुछ ऐसा है कि किसी व्यक्ति विशेष के पक्ष में दलीलें देने का सवाल ही नहीं पैदा होता। जिस बात के पक्ष में दलील देने का प्रश्न पैदा होता है वह है पार्टी का प्रश्न, पार्टी की विचारधारा का प्रश्न, पार्टी के बने रहने के अधिकार का प्रश्न और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध होने या सहयोग लेने का प्रश्न…अभियोग पक्ष ने कम्युनिज्म, कम्युनिस्टों और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन) पर अत्यंत घिनौने आरोप लगाए हैं। उसमें कहा गया है कि हमारा अपराध न केवल राजसत्ता

के खिलाफ है बल्कि समूचे समाज के खिलाफ है। मैं इन गालियों को बेहद अपमान जनक मानता हूं और कहता हूं कि सही अर्थों में समूचे मानव समाज के दुश्मन वे ही लोग हैं, वे साम्राज्यवादियों के हथियार हैं और उनके दलाल हैं। मैं पूछता हूं कि सामूहिक अपराधी कौन है? खून के प्यासे साम्राज्यवादी—जिन्होंने समूचे महाद्वीप में संगीन और गोलियों का आतंक स्थापित किया है, जिन्होंने रक्तपात और यातना का उपनिवेशवादी शासन स्थापित किया है, जिन्होंने इस महाद्वीप की करोड़ों जनता को दाने दाने का मोहताज किया और गुलाम बना रखा है और जो जनता के विनाश का खतरा बने हुए हैं या सामाजिक अपराधी वे कम्युनिस्ट हैं जो समूची दुनिया की शोषित और उत्पीड़ित जनता की क्रांतिकारी शक्ति को संगठित करने के लिए और इस शक्ति से दमन और शोषण पर आधारित सड़ी गली व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए प्रयत्नशील हैं जो इस व्यवस्था को समूल नष्ट करके एक नई समाज व्यवस्था कायम करना चाहते हैं, और सर्वनाश की तरफ बढ़ रहे मानव समाज और सभ्यता को बचाना चाहते हैं? इस मुकदमे में सामाजिक अपराधियों के आधिकारिक प्रतिनिधि अभियोग पक्ष की बेंच पर बैठे हुए हैं।

जैसाकि मैंने कहा कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, (अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन) पिछले सौ वर्षों के अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के सहज विकास का नतीजा है। यह अपने से पहले के दो 'इंटरनेशनल' की क्रांतिकारी परंपरा का विकास है। अपने कई दशकों के सर्वहारा संघर्ष के अनुभवों पर निर्भर होकर कम्युनिस्ट इंटरनेशनल आज पूंजीवादी देशों में समाजवाद की स्थापना के लिए संघर्षरत क्रांतिकारी मजदूर आंदोलन का नेतृत्व कर रहा है, उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन को संचालित कर रहा है और अंततः विश्व के छठे हिस्से में समाजवाद की स्थापना का वास्तविक काम कर रहा है और इस काम में दिशा निर्देशन कर रहा है। इस अंतिम क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन की उपलब्धियों से ही पूंजीवादी देशों की सर्वहारा जनता के बीच इसकी शक्ति और प्रभाव बढ़ रहा है और उपनिवेशों की शोषित जनता के बीच कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रसार बढ़ता जा रहा है।

सोवियत संघ का अस्तित्व आज कोमिनतर्न के नेतृत्व में चलने वाले अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के लिए बहुत बड़ा अवलंब है। इस आधार से ही कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, विकसित देशों की सर्वहारा जनता और उपनिनेशों की मेहनतकश जनता के सहयोग से पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध अभियान जारी रखेगा और अंत में उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकेगा।

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल आज विश्व इतिहास में एक ऐसा विशाल कारखाना है जो

> मानव समुदाय और मानव सभ्यता की नियति को एक नया स्वरूप प्रदान करेगा और वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत मौजूद सर्वनाशकारी खतरों से उसकी रक्षा करेगा…
>
> लेकिन बुजुर्आवर्ग (पूंजीपतिवर्ग) के इन घृणित दलालों की समझ में यह बात नहीं आएगी। उनके लिए कम्युनिस्ट इंटरनेशनल एक ऐसा गुप्त षडयंत्र है जिसे दंड संहिता की किसी धारा की मदद से समाप्त करना होगा।
> (डा० जी० एम० अधिकारी का बयान)

इस मुकदमे में भारत के मजदूर आंदोलन की जो भूमिका रही वह अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के उच्चतम मानदंडों के अनुरूप रही और यह उन लोगों के लिए एक प्रेरणा और मिसाल बनी जिनके ऊपर आज भारत में समाजवाद और मजदूरवर्ग के झंडे को ऊंचा उठाने की जिम्मेदारी है।

सरकार ने इस मुकदमे को साढ़े तीन साल तक घसीटा, भारत के इतिहास में चार वर्ष की यह अवधि बहुत ही नाजुक थी और इस अवधि में मजदूरवर्ग का सबसे अच्छा नेतृत्व जेलों में पड़ा रहा। दंड संहिता की धारा 121A के तहत जो आरोप लगाए गए थे उसकी पुष्टि के लिए प्रमाण पेश करने की कोई कोशिश नहीं की गई।

> ब्रिटिश भारत के भीतर या बाहर जो भी व्यक्ति ऐसे किसी अपराध का षडयंत्र करता है जो धारा 121 के तहत दंडनीय हो या सम्राट को ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी हिस्से से अपदस्थ करता है या अनुचित शक्ति के जरिए भारत सरकार का, या स्थानीय सत्ता का तख्ता पलटने का षडयंत्र करता है उसे आजन्म या कुछ समय के लिए कालापानी की सजा दी जाएगी या उसे ऐसी कोई भी सजा दी जाएगी जिसकी अवधि दस वर्ष तक हो।

यह स्वीकार किया गया कि आरोपों को सही साबित करने के लिए अभियुक्तों की किसी कार्यवाही का हवाला नहीं दिया जा सका। हाईकोर्ट के जज ने अपने फैसले में कहा : यह मान लिया गया है कि अभियुक्तों पर यह आरोप नहीं लगाया गया है कि उन्होंने तथा-कथित षडयंत्र में कोई गैरकानूनी तरीका अपनाया।

सरकारी वकील ने कहा :

> अभियुक्तों पर यह आरोप नहीं लगाया गया है कि वे कम्युनिस्ट विचारधारा को मानते हैं बल्कि यह आरोप लगाया गया है कि उन्होंने—भारत में सम्राट की प्रभुसत्ता को समाप्त करने के लिए षडयंत्र रचा था। मुकदमे के मकसद के लिए

यह साबित करना जरूरी नहीं है कि अभियुक्तों ने वास्तव से कुछ किया है। यदि केवल यही साबित हो जाता है कि उन्होंने षडयंत्र किया था तो काफी है।

'षडयंत्र' जैसी कोई चीज नहीं थी। अभियुक्तों के समाजवादी सिद्धांतों को सभी लोग जानते थे और उन्होंने खुलेतौर पर अपने इन सिद्धांतों की घोषणा भी की थी। इसी तरह मजदूर संगठन के काम भी सबके सामने थे। कहीं कोई 'अनुचित शक्ति' नहीं थी। केवल मजदूर आंदोलन का संगठन और नेतृत्व था।

असली आरोप का पता अभियोगपत्र से चला। इसमें अभियुक्तों पर आरोप लगाया गया था कि वे 'पूंजी और श्रम के बीच शत्रुता बढ़ाते हैं' 'मजदूर किसान पार्टियां, यूथ लीग, यूनियन आदि बनाते हैं' और 'हड़तालों को बढ़ावा देते हैं।' गवाहियों में भी इन्हीं गतिविधियों पर खासतौर से ट्रेड यूनियन गतिविधियों पर सारा जोर दिया गया था। इन अभियुक्तों में से एक अभियुक्त, बंगाल जूट वर्कर्स यूनियन के मंत्री पर सरकारी वकील ने आरोप लगाया कि वह 'षडयंत्र में उसी समय शामिल हो गया था जब उसने कलकत्ता के भंगियों की हड़ताल में हिस्सा लिया था।' इस मुकदमे के पीछे सरकार के मुख्य उद्देश्य क्या थे, इसकी घोषणा जज ने अपने फैसले में कर दी :

संभवतः इससे ज्यादा गंभीर बात यह है कि बंबई के कपड़ा मिलमजदूरों पर इनका काफी प्रभाव है। इसका उदाहरण 1928 की हड़ताल और गिरनी कामगर यूनियन की क्रांतिकारी नीति में मिल गया था।

फिर भी यह मुकदमा, उभरते हुए मजदूर आंदोलन को रोकने में ऐतिहासिक दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण था जितना महत्वपूर्ण ब्रिटिश मजदूर आंदोलन के इतिहास में सौ वर्ष पुराना डौरचेस्टर के मजदूरों का मुकदमा था। यह मुकदमा लेबर सरकार के शासनकाल में चलाया गया था और लेबर सरकार ने इसकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ली थी ('हम इसकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं—भारतीय मामलों के मंत्री पूरे जोरशोर से भारत सरकार का समर्थन कर रहे हैं',—1929 में ब्राइटन में लेबर पार्टी के सम्मेलन में डा० ड्रमंड शील्स का भाषण)। 25 जून 1929 को 'डेली हेराल्ड' ने कहा : 'कानून की मशीन को अपना काम करते रहना चाहिए।' ब्रिटिश ट्रेड यूनियन के नाम भारत की ट्रेड यूनियन की अपील के जवाब में सर वाल्टर सिट्रीन ने 1 अक्तूबर 1929 को लिखा कि 'मुकदमे की कार्यवाही जल्दी से जल्दी पूरी हो जानी चाहिए। अभियुक्तों पर जो आरोप लगाए गए हैं वे राजनीतिक आरोप हैं और जनरल कौंसिल की राय में भारतीय ट्रेड यूनियन आंदोलन का इससे कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। बाद में जब मुकदमा समाप्त हो गया और लेबर पार्टी की सरकार भी नहीं रही तब 1933 में ट्रेड यूनियन कांग्रेस और लेबर पार्टी की संयुक्त राष्ट्रीय समिति ने एक पुस्तिका प्रकाशित की और उसमें कहा कि

'मुकदमे की पूरी कार्यवाही शुरू से अंत तक ऐसी थी जिसके एक भी शब्द का पक्ष नहीं लिया जा सकता और न्यायिक धांधलेबाजी का उदाहरण है।'

जनवरी 1933 में अदालत ने अत्यंत क्रूरतापूर्ण सजाएं सुनाईं: मुजफ्फर अहमद को आजीवन कालापानी; डांगे, घाटे, जोगलेकर, निंबकर और स्प्रैट को बारह साल का कालापानी, ब्रैडले, मिरजकर और उस्मानी को दस साल का कालापानी तथा इसी तरह की अन्य सजाएं थीं जिनमें सबसे कम सजा तीन वर्ष का कठोर कारावास था। इन सजाओं की घोषणा के बाद विश्व भर में विरोध प्रदर्शन हुए, परिणामतः अपील करने पर इन सजाओं में काफी कमी कर दी गई।[1]

6. मेरठ के बाद मजदूर आंदोलन का पुनर्गठन

मेरठ में हुई गिरफ्तारियों के बाद के कुछ वर्ष भारत के मजदूर आंदोलन के लिए काफी कठिन वर्ष थे। हालांकि मेरठ के मुकदमे ने ऐसी हर घटना की तरह ही आंदोलन की भावी शक्ति और विजय के बीच काफी मजबूती से बोए फिर भी इन गिरफ्तारियों से आंदोलन पर एक तात्कालिक प्रहार तो हुआ ही।

भारत के मजदूर आंदोलन के विकास का यह प्रारंभिक चरण था और ऐसी स्थिति में वह अपने गिरफ्तार नेताओं की कमी को जल्दी पूरा नहीं कर सका। आर्थिक संकट का दौर चल रहा था और इन दिनों जो भी हड़तालें हुईं, उनमें मजदूरों की जबरदस्त हार हुई। आर्थिक संकट के दौर के बाद राष्ट्रीय संघर्ष के नाजुक वर्ष शुरू हुए और इन वर्षों में मेहनतकश वर्ग की राजनीतिक भूमिका काफी कमजोर कर दी गई। साम्राज्यवादियों का इरादा भी यही था।

ट्रेड यूनियन आंदोलन के सामने भी अनेक तरह की कठिनाइयां आईं। पिछले दो वर्षों में संगठन के व्यावहारिक काम और अपनी अपेक्षाकृत बढ़ी शक्ति के आधार पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस के वामपंथी बहुमत को अंततः 1929 के अंत में नागपुर अधिवेशन में सफलता मिल गई। पुराने सुधारवादी नेताओं ने अपने को अल्पमत में पाया। उन्होंने बहुमत के जनतांत्रिक फैसले को मानने से इंकार किया और उन्होंने ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट डालकर अपनी अनुयायी यूनियनों को लेकर ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना कर ली। एन० एम० जोशी, शिवराव, गिरि, दीवान चमनलाल तथा अन्य लोगों की ओर से जो बयान जारी किया गया उसमें कहा गया कि 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कार्यकारिणी की कार्यवाही से यह बात अब साफ हो गई है कि उसके सदस्यों का बहुमत ऐसी नीति के पालन के पक्ष में है जिससे हम पूरी तरह असहमत हैं।' इस वक्तव्य में आगे कहा गया कि 'हमें कोई संदेह नहीं कि कांग्रेस का एक निर्णायक बहुमत उनके साथ है। इन परिस्थितियों में हम कहना चाहते हैं कि कार्यकारिणी के प्रस्तावों से हमारा कोई

संबंध नहीं है और हम यह भी महसूस करते हैं कि कांग्रेस की कार्यवाहियों में शिरकत करते रहने से अब कोई मकसद पूरा नहीं होगा।'

लेकिन ट्रेड यूनियन आंदोलन पर अब जिन वामपंथी नेताओं का नेतृत्व हुआ उनमें एकता या सहयोग नहीं था। इसकी वजह यह थी कि इस नेतृत्व में तरह तरह के लोग थे। फलस्वरूप कुछ समय बाद मुख्यतया मजदूरवर्ग की स्वतंत्र राजनीतिक भूमिका के प्रश्न पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फिर फूट पड़ गई। मजदूरवर्ग की स्वतंत्र राजनीतिक भूमिका की बात कम्युनिस्ट विचारधारा के लोग करते थे और उन्होंने अपनी अलग अलग लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस बना ली।

इन फूटों से ट्रेड यूनियन आंदोलन कमजोर हो गया लेकिन मजदूरों ने अलग अलग हड़तालों के जरिए अपना संघर्ष जारी रखा। उन्होंने न केवल आर्थिक मांगों के लिए बल्कि ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं को नौकरी से निकाले जाने और दंडित किए जाने के खिलाफ अर्थात संगठन के जनवादी अधिकार के लिए संघर्ष किया। इसका प्रमाण हड़तालों की बढ़ती हुई संख्या से मिल सकता है। 1929 में 141 हड़तालें हुईं और 1930 तथा 1931 में क्रमश: 148 तथा 166 हड़तालें हुईं। इन हड़तालों में प्रति वर्ष 1 लाख से ज्यादा मजदूरों ने हिस्सा लिया। इन संघर्षों का नेतृत्व लाल यूनियन कांग्रेस के कम्युनिस्टों ने किया और 1933 तक सरकार को भी बड़ी खीझ के साथ यह कहना पड़ा कि हालांकि मेरठ कांड के नेता अब भी जेलों में पड़े हैं पर 'कम्युनिस्टों का खतरा बना हुआ है और यह पहले से तेज हुआ है' (इंडिया, 1932-33)।

इन अलग अलग हड़तालों से 1934 की हड़तालों के बड़े सिलसिले का मार्ग प्रशस्त हुआ जिसका उद्देश्य मिलमालिकों की अभिनवीकरण (रेशनलाइजेशन) योजना का विरोध करना था। यह योजना काम बढ़ाने और शोषण तेज करने के लिए तैयार की गई थी। संघर्ष की इस लहर की तीव्रता और विस्तार का सबूत इस बात से ही मिल सकता है कि 1933 में जहां 146 हड़तालों में 164,938 मजदूरों ने भाग लिया और 2,168,961 काम के दिनों का नुकसान हुआ, वहीं 1934 में 159 हड़तालें हुईं जिनमें 220,808 मजदूरों ने भाग लिया और 4,775,559 काम के दिनों का नुकसान हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि 1934 में 1933 के मुकाबले दुगने काम के दिनों का नुकसान हुआ। सरकार के जबरदस्त दमन के बावजूद सूती कपड़ा मिलमजदूरों की हड़ताल बंबई में अप्रैल से जून तक और शोलापुर में फरवरी से मई तक चली। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि मजदूरवर्ग ने अपनी बिखरी शक्ति को फिर से बटोर लिया था, अपनी एकजुटता फिर कायम कर ली थी और जुझारू नेताओं की एक नई पीढ़ी को सामने ला दिया।

सरकार ने फिर हमला किया। आपात अधिकारों से संबंधित एक अध्यादेश जारी किया गया और कम्युनिस्टों तथा ट्रेड यूनियन नेताओं को बिना मुकदमा चलाए गिरफ्तार कर

लिया गया। कम्युनिस्ट पार्टी को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। कानूनी तौर से पंजीकृत एक दर्जन से अधिक ट्रेड यूनियनों को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया, यंग वर्कर्स लीग पर प्रतिबंध लगा दिया गया और मेहनतकशवर्ग के जुझारू और क्रांतिकारी संगठनों को कुचलने के लिए गोलियां चलाई गईं।

इस जबरदस्त संघर्ष का ही यह नतीजा था कि मेहनतकशवर्ग के संगठनों में फिर से एकता स्थापित करने के प्रयास शुरू हुए। 1935 में लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस मिलकर एक हो गए और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्वागत समिति के अध्यक्ष एस० एच० झाबवाला ने अपने भाषण में कहा :

> अपने व्यक्तिगत अनुभव से बिना किसी अतिशयोक्ति के, मैं यह कह सकता हूं कि कम्युनिस्टों के साथ काम करके मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। कम्युनिस्टों में ही मुझे ऐसे लोग मिले हैं जो मजदूरों के रोजमर्रा के हितों के लिए और उनकी एकता के लिए निरंतर संघर्ष कर सकते हैं। (आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, बम्बई के 15वें अधिवेशन की रिपोर्ट, मई 1936)

इस अधिवेशन के मंच से ही नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियंस के सुधारवादी नेताओं के नाम एक अपील की गई थी जिसमें कहा गया था कि उन्हें मजदूरों के केंद्रीय नेतृत्व में एकता कायम करने के लिए सहमत हो जाना चाहिए क्योंकि मालिकों और सरकार की ओर से मजदूरों पर हो रहे हमले को 'मजदूरों के देशव्यापी हमले के जरिए ही' रोका जा सकता है। फैडरेशन के नेताओं को विश्वास दिलाया गया था कि एकता के लिए उनकी सारी शर्तें मान ली जाएंगी बशर्ते वे दो बुनियादी सिद्धांतों पर सहमत हो जाएं : पहला यह है कि ट्रेड यूनियन आंदोलन का आधार वर्गसंघर्ष है और दूसरा यह कि ट्रेड यूनियनों के अंदर जनवाद होना चाहिए। लेकिन फैडरेशन के नेताओं ने तुरंत संगठनात्मक एकता को जाने का विरोध किया। इसलिए 1936 में एक संयुक्त बोर्ड बनाया गया और 1938 में कहीं जाकर नागपुर अधिवेशन के समय नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियंस अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के साथ संबद्ध और कांग्रेस की प्रबंध समिति में दोनों संगठनों के बराबर बराबर प्रतिनिधि शामिल किए गए। ट्रेड यूनियन कांग्रेस को एक बार फिर ऐसे संगठन का श्रेय मिला जो भारत के समूचे मजदूर आंदोलन को एकजुट कर सके। केवल एक संगठन इसके बाहर रहा और वह था अहमदाबाद का लेबर ऐसोसिएशन जो गांधीवादी विचारधारा के तहत था।

राजनीतिक क्षेत्र में भी नई घटनाएं हुईं। मजदूर और किसान पार्टियां अपने दो वर्ग चरित्रों की वजह से राजनीतिक मजदूर संगठन के लिए कोई स्थाई आधार न देकर महज विकास की संक्रमणकालीन अवस्था तैयार कर सकती थीं और मेरठ के बाद ये पार्टियां राष्ट्रीय रंगमंच से गायब हो गईं। हालांकि कम्युनिस्ट पार्टी को गैरकानूनी घोषित कर

दिया गया था पर इस तरह के उपायों से समाजवादी और साम्यवादी प्रभाव तथा मार्क्सवादी विचारधारा के प्रसार को नहीं रोका जा सका। 1930-34 का सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त हो जाने के बाद शक्ति में और भी वृद्धि हुई क्योंकि बहुत से राष्ट्रवादी युवकों ने इस आंदोलन से सबक लेना शुरू कर दिया था।

1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन हुआ। इस पार्टी का गठन युवा वामपंथी राष्ट्रवादी तत्वों के एक ग्रुप ने किया था जो मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव में आंशिक रूप से आ गया था। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की खास विशेषता यह थी कि उसके सदस्य वही लोग हो सकते थे जो कांग्रेस के सदस्य थे। इस प्रकार यह पार्टी कांग्रेस का एक अंग बन गई जिसमें आम जनता को सदस्य बनने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता था। पार्टी का कार्यक्रम और संविधान कुछ ऐसा था (पार्टी के संस्थापकों में जो प्रगतिशील तत्व थे, उनका इरादा भले ही कुछ भी रहा हो) जिसमें मजदूर आंदोलन अनिवार्य रूप से राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्कालीन नेतृत्व के अनुशासन और नियंत्रण के अधीन हो जाता था। व्यवहार में इसका अर्थ यह हो जाता था कि मजदूर आंदोलन पूंजीपतिवर्ग के अधीन हो जाता था। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की बुनियाद में ही यह अंतर्विरोध था जिसकी अभिव्यक्ति मजदूर आंदोलन के हर नाजुक दौर में उसकी भूमिका में हुई। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का समूचा इतिहास इसका प्रमाण है। यह अंतर्विरोध आगे चलकर पार्टी के भीतर के वामपंथी और दक्षिणपंथी विचारधारा के पोषकों के बीच संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ, वामपंथी विचारधारा वाले चाहते थे कि कम्युनिस्ट पार्टी और मेहनतकशवर्ग के संगठनों के साथ सहयोग किया जाए जबकि प्रतिक्रियावादी दक्षिणपंथी तत्व, जिनका पलड़ा भारी था, कम्युनिस्ट पार्टी तथा मजदूरवर्ग की हर प्रकार की स्वतंत्र गतिविधियों का विरोध था।

7. विश्वयुद्ध से पहले की लहर

चुनावों में राष्ट्रीय कांग्रेस की विजय तथा प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल बनने के साथ साथ ट्रेड यूनियन गतिविधियों की एक नई लहर उमड़ी जिसका नतीजा यह हुआ कि 1937-38 में हड़तालों का जबरदस्त सिलसिला शुरू हुआ। हथियारों की होड़ से पूंजीवाद को अस्थाई तौर पर पुनर्जीवन मिल गया था और इसके फलस्वरूप समूचे विश्व में हड़तालों की जो लहर आई थी, भारत की ये हड़तालें भी उसका एक अंग थीं।

ट्रेड यूनियन आंदोलन इतनी तेजी से फैला कि अनेक नई यूनियनों का गठन हुआ और साल में कुछ महीनों चलने वाली (सीजनल) फैक्टरियों तथा असंगठित उद्योगों तक के मजदूर इस आंदोलन में शामिल हो गए। पंजीकृत यूनियनों की संख्या बढ़ती गई। 1928 में पंजीकृत यूनियनों की संख्या केवल 29 थी जो 1929 में बढ़कर 75 और 1934 में 191 हो गई थी, 1938 में बढ़कर 296 हो गई। यूनियनों के सदस्यों की संख्या 261,000 हो गई। दरअस्ल ये मजदूर संगठन ही ऐसे केंद्र थे जो मज़दूरों की कई गुना अधिक संख्या को आंदोलन के लिए प्रेरित कर सकते थे।

1937 में हड़तालों की संख्या 379 तक हो गई। 1921 के बाद इतनी बड़ी हड़ताल पहली बार हुई थी। 1921 में भी जो हड़तालें हुई थीं वह इस वर्ष की हड़तालों से 17 ही अधिक थीं। 1937 की हड़तालों में 676,000 मजदूरों ने हिस्सा लिया। पहले कभी मजदूरों ने इतनी बड़ी संख्या में हड़तालों में हिस्सा नहीं लिया था। यह संख्या ट्रेड यूनियन के सदस्यों की तिगुनी संख्या थी। इन हड़तालों में कुल 8,983,000 काम के दिनों का नुकसान हुआ। 1929 के बाद से कभी इतने दिन काम का नुकसान नहीं हुआ था। 45 प्रतिशत मामलों में मजदूरों को अपनी मांगें पूरी कराने में सफलता मिली थी।

हड़तालों का जो सिलसिला चला था उनमें सबसे जबरदस्त हड़ताल बंगाल की जूट हड़ताल थी जो सरकारी दमन के बावजूद समूचे जूट उद्योग में फैल गई। इसने आम हड़ताल का रूप ले लिया जिसमें कुल मिलाकर 225,000 मजदूरों ने हिस्सा लिया। मजदूरों के बीच 1929 की उस आर्थिक मंदी के दिनों से ही असंतोष इकट्ठा हो रहा था जब 130,000 मजदूरों को काम से निकाल दिया गया था, वेतन में कटौती की गई थी. और 'अभिनवीकरण (रेशनलाइजेशन) के नाम पर काम के घंटे बेहद बढ़ा दिए गए थे और मजदूरों का जमकर शोषण किया जाने लगा था। 1931 से 1936 के बीच हालांकि जूट के मिलों में करघों की संख्या केवल 13 प्रतिशत बढ़ी पर जूट के उत्पादन में 65 प्रतिशत की वृद्धि हुई। बंगाल के प्रसिद्ध जूट उद्योगपति सर अलेक्जेंडर मरे ने कहा कि 'जब समूची दुनिया में मंदी आई थी तब भी वे मुनाफा कमाने में सफल हुए।' 1936 से जूट उद्योग पुनर्जीवन प्राप्त करने के युग में प्रवेश कर रहा था और फरवरी में जूट मजदूरों ने अपनी वेतन कटौती रद करने तथा पर्याप्त मजदूरी पाने के लिए हड़ताल शुरू कर दी। यह हड़ताल मई तक चली हालांकि फजलुल हक के प्रतिक्रियावादी मंत्रिमंडल ने इसको कुचलने के लिए तरह तरह के उपाय किए और इसके लिए यह दलील दी कि हड़ताल का कोई आर्थिक आधार नहीं है और 'भारत में क्रांति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए कम्युनिस्ट लोग इस हड़ताल का इस्तेमाल कर रहे हैं।' मजदूरों ने अपनी एकता कायम रखी और वे बंगाल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की हमदर्दी पाने में सफल हो गए। कांग्रेस कमेटी ने जनता से अपील की कि वे जूट मजदूरों की हड़ताल के लिए तैयार कोष में धन दें। अंततः मजदूरों की यूनियन को मान्यता मिल गई और मालिकों को वेतन कटौती रद करने का सिद्धांत स्वीकार करना पड़ा।

हड़ताल की यह जो लहर आई थी उसकी खास बात यह थी कि इस बार वर्ग शांति के गांधीवादी सिद्धांतों पर काम करने वाली यूनियनों के गढ़ अहमदाबाद तक हड़ताल की लपट पहुंच गई। यहां बंबई प्रांत की कांग्रेस सरकार ने दंड संहिता की घृणित धारा 144 लागू कर दी जिसके अंतर्गत पांच या इससे अधिक व्यक्तियों के एक स्थान पर इकट्ठा होने पर पाबंदी थी। यही वह धारा थी जिसका कांग्रेस सदा से विरोध करती आई थी।

इन हड़तालों की चरम स्थिति उस समय आई जब कानपुर की कपड़ा मिलों में हड़तालों

का सिलसिला शुरू हुआ। यह हड़ताल भी शीघ्र ही आम हड़ताल में तब्दील हो गई और उसमें 40,0C0 कपड़ा मजदूर शामिल हो गए। माचिस फैक्टरी, आयरन फाउंड्री और बर्मा शैल डिपो जैसे कुछ अन्य उद्योगों के लोगों ने भी हमदर्दी में हड़तालें कीं। कांग्रेस जांच समिति के फैसले को मजदूरों ने तो मान लिया पर मिलमालिकों ने इस फैसले को अमल में लाने से इंकार किया। नतीजा यह हुआ कि 1938 में एक आम हड़ताल शुरू हुई ताकि मालिकों को यह फैसला लागू करने के लिए मजबूर किया जा सके। इस हड़ताल में कांग्रेस और मजदूरवर्ग की आदर्श एकता स्थापित हुई। संयुक्त प्रांत की कांग्रेस कमेटी ने अपने प्रस्ताव में कहा कि 'कानपुर का मजदूरवर्ग केवल अपने लिए नहीं बल्कि भारत के समूचे मेहनतकशवर्ग के लिए लड़ रहा है··· (और) मानव अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहा है।' कांग्रेस कमेटी ने जनता से अनुरोध किया था कि 'इस महान कार्य में, जिसे मजदूरों ने शुरू किया है, जनता को हर तरह की सहायता देनी चाहिए।' मिलमालिकों के दलालों ने सांप्रदायिक दंगे कराने की कोशिश की पर हिंदू और मुसलमान मजदूरों की एकता ने उनके षडयंत्र विफल कर दिए। अंत में 55 दिनों के संघर्ष के बाद मजदूरों की शानदार जीत हुई जिसमें अन्य मांगें पूरी होने के साथ साथ उनकी यूनियन को भी मान्यता मिली।

नवंबर 1938 में बंबई के 90,000 से ज्यादा मजदूरों ने यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पूर्ण समर्थन से खतरनाक इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट बिल के विरोध में हड़ताल की (इस बिल के जरिए मजदूरों के विवादों को हल करने के लिए एक ऐसी व्यवस्था थोप दी गई थी जिससे हर मामले में चार महीने के लिए हड़ताल का अधिकार छिन जाता था, साथ ही मजदूर यूनियनों के पंजीकरण के ऐसे नियम बनाए गए थे जिससे कंपनी की समर्थक यूनियनों को फायदा पहुंचता था)। मजदूरवर्ग की चेतना और जागरूकता का यह जबरदस्त प्रदर्शन था। इस हड़ताल द्वारा बंबई प्रांत की कांग्रेस सरकार को चेतावनी दी गई थी ताकि वह मजदूर संगठनों के बारे में किए गए अपने चुनाव वायदों को पूरा करे।

रेल मजदूरों के संगठन का नेतृत्व सुधारवादी नेताओं के हाथ में होने के बावजूद वहां भी मजदूर आंदोलन में पुनर्जीवन के संकेत मिलने लगे। बंगाल नागपुर रेल हड़ताल, जिसमें 40,000 मजदूर शरीक हुए, एक महीने तक चली और उसे कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन का समर्थन मिला। सुधारवादी नेताओं के प्रभुत्ववाली अखिल भारतीय रेलवेमेंस फेडरेशन मजदूरों पर होने वाले दमन को चुपचाप देखती रही। 17 प्रतिशत मजदूरों की छंटनी हुई, वेतन में कटौती की गई, मजदूरों से जमकर काम लिया जाने लगा जिससे दुर्घटनाओं की संख्या में 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई और रेलवे कंपनियों के मुनाफे बढ़ते रहे लेकिन फेडरेशन के नेता इन सारी स्थितियों से आंखें बंद किए रहे। फिर ट्रेड यूनियन गतिविधियों की जो लहर चली थी उसने ग्रेट इंडियन पेनिनसुलर रेलवे के सुधारवादी तथा लाल झंडा यूनियनों को मिलाकर एक कर दिया और इसकी सदस्य संख्या 20,000 से भी अधिक हो गई। यही बात बांबे बड़ौदा ऐंड सेंट्रल इंडियन रेलवे, मद्रास ऐंड सदर्न मराठा रेलवे और साउथ इंडियन रेलवे की यूनियनों में भी देखने में आई। ट्रेड यूनियन

आंदोलन की इस जुझारू चेतना से उत्पन्न खतरे का सामना करने के लिए रेल प्रबंधकों ने क्या क्या दांवपेंच अपनाए इसका एक उदाहरण यह है कि प्रबंधकों ने बांबे बड़ौदा ऐंड सेंट्रल रेलवे की सुधारवादी यूनियन के सामने प्रस्ताव रखा कि 'जब तक श्री जमनादास मेहता का यूनियन से संबंध रहेगा और कम्युनिस्टों को इससे बाहर रखा जाएगा', तब तक उसे मान्यता मिली रहेगी। लेकिन आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियंस के एकीकरण ने और प्रतिद्वंद्वी यूनियनों को मिलाकर एक करने की मजदूरों की जबरदस्त इच्छा ने फूट डालने की इस तरह की साजिशों को नाकाम कर दिया।

ट्रेड यूनियन कांग्रेस के स्थापना दिवस 30 अक्तूबर 1938 तक इसकी सदस्य संख्या 325,000 हो गई। भारत के मजदूरवर्ग ने साम्राज्यवादी अपराधों के खिलाफ शक्तिशाली राजनीतिक विरोध करके और साम्राज्यवादी दमन के खिलाफ राष्ट्रीय मांगों के समर्थन में हर रोज संघर्ष छेड़कर अपने को साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों का एक संगठित और मजबूत हिस्सा बना लिया था।

इन घटनाओं के साथ साथ और इनके कारण राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर भी मजदूर आंदोलन की राजनीतिक भूमिका और उसके प्रभाव को महसूस किया जाने लगा। कम्युनिस्ट पार्टी पर लगे प्रतिबंध को हटाने के लिए कांग्रेस के प्रगतिशील तत्वों ने व्यापक अभियान शुरू किया जिसका अनेक ट्रेड यूनियनों ने समर्थन किया। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के बन जाने से नागरिक स्वतंत्रता का क्षेत्र व्यापक हो जाने के कारण प्रतिबंधों के बावजूद कम्युनिस्ट पार्टी के लिए अंगरेजी और मराठी में अपना मुखपत्र निकालना संभव हो सका। कम्युनिस्ट पार्टी ने अंगरेजी में 'नेशनल फ्रंट' नाम से और मराठी में 'क्रांति' नाम से अपने मुखपत्र निकाले। बंबई के मजदूरों के अधिकांश हिस्से की भाषा मराठी थी। इन अखबारों से साम्राज्यवाद के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाने के विचार का तथा फासिज्म के बढ़ते हुए खतरे का प्रचार किया जा सका। ये अखबार मजदूरों, किसानों तथा रियासतों में बसने वाली जनता के संघर्षों का व्यापक प्रचार करते थे। विभिन्न कांग्रेस समितियों के महत्वपूर्ण पदों पर कम्युनिस्टों का चुनाव किया गया और कांग्रेस की सर्वोच्च निर्वाचित समिति अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में कम से कम 20 कम्युनिस्टों को स्थान दिया गया। कम्युनिस्टों तथा कांग्रेस समाजवादी तत्वों के बीच वामपंथी एकता स्थापित करने की बार बार कोशिश की गई ताकि कांग्रेस के असरदार दक्षिणपंथी नेतृत्व की घुटनाटेक नीति के खिलाफ लड़ाई छेड़ी जा सके किंतु कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रतिक्रियावादी नेतृत्व के जबरदस्त विरोध के कारण इस काम में सीमित सफलता मिली।

8. द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में मजदूरवर्ग

सितंबर 1939 में युद्ध छिड़ने पर भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा भारत के मजदूरवर्ग के लिए एक निर्णायक दौर का सूत्रपात हुआ। राष्ट्रीय नेता अभी टालमटोल में ही

लगे थे कि मजदूर आंदोलन ने 2 अक्तूबर 1939 को साम्राज्यवादी युद्ध के खिलाफ एक दिन की राजनीतिक हड़ताल करके अपने आक्रमण की शुरुआत कर दी। इस हड़ताल में बंबई के 90,000 मजदूरों ने भाग लिया और विश्व के मजदूर आंदोलन में यह युद्धविरोधी पहली हड़ताल थी। शक्तिशाली और संगठित वर्ग के बीच से मजदूरवर्ग भारत में साम्राज्यवादविरोधी शक्तियों का हरावल दस्ता बनकर सामने आ रहा था।

युद्ध के कारण जीवनयापन के खर्च में तेजी से वृद्धि आई लेकिन इसके अनुरूप वेतन में वृद्धि नहीं हुई और इस बात को भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार डा० टी० ई० ग्रेगरी ने भी स्वीकार किया। डा० ग्रेगरी के अनुसार यदि सितंबर की कीमतों को 100 मान लिया जाए तो 'प्राथमिक चीजों के दामों का सूचक अंक 137 तक पहुंच गया था।' इस संख्या में फुटकर विक्रेताओं का मुनाफा भी जोड़ा जाना चाहिए। 'बांबे क्रानिकल' के विशेष संवाददाता ने लिखा कि 'इन सामानों में मुनाफाखोरी (अर्थात बाजरा, ज्वार, चावल और गेहूं जैसे अनाजों में) को यदि सितंबर की कीमतों पर देखें तो औसतन 28 प्रतिशत थी। यदि इसमें फुटकर विक्रेताओं का मुनाफा जोड़ें जो कि अनुमानतः 8 से 14 प्रतिशत है तो यह पता लगाया जा सकता है कि गरीब आदमी की जेब पर कितना बोझ पड़ रहा है।' ('बांबे क्रानिकल', 6 दिसंबर 1939)

मजदूरवर्ग ने युद्ध के कारण पड़े इन आर्थिक बोझों के खिलाफ लड़ाई की शुरुआत 5 मार्च 1940 को उस समय कर दी जब बंबई के 175,000 कपड़ा मिलमजदूरों ने महंगाई भत्ता पाने के लिए हड़ताल की। यह पूर्ण हड़ताल थी और 40 दिनों तक चली हालांकि हड़ताल के दौरान नेताओं की व्यापक तौर पर गिरफ्तारियां की गईं। मजदूरों के मकान में घुस-कर पुलिस ने परिवार के सदस्यों को पीटा और आतंकित करने की हर कोशिश की पर हड़ताली मजदूरों का मनोबल बना रहा। 10 मार्च को ट्रेड यूनियन कांग्रेस के आवाहन पर एक दिन की हड़ताल रही जिसमें सभी वर्गों के साढ़े तीन लाख मजदूरों ने हिस्सा लिया।

बंबई की इस हड़ताल से संपूर्ण देश में हड़तालों का सिलसिला चल पड़ा। महंगाई भत्ते की मांग को लेकर कानपुर के बीस हजार कपड़ा मजदूरों, कलकत्ता के बीस हजार म्युनिसिपल मजदूरों, बंगाल और बिहार के जूट मजदूरों, असम में डिगबोई के तेल मजदूरों, धनबाद और झरिया के कोयला मजदूरों, जमशेदपुर के लोहा और इस्पात उद्योग के मजदूरों तथा अन्य विभिन्न उद्योगों के मजदूरों ने काम बंद कर दिया। अब यह बात स्पष्ट हो गई थी। समूचा मेहनतकशवर्ग लड़ाई में शामिल हो गया था।

सरकार ने एक बार फिर हमला किया। 'नेशनल फ्रंट' और 'क्रांति' अखबारों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। भारत रक्षा अधिनियम कानून जारी कर दिया गया। देश भर में कम्युनिस्टों तथा अन्य प्रगतिशील तत्वों की गिरफ्तारियां की गईं और जनवरी 1941 में

सरकार के गृहमंत्री रेजिनैल्ड मैक्सवेल ने कहा कि जेलों में जो 700 व्यक्ति बिना मुकदमे के बंद हैं उनमें से 'लगभग 480 व्यक्ति बिना किसी अपवाद के या तो घोषित रूप से कम्युनिस्ट हैं या हिंसात्मक क्रांति के कम्युनिस्ट कार्यक्रम के सक्रिय समर्थक हैं' (लेजिस्लेटिव असेंबली डिबेट्स, 12 फरवरी 1941)। इसके अलावा 6,466 व्यक्तियों को सजा हो चुकी थी और 1,664 व्यक्तियों को नजरबंद कर दिया गया था, उनपर अनेक तरह के प्रतिबंध लगा दिए गए थे या उन्हें निर्वासित कर दिया गया था।

कम्युनिस्ट पार्टी पर सरकार की तरफ से तो हमला हो ही रहा था, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने भी इसी समय कम्युनिस्टों के खिलाफ आक्रमण शुरू किया और अपनी पार्टी से उन लोगों को बाहर निकाल दिया था जिनपर कम्युनिस्ट होने का संदेह था या जो कम्युनिज्म के प्रति हमदर्दी रखते थे। अपनी इस कार्यवाही के पक्ष में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने यह दलील दी कि वे (कम्युनिस्ट) अहिंसा के गांधीवादी सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सके। पार्टी के महासचिव जयप्रकाश नारायण ने सदस्यों के नाम एक गश्ती चिट्ठा में लिखा कि 'कुछ गैरजिम्मेदार लोग हैं—जो बिना सोचे समझे और दुस्साहसपूर्ण ढंग से हिंसा की भावना को बढ़ावा देते हैं—गांधी जी यह समझ सके कि हम (कांग्रेस सोशलिस्ट) हमेशा शांतिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित जनसंघर्ष पर जोर देते थे।' इस अवधि के दौरान कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के जुझारू सदस्यों का एक बहुमत अपनी पार्टी छोड़कर गैरकानूनी कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गया। वह इस तरह के सोशलिस्ट नेतृत्व से बेहद असंतुष्ट था जिसने अहिंसा से गांधीवादी सिद्धांत के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था और वर्ग-संघर्ष के आधार को तिलांजलि दे दी थी। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, ऐसे नेताओं का महज एक गुट बनकर रह गई जिनका न तो कोई जनसंगठन था और न तो मजदूरवर्ग में कोई वास्तविक आधार ही था।

अधिकारियों के आक्रमण के बावजूद कम्युनिस्ट पार्टी का न तो संगठन टूट सका और न उसके सदस्यों की सक्रिय भूमिका में ही कोई कमी आई। हालांकि सरकार ने इसके लगभग सभी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया पर पार्टी बाकायदा काम करती रही, कुछ नेता पुलिस को चमका देकर काम करते रहे और कानूनी जनआंदोलन के साथ गैरकानूनी क्रांतिकारी प्रचार का काम भी होता रहा। कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य संख्या में कम थे और उन्हें तमाम कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था इसलिए वे घटनाओं को कोई निर्णायक मोड़ तो नहीं दे सके पर इसमें किसी को संदेह नहीं रहा कि यही पार्टी मजदूरवर्ग की असली पार्टी है और भारतीय राजनीति की एक प्रमुख शक्ति है।

इसके साथ ही देश भर में मजदूरवर्ग ने मिलकर जो आंदोलन किया उसका नतीजा यह हुआ कि केंद्रीय ट्रेड संगठनों में पूर्ण एकता कायम हो गई। नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियंस पूरी तरह आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के साथ मिल गई, पर मिलने से पहले उसने जोर देकर विधान में यह तब्दीली करा ली कि 'सभी राजनीतिक सवाल, हड़तालों

से संबंधित मसले तथा किसी विदेशी संगठन से संबद्ध होने के सवाल तीन चौथाई बहुमत से तय किए जाएंगे।' ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं के जुझारू वर्ग ने एकता के हित में इस धारा को मान लिया हालांकि बाद के वर्षों में इसने संगठित ट्रेड यूनियन आंदोलन को गंभीर नुकसान पहुंचाया और इसके कारण मजदूरों को स्पष्ट राजनीतिक नेतृत्व नहीं दिना जा सका।

इस सीमा निर्धारण से जो नुकसान हुए उन्हें युद्ध तेज होने पर उत्पन्न कुछ नई समस्याओं के संदर्भ में तब देखा गया जब सोवियत संघ पर नाजियों ने हमला कर दिया, युद्ध के मैदान में जापान कूद पड़ा और उसने दक्षिण पूर्व एशिया को रौंद डाला, संयुक्त राष्ट्र संधि की स्थापना हुई और भारत के लिए जापान का खतरा बढ़ने लगा।

फरवरी 1942 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का कानपुर अधिवेशन हुआ। इस बीच मजदूरों की हालत काफी खराब हो गई थी। जापानी सेना मलाया और बर्मा को रौंदने के बाद भारत की ओर बढ़ रही थी। लेकिन ट्रेड यूनियन आंदोलन का केंद्रीय नेतृत्व मजदूरों को स्पष्ट राजनीतिक नेतृत्व देने में असफल रहा। कम्युनिस्ट पार्टी के उस प्रस्ताव का बहुमत ने समर्थन किया जिसमें कहा गया था कि राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में यु‿ ‿ा बिना शर्त समर्थन किया जाना चाहिए और राष्ट्रीय सुरक्षा के काम को कार-गर बनाने के लिए भारत के मजदूरों को राष्ट्रीय मांगपत्र (चार्टर आफ नेशनल डिमांड्स) के लिए लड़ना चाहिए। इस प्रस्ताव को बहुमत का समर्थन प्राप्त था फिर भी उसे आवश्यक तीन चौथाई वोट नहीं मिले। इसलिए ट्रेड यूनियन आंदोलन में शामिल प्रत्येक राजनीतिक दल को इस बात की छूट मिल गई कि वह अपनी निजी नीतियों का प्रचार करे।

1942-45 का दौर मजदूरवर्ग के लिए तथा संपूर्ण देश के लिए अग्निपरीक्षा का दौर था। इस दौर में तमाम घटनाएं हुईं, सरकार युद्ध का खर्च चलाने के लिए अंधाधुंध ऐसे काम कर रही थी जिनसे मुद्रास्फीति बढ़ती है, दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं की जखीरेबाजी और चोरबाजारी हो रही थी, रहन सहन का खर्च 200 प्रतिशत बढ़ गया था, देश भर में राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारियां की गईं और इसके बाद काफी बड़े पैमाने पर सरकार का दमनचक्र चला, सरकारी नीति से संपूर्ण देश में रोष की लहर दौड़ गई ये और ऐसी बातें थीं जिनमें से कोई एक अकेले भी होती तो मजदूरवर्ग हड़ताल पर चला जाता लेकिन यह मजदूरवर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी की विवेकपूर्ण वर्गभावना और विकसित राष्ट्रीय चेतना का प्रमाण है कि उन्होंने बदली हुई परिस्थिति को समझा, राष्ट्रीय सुरक्षा की जरूरतों को महसूस किया और हड़तालों से अपने को बचाए रखा हालांकि इस बात के भी प्रमाण हैं कि 'अनेक अवसरों पर मजदूरों को भड़काया गया और मजदूरों के एक वर्ग को घूस देने की कोशिश की गई ताकि वे हड़ताल करें। यह बात काफी महत्वपूर्ण है कि इस दौरान केवल दो जगह महत्वपूर्ण हड़तालें हुईं, एक तो गांधीवादी ट्रेड यूनियन

आंदोलन के गढ़ अहमदाबाद में जो तीन महीनों तक चली और दूसरी हड़ताल जमशेदपुर के लोहा और इस्पात कारखाना में। इन हड़तालों में मजदूरों का जितना श्रेय था, कम से कम उतना ही मालिकों का भी था।

इस अवधि में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में मजदूरवर्ग ने साम्राज्यवादी दमन का डटकर मुकाबला किया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने 25 सितंबर 1942 को दमन विरोधी दिवस मनाने का आह्वान किया। पार्टी ने देशरक्षा के विचारों का प्रचार किया, जनता की दैनिक जरूरतों मस.. न ..ल्य नियंत्रण और राशनिंग के लिए जबरदस्त अभियान छेड़ा, काला-बाजारी और जमाखोरी के खिलाफ संघर्ष शुरू किया तथा जनता को इस बात के लिए आगाह किया कि वे साम्राज्यवादी उकसावे या जापानी प्रलोभनों में न पड़ें।

इन कार्यक्रमों से ट्रेड यूनियन आंदोलन विकसित हुआ और आंदोलन पर कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ा। 1942 में कम्युनिस्ट पार्टी को 8 वर्ष तक गैरकानूनी रहने के बाद कानूनी करार दिया गया जो कि मजदूरवर्ग के आंदोलन की सफलता थी। आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सदस्यों के निम्नांकित आंकड़ों से ट्रेड यूनियन आंदोलन का विकास देखा जा सकता है :

वर्ष	ट्रेड यूनियनों की संख्या	पंजीकृत सदस्यों की संख्या
1938	188	363,450
1940	195	374,256
1941	182	337,695
1942 (फरवरी)	191	369,803
1943	259	332,079
1944	515	509,084

1942-45 की संकट की घड़ी में अत्यंत विषम परिस्थितियों के बावजूद कम्युनिस्टों ने जो बहुमुखी कार्य किए, उससे पार्टी की सदस्यता काफी बढ़ गई। जुलाई 1942 में सदस्यों की संख्या महज 4,000 थी जो मई 1943 तक 15,000 की भारी संख्या तक पहुंच गई। जनवरी 1944 में यह संख्या 30,000 और 1946 की गरमियों तक 53,000 से भी अधिक हो गई।

युद्ध के दौरान एम० एन० राय के समर्थकों ने ट्रेड यूनियन आंदोलन में फूट डालने का असफल प्रयास किया। एम० एन० राय के समर्थकों ने पूरी तरह ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया था। इन समर्थकों ने 1941 में तथाकथित 'इंडियन फेडरेशन आफ लेबर' की स्थापना की जिसे सरकार से 13,000 रुपये मासिक का अनुदान मिलता था। इन्होंने काफी जमकर प्रचार किया फिर भी मजदूरवर्ग के बीच

इनकी प्रभावकारी पैठ नहीं हो सकी। सितंबर 1946 में एक सरकारी जांच ने अंततः निर्णय दिया कि सात लाख सदस्यों वाली आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ही भारतीय ट्रेड यूनियन आंदोलन की निर्णायक रूप से प्रतिनिधि संस्था है।

1940 के बाद कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी मुख्यता नेताओं का एक जुट बनकर रह गई थी। उसने कांग्रेस के 1942 के प्रस्तावों तथा कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी (अध्याय 16 देखें) के बाद अपना गुप्त संगठन बनाने की कोशिश की और कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद जो स्वतःस्फूर्त आंदोलन शुरू हो गया था उसे संगठित करने का प्रयास किया। लेकिन उन्हें अपने इन प्रयासों में मजदूरवर्ग का सहयोग नहीं मिल सका। विद्रोह के शांत होने पर तथा अपने प्रयासों के व्यर्थ प्रमाणित होने पर उन्होंने तेजी से अपना रवैया बदला, 'अब वे फासीवाद के प्रति तटस्थ न रहकर ऐसे रुख अख्तियार करने लगे जो सुभाषचंद्र बोस के समर्थकों के काफी समतुल्य था (सुभासचंद्र बोस ने जर्मन और जापानी फासीबाद के साथ समझौता कर लिया था। उन्हें यह आशा थी कि फासिस्टों की मदद से वे भारत को आजादी दिला लेंगे)। इन सबके बावजूद सचाई यह थी कि उन्होंने (कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं ने) जनता की स्वतःस्फूर्त वीरता की प्रशंसा में बेशुमार गैरकानूनी साहित्य प्रकाशित किया था और कुछ हद तक तोड़फोड़ की कार्यवाही का संगठन किया था इसलिए देश के युवा राष्ट्रवादियों पर और खासतौर से छात्रों पर उनका प्रभाव बढ़ गया लेकिन मजदूरों में वे अपना प्रभाव नहीं बढ़ा सके। युद्ध के बाद उन्होंने कम्युनिस्टविरोधी और सोवियतविरोधी प्रचार बहुत बड़े पैमाने पर शुरू किया।

युद्ध के दौरान मजदूरवर्ग के आंदोलन ने जो सफलता प्राप्त की और जो प्रगति की, वह घटनाक्रम के विकास की एक अविस्मरणीय अवस्था है। युद्ध समाप्त होने और फासीवाद पर विजय प्राप्त करने तक मजदूर आंदोलन साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करनेवाला सबसे ज्यादा संगठित और सबसे ज्यादा अनुशासित शक्ति बन गया था। इसका प्रमाण युद्ध बाद के महान जनसंघर्षों में देखने को मिला। आम राजनीतिक आंदोलन के नेताओं में जबरदस्त मतभेद के बावजूद मजदूर आंदोलन में हिंदू, मुसलमान और अछूत सब एक मंच पर एकजुट रहे। राष्ट्रीय मुक्ति और सामाजिक मुक्ति के लिए होने वाले आगे के संघर्षों में मजदूरवर्ग को हरावल दस्ता का स्थान प्राप्त हुआ।

भारतीय राजनीति में कम्युनिस्ट पार्टी ने तीसरा स्थान प्राप्त कर लिया हालांकि जनता पर प्रभाव के मामले में इसकी तुलना राष्ट्रीय कांग्रेस या मुस्लिम लीग से नहीं की जा सकती। कम्युनिस्ट पार्टी का इस स्थिति तक पहुंचना ही मजदूरवर्ग की प्रगति का द्योतक है। युद्ध के बाद जो तूफानी दौर शुरू हुआ, जो महान राष्ट्रीय विद्रोह शुरू हुआ और हड़ताड़ों का जो जबरदस्त सिलसिला चल पड़ा वह मजदूरवर्ग के आंदोलन का एक विकास था। जनसंघर्षों में मजदूरवर्ग ने हरावल की भूमिका निभाई और यह क्रम अब भी जारी है।

पाद टिप्पणी

1. बाद में लगभग 33 वर्षों बाद संग्रहालय ने उस पत्र का रहस्योद्घाटन किया जो भारतीय मामलों के मंत्री ने मेरठ कांड के संदर्भ में वायसराय को लिखा था :
सेक्रेटरी आफ स्टेट का वायसराय के नाम निजी और गोपनीय तार। गृह विभाग नं० 444, दिनांक 18-2-33।
मेरठ कांड के अभियुक्तों को जो कड़ी सजाएं दी गई हैं उनके बारे में मैंने जो कुछ हद तक विचार किया है और मैं आपको यह बताना उचित समझता हूं कि यहां विभिन्न क्षेत्रों में इस विषय पर एक आम असंतोष देखा जा रहा है। मैं जानता हूं कि ऐसे समय जबकि अदालत में विचारार्थ अपील कर दी गई हो, सरकार के लिए इस मामले में कुछ करना कठिन है लेकिन यदि अपील की सुनवाई में देर की गई और फैसले में अभी और छः महीने लगाए गए तो यहां मैं जिन कठिनाइयों का सामना कर रहा हूं उनमें कोई कमी नहीं आएगी। इसमें कोई शक नहीं कि आप इस स्थिति की कठिनाइयों को अच्छी तरह समझते होंगे और इस संदर्भ में आपके विचार जानकर मुझे खुशी होगी।

13

भारतीय जनतंत्र की समस्याएं

प्राचीन रोमन सम्राटों का यह आदर्श वाक्य था कि 'फूट डालो और राज करो', और यही हमारा भी आदर्श वाक्य होना चाहिए।—बंबई के गवर्नर लार्ड एलफिस्टन का कथन, 14 मई 1859 का कार्यवृत्त।

भारतीय राष्ट्रवाद, किसान विद्रोह और मजदूरवर्ग के आंदोलन की उभरती शक्तियां ही भारतीय समाज के प्रगतिशील तत्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं। लेकिन वे किसी भी अर्थ में भारतीय समाज की समूची तस्वीर नहीं हैं। हालांकि वे भारतीय जनता के एक विशाल हिस्से का प्रतिनिधित्व करती हैं फिर भी उन्हें सारी जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कहा जा सकता। यदि वे ही शक्तियां समूची जनता का प्रतिनिधित्व करतीं, यदि यह संघर्ष एक खेमे में स्थित संयुक्त भारतीय जनता तथा दूसरे खेमें में स्थित मुट्ठीभर ब्रिटिश शासकों के बीच का साधारण संघर्ष होता तो यह पहले ही समाप्त हो चुका होता या यों कहें कि अंगरेजों का प्रभुत्व कभी नहीं कायम हो पाता।

साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत भारत जैसे किसी समाज के लिए, जहां विकास का अवरुद्ध हो जाना ही खास विशिष्टता हो, लाजिमी तौर पर समाज की रूढ़िवादी शक्तियां अपनी अंदरूनी ताकत के कारण महत्वपूर्ण हो जाती हैं। इन्हीं पतनोन्मुख शक्तियों के कारण साम्राज्यवादियों की विजय संभव हो सकी। राष्ट्रीय जागरण की लहर तेजी से ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है, ऐसा लगता है कि इन पुराने अवशेषों का महत्व और भी ज्यादा बढ़ गया है, इसका असली कारण यह है कि साम्राज्यवादी शासन के वे ही एकमात्र जीवित अवलंब हैं।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार भारत में रहने वाले कुल ब्रिटिश नागरिकों की संख्या 156,000 है (बतौर यूरोपीय पंजीकृत लेकिन मुख्यतया ब्रिटिश)। 1931 की जनगणना के अनुसार यह संख्या 168,000 है। इनमें से 60,000 सेना में, 21,000 व्यापार या निजी व्यवसाय में और 12,000 सरकारी असैनिक सेवा में थे। इसका अर्थ यह है कि देश पर साम्राज्यवादी शासन का प्रत्यक्ष रूप में प्रतिनिधित्व करने वाले वयस्कों की कुल वास्तविक संख्या 100,000 से कम है या प्रति 4000 भारतीय पर 1 के अनुपात में है। हालांकि इस बात का पूरा एहतियात बरता गया है कि भारतीय जनता को निरस्त्र रखा जाए और खासतौर से सारे भारी हथियार, तोपखाने और वायुसेना ब्रिटिश हाथों में बने रहने दिए जाएं फिर भी यह स्पष्ट है कि ऐसी शक्ति केवल ताकत के बल 40 करोड़ भारतीयों पर निरंतर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की आशा नहीं कर सकती। इसलिए अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए उसे भारतीय जनता के बीच से ही अपने लिए एक सामाजिक आधार तैयार करना अनिवार्य है।

साम्राज्यवादी शासन बने रहने की यह अनिवार्य शर्त है कि भारतीय आबादी के बीच ही एक ऐसा सामाजिक आधार बरकरार रखा जाए जो साम्राज्यवाद के साथ संबद्ध हो। प्रत्येक प्रतिक्रियावादी शासन और खासतौर से विदेशी शासन के राज्यतंत्र के लिए यह जरूरी है कि वह जनता में फूट डाले। लेकिन इस तरह का सामाजिक आधार प्रगतिशील तत्वों में नहीं मिल सकता क्योंकि वे साम्राज्यवाद के विरुद्ध तने रहते हैं। यह आधार केवल प्रतिक्रियावादी तत्वों के बीच ही तैयार किया जा सकता है क्योंकि इस वर्ग के हित हमेशा जनता के हितों के विपरीत होते हैं। हमने पहले ही यह देख लिया है कि ब्रिटिश शासन ने किस प्रकार अपने को बड़े सचेतन ढंग से जमींदारवर्ग के आधार पर खड़ा किया है—मोटे तौर पर इस वर्ग को अंगरेजों ने ही राज्य की नीति के रूप में अपने सरकारी आदेशों के जरिए पैदा किया है। इन तत्वों के साथ साथ अनेक ऐसे व्यापारिक एवं महाजनी हित भी हैं जो शोषण की साम्राज्यवादी व्यवस्था के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं और जो साम्राज्यवाद की ओर इस हसरत से देखते रहते हैं कि वह उन्हें संरक्षण प्रदान करेगा तथा सरकारी स्तर पर अपना मातहत बनाकर रखेगा। हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार साम्राज्यवाद ने सामाजिक सुधार की अपनी भूमिका को एक सौ वर्ष पहले ही छोड़ दिया है और आज जहां तक उससे संभव हो पाता है वह सुधार की राष्ट्रीय मांगों के विरुद्ध हर उस चीज का पोषण करता है और उसे संरक्षण देता है जो जनता के जीवन में सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ापन लाती हैं (साथ ही वह हमेशा यह भी कहता रहता है कि जनता की सामाजिक रीति रिवाजों और धार्मिक विश्वासों में वह हस्तक्षेप नहीं करता है और निष्पक्ष भूमिका निभाता है); साथ ही वह जनता के बीच भेदभाव पैदा करने की चिरकाल से चली आ रही प्रतिक्रियावादी नीति का जहां तक हो सकता है इस्तेमाल करता है, उदाहरण के लिए जातपात का भेदभाव (दलित वर्गों का अलग से प्रतिनिधित्व तथा इस आधार पर बनी पार्टियों को प्रोत्साहन देने की नीति)। लेकिन यह नीति जितनी खूबी के साथ इन दो क्षेत्रों में अपनाई गई है उतनी और कहीं देखने को

नहीं मिलती : एक तो भारतीय राजाओं या तथाकथित 'भारतीय रियासतों' के मामले में और दूसरे सांप्रदायिक भेदभावों को, खासतौर पर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच बैर-भाव बढ़ाने के क्षेत्र में।

भारत की प्रतिक्रियावादी शक्तियों के संदर्भ में राष्ट्रीय आंदोलन के सामने जो आम समस्या है, वस्तुत: ये दोनों समस्याएं उस आम समस्या का ही रूप हैं। जैसे जैसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का विकास हो रहा है, इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों को इस्तेमाल करने के भीषण प्रयास किए जा रहे हैं। वर्तमान युग के चरित्र में ही यह बात निहित है। साम्राज्यवादी शासन के समाप्त होने के ये लक्षण हैं। इनसे यह पता चलता है कि साम्राज्यवादी शक्तियां इस जुए में अपनी अंतिम बाजी लगा रही हैं। भारत में जनतंत्र की विजय के लिए इन समस्याओं का समाधान किया जाना बहुत ही महत्वपूर्ण है।

1. राजा महाराजा

साम्राज्यवाद ने भारत को असमान खंडों में बांट रखा है, एक खंड है ब्रिटिश भारत और दूसरा खंड है तथाकथित 'भारतीय रियासतें'। इस बंटवारे को किसी भी अर्थ में प्रशासन की दृष्टि से किया गया बंटवारा नहीं कहा जा सकता और इसका विस्तार देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में काफी गहराई तक है। इस बंटवारे के बेतुके और असंगत स्वरूप को तभी समझा जा सकता है जब यहां के मानचित्र का सावधानी से अध्ययन किया जाए। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत के मानचित्र पर जो छोटी छोटी 'रियासतें' हैं और अस्तव्यस्तता का जो अराजक कोलाहल है उसकी तुलना में 19वीं सदी से पूर्व के जर्मनी की भी राजनीतिक प्रणाली कहीं ज्यादा व्यवस्थित थी।

पश्चिम से पूर्व तक, उत्तर से दक्षिण तक, काठियावाड़ की 200 रियासतों या पश्चिम में राजपूताना से लेकर मणिपुर की अनेक रियासतों और धुर पूर्व में बेशुमार खासी सरदारों तक, उत्तर में कश्मीर और शिमला की छोटी छोटी पहाड़ी रियासतों से लेकर दक्षिण में मद्रास तथा मैसूर की रियासतों तक हर आकार प्रकार की असंख्य रियासतों की झलक मिलती है। इनका विस्तार भारत के पांचवे हिस्से से लेकर आधे हिस्से तक है (बर्मा के अलग हो जाने से अब यह भारत के क्षेत्रफल के लगभग 45 प्रतिशत हिस्से तक फैली हैं)। इनकी चौहद्दियां ऐसी हैं जो किसी भी नक्शानवीस के लिए चुनौती है। भारत में कुल 563 रियासतें हैं जिनका कुल क्षेत्रफल 712,000 वर्गमील और आबादी 8 करोड़ 10 लाख (1931 की जनगणना के अनुसार) है जो भारत की कुल आबादी की लगभग एक चौथाई (24 प्रतिशत) है। इनमें हैदराबाद जैसी रियासत भी है जो आकार में इटली के बराबर है और जिसकी आबादी 1 करोड़ 40 लाख है, लावा जैसी बहुत छोटी रियासतें भी हैं जिसका क्षेत्रफल महज 19 वर्गमील है और शिमला जैसी छोटी पहाड़ी रियासतें भी हैं जो छोटी मोटी जोतों से थोड़ा ही बढ़कर होंगी। इन रियासतों के स्तर तथा अधिकार में इतने भेद हैं कि उनका सामान्य वर्णन नहीं किया जा सकता। इनमें 108 बड़ी

रियासतें हैं जिनके शासकों को चैंबर आफ प्रिंसेज में शामिल किया गया है। 127 ऐसी छोटी रियासतें हैं जिनके शासक अप्रत्यक्ष रूप से अपने 12 प्रतिनिधि चुनकर चैंबर आफ प्रिंसेज में भेजते हैं। शेष 328 रियासतें दरअस्ल एक तरह की जमींदारियां हैं जिनको कुछ सामंती अधिकार भी मिले हुए हैं पर जिनका अधिकार क्षेत्र बहुत सीमित है। जो रियासतें अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं उनमें निर्णायक शक्ति एक अंगरेज रेजीडेंट के हाथ में होती है। छोटी रियासतों के लिए सरकार के कुछ राजनीतिक प्रतिनिधि (पोलिटिकल एजेंट) हैं जो अलग अलग इलाकों की देखरेख करते हैं।

इन्हें 'स्टेट' कहना सचमुच इनको एक गलत नाम देना है क्योंकि ये पुरानी रियासतों के प्रेत या संरक्षित अवशेष हैं जिन्हें कृत्रिम ढंग से बनाए रखा गया है। इन रियासतों के राजा महाराजा बिलकुल ही भिन्न, सत्तारूढ़ शक्ति के हाथों की कठपुतली हैं जो इस सत्ता के राजनीतिक हितों की पूर्ति करते हैं। इन राजाओं को छोटे छोटे मामलों में जनता पर मनमाना अत्याचार करने की और कानून की अवहेलना करने की पूरी छूट थी लेकिन वास्तविक और निर्णायक शक्ति अंगरेजों के ही हाथ में होती थी। 1853 में मार्क्स ने इस संदर्भ में जो लिखा था वह आज भी काफी सही है :

> जहां तक देशी रियासतों का संबंध है, जिस क्षण से वे कंपनी के नियंत्रण में आईं या कंपनी द्वारा उन्हें संरक्षण मिलने लगा, उसी क्षण से उनका अस्तित्व समाप्त हो गया...जिन परिस्थितियों में उन्हें ऊपरी तौर पर दिखाई देने वाली अपनी आजादी को बनाए रखने की इजाजत दी जाती है, वे परिस्थितियां स्थाई पतन की परिस्थितियां हैं—उनमें किसी भी हालत में कोई सुधार नहीं हो सकता। मौन अनुमति पर टिके सभी अस्तित्वों की ही तरह मूलभूत कमजोरी ही उनके अस्तित्व का सहज नियम है। इसलिए देशी रियासतों के नहीं बल्कि देशी राजाओं महाराजाओं और उनके दरबारों के बने रहने से मसला हल होता है। देशी राजा महाराजा वर्तमान घृणित अंगरेजी शासनव्यवस्था के गढ़ हैं और भारत की प्रगति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा हैं। (मार्क्स : 'दि नेटिव स्टेट्स', न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून, 25 जुलाई 1853)

मार्क्स ने यह बात 86 साल पहले कही थी। भारतीय 'रियासतें' या दूसरे शब्दों में कहें तो भारतीय राजा आज भी अपनी 'स्थाई पतन' की स्थिति में पड़े हुए हैं, और इस बात की अत्यंत धिनौनी कोशिशें की गई हैं कि इन लाशों को विश्वसनीय रूप से सहज सच्ची बनाकर पेश किया जा सके। ब्रिटिश शासन ने भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के समय अव्यवस्था से भरे यहां के भानमती के पिटारे को सामान्य तौर पर समाप्त करने की कोशिश की और इस बात का ढिंढोरा पीटा कि समान राजनीतिक और प्रशासनिक प्रणाली के जरिए वह इस काम को पूरा कर रहा है। फिर क्या वजह है कि वही ब्रिटिश शासन विनाश के कगार पर खड़ी इन रियासतों के मायाजाल को इतने जोश खरोश के

साथ बनाए रखने पर तुला है जबकि इन रियासतों के अस्तित्व से सभी प्रशासनिक और वैधानिक एकरूपता को या अत्यंत बुनियादी न्यूनतम मनदंडों को बनाए रखने के काम को और यहां तक कि आंकड़ों से संबंधित एकरूपता को क्षति पहुंच रही है ? यदि बुजुर्आ शासन की दृष्टि से या व्यापारी के खाते को ध्यान में रखकर अथवा पूंजी लगाने वाले पूंजीपति की दृष्टि से देखें तो अमूर्त ढंग से विचार करने पर यह प्रणाली बेहद असंगत लग सकती है क्योंकि किसी बुजुर्आ, व्यापारी या पूंजी निवेशक के लिए अत्यंत समान आर्थिक प्रशासनिक प्रणाली का होना आवश्यक है ताकि देश के अंदर आसानी से घुसपैठ की जा सके। लेकिन सचाई यह है कि बुजुर्आ इंग्लैंड में राजतंत्र और कुलीनतंत्र (इसी तरह के प्रेततुल्य और नपुंसक रूप में) को बनाए रखने की तुलना में यह कतई असंगत नहीं है। इसके जो कारण हैं वे 'राज्य के कारण' हैं। भारत में विदेशी बुजुर्आ शासन के बने रहने के लिए इसे सामंती आधार का समर्थन मिलना जरूरी है।

अंगरेजों ने देशी राजाओं को अपनी कठपुतलियां बनाकर रखने की नीति का पालन हमेशा किया और यह नीति आधुनिक काल तक जारी है। 19वीं सदी के पूर्वार्ध में जब अंगरेज बड़े उत्साह के साथ अपने साम्राज्य का विस्तार करने में लगे थे और उन्हें अपनी ताकत में विश्वास था, वे सही गलत कोई न कोई बहाना ढूंढकर इन पतनोन्मुख रियासतों को एक एक कर अपने राज्य में मिला लेने की नीति का पालन कर रहे थे। लेकिन 1857 के विद्रोह के बाद स्थिति बदल गई। 1857 का विद्रोह सामंतवाद की नष्ट हो रही शक्तियों का, देश के पुराने शासकों का विदेशी प्रभुत्व की बढ़ती हुई धारा को वापस मोड़ने के लिए किया गया आखिरी प्रयत्न था। जैसा पहले ही बताया जा चुका है, नवजात बुजुर्आवर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले शिक्षित वर्ग ने, जो इस समय की प्रगतिशील शक्ति था, विद्रोह के खिलाफ ब्रिटिश शासन का समर्थन किया। विद्रोह तो कुचल दिया गया पर अंगरेजों को इससे एक अच्छा सबक मिल गया। इसके बाद से ही सामंती शासक ब्रिटिश राज के न तो मुख्य प्रतिद्वंदी रह गए और न उसके लिए कोई ठोस खतरा बन सके, इसके विपरीत वे जागृत जनता की प्रगति के मार्ग के प्रमुख अवरोध बन गए। प्रगतिशील तत्वों के प्रति पहले अच्छा व्यवहार किया जाता था पर अब उन्हें संदेह से देखा जाने लगा और सरकार को लगा कि जनता की जागती हुई शक्ति का कुशल नेतृत्व यही शक्तियां अब करेंगी। इस अवधि में सामंती तत्वों का अधिक से अधिक सहारा लेने और देशी राजा महाराजों तथा उनकी रियासतों को ब्रिटिश शासन के स्तंभ के रूप में बनाए रखने की निति अपनाई गई।

विद्रोह से एकदम पहले के वर्षों में सर विलियम स्लीमन ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी को चेतावनी दी थी कि अवध को अपने साम्राज्य में मिलाने की जितनी बड़ी कीमत ब्रिटिश सरकार को अदा करनी होगी वह अवध जैसे दस राज्यों के बराबर होगी और इसकी वजह से सिपाहियों में विद्रोह होना अवश्यंभावी है। उन्होंने यह भी धारणा व्यक्त की कि भारतीय रियासतों को 'तरंग रोध' समझना चाहिए क्योंकि 'जब वे सभी समाप्त हो जाएंगी तो फिर हमें अपनी देशी सेना की दया पर निर्भर रहना पड़ेगा जो,

जरूरी नहीं कि हमेशा पर्याप्त रूप से हमारे नियंत्रण में रहे।' लेकिन डलहौजी इस बात से सहमत नहीं हुआ। वह विस्तार की नीति का जब प्रबल समर्थक और प्रवर्तक था और अपनी इस नीति का वह पूरे जोश खरोश के साथ पालन करता था। 1857 के विद्रोह के अनुभवों से इस नीति में निर्णायक तब्दीली आई।

1858 में महारानी की घोषणा में इस नई नीति का एलान किया गया : 'हम देशी राजाओं के अधिकार, प्रतिष्ठा और सम्मान को अपने अधिकार, प्रतिष्ठा और सम्मान की तरह समझेंगे।' 1860 में, डलहौजी के उत्तराधिकारी गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने इस नीति के उद्देश्य को बहुत साफ शब्दों में बता दिया :

> सर जान मैलकोन ने बहुत पहले ही यह कहा था कि यदि हमने समूचे भारत को जिलों में बांट दिया तो कुदरती तौर पर हमारा साम्राज्य पचास वर्ष भी नहीं टिक पाएगा, लेकिन यदि हमने देशी रियासतों को राजनीतिक ताकत दिए बिना अपने हथियार के रूप में बनाए रखा तो जब तक हमारी नौसेना की श्रेष्ठता बनी रहेगी तब तक भारत में हम भी बने रहेंगे। इस बयान में काफी सचाई है, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं और हाल की वारदातों ने तो उनके बयान को और भी गौरतलब बना दिया है। (लार्ड कैनिंग, 30 अप्रैल 1860)

इस प्रकार सारा जोड़तोड़ इस तरह किया गया था कि ब्रिटिश राज्य को बनाए रखने के लिए भारतीय राजाओं को 'बिना राजनीतिक ताकत' दिए 'शाही हथियार' के रूप में सुरक्षित रखा जाए। पंद्रह वर्षों बाद वायसराय लार्ड लिटन ने 1876 के रायल टाइटिल्स बिल के महत्व का इसी तरह बयान दिया। इस बिल के जरिए महारानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया था। लार्ड लिटन ने इस बिल के बारे में कहा कि 'यह एक नई नीति की शुरुआत है जिसके जरिए आज से इंग्लैंड के सम्राट को शक्तिशाली देशी कुलीनतंत्र के हितों, आशाओं, आकांक्षाओं और उसकी हमदर्दियों का अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए।'

इस प्रकार देशी रियासतों को समाप्त होने से बचा लेना—जो अंगरेजी राज न होने पर देर सबेर जरूर समाप्त हो जातीं, अंगरेजों की आधुनिक नीति का परिणाम था और यह कहना एकदम गलत है कि इन रियासतों के बने रहने से भारत की प्राचीन परंपराओं एवं संस्थाओं के अवशेष जीवित थे। देशी राजाओं के प्रमुख सरकारी प्रचारक प्रोफेसर रशब्रुक विलियम्स ने 1930 में एलान किया था। (प्रोफेसर विलियम्स 'इंडियन प्रिंसेज स्पेशल आर्गनाइजेशन' के ज्वाइंट डायरेक्टर रह चुके हैं, गोलमेज सम्मेलन में भारतीय रियासतों के प्रतिनिधिमंडल के सलाहकार रह चुके हैं और 1925 तक भारत सरकार के पब्लिक इन्फार्मेशन डाइरेक्टर रह चुके हैं) :

> देशी रियासतों के शासक अंगरेजी राज के साथ अपने संबंधों के प्रति काफी वफादार

हैं। उनमें से अनेक का अस्तित्व तो ब्रिटिश सरकार के न्याय और हथियारों पर टिका हुआ है। 18वीं सदी के उत्तरार्ध और 19वीं सदी के पूर्वार्ध में हुए संघर्षों के समय यदि ब्रिटिश सरकार ने इन शासकों को मदद न दी होती तो आज उनमें से अनेक का कहीं नाम निशान भी न होता। मौजूदा गड़बड़ियों और आने वाले दिनों में होने वाले उलटफेर के समय भी इन राजाओं के प्यार और निष्ठा से ब्रिटेन सरकार को काफी मदद मिलेगी...

भारत भर में फैली इन सामंती राज्यों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है जो हमारे लिए रक्षा उपाय का काम करती है। इन राज्यों की स्थिति ऐसी ही है जैसे किसी विवादग्रस्त इलाके में हमारे दोस्तों ने जबरदस्त किलाबंदी कर रखी हो। इन शक्तिशाली और निष्ठावान देशी रियासतों के इस जाल के कारण अंगरेजों के खिलाफ किसी आम विद्रोह का समूचे देश में फैलना बहुत कठिन होगा। (एल॰ एफ॰ रशब्रुक विलियम्स का 'इवनिंग स्टैंडर्ड' में बयान, 28 मई 1930)

लेकिन यह 'किलेबंदी' उतनी मजबूत नहीं है जितनी मजबूती का दावा इन प्रतिक्रियावादी गुलाम रियासतों के भद्र सरकारी प्रचारक किया करते हैं। यह सभी लोग जानते हैं कि अधिकांश राजा महाराजा अंगरेजों की ताकत के बल पर अपनी प्रजा की इच्छा के विरुद्ध शासन कायम किए हुए हैं।

यदि इनकी प्रजा के बीच आज जनमत संग्रह कराया जाए तो पता चलेगा कि लोग बड़ी खुशी के साथ रियासतों को ब्रिटिश भारत में मिलाने के पक्ष में मत देंगे। इन रियासतों का अस्तित्व अंगरेजों की कृपा से ही बना हुआ है। (एस॰ सी॰ रंगा अय्यर : 'इंडिया, पीस आर वार')

आधुनिक राष्ट्र के निर्माण के लिए जिन विशेषताओं की आवश्यकता होती है, वे विशेषताएं इन रियासतों में से किसी के पास शायद ही हों। आमतौर से इनकी सीमाएं कृत्रिम होती हैं और वे जाति, धर्म या संस्कृति के भेदों के अनुरूप नहीं होतीं। इसके अलावा राज्य के साथ राजवंश को जोड़ने वाले तत्व आकस्मिक और कृत्रिम हैं और बहुधा 200 वर्ष से कम पुराने हैं। दूसरी तरफ इन रियासतों की प्रजा को ब्रिटिश भारत के उनके भाइयों के साथ जोड़ने के जो सांस्कृतिक और सामाजिक संबंध हैं वे काफी शक्तिशाली और पुराने हैं। ऐसा लगता है कि राजा के प्रति प्रजा का जो प्रेम है वह इस संदर्भ में किए गए प्रचार की तुलना में काफी कम है। (जे॰ टी॰ ग्वाइन : 'कांग्रेस ऐंड दि स्टेट्स, मैनचेस्टर गार्जियन', 12 मई 1939)

1929 की बटलर कमेटी की रिपोर्ट में औपचारिक तौर पर यह बात स्पष्ट कर दी गई थी

कि 'विद्रोह अथवा बगावत' की स्थिति में देशी राजाओं की रक्षा करना अंगरेज सरकार का कर्तव्य है।

> संधियों और सनदों की धाराओं को तथा राजाओं के अधिकारों, सम्मान और गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखने के सम्राट के वायदों को और दस्तूर को देखते हुए कहा जा सकता है कि सर्वोपरि सत्ता (सम्राट) का यह कर्तव्य है कि वह विद्रोह या बगावत की स्थिति में रियासतों की रक्षा करे···देशी राजाओं के अधिकारों, सम्मान और गौरव को सदा अक्षुण्ण रखने के सम्राट के वायदे में यह बात भी शामिल है कि यदि किसी देशी राजा को हटाकर उसकी जगह पर दूसरे ढंग की शासनव्यवस्था कायम करने की कोशिश की जाए तो ब्रिटिश सरकार का फर्ज होगा कि उसकी रक्षा करे। (रिपोर्ट आफ दि इंडियन स्टेट्स कमेटी, 1929, अनुच्छेद 49 और 50)

इस तरह अंगरेजों की देखरेख में किस प्रकार की शासनव्यवस्था को संरक्षण मिल रहा था। अपनी आत्मकथा में जवाहरलाल नेहरू ने एक भारतीय रियासत के सामान्य वातावरण का चित्र खींचा है :

> यहां जुल्म का एहसास होता है : ऐसा माहौल है जिसमें दम घुटता है और सांस लेना मुश्किल लगता है। इस ठहरे हुए या धीरे धीरे बह रहे पानी के नीचे सड़न और गतिहीनता है। इसे देखकर कोई भी आदमी खुद को दिमागी और शारीरिक तौर पर कैद और घिरा हुआ महसूस करता है। कोई भी व्यक्ति यह महसूस कर सकता है कि एक तरफ तो जनता बेहद पिछड़ेपन और कंगाली की हालत में जिंदगी गुजार रही है और दूसरी तरफ शाही महलों की तड़क भड़क की कोई सीमा नहीं है। रियासत की संपत्ति का कितना बड़ा हिस्सा इन राजाओं की निजी जरूरतों और उनके ऐशोआराम पर खर्च होता है और इसका कितना कम हिस्सा किसी सेवा के रूप में जनता तक वापस पहुंचता है···
>
> इन रियासतों पर रहस्य का परदा पड़ा रहता है। अखबार निकालने के लिए बढ़ावा नहीं दिया जाता—अगर बहुत हुआ तो कोई साहित्यिक या अर्ध सरकारी साप्ताहिक प्रकाशित हो जाता है। बाहर के अखबारों पर प्रायः रोक लगी रहती है। त्रावणकोर, कोचीन आदि कुछ दक्षिणी रियासतों को छोड़कर बाकी सभी जगह साक्षरता बहुत कम है। इन दक्षिणी रियासतों में साक्षरता ब्रिटिश भारत से भी कहीं ज्यादा है। रियासतों से जो प्रमुख खबरें आती हैं उनमें या तो वायसराय की यात्रा का वर्णन होता है जो जाहिर है खूब तड़क भड़क के साथ हुई रहती है और उन भाषणों के समाचार होते हैं जो एक दूसरे की प्रशंसा में दिए गए होते हैं या राजा के जन्मदिवस अथवा विवाह की वर्षगांठ पर फिजूलखर्ची के साथ मनाए

> गए समारोहों का जिक्र होता है या किसानों के विद्रोह की खबर होती है। विशेष कानूनों के कारण राजाओं की आलोचना नहीं की जा सकती और मामूली से मामूली आलोचना पर भी कड़ा रुख अख्तियार किया जाता है। सार्वजनिक सभाएं नहीं के बराबर होती हैं और सामाजिक उद्देश्यों से आयोजित सभाओं पर भी प्रतिबंध लगा दिया जाता है। (जवाहरलाल नेहरू : 'आत्मकथा', पृष्ठ 531)

भारत सरकार की 25 जून 1891 की विज्ञप्ति के जरिए भारतीय रियासतों के समाचार पत्रों पर बड़े साफ शब्दों में प्रतिबंध लगा दिया गया है : '1 अगस्त 1891 के बाद किसी भी स्थानीय इलाके में जहां गवर्नर जनरल का प्रशासन है पर जो ब्रिटिश भारत में नहीं है किसी भी समाचारपत्र या किसी भी प्रकाशित रूप में, चाहे कोई पत्रिका हो या पुस्तक, सार्वजनिक समाचार या सार्वजनिक समाचारों पर टिप्पणी को संपादित, प्रकाशित या मुद्रित करने के लिए राजनीतिक एजेंट की अनुमति आवश्यक है।' ब्रिटिश भारत में रियासतों की स्थिति के बारे में किसी भी तरह की आलोचना को प्रकाशित होने से रोकने के लिए 1934 के स्टेट्स प्रोटेक्शन ऐक्ट के जरिए और भी कानून बनाए गए।

भारत के यह कठपुतली राजा महाराजा अंगरेजों की छत्रछाया में जिस प्रकार अपना शासन चलाते थे उसकी इतिहास में शायद ही कोई और मिसाल मिले। कुछ देशी रियासतें ऐसी हैं जिनकी शासन-व्यवस्था का स्तर ब्रिटिश भारत से कुछ ऊंचा है और जिनके यहां अनिवार्य शिक्षा की योजनाओं पर कुछ हद तक अमल हुआ है या जिनके यहां ऐसी सलाहकार परिषदें बना दी गई हैं जिनके पास बहुत सीमित अधिकार हैं और जिनका ढांचा बहुत प्राथमिक ढंग का है। लेकिन ये रियासतें अपवाद रूप में हैं। अधिकांश रियासतों में जिस पैमाने पर गुलामी, तानाशाही और दमन देखने को मिलता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एशिया के निरंकुश राजाओं के इतिहास को देखें तो पता चलेगा कि इनके लिए भ्रष्टाचार और जुल्म कोई चीज नहीं है लेकिन उन पुराने राजाओं को कम से कम बाहरी आक्रमण या अंदरूनी विद्रोह का डर तो लगा ही रहता था जिनसे इनके निरंकुश शासन पर कुछ अंकुश रहता था। इन नए राजाओं को अंगरेजों के संरक्षण के कारण इन बातों का भी कोई डर नहीं है। अंगरेज सरकार के पास यह अधिकार है कि यदि वह किसी रियासत में बहुत ज्यादा अन्याय देखें तो राजा को गद्दी से हटा दे या उसके अधिकारों पर नियंत्रण लगा दे लेकिन व्यवहार में अंगरेजों ने इस अधिकार का उपयोग अन्याय रोकने के लिए नहीं बल्कि राजाओं को अपने प्रति निष्ठावान बनाए रखने के लिए किया है। इस प्रकार यहां के राजाओं ने पूरी तरह अपने को अंगरेजों के हाथ की कठपुतली बना दिया है। इस प्रकार अत्यंत पिछड़ेपन की स्थितियों में रहने वाली भारतीय रियासतों की जनता अपमान और यातना की जिन्दगी बिता रही है।

1939 में रियासतों की जनता के सम्मेलन स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस (रियासतों में चल रहे

लोकप्रिय जनवादी आंदोलन की एक संस्था) ने अपने घोषणापत्र में इन राजाओं के शासन के स्वरूप के बारे में अपनी धारणा इन शब्दों में व्यक्त की थी :

> इन छोटी बड़ी रियासतों में अत्यंत व्यक्तिगत और निरंकुश शासन का बोलबाला है। बहुत कम रियासतें ऐसी हैं जो इस मामले में अपवाद हैं। अधिकांश रियासतों में कोई कानून नहीं है और जनता से बहुत बड़े पैमाने पर कर वसूला जाता है। नागरिक स्वतंत्रता का दमन कर दिया गया है। आमतौर से इन राजाओं के प्रिवीपर्स की राशि निर्धारित नहीं की गई है और जहां यह राशि निर्धारित की भी गई है वहां इसका पूरी तरह पालन नहीं होता। इन रियासतों में एक तरफ तो राजाओं की फिजूलखर्ची और जबरदस्त ठाट बाट देखने को मिलता है और दूसरी तरफ जनता भयंकर गरीबी की हालत में गुजर बसर कर रही है।
>
> इस गरीब जनता की गाढ़ी मेहनत की कमाई से इन रियासतों के शासक विदेशों में और भारत में हर तरह के आनंद उठा रहे हैं और ऐयाश जिंदगी बिता रहे हैं। ऐसी व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकती। कोई भी सभ्य समाज इसे बरदाश्त नहीं कर सकता। इतिहास की समूची व्याख्या इसके विपरीत है। भारतीय जनता का तेवर इस तरह के अन्याय के सामने आत्मसमर्पण नहीं कर सकता। (आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस की स्थाई समिति का बयान, जून 1939)

इन रियायतों के प्रशासन का क्या स्वरूप था, इसका बहुत स्पष्ट संकेत उनके बजट देखने से मिल जाता है :

> इंग्लैंड के महाराजा मोटे तौर पर राष्ट्रीय आय के सोलह सौ में से एक हिस्सा प्राप्त करते हैं। बेल्जियम के महाराजा एक हजार में से एक, इटली के महाराजा पांच सौ में से एक, डेनमार्क के महाराजा तीन सौ में से एक और जापान के सम्राट चार सौ में से एक हिस्सा प्राप्त करते हैं···
>
> त्रावणकोर (जिसे भारत की सबसे प्रगतिशील रियासत समझा जाता है) की महारानी राष्ट्रीय आय के 17 में से एक हिस्सा, हैदराबाद के निजाम और बड़ौदा के महाराजा तेरह में से एक हिस्सा तथा कश्मीर के महाराजा और बीकानेर के महाराजा पांच में से एक हिस्सा प्राप्त करते हैं। यह राशि अन्य देशों की तुलना में आश्चर्यजनक है। दुनिया के लोगों को यदि यह बताया जाए कि भारत में कुछ ऐसी रियासतें भी हैं जहां के राजा राष्ट्रीय आय के तीन हिस्से में से एक हिस्सा या दो हिस्से में से एक हिस्सा प्राप्त करते हैं तो लोगों का हैरान होना बहुत स्वाभाविक है। (ए० आर० देसाई : 'इंडियन फ्यूडल स्टेट्स ऐंड दि नेशनल लिबरेशन स्ट्रगल')

ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा खासतौर से सराहे गए बीकानेर राज्य का 1929-30 का बजट यहां प्रस्तुत है :

	रुपये
राजकुल व्यय	1,255,000
राजकुमार की शादी	82,500
मकान और सड़क निर्माण	618,384
शाही महल का विस्तार	426,614
शाही परिवार पर व्यय	222,864
शिक्षा	222,979
स्वास्थ्य सेवा	188,138
जन सुविधा	30,761
सफाई	5,729

राजा, राज परिवार और महल पर जितना खर्च होता है उसके एक चौथाई से भी कम राशि शिक्षा, स्वास्थ्य-सेवा, जन-सुविधाओं और सफाई पर खर्च किया जाता है। जामनगर का उदाहरण लें तो पता चलेगा कि 1926-27 में कुल 10 लाख पौंड का जो राजस्व प्राप्त हुआ था उसमें से 7 लाख पौंड की राशि जामनगर के राजा के व्यक्तिगत कामों में खर्च हुई जबकि शिक्षा पर 1.5 प्रतिशत और स्वास्थ्य-सेवा पर 0.9 प्रतिशत की राशि खर्च की गई।

इस तरह के प्रशासन के अंतर्गत रहने वाले लोगों की क्या स्थिति है ? भारतीय रियासतें सामंती ढंग की अत्यंत पिछड़ी कृषीय अर्थव्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं। कुछ ही रियासतें ऐसी हैं जहां औद्योगिक विकास हुआ है। अनेक रियासतों में गुलामी प्रथा तो आम बात है :

> राजपूताना की रियासतों के अनेक हिस्सों में गुलामों का समुदाय मौजूद है। यही स्थिति काठियावाड़ सहित पश्चिमी भारत की अनेक रियासतों की है। 1921 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार अकेले राजपूताना और मध्यभारत में चाकर तथा दरोगा वर्गों के एक लाख 60 हजार 735 गुलाम मौजूद थे। (पी० एल० चूड़गर : 'इंडियन प्रिंसेज अंडर ब्रिटिश प्रोटेक्शन', 1929, पृष्ठ 33)

इन रियासतों का एक सामान्य नियम यह बन गया था कि यहां के शासक गरीबों से हर तरह की बेगार कराते थे और मजदूरी के रूप में भोजन के अलावा कुछ भी नहीं देते थे।

> वेथ और बेगार के नाम से प्रचलित प्रणाली लगभग सभी भारतीय रियासतों में कायम है। सभी वर्गों के मजदूर, कामगर और शिल्पी राजा और उनके

> अधिकारियों के लिए बिना पैसे लिए काम करने को मजबूर हैं। अनेक मामलों में इन्हें जो मजदूरी दी जाती है वह उनकी महज सबसे बुनियादी जरूरत के रूप में अर्थात भोजन के रूप में मिलती है। यह प्रजा किसी भी समय और किसी भी अवधि के लिए काम करने को मजबूर है···यहां तक कि जवान और बूढ़ी, विवाहिता या विधवा महिलाओं को भी नहीं छोड़ा जाता। यदि पुरुषों या महिलाओं में से कोई भी व्यक्ति अशक्त है और ठीक से काम नहीं कर पाता तो उसे कोड़े लगाए जाते हैं।
>
> इस लेखक को जो जानकारी मिली है उसके अनुसार कांस्टेबलों ने 60 साल की गरीब बूढ़ी महिलाओं तक को कोड़े लगाए हैं। कोड़े लगाने का काम खुलेआम सड़कों पर बेंत की छड़ियों से किया गया है। इनका अपराध महज यह था कि इन्होंने अपनी शारीरिक असमर्थता बताते हुए बेगार से छूट की मांग की थी। (वही, पृष्ठ 37)

इन रियासतों में नागरिक अधिकारों जैसी भी कोई चीज नहीं है :

> प्रजा को इस बात का अधिकार नहीं है कि राजा, प्रधानमंत्री या रियासत द्वारा अपने अधिकारों का हनन किए जाने पर वह हरजाने की मांग कर सके। राजा मनमाने ढंग से किसी की भी संपत्ति जब्त करने का आदेश दे सकता है। वह किसी भी सीमा तक जुर्माना कर सकता है और वसूली का कोई भी तरीका अख्तियार कर सकता है। वह बिना किसी आरोप के या बिना मुकदमा चलाए किसी को भी अनिश्चित काल के लिए जेल में डाल सकता है। (वही, पृष्ठ 72-73)

जनता पर अपनी मरजी के अनुसार करों का बोझ लाद दिया गया है ताकि राजमहल की अतिलोभी मांगों की पूर्ति के लिए गरीब से गरीब आदमी का भी खून चूसा जा सके :

> नवानगर रियासत में जिस तरह करों की वसूली की जाती है उससे और सभी रियासतों में प्रचलित रीति का पता चल जाता है। पहली सूची में कुछ व्यावसायिक लोग हैं तथा मजदूरों, शिल्पियों का नाम है। इसके साथ ही मवेशियों, सगाई, विवाह, जन्म, मृत्यु और दाह संस्कार पर कर लिया जाता है। ध्यान देने की बात है कि हाथ से चक्की चलाकर पिसाई का काम करने वाली विधवा महिलाओं तक से कर लिया जाता है जबकि यह उनके जीवन यापन का एक मात्र साधन है···
>
> जहां तक भूमि कर की बात है—जहां नकद भुगतान किया जाता है यह कर प्रति एकड़ 4 शिलिंग है लेकिन जहां नकद कर नहीं दिया जाता वहां फसल का एक चौथाई हिस्सा कर के रूप में चला जाता है। व्यवहार में यह दर बढ़ जाती है।

> रियासत के हिस्से में 40 प्रतिशत भाग आ जाता है। यदि बहुत संतुलित अनुमान लगाएं तो अन्य कर लगभग 10 प्रतिशत हैं…इस प्रकार किसान के पास केवल 50 प्रतिशत ही बचता है…
>
> इसके अलावा…उसे गांव के मुखिया या मुखिया के परिवार के सदस्यों की शादी का खर्च भी वहन करना पड़ता है और मुखिया के यहां यदि कोई लड़का पैदा हुआ तो पुत्रजन्म समारोह पर तथा मुखिया की पत्नी या मां के मरने पर अंतिम संस्कार के समय उसे इन समारोहों का खर्च बरदाश्त करना होता है।

भारतीय रजवाड़ों की यह शासनव्यवस्था जितनी दमनकारी और अन्यायपूर्ण है उसकी दुनिया में कोई मिसाल नहीं। इसकी खास वजह यह है कि इसमें अत्यंत आदिम, सामंती दमन सम्मिलित हैं, यहां नीचे के स्तर पर प्रत्यक्ष गुलामी के अवशेष हैं और ऊपर सर्वोच्च साम्राज्यवादी शक्ति और शोषण है।

इस शासनव्यवस्था को अंगरेजी राज ने न केवल सुरक्षित रखा है और भारत के 2/5 से भी अधिक हिस्से पर कृत्रिम ढंग से लागू किया है बल्कि आधुनिक युग में इसे और अधिक सामने रखा है और समूचे भारत के मामलों में इसे महत्वपूर्ण स्थान देने की कोशिश की है। जैसे जैसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन आगे बढ़ता गया है, वैसे वैसे साम्राज्यवाद इस नीति पर अधिक से अधिक जोर देने लगा कि देशी राजाओं के साथ गठबंधन किया जाए और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के विरोध में उसे खड़ा किया जाए। 1921 में चैंबर आफ प्रिंसेज की स्थापना हुई। 1935 के कानून के जरिए जिस संघीय विधान की योजना बनाई गई उसकी नींव देशी राजाओं की भूमिका पर रखी गई। उसमें ऊपरी सदन में 2/5 से अधिक स्थान इन राजाओं को दिया गया और निचले सदन में एक तिहाई सीटें इन्हें मिलीं। संसदीय बहसों में लार्ड रीडिंग ने अपना मकसद बड़े स्पष्ट शब्दों में जाहिर किया :

> यदि भारतीय राजाओं का कोई अखिल भारतीय महासंघ बनता है तो इसका हमेशा ही एक स्थाई प्रभाव होगा। इसमें हमारे लिए सबसे ज्यादा डरने वाली बात क्या है ? कुछ राजा ऐसे हैं जो भारत की आजादी के लिए ब्रिटिश साम्राज्य से पूरी तरह अलग होने के लिए आंदोलन करते हैं। मेरा अपना ख्याल है कि इस तरह की मांग करने वाले राजाओं का अल्पमत है लेकिन यह बहुत सुस्पष्ट अल्पमत है और इनके पीछे कांग्रेस का संगठन है। इसलिए हमारे लिए यह महत्वपूर्ण है कि इस विचारधारा के विरुद्ध हम जो भी स्थाई प्रभाव पैदा कर सकते हैं, करें।…तकरीबन 33 प्रतिशत राजा विधानसभा के सदस्य होंगे और ऊपरी सदन में इनका प्रतिनिधित्व 40 प्रतिशत होगा। बेशक ऐसे भारतीयों की काफी संख्या है जो कांग्रेस की विचारधारा को नहीं मानते हैं। इस प्रकार यदि कांग्रेस ने काफी अधिक वोट

> पाने की व्यवस्था कर भी ली तो भी मुझे इस बात का तनिक भी भय नहीं है कि कुछ ऐसा हो सकेगा जो हमारे लिए प्रतिकूल हो।

इधर हाल के वर्षों में राष्ट्रीय जनवादी आंदोलन इन कठपुतली रियासतों की सड़ी गली सीमाओं को तोड़ता हुआ आगे बढ़ा है। स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस रियासतों में जनआंदोलनों का संगठन किया करती है और इसकी ताकत काफी तेजी से बढ़ी है। बुनियादी नागरिक अधिकारों के लिए एक के बाद दूसरी रियासत में सक्रिय संघर्ष चलाए गए हैं।

रियासतों में जनआंदोलन की इस प्रगति के साथ साथ राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति में भी परिवर्तन की झलक मिली है। अतीत में राष्ट्रीय कांग्रेस ने सीधे तौर पर भारतीय रियासतों में आंदोलन की इस तरह की गतिविधियों में भाग लेने से अपने को अलग रखा। 'हस्तक्षेप न करने' की नीति को जानबूझकर अपनाया गया और इसके साथ ही यह झूठी आशा की गई कि इन कठपुतली रियासतों के राजाओं के साथ किसी तरह की एकता कायम हो जाएगी। कांग्रेस ने कभी यह नहीं सोचा कि इन रियासतों की 8 करोड़ दलित जनता के साथ किसी तरह की एकता कायम की जाए। गोलमेज सम्मेलन में गांधी ने कहा था कि 'अब तक कांग्रेस ने राजाओं की इस तरह सेवा करने की कोशिश की है कि वह उनके घरेलू तथा आंतरिक मामलों में किसी तरह की दखलअंदाजी नहीं करती।' गांधी ने आगे कहा :

> मैं महसूस करता हूं और यह जानता हूं कि इन राजाओं के दिलों में अपनी प्रजा के हित की बातें हैं। उनके और मेरे बीच कोई फर्क नहीं है सिवाय इसके कि हम लोग एक साधारण व्यक्ति हैं और उन्हें ईश्वर ने भद्र राजकुमार बनाया है। मैं उनके लिए शुभकामना व्यक्त करता हूं, मैं उनकी समृद्धि की कामना करता हूं।

बाद के घटनाचक्रों ने खुद ही इस घातक नीति को असफल साबित कर दिया। कांग्रेस ने स्वेच्छापूर्वक अपनी गतिविधियों को ब्रिटिश भारत तक ही सीमित रखा और हालांकि उसने खुद को अखिल भारतीय राष्ट्रीय संस्था का नाम दिया था लेकिन भारतीय रियासतों में अपने नेतृत्व के तहत उसने कोई समानांतर संगठन कायम करने की कोशिश नहीं की। लेकिन हाल के वर्षों में त्रावणकोर और मैसूर जैसे तथाकथित अत्यंत 'प्रगतिशील' रियासतों सहित राजाओं द्वारा जनआंदोलनों की प्रारंभिक शुरुआतों के हिंसात्मक दमन से जो स्थिति पैदा हुई उसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह उठे और संघर्ष का बीड़ा खुद ही उठाए। 1938-39 की घटनाओं में देखा गया कि राष्ट्रीय कांग्रेस ने जनवादी अधिकारों और भारतीय रियासतों में अपना अस्तित्व कायम रखने के अधिकार के लिए संघर्ष का सूत्रपात किया। रियासतों में सविनय अवज्ञा आंदोलन को समर्थन देने का प्रश्न राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्यों के बीच एक ज्वलंत प्रश्न बनकर सामने आ गया।

1938 में राष्ट्रीय कांग्रेस का हरिपुरा अधिवेशन हुआ जिसमें रियासतों के संबंध में कांग्रेस के आम सिद्धांतों की घोषणा की गई :

कांग्रेस रियासतों में भी उसी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता की हिमायती है जैसी वह शेष भारत में चाहती है। इसके साथ ही कांग्रेस इन रियासतों को भारत का अविभाज्य और अभिन्न अंग मानती है। कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का जो लक्ष्य अपनाया है वह रियासतों सहित समूचे भारत के लिए है क्योंकि आजादी के दिनों में भी भारत की एकता और अभिन्नता वैसी ही बनी रहनी चाहिए जैसी गुलामी के दिनों में रही है।

कांग्रेस केवल उसी तरह के महासंघ की बात स्वीकार करेगी जिसमें रियासतें भी स्वतंत्र इकाई के रूप में भाग ले सकें और उन्हें भी शेष भारत की तरह ही जनतंत्र और स्वतंत्रता की प्राप्ति हो सके।

इसलिए कांग्रेस की राय यह है कि रियासतों में पूरी तरह उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासन कायम होना चाहिए और नागरिक अधिकारों की गारंटी मिलनी चाहिए। इसके साथ ही कांग्रेस इस बात पर भी खेद प्रकट करती है कि इन रियासतों की मौजूदा हालत पिछड़ी हुई है और अनेक रियासतों में स्वतंत्रता बिलकुल नहीं है तथा नागरिक अधिकारों का हनन किया जा रहा है।

इसके साथ ही हरिपुरा अधिवेशन के प्रस्ताव ने रियासतों के अंदर कांग्रेस की गतिविधियों पर खुद ही कुछ सीमाएं भी लगा दी थीं :

रियासतों में जनता का अंदरूनी संघर्ष कांग्रेस के नाम पर नहीं चलाया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए स्वतंत्र संगठनों की शुरुआत की जानी चाहिए और जहां इस तरह के संगठन पहले से मौजूद हैं, वहां उन्हें जारी रखना चाहिए।

1939 में कांग्रेस का त्रिपुरी अधिवेशन हुआ जिसमें उसने अपनी स्थिति में आंशिक संशोधन किया :

कांग्रेस की यह राय है कि रियासतों के संबंध में हरिपुरा अधिवेशन के प्रस्ताव ने इसके द्वारा उत्पन्न की गई आशाओं को पूरा किया है और रियासतों की जनता को अपने आपको संगठित करने तथा आजादी के लिए अपने आंदोलनों को संचालित करने का बढ़ावा देकर कांग्रेस ने अपना औचित्य साबित कर दिया है। हरिपुरा में जो नीति अपनाई गई वह जनता के सर्वोत्तम हितों को ध्यान में रखकर अपनाई गई थी ताकि जनता के अंदर आत्मनिर्भरता तथा शक्ति पैदा हो। यह नीति मौजूदा

> परिस्थितियों को देखकर तैयार की गई थी लेकिन यह नहीं सोचा गया था कि इस नीति का हमेशा पालन करने के लिए कांग्रेस मजबूर है। कांग्रेस का हमेशा यह अधिकार रहा है और उसका यह कर्तव्य भी रहा है कि वह रियासतों की जनता का नेतृत्व करे तथा उन्हें प्रभावित करे। जनता के बीच जो महान जागरण हो रहा है उससे कांग्रेस ने अपने ऊपर जो सीमाएं थोप रखी थीं उनमें ढील दी जा सकती है या उन्हें एकदम समाप्त किया जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप रियासतों की जनता के साथ कांग्रेस का तादात्म्य अधिक से अधिक बढ़ता जाएगा।

इस नीति के अनुसार राष्ट्रीय नेताओं ने रियासतों की जनता के आंदोलनों में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया। फरवरी 1939 में आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस का लुधियाना अधिवेशन हुआ और जवाहरलाल नेहरू इसके अध्यक्ष तथा पट्टाभि सीतारमैया उपाध्यक्ष चुने गए। सम्मेलन ने 'उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार' की स्थापना के संघर्ष में रियासतों की जनता के आंदोलन की प्रगति का स्वागत किया और कहा :

> अब समय आ गया है जब इस संघर्ष को भारतीय स्वतंत्रता के उस अधिक व्यापक संघर्ष के साथ मिलाकर चलाया जाए जिसका वह एक अभिन्न अंग है। अखिल भारतीय स्तर पर चलाया जाने वाला इस प्रकार का संयुक्त संघर्ष अनिवार्य रूप से कांग्रेस के नेतृत्व में ही चलाया जाना चाहिए।

युद्ध के बाद अखिल भारतीय स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस की बैठक दिसंबर 1945 में उदयपुर में हुई और उसमें सम्मेलन का यह लक्ष्य स्वीकार किया गया कि 'वह एक स्वतंत्र तथा संघबद्ध भारत के अभिन्न अंग के रूप में रियासतों में शांतिपूर्ण तथा वैधानिक तरीकों से उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना करेगा।' अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने कहा :

> यह अनिवार्य है कि रियासतों का एक बहुत बड़ा हिस्सा जो संभवत: आर्थिक इकाइयों के रूप में नहीं रह सकता, पड़ोसी इलाकों में मिला दिया जाए···
> इस तरह की छोटी रियासतों के शासकों को किसी तरह की पेंशन दी जा सकती है और यदि वे किसी काम के योग्य हों तो उन्हें इसके लिए भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है।
>
> अन्य रियासतें, जिनकी संख्या 15 से 20 हो सकती है और जो संघ की स्वायत्त-शासित इकाइयों के रूप में रह सकती हैं उनके शासक एक जनतांत्रिक सरकार के अंतर्गत सांविधानिक अध्यक्ष बने रह सकते हैं। इनमें से कुछ शासक और राजा महाराजा अत्यंत प्राचीन रजवाड़ों के हैं जिनका इतिहास और परंपरा से घनिष्ठ संबंध है।

सूबों में लोकप्रिय मंत्रिमंडलों के फिर से गठित होने तथा उभरते क्रांतिकारी विद्रोहों के कारण सांविधानिक बहसों के शुरू होने के साथ ही भारतीय रियासतें भारत की राजनीतिक स्थिति का केंद्रबिंदु हो गई हैं। रियासतों में सामंती निरंकुशता के विरुद्ध स्वतःस्फूर्त संघर्ष प्रारंभ हो गए और उनका बहुत ही हिंसात्मक तरीके से राजाओं ने दमन किया है। राजाओं के इस काम में ब्रिटेन के राजनीतिक विभाग का समर्थन प्राप्त है। इन संघर्षों का सबसे जबरदस्त उभार 1946 में कश्मीर में देखा गया जब जनता ने डोगरा राजवंश के खिलाफ बहुत स्पष्ट और खुले शब्दों में 'कश्मीर छोड़ो' नारा दिया।

यह देखा जा सकता है कि कांग्रेस की वर्तमान नीति आज भी रियासतों के पहले से बने बनाए ढांचों के अंदर तथा राजाओं के चले आ रहे शासन के अंतर्गत ही सुधारों की बात करती है। इस तरह की स्थिति महज एक अधूरी स्थिति हो सकती है, यह राष्ट्रीय आंदोलन को बुनियादी मसले तक पहुंचाने की दिशा में एक अवस्था हो सकती है।

1946 के ब्रिटिश सांविधानिक प्रस्तावों ने राजाओं की भावी भूमिका के प्रश्न को एक नए चरण में पहुंचा दिया। प्रस्तावित संविधान सभा में राजाओं को कुल 386 स्थानों में से 93 स्थान दिए जाने थे और जनतांत्रिक ढंग से चुनाव के किसी भी तरीके का इसमें प्रावधान नहीं था। जैसाकि 1935 के संघीय संविधान में कहा गया था, राजाओं को प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ के दायरे में लाना था। लेकिन जिन शर्तों के अंतर्गत उन्हें इसमें शामिल होना था, वे शर्तें पूरी तरह ऐच्छिक बातचीत पर छोड़ दी गईं। फिर भी यह बात स्पष्ट कर दी गई कि अंगरेजों द्वारा सत्ता के हस्तांतरण के बाद सर्वोपरिता का सिद्धांत समाप्त हो जाएगा जिससे बातचीत के जरिए यदि कोई वैकल्पिक व्यवस्था हो सकी तो राजा कानूनी और कूटनीतिक तौर पर 'स्वतंत्र और प्रभुसत्ता संपन्न' बने रहेंगे।

भारत में जनतंत्र के भविष्य के लिए यह बहुत जरूरी है कि राजाओं की असामान्य स्थिति और रियासतों के मनमाने ढांचे को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया जाए। स्वतंत्र भारत में इन देशी रियासतों का कोई स्थान नहीं हो सकता। ब्रिटिश भारत और 'राजाओं का भारत' नाम से देश का विभाजन किसी भी अर्थ में प्राकृतिक विभाजन नहीं है, इसकी न तो कोई ऐतिहासिक आवश्यकता है और न यह जनता की भावात्मक जरूरतें पूरी करता है बल्कि यह साम्राज्यवादियों की एक ऐसी चाल है जिसके जरिए जनता में भेदभाव पैदा करके अपना प्रशासन बनाए रखा जा सके। राष्ट्रीय आंदोलन का एकमात्र लक्ष्य यही हो सकता है कि संपूर्ण भारत में समान अधिकारों और समान नागरिकता सहित जनतंत्र की स्थापना की जाए। भारत की एकता, उसके प्रगतिशील विकास और भारत में जनतंत्र की स्थापना के लिए यह नितांत आवश्यक है कि भारतीय रियासतों को पूरी तरह समाप्त किया जाए, सामंती दमन के इन अवशेषों का नामोनिशान मिटा दिया जाए तथा प्राकृतिक, भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समूहों के आधार पर भारतीय जनता को एक वास्तविक संघ में एकताबद्ध किया जाए (ऐसा तथाकथित 'संघ' नहीं

होना चाहिए जो मौजूदा निरंकुशता को बनाए रखने तथा जनता की आकांक्षाओं को दमन करने का एक व्यापक तंत्र हो)।

2. सांप्रदायिक भेदभाव

अंगरेजों ने राजाओं के जरिए भारतीय जनता में फूट डालने की जो नीति अपनाई थी ठीक उसी तरह की नीति वे हिंदुओं और मुसलमानों के बीच भेदभाव पैदा करने के लिए बरतते थे।

यहां सांप्रदायिक भेदभाव की आम समस्या तथा इस समस्या के विशेष राजनीतिक रूपों के बीच फर्क करना बहुत जरूरी है क्योंकि हाल के वर्षों में मुस्लिम लीग का उदय और पाकिस्तान की मांग ने यह साबित कर दिया है कि यह समस्या राजनीतिक रूप ले चुकी है। इन खास तरह के राजनीतिक रूपों के कारण कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा होते हैं जिनपर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे लेकिन उसके पहले सांप्रदायिक समस्या और खास-तौर से हिंदू मुस्लिम विरोध के आम प्रश्न पर विचार कर लेना जरूरी है।

भारत में करीब दो तिहाई आबादी हिंदुओं की है तथा एक चौथाई मुसलमानों की और इनके अतिरिक्त कुछ छोटे छोटे धार्मिक संप्रदाय हैं जो मिलकर आबादी का दसवां भाग होते हैं। इसलिए 'सांप्रदायिक' समस्या के नाम से या अलग अलग धार्मिक 'संप्रदायों' के आपसी संबंधों के रूप में जो सवाल सामने आता है, भारत में उसकी कुछ अपनी विशेषताएं हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के लिए यह एक गंभीर मसला है लेकिन यह ऐसा कोई सवाल नहीं है जो सिर्फ भारत में ही देखने में आ रहा हो।

कुछ विशेष परिस्थितियों में भिन्न भिन्न मसलों और धर्मों के लोगों के एक ही देश में रहने से काफी गंभीर कठिनाइयां पैदा हो सकती हैं, कभी कभी तो दंगा-फसाद और खून खराबा हो सकता है। 20वीं सदी के विश्व से ही अगर उदाहरण लें तो हमें इस तरह की समस्याएं देखने को मिल सकती हैं। उत्तरी आयरलैंड में औरेंजमैन और कैथोलिकों का झगड़ा, शासनादेश (मैंडेट) के दिनों में फिलिस्तीन में अरबों और यहूदियों का संघर्ष, जारशाही रूप में स्लाव लोगों और यहूदियों का संघर्ष, नाजी जर्मनी में तथाकथित 'आर्यों' तथा यहूदियों का झगड़ा, ये कुछ ऐसे मसले हैं जिनसे पता चलता है कि साम्राज्यवादियों ने भेदभाव की नीति हर जगह अपनाई। यूरोप में आज यहूदी विरोध की जो भावना देखने को मिलती है उससे पता चलता है कि अलग अलग नस्ल या धर्म पर आधारित भेदभाव तथा विरोध कितने तीव्र रूप में सामने आ सकता है।

ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर बहुत स्पष्ट रूप में यह बताया जा सकता है कि वे कौन सी परिस्थितियां हैं जिनमें इस तरह की समस्याएं पैदा होती हैं।

जब तक फिलिस्तीन ब्रिटेन के संरक्षण में नहीं आया था अरब और यहूदी लोग सदियों से शांतिपूर्ण जीवन बिताते रहे। ब्रिटेन का शासन कायम होने के बाद और साम्राज्यवादियों द्वारा अपनी ताकत के बल पर तथा पश्चिमी महाजनी पूंजी के संरक्षण में यहूदियों का आव्रजन शुरू होने के बाद से हिंसात्मक संघर्षों की भी शुरुआत हो गई। इन संघर्षों को कभी कभी नस्लवादी या धार्मिक संघर्ष का नाम दिया जाता है लेकिन सचाई यह है कि ये संघर्ष आक्रमण और विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ आजादी के लिए चलाए जाने वाले राष्ट्रीय संघर्ष हैं।

जारशाही रूस में और खासतौर से जारशाही के पतन के दिनों में यहूदियों का जितना जबरदस्त कत्लेआम हुआ उसकी कहीं और मिसाल नहीं है। समूचा विश्व इस कत्लेआम को देखकर हैरान रह गया और इन घटनाओं से इतिहास के बेशुमार पृष्ठ भरे पड़े हैं। इस कत्लेआम के बारे में यह समझा जाता था कि रूस की जनता बहुत मूर्ख और जंगली है तथा उसके अनियंत्रित उपद्रवों के कारण हिंसा का सहारा लेना पड़ा लेकिन बाद के वर्षों में खुफिया पुलिस की रिपोर्टें प्रकाशित हुईं उनसे यह बात साबित हो गई कि कत्ले-आम के लिए सरकार ने सीधे तौर पर पहल की थी और इसका संचालन भी किया था। इन रिपोर्टों के छपने से पहले तक लोग 'ब्लैक हंड्रेड्स' या 'पैट्रिआटिक' नामक गुंडा संगठनों के साथ सरकार के अनोखे संबंधों की ओर संकेत करते थे। जिस दिन से रूस की जनता ने अपने देश का शासनभार स्वयं संभाला उस दिन से ही इस तरह के हत्याकांड भी बिलकुल समाप्त हो गए। आज सोवियत गणराज्य में तमाम तरह की नस्लों और विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग बहुत सुख चैन से एक साथ रह रहे हैं।

जर्मनी में, वाइमर प्रजातंत्र के दिनों में जर्मन और यहूदी लोग शांतिपूर्वक साथ साथ रहते थे। जब जर्मनी में नाजियों का शासन कायम हुआ तो हत्याकांड जारशाही रूस की बजाय मध्य यूरोप में होने लगा।

इस प्रकार भिन्न भिन्न नस्लों और धर्मों के लोग यदि एक साथ रहें भी तो इस तरह की कठिनाइयां पैदा होना स्वाभाविक रूप से अनिवार्य बात नहीं है। ये कठिनाइयां सामा-जिक राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं। विशेष रूप से ये कठिनाइयां उन देशों में पैदा होती हैं जहां कोई प्रतिक्रियावादी सरकार जनता के आंदोलन के खिलाफ अपने को बनाए रखने की कोशिश करती है। इस तरह की स्थितियां यदि कहीं पैदा हो रही हों तो यह समझना चाहिए कि अब इस शासनव्यवस्था को समाप्त होने से कोई ताकत रोक नहीं सकती।

भारत में हमारे सामने आज इसी तरह की समस्या है। भारत में आज (1941 की जन-गणना के अनुसार) 25 करोड़ 40 लाख से अधिक हिंदू रहते हैं जो कुल आबादी का 65.93 प्रतिशत हैं। इनमें से 19 करोड़ 'ब्रिटिश भारत' में रहते हैं जहां उनका अनुपात

कुल जनसंख्या का 64.5 प्रतिशत होता है और साढ़े छः करोड़ लोग देशी रियासतों में रहते हैं जहां उनका अनुपात रियासतों की कुल आबादी का 70.57 प्रतिशत होता है। यहां मुसलमानों की संख्या 9 करोड़ 20 लाख है जो कुल आबादी का 23.81 प्रतिशत होता है। इनमें से 7 करोड़ 90 लाख मुसलमान ब्रिटिश भारत में रहते हैं जहां उनका अनुपात कुल आबादी का 26.84 प्रतिशत होता है और 1 करोड़ 20 लाख से भी अधिक मुसलमान देशी रियासतों में रहते हैं जहां उनका अनुपात आबादी का 13.93 प्रतिशत होता है।

अंगरेजों का शासन कायम होने से पहले भारत में उस तरह के हिंदू मुस्लिम झगड़े कभी नहीं दिखाई दिए जैसे झगड़े अंगरेजी शासनकाल में और खासतौर से इसके अंतिम दिनों में देखने को मिले। किसी एक रियासत का किसी दूसरी रियासत के साथ संघर्ष भी हुआ और कभी कभी यह भी देखने में आया कि एक रियासत का राजा हिंदू है और दूसरी रियासत का मुसलमान लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि इन संघर्षों ने हिंदू मुस्लिम संघर्ष का रूप लिया हो। मुसलमान शासक हिंदुओं को बिना किसी हिचकिचाहट के अपने यहां ऊंचे से ऊंचे पदों पर नियुक्त करते थे और हिंदू शासक भी मुसलमानों के प्रति इसी तरह का रवैया अपनाते थे।

देशी रियासतों में यह परंपरा आज भी देखी जा सकती है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया था कि 'मौजूदा देशी रियासतों में सांप्रदायिक संघर्ष का अपेक्षाकृत काफी अभाव है।' इसके बाद के वर्षों में जहां जहां सांप्रदायिक संघर्ष होने की खबर मिली, जैसेकि 1931-32 में कश्मीर में, वहां संघर्ष की बुनियाद में सांप्रदायिक प्रश्नों का रत्तीभर भी स्थान न था। संघर्ष के मुद्दे कुछ और थे और साम्राज्यवादियों ने इन संघर्षों को सांप्रदायिक संघर्ष कहकर प्रचारित किया। इन संघर्षों का सांप्रदायिक मसलों से कोई भी संबंध नहीं था। दरअस्ल कश्मीर में मुस्लिम जनता ने, जो कुल आबादी का 4/5 भाग थी, अपने राजा के खिलाफ विद्रोह किया और यह इत्तफाक की बात थी कि उनका राजा हिंदू था। इस प्रकार इस विद्रोह को सांप्रदायिक विद्रोह की संज्ञा दे दी गई हालांकि ब्रिटेन के अखबारों को यह स्वीकार करना पड़ा कि 'यह एक अजीब स्थिति है कि सांप्रदायिक विद्रोह होने के बावजूद एक भी हिंदू नहीं मारा गया' (डेली टेलीग्राफ, 8 फरवरी 1932)। वस्तुतः जैसे जैसे भारतीय रियासतों में जनता का विद्रोह तेज होता गया और शक्ति ग्रहण करता गया वैसे वैसे इन रियासतों में जनता के बीच भेदभाव पैदा करने का प्रचलित प्रतिक्रियावादी तरीका भी अपनाया जाने लगा।

जैसा हमने देखा है, हिंदू मुस्लिम विरोध के बारे में वर्णन करते हुए साइमन कमीशन की रिपोर्ट में दो अजीब तथ्यों की तरफ संकेत किया गया है। एक तो यह कि इस तथ्य का विरोध उन इलाकों में ज्यादा है जहां अंगरेजों का प्रत्यक्ष शासन है, देशी रियासतों में यह विरोध कम है हालांकि दोनों इलाकों की आबादी एक जैसी ही है और देशी

रियासतों तथा ब्रिटिश सूबों की सीमाएँ केवल प्रशासनिक सुविधाओं को ध्यान में रखकर निर्धारित की गई हैं। दूसरी बात यह है कि ब्रिटिश भारत के इलाकों में भी यह विरोध अभी हाल के वर्षों में बढ़ा है और एक पीढ़ी पहले तक ब्रिटिश भारत में ऐसे सांप्रदायिक संघर्ष बहुत कम थे जिनसे जनजीवन की शांति को कोई खतरा हो। अतः सांप्रदायिक संघर्ष ब्रिटिश शासन की ओर खासतौर पर उसके अंतिम दिनों की अर्थात साम्राज्यवादी प्रभुत्व के पतन के दौर की विशेष देन है।

इस धारणा ने सरकारी क्षेत्रों में काफी रोष पैदा किया कि भारत में सांप्रदायिक तनाव को बढ़ावा देने की मूल जिम्मेदारी अंगरेजों के शासन की है (हम आगे चलकर देखेंगे कि और भी कई चीजों के लिए ब्रिटिश शासन जिम्मेदार है)। फिर भी विभिन्न साक्ष्यों और ऐतिहासिक दस्तावेज देखने से इन तथ्यों की अपरिहार्यता समान रूप से सिद्ध होती है। स्तब्धता और रोष प्रकट किया जाना कोई तर्क नहीं है। क्योंकि साम्राज्यवाद सीजर की पत्नी नहीं है। इसके साथ ही साम्राज्यवादियों के छल-कपट से भरे दस्तावेज इतने अधिक हैं कि अत्यंत जाहिर तथ्यों को पाखंडपूर्ण ढंग से नकार देने से विश्व जनमत धोखा नहीं खा सकता।

शुरू के वर्षों में अंगरेज शासकों ने 'फूट डालो और राज करो' सिद्धांत की खुलेआम घोषणा की लेकिन बाद के वर्षों में वे इस तरह की घोषणाओं के प्रति सतर्कता का रुख अपनाने लगे। 1821 में ही एक अंगरेज अफसर ने मई 1821 के एशियाटिक रिव्यू के अंक में 'कर्नाटिकस' नाम से लिखते हुए कहा था कि 'राजनीतिक, नागरिक अथवा सैनिक हर क्षेत्र में हमारे भारतीय प्रशासन का मूल वाक्य फूट डालो और राज करो होना चाहिए।' मुरादाबाद के कमांडेंट लेफ्टीनेंट कर्नल कोक ने 19वीं सदी के मध्य में इस सिद्धांत की नींव डाल दी :

> हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि हम पूरी ताकत के साथ विभिन्न धर्मों और जातियों के बीच मौजूदा भेदभाव को बना रहने दें। हमें यह भेदभाव समाप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। फूट डालो और राज करो ही भारतीय सरकार का सिद्धांत होना चाहिए।[1]

1888 में भारतीय मामलों के आधिकारिक विद्वान सर जान स्ट्रेशी ने लिखा :

> सचाई यह है कि भारत में एक दूसरे की विरोधी जातियों का साथ साथ रहना ही हमारी राजनीतिक स्थिति के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करता है। (सर जान स्ट्रेशी : इंडिया, 1888, पृष्ठ 255)[2]

गांधी ने बताया है कि किस प्रकार कांग्रेस के संयुक्त संस्थापक ह्यूम ने उनसे साफ साफ

यह कहा था कि ब्रिटिश सरकार फूट डालो और राज करो की नीति पर दृढ़ है (जे० टी० संडरलैंड की पुस्तक इंडिया इन बांडेज के पृष्ठ 232 पर उद्धृत)। 1910 में जे० रेमजे मैकडोनल्ड ने मुस्लिम लीग की स्थापना के विषय में लिखा था :

> अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना 30 दिसंबर 1906 को हुई। मुस्लिम लीग को अपनी कोशिशों में इतनी अधिक राजनीतिक सफलताएं मिली हैं·· कि लोगों को यह संदेह होने लगा है कि इस संगठन के पीछे काफी घातक शक्तियों का हाथ है। यह भी संदेह किया जाता है कि मुस्लिम नेताओं को कुछ अंगरेज अफसरों से प्रेरणा मिली है और ये लोग शिमला और लंदन में ही बैठे बैठे अपने इशारे पर मुस्लिम नेताओं को नचा रहे हैं तथा मुसलमानों के साथ विशेष पक्षपात करके हिंदू और मुसलमानों के बीच जानबूझकर मनमुटाव को बढ़ावा दे रहे हैं। (जे० आर० मैकडोनल्ड : 'दि अवेकनिंग आफ इंडिया', 1910, पृष्ठ 283-84)

बाद के वर्षों में जो प्रमाण मिले हैं उनसे यह संदेह और भी पुष्ट हो गया है। 1926 में लार्ड ओलीवियर ने कुछ समय तक भारतीय मामलों के मंत्री का पद संभालने के बाद, और सभी दस्तावेजों को देखने के बाद 'दि टाइम्स' अखबार को एक पत्र लिखा :

> जिस भी व्यक्ति को भारतीय मामलों की अच्छी जानकारी है वह इस बात से इंकार करने को तैयार नहीं होगा कि ब्रिटिश अफसरशाही आमतौर पर मुसलमानों का पक्ष लेती है। कुछ हद तक तो यह पक्षपात सहानुभूति के कारण होता है ज्यादातर इसका उद्देश्य हिंदू राष्ट्रवादिता के खिलाफ मुसलमानों को इस्तेमाल करने के लिए किया जाता है। (10 जुलाई 1926 के दि टाइम्स में लार्ड ओलीवियर का पत्र)

हाल के दिनों में इसी तरह के बुनियादी दृष्टिकोण को बड़ी चालाकी के साथ व्यक्त किया गया है। 1941 में दि टाइम्स अखबार ने लिखा :

> हिंदू मुस्लिम समझौते के बुनियादी महत्व पर जोर देने का अर्थ यह नहीं है कि अंगरेज फूट डालो और राज करो की नीति का पालन कर रहा है। दोनों संप्रदायों के बीच फूट मौजूद है और जब तक यह फूट बनी रहेगी तब तक अंगरेजों का शासन भी निश्चित रूप से बना रहेगा। (दि टाइम्स, 21 जनवरी 1941)

इस प्रकार सरकारी नीति के बारे में जो कहा जाता है वह बहुत ही जिम्मेदार सरकारी प्रतिनिधियों के अधिकृत बयानों पर आधारित है।

फिर भी इस आम नीति ने प्रशासनिक व्यवस्था का रूप आधुनिककाल में ही ग्रहण किया है। राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ने तथा एक के बाद दूसरे वैधानिक सुधारों के साथ साथ इस बात की कोशिशें भी बढ़ती गईं कि सांप्रदायिक फूट को प्रोत्साहन दिया जाए। इसके लिए एक ऐसी अजीब ढंग की चुनाव प्रणाली का आविष्कार किया गया जिसे इन वैधानिक सुधारों के साथ जोड़ दिया गया था। यह नया कदम 1906 में अर्थात ठीक उस समय जब राष्ट्रीय आंदोलन की पहली बड़ी लहर आई थी, उठाया गया।

घटनाक्रम के इस विकास की पृष्ठभूमि को समझने के लिए हमें उस सामाजिक आर्थिक प्रतिद्वंद्विता के बीज देखना आवश्यक है जिसका असर हिंदुओं और मुसलमानों पर नहीं बल्कि उदीयमान मध्यवर्ग पर पड़ता है। बंबई, कलकत्ता और मद्रास में अर्थात हिन्दू बहुल क्षेत्रों के उत्तर में मुस्लिमबहुल क्षेत्रों की तुलना में व्यापार, व्यवसाय तथा शिक्षा का विकास काफी पहले शुरू हो गया था। 1882 में हंटर कमीशन की रिपोर्ट ने यह पता लगाया था कि विश्वविद्यालय की शिक्षा के मामले में औसतन मुसलमानों का अनुपात केवल 3.65 प्रतिशत था। आज भी मुसलमानों की तुलना में हिंदुओं में साक्षर लोगों की संख्या, ज्यादा है। इसलिए भारतीय बुजुर्आवर्ग का उदय होने के साथ साथ ऐसे भेदभावों के लिए परिस्थितियां तैयार हो गईं जो बहुत आसानी से सांप्रदायिक रूप धारण कर सकती थीं। मुसलमानों का ऊपरी वर्ग, जिसका मुख्य आधार बड़े जमींदारों में था, व्यापारिक एवं औद्योगिक पूंजीपतिवर्ग की उन्नति को देखकर खुश नहीं हुआ क्योंकि उसे ऐसा लगता था कि यह उन्नति हिंदुओं की या 'हिंदू बनियों' की उन्नति है। इसे वे बड़ी खतरनाक स्थिति मानते थे। उदीयमान मध्यवर्ग में अलग अलग व्यापारिक गुटों के बीच सांप्रदायिक विरोध का आधार मौजूद था क्योंकि मुसलमान लोग ज्यादा पिछड़े हुए थे। इसी प्रकार प्रशासनिक पदों के लिए शैक्षणिक योग्यताओं पर आधारित प्रतियोगिता में भी हिंदू मुसलमानों की तुलना में बाजी मार ले जाते थे। जब प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास होने लगा और चुनाव प्रणाली आरंभ हुई तो मुसलमानों को फिर कठिनाई का सामना करना पड़ा क्योंकि मताधिकार केवल शिक्षा या संपत्ति के आधार पर मिलता था। और यहां भी मुसलमानवर्ग हिंदुओं की तुलना में पीछे छूट जाता था। यही वजह थी कि अलग निर्वाचन की मांग को मुसलमानों के बीच प्रेरणा मिली। इन स्थितियों से सरकार के लिए फूट के बीज बोना और दोनों संप्रदायों के बीच निहित विरोधों को सामने लाकर उनके सहारे समूची राजनीतिक प्रणाली का एक ढांचा तैयार करना आसान हो गया।

1890 में ही सर सैयद अहमद खां ने, जिनका सरकार के साथ घनिष्ठ संबंध था मुसलमानों के एक गुट का नेतृत्व किया और उन्होंने मुसलमानों के लिए विशेष अधिकारों और पदों की मांग की। लेकिन जिम्मेदार मुस्लिम जनमत ने इस मांग का विरोध किया। 'मुस्लिम हेराल्ड' नामक पत्र ने इस मांग की निंदा करते हुए कहा कि यह मांग 'नामों और जिन्हों

के सामाजिक जीवन में जहर घोल देगी और भारत को नरक बना देगी ।' उस समय इस सिलसिले में कुछ और सुनने को नहीं मिला।

लेकिन अंगरेज सरकार को 1906 में जब भारत के पहले व्यापक राष्ट्रीय जन आंदोलन का सामना करना पड़ा तो उसने एक ऐसी नीति का सूत्रपात किया जिससे सचमुच ही 'गांवों और जिलों के सामाजिक जीवन में जहर फैल जाने वाला था और भारत नरक बन जाने वाला था।' मुसलमानों के एक शिष्टमंडल ने वायसराय से भेंट की और उनसे मांग की कि भारत में चुनाव की यदि कोई प्रणाली जारी की जा रही हो तो उसमें मुसलमानों के लिए ज्यादा सीटों का बंदोबस्त रहे। वायसराय लार्ड मिंटो ने फौरन ही इस मांग को स्वीकार कर लिया :

> आपका यह दावा बहुत सही है कि आप लोगों का महत्व आपकी संख्या से न आंका जाए बल्कि आपके समुदाय का राजनीतिक महत्व देखा जाए और इसे ध्यान में रखा जाए कि आप लोगों ने ब्रिटिश साम्राज्य की कितनी सेवाएं की हैं। मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूं। (1906 में मुसलमानों के शिष्टमंडल के सामने लार्ड मिंटो का भाषण; 'लाइफ आफ लार्ड मिंटो', जान बुशन; 1925, पृष्ठ 244)

बाद में 1923 में राष्ट्रीय अधिवेशन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए मुसलमानों के नेता मोहम्मद अली ने कहा कि यह मुस्लिम शिष्टमंडल सरकार के ही इशारे पर वायसराय से मिलने गया था। यह पूरी योजना सरकारी अधिकारियों के दिमाग की उपज थी और इसका संकेत 1906 के अंत में लार्ड मिंटो के नाम लिखे गए एक पत्र में लार्ड मोर्ले ने दे दिया था :

> मैं आपको मुसलमानों के इस झगड़े में फिर नहीं डालूगा। मैं आदर के साथ सिर्फ एक बार और आपको यह याद दिलाना चाहता हूं कि आपने ही अपने एक भाषण में विशेषाधिकारों की बात करके (मुसलमान) खरगोशों को दौड़ने के लिए बढ़ावा दिया है। (लार्ड मिंटो के नाम लार्ड मोर्ले का पत्र, 6 दिसंबर 1909; मोर्ले; 'रिफ्लेक्शंस', खंड 2, पृष्ठ 325)

इस प्रकार सांप्रदायिक चुनावक्षेत्रों और सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की ऐसी प्रणाली की शुरुआत हो गई जिसने हर जनवादी चुनाव प्रणाली की जड़ पर हमला किया। इसकी तुलना के लिए हमें उत्तरी आयरलैंड की स्थिति की कल्पना करनी होगी। यदि वहां कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों को अलग अलग मतदाताओं की सूची में डाल दिया जाए और उन्हें अलग अलग प्रतिनिधित्व करने का अधिकार दिया जाए तो संसद में जो सदस्य चुन कर आएंगे वे अपने क्षेत्र की समूची जनता के प्रति दायित्व का अनुभव न करके कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट सदस्यों के प्रति ही अपने कर्तव्यों का निर्वाह करेंगे। सांप्रदायिक संगठन

और वैरभाव को बढ़ावा देने के लिए इससे भी अच्छा कोई तरीका हो सकता है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। और सचमुच मुस्लिम लीग का पृथक संगठन का समय दिसंबर 1906 ही है।

बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि हिंदुओं की भरमार से मुसलमानों को बचाने के लिए पृथक चुनाव प्रणाली और पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था अनिवार्य थी। इस तर्क का खोखलापन उन्हीं दिनों स्थानीय सरकारी चुनावों में दिखाई पड़ गया। यह चुनाव संयुक्त चुनाव प्रणाली के पुराने आधार पर ही संपन्न हुए थे। इस प्रकार 1910 में संयुक्त प्रांत में दोनों संप्रदायों के संयुक्त मतदाताओं ने जिला बोर्डों के चुनावों में 189 मुसलमान तथा 445 हिंदू और नगरपालिकाओं के चुनावों में 310 मुसलमान और :62 हिंदू प्रतिनिधि भेजे जबकि कुल आबादी में मुसलमानों की संख्या.केवल 1/7 थी।

इन दोनों संप्रदायों के बीच वैरभाव पैदा करने के पीछे जो मकसद था वह सबसे ज्यादा स्पष्टता के साथ केवल अलग चुनाव क्षेत्रों और अलग प्रतिनिधित्व की प्रणाली से ही नहीं बल्कि इस बात से भी व्यक्त हुआ कि मुसलमानों को विशेष रूप से ज्यादा प्रतिनिधित्व दिया गया। भारयोजन के लिए एक भारी भरकम व्यवस्था तैयार कर दी गई। इस प्रकार मोर्ले मिंटो सुधारों के अंतर्गत मतदान का अधिकार पाने के लिए मुसलमानों के लिए यह जरूरी था कि वह कम से कम तीन हजार रुपये सालाना की आमदनी पर आयकर देता हो जबकि गैरमुसलमानों के लिए यह राशि कम से कम तीन लाख रुपये कर दी गई थी। इसके अलावा मतदान का अधिकार पाने के लिए मुसलमानों को तीन साल पुराना ग्रेजुएट होना चाहिए था जबकि गैरमुस्लिम लोगों के लिए तीस साल पुराना ग्रेजुएट होने की शर्त थी। कुल सीटों के मामले में भी मुसलमानों को इसी तरह की सुविधाएं दी गई थीं। यह तरीका अपनाकर सरकार विशेषाधिकार प्राप्त अल्पमत का समर्थन प्राप्त करने की आशा करती थी और यह प्रयत्न करती थी कि इससे बहुमत वाले लोग सरकार पर अपना गुस्सा उतारने की बजाय मुस्लिम अल्पमत पर ही अपना गुस्सा उतारते रहेंगे।

बाद के वर्षों में जो सांविधानिक योजनाएं बनीं उनमें यह व्यवस्था और व्यापक बनाई गई जिसकी चरम परिणति 1935 के संविधान में देखने को मिली। इस समय भी (1946) जो संविधान है उसमें यह व्यवस्था है कि नए संविधान की रचना के लिए प्रस्तावित संविधान सभा के चुनाव के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव का तरीका अपनाया जाए। 1935 के कानून में न केवल मुसलमानों के लिए बल्कि सिखों, ऐंग्लोइंडियनों और भारतीय ईसाइयों[3] के लिए तथा दलित वर्गों और यूरोपीयों, जमींदारों और उद्योगपतियों आदि के लिए भी अलग अलग चुनावक्षेत्रों की व्यवस्था कर दी गई। संघीय धारासभा में कुल 250 सीटों में से 82 सीटें अर्थात एक तिहाई स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित थे हालांकि मुसलमानों की आबादी देश की कुल आबादी की चौथाई से भी कम थी। दूसरी ओर आबादी के अधिकांश के लिए केवल 105 अर्थात 40 प्रतिशत 'आम सीटें'

रखी गई थीं और इनमें से भी 19 सीटें 'अनुसूचित जातियों' (दलितवर्ग) के लिए सुरक्षित थीं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने चुनाव के मामले में जो गोलमाल किया था उसका यही गुणगान है।[4]

चुनाव के संदर्भ में जो नीति बरती जा रही थी वैसी ही नीति का समूचे प्रशासन प्रबंध में भी पालन किया जा रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि सांप्रदायिक विरोध बहुत ज्यादा बढ़ गया। सांप्रदायिक विरोधों को शोषण और साम्राज्यवादी शासन की व्यवस्था की रक्षा के लिए बढ़ावा दिया जाता था लेकिन उनके पीछे कुछ सामाजिक और आर्थिक प्रश्न भी थे। यह बात उस समय और भी ज्यादा स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है जब मध्यवर्गीय सांप्रदायिक तत्व सरकारी पद या नौकरी के लिए एक दूसरे से होड़ लगाए होते हैं। जहां सांप्रदायिक कठिनाइयां आम जनता तक पहुंच गई हैं वहां भी यह बात इतनी ही स्पष्ट है। बंगाल और पंजाब में जो हिंदू वर्ग रहता है उसमें ज्यादातर धनी जमींदार, व्यापारी और महाजन भी शामिल हैं जबकि मुसलमान लोग बहुधा गरीब किसानों के रूप में हैं और स्थानीय महाजनों के कर्जदार हैं। दूसरे मामलों में हिंदू किसानों के बीच बड़े जमींदारों के रूप में मुसलमान पाए जाते हैं। बार बार जिसे 'सांप्रदायिक झगड़ा' या 'सांप्रदायिक विद्रोह' कहा गया है उसके पीछे हिंदू जमींदारों के खिलाफ मुसलमान किसानों का संघर्ष रहा है अथवा हिंदू महाजनों के खिलाफ मुसलमान कर्जदारों का संघर्ष रहा है अथवा हड़ताल तोड़ने के लिए बाहर से बुलाए गए पठानों के खिलाफ हिंदू मजदूरों का कोई संघर्ष रहा है। यह बात भी काफी महत्वपूर्ण है कि जब कभी किसी औद्योगिक केंद्र में मजदूरवर्ग आगे बढ़ा है तो वहां सांप्रदायिक दंगे करा दिए गए हैं (जिसमें कुछ अज्ञात लोगों का हाथ रहता है) और पुलिस को मजदूरों की भीड़ पर गोलियां चलाने का मौका मिल जाता है। इन घटनाओं की मिसाल 1929 में बंबई में हुई महान हड़ताल के अवसर पर या 1938 में कानपुर में सफल हड़ताल के बाद 1939 की घटनाओं में देखी जा सकती है। प्रतिक्रियावादियों की तिकड़में और उनके सामाजिक आर्थिक उद्देश्य बहुत स्पष्ट थे, वे चाहते थे कि मजदूरवर्ग की एकता को छिन्न भिन्न कर दिया जाए।[5]

भारत की हिंदू मुसलमान जनता के दो अलग अलग लक्ष्य नहीं हो सकते और न हैं। मुसलमानों की गरीबी और गुलामी तथा हिंदुओं की गरीबी और गुलामी अलग अलग चीजें नहीं हैं बल्कि वे समूचे भारत की गरीबी और गुलामी हैं। भारत के हजारों लाखों गांवों में हिंदुओं और मुसलमानों की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा एक जैसी जमींदारी प्रथा के बोझ के नीचे पिस रहा है, एक जैसे सूदखोर महाजनों की लूट का शिकार हो रहा है, एक जैसे साम्राज्यवाद के दमन का शिकार हो रहा है और इन दोनों वर्गों के बीच फूट डालने की कोशिशें वस्तुतः शोषण की इस व्यवस्था को बरकरार रखने की कोशिशें हैं।

सांप्रदायिक समस्या का अंतिम समाधान सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के रास्ते पर चलकर ही होगा। मजदूर संगठनों और किसान संगठनों में हिंदू और मुसलमान दोनों बिना किसी भेदभाव के शामिल हो रहे हैं (और पृथक निर्वाचन पद्धति की जरूरत महसूस किए बिना), वर्गीय एकता और एक जैसी सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताएं सांप्रदायिक तथा जातपात के भेदभाव की नकली सीमाओं को तोड़ डालती हैं। सांप्रदायिक समस्या को अंतिम तौर पर हल करने का रास्ता यहीं से शुरू होता है। आम जनता के हितों के आधार पर जब जनआंदोलन आगे बढ़ेगा और सामान्य जनवादी आंदोलन की प्रगति होगी तभी सांप्रदायिक वैरभाव भी अंतिम और पूर्ण रूप से समाप्त किया जा सकेगा।

धर्म के आधार पर भारत की जनता को कृत्रिम रूप से दो 'राष्ट्रों' में बांटने की कोशिश वस्तुतः एक प्रतिक्रियावादी और अव्यावहारिक कोशिश है तथा यह जनतांत्रिक स्वतंत्रता के हितों के विपरीत है। 1931 में राष्ट्रीय कांग्रेस ने अधिकारों के घोषणापत्र में राष्ट्रीय आंदोलन के लिए जिस बुनियादी नीति की स्थापना की थी वह जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव बिना सभी लोगों को समान जनवादी नागरिकता देने के बुनियादी सिद्धांत पर आधारित थी। इसके साथ ही इसमें सभी अल्पसंख्यकों को सांस्कृतिक संरक्षण देने तथा अपनी आत्मा की आवाज बेहिचक कहने की स्वतंत्रता देने की भी व्यवस्था थी।

लेकिन इसके साथ ही समस्या का पूरी तरह जनवादी समाधान ढूंढने के लिए अलग अलग-क्षेत्रों अथवा जातियों के स्वायत्त शासन या आत्मनिर्णय के अधिकार के दावों के नए उभरते सवालों पर विचार करना भी जरूरी है। हाल के दिनों में यह सवाल अस्थाई तौर पर हिंदू मुस्लिम सवाल के साथ उलझ गए हैं। इधर के कुछ वर्षों में मुस्लिम लीग का बढ़कर एक जनसंगठन का रूप ले लेना और पाकिस्तान नाम से एक अलग राज्य बनाने की मांग करना, इस विश्लेषण की अभिव्यक्ति करता है। हाल के वर्षों में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के संबंधों की समस्याएं बड़ी तेजी के साथ राजनीतिक रंगमंच पर सामने आई हैं। इन प्रश्नों का जल्दी से जल्दी समाधान हो जाना चाहिए क्योंकि जैसा हमने 1946 के कैबिनेट मिशन के समझौतों में देखा है, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच मौजूद मतभेदों को साम्राज्यवादियों ने अपनी नीति निर्धारित करने के लिए मुख्य उत्तोलक बना लिया है। इन प्रश्नों के समाधान के लिए इतना ही जरूरी नहीं है कि हिंदू मुस्लिम एकता का सामान्य लक्ष्य प्राप्त किया जाए और सांप्रदायिक वैरभाव समाप्त किया जाए बल्कि इसके साथ ही हाल में पैदा हुई विशेष नई राजनीतिक समस्याओं की जांच-पड़ताल करना और उनका समाधान ढूंढना जरूरी है।

3. बहुराष्ट्रवाद और पाकिस्तान

बहुराष्ट्रवाद और पाकिस्तान तथा कांग्रेस लीग एकता के ताजा सवालों पर आने से पहले

मुस्लिम लीग के विकास तथा कांग्रेस लीग संबंधों के इतिहास पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

मुस्लिम लीग की स्थापना दिसंबर 1906 में हुई थी। जैसा शुरू में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के मामले में हुआ था मुस्लिम लीग की स्थापना में भी अंगरेजों की सरकारी नीति की उल्लेखनीय भूमिका रही। ब्रिटेन के सरकारी क्षेत्रों ने यह आशा की कि सांप्रदायिक आधार पर मतदाताओं का विभाजन करने के साथ साथ मुसलमानों का यदि अलग से राजनीतिक संगठन बना दिया जाए तो राष्ट्रीय आंदोलन को छिन्न भिन्न किया जा सकता है और कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को कमजोर बनाया जा सकता है। उस समय एक अंगरेज अफसर ने वायसराय लार्ड मिंटो को लिखा था :

> महामहिम की सेवा में मुझे यह कहना है कि आज एक बहुत ही बड़ी घटना हो गई है। राजनीतिक निपुणता का आज एक ऐसा कमाल हो गया है जो आने वाले कई वर्षों तक भारत को और भारत की राजनीति को प्रभावित करेगा। दरअस्ल, आज जो काम हुआ है उससे 6 करोड़ 20 लाख लोगों को (मुसलमानों को) देशद्रोही विपक्ष (कांग्रेस) से मिलने से रोक दिया गया है। (लेडी मिंटो : 'इंडिया, मिंटो ऐंड मार्ले', 1934, पृष्ठ 47)

लेडी मिंटो ने आगे लिखा है कि लंदन की सरकार का भी काफी हद तक यही विचार था।

अपने शुरू के दिनों में मुस्लिम लीग एक ऐसा संकीर्ण सांप्रदायिक संगठन था जो मुख्यतया उच्चवर्ग के मुसलमान जमींदारों को आकर्षित करता था। लेकिन कांग्रेस की ही तरह जल्दी ही मुस्लिम लीग में भी साम्राज्यवादविरोधी राष्ट्रीय भावना अपना असर दिखाने लगी। 1913 के आते आते मुस्लिम लीग ने भारत के लिए 'ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर स्वराज्य' प्राप्त करने का अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने 'दूसरे संप्रदायों के साथ सहयोग' करने का एलान कर दिया था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौते की बातचीत शुरू हो गई थी और 1916 तक कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने लखनऊ संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। इस संधि में अलग अलग चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था को स्वीकार करने के साथ साथ यह भी घोषणा की गई थी कि दोनों संस्थाओं का समान लक्ष्य भारत को डोमीनियन का दर्जा दिलाना है और इसकी प्राप्ति के लिए दोनों संस्थाएं प्रयास करेंगी।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग का एक संयुक्त अधिवेशन लखनऊ में हुआ। कांग्रेस अधिवेशन में तिलक ने कहा :

> उपस्थित सज्जनो, कुछ लोगों द्वारा यह कहा जाता है कि हम हिंदू लोग अपने मुसलमान भाइयों के सामने बहुत अधिक झुक गए हैं। मेरा विश्वास है कि मैं देशभर के हिंदूओं की ओर से यह कह सकता हूं कि यह कहना गलत है कि हम जरूरत से ज्यादा झुक गए हैं… जब हमें किसी तीसरे पक्ष से लड़ना हो तो यह बहुत बड़ी बात है, यह बहुत महत्वपूर्ण घटना है कि आज हम इस मंच पर एक साथ खड़े हुए हैं, हम नस्ल, धर्म तथा राजनीतिक विचारों के सभी भेदभाव भूलकर यहां इकट्ठे हुए हैं।

इसी प्रकार लीग के नेता मोहम्मद अली जिन्ना ने, जिन्होंने उस समय कांग्रेस लीग एकता के लिए काफी सक्रियता दिखाई थी, लीग के अधिवेशन में अध्यक्ष पद से कहा :

> मैं पूरी जिंदगी कट्टर कांग्रेसी रहा हूं और सांप्रदायिक नारों से मुझे कभी लगाव नहीं रहा। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि मुसलमानों पर कभी कभी अलगाव का जो आरोप लगाया जाता है वह बिल्कुल गलत है। खासतौर पर जब मैं यह देखता हूं कि यह महान सांप्रदायिक संगठन एक संयुक्त भारत के जन्म के लिए बड़ी तेजी के साथ एक बड़ी ताकत बनती जा रही है तो ये आरोप मुझे और भी गलत लगते हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो तूफानी उभार आया उसमें हिंदू मुस्लिम एकता पहले से भी ज्यादा मजबूत हुई। गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस और जुझारू मुस्लिम नेताओं की खिलाफत समिति, जिसका नेतृत्व अली बंधुओं ने किया था, के बीच संयुक्त मोर्चा कायम हो गया। दोनों संस्थाओं ने संयुक्त रूप से सरकार के खिलाफ ऐसा मोर्चा कायम किया जो स्वराज्यप्राप्ति के लिए संघर्ष छेड़ सके। सड़कों पर हिंदू मुस्लिम एकता के जोश भरे नारे सुनाई देने लगे। 1919 की सरकारी रिपोर्ट को मजबूर होकर यह स्वीकार करना पड़ा कि 'हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अभूतपूर्व भाईचारा कायम हो गया है…दोनों संप्रदायों के बीच मैत्री के असाधारण दृश्य दिखाई देने लगे हैं।'

राष्ट्रीय उभार के इस महान युग में मुस्लिम नेताओं और मुस्लिम जनता ने भी कांग्रेस के साथ साथ अपने जुझारूपन का परिचय दिया। अली बंधुओं और हुसैन मदानी जैसे मुस्लिम नेताओं ने सैनिकों को राजद्रोह करने की शिक्षा दी और इसके लिए उन्हें छः वर्ष कैद की सजा सुनाई गई। मालाबार के मोपला किसान अपने आप ही जमींदारों तथा साम्राज्यवादियों के दमन के खिलाफ उठ खड़े हुए, उन्होंने बड़ी बहादुरी के साथ लड़ाई लड़ी और आश्चर्यजनक वीरता तथा संघर्ष और बलिदान की क्षमता का परिचय दिया।

खिलाफत कमेटी के नेताओं ने ही सबसे पहले यह मांग उठाई थी कि स्वराज की व्याख्या पूर्ण स्वाधीनता के रूप में की जाए। 1921 में अहमदाबाद में मौलाना हसरत मोहानी ने

यह मांग उठाई थी। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि गांधी ने इसका विरोध किया था और कहा था कि 'इस मांग से मुझे बेहद अफसोस हुआ है क्योंकि इससे गैरजिम्मेदारी की भावना प्रकट होती है।' इसी प्रकार 1919 में मुस्लिम लीग ने अपने अमृतसर अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास किया था कि भारत के मुसलमानों को फौज में भरती नहीं होना चाहिए।

जून 1922 में खिलाफत कमेटी और जमियत उल उलमा का एक संयुक्त अधिवेशन लखनऊ में हुआ जिसमें यह प्रस्ताव पास किया गया कि 'भारत और मुसलमानों, दोनों के हित में यह है कि कांग्रेस के घोषित लक्ष्य में 'स्वराज्य' शब्द के स्थान पर 'पूर्ण स्वाधीनता शब्द रख दिए जाएं। दुर्भाग्यवश उन दिनों कांग्रेस के नेताओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और अपने विरोध के पक्ष में यह तर्क दिया कि इससे 'कांग्रेस के संविधान में बुनियादी परिवर्तन' हो जाएगा।

कांग्रेस और खिलाफत कमेटी के बीच जो एकता कायम हुई थी वह बनी नहीं रह सकी। गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा आंदोलन को अचानक बीच में ही रोक दिए जाने से दोनों गुटों में फूट पड़ गई। फरवरी 1922 में जब गांधी ने असहयोग आंदोलन बंद किया तो खिलाफत कमेटी के सभी नेताओं ने इस तरह से संघर्ष को रोक देने का विरोध किया।

इसके बाद के वर्ष निराशा के वर्ष थे जिसने एक बार फिर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अलगाव तथा हिंदू और मुसलमानों के बीच वैरभाव का रास्ता खोल दिया। साम्राज्यवादियों को यह अवसर अपने लिए काफी अनुकूल लगा और उन्होंने इसका भरपूर फायदा उठाया। बाद के वर्षों में यह देखा गया कि जहां आजादी के लिए मिलजुलकर संघर्ष हो रहे थे वहां अब जबरदस्त सांप्रदायिक दंगे होने लगे हैं। सांप्रदायिक प्रतिक्रियावाद पूरी तरह हावी हो गया। 1925 में मुस्लिम लीग के विरोध में अखिल भारतीय पैमाने पर हिंदू महासभा का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष लाला लाजपतराय चुने गए। 1927 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने मिलकर साइमन कमीशन का बहिष्कार किया लेकिन 1928 के सर्वदलीय सम्मेलन में समझौता कराने की सारी कोशिशें विफल हो गईं।

इस प्रकार 1937 में जब प्रांतीय विधानसभाओं के चुनाव हुए तो कांग्रेस और मुस्लिम लीग एक दूसरे के विरोध में मैदान में आ डटे। ये चुनाव 1935 के नए विधान के अंतर्गत पहली बार कुछ अधिक व्यापक मताधिकार के आधार पर हुए थे। इन चुनावों में आम सीटों में से ज्यादातर और प्रांतों की विधानसभाओं की कुल सीटों में से लगभग आधी सीटें (1585 सीटों में से 711 सीटें) कांग्रेस को मिलीं लेकिन मुस्लिम सीटों में से उसे विशेष सफलता नहीं मिली। कांग्रेस ने 482 मुस्लिम सीटों में से केवल 58 के लिए चुनाव लड़ा और उनमें से महज 26 सीटों पर उसे सफलता मिली (इनमें से 15 उसे सरहदी सूबे में और 11 सीटें देश के बाकी हिस्से में मिलीं)। दूसरी तरफ मुस्लिम लीग को इस

कारण बहुत कम सफलता मिली क्योंकि मुसलमानों के अलग अलग गुट बन गए थे और उनमें गहरी फूट थी। मुस्लिम लीग को कुल मुस्लिम वोटों का केवल 4.6 प्रतिशत भाग ही मिल सका (चुनाव में मुसलमानों के कुल 7,319,445 वोट थे जिनमें से मुस्लिम लीग को केवल 321,772 वोट मिले)।

1937 के चुनावों के बाद मुस्लिम नेताओं ने कांग्रेस के नेताओं से अनौपचारिक तौर पर प्रांतीय मंत्रिमंडलों के संबंध में तथा सीटों के निर्धारण के बारे में समझौता करने की कोशिश की। लेकिन इस समय कांग्रेस यह महसूस कर रही थी कि उसकी स्थिति काफी मजबूत है और इसलिए उसने मुस्लिम लीग के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, राजनीतिक भूमिका निभाने के मुस्लिम लीग के हर दावे को ठुकरा दिया और खुद यह दावा किया कि कांग्रेस ही समूचे देश की प्रतिनिधि संस्था है। जनवरी 1937 में नेहरू ने जिन्ना के नाम एक खत लिखा जिसमें उन्होंने कहा :

> अंतिम विश्लेषण में भारत में आज केवल दो ही शक्तियां हैं, ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था कांग्रेस… मुस्लिम लीग मुसलमानों के एक गुट का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें नि:संदेह काफी महत्वपूर्ण लोग हैं लेकिन मुस्लिम लीग का काम केवल उच्च मध्यवर्ग के लोगों तक ही सीमित है और उसका मुस्लिम जनता से कोई आम संपर्क नहीं है। मुसलमानों के निम्न मध्यवर्ग से तो उसका बहुत कम संपर्क है।

इसके बाद कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच बहुत जबरदस्त संघर्ष छिड़ गया। मुस्लिम लीग ने जिन्ना के कुशल नेतृत्व में अपने संगठन को मजबूत बनाने का बीड़ा उठा लिया और इसने मुस्लिम जनता में अपनी गहरी पैंठ बनानी शुरू कर दी। इसने इधर उधर फैले विभिन्न असंतुष्ट मुस्लिम दलों और संगठनों को अपने में मिलाने की कोशिश की ताकि मुस्लिम लीग भारत में रहने वाले मुसलमानों की प्रमुख संस्था बन जाए। यह नीति असफल नहीं रही। 1937 से 1945 के बीच मुस्लिम लीग की स्थिति में और उसकी सापेक्षिक शक्ति में निर्णायक परिवर्तन हो गया। मुसलमानों ने अधिक से अधिक संख्या में इस संस्था का समर्थन करना शुरू किया। 1927 में मुस्लिम लीग के सदस्यों की कुल संख्या 1330 थी जो लीग द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार 1938 में लाखों तक पहुंच गई और 1944 में तो लीग ने आधिकारिक तौर पर यह दावा किया कि उसके सदस्यों की संख्या 20 लाख हो गई है। 1946 के चुनावों से इस बदली हुई स्थिति का पता चला। केंद्रीय और प्रांतीय विधानसभाओं के चुनावों में कुल 533 मुस्लिम सीटों में से 460 पर मुस्लिम लीग को सफलता मिली। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन वर्षों में मुस्लिम लीग ने खुद को भारतीय मुसलमानों के सबसे बड़े राजनीतिक संगठन के रूप में स्थापित कर लिया है।

वे कौन से कारण थे जिनसे इन वर्षों में मुस्लिम लीग का जनता पर इतना जबरदस्त प्रभाव बढ़ा ? इसके कई कारण ढूंढ़े जा सकते हैं। पहली बात तो यह है कि पिछले दशक की राजनीतिक गतिविधियों का असर यह हुआ था कि जनता के नए हिस्से, जो अभी तक पिछड़े हुए थे, राजनीति में खिच आए थे और उनके अंदर राजनीतिक चेतना का प्राथमिक रूप में संचार हो गया था। इन्हीं वर्षों के दौरान कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों की ताकत में तेजी से वृद्धि हुई। 1935-36 से 1938-39 के बीच कांग्रेस के सदस्यों की संख्या में 9 गुनी वृद्धि हुई और वह 44 लाख तक पहुंच गई लेकिन इनमें मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। जनवरी 1938 में नेहरू द्वारा जारी किए गए एक प्रेस वक्तव्य के अनुसार कांग्रेस के 31 लाख सदस्यों में से केवल एक लाख अर्थात 3.2 प्रतिशत सदस्य मुस्लिम संप्रदाय के हैं। मुसलमानों के जिस विशाल बहुमत में नई राजनीतिक चेतना का संचार हुआ था उसने राजनीतिक संगठन के रूप में मुस्लिम लीग में शामिल होना पसंद किया था।

दूसरी बात यह है कि खुद मुस्लिम लीग के अंदर नौजवानों और प्रगतिशील तत्वों का एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया था जो एक जनतांत्रिक कार्यक्रम को लेकर आगे बढ़ रहा था और जिसका विरोध संगठन के ऊपरी पदों पर बैठे पुराने प्रतिक्रियावादी नेता कर रहे थे। कुछ जिलों और प्रांतों, जैसे पंजाब और बंगाल, में ये नौजवान जनता के सामाजिक और आर्थिक मसलों के बारे में सक्रिय रूप से अभियान कर रहे थे और अपने इस अभियान के जरिए उन्हें गरीब मुसलमान वर्ग का समर्थन प्राप्त हो रहा था। इस नीति की सफलता 1946 में पंजाब के चुनाव में साबित हुई जहां मुस्लिम लीग के हमले के सामने वहां की पुरानी प्रमुख पार्टी यूनियनिस्ट पार्टी को जबरदस्त मात खानी पड़ी।

तीसरी बात यह है कि मुस्लिम लीग का जनता के बीच जो प्रभाव बढ़ा और कांग्रेस संगठन में जो बहुत कम मुसलमान आए उससे निस्संदेह रूप से कांग्रेस की कुछ राजनीतिक, संगठनात्मक और कार्यनीति संबंधी कमजोरियां भी सामने आईं। कांग्रेस का बुनियादी लक्ष्य यह रहा है कि हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को इस संगठन में शामिल किया जाए। लेकिन व्यवहार में देखें तो सदस्य संख्या के संदर्भ में यह लक्ष्य कभी प्राप्त नहीं किया गया। हमने पहले ही देखा है कि किस प्रकार 1922 में जब असहयोग आंदोलन अपने सर्वोच्च बिंदु पर पहुंच गया था तब उसे अचानक रोक देने से कांग्रेस और खिलाफत कमेटी के संयुक्त मोर्चे से कायम एकता पर जबरदस्त आघात पहुंचा था। प्रांतों में कांग्रेस के मंत्रि-मंडल बनने के काल में लीग द्वारा प्रस्तावित समझौते की योजना को कांग्रेस द्वारा ठुकराने से यह पता चलता है कि उस समय मुस्लिम लीग की शक्ति को कांग्रेस बहुत कम करके आंकती थी। बाद के वर्षों में यही बात मुस्लिम लीग के हाथ में एक जबरदस्त हथियार बन गई थी जिसके जरिए कांग्रेसविरोधी प्रचार आसानी से हो जाता था। युद्ध के दौरान और युद्ध शुरू होने से पहले की जटिल राजनीतिक स्थिति में कांग्रेस के नेताओं ने बहुत ज्यादा उलझनों, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों और ढुलमुलपन का परिचय दिया (सुभाषचंद्र बोस

को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया और फिर कांग्रेस से ही उन्हें निकाल दिया गया। युद्ध के साम्राज्यवादी दौर में निष्क्रियता दिखाई गई। ऐसी नीति का पालन किया गया जिसमें कहा गया कि युद्ध के प्रयासों की न तो हम मदद करेंगे और न उसका विरोध करेंगे। व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया गया। जिस समय जापानी सैनिक आगे बढ़ते आ रहे थे तब दुर्भाग्यपूर्ण अगस्त प्रस्ताव पास किया गया जिसके बाद समूचा नेतृत्व गिरफ्तार कर लिया गया। कठिन गैरकानूनी परिस्थितियां पैदा हो गईं और छिटपुट उपद्रव की घटनाएं हुईं जिन्हें नेतृत्व ने उस समय अस्वीकार किया और बाद में उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष का नाम देकर सराहा गया)। युद्ध के कारण देश को आर्थिक कठिनाइयों और अकाल का सामना करना पड़ा लेकिन कांग्रेस के नेताओं ने इन मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए जनता का नेतृत्व नहीं किया। इसके फलस्वरूप युद्ध के अंतिम चरण में राजनीतिक विघटन हुआ और जनता का मनोबल गिरा। इस प्रकार इस दौरे में संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन की अपील पर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया।

मुस्लिम लीग के विकास के पीछे सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि कांग्रेस ने गंभीरता के साथ मुस्लिम जनता तक पहुंचने और उससे अपील करने की कभी कोई कोशिश नहीं की। इसका सबूत यह था कि सरहदी सूबे में जहां पर अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में खुदाई खिदमतगारों ने जनता के बीच गंभीरता के साथ काम किया, वहां की स्थिति अन्य स्थानों की तुलना में बिलकुल भिन्न थी और वहां के मुसलमान पूरी निष्ठा के साथ कांग्रेस में थे। यह भी सही है कि कांग्रेस का कार्यक्रम हालांकि असांप्रदायिक था और इस संगठन में अनेक प्रमुख देशभक्त मुसलमान शामिल थे फिर भी कांग्रेस के काफी प्रचार में तथा खासतौर पर दक्षिणपंथी नेताओं और गांधी के प्रचार में हिंदू धर्म की एक गंध बनी रहती थी जो मुसलमान जनता को कांग्रेस की ओर आकर्षित होने से रोक देती थी।

राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख नेताओं पर इसकी बहुत गंभीर जिम्मेदारी है। हमने पहले ही देखा है कि युद्ध के पूर्व भारत में राष्ट्रीय जागरण की जो पहली बड़ी लहर आई थी, उसमें तिलक, अरविंद घोष तथा अन्य जुझारू नेताओं ने हिंदू धर्म को अपने प्रचार का आधार बनाया था और इस बात की कोशिश की थी कि राष्ट्रीय जागरण को हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के साथ मिला दिया जाए। इसका नतीजा यह हुआ कि मुस्लिम जनता राष्ट्रीय आंदोलन की धारा से अलग पड़ गई और सरकार को इस बात का अवसर मिल गया कि वह 1906 में मुस्लिम लीग का गठन होने दे।

यह घातक गलती पुरातनकाल के राष्ट्रवादियों या तथाकथित 'उग्रपंथियों' तक ही सीमित नहीं रही। आधुनिक काल में भी यह गलती जारी रही और गांधी के समूचे आंदोलन तथा प्रचार में इस गलती की गंभीर छाप देखी जा सकती है। गांधी के समूचे प्रचार में एक तरफ तो हिंदूवाद और उनकी धार्मिक धारणाओं का उपदेश दिया गया है तथा दूसरी तरफ आम राजनीतिक उद्देश्यों की बात कही गई है। इस प्रकार गांधी ने राजनीति और

धर्म की धारणाओं को बुरी तरह उलझा दिया। 1920-22 में जब राष्ट्रीय असहयोग आंदोलन काफी जोर पर था और इस संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन के नेता के रूप में जनता के सामने गांधी थे और जब उनपर यह जिम्मेदारी थी कि वह जो भी कहें वह एक संयुक्त आंदोलन के नेता को शोभा देने योग्य हो, उस समय उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की थी कि वह 'सनातनी हिंदू' हैं (यह एक तरह का उग्रवाद था)। उन्होंने खुलेआम यह कहा था :

> मैं अपने को सनातनी हिंदू कहता हूं क्योंकि :—
>
> 1. मैं वेदों, उपनिषदों, पुराणों और समस्त हिंदू शास्त्रों में विश्वास करता हूं और इसीलिए अवतारों तथा पुनर्जन्म में भी मेरा विश्वास है।
> 2. मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूं। इसे मैं उन अर्थों में मानता हूं जो पूरी तरह वेदसम्मत हैं लेकिन उसके वर्तमान प्रचलित और भौंड़े रूप को मैं नहीं मानता।
> 3. मैं प्रचलित अर्थों से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में गाय की रक्षा में विश्वास करतां हूं।
> 4. मूर्तिपूजा में मेरा अविश्वास नहीं है।
>
> (यंग इंडिया में गांधी का लेख, 12 अक्तूबर 1921)

'सनातनी' शब्द का अर्थ साधारण जनता क्या समझती है यह जानने के लिए नेहरू के इस कथन को याद कर लेना पर्याप्त होगा :

> सनातनी लोग जिस रफ्तार से पीछे की तरफ चल रहे हैं उससे हिंदू महासभा मात खा गई है। सनातनियों में धार्मिक कट्टरता के साथ साथ ब्रिटिश सरकार के प्रति बहुत तेज या कम से कम काफी जोरदार शब्दों में प्रकट की जाने वाली वफादारी भी होती है। (जवाहरलाल नेहरू : 'आत्मकथा', पृष्ठ 382)

यहां तक कि हिंदू मुस्लिम एकता के लिए अपील करते समय भी गांधी एक ऐसे राष्ट्रीय नेता के रूप में नहीं बोलते थे जो दोनों संप्रदायों में एकता की भावना पदा करता हो। वह हमेशा एक हिंदू नेता के रूप में बोलते थे, हिंदुओं को वह 'हम लोग' और मुसलमानों को 'वे लोग' कहते थे।

> यदि हमें मुसलमानों के दिलों को जीतना है तो हमें आत्मशुद्धि के लिए तपस्या करनी होगी। (यंग इंडिया में गांधी का लेख, सितंबर 1924)

आधुनिक राष्ट्रीय संघर्ष के किसी भी दौर में गांधी कांग्रेस की राजनीति को छोड़कर हिंदू

धर्म का सुधार आंदोलन शुरू कर सकते थे (जैसा उन्होंने 1932-33 में संघर्ष के संकट-पूर्ण दौर में किया था) और सुधार आंदोलन को छोड़कर फिर कांग्रेस की राजनीति में आ सकते थे।

इस प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधि नेता और जनता की निगाहों में इसका मुख्य प्रतिनिधि हमेशा हिंदू धर्म तथा हिंदू पुनरुत्थान के एक सक्रिय नेता के रूप में लोगों के सामने आता रहा। फिर इसमें आश्चर्य क्या यदि ऐसी परिस्थिति में (और जहां इस संदर्भ में मुख्य अपराध गांधी का था वहां यह भी सच है कि कांग्रेस के बहुत से छोटे नेता और खासकर वे लोग जो गांधीवाद से प्रेरणा लेते थे, इन्हीं तरीकों का प्रयोग करते थे) और कांग्रेस के ऐसे नेताओं तथा ऐसे प्रचार के अस्तित्व में होने के कारण केवल दुश्मन आलोचक ही नहीं बल्कि साधारण जनता का भी एक बड़ा हिस्सा कांग्रेस को 'हिंदू आंदोलन' समझता था ? यदि इन सारी चीजों के बावजूद कुछ चुने हुए मुसलमान नेता हमेशा निष्ठापूर्वक कांग्रेस के साथ चलते रहे तो इसका श्रेय उनकी राष्ट्रभक्ति को है। लेकिन ये तरीके ऐसे नहीं थे जिनसे आम मुसलमान जनता कांग्रेस के साथ आ जाती।

ब्रिटिश सरकार ने सांप्रदायिक फूट से भरपूर फायदा उठाया और जनता के आंदोलन के विरुद्ध निस्संदेह एक घृणित अस्त्र के रूप में इस फूट का इस्तेमाल किया। लेकिन ब्रिटिश सरकार के हाथों में यह अस्त्र तिलकवाद और गांधीवाद ने दिया था।

फिर भी, इन सबके अलावा एक और विशेष कारण है जिससे जनता पर मुस्लिम लीग का प्रभाव बढ़ा खासतौर पर 1940 में पाकिस्तान का कार्यक्रम स्वीकार कर लेने के बाद। पाकिस्तान के कार्यक्रम के जरिए शुरू शुरू में यह मांग की गई थी कि मुसलमानबहुल पश्चिमी और उत्तर पूर्वी भारत के इलाकों में अलग से प्रभुसत्तासंपन्न राज्यों की स्थापना की जाए। पाकिस्तान का कार्यक्रम क्या था इसपर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे। प्रभुसत्तासंपन्न राज्यों की जो मांग थी वह आगे चलकर छः प्रांतों के एक अलग स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की मांग में तब्दील हो गई। इस कार्यक्रम की आलोचना के लिए बड़े ठोस आधार हैं। लेकिन इधर हाल के वर्षों में जिस तरह यह कार्यक्रम राजनीतिक रंगमंच पर सामने आया और इन इलाकों की मुसलमान जनता ने उसका जिस तरह समर्थन किया उससे स्पष्ट है कि यह कार्यक्रम एक हद तक जनता की उचित भावनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करता था भले ही उसका स्वरूप काफी उलझा हुआ क्यों न हो। पाकिस्तान की मांग और जनता द्वारा इस मांग को मिले जबरदस्त समर्थन के पीछे यह देखा जा सकता है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक नया तत्व सक्रिय हो उठा था।

राष्ट्रीय आंदोलन जैसे जैसे जनता के बीच व्यापक रूप ले रहा था वैसे वैसे वह राष्ट्रीय चेतना के नए स्वरूपों को ऊपर ला रहा था और भारतीय जनता के विभिन्न राष्ट्रीय तत्व

इन स्वरूपों से अभिव्यक्ति पा रहे थे। जिन राष्ट्रीय समूहों में खासतौर पर उत्तर पश्चिमी तथा उत्तर पूर्वी भारत के राष्ट्रीय समूहों में जहां आबादी पर मुस्लिम धर्म का काफी प्रभाव था एक हद तक पाकिस्तान का नारा इस नई बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना को एक विकृत रूप में व्यक्त कर रहा था। राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ साथ भारतीय जनता का बहुजातीय स्वरूप तेजी के साथ स्पष्ट होता जा रहा था और स्तालिन ने 1912 में ही इस भावी स्थिति का अनुमान लगा लिया था : 'संभवत: भारत में भी यह देखा जाएगा कि असंख्य जातियां जो अभी तक सोती रही हैं, बुजुर्आ विकास के आगे बढ़ने पर जग उठेंगी।'

साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वाधीनतासंघर्ष में भारतीय जनता की एकता और भविष्य के स्वतंत्र भारत को आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से एकजुट बनाए रखने के प्रगतिशील लक्ष्य से यह नतीजा नहीं निकाल लेना चाहिए कि भारत की जनता कोई एकरूप इकाई है। इसके बदले आवश्यकता इस बात की है और इसके बहुत स्पष्ट तथा ठोस आधार हैं कि हम भारतीय जनता के बहुजातीय स्वरूप को स्वीकार करें। वस्तुत: कांग्रेस ने इन जातीय समूहों को उसी समय आंशिक रूप से मान्यता दे दी थी जिस समय उसने अंगरेजों द्वारा मनमाने ढंग से बनाए गए प्रांतों की जगह पर सांस्कृतिक और भाषायी प्रांतों को स्वीकार किया था और यह माना था कि भविष्य में स्वतंत्र भारत के संविधान में इन प्रांतों को पूरी पूरी स्वायत्तता प्रदान की जाएगी। लेकिन इस अवधि के दौरान कांग्रेस ने इन समूहों के जातीय स्वरूप को नहीं माना और उनको आत्मनिर्णय का पूर्ण अधिकार देने का विरोध किया। फिर भी भारतीय जनता के बहुजातीय स्वरूप के इस प्रश्न को और मुस्लिम लीग द्वारा की गई पाकिस्तान की मांग को बिलकुल अलग अलग चीजों के रूप में देखना चाहिए और उनके भेद को समझना बहुत जरूरी है।

पाकिस्तान की मांग को (हालांकि इसे अभी तक नाम नहीं दिया गया था) मुस्लिम लीग ने सबसे पहले 1940 में अपनाया था। इससे पहले चौथे दशक में कुछ लोगों ने जब यह मांग की थी (1930 में उर्दू के शायर इकबाल ने और 1933 में कैंब्रिज में कुछ छात्रों ने यह मांग उठाई थी) तो मुस्लिम लीग के राजनीतिक नेताओं ने इस मांग को नामंजूर कर दिया था। 1933 में सांविधानिक सुधारों की संयुक्त समिति के सामने बयान देते हुए उन्होंने कहा था कि यह 'विद्यार्थियों का एक सपना' तथा 'अव्यावहारिक' है। 1937 में भी मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में संगठन का यह लक्ष्य स्वीकार किया गया था कि मुस्लिम लीग 'भारत में पूर्ण स्वतंत्र जनतांत्रिक राज्यों के एक संघ के रूप में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना के लिए काम करेगी।' लेकिन 1940 में मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन ने यह प्रस्ताव पास किया :

> यह तय किया जाता है कि आल इंडिया मुस्लिम लीग के इस अधिवेशन की राय में इस देश में कोई भी सांविधानिक योजना उस समय तक अमल में नहीं लाई जा

सकती या ऐसी किसी योजना को मुसलमानों की स्वीकृति नहीं प्राप्त हो सकती जब तक कि वह इन बुनियादी सिद्धांतों के अनुसार नहीं बनाई जाती, भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के आसपास की इकाइयों को अलग करके और उनकी चौहद्दियों में आवश्यक परिवर्तन करके ऐसे प्रदेश बना दिए जाएं ताकि जिन इलाकों में संख्या की दृष्टि से मुसलमानों का बहुमत हो, जैसे भारत के उत्तर पश्चिमी और उत्तर पूर्वी इलाके, उन मुस्लिम बहुमत के इलाकों को मिलाकर ऐसे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की जाए जिनमें सम्मिलित इकाइयों को स्वायत्त शासन का अधिकार हो तथा प्रभुसत्ता प्राप्त हो।

बाद में इस अस्पष्ट प्रस्ताव की जबरदस्त व्याख्या की गई। 10 दिसंबर 1945 को एक भेंटवार्ता में जिन्ना ने लीग की मांग की इन शब्दों में व्याख्या की :

भारत में गतिरोध, भारत और अंगरेज के बीच में उतना ज्यादा नहीं है। वह हिंदू कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच है।…जब तक पाकिस्तान की स्थापना नहीं होती तब तक कोई समस्या न हल हो सकती है और न होगी संविधान निर्माण के लिए एक नहीं बल्कि दो संस्थाओं का गठन करना होगा, एक संस्था हिंदुस्तान का संविधान बनाएगी और दूसरी संस्था पाकिस्तान के संविधान के बारे में फैसला करेगी और उसकी रचना करेगी।

भारत का मसला हम दस मिनट में हल कर सकते हैं बशर्ते मिस्टर गांधी कह दें कि मैं पाकिस्तान के निर्माण के लिए राजी हूं, मैं इस बात के लिए राजी हूं कि एक चौथाई भारत जिसमें सिंध, बलूचिस्तान, पंजाब, सरहदी सूबा, बंगाल और असम शामिल हैं, अपनी मौजूदा सीमाओं के साथ पाकिस्तान नामक नए राज्य का निर्माण करें।

यह भी संभव है कि आबादी की अदला बदली करनी पड़े लेकिन इसके लिए यह जरूरी है कि लोग स्वेच्छा से इसके लिए तैयार हों। सीमाओं में निस्संदेह कुछ फेरबदल करना पड़ेगा…ये सारी चीजें संभव हैं लेकिन पहले यह मानना जरूरी है कि इन प्रांतों की वर्तमान सीमाएं भावी पाकिस्तान की सीमाएं होंगी। पाकिस्तान की हमारी सरकार संभवतः प्रांतों की स्वायत्तता पर आधारित एक संघीय सरकार होगी…

जहां तक मेरी बात है मुझे अंगरेज सरकार की ईमानदारी में कोई संदेह नहीं है लेकिन मुझे उन लोगों की ईमानदारी में पूरा शक है जो यह उम्मीद लगाए हैं कि भारत के मुसलमानों को पूरा पाकिस्तान दिए बिना ही कोई समझौता हो सकता है।

अंत में अप्रैल 1946 में मुस्लिम विधायकों के सम्मेलन में निम्न शब्दों मे पाकिस्तान की व्याख्या की गई :

> उत्तर पूर्व में बंगाल और असम का इलाका तथा उत्तर पश्चिम में पंजाब, सरहदी सूबा, सिंध और बलूचिस्तान के इलाके मुसलमानों के बहुमत से भरे हैं जिन्हें हम 'पाकिस्तान जोन' कह सकते हैं। इन्हें मिलाकर एक स्वतंत्र प्रभुसत्तासंपन्न राज्य बना दिया जाए।

पाकिस्तान का सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि हिंदू और मुसलमान दो अलग अलग 'जातियां' हैं। सारे भारत में और भारत के हर इलाके में हिंदू और मुसलमान भले ही मिलजुलकर रहते हों, भले ही हिंदू और मुसलमान एक ही परिवार के सदस्य हों लेकिन इस सिद्धांत के अनुसार वे दो अलग अलग 'जातियों' के लोग हैं। स्पष्ट है कि धर्म को जातीयता का आधार बनाने की यह कोशिश (और धर्म से संबंधित समान संस्कृति को भी आधार बनाने की कोशिश) जातीयता की प्रत्येक ऐतिहासिक तथा अंतर्राष्ट्रीय व्याख्या एवं अनुभव के विपरीत है। यह ठीक वैसे ही है जैसे यूरोप में रहने वाले कैथोलिकों को एक अलग जाति मान लिया जाए। और बेशक यदि इस तर्क को और बढ़ाएं तो हम इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि केवल मुसलमान होने से यदि जातीयता की परिभाषा निर्धारित होती है तो उत्तरी अफ्रीका से लेकर भारत तक के सभी मुसलमानों की एक जाति है और पाकिस्तान के सिद्धांत की अंतिम पूर्णाहुति सर्व इस्लामवाद (पान इस्लामिज्म) में होगी।

मार्क्स ने जाति या राष्ट्र की व्याख्या किस प्रकार की है इसका सारांश स्तालिन ने अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद तथा जातीय और औपनिवेशिक प्रश्न' में प्रस्तुत किया है। जाति हम उसे कहेंगे जिसका ऐतिहासिक विकास इस प्रकार हुआ हो कि उसमें भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन तथा मनोवैज्ञानिक गठन की एकता हो। इसमें स्तालिन ने यह महत्वपूर्ण बात और जोड़ दी थी कि 'इस बात पर जोर देना जरूरी है कि ऊपर बताई गई विशिष्टताओं में से कोई भी विशिष्टता जाति की व्याख्या करने के लिए अकेले पर्याप्त नहीं है। बल्कि अगर इन विशिष्टताओं में से एक भी अनुपस्थित है तो जाति जाति न रहेगी।'

इस जांच-पड़ताल से यह जाहिर है कि भारत के मुसलमानों को एक 'जाति' नहीं माना जा सकता। उनकी भाषाएं अलग हैं, उनके इलाके अलग हैं और उनकी संस्कृतियां अलग हैं। नस्ल की दृष्टि से उनमें अनेक तरह की विभिन्नताएं हैं। एक पठान और एक बंगाली मुसलमान के बीच जो एकमात्र समानता है वह धर्म की या पुरानी संस्कृति के कुछ अवशेषों की है। लेकिन जाति कहलाने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। पुराने रूसी साम्राज्य में रहने वाले यहूदियों के अलग अलग इलाके थे और उनकी अलग अलग

भाषाएं थीं लेकिन स्तालिन ने उनको एक अलग जाति मानने से इंकार किया और अपने पक्ष में उन्होंने यह दलील दी :

> उनके जीवन में यदि किसी तरह की समानता है तो वह यह है कि उनका धर्म एक है, उनकी जड़ एक है और उनमें जातीय स्वरूप के कुछ अवशेष पाए जाते हैं। इन सब बातों में कोई विवाद नहीं है। लेकिन क्या कोई गंभीरतापूर्वक यह कह सकता है कि जिस सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक वातावरण में ये यहूदी रहते हैं उससे ज्यादा ये मृत धार्मिक रीतियां और नष्ट हो रहे मनोवैज्ञानिक अवशेष उनके भाग्य का निर्णय करेंगे ?

यहां जो प्रश्न है वह केवल जाति की औपचारिक परिभाषा का प्रश्न नहीं है। यदि यह केवल शब्दावली देने का प्रश्न होता तो इसपर बहस करना बेकार था लेकिन यदि जाति का आधार धर्म को एक बार मान लिया जाएगा तो उसके राजनीतिक परिणाम बहुत ही गंभीर होंगे। चूंकि ठोस वास्तविकता में जाति केवल एक निश्चित इलाके में ही रह सकती है और चूंकि यह सिद्धांत धरती से नहीं उपजा है बल्कि इसे राजनीतिज्ञों ने तैयार किया है इसलिए इस कल्पित 'जाति' के लिए एक इलाका नकली तौर पर तैयार कर लेने की भी जरूरत पैदा हो जाती है। जैसे ही हम पाकिस्तान के भौगोलिक स्वरूप की जांच करते हैं, इस सिद्धांत की कमजोरी का पता चल जाता है।

जिन छः प्रांतों को 'उनकी वर्तमान सीमाओं के साथ' मिलाकर पाकिस्तान के निर्माण की बात कही गई थी उनकी कुल आबादी 10 करोड़ 70 लाख है। इनमें से मुसलमानों की संख्या 5 करोड़ 90 लाख अर्थात 55 प्रतिशत और गैरमुसलमानों की संख्या 4 करोड़ 80 लाख अर्थात 45 प्रतिशत है। इस प्रकार इस इस्लामी राज्य की लगभग आधी आबादी गैरमुसलमानों की होगी और लगभग 3 करोड़ 50 लाख अर्थात भारत के कुल मुसलमानों का तकरीबन 40 प्रतिशत हिस्सा पाकिस्तान के बाहर रह जाता है। इससे यह पता चलता है कि भारत की मिलीजुली हिंदू मुस्लिम आबादी की सांप्रदायिक समस्या को जबरन इलाके बांटकर हल करने की कोई कोशिश सफल नहीं हो सकती। पूर्वी पंजाब मुख्यतया गैरमुस्लिम क्षेत्र है। सिक्खों ने एलान किया है कि यदि पंजाब को किसी भी मुस्लिम राज्य में मिलाया गया तो वे उसका जबरदस्त विरोध करेंगे। कलकत्ता सहित पश्चिमी बंगाल भी गैरमुस्लिम इलाका है। असम में गैरमुस्लिम लोगों का बहुमत है और सरहदी सूबे में मुसलमान लोग काफी बड़ी संख्या में हैं जहां कांग्रेस का भी मजबूत गढ़ है।

इन इलाकों के राजनीतिक अलगाव के लिए जो दावे किए जा रहे हैं उनका औचित्य तभी ठहराया जा सकता है जब यह साबित कर दिया जाए कि इन इलाकों में रहने वाले लोगों का निर्णायक बहुमत इस तरह के अलगाव को पसंद कर रहा है। यहां बुनियादी मसला यह नहीं है कि गुलाम जनता स्वीकृत और मान्य राष्ट्रीय दावे की मांग कर रही

है। यह दावा उस तरह का नहीं है जैसाकि भारतीय जनता ने ब्रिटिश शासन से अपने को मुक्त करने के लिए किया है। यहां जिस दावे पर विचार किया जा रहा है वह बहुत ही विवादास्पद है। पाकिस्तान बनाने की मांग पिछले कुछ वर्षों में राजनीतिक सिद्धांतकारों ने उठाई है और उसे अत्यंत सांप्रदायिक शत्रुतापूर्ण स्थिति के बीच राजनीति में प्रवेश करा दिया है। इस दावे के विवादास्पद स्वरूप को देखते हुए और इन इलाकों में आबादी के अत्यंत विभाजित स्वरूप के कारण यह उचित होगा कि संबद्ध लोगों की आकांक्षाओं को भलीभांति जांचा जाए और इसके लिए जनमत संग्रह कराकर या जनतांत्रिक सलाह-मशविरे के ऐसे ही किसी उपाय के जरिए उनकी आकांक्षाओं को साबित किया जाए। यह प्रस्ताव (मुस्लिम बहुमतवाले इलाकों में जनमत संग्रह कराने का प्रस्ताव) सबसे पहले 1942 में सी० राजगोपालाचारी ने और 1944 में गांधी जिन्ना बातचीत में गांधी ने पेश किया था। लेकिन इस प्रस्ताव को मुस्लिम लीग की ओर से जिन्ना ने नामंजूर कर दिया। उन्होंने यह कहा कि पूरी तरह मुस्लिम बहुमतवाले जिलों को मिलाकर यदि पाकिस्तान की रचना की जाती है तो इससे एक 'नकली' 'विकृत और बंजर पाकिस्तान' की रचना होगी। दूसरी बात उन्होंने यह कही कि समूची जनता के बीच जनमत संग्रह कराने का अर्थ यह होगा कि मुसलमानों के रूप में मुसलमानों के आत्मनिर्णय के अधिकार का उल्लंघन किया जा रहा है। इसका अर्थ यह होगा कि इस तरह का कोई भी जनमत संग्रह मुसलमानों की 55 प्रतिशत आबादी के बीच ही सीमित रहेगा जिससे यह नतीजा निकलेगा कि आबादी का 28 प्रतिशत हिस्सा समूची जनता के लिए इस समस्या का समाधान कर देगा। जाहिर है कि कोई भी व्यक्ति, जिसका जनतांत्रिक सिद्धांतों में विश्वास है, इस तरह के प्रस्तावों का समर्थन नहीं करता। जनता की आकांक्षाओं की उपेक्षा करके और जनतांत्रिक समाधानों का विरोध करके अल्टीमेटम के रूप में सरकारी तौर पर पाकिस्तान की स्थापना की मांग जिस प्रकार आई है उससे यह व्यवहार में प्रति-क्रियावादी, जनतंत्रविरोधी और विध्वंसक मांग हो गई है जो साम्राज्यवादियों के हाथ का खिलौना है। लेकिन इन तमाम बातों से हमें इस सचाई की ओर से आंख नहीं मूंद लेनी चाहिए कि पाकिस्तान की मांग के पीछे जातीयता का सच्चा सवाल भी छिपा हुआ था।

इस प्रश्न का अंतिम समाधान जनतांत्रिक सिद्धांतों पर चलकर ही हो सकता है। आत्म-निर्णय का जनतांत्रिक सिद्धांत यह मानता है कि जिस इलाके में स्पष्ट रूप से आत्मनिर्णय की जातीय मांग उठ रही हो अर्थात जिस इलाके के अधिकांश लोग अपने विशिष्ट जातीय स्वरूप एवं संस्कृति के आधार पर यह मांग कर रहे हों कि उनकी अलग राज-नीतिक संस्थाएं होनी चाहिए, यदि भौगोलिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह बात संभव हो तो उस इलाके के निवासियों को अपनी अलग राजनीतिक संस्थाएं कायम करने का पूरा अधिकार है। यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध उनपर कोई राजनीतिक संस्था थोपी जाएगी तो यह किसी भी रूप में उचित नहीं होगा। भारत की बहुजातीय समस्या के समाधान का सबसे कारगर तरीका यही है कि आत्मनिर्णय के इस जनतांत्रिक सिद्धांत

का निरंतर इस्तेमाल किया जाए। इसी सिद्धांत पर चलकर सभी जातियों के स्वेच्छापूर्वक संगठित होने के लिए सर्वाधिक अनुकूल स्थितियां पैदा हो सकती हैं। इस तरह का समाधान हाल के दिनों में बहुजातीय सोवियत संघ में और चीनी जनता के जनतंत्र में किया गया है।

इस सिद्धांत को मान्यता देने का अर्थ यह होगा कि भारतीय जनता का प्रत्येक ऐसा वर्ग जिसके रहने का एक मिलाजुला प्रदेश है, जिसकी एक समान ऐतिहासिक परंपरा है, जिसकी एक समान भाषा, संस्कृति, मानसिक गठन और समान आर्थिक जीवन है, उसे इस बात का अधिकार होगा कि वह स्वतंत्र भारत में एक स्पष्ट जाति के रूप में जीवन बिताए और यदि चाहे तो स्वतंत्र भारतीय संघ या राज्य संघ के अंदर एक स्वायत्त शासित राज्य के रूप में रहे (जिसे संघ से अलग होने का अधिकार भी होगा)।

इस प्रकार आगामी कल का स्वतंत्र भारत पठान, पंजाबी, सिंधी, हिंदुस्तानी, राजस्थानी गुजराती, बंगाली, असमी, बिहारी, उड़िया, आंध्र, तामिल, केरलवासी, मराठा आदि विभिन्न जातियों के स्वायत्तशासी राज्यों के संघ या फेडरेशन का रूप धारण कर सकता है। इस तरह जो नए राज्य बनेंगे उनमें अल्पसंख्यक जातियों के जो लोग इधर उधर बिखरे रह जाएंगे उनकी संस्कृति, भाषा तथा शिक्षा संबंधी अधिकारों को कानून के जरिए संरक्षण मिलेगा, उनके साथ किसी तरह का भेदभाव नहीं बरता जाएगा और यदि कोई इसका उल्लंघन करता है तो उसे दंड दिया जाएगा। जाति, नस्ल या समुदाय पर आधारित हर तरह की अयोग्यताओं, विशेषाधिकारों और भेदभावों को कानून के जरिए समाप्त कर दिया जाएगा और इनका उल्लंघन करने वालों को सजा दी जाएगी।

वस्तुतः इस तरह के जनतांत्रिक समाधान से उन जनतांत्रिक सिद्धांतों की पूर्ति ही होगी जिसकी 1931 में कांग्रेस ने अधिकारों के घोषणापत्र में अभिव्यक्ति की थी और जिसे 1946 में कांग्रेस ने अपने चुनाव कार्यक्रम में दोहराया था :

> कांग्रेस भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए चाहे वह पुरुष हो या महिला, समान अधिकारों और अवसरों के पक्ष में है। कांग्रेस ने हमेशा सभी समुदायों और धार्मिक संगठनों के बीच एकता के लिए तथा इनके बीच सहिष्णुता एवं सदभाव कायम करने का समर्थन किया है। कांग्रेस इस पक्ष में है कि देश की समूची आबादी को अपनी इच्छानुसार और अपनी योग्यता के अनुरूप उन्नति करने और विकसित होने के पूर्ण अवसर प्राप्त हों। वह इस पक्ष में भी है कि देश की सीमा के अंदर जितने भी समूह हैं और जितने भी इलाके हैं उन्हें इस बात की आजादी हासिल हो कि वे व्यापक ढांचे के अंदर अपनी संस्कृति और जीवन का विकास कर सकें और इस उद्देश्य के लिए जहां तक संभव हो प्रादेशिक

> इलाकों या प्रांतों को भाषा और संस्कृति के आधार पर गठित किया जाए। कांग्रेस ने सदा इस बात का समर्थन किया है कि सामाजिक दमन और अन्याय के शिकार लोगों को उनके अधिकार मिलें और समानता के मार्ग में उन्हें जिन अवरोधों का सामना करना पड़ता है वे दूर किए जाएं।
>
> कांग्रेस ने एक स्वतंत्र जनतांत्रिक राज्य की स्थापना के लिए संघर्ष किया है। ऐसे राज्य में सभी नागरिकों को संविधान के तहत मौलिक अधिकार और स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। कांग्रेस का विचार है कि यहां का संविधान एक संघीय संविधान होना चाहिए जिसमें इसकी इकाइयों को स्वायत्तता प्राप्त हो तथा इसकी विधान संस्थाएं बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संस्था हों। भारत का राज्यसंघ ऐसा होना चाहिए जिसमें इसके विभिन्न भाग स्वेच्छापूर्वक एकजुट हो सकें। राज्यसंघ में शामिल होने वाली इकाइयों को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने की दृष्टि से ऐसी संघीय जनता की समान और बुनियादी न्यूनतम सूची होनी चाहिए जो सभी इकाइयों पर लागू हो सके तथा इसके अलावा एक वैकल्पिक सूची होनी चाहिए जिन्हें यदि चाहें तो इस तरह की इकाइयां स्वीकार कर सकें।

लेकिन भविष्य के प्रगतिशील विकास के लिए जहां कांग्रेस ने भारत की एकता को बहुत महत्वपूर्ण बताया है और इसके लिए अपनी चिंता जाहिर की है वहीं उसने आज तक राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धांत को पूरी तरह लागू होने का विरोध किया है। सितंबर 1945 में कांग्रेस का पूना में अधिवेशन हुआ जिसमें कांग्रेस की स्थिति को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया गया :

> कांग्रेस इस तरह के किसी भी प्रस्ताव पर सहमत नहीं हो सकती जो किसी संघटक राज्य या क्षेत्रीय इकाई को भारतीय संघ या राज्यसंघ से अलग होने की स्वतंत्रता प्रदान करके भारत का विघटन करना चाहता है। जैसा कांग्रेस कार्य-समिति ने 1942 में घोषित किया था, कांग्रेस भारत की आजादी और एकता के लिए कृतसंकल्प है और आज के युग में जबकि लोगों का दिमाग अनिवार्य रूप से और बड़े राज्यसंघों के अर्थों में सोचने का आदी हो गया है, इस एकता में किसी भी तरह की फूट सभी संबद्ध लोगों के लिए हानिकार और दुखदायी होगी। फिर भी समिति यह घोषणा भी करती है कि कांग्रेस किसी क्षेत्रीय इकाई की जनता को उसकी घोषित इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में बने रहने पर उन्हें बाध्य करने की बात नहीं सोच सकती है।

हम देख सकते हैं कि इस प्रस्ताव के दो भागों में कुछ अंतर्विरोध हैं। प्रस्ताव में अलग होने के अधिकार को मान्यता देने से इंकार भी किया गया है और इस बात से भी इंकार किया

गया है कि संघ में बने रहने के लिए वह किसी इकाई पर दबाव डालेगी।

अलग होने के अधिकार के साथ साथ आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देने का यह अर्थ नहीं होता कि अलग हो जाना सही है। इसके विपरीत भारत के जनतांत्रिक विकास के हित में यह अत्यंत आवश्यक है कि भारत की एकता बनी रहे। भारत की एकता खासतौर से इसलिए भी जरूरी है ताकि उसके विभिन्न भाग परस्पर सहयोग के जरिए तेजी से प्रगति कर सकें तथा समूचे भारत की उन्नति के लिए पर्याप्त आर्थिक योजना बनाई जा सके, उसके अनुसार पूरे देश का विकास किया जा सके और जनता का सामाजिक स्तर ऊपर उठाया जा सके। लेकिन यह एकता स्वेच्छा से ही हो सकती है।

यह नीति सबसे पहले भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने 1942 के एक प्रस्ताव में पेश की थी जिसमें भारतीय जनता के बहुजातीय स्वरूप से पैदा होने वाली नई नई समस्याओं पर पहली बार गंभीरतापूर्वक विचार किया गया था। अभी हाल ही में 1946 में ब्रिटिश कैबिनेट मिशन को जो ज्ञापन दिया गया था उसमें भी इन समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया गया था :

> संविधान सभा के प्रश्न पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच जो जबरदस्त मतभेद है उसे आत्मनिर्णय के सिद्धांत को ईमानदारी से लागू करके ही दूर किया जा सकता है।
>
> हमारा यह सुझाव है कि अस्थाई सरकार को यह जिम्मेदारी दी जानी चाहिए कि वह प्रत्येक जनता के प्राकृतिक प्राचीन निवास स्थान के आधार पर सीमाएं पुर्ननिर्धारित करने के लिए एक सीमा आयोग का गठन करे ताकि फिर से सीमांकित प्रांत जहां तक संभव हो सके भाषा और संस्कृति की दृष्टि से एकरूप राष्ट्रीय इकाई बन सकें। उदाहरण के लिए सिंध, पठानलैंड, बलूचिस्तान, पश्चिमी पंजाब आदि।[6] इस तरह की प्रत्येक इकाई की जनता के पास आत्मनिर्णय का अधिकार होना चाहिए। अर्थात उसे यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह स्वतंत्र रूप से यह तय कर सके कि वह भारतीय संघ में शामिल होना चाहता है या अलग प्रभुसत्तासंपन्न राज्य का गठन करना चाहता है।
>
> इसलिए संविधान सभा का चुनाव इस मौलिक अधिकार को मान्यता दिए जाने पर आधारित होना चाहिए और चुनावों के दौरान अलग होने का या साथ रहने का प्रश्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा जनता के सामने रखा जाना चाहिए। प्रत्येक जातीय इकाई से निर्वाचित प्रतिनिधियों को बहुमत के आधार पर यह निर्णय लेना होगा कि वे एक भारतीय संघ की रचना के लिए अखिल भारतीय संविधान सभा में शामिल होना पसंद करेंगे या इससे अलग रहेंगे और स्वयं

एक पृथक प्रभुसत्तासंपन्न राज्य की स्थापना करेंगे या दूसरे भारतीय संघ में शामिल होंगे।

कम्युनिस्ट पार्टी इस पक्ष में है कि प्रभुसत्तासंपन्न इकाइयों का एक स्वतंत्र स्वैच्छिक जनवादी भारतीय संघ कायम हो। कम्युनिस्ट पार्टी इस बात से पूरी तरह सहमत है कि भारत की जनता यदि एक संघ में और समान भाईचारे की नीयत से एक साथ रहे, मिलजुलकर स्वतंत्रता की रक्षा करे और सबके सहयोग से गरीबी की समस्याओं का हल ढूंढ़े तो यही उसके सर्वाधिक हित में होगा। जैसाकि ऊपर बताया गया है आत्मनिर्णय के सिद्धांत को अमल में लाकर ही भारत की एकता बनाई रखी जा सकती है।

यदि इस दृष्टिकोण का पालन करें तो हम इन समस्याओं का सबसे ज्यादा उपयुक्त ढंग से समाधान ढूंढ़ सकते हैं।

पाद टिप्पणियां

1. बी० डी० बसु की पुस्तक 'कंसालिडेशन आफ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया' में उद्धृत पृष्ठ 74.
2. सर जान स्ट्रेशी ने अपनी पुस्तक के परवर्ती संस्करण में इस साधारण वक्तव्य को भी संशोधित करने का प्रयास किया लेकिन उसमें उन्हें मामूली सफलता मिली। वक्तव्य के नए रूप में कहा गया था :

   यह पुराना सूत्र वाक्य 'फूट डालो और राज करो' भारत में हमारी सरकार की नीति और व्यवहार के जितना विरुद्ध है, शायद ही कोई दूसरी चीज इतनी खिलाफ हो। हमारी 'युद्धकारी सभ्यता' का यह अत्यावश्यक कर्तव्य रहा है कि सभी वर्गों के बीच शांति बनाए रखने को मान्यता दी जाए लेकिन इसकी वजह से हमें इस तथ्य से आंख नहीं मूंद लेनी चाहिए कि इन विरोधी तत्वों का एकसाथ अस्तित्व बना रहना ही भारत में हमारी राजनीतिक स्थिति का सबसे मजबूत मुद्दा है। मुसलमानों के बेहतर वर्गों को हम अपने लिए कमजोरी का नहीं बल्कि शक्ति का स्रोत मानते हैं। वे संख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत थोड़े हैं लेकिन उनमें काफी उत्साह है, उनके राजनीतिक हित हमारे ही हितों जैसे हैं और वे किसी भी स्थिति में हिंदुओं के बजाय हमारे शासन को ज्यादा पसंद करेंगे। (सर जान स्ट्रेशी : 'इंडिया', 1894, पृष्ठ 241)

   इन दो विवरणों, 'कोरे सत्य' और कूटनीतिक भूल सुधार की यदि तुलना करें तो हमें साम्राज्यवादी तत्वों के विकास को समझने में काफी मदद मिलेगी। यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि अपने वक्तव्यों को थोड़ा अधिक कूटनीतिक रूप देकर तथा आडंबरपूर्ण बनाकर मूल नीति को जैसे का तैसा रहने दिया जाता है।
3. यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय ईसाई नेताओं ने पृथक निर्वाचनमंडल प्रणाली का जबरदस्त विरोध किया है। यह प्रणाली सरकार द्वारा अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए, न कि उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए, उन पर थोपी गई है। इसीलिए 1938 में आल इंडिया क्रिश्चियन कांफ्रेंस के अध्यक्ष ने अपने भाषण में कहा :

   पृथक निर्वाचनमंडल के प्रति हमारी सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इस प्रणाली के जरिए हमें अन्य सुविधाओं के साथ घनिष्ठ संपर्क कायम करने से रोका जाता है। अपने पुराने नेताओं के

जिनमें से कुछ हमें छोड़कर जा चुके हैं, बताए हुए रास्ते पर चलते हुए एक समुदाय के रूप में हमने हमेशा विशेष निर्वाचनमंडलों का विरोध किया है क्योंकि ये हमारे ऊपर हमारी इच्छा के विरुद्ध लाद दिए गए हैं। सांप्रदायिक आधार पर निर्वाचनमंडलों की मौजूदा प्रणाली ने भारत को एक ऐसे मकान के रूप में बदल दिया है जिसने अपने ही खिलाफ अपना बंटवारा कर दिया है। मेरे पूर्ववर्तियों ने बार बार बताया है कि पृथक निर्वाचनमंडल की इस प्रणाली को स्वीकार करके हमारे समुदाय के लोगों ने कितना नुकसान उठाया है। मेरी राय है कि हमें सभी समुदायों के नेताओं के पास जाकर उनसे बार बार यह अनुरोध करना चाहिए कि वे उचित समय आते ही देश के साफ-सुथरे नाम पर लगे इस धब्बे को मिटाने के लिए मिलजुलकर अपनी पूरी ताकत लगा दें। (आल इंडिया क्रिश्चियन कांफ्रेंस मद्रास के अध्यक्ष डाक्टर एच० सी० मुखर्जी का बयान, दिसंबर 1938)

4. यह दलील देना बिलकुल गलत है कि मुसलमानों के इस विशाल प्रतिनिधित्व के पीछे एक अल्पसंख्यक जाति को संरक्षण देने की चिंता निहित है। 1935 के अधिनियम के अंतर्गत बंगाल विधानसभा की सीटों का जिस तरह बंटवारा किया गया उससे इस दलील का खोखलापन पूरी तरह साबित हो जाता है। देश की मौजूदा सीमाओं के अंतर्गत बंगाल में मुसलमानवर्ग बहुमत में है। फिर भी इनको ही सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व दिया गया। मुसलमानों की आबादी वहां 55 प्रतिशत है और उन्हें सदन में 117 सीटें प्राप्त हैं जबकि हिंदुओं की आबादी 43 प्रतिशत है और जो 'सामान्य' सीटें उनके लिए निर्धारित हैं उनकी संख्या 78 है। (इनमें से 30 सीटें 'अनुसूचित जातियों' अर्थात दलितवर्ग के लोगों के लिए सुरक्षित हैं और सामान्य सीटों के नाम पर केवल 48 सीटें बच रहती हैं।) उन्हीं द्वारा निर्धारित आधार पर किए गए बंटवारे के अनुसार हिंदुओं को 78 और मुसलमानों को 99 सीटें मिलतीं। इसलिए यह कहना कि ज्यादा प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने के लिए किया गया है, बिलकुल बकवास है।

यह उदाहरण उस ढोंगपूर्ण तर्क की भी धज्जियां उड़ा देता है (जिसे विस्तार से साइमन कमीशन की रिपोर्ट में और मांटेग्यू चैम्सफोर्ड रिपोर्ट में बताया गया है) जो सांप्रदायिक निर्वाचनमंडल का औचित्य ठहराने के लिए यह बताने की कोशिश करता है कि इसकी प्रेरणा 1916 में लखनऊ में कांग्रेस मुस्लिम लीग संधि की सिफारिशों से मिली थी। लखनऊ संधि ने लार्ड मिंटो और लार्ड मोर्ले द्वारा शुरू किए गए निर्वाचन संबंधी सांप्रदायिक भेदभाव को अवश्यंभावी मानकर स्वीकार कर लिया और यह उसने गंभीर भूल की लेकिन किसी भी रूप में उसने यह प्रस्ताव सामने रखा कि निर्वाचनमंडल के बारे में फैसला ऐसा होना चाहिए जो अल्पसंख्यक वर्ग के अनुकूल हो ताकि जिन प्रांतों में मुसलमानवर्ग अल्पमत में है वहां उन्हें थोड़ा अधिक प्रतिनिधित्व करने की गुंजाइश हो और बंगाल जैसे प्रांतों में जहां इसका बहुमत है इसे थोड़ा कम प्रतिनिधित्व दिया जाए। लेकिन साम्राज्यवादी अधिकारियों ने यह कहने में कोई चूक नहीं की कि वे लखनऊ संधि से ही प्रेरणा लेकर यह विभाजन कर रहे हैं हालांकि उन्होंने हर मामले में, चाहे मुसलमान अल्पमत में हों या बहुमत में, उन्हें अधिक प्रतिनिधित्व का अवसर दिया और इस प्रकार यह बता दिया कि अल्पसंख्यकों के संरक्षण से उनका कोई वास्ता नहीं है, वे विशुद्ध रूप से नस्लवादी सिद्धांतों से प्रेरित हैं; वे मनमाने ढंग से पक्षपात करके आबादी के एक हिस्से को दूसरे हिस्से के खिलाफ खड़ा करना चाहते हैं और जनता में फूट डालना चाहते हैं।

5. 1931 में दंगों के बारे में नियुक्त कानपुर रायट्स इंक्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि सांप्रदायिक दंगों के पीछे छिपे तौर पर सरकारी अधिकारियों का कितना हाथ था :

हर वर्ग के गवाहों ने···इस बात पर सहमति प्रकट की है कि दंगे की विभिन्न वारदातों से निबटने में पुलिस ने निष्क्रियता और उदासीनता दिखलाई। इन गवाहों में अंगरेज व्यापारी, हर विचारधारा के हिंदू और मुसलमान, सैनिक अधिकारी, अपर इंडिया चेंबर आफ कामर्स के सचिव, इंडियन क्रिश्चियन कम्युनिटी के प्रतिनिधि और भारतीय अधिकारी भी शामिल हैं।

गवाहों के बयानों में जितनी सम्यता है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती…हमारे दिमाग में अब यह बात बहुत स्पष्ट हो गई है कि दंगे के शुरू के तीन दिनों के दौरान पुलिस ने अपने कर्तव्य का परिचय नहीं दिया जबकि उससे ऐसी आशा नहीं की जाती थी…अनेक गवाहों ने ऐसी घटनाओं के उदाहरण दिए हैं जिनमें पुलिस की आंखों के सामने गंभीर अपराध हो रहे थे और वह चुपचाप खड़ी थी…हमें कई गवाहों ने और डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने भी अपनी गवाही में यह बताया कि पुलिस की निष्क्रियता और उदासीनता के बारे में उस समय शिकायतें दर्ज कराई गईं लेकिन खद की बात है कि इन शिकायतों पर गंभीरता से ध्यान नहीं दिया गया। (कानपुर रायट्स रिपोर्ट, 1931, पृष्ठ 39)

6. राष्ट्रीय इकाइयों के निम्नांकित नामों का यहां उल्लेख किया जा रहा है जो ऊपर दिए गए सुझाव के अनुसार भारतीय रियासतों के समाप्त होने पर अस्तित्व में आ जाएंगे। तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, सिंध, बलूचिस्तान, पठानलैंड, कश्मीर, पंजाब, हिंदुस्तान, बिहार, असम, बंगाल और उड़ीसा।

खण्ड पांच

साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय मुक्ति

14

सांविधानिक रणक्षेत्र

यह प्रस्तावित करना कि ग्रेट ब्रिटेन को अपने उपनिवेशों पर से सभी अधिकार स्वेच्छापूर्वक छोड़ देना चाहिए और उपनिवेशों पर ही यह काम छोड़ देना चाहिए कि वे अपना न्यायाधीश चुनें, अपने कानून अमल में लाएं और युद्ध का या शांति का, जो भी रास्ता उचित समझें अपनाएं, एक ऐसा उपाय प्रस्तावित करना है जैसा दुनिया के किसी भी देश में न तो देखने में आया है और न देखने में आएगा। कभी भी किसी देश ने स्वेच्छापूर्वक किसी उपनिवेश पर से अपना प्रभुत्व नहीं समाप्त किया है।—एडम स्मिथ : 'वेल्थ आफ नेशंस', 1776, खंड 4, अध्याय 7।

एक ऐसे प्रकाशन में जिसकी दिलचस्पी वर्ष बढ़ने के साथ साथ बढ़ती जाती है यानी 'रिफार्मर्स इयर बुक 1906' में 1905 के रूस के बारे में एक पृष्ठ सामग्री प्रकाशित है। उस महत्वपूर्ण और घटनाओं से भरे वर्ष के बारे में जो 30 पंक्तियों की सामग्री प्रकाशित है उनमें से 23 पंक्तियों में तो केवल दूमा (संसद), उसकी स्थापना, उसका गठन, निर्वाचक आधार, उसके अधिकारों और संभावनाओं के बारे में ही लिखा गया है। फादर गेयन का एक छोटा सा प्रसंग है। शेष पंक्तियों में हमें बताया गया है कि राष्ट्रीय संकट और पुलिस की अत्यधिक बर्बरता के कारण इस वर्ष मजदूर-संगठनों का तेजी से विकास नहीं हो सका। रूस के प्रत्येक हिस्से में दंगे और विद्रोह की घटनाएं हुईं। समकालीन 'प्रबुद्ध' पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में 1905 की रूसी क्रांति का यही महत्व था।

इसी प्रकार ब्रिटिश विचारकों द्वारा भारतीय समस्याओं के बारे में जो मोटे मोटे ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उनमें से 90 प्रतिशत ग्रंथों की यही राय है कि 1914-18 के विश्वयुद्ध के

बाद के 30 वर्षों में 'भारतीय समस्या' मुख्यतया ऐसे क्रमिक 'संविधानों' की समस्या रही है जो समय समय पर साम्राज्यवाद ने भारत की जनता को दिए। पृष्ठभूमि में, सांविधानिक समस्या का वातावरण दिखलाने के लिए इस बात की धुंधली सी झलक दी गई है कि 'उग्रवादियों' के प्रभाव में आकर जनता में 'बेचैनी' पैदा हो गई थी और इसकी अवांछित अभिव्यक्ति होने लगी थी। इसके साथ ही गांधी के रहस्यमय व्यक्तित्व के भी थोड़े बहुत जिक्र हैं। तेजी से तैयार हो रही भारतीय क्रांति की सभी गूढ़तम राजनीतिक और सामाजिक समस्याएं ऐसे सांविधानिक पांडित्य प्रदर्शनों के बंजर रेगिस्तान में दफना दी गई हैं जिनके अकथनीय उबाऊपन ने ब्रिटेन के राजनीतिक लोगों के अंदर नफरत पैदा कर दी है और बड़े प्रभावकारी ढंग से भारतीय मामलों में उनकी दिलचस्पी को समाप्त कर दिया है। समूची मानव जाति के आंदोलनरत इस पांचवें हिस्से की ज्वलंत सचाइयों को ऊपरी तौर पर विश्वसनीय लगने वाले 'नए संविधान' के धुंधले शीशे से देखा जा रहा है और इस 'नए संविधान' को ही केंद्रबिंदु माना जा रहा है।

लेस्साले ने एक बार कहा था कि किसी समाज का सही संविधान उस समाज का वास्तविक सत्ता संबंध है। भारतीय 'संविधान' के संदर्भ में यह बात जितनी स्पष्ट है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। साम्राज्यवाद ने भारत के लिए जो विभिन्न 'संविधान' या सांविधानिक योजनाएं पेश की हैं, वे भारतीय समस्या के न तो समाधान हैं और न समाधान के प्रयास। वे महज साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के बीच संघर्ष, एक के बाद एक नई अवस्थाओं और संघर्ष स्थलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहां तक कि वे संघर्ष के मुख्य चरण भी नहीं हैं। यथार्थ तो संघर्ष है, संविधान एक भ्रम है।

1. साम्राज्यवाद और स्वशासन

साम्राज्यवाद समर्थक सरकारी खेमों से कभी कभी यह बात कही जाती है कि भारत में ब्रिटिश शासन का वास्तविक उद्देश्य भारतीय जनता को स्वशासन के लिए प्रशिक्षित करना है। भारत पर शासन करने वाले प्रारंभिक ब्रिटिश शासकों की यह धारणा नहीं थी। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की शक्ति ने जब तक स्वशासन के मसले को राजनीतिक मंच पर ठेलकर सामने नहीं ला दिया तब तक इस तरह के विकास की किसी भी संभावना को ब्रिटेन के शासकों ने बड़े अपमानजनक ढंग से नामंजूर किया। कंजरवेटिव नेताओं ने ही नहीं बल्कि ब्रिटिश प्रभुत्व के पुरातन काल से ही लिबरल नेताओं ने भी इसी दृष्टिकोण से अपनी सहमति प्रकट की। मैकाले ने 1833 में कहा था :

> भारत में आपके पास प्रतिनिधि संस्थाएं नहीं हो सकतीं। जहां तक मेरी जानकारी है, भारतीय राजनीति के प्रश्न पर जिन असंख्य चिंतकों ने अपने सुझाव पेश किए उनमें से एक ने भी फिलहाल भारत में इस तरह की संस्थाओं की संभावना नहीं व्यक्त की भले ही वह विचारों में कितना भी जनतांत्रिक क्यों न रहा हो।
> (टी॰बी॰ मैकाले का हाउस आफ कामंस में भाषण, 10 जुलाई 1833)

दार्शनिक उदारतावाद के सर्वमान्य पैगंबर और प्रतिनिधि संस्थाओं के घोर हिमायती जान स्टुअर्ट मिल ने भी इस तरह की संस्थाओं को नकारने में कम स्पष्टता का परिचय नहीं दिया। अपने उसी भाषण में मैकाले ने मिल के विचारों को उद्धृत किया :

> उन्होंने (मिल ने) जोरदार शब्दों में, मैं समझता हूं कि काफी जोरदार शब्दों में, विशुद्ध जनतंत्र के पक्ष में लिखा है—लेकिन जब पिछले वर्ष की समिति के सामने उनसे पूछा गया कि क्या वे भारत में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना व्यावहारिक मानते हैं तो उनका साफ जवाब था कि इसका सवाल ही पैदा नहीं होता। (वही)

ग्लैडस्टोन और ब्राइट के बीच की बातचीत से भारतीय समस्या के संदर्भ में 19वीं सदी के उदारतावाद के दिवालियेपन का पता चलता है :

> आज शाम भारत के प्रश्न पर ब्राइट के साथ मेरी काफी लंबी बातचीत हुई…वह मानते हैं कि जनता को जनता द्वारा शासित करना अर्थात भारत को विशुद्ध संसदीय सरकार द्वारा शासित करना कितना कठिन काम है।
> (ग्लैडस्टोन का पत्र सर जेम्स ग्राहम के नाम, 23 अप्रैल 1858 : 'लाइफ ऐंड लेटर्स आफ सर जेम्स ग्राहम', खंड 2, पृष्ठ 340)

लेकिन इस बात के कोई संकेत नहीं हैं कि 19वीं सदी के उदारतावाद के इन नेताओं में से किसी ने भी (ब्राइट ने भारत में कुप्रशासन के विरुद्ध आंदोलन करके महत्वपूर्ण कार्य किया) इस समाधान की संभावना नहीं व्यक्त की कि भारतीय जनता अपना शासन स्वयं कर सकती है।

लार्ड क्रोमर ने प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व बड़े साफ शब्दों में साम्राज्यवाद का पक्ष प्रस्तुत किया था :

> आज जो हालात हैं उनमें भारत में स्वशासी सरकार की बात करना वैसे ही है जैसे संयुक्त यूरोप में स्वशासन के लिए दलील दी जाए…ये बातें महज भोंड़ी ही नहीं हैं, ये महज अव्यावहारिक ही नहीं हैं। मैं थोड़ा और आगे बढ़कर यह कहना चाहूंगा कि इस तरह की बातों को तरजीह देना सभ्यता के विरुद्ध अपराध है और खासतौर से यह भारत के उन करोड़ों मूक लोगों के प्रति अपराध है जिनके हितों को देखना हमारी जिम्मेदारी है। (लार्ड क्रोमर, 'एंशेंट ऐंड माडर्न इंपीरियलिज्म, 1910, पृष्ठ 123)

उसी अवधि में उदारवादी नेता लार्ड मोर्ले ने भी इस विषय पर अपनी बड़ी निश्चित राय

दी। लार्ड मोर्ले ने मोर्ले मिंटो सुधार के नाम से विख्यात सांविधानिक सुधारों को पेश करते हुए कहा था कि इन्हें किसी भी अर्थ में यह नहीं समझना चाहिए कि इनसे संसदीय संस्थाओं का मार्ग प्रशस्त किया जा रहा है :

> यदि ऐसा कहा जाना हो कि इन सुधारों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में भारत में संसदीय प्रणाली का रास्ता खुला तो कम से कम मुझे इन सुधारों से कोई सरोकार नहीं है। (हाउस आफ लार्ड्स में लार्ड मोर्ले का भाषण, 17 दिसंबर 1908)

भारत के संबंध में 1917 तक निरंतर साम्राज्यवाद का यही दृष्टिकोण था। यदि 1917 के बाद साम्राज्यवादियों के कथन में अचानक कोई परिवर्तन आया है और 'सभ्यता के विरुद्ध अपराध' को विधिवत रूप से घोषित लक्ष्य बना लिया गया है तो जाहिर है कि साम्राज्यवादी नीति में या घोषित नीति में जो अचानक रूपांतरण हुआ उसका कारण कतई यह नहीं था कि साम्राज्यवादियों के मूल इरादों में यह बात निहित थी बल्कि इसका कारण यह था कि बाह्य घटनाओं का जबरदस्त दबाव पड़ा था।

वास्तविक तब्दीली कहां तक हुई है ? या 1917 के बाद साम्राज्यवादी नीति या दृष्टि-कोण में ऊपरी तौर पर दिखाई पड़ने वाली तब्दीली किस सीमा तक परिस्थितियों के दबाव से अपनाई गई रणनीति है जिसका बुनियादी उद्देश्य और भी जबरदस्त तरीके से ब्रिटिश प्रभुत्व को बनाए रखना है न कि उसे समाप्त करना ? आज इन बातों की जांच करना बहुत जरूरी है।

2. 1917 से पूर्व की सुधारनीति

युद्ध शुरू होने तक साम्राज्यवाद का घोषित लक्ष्य यह था कि साम्राज्यवादी प्रशासनिक तंत्र के घेरे में निरंतर अधिक से अधिक भारतीयों को शामिल किया जाए। किसी भी साम्राज्यवादी व्यवस्था के सफल संचालन के लिए इस तरह की नीति अनिवार्य है (भारत में सरकारी नौकरियों में लगे लोगों की संख्या 15 लाख है और व्यावहारिक रूप से यह असंभव है कि इन 15 लाख लोगों में अधिकांश अंगरेज हों)। इस लक्ष्य की निरंतर घोषणा की जाती रही है और पिछले । सौ वर्षों से भी अधिक समय से इसका पालन किया जाता रहा है। बेशक इस बात की सतर्कता बरती जाती थी कि सामरिक महत्व की जगहों पर अंगरेजों को ही रखा जाए। इस लक्ष्य से यह गलतफहमी नहीं पैदा होनी चाहिए कि यह स्वशासन स्थापित करने का लक्ष्य था। दरअस्ल दोनों एकदम विरोधी स्थितियां हैं। 1917 तक स्वशासन की बात को लगातार नकारा जाता रहा है। इन दो लक्ष्यों के बीच उलझाव होने से बहुधा इस तरह की गलत तस्वीर सामने आई है कि उत्तर-दायित्वपूर्ण सरकार का लक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में तथाकथित क्रमिक प्रगति हुई है।

1833 के घोषणापत्र में यह निर्धारित किया गया था कि 'कोई भी भारतीय महज धर्म,

जन्म स्थान, वंश, रंग या इस तरह के किसी भी आधार पर उक्त सरकार के अधीन कोई पद या नौकरी पाने के अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता।' कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने इस धारा की अपनी ही व्यवस्था प्रस्तुत की : 'कोर्ट इस धारा का यह अर्थ समझती है, कि ब्रिटिश भारत में कोई अभिशासी जाति नहीं होगी कि योग्यता के लिए जो अन्य जांचें की जानी चाहिए उनमें उस सीमा तक जाति या धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए।'

1858 में महारानी ने जो घोषणा की और जिसे आमतौर पर नई नीति की शुरुआत समझा जाता है उसमें भी वस्तुतः उपर्युक्त कथन को ही विस्तार दिया गया था :

> हमारी यह इच्छा है कि जहां तक संभव हो, हमारी प्रजा को जाति, धर्म का भेदभाव बरते बिना स्वतंत्र और निष्पक्ष रूप से हमारी सेवा में लिया जाए, उन्हें उन कर्तव्यों का निर्वाह करने दिया जाए जिसके लिए शिक्षा, योग्यता और निष्ठा पर उनका चुनाव किया गया है।

शासक और शासित के बीच भेदभाव समाप्त करने और पूरी समानता बरतने की शपथ ली गई और वायदे किए गए पर इसमें कोई संदेह नहीं कि ऊपर से ये वायदे जिन इरादों की अभिव्यक्ति करते थे उन्हें व्यापक अर्थों में पूरा करने की इच्छा नहीं थी। 1876-80 में भारत के वायसराय लार्ड लिटन ने भारत के संदर्भ में ब्रिटिश सरकार की नीति के बारे में सेक्रेटरी आफ स्टेट लार्ड क्रेनब्रुक को जो 'गोपनीय' पत्र लिखा था उसमें कही गई बहुचर्चित बातों से लगा कि ब्रिटिश नीति 'उन वादों के सारतत्व को ध्वस्त करने की थी जो लोगों से किए गए थे' :

> हम सभी जानते हैं कि ये वादे और आशाएं न तो कभी पूरे हो सकते हैं और न पूरे होंगे। हमें दो में से एक रास्ता चुनना था, या तो उन्हें इन चीजों से वंचित रखा जाए या उन्हें धोखे में रखा जाए और हमने वह रास्ता अख्तियार किया जो कम से कम स्पष्टवादी था...यह बात मैं केवल आपको गोपनीय ढंग से लिख रहा हूं। मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि मुझे अभी तक ऐसा महसूस हो रहा है कि जनता से किए गए वादों के सारतत्व को ध्वस्त करने के लिए हर तरीके अपनाने की जो जिम्मेदारी दी गई थी उसे इंग्लैंड और भारत की दोनों सरकारें संतोषजनक ढंग से पूरा नहीं कर रही हैं।

लार्ड साल्सबरी ने भारत के संदर्भ में ब्रिटेन के वादों को 'राजनीतिक पाखंड' का नाम दिया। (यह एक दिलचस्प अटकलबाजी होगी कि लार्ड साल्सबरी आधुनिक युग के बाल्डविन, लायड जार्ज, मैकडोनल्ड और चैंबरलेन जैसे लोगों को क्या कहते।)

बीते दिनों के (आज जबकि हम इसकी समानांतर प्रक्रिया में एक कदम और आगे बढ़

गए हैं, उन दिनों से शिक्षा ली जा सकती है) इन भ्रामक और भड़कीले वादों तथा घोषणाओं का असली मकसद यह था कि साम्राज्यवादी प्रशासनिक प्रणाली में बड़ी सावधानी के साथ भारतीयों को धीरे धीरे मातहत सेवाओं में लेने का काम बढ़ाया जाए ताकि जनता को गुलाम बनाए रखने में उच्च तथा मध्यवर्ग के भारतीयों का समर्थन प्राप्त किया जा सके।

सरकारी सेवा में बड़ी सतर्कतापूर्वक भारतीयों के लिए निर्धारित पदों (महत्वपूर्ण पदों को अलग रखकर) की संख्या बढ़ाने के साथ साथ इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए 1861 के बाद से एक के बाद एक सुधार संबंधी उपाय किए। 1861 में इंडियन कौंसिल ऐक्ट ने वायसराय की विधानपरिषद में छ: नामजद गैरसरकारी सदस्यों को शामिल करने की व्यवस्था की। इन नामजद सदस्यों में कुछ ऐसे भारतीय थे जिनका बड़ी सावधानी के साथ चयन किया गया था। ध्यान देने की बात है कि बाद के सभी सुधार उपायों की तरह ही इस बार भी 'सुधार' के साथ साथ एक नया दमनकारी कदम भी उठाया गया, वायसराय को यह अधिकार दिया गया कि वह किसी भी समय छ: महीनों की अवधि तक के लिए अध्यादेश जारी कर सकता है, यह ऐसा अधिकार था जिसका आज खुलकर इस्तेमाल हो रहा है।

1883-84 में लोकल सेल्फ गवर्नमेंट ऐक्ट ने नागर प्रशासन में निर्वाचक सिद्धांत की शुरुआत की और ग्रामीण परिषदों तथा जिला कौंसिल की स्थापना की। 1892 में इंडियन कौंसिल्स ऐक्ट ने प्रांतीय विधानपरिषदों में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कुछ सदस्यों को (दरअस्ल स्वीकृति के लिए प्रस्तुत न कि स्थानीय सरकार तथा अन्य संस्थाओं द्वारा विधिवत निर्वाचित) शामिल कर लिया और इन कौंसिलों के जरिए फिर अप्रत्यक्ष रूप से चुनकर इन्हें वायसराय की विधानपरिषद में ले लिया गया। 1909 में मार्ले मिंटो सुधारों के नाम से विख्यात इंडियन ऐक्ट ने प्रांतीय विधानसभाओं में निर्वाचित बहुमत की (कुछ प्रत्यक्ष रूप से और कुछ अप्रत्यक्ष रूप से) और वायसराय की विधानपरिषद में निर्वाचित अल्पमत की (जमींदारों और मुसलमानों की सीटों को छोड़कर शेष मामलों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन) स्थापना की। इन परिषदों के कार्यों पर जबरदस्त प्रतिबंध बने रहे। इनका प्रशासन या वित्त पर कोई नियंत्रण नहीं था; इनके विधान को अस्वीकृति की हालत में वीटो किया जा सकता था; मताधिकार का दायरा बेहद संकीर्ण था और निर्वाचन संस्थाओं की वर्तमान बहुलता तो थी ही, साथ ही इसमें पृथक मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों को भी शामिल कर लिया गया।

मार्ले मिंटो सुधार इस तरह के पहले सुधार थे जिन्हें स्वाशासन की मांग के समर्थन में हो रहे आंदोलनों के बीच और इन आंदोलनों के फलस्वरूप लागू किया जाना था। इन सुधारों का निश्चित उद्देश्य इन आंदोलनों को परास्त करना तथा मार्ले के शब्दों में 'नरमदली नेताओं का साथ देना' था। इन सुधारों को पहली बार 1906 में सामने लाया गया।

इससे पहले 1905 में विदेशी माल के बहिष्कार तथा स्वदेशी के अपनाने का आंदोलन शुरू हुआ था, और 1905 की रूसी क्रांति हुई थी जिसने पूर्वी देशों के एक और बड़े तानाशाह जार को हिलाकर रख दिया था। इस परिस्थिति में इन मामूली सुधारों को धुआंधार प्रचार के बीच पेश किया गया और इस बात का ढिंढोरा पीटा गया कि इससे एक नए युग का सूत्रपात हो रहा है। इसके बाद तैयार की गई मांटेगु चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में (जिसे खुद भी और बड़े पैमाने पर उसी प्रक्रिया को दोहराना था) अत्यंत नीरस शब्दों में कहा गया : 'उस क्षण के उत्साह में उनके लिए बहुत अधिक दावे किए गए…इन आशावादी आकांक्षाओं की अवधि बहुत थोड़ी थी।'

लार्ड मोर्ले ने स्वराज-आंदोलन को अपने सुधारों के जरिए विफल करने का जो जोड़-तोड़ बैठाया था उसे खुले तौर पर जाहिर कर दिया गया। उन्होंने निम्नलिखित विवरणात्मक शब्दों में स्थिति का विश्लेषण किया :

> इस तरह की योजना पर काम करते समय हमें जिन लोगों पर विचार करना है उनके तीन वर्ग हैं। एक वर्ग तो उग्रपंथियों का है जो यह सपना देख रहे हैं कि वे एक दिन हमें भारत से खदेड़ देंगे…दूसरा वर्ग इस तरह की कोई आशा नहीं पाल रहा है लेकिन यह आशा है कि उपनिवेशवादी तौर-तरीके पर आधारित स्वायत्त सरकार या स्वराज की स्थापना होगी। इन दोनों के बाद जो तीसरा वर्ग बचता है उसे इससे ज्यादा और कुछ नहीं चाहिए कि हमारे प्रशासन में उसका सहयोग लिया जाए।
>
> मेरा ख्याल है कि इन सुधारों का प्रभाव दूसरे वर्ग के लोगों को, जो औपनिवेशिक स्वायत्तता की आशा करते हैं, तीसरे वर्ग के लोगों की ओर, जो उचित और पूर्ण सहयोग से ही संतुष्ट रहेंगे, खींचना रहा है, और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। (हाउस आफ लार्ड्स में वाइकाउंट मोर्ले का भाषण, 23 फरवरी 1909)

इस प्रकार सांविधानिक सुधारों के साथ साथ 'अपने प्रशासन में सहयोग' ही साम्राज्यवादियों का तयशुदा तरीका था जिसके जरिए वे स्वराज्य के राष्ट्रीय लक्ष्य को विफल बनाने की आशा करते थे।

सुधारों को 'स्वराज्य की दिशा में एक कदम' कहकर पेश करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। जैसा हमने देखा है, लार्ड मोर्ले ने यह बात एकदम साफ तौर पर कह दी थी कि इन सुधारों से यह नहीं समझना चाहिए कि वे 'भारत में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संसदीय व्यवस्था कायम करने' की दिशा में हैं। इसी प्रकार लार्ड मोर्ले ने लार्ड मिंटो के दावे को स्वीकार करते हुए और उसपर बल देते हुए लार्ड मिंटो को लिख भेजा कि भारत में जिम्मेदार सरकार की स्थापना का न तो तब और न भविष्य में कोई प्रश्न पैदा होता है :

> महामहिम का अपनी सरकार के बारे में यह अस्वीकरण कि वह 'भारत के लिए उन्हीं अर्थों में प्रतिनिधि सरकार की हिमायती है जिन अर्थों में पश्चिमी देश इस शब्दावली को ग्रहण करते हैं' आशा के अनुरूप है। यूरोप में प्रतिनिधि सरकार प्रणाली की अत्यंत जोरदार शब्दों में हिमायत करने वालों में से कुछ लोगों ने स्वयं भारत के अनुभव से जो सबक लिया है उसे यदि महामहिम के ही शब्दों में कहें तो ऐसी सरकार 'विभिन्न नस्लों और जातियों से गठित भारतीय साम्राज्य की जनता के मनोभावों के सदृश कभी नहीं हो सकती'...प्रतिनिधि सरकार के किसी भी यूरोपीय रूप को भारत में प्रतिरोपित करने के प्रयास की इच्छा को या ऐसे किसी इरादे को अस्वीकार करने के साथ ही परिषद में महामहिम ने यह इच्छा जाहिर की है कि वर्तमान शासनतंत्र में सुधार किया जाए अथवा 'अपने देश की सरकार में हिस्सा लेने की भारतीय शिक्षित वर्ग की सहज आकांक्षाओं को मान्यता देने के लिए 'किसी नए स्वरूप की तलाश की जाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस योजना में आपको ब्रिटेन की शाही सरकार का हार्दिक सहयोग प्राप्त है।
>
> चाहे कलकत्ता हो या व्हाइट हाल, जो लोग भारत संबंधी नीति निर्देशन में हाथ बंटा रहे हैं, उनकी जांच का मुख्य मानदंड यही होना चाहिए कि सर्वोच्च सत्ता की शक्ति और दृढ़ता के आधार पर किसी भी समय जो भी नए प्रस्ताव तैयार किए जा रहे हैं उनका क्या असर होता है। (लार्ड मिंटो के नाम लार्ड मोर्ले का पत्र। मांटेगु चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, पृष्ठ 64)

इस स्थल तक साम्राज्यवाद की नीति बहुत ही स्पष्ट है और इसे समझने में कोई भूल नहीं हो सकती। स्वराज्य की दिशा में किसी तरह की प्रगति का सवाल ही पैदा नहीं होता। सर्वोच्च सत्ता के हित में बहुत निश्चित हैं। सांविधानिक सुधार का मकसद यही है कि साम्राज्यवाद के हितों को देखते हुए उच्चवर्ग के अल्पमत का समर्थन प्राप्त किया जाए।

3. डोमीनियन का दरजा देने का प्रश्न

1914-18 का युद्ध हुआ जिसने साम्राज्यवाद की नींव को हिलाकर रख दिया। इस युद्ध ने सभी उपनिवेशों की तरह भारत की जनता को भी जगा दिया। भारत में हिंदुओं और मुसलमानों की एकता बढ़ी और 1916 में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने मिलकर स्वराज्य की योजना बनाई। मार्च 1917 में रूसी क्रांति हुई। इन घटनाओं ने सभी देशों में जन-आंदोलनों को तेज किया और विश्वभर में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का नारा गूंज उठा।

20 अगस्त 1917 को ब्रिटिश सरकार ने अपनी नई नीति की घोषणा से इस स्थिति का मुकाबला किया। तब से ही इस नीति को आधुनिक साम्राज्यवाद की सांविधानिक नीति

की कुंजी समझा जाने लगा। इस घोषणा के खास अंश इस प्रकार हैं :

> महामहिम की सरकार की नीति, जिसके हाथ भारत सरकार पूरी तरह सहमत है, यह है कि प्रशासन की सभी शाखाओं में भारतीयों की साझेदारी बढ़ाई जाए और स्वशासी संस्थाओं का क्रमशः विकास किया जाए। ये उपाय इसलिए किए जाने चाहिए ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न अंग के रूप में भारत में एक जिम्मेदार सरकार की स्थापना का प्रगतिशील लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। उन्होंने फैसला किया है कि इस दिशा में जितनी जल्दी हो सके ठोस कदम उठाए जाएं।...इस नीति में प्रगति क्रमिक चरणों में ही की जा सकती है। भारतीय जनता की उन्नति और खुशहाली की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार पर है और इनकी जांच हर विकास के परिणाम और समय से की जानी चाहिए। इन्हें अपनी दिशा का निर्धारण उन लोगों से प्राप्त सहयोग के जरिए करना चाहिए जिन्हें सेवा के नए नए अवसर प्रदान किए जाएंगे और इस तथ्य से करना चाहिए कि उनकी जिम्मेदारी की भावना में किस सीमा तक विश्वास किया जा सकता है।

यह घोषणा सेक्रेटरी आफ स्टेट ई० एस० मांटेगु ने जारी की थी इसलिए इसे आमतौर से मांटेगु घोषणा नाम से जाना जाता है। मोटे तौर पर इसका प्रारूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कट्टर महारथियों—कर्जन और आस्टिन चेंबरलेन ने तैयार किया था। इस दस्तावेज में लार्ड कर्जन ने 'जिम्मेदार सरकार' का जिक्र शामिल किया था (रोनाल्डशे : 'लाइफ आफ कर्जन', खंड 3, पृष्ठ 167)। स्मरणीय है कि 1905 में लार्ड कर्जन ने भारत छोड़ते समय अपने विदाभाषण में कहा था : 'मैं हृदय से आशा करता हूं कि आप भारत के वायसराय, भारत के राज्याध्यक्ष के पद पर इस शब्द के पूरे सही सही अर्थों में सदा बने रहेंगे।'

यह घोषणा जारी करने में कितनी जल्दबाजी की गई इसका पता इस तथ्य से ही लग जाता है कि इसके जारी करने के बाद ही सरकारी जांच का एक लंबा और व्यापक सिलसिला शुरू हुआ जिसमें यह पता लगाना था कि इस घोषणा का मकसद क्या है? अंत में इस जांच के परिणामस्वरूप 1919 का भारत सरकार अधिनियम बना।

घोषणा का क्या अर्थ है यह एक विवाद का विषय बना हुआ है। क्या इसका इरादा स्वशासित डोमीनियनों के अर्थ में ही डोमीनियन का दरजा (घोषणा में इस शब्दावली का इस्तेमाल नहीं किया गया है) देना है? और यदि ऐसा है तो क्या इसमें यह बात भी निहित है कि अमुख तिथि तक इस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया जाएगा?

इस नीति को उन विभिन्न 'चरणों' से समझा जा सकता है जिसके लिए ब्रिटिश सत्ता के

अधिकारियों को 'हर विकास के परिणाम और समय से' जांच करनी थी। पहला चरण पूरा होने में दो वर्ष का समय लगा। दूसरे चरण की तुलना में यह अवधि बेहद कम थी। मांटेगु चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में कहा गया था कि एक चरण से दूसरे चरण में पहुंचने के लिए हर 10 वर्ष बाद समीक्षा और संशोधन किया जाना चाहिए। फिर भी दूसरे चरण को पूरा होने में 16 वर्ष का समय लग गया और 7 वर्षों की भरपूर जांच के बाद 1935 का भारत सरकार अधिनियम (गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट आफ 1935) सामने आया। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की कि दस वर्षों का अंतराल बहुत कम समय है इसलिए यह अवधि बढ़ा दी जाए। 'नई प्रणाली' के प्रशासन का वास्तविक प्रभाव देखने के लिए दस वर्ष का समय पर्याप्त नहीं है' (साइमन रिपोर्ट, खंड 2, पृष्ठ 7)।

अप्रैल 1924 में यार्क में भारत के नाम अपील करते हुए प्रधानमंत्री मैकडोनल्ड ने अपने भाषण में भारत में नई साम्राज्यवादी नीति का चौकस कदम ब कदम प्रगति और विकास-मूलक जांच के अभिप्राय को बड़ी कुशलतापूर्वक ग्रहण किया (यह नीति कम विकासमूलक और बिलंबकारी साबित हुई जब उसने व्यावहारिक उपायों का सहारा लिया। मसलन उन्होंने बंगाल आपातकालीन अध्यादेश थोप दिए और बिना मुकदमा गिरफ्तारी की प्रणाली कायम की):

> आप ब्रिटिश जनतंत्र में अपना विश्वास बनाए रखें; लेबर सरकार में भी आप अपना विश्वास बनाए रखें। भारत सरकार और लेबर सरकार द्वारा एक जांच की जा रही थी। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय संविधान, उसकी कार्यप्रणाली और उसका संभावनाओं का आधार तैयार करने के लिए इस जांच के जो परिणाम होंगे, उनसे भारतीयों का एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देने में सहयोग मिलेगा जो स्वराज्य होगा।

इस कार्यक्रम और वचन की आशापूर्ण सुस्पष्टता ने भारत के प्रति साम्राज्यवादी नीति को उसी पुरातन शैली में मूर्त रूप दिया है जिसमें मैकडोनल्ड अद्‌भुत रूप से प्रवीण थे।

नई नीति को अमल में लाने के लिए अब तक दो वैधानिक उपाय शुरू किए गए हैं। पहला उपाय 1919 का भारत सरकार अधिनियम है जिसके जरिए द्वितंत्र (डाइआर्की) की स्थापना की गई। केंद्र सरकार के ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं किया गया लेकिन प्रांतीय सरकारों के मामले में स्वास्थ्य, शिक्षा तथा इसी तरह के रचनात्मक विषयों को, जिनके लिए धन नहीं था, उन भारतीय मंत्रियों के पास 'स्थनांतरित' कर दिया गया जो प्रांतीय विधान मंडलों के लिए जवाबदेह थे जबकि पुलिस तथा भूराजस्व जैसे सामरिक महत्व के मामले उन मंत्रियों के हाथों में 'सुरक्षित' रहने दिए गए जो गवर्नर के प्रति जवाबदेह थे। प्रांतीय विधानमंडलों की स्थापना निर्वाचित सदस्यों के बहुमत से की गई। इसके लिए संपत्ति के आधार पर सीमित मताधिकार का सहारा लिया गया जो कुल आबादी (बर्मा

को छोड़कर) के 2.8 प्रतिशत भाग का प्रतिनिधित्व करता था। प्रांतीय गवर्नरों को इस बात का अधिकार था कि विधानमंडल द्वारा यदि कोई कानून स्वीकार नहीं बल्कि पारित कर दिया गया है तो च.हें तो वे उसे वीटो कर सकते हैं या उसकी पुष्टि कर सकते हैं। केंद्र में दो सदनों की स्थापना की गई—एक कौंसिल आफ स्टेट और दूसरा लेजिस्लेटिव असेंबली। कौंसिल आफ स्टेट में लगभग आधे सदस्य नामजद होते थे और शेष आधे सदस्यों को उच्चवर्ग की एक बेहद मामूली तादाद में से (संपूर्ण देश के 18,000 से भी कम मतदाताओं में से) चुना जाता था। लेजिस्लेटिव असेंबली में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होता था और इस निर्वाचन के लिए प्रांतों में हुए चुनाव से भी ज्यादा सीमित मताधिकार (कुल आबादी के 1 प्रतिशत के आधे से भी कम हिस्से को) को आधार बनाया जाता था। इन सब अधिकारों से बढ़कर गवर्नर जनरल के पास अधिकार थे, वह चाहे तो कानून विशेष की पुष्टि करे या वीटो करे।

द्वितंत्र की सभी ने भर्त्सना की। भारतीय जनमत ने ही नहीं बल्कि सत्तारूढ़ साम्राज्यवादियों ने भी कुछ वर्षों के अनुभव के बाद इसकी निंदा की। यहां फिलहाल उन सीमाओं का विश्लेषण करने की जरूरत नहीं है जो बड़ी स्पष्ट दिखाई देती थीं। भारतीय मामलों के मंत्री ने 1925 में इसका इस प्रकार वर्णन किया : 'यह एक तरह का पंडिताऊ दकियानूस संविधान था जिसके प्रति ऐंग्लो सैक्शन समुदायों ने आमतौर पर कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की · और इस बात की कोई संभावना नहीं है कि एक ऐसे समुदाय से सफलतापूर्वक कोई अपील की जा सके जिसके राजनीतिक विचार···इतने बड़े पैमाने पर ऐंग्लो सैक्शन प्रतिमानों से उद्‌भूत हों' (हाऊस आफ लार्ड्‌स में लार्ड बर्कनहेड का भाषण, 7 जुलाई 1925)। भारतीय मंत्रियों की 'जिम्मेदारी' एक ढोंग था, यह सभी मानते थे। साइमन कमीशन की रिपोर्ट ने इस व्यवस्था के दोषों का काफी भंडाफोड़ किया जिसके जरिए व्यवहार में भारतीय मंत्री 'मोटे तौर पर सरकारी खेमे पर निर्भर करते थे' और 'सरकारी आदमी' समझे जाते थे; 'सरकार के एकीकरण की अत्यंत सम्मोहक भावना' ने जिम्मेदारियों को अलग अलग बांटने की कागजी योजनाओं को विफल कर दिया। बेशक, उस निष्पक्ष न्याय से ज्यादा प्रभावशाली और कोई बात नहीं होगी जिसके जरिए साम्राज्यवादी संविधान निर्माण के हर अगले चरण ने अपने पूर्ववर्तियों के आडंबरों का पर्दाफाश किया। मांटेगु चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने मोर्ले मिंटो सुधारों के हवाई वायदों के प्रति काफी निर्मम रुख अपनाया। मांटेगु चेम्सफोर्ड रिपोर्ट की असफलताओं और कमियों को बताने में साइमन कमीशन रिपोर्ट ने भी कोई उदारता नहीं बरती। फिर भी, हर बार की ही तरह वर्तमान संविधान को आदर्श कहा गया और कहा गया कि इसकी भर्त्सना के पीछे भारतीयों की अदूरदर्शिता ही है।

1935 का भारत सरकार अधिनियम 1919 के बाद किए गए दूसरे सांविधानिक अधिनियमन का प्रतिनिधित्व करता है। चूंकि यही संविधान 1937 से लागू है (हालांकि मुख्य संघीय अनुखंड को युद्ध के बाद से अमल में नहीं लाया गया और अनिश्चित काल के

लिए स्थगित कर दिया गया) इसलिए इसकी अगले भाग में और भी विस्तार से जांच-पड़ताल करनी जरूरी है ताकि यह जाना जा सके कि यह कहां तक स्वराज्य की दिशा में प्रगति की अवस्था का द्योतक है अथवा इसने किस सीमा तक प्रभावकारी साम्राज्यवादी शासन को मजबूत करने की भूमिका निभाई।

इस प्रकार 1917 के बाद के 29 वर्षों ने प्रयोग और संविधान निर्माण की निरंतर प्रक्रिया का जायजा लिया। एक सदी के लगभग चौथाई हिस्से की समाप्ति तक साम्राज्यवाद की ताकत अब भी असीम बनी हुई है।'

क्या भारत में आधुनिक साम्राज्यवादी नीति का लक्ष्य 'डोमीनियन का दरजा' देना है? और यदि ऐसा है तो यह किन अर्थों में है? क्या यह उन्हीं अर्थों में है जिन अर्थों में इसे कोई साधारण व्यक्ति समझता है या यह उन अर्थो में है जिन अर्थों में कनाडा या आस्ट्रेलिया को डोमीनियन का दरजा प्राप्त है? अथवा यह किसी ऐसे अजीबोगरीब अर्थ में है जिसका वर्णन 1929 में भारतीय मामलों के मंत्री वेजवुड वेन ने किया था और अपने श्रोताओं को हैरानी में डाल दिया था? उन्होंने कहा था कि चूंकि 'भारत' ने स्वतंत्र रूप से राष्ट्रसंघ में 'प्रतिनिधित्व किया था और स्वतंत्र रूप से वर्साई संधि पर हस्ताक्षर किया था' इसलिए उसे 'डोमीनियन का दरजा' पहले ही से प्राप्त है। और यह अज्ञात लक्ष्य कब तक प्राप्त किया जाना है? इन सभी सवालों के जवाब में तरह तरह की बातें सुनने में आती हैं और अंतर्विरोध पूर्ण वक्तव्य देखने को मिलते हैं। समूचा मसला कूटनीतिक शब्दाडंबर के अभेद्य कुहरे से ढका हुआ है। किसी अंगरेज की बात उसके लिए इकरारनामा हो सकती है, लेकिन (यदि वह अंगरेज शासकवर्ग का सदस्य हुआ तो) उसे समझने के लिए वकील की जरूरत पड़ती है और इसके बावजूद उसे हमेशा यह साबित करने के लिए एक दूसरे वकील की जरूरत पड़ेगी कि उसके कथन का जो अर्थ बताया गया है, दरअस्ल वह उसका अभिप्राय नहीं है।

1917 की घोषणा में डोमीनियन की बात का कोई उल्लेख नहीं था और न ही 1919 के भारत सरकार अधिनियम में इसका कोई जिक्र था। मार्च 1921 में पहली बार नए अधिनियम का उल्लेख करते हुए वायसराय के नाम निर्देशों के शाही दस्तावेज (राएल इंस्ट्रुमेंट आफ इंस्ट्रक्शंस टु दि वायसराय) में इसके बारे में किसी दृष्टिकोण को स्थान दिया गया। इसमें यह लक्ष्य घोषित किया गया था कि 'ब्रिटिश भारत को हमारे डोमीनियनों में उचित स्थान मिल सकता है।' जाहिर है कि इसका अर्थ कुछ भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के आमुख में डोमीनियन स्टेट्स के वादे को खासतौर से शामिल करने की मांग की गई थी लेकिन इस मांग को नामंजूर कर दिया गया।

इन वैधानिक दस्तावेजों के अलावा समय समय पर दिए गए विभिन्न भाषणों के जरिए

कई बयान सामने आए लेकिन वे सब बाध्यकारी अधिकारों से रहित थे। इन भाषणों में कोई भाषण कम महत्वपूर्ण था तो कोई ज्यादा, कोई कम निश्चित था तो कोई ज्यादा। 1928 में अपने पद से अवकाश पाने के बाद मैकडोनल्ड ने कहा था :

> मैं आशा करता हूं कि कुछ वर्षों नहीं बल्कि कुछ महीनों के अंदर ही हमारे राष्ट्रमंडल में एक नया डोमीनियन शामिल हो जाएगा, एक दूसरी नस्ल के लोगों का डोमीनियन जिसे राष्ट्रमंडल के अंदर उतना ही आत्मसम्मान मिलेगा जितना अन्य देशों को प्राप्त है। मेरा आशय भारत से है। (जे० आर० मैकडोनल्ड, ब्रिटिश कामनवेल्थ लेबर कांफ्रेंस में भाषण, 2 जुलाई 1928)

लेकिन 'कुछ वर्षों नहीं बल्कि कुछ महीनों के अंदर' जो कुछ हुआ वह भारत में आतंक का साम्राज्य था और लगभग 100,000 भारतीयों की गिरफ्तारी थी जिसका संचालन मैकडोनल्ड ने ही किया और यह सारी कार्यवाही इसलिए की गई क्योंकि जनता स्वराज्य की मांग के समर्थन में आंदोलन कर रही थी।

1929 में वायसराय लार्ड इर्विन ने एक बयान जारी किया जिसका उद्देश्य गोलमेज सम्मेलन के लिए आधार तैयार करना था। उन्होंने कहा :

> मुझे महामहिम की सरकार की ओर से यह कहने का अधिकार दिया गया है कि उनकी राय में 1917 की घोषणा में यह अंतर्निहित है कि भारत की सांविधानिक प्रगति का स्वाभाविक मुद्दा डोमीनियन का दरजा प्राप्त करना है। (लार्ड इर्विन का 31 अक्तूबर 192९ का बयान)

इस वक्तव्य पर ब्रिटिश संसद के सभी अंगरेज राजनेताओं ने जबरदस्त विरोध प्रकट किया और इसका औचित्य महज इस आधार पर ठहराया गया कि भारत में एक कठिन राजनयिक स्थिति में इसके 'बड़े अच्छे प्रभाव' हुए। लेकिन सेक्रेटरी आफ स्टेट ने उन सारी कोशिशों का जोरदार विरोध किया जो उनसे जिरह के लिए की जा रही थीं। उन्होंने कहा : 'वायसराय की घोषणा का अर्थ वही है जो उसमें कहा गया है और मैं आदरणीय महानुभावों से कहना चाहूंगा कि वे मुझसे जिरह न करें वरना कठिनाइयां पैदा हो जाएंगी।'

'डोमीनियन का दरजा' का अर्थ क्या होता है ? इसका भी जवाब तरह तरह का है। जैसा-कि हमने देखा है, भारतीय मामलों के मंत्री ने दिसंबर 1929 में ही यह विचक्षण तर्क पेश किया था कि भारत को दस वर्ष पहले ही उसी समय से डोमीनियन का दरजा मिल गया है जबसे 'भारत' ने वर्साई संधि पर हस्ताक्षर किए और उसे राष्ट्रसंघ की सदस्यता मिली। एक तरफ तो इस तरह का अपना प्रिय तर्क पेश किया जाता था और दूसरी तरफ इसी के

साथ भारत की सांविधानिक प्रगति के भावी लक्ष्य के रूप में डोमीनियन दरजे का वादा दिया जाता था, जैसाकि वायसराय की घोषणा में किया गया था। लेकिन यह कभी नहीं बताया गया कि इन दोनों बातों में संगति क्या है ?

दूसरी ओर, इस दलील की हिमायत की जाती है कि अंततः 'डोमीनियन का दरजा' शब्द की परिभाषा देना असंभव है (हालांकि ऐसा लगता है कि वेस्टमिंसटर के विधान ने इसकी परिभाषा दे दी है)। इस प्रकार भारत सरकार विधेयक के आमुख में डोमीनियन स्टेटस लक्ष्य को शामिल करने की मांग के संदर्भ में 'दि टाइम्स' समाचारपत्र ने 1935 में लिखा :

> किसी विशुद्ध सांविधानिक दस्तावेज में 'डोमीनियन स्टेटस' की परिभाषा नहीं दी जा सकती···'डोमीनियन स्टेटस' का अलग अलग समय में इतना अलग अलग अर्थ रहा है और यह आज इतनी तरह की सरकारों पर लागू है कि यदि इसे यहां तक कि संसदीय विधेयक के आमुख में भी ऐसी कोई परिभाषा देने की कोशिश की गई जिसपर सभी समान रूप से सहमत हों, तो निराशा ही हाथ लगेगी। (दि टाइम्स का संपादकीय, 25 जनवरी 1935)

इस प्रकार चमक-दमक से भरा यह लक्ष्य एक अज्ञात और अबूझ क्षेत्र में लुप्त हो जाता है। ये पंक्तियां तब लिखी गई थीं जब वेस्टमिंसटर की संविधि में बड़ी स्पष्टता के साथ 'सांविधानिक दस्तावेज' और 'संसदीय विधेयक' के अर्थों में डोमीनियन स्टेटस की परिभाषा दी जा चुकी थी। लेकिन यह परिभाषा तो कनाडा, आस्ट्रेलिया या दक्षिण अफ्रीका के लिए थी, भारत के लिए नहीं।

इस अपरिभाषित और अपरिभाष्य डोमीनियन स्टेटस का लक्ष्य कितनी दूर है ? यह कोई नहीं जानता। इसके लिए कोई समय निर्धारित नहीं है। लेकिन साम्राज्यवाद के प्रमुख जिम्मेदार राजनेताओं ने स्पष्ट तौर पर यह बताने में कोई चूक नहीं की कि यह लक्ष्य काफी दूर है। भारतीय मामलों के भूतपूर्व मंत्री लार्ड बर्कनहेड ने 1929 में एलान किया :

> कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसी कोई अनुमानित अवधि नहीं निर्धारित कर सकता जिसमें हम कह सकें कि भारत को डोमीनियन का दरजा मिल जाएगा। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह भारत की जनता को यह बताए कि निकट भविष्य में उन्हें डोमीनियन का दरजा हासिल हो जाएगा। (हाउस आफ लार्ड्स में लार्ड बर्कनहेड का भाषण, 5 नवंबर 1929)

इसी प्रकार की धारणा बाल्डविन ने भी व्यक्त की :

कोई यह नहीं बता सकता कि उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना कब हो जाएगी; कोई यह नहीं बता सकता कि इसका रूप क्या होगा···कोई यह नहीं जानता कि निकट भविष्य में या काफी समय बाद जब भारत में एक जिम्मेदार सरकार बन जाएगी तो डोमीनियन का दरजा क्या होगा। (हाउस आफ कामंस में स्टेनले बाल्डविन का वक्तव्य, 7 नवंबर 1929)

इस प्रकार अज्ञात लक्ष्य एक अज्ञात भविष्य की अभेद्य दूरी में गुम हो जाता है।

1939 में युद्ध छिड़ने के बाद डोमीनियन का दरजा प्राप्त करने के लक्ष्य का मसला एक बार फिर सबसे आगे ला दिया गया क्योंकि सरकारी प्रवक्ता ने एक बार फिर इसे स्वाधीनता की मांग के विकल्प में पेश करना चाहा। 17 अक्तूबर 1939 को वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने कहा :

जैसाकि गवर्नर जनरल के नाम निर्देशों के प्रपत्र में कहा गया है, महामहिम की सरकार का यह इरादा है और इसके लिए वह उत्सुक है कि साम्राज्य के दायरे के अंदर ही भारत और ब्रिटेन के बीच साझेदारी बढ़ाई जाए ताकि भारत को बड़े डोमीनियनों के बीच उचित स्थान दिलाने का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके।

लेकिन यह बताने की कृपा नहीं की गई कि वह 'उचित स्थान' क्या होगा। वायसराय की घोषणा के बाद जो संसदीय बहस हुई उसमें सर सैम्युअल होर ने सरकार की ओर से यह निश्चयपूर्वक कहा कि सरकार का लक्ष्य '1926 का डोमीनियन स्टेटस' दिलाना है :

जो लोग यह सोचते हैं कि डोमीनियन स्टेटस दो तरह का है वे गलत सोचते हैं। जिस डोमीनियन स्टेटस की हमने अपेक्षा की है वह 1926 का डोमीनियन स्टेटस है। (हाउस आफ कामंस में सर सैम्युअल होर का वक्तव्य, 26 अक्तूबर 1939)

लेकिन इसके साथ ही उन्होंने इस पर रहस्य का एक नया आवरण डाल दिया :

डोमीनियन का दरजा कोई पुरस्कार नहीं है जो किसी योग्य समुदाय को दिया जाता है बल्कि यह उन तथ्यों को मान्यता देता है जो वास्तव में मौजूद हैं। जैसे ही ये तथ्य भारत में अस्तित्व में आएंगे, और मेरे विचार से जितनी जल्दी ये अस्तित्व में आएं उतना ही बेहतर है, हमारी नीति का लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा।

इस देववाणी सदृश उक्ति के पीछे जो बात थी वह वस्तुतः रहस्यपूर्ण नहीं थी। सैम्युअल होर का एक और वक्तव्य आया जिससे एक बार फिर हमें वादों के अंबार के बीच वही चिरपरिचित विदूषक चेहरा देखने को मिला :

> यदि इसके मार्ग में कठिनाइयां हैं तो वे हमारी वजह से नहीं हैं। वे किसी ऐसे विशाल उपमहाद्वीप में जो विभिन्न जातियों और समुदायों में बंटा हो, सहज रूप से निहित हैं।...यहां के राजा-महाराजा ब्रिटिश भारत का प्रभुत्व कायम होने की आशंका से डरे हैं; मुसलमान लोग इस बात के पक्के विरोधी हैं कि केंद्र में हिंदुओं का बहुमत स्थापित हो; दलितवर्ग के लोगों या अल्पमत जातियों के अन्य लोगों का यह सोचना ठीक ही है कि कोई जिम्मेदार सरकार जिसका अर्थ हिंदुओं के बहुमत पर टिकी सरकार है, उनके हितों की बलि चढ़ा देगी। ये चिंताएं आज भी बनी हुई हैं। काश ! ये चिंताएं न होतीं। लेकिन जब तक इनका अस्तित्व है, सरकार के लिए यह असंभव है कि वह किसी निश्चित तिथि पर केंद्र को तत्काल और पूरी जिम्मेदारी देने की मांग स्वीकार करे।

इस प्रकार एक बार फिर वे हथकंडे अपनाए गए जिनसे हम अच्छी तरह परिचित हैं। एक तरफ तो बिना किसी ठोस प्रस्ताव या निश्चित तिथि के डोमीनियन का दरजा देने का वादा किया गया और दूसरी तरफ भारतीय जनता की 'फूट' का बहाना लेकर इसकी प्राप्ति के हर प्रयास को विफल किया गया। डोमीनियन स्टेटस के वादे का इस्तेमाल गंभीर स्थितियों का सामना करने तथा आजादी की मांग का प्रतिकार करने के लिए एक कूटनीतिक चाल के रूप में किया गया लेकिन इस वादे को ऐसी शर्तों से घेर दिया गया है जो बड़े आराम के साथ इसकी उपलब्धि को एक अज्ञात तिथि के लिए गुमनाम मसला बनाकर रख देंगी।

लेकिन असीम अनिश्चितता के इन चालपूर्ण कुहासों के विपरीत जब यह वायदा 1917 के संकल्प को पूरा करने का या भारत में 'जिम्मेदार सरकार' की स्थापना की संभावना का मसला बन जाता है तो समूचा दृश्य ही बदल जाता है और जब यह तय लगता है कि निकट भविष्य में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का जबरदस्त प्रभुत्व बना रहेगा तो इस अनिश्चय के कुहासे का स्थान निश्चय की ठोस चट्टान ले लेती है। यहां हम ठोस आधार पर होते हैं; यहां पर स्वर गुंजायमान और आत्मविश्वासपूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार लायड जार्ज ने 1922 में प्रधानमंत्री की हैसियत से अपने मशहूर इस्पाती (स्ट्रील फ्रेम) भाषण में एलान किया :

> ब्रिटेन किसी भी हालत में भारत के प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं छोड़ेगा—यह मूलभूत सिद्धांत मौजूदा सरकार का ही नहीं बल्कि इसका कोई भी ऐसी सरकार पालन करेगी जिसको इस देश की जनता का पूरा पूरा विश्वास प्राप्त है...
>
> मैं किसी ऐसी अवधि का अनुमान नहीं लगा सकता जब भारत ब्रिटिश सिविल सर्विस के इस छोटे से केंद्रबिंदु से मिलने वाले दिशा निर्देश और सहयोग को छोड़

> सके…ये समूचे ढांचे के इस्पाती चौखटे हैं। (हाउस आफ कामंस में लायड जार्ज का भाषण, 2 अगस्त 1922)

इसी प्रकार चर्चिल ने 1930 में एलान किया :

> भारतीयों के जीवन और उनकी प्रगति पर से अपना अचूक नियंत्रण समाप्त करने का ब्रिटेन का कोई इरादा नहीं है।
>
> हमारा यह कतई इरादा नहीं है कि हम ब्रिटिश सम्राट के ताज में से उस शानदार चमकीले और बहुमूल्य रत्न को निकाल दें जो हमारे अन्य सभी डोमीनियनों और उपनिवेशों की तुलना में ब्रिटिश साम्राज्य को सर्वाधिक गौरव और शक्ति प्रदान करता है। (इंडियन इंपायर सोसायटी में 11 दिसंबर 1930 को विंस्टन चर्चिल का भाषण)

1934 में प्रधानमंत्री की हैसियत से बाल्डविन ने भी ऐसी ही भाषा इस्तेमाल की थी :

> आज की इस दुनिया के संयोगों और बदलावों के बीच मेरी यह निश्चित धारणा है कि समूचे भारतीय उपमहाद्वीप को ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत हमेशा के लिए बनाए रखने के आपके पास अच्छे अवसर हैं। (नेशनल यूनियन आफ कंजरवेटिव ऐंड यूनियनिस्ट एसोसिएशंस की केंद्रीय कौंसिल में स्टेनले बाल्डविन का भाषण, 4 दिसंबर 1934)

इसी प्रकार 1931 में एक भाषण के दौरान उन्होंने सांविधानिक सुधारों के मकसद की व्याख्या की :

> भारत और ग्रेट ब्रिटेन को एकता के सूत्र में पिरोने वाले बंधनों में किसी तरह की कमजोरी लाए बिना हम ऐसी घनिष्ठता कायम करना चाहते हैं जैसी पहले कभी नहीं थी। इस समय हम इसी घनिष्ठ एकता के काम में लगे हुए हैं। (स्टेनले बाल्डविन का न्यूटन एबट में भाषण, 6 मार्च 1931)

इस सर्वेक्षण के नतीजे अपरिहार्य हैं। इन और इस तरह के समान वक्तव्यों के संचित प्रभावों का सर्वेक्षण असंभव है जैसे कि भारत में जिम्मेदार सरकार कायम होने की संभावना पर दृढ़ अविश्वास और दुर्ग्राह्यता तथा भारत में अंगरेजी राज्य के बने रहने के बारे में आरोपित निश्चितता एवं कठमुल्लेपन से परिपूर्ण ऐसे और इस तरह के तमाम वक्तव्यों से संचित प्रभाव का सर्वेक्षण असंभव है। इन सबने विभिन्न सांविधानिक कार्यक्रमों और योजनाओं के जरिए आधुनिक युग में भारत में ब्रिटिश नीति के बारे में

ठोस निष्कर्ष तक पहुंचे बिना अंगरेजों के हाथ में तिहरे सुरक्षा उपायों सहित सभी सामरिक स्थल सौंप दिए हैं। इस विषय में अंधेपन या अनिश्चितता या भोले भाले भ्रमों को पालना कोई सफाई नहीं है। साम्राज्यवादियों की बुनियादी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल उनकी रणनीति बदल गई है।

'डोमीनियन का दरजा' देने की परिकाल्पनिक, अपरिभाषित, अज्ञात और अनिश्चित मृग-मरीचिका एक ऐसा सुनहरा जाल थी जिसमें भारतीय राजनीतिज्ञों को फंसाकर उनका सहयोग लिया जा सकता था। लेकिन सांविधानिक सुधारों की जो सचाइयां थीं उनका चरित्र एकदम भिन्न था।

साम्राज्यवादी प्रभुत्व को बनाए रखने का बुनियादी लक्ष्य आज भी वैसे ही जारी है जैसे पहले था। वर्तमान सुधारों का रास्ता वही है जो 1917 से पूर्व के वर्षों में किए गए सुधारों का रास्ता था। इनका विकास और भी कठिन स्थितियों में तथा साम्राज्यवादी पतन के और भी विकसित चरण में हो रहा है। आज जो लक्ष्य दिखाई दे रहा है वह भारत में साम्राज्यवाद के प्रगतिशील ढंग से समापन का और भारत की जनता के हाथ में सरकार की बागडोर सौंपने का लक्ष्य नहीं है बल्कि आज कोशिश यह की जा रही है कि पूरी एहतियात के साथ भारतीय जनता के अल्पमत उच्चवर्ग को अपना सहयोगी बनाकर जनता को गुलामी की जंजीर में जकड़े रखा जाए ताकि साम्राज्यवादी शासन और शोषण बरकरार रहे। जिन सांविधानिक सुधारों और 'नई दृष्टि' का काफी ढिंढोरा पीटा गया था, उनका बुनियादी रणनीतिक मकसद यही था। 1935 के संविधान के निर्माता बाल्डविन के शब्दों में :

> भारत में हमारे वायसरायों और गवर्नरों तथा सेक्रेटरी आफ स्टेट द्वारा भरती किए और संसद द्वारा सुरक्षा प्रदान किए गए सैनिकों का कर्तव्य यह होगा, और जरूरत पड़े तो उन्हें इस बात की गारंटी देनी होगी, कि भारतीय मंत्रिगण और विधानमंडल उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने राजनीतिक अधिकार का इस्तेमाल करेंगे जिन्हें हम चाहते हैं। (गवर्नमेंट आफ इंडिया बिल पर स्टैनले बाल्डविन का रेडियो प्रसारण, 5 फरवरी 1935)

4. 1935 का संविधान

यदि हम मोर्ले मिंटो सुधारों को पहला संविधान मानें तो 1935 के भारत सरकार अधिनियम में प्रस्तुत संविधान, जिसे मांटेगु घोषणा के बीस वर्षों बाद 1937 में अमल में लाया गया, आधुनिक युग में भारत के लिए तैयार किया गया तीसरा साम्राज्यवादी संविधान है। सात वर्षों से भी अधिक समय तक निर्माणाधीन रहने के बाद इसे सविस्तार प्रतिपादित किया गया। यह काम पहली बार साइमन कमीशन की नियुक्ति के समय से

शुरू हुआ और इसपर ब्रिटेन में काफी विवाद हुआ और भारत में इसे लेकर काफी संघर्ष हुए।

इस संविधान को आमतौर पर अंगरेजों ने कुछ परवर्ती रक्षा उपायों के अंतर्गत स्वराज्य की परोक्ष उपलब्धि या किसी भी रूप में स्वराज्य की विस्तृत और उदार स्थापना कहा। परिणामत: भारतीय जनता ने इसे एक स्वर से अस्वीकार किया और जब इसे नामंजूर करने में न केवल राष्ट्रीय कांग्रेस बल्कि भारतीय उदारवादियों या नरमदली लोगों ने भी भाग लिया तो इसपर लोगों को आश्चर्य हुआ और इस कार्यवाही को अनुचित बताया गया। उन लोगों ने भी इसे अनुचित बताया जो औपनिवेशिक जनता के अतिरिक्त अन्य लोगों से अपने व्यवहार में सामान्यत: उदार जनतांत्रिक रवैया अख्तियार करते थे।

इसके वास्तविक प्रावधानों की यदि सावधानी से जांच करें तो इस विरोध के कारण का पता चल जाएगा और यह स्पष्ट हो जाएगा कि किन कारणों से भारतीय राजनीतिक नेताओं ने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास और प्रसार के लिए इस व्यवस्था द्वारा खास तौर से प्रांतीय अनुच्छेदों में दी गई सुविधाओं को भरपूर इस्तेमाल करने और उन्हें मान्यता देने के बावजूद संविधान का विरोध किया और उसे नामंजूर किया। उन्होंने किन कारणों से विशेष रूप से संविधान के संघीय अनुच्छेदों का विरोध किया और महसूस किया कि यह योजना स्वराज्य की स्थापना के लिए नहीं बल्कि भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व को और मजबूत बनाने के लिए तैयार की गई है।

संविधान में दो मुख्य अनुच्छेद हैं : पहला संघीय अनुच्छेद है जो ब्रिटिश भारत और देसी रियासतों के प्रायोजित अखिल भारतीय फेडरेशन की केंद्रीय सरकार के लिए है और दूसरा है प्रांतीय अनुच्छेद जो ब्रिटिश भारत के प्रांतों के लिए है। प्रांतीय अनुच्छेद 1937 में अमल में आया जबकि संघीय अनुच्छेद को कभी अमल में नहीं लाया गया (हालांकि वर्तमान सरकार आंशिक तौर पर इसके प्रावधानों के अंतर्गत ही काम करती है)। प्रांतीय अनुच्छेद के तहत अधिकांश सूबों में राष्ट्रीय कांग्रेस ने कार्यभार संभाला और राष्ट्रीय कांग्रेस ने संघीय अनुच्छेद को अमल में लाए जाने का विरोध किया। संविधान का मूल भाव संघ की अवधारणा था। इसी से पता चलता है कि वह कौन सी नई दिशा ले रहा था और इसी में उसका जबरदस्त प्रतिक्रियावादी चरित्र छिपा था।

भारत की राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक प्रगति के लिए भारत का राजनीतिक एकीकरण अनिवार्य है। इस बात को हर विचारधारा और हर प्रवृत्ति के लोग मानते हैं। मुख्य रूप से छोटी छोटी रियासतों के रूप में भारत का मूर्खतापूर्ण विभाजन किया गया है; भारत की एकता को एकदम दो तरह की प्रशासनिक प्रणालियों में बांट दिया गया है : देश का 45 प्रतिशत हिस्सा एक तरह की और 55 प्रतिशत हिस्सा दूसरी तरह की प्रशासनिक प्रणाली के अंतर्गत है और इसके साथ अविश्वसनीय ढंग से आड़ी तिरछी चौहद्दियां खींच

दी गई हैं जो एक दूसरे को काटती हैं और जिनका भौगोलिक, आर्थिक, जातीय, भाषाई या सांस्कृतिक किसी भी दृष्टि से औचित्य नहीं है : ये सारी बातें एक ऐसे पुरावशेष हैं जिन्हें काफी पहले दूर किया जाना चाहिए था और जिनका बना रहना भारत में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत हर तरह का प्रतिक्रियावादी सुधार बनाए रखने का उपाय है। ऐसा इसलिए क्योंकि जैसा हमने पहले देखा है, भारतीय 'रियासतों' का कृत्रिम तौर पर अस्तित्व कायम रखा गया है। अंगरेजों के मजबूत हथियारखानों ने इन रियासतों को ध्वस्त होने से बचा रखा है। इनके अस्तित्व से भारतीय जनता की कोई जरूरत पूरी नहीं होती, ये भारत में ब्रिटिश शासन को एक मजबूत सहारा देते हैं। सरकारी प्रवक्ता के शब्दों में कई रियासतें तो 'विवादग्रस्त क्षेत्र में मित्र पक्ष के गढ़ हैं।'

लेकिन संघ संबंधी जो प्रस्ताव आए उनका मकसद किसी भी रूप में इस विभाजन को समाप्त करना नहीं था, उनका मकसद उन पुरातन तानाशाही हुकूमतों को नष्ट करना नहीं था और न उनका मकसद समान प्रशासनिक प्रणाली कायम करना ही था। इन प्रस्तावों का केवल एक मकसद था जो बहुत स्पष्ट था, इनके जरिए प्रतिक्रियावादी पुरावशेषों को और मजबूत बनाना था और उन्हें भारत की केंद्रीय सरकार के मर्मस्थल तक लाना था ताकि ब्रिटिश भारत में साम्राज्यवादियों के कमजोर पड़ रहे प्रभुत्व को मजबूत बनाया जा सके और राष्ट्रीय आंदोलन अर्थात राष्ट्रीय एकीकरण के आंदोलन का मुकाबला किया जा सके।

राज्यसंघ क्या है ? किसी वास्तविक राज्यसंघ के बुनियादी सिद्धांत क्या हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए संयुक्त राज्य अमरीका, स्विस गणराज्य, सोवियत समाजवादी गणराज्य जैसे राज्यसंघों के महान ऐतिहासिक मिसालों की जांच करनी होगी।

एक राज्यसंघ ऐसी स्वतंत्र प्रभुसत्तासंपन्न इकाइयों का स्वैच्छिक संघ है जो इन इकाइयों पर आधारित और इन इकाइयों या इनकी जनता के प्रति उत्तरदायी प्रभुसत्तासंपन्न केंद्रीय संगठन की स्थापना के लिए समान राजनीतिक लक्ष्यों, आदर्शों या वाह्य आवश्यकताओं से प्रेरित हों और जो सीमित मात्रा में समान संगठन की स्थापना करें जिनमें पूर्ण केंद्रीकरण न होने पर भी स्वेच्छापूर्वक सहमत सीमाओं के अंतर्गत संघ के सभी नागरिकों के लिए एक संघीय कानून बनाया जा सके।

इस सारी जांच-पड़ताल से पता चलता है कि भारत के लिए प्रस्तावित राज्यसंघ एक अयथार्थ नाम है, यह भाषा का एक छल है जो वर्तमान ढांचे में कुछ और विशेष किस्म के प्रतिक्रियावादी तत्वों को शामिल करके मनमानी निरंकुश तानाशाही को बयान करने के लिए है।

पहली बात तो यह है कि राज्यसंघ में प्रभुसत्ता नहीं स्थित थी। प्रभुसत्ता स्पष्ट तौर पर

कानून के जरिए राज्यसंघ से बाहर ब्रिटिश शासकवर्ग के लिए, लंदन से नियुक्त किए गए ब्रिटिश गवर्नर जनरल के लिए, जो केवल ब्रिटिश सरकार के प्रति जवाबदेह हो और जो निरंकुश अधिकारों का इस्तेमाल कर रहा हो, ब्रिटिश संसद के लिए जवाबदेह सेक्रेटरी आफ स्टेट के लिए और अंततः सर्वोच्च सत्ता के रूप में ब्रिटिश संसद के लिए निर्धारित की गई थी। राज्यसंघ के अंदर या राज्यसंघ की संरचना करने वाले सदस्य देशों को प्रभुसत्ता नहीं मिली थी। दूसरे शब्दों में कहें तो यह राज्यसंघ नहीं था बल्कि निरंकुश शासन एक खास प्रशासनिक तरीका था।

दूसरी बात यह है कि यह संघ प्रभुसत्तासंपन्न घटकों का स्वैच्छिक संघ नहीं था। यहां तक कि रियासतों के खुशामदी राजाओं के शामिल होने को, जो व्यवहार में ब्रिटेन के सरकारी फरमानों को मानने के लिए मजबूर हैं और जो ब्रिटेन सरकार की इच्छा के जबरदस्त प्रवक्ता हैं, हम राजनयिक दृष्टि से 'स्वेच्छापूर्वक' शामिल होना, भले ही मान लें पर राज्यसंघ के तीन चौथाई भाग की रचना करने वाले प्रांतों (ब्रिटिश भारत के) का शामिल होना एक अनिवार्य क्रिया थी जो उनपर बाहर से थोपी गई थी, यह उनकी स्वैच्छिक क्रिया नहीं थी।

तीसरी बात जो 'राज्यसंघ' की अवधारणाओं में सर्वाधिक असाधारण थी, वह यह थी कि कुल मिलाकर राज्यसंघ के लिए निर्धारित संघीय कानून, कानून रचना या प्रशासन की कोई प्रणाली नहीं थी। राज्यसंघ के नागरिकों के लिए भौतिक अधिकारों की कोई घोषणा नहीं थी। रियासतों की प्रजा के पास कोई अधिकार नहीं थे, राज्यसंघ से वे पूरी तरह अप्रभावित थी। लेकिन तानाशाह राजाओं को ब्रिटिश भारत के आंशिक मताधिकार प्राप्त नागरिकों के लिए कानून बनाने हेतु संघीय सदनों में भाग लेने की व्यवस्था थी। संघीय विधानमंडल को राज्यसंघ के लिए नहीं बल्कि एक वर्ग के लिए, ब्रिटिश भारत के लिए कानूनों का निर्माण करना था। क्या राज्यसंघ की बुनियादी अवधारणा में आज तक कभी इस तरह का अंतर्विरोध देखने को मिला है? एक बार फिर यह स्पष्ट है कि इस तथाकथित 'राज्यसंघ' ने समूचे भारत के लिए किसी परिवर्तन का या अपेक्षातया घनिष्ठ सम्मिलन का प्रतिनिधित्व न करके ब्रिटिश भारत में नए प्रतिक्रियावादी तत्व पैदा करने का ही काम किया।

इसलिए शुरू में ही यह समझ लेना जरूरी है कि राज्यसंघ का प्रश्न भारत के उस राजनीतिक एकीकरण का प्रश्न नहीं है जो आवश्यक है, जिसे सभी ने आवश्यक माना है, और जो होना अवश्यंभावी है और काफी संभावना है कि जिस दिन यह एकीकरण होगा, यह एक सही राजनीतिक राज्यसंघ का रूप ले लेगा। इस संविधान के तथाकथित 'राज्यसंघ' का मसला एक जनतंत्रविरोधी पद्धति का मसला था जिसने देश के राजनीतिक विभाजन और रियासतों की निरंकुश व्यवस्था की बुराइयों की ओर से तो आंखें मूंद लीं पर भारत के उस हिस्से को एक नई प्रतिक्रियावादी शक्ति से परिचित कराया जिसमें कुछ सीमित

अर्धजनतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना हो गई थी और जहां राष्ट्रीय आंदोलन का विकास हुआ था।

इसलिए तथाकथित 'राज्यसंघ' की योजना को ऐसी योजना का नाम देना बिलकुल ठीक होगा जो रियासतों के निरंकुश राजाओं को जो अपने अंगरेज स्वामियों के अलावा और किसी के लिए जवाबदेह नहीं हैं, ब्रिटिश भारत की 27 करोड़ जनता के लिए कानून बनाने का अधिकार दे दे। संविधान के मसले पर विचार करने के लिए और राष्ट्रीय कांग्रेस के विरोध में भविष्य में जब कभी 'राज्यसंघ' का उल्लेख किया गया है तो यह ध्यान रखना होगा कि इस शब्दावली का अर्थ वही है जो ऊपर बताया गया है।

'राज्यसंघ' का वास्तविक उद्देश्य यही था कि ब्रिटिश भारत में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पलड़ा भारी किया जाए। प्रस्तावित संघीय विधानमंडल के दोनों सदनों में राजाओं को दिए गए विशेष प्रतिनिधित्व तथा महत्व से यह बात स्पष्ट हो गई।

संघीय विधानमंडल में दो सदन होने थे, ऊपरी सदन या कौंसिल आफ स्टेट और निचला सदन या संघीय विधानसभा। इन राजाओं का दोनों सदनों में महज प्रतिनिधित्व ही नहीं करना था बल्कि जरूरत से ज्यादा प्रतिनिधित्व करना था और इस काम में यह नहीं देखा जाना था कि अमुक राजा अपनी रियासत के आकार और जनसंख्या के आधार पर ही प्रतिनिधित्व करे। कौंसिल आफ स्टेट के 260 स्थानों में से, 104 स्थान अर्थात कुल का 2/5 हिस्सा, राजाओं के लिए निर्धारित था। संघीय विधानसभा में 375 स्थानों में से 125 स्थान अर्थात एक तिहाई स्थान राजाओं के लिए निर्धारित थे। समूचे भारत की आबादी का 24 प्रतिशत या एक चौथाई से भी कम भाग इन देसी रियासतों में रहता है। यदि वित्तीय आधार को ध्यान में रखा जाए तो यह असंगति और भी स्पष्ट है। अनुमान यह लगाया गया था कि संघीय राजस्व का 90 प्रतिशत हिस्सा ब्रिटिश भारत से और केवल 10 प्रतिशत रियासतों से वसूला जाएगा। इसके बावजूद राजाओं को ऊपरी सदन में 2/5 और निचले सदन में 1/3 के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिलना था।

इस प्रकार प्रत्येक सदन में 'सरकारी गुट' के स्थान पर एक अनिर्वाचित और अप्रातिनिधिक ठोस प्रतिक्रियावादी गुट को प्रविष्ट कराकर इस तथाकथित 'प्रतिनिधि' प्रणाली को शुरू में ही विफल कर दिया गया। यह नया गुट पहले के गुट से भी ज्यादा प्रतिक्रियावादी था और इसकी संख्या पुराने मोंटागू चेम्सफोर्ड संविधान के तहत गठित सदस्यों की संख्या से ज्यादा थी (पुरानी विधानसभा में अनिर्वाचित सरकारी सदस्यों की संख्या 40 या कुल संख्या की एक चौथाई थी। सदन में कुल सदस्यों की संख्या 145 थी)।

हमें इन अनमोल विधानसभाओं के 'अधिकारों' पर भी अभी विचार करना है। संविधान द्वारा केंद्र में कथित रूप से स्वीकृत 'जिम्मेदार' सरकार की अंतिम अवशिष्ट कथा भी

लुप्तप्राय हो जाती है। गवर्नर जनरल द्वारा चुने गए तथा गवर्नर जनरल के लिए जवाबदेह एक मंत्रिपरिषद का गठन किया जाना था पर उनकी सामर्थ्य बेहद सीमित थी। मिसाल के तौर पर रक्षा मंत्रालय, विदेश मंत्रालय, धर्मसंबंधी विभाग तथा वर्जित क्षेत्रों से संबंधित मामले पूरी तरह गवर्नर जनरल के नियंत्रण में थे। अन्य अनेक विभागों का काम देखने के लिए विशेष अधिकारियों की अलग से नियुक्ति की जाती थी, वित्तीय स्थिरता और साख की देखरेख के लिए वित्तीय सलाहकार, कानूनी मामलों के लिए एक एडवोकेट जनरल और संघीय बैंक तथा रेलवे के लिए अन्य अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। प्रशासकीय सेवा और पुलिस सेवा पर केवल सेक्रेटरी आफ स्टेट ही नियुक्ति कर सकता था। कुछ अन्य विशेष प्रावधानों के जरिए ब्रिटिश सरकार के बुनियादी कानूनों का उल्लंघन अथवा ब्रिटिश आर्थिक हितों या अल्पसंख्यकों के अधिकारों या रियासतों के अधिकारों के विपरीत की जाने वाली किसी भी कार्यवाही को रोका जा सकता था। गवर्नर जनरल के पास जो सामान्य अधिकार थे वे इन सबसे ऊपर थे। यह बताना कठिन है कि मंत्रियों के हाथों में कौन से अधिकार बच रहे थे। लेकिन काफी मुमकिन है कि उन्हें इस बात की देखभाल करने की स्वतंत्रता रही हो कि डाकखाने का कामकाज ठीक से चल रहा है या नहीं?

कानून में ऐसी कोई बात नहीं थी जो मंत्रियों को विधानांग के प्रति जवाबदेह बनाए। उनके वेतनों को विधानांग की स्वीकृति की जरूरत नहीं थी और यदि उनके विरुद्ध बहुमत से भी अविश्वास प्रस्ताव पारित हो जाए तो जरूरी नहीं था कि वे इस्तीफा दे दें। केवल गवर्नर जनरल के नाम निर्देशों के प्रपत्र में यह सिफारिश की गई थी कि मंत्रियों का चुनाव ऐसा हो जो विधानमंडल में एक ठोस बहुमत पर नियंत्रण रख सके। लेकिन इसमें यह भी बात कही गई थी कि मंत्रिपरिषद में रियासतों और अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों को भी शामिल किया जाए।

विधानमंडल के अधिकारों की स्थिति क्या है? प्रतिनिधि संस्था द्वारा शासन कायम करने की पहली कुंजी है वित्तव्यवस्था पर नियंत्रण। वित्त के संबंध में स्थिति क्या थी?

बजट को दो भागों में बांट दिया गया था : 'राज्यसंघ से प्राप्त राजस्व से किया जाने वाला व्यय' तथा 'अन्य व्यय'। पहले भाग के अंदर सभी भारी और मुख्य खर्च, जिनके लिए विधानांग की स्वीकृति नहीं ली जाती, शामिल हैं, उदाहरण के लिए रक्षा व्यय, ऋण पर दिया जाने वाला ब्याज, अधिकारियों की बड़ी बड़ी तनख्वाहें और पेंशनें आदि। इस तरह के मदों में बजट का तीन चौथाई से 4/5 भाग तक खर्च हो जाता था। प्रोफेसर जी०एन० जोशी के अनुसार ('इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन', पृष्ठ 69) कुल व्यय का अनुमानतः 75 प्रतिशत भाग इन मदों में खर्च होता था। राष्ट्रीय कांग्रेस का अनुमान है कि इन मदों पर बजट का 80 प्रतिशत अंश खर्च किया जाता था। गवर्नर जनरल को इस बात का अधिकार था कि वह जिस मद को चाहें इस भाग के अंतर्गत ला सकते हैं।

केवल 20 या 25 प्रतिशत छोटे मोटे खर्चे ऐसे थे जिनके बारे में विधानमंडल अपनी राय व्यक्त कर सकता था। लेकिन इस मामले में भी वह राय ही व्यक्त कर सकता था। इन छोटे मोटे खर्चों में भी विधानमंडल का कोई वश नहीं था। कोई भी वित्तीय विधेयक या प्रस्ताव स्वीकृति के लिए तब तक पेश नहीं किया जा सकता था जब तक उसे पहले गवर्नर जनरल की अनुशंसा न प्राप्त हो। विधानसभा द्वारा किसी अनुदान को नामंजूर करने या अनुदान की राशि को कम कर देने की अवस्था में गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह अपने विशेष दायित्वों के निर्वाह के लिए अनुदान को आवश्यक घोषित कर दे और विधानमंडल की अस्वीकृति के बावजूद उक्त खर्च को प्राधिकृत कर दे। इस प्रकार वित्तव्यवस्था की किसी जिम्मेदार प्रतिनिधि संस्था के लिए जो पहली बुनियादी शर्त है उसका यहां पूरी तरह अभाव था।

प्रतिनिधि संस्था द्वारा शासन कायम करने की दूसरी कुंजी है सेना और नौकरशाही के राजतंत्र पर नियंत्रण। रक्षा विभाग को विधानमंडल के क्षेत्र से बाहर सुरक्षित रखा गया था। पुलिस और प्रशासनिक सेवाओं में सेक्रेटरी आफ स्टेट को नियुक्ति करनी थी। उनके अधिकारों और सेवा शर्तों को विशेष धाराओं द्वारा सुरक्षा प्रदान की गई थी। पुलिस के लिए नियमों का निर्धारण गवर्नर जनरल को करना था, खुफिया पुलिस या राजनीतिक पुलिस पूरी तरह गवर्नर जनरल के ही अधीन थी। शासन कायम करने की तीसरी कुंजी है, कानून बनाने का अधिकार, कानूनों को पारित करने का अधिकार या प्रस्तावित कानूनों को मंजूरी न देने का अधिकार।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विधानमंडल उन सीमित विषयों के बारे में कानून पारित कर सकता था जिन्हें सरकार की स्वीकृति प्राप्त थी। इन विषयों के क्षेत्र को अनेक धाराओं द्वारा सीमित रखा गया था। विधानमंडल तब तक वित्त संबंधी उपायों पर हाथ नहीं लगा सकता था यहां तक कि उनपर बहस भी नहीं कर सकता था जब तक गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति उसे न मिल गई हो। यह उन कानूनों पर हाथ नहीं लगा सकता था जो ब्रिटिश सत्ता के बुनियादों को यथा सेना संबंधी मसलों, एवं प्रशासनिक सेवाओं, रियासतों, अल्पसंख्यकों, ब्रिटिश आर्थिक हितों आदि के अधिकारों को प्रभावित करते हों। विशेष तौर से संघीय विधानमंडल को यह अधिकार नहीं था कि वह ऐसे किसी उपाय को स्वीकृति दे जो :

1. ब्रिटेन में रहने वाली ब्रिटिश जनता पर ऐसे प्रतिबंध लगाए जिनका संबंध उनके ब्रिटिश भारत में प्रवेश करने या घूमने, रहने, संपत्ति कमाने, रखने या बेचने से हो या सार्वजनिक सेवा में कोई पद ग्रहण करने, कोई पेशा, व्यवसाय या व्यापार करने से हो।
2. भारत में करारोपण के संदर्भ में ब्रिटेन में रहने वाली ब्रिटिश जनता या ब्रिटेन में स्थापित किसी कंपनी के प्रति भेदभाव बरते।

3. ब्रिटेन में पंजीकृत जहाजों, उनके नाविकों, यात्रियों, उनपर लदे मालों आदि के प्रति भेदभाव बरते।
4. ब्रिटेन के कानूनों के तहत संस्थापित कंपनियों को राज्यसंघ से प्राप्त राजस्व में से अनुदान, आनुतोषिक या आर्थिक सहायता देने के संदर्भ में भेदभाव बरते।

इन 'शर्तनामों' से पता चलता है भारत में ब्रिटिश महाजनी पूंजी को मजबूत सुरक्षा देने के बारे में अंगरेज कितने चिंतित थे। इन शर्तनामों की वजह से भारतीय उद्योग, व्यापार या नौपरिवहन को बढ़ावा देने के लिए या विशेष रियायत एवं आर्थिक सहायता देने के लिए (ठीक उसी तरह जिस तरह ब्रिटिश सरकार ब्रिटेन में वहां के उद्योग, व्यापार या नौपरिवहन के साथ करती है) तब तक अनुमति नहीं मिलती थी जब तक भारत में ब्रिटेन के औद्योगिक तथा व्यापारिक हितों को भी वैसी ही सुविधाएं न दी जाएं।

शेष जिन क्षेत्रों में कानून बनाने की छूट थी भी, वहां विधानमंडल के पास कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं था। यदि विधानमंडल ने किसी ऐसे विधेयक को पारित कर दिया जिसे सरकार नहीं पसंद करती थी और मान लें कि घोर प्रतिक्रियावादी मंत्रिपरिषद ने भी उस विधेयक को पारित कर दिया तो गवर्नर जनरल अपनी सहमति को एकदम 'रोक' रखता था। दूसरी ओर, गवर्नर जनरल अपनी सहमति को यह कहकर 'रोक' सकता था कि विधेयक पर अभी और विचार करने की जरूरत है और यदि 12 महीनों तक उसने अपनी सहमति 'रोक' रखी तो विधेयक रद्द कर दिया जाता था। यदि उसने अपनी सहमति दे ही दी और बाद में उसने सोचा कि यह गलत हुआ है तो वह उसे बाद में 'अस्वीकार' कर सकता था ताकि वह रद्द हो जाए।

दूसरी तरफ यदि विधानमंडल किसी ऐसी कार्यवाही को स्वीकृति देने में विफल रहता है जिसे सरकार आवश्यक समझती हो तो गवर्नर जनरल उसे 'गवर्नर जनरल का कानून' कहकर पारित कर सकता था और यह कार्यवाही उतनी ही शक्तिशाली होती जितना कोई भी साधारण कानून। विकल्प के रूप में गवर्नर जनरल अध्यादेश जारी कर सकता था, इन अध्यादेशों को छः महीने तक कानून के स्थान पर इस्तेमाल किया जाता था। इसी तरह के 'अधिकार' इस 'विधानमंडल' के पास थे। इसके चयन में की गई मेहनत बेकार ही प्रतीत हुई होगी।

लेकिन इन सारी बातों से साम्राज्यवादी शासकों के एहतियात में एकदम कमी नहीं आई। वे स्पष्टतः इस बात से पूरी तरह निश्चित होना चाहते थे कि व्यवस्था के बंद दरवाजों से स्वराज्य की किसी फुसफुसाहट के भी अंदर जाने की गुंजाइश न रहे। हमें अभी और भी विस्तार से इन सुरक्षित अधिकारों और 'सुरक्षा उपायों' के मोहक रूप की जांच करनी होगी।

जब हम विधानमंडल के 'अधिकारों' से होकर गवर्नर जनरल के अधिकारों तक पहुंचते हैं तो हम अंधेरे से एकदम उजाले में पहुंच जाते हैं। कानून की कम से कम 94 धाराएं ऐसी थीं जिन्होंने गवर्नर जनरल को खुद ही निर्णय लेने के विशेष अधिकार दे दिए थे। इस प्रकार कोई भी गवर्नर जनरल अपने आप लिए गए निर्णय के आधार पर (अर्थात मंत्रियों या निर्वाचित संस्थाओं की किसी सलाह के बिना) निम्न कार्य कर सकता था :

1. मंत्रियों की नियुक्ति या बरखास्तगी;
2. विधानमंडल द्वारा पारित कानून पर वीटो;
3. विधानमंडल द्वारा नामंजूर कानून को पारित करना;
4. कानून के बारे में बहस पर प्रतिबंध;
5. अध्यादेश जारी करना;
6. प्रांतीय गवर्नरों को अध्यादेश जारी करने के निर्देश;
7. प्रांतीय कानूनों पर वीटो का इस्तेमाल;
8. पुलिस के लिए कायदे-कानून जारी करना;
9. सेना के इस्तेमाल को अपने अधीन रखना;
10. विधानमंडल भंग करना;
11. संविधान को स्थगित करना।

यह उसके कुछ चुने हुए, मनमाने अधिकारों की सूची है। इसी के साथ साथ उसके पास कुछ सुरक्षित अधिकार भी थे। सुरक्षित विभागों के रूप में उसके एकदम अपने नियंत्रण में रक्षा, विदेश, धार्मिक मामलों तथा वर्जित क्षेत्र से संबंधित विभाग थे। और अंत में कुछ ऐसे विशेष अधिकार हैं जिनका मकसद यह है कि यदि इन सबके बाद भी बचाव के किसी रास्ते के बने रहने की आशंका हो तो उसे रोका जा सके। गवर्नर जनरल के पास आठ 'विशेष जिम्मेदारियां' थीं जिनके पालन के लिए वह व्यक्तिगत तौर पर जिस भी तरह की कार्यवाही आवश्यक समझे कर सकता था। इन 'विशेष जिम्मेदारियों' (आमतौर से इन्हें 'सुरक्षा उपाय' कहा जाता था हालांकि यह कानून, आदि से अंत तक दरअस्ल सुरक्षा उपाय ही था) के अंतर्गत निम्न बातें आती थीं :

1. भारत या उसके किसी भी भाग में शांति या चैन के लिए उत्पन्न गंभीर खतरे को रोकना;
2. संघीय सरकार की वित्तीय स्थिरता और साख की रक्षा करना;
3. अल्पसंख्यकों के न्यायोचित हितों की रक्षा करना;
4. सार्वजनिक सेवा के सदस्यों, भूतपूर्व सदस्यों या उनके आश्रितों के 'न्यायोचित हितों' को सुरक्षा देना;
5. ब्रिटिश नागरिकों या भारत में क़ाम करने वाली कंपनियों के प्रति चाहे वे भारत

में संस्थापित हों या ब्रिटेन में, वित्त एवं व्यापार संबंधी मामलों में भेदभाव बरते जाने से रोकना;

6. भारत में ब्रिटेन से आयातित सामानों के प्रति भेदभाव को रोकना;
7. रियासतों और राजाओं के अधिकारों की रक्षा करना;
8. और अंत में एक शानदार एवं बहुप्रयोजनपूर्ण रक्षा उपाय 'यह सुनिश्चित करके कि अपने कार्यों का उचित निष्पादन उन मामलों के संबंध में करके, जिनके संबंध में उसे इस कानून के द्वारा या अंतर्गत अपने निर्णय से कार्य करना है, वह किसी अन्य मामले के संदर्भ में की गई कार्य-प्रक्रिया द्वारा समुपस्थित नहीं होता है या प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता है।'

संविधान का व्यापक सर्वेक्षण करने के उद्देश्य से अधिनियम की उन विशेष (और अति-विस्तृत) धाराओं की खोज करना एक लंबी प्रक्रिया होगी जिनमें ब्रिटिश महाजनी पूंजी के प्रत्यक्ष हितों, व्यापार और पूंजी निवेश, भारत में काम करने वाली ब्रिटिश कंपनियों, ऋण, रेलवे, बैंकों आदि के हितों को विशेष तौर पर सुरक्षा दी गई है या स्वतंत्र प्राधिकरणों के अंतर्गत रखा गया है। लेकिन यह निश्चय ही कहा जाना चाहिए कि अधिनियम की इन्हीं धाराओं से हमें समूचे संविधान के असली कार्यों का पता चलता है कि वह किस तरह भारत में ब्रिटिश महाजनी पूंजी के शोषण की रक्षा करने के लिए तैयार किया गया एक सुव्यवस्थित तंत्र है।

संविधान की जो प्रांतीय धाराएं हैं, वे केंद्र के निरंकुश और प्रतिक्रियावादी रचनातंत्र के मातहत हैं। सामान्यतः प्रांतों की राज्यव्यवस्था केंद्रीय राजतंत्र के मनोनुकूल अंशों को ही जरा नरम रूप प्रस्तुत करती है। प्रांतीय गवर्नर के पास भी इन सारी धाराओं से बढ़कर अधिकार हैं, वह किसी कानून को वीटो कर सकता है या स्वतंत्र कानून पास कर सकता है। पुलिस, कानून और व्यवस्था तथा वित्तप्रबंध पर उसका कारगर नियंत्रण रहता है और उसके पास भी सात विशेष जिम्मेदारियां होती हैं। इसी प्रकार विधान-मंडलों का गठन भी सांप्रदायिक आधार पर हुआ होता है और ऊपरी सदनों को जिनका पहले किसी प्रांत में अस्तित्व न था, बंगाल, बंबई, मद्रास, संयुक्त प्रांत और बिहार जैसे सभी प्रमुख प्रांतों पर थोप दिया गया है।

तो भी, यह तंत्र केंद्र की तुलना में प्रांतों में ज्यादा लचीला है और केंद्र की तुलना में यहां जनआंदोलनों की ज्यादा गुंजाइश रहती है। इसके निम्न कारण हैं :

पहली बात तो यह है कि प्रांतों में राजाओं का अस्तित्व नहीं होता। विधानमंडलों का पूरी तरह और प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन होता है हालांकि ऊपरी सदनों का स्वरूप प्रति-क्रियावादी है और उनका गठन अत्यंत सीमित मताधिकार के आधार पर किया गया है। दूसरी बात यह है कि प्रांतों में केंद्र की तरह आरक्षित विभाग नहीं हैं हालांकि पुलिस के

मामले में विशेष व्यवस्थाएं हैं। पुलिस के लिए निर्धारित नियम खुद गवर्नर के अधीन होते हैं; खुफिया पुलिस या राजनीतिक पुलिस को विशेष अधिनियमों के जरिए सुरक्षा प्रदान की जाती है और यहां तक कि उनके कार्यों से संबंधित कागजात भारतीय मंत्रियों को भी देखने को नहीं उपलब्ध हो सकते; पुलिस का इस्तेमाल किसी भी ऐसे आंदोलन का मुकाबला करने के लिए किया जा सकता है जिसका उद्देश्य यह समझा जाए कि 'कानून द्वारा स्थापित सरकार का तख्ता पलटना' है। गवर्नर यदि यह महसूस करता है कि 'प्रांत की शांति और सुख चैन के लिए खतरा है।' तो यह किसी भी तरह का कदम, जो वह उचित समझे, उठा सकता है। सत्ता के वास्तविक तंत्र के संदर्भ में इन अत्यंत जबरदस्त नियंत्रणों के अधीन, प्रांतीय सरकार कुल मिलाकर प्रशासन के लिए कार्य संचालन करती है और वह एक सीमा तक सामूहिक जिम्मेदारी की भावना पैदा कर सकती है। तीसरी बात यह है कि विधि निर्माण के मामले में यहां केंद्र जैसे व्यापक नियंत्रण नहीं हैं, ऐसा इसलिए नहीं है क्योंकि विधि निर्माण के अधिकार यहां अपेक्षतया व्यापक हैं बल्कि इसलिए क्योंकि वे और भी ज्यादा संकीर्ण हैं; ऐसे मसले जिनका स्वरूप अखिल भारतीय होता है और जो ब्रिटेन के विशेष हितों को या आर्थिक वत्तीय सत्ता को प्रभावित करते हैं, प्रांतों में पैदा ही नहीं हो सकते। इसलिए इस बात की बहुत संभावना है कि प्रांतों में लोकप्रिय मंत्रिमंडल कार्य संचालन कर सक और यहां वे शासक की नहीं बल्कि एकदम उपयोगी तत्व की भूमिका निभाएं।

ब्रिटिश भारत के 11 प्रांतों में प्रांतीय विधानसभाओं के लिए मतदाताओं की संख्या 3 करोड़ 10 हजार थी जो कुल आबादी का 11 प्रतिशत ही थी (जबकि मांटेगु चेम्सफोर्ड के संविधान में इसे 2.8 प्रतिशत बताया गया था)। ब्रिटेन की मिसाल लें तो पता चलेगा कि वहां 67 प्रतिशत जनता को मताधिकार प्राप्त है। मताधिकार प्राप्त करने की योग्यता मुख्यतया संपत्ति पर, कर देने की क्षमता पर और एक निश्चित मूल्य की काश्त पर निर्भर थी, इसके अलावा साक्षर होना जरूरी था। महिला मतदाताओं की संख्या 43 लाख थी। 1937 के चुनावों में जिन निर्वाचन-क्षेत्रों में मतदान हुए वहां मतदान में 1 करोड़ 55 लाख अर्थात उन निर्वाचन क्षेत्रों के कुल मतदाताओं के 55 प्रतिशत हिस्से ने भाग लिया।

ग्यारह प्रांतीय विधानसभाओं में 1,585 सीटों को निम्नांकित तरीके से बांट दिया गया है :

सामान्य सीटें	657
मुस्लिम	482
अनुसूचित जाति	151
वाणिज्य और उद्योग	56
महिलाएं	41

मजदूर	38
भूस्वामी	37
सिख	34
यूरोपीय	26
पिछड़े क्षेत्र और जनजातियां	24
भारतीय ईसाई	20
आंग्ल भारतीय	11
विश्वविद्यालय	8

यह देखा जा सकता है कि इतने जबरदस्त और प्रतिक्रियावादी उपविभाजन के बावजूद संघीय विधानसभा की तुलना में यहां काफी अनुकूल संभावनाएं हैं। यही वे स्थितियां थीं जिन्होंने अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल के गठन को संभव बनाया। फिर भी यह सोच लेना गलत होगा कि इन प्रांतीय कांग्रेस मंत्रिमंडलों के पास अत्यंत सीमित अधिकारों से कुछ ज्यादा अधिकार थे या ये मंत्रिमंडल उन महत्वपूर्ण समस्याओं पर हाथ लगा सकते थे जिन्हें स्वराज्य-प्राप्ति के बाद ही हल किया जा सकता है।

इन प्रांतीय मंत्रिमंडलों की पृष्ठभूमि में क्या चीजें हैं, यदि इसपर गौर करें तो पता चलेगा कि इनका दायरा अत्यंत सीमित है। दरअस्ल इनकी पृष्ठभूमि में एक ऐसी तानाशाह केंद्रीय सरकार है जिसपर अंगरेजों का नियंत्रण है, विधान के जरिए हर उस काम को या ऐसे किसी भी मामले में हस्तक्षेप को नियंत्रित कर दिया गया है जो ब्रिटिश हितों को या शासन के मूल संगठन को प्रभावित करे और साथ ही प्रांतीय गवर्नरों के पास सर्वोपरि अधिकार हैं। वित्त-व्यवस्था के संदर्भ में ये बातें खासतौर से प्रकट हैं। आयकर और सीमा शुल्क जैसे राजस्व के बढ़ते हुए स्रोतों को केंद्र के अधीन कर दिया है (बशर्ते-नैमेयर फैसले के अंतर्गत आंशिक पुनर्निर्धारण का कुछ प्रबंध हो) और केंद्र का 80 प्रतिशत बजट ऐसा होता है जिसपर भारतीय प्रतिनिधियों का मत नहीं लिया जाता। दूसरी तरफ स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे व्यय के सभी रचनात्मक स्वरूप प्रांतों को सौंप दिए गए हैं जबकि राजस्व के अपने मुख्य स्रोत के लिए उन्हें अत्यंत बोझिल, अनम्य और अलोकप्रिय मालगुजारी का क्षेत्र दे दिया गया है जिसे कम करने की जबरदस्त जरूरत है। इस तरह के विभाजन का मकसद बहुत स्पष्ट है, साम्राज्यवादियों ने इस विभाजन द्वारा प्रांतीय मंत्रिमंडलों के काम में बाधा डालने की कोशिश तो की ही है साथ ही यह भी चाहा है कि स्वास्थ्य, शिक्षा तथा सभी आवश्यक सामाजिक सेवाओं और रचनात्मक विकास के मामले में वे जो उपेक्षा बरतते हैं उसके लिए प्रांतीय मंत्रिमंडलों को जिम्मेदार ठहराया जाए और उनकी बदनामी हो।

परिणामतः प्रांतीय मंत्रिमंडलों को किसी भी अर्थ में स्वराज्य की प्राप्ति नहीं माना जाना चाहिए। ऐसा इसलिए नहीं क्योंकि अत्यंत सीमित क्षेत्रों में उनके अधिकारों पर भारी

प्रतिबंध लगा दिया गया है बल्कि सबसे बढ़कर इसलिए कि वे भारतीय जनता के अत्यंत आवश्यक और बुनियादी मसलों पर हाथ ही नहीं लगा सकते हैं। प्रमुख प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन से पता चलता है कि स्वराज्य के लिए संघर्ष में राष्ट्रीय आंदोलन ने एक विकसित रणनीतिक स्थिति की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठा लिया है लेकिन स्वराज्य की प्राप्ति के लिए, राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता के लिए अभी संघर्ष चलाया जाना शेष ही है।

जितनी ही बारीकी से छानबीन की जाएगी उतनी ही अधिक, कुल मिलाकर संविधान के बारे में और खासतौर से निर्णायक संघीय कद्र के संदर्भ में, जानकारी प्राप्त हो जाएगी। छानबीन से पता चलता है कि इसके जरिए न केवल जनतंत्र को नकारा गया है बल्कि भारत में साम्राज्यवादियों का शिकंजा और मजबूत बनाने के लिए तथा साम्राज्यवादी शासन के ढांचे के अंदर प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पलड़ा और भारी करने के लिए एक तंत्र की स्थापना की गई है। 'जिम्मेदारी' की बात एक मखौल थी। साम्राज्यवाद की शक्ति को मजबूत और दृढ़ बनाया गया था। स्वराज्य-प्राप्ति का सही संघर्ष इस संविधान की सीमाओं के अंतर्गत नहीं चलाया जा सका। हालांकि इस तंत्र के जरिए कुछ गौण और प्रारंभिक कार्य पूरे कर लिए गए लेकिन निर्णायक युद्ध इस संविधान के दायरे से बाहर और संविधान के विरुद्ध ही लड़ा जा सकता है।

इस संविधान के बारे में किसी भी जनतांत्रिक व्यक्ति की अंतिम राय वही हो सकती है जो ब्रिटेन के प्रमुख सांविधानिक विशेषज्ञ प्रोफेसर ए० बी० कीथ ने बड़े कठोर और दो टूक शब्दों में व्यक्त की थी :

> इस धारणा से इंकार करना मुश्किल है कि या तो जिम्मेदार सरकार की बात को खुलेआम असंभव घोषित किया जाए या सचाई को स्वीकार कर लिया जाए। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि विशेष जिम्मेदारियों वाली यह प्रणाली जैसी है वैसी दोगली रचना के लिए न तो स्वेच्छापूर्वक लोगों की कृतज्ञता सुलभ है और न सहयोग और सारे कार्य व्यक्तिगत फैसले के अनुसार किए जाने हैं।
>
> संघीय योजना के लिए किसी तरह के संतोष का अनुभव किया जाना कठिन है। जिन इकाइयों से इसकी रचना की गई है वे इतनी विषम हैं कि उन्हें ठीक से एक साथ नहीं रखा जा सकता और यह बात काफी स्पष्ट है कि अंगरेजों की तरफ से इस योजना का समर्थन इसलिए किया जा रहा है ताकि इसे विशुद्ध कट्टरवादिता का तत्व दिया जा सके जिससे ब्रिटिश भारत द्वारा प्रदान किए गए जनतंत्र के हर खतरनाक तत्व का मुकाबला किया जा सके···भारत में इस दावे से इंकार करना कठिन है कि मोटे तौर पर राज्यसंघ की उत्पत्ति के पीछे यह इच्छा काम कर रही थी कि जिम्मेदार सरकार को ब्रिटिश भारत

में केंद्र सरकार तक विस्तार देने के मसले को टाल दिया जाए। इसके अलावा, रक्षा विभाग और विदेश विभाग को संघीय नियंत्रण में देने से रोके रखना, जो इस प्रक्रिया में अवश्यंभावी है, जिम्मेदारी का कथित अनुमोदन प्रस्तुत करता है लेकिन यह सब व्यर्थ है। (प्रोफेसर ए० बी० कीथ, 'ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंडिया 1600-1935, 1936, पृष्ठ 473-74')

15
युद्ध की पूर्वसंध्या में राष्ट्रीय संघर्ष की स्थिति

> दुर्भाग्य की बात है कि कांग्रेस के प्रवक्ताओं ने 'स्वाधीनता' शब्द को अंधश्रद्धा का रूप दे दिया है। भारतीय मामलों के मंत्री, दि मारकस आफ जेटलैंड का एक संवाददाता सम्मेलन में कथन, 11 फरवरी 1940।

1930-34 के महान जनसंघर्षों के बाद से भारतीय राष्ट्रवाद का जो विकास हुआ उसे हम बहुत साफ तौर पर दो अवस्थाओं से गुजरता देख सकते हैं। पहले चरण में हम देखते हैं कि जबरदस्त दमन झेलने के बाद संगठन के पुनर्निर्माण का कार्य हुआ और नई नीतियां तैयार की गईं जिसके बाद चुनावों तथा प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन के जरिए संगठन ने इतनी प्रगति की कि उसका एक तरह से दबदबा कायम हो गया, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। 1934 से 1939 तक के वर्षों की यह उपलब्धि है। दूसरे चरण में हम देखते हैं कि संकट गहरा होता गया। इसकी प्रारंभिक झलक 1938-39 में ही मिल गई थी। युद्ध के बाद से ही गंभीर संकट पैदा हो गया था जिसने नए संघर्षों को जन्म दिया।

1. नवजागरण

1934 में जनसंघर्ष और सरकारी दमन अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था इसीलिए 1936 के बसंत में जब राष्ट्रीय कांग्रेस का लखनऊ में अधिवेशन हुआ उस समय तक कांग्रेस जबरदस्त संघर्षों और सरकारी दमन से प्रभावित अपनी ताकत संभालने में लगी थी। कांग्रेस के सदस्यों की संख्या घटकर 457,000 तक पहुंच गई थी। 1934-36 के दौर में कांग्रेस की पराजय के जो तात्कालिक असर पड़े थे वे बरकरार थे और कोई नई

प्रगति अभी तक दिखाई नहीं पड़ रही थी। 1934 में कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में पारित प्रतिक्रियावादी संविधान का, जो गांधी की विदा विरासत था, निस्संदेह एक प्रतिबंधकारी प्रभाव था (लखनऊ अधिवेशन में इसमें आंशिक रूप से संशोधन करना पड़ा था)। सारी गतिविधियां संसदीय क्षेत्र में आकर केंद्रित हो गई थीं, 1934 के अंत में कांग्रेस ने विधान सभा के चुनावों में हिस्सा लिया। लेकिन इस संसदीय गतिविधि का बहुत साधारण स्वरूप था और इन गतिविधियों के प्रति आम जनता में कोई दिलचस्पी नहीं पैदा हो सकी। लखनऊ अधिवेशन में नेहरू ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बिना किसी लाग लपेट के वर्तमान स्थिति की कमजोरियों की आलोचना की और कहा : 'हम मोटे तौर पर जनता के साथ अपना संपर्क खो चुके हैं।'

लखनऊ अधिवेशन में अध्यक्ष पद से जवाहरलाल नेहरू ने जो कुछ कहा वह अविस्मरणीय है। इसका कारण यह है कि इस अधिवेशन में उन्होंने समाजवादी लक्ष्यों की घोषणा की, फासीवाद और प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध दुनिया की जनता के बढ़ते संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में भारतीय जनता के संघर्ष को सामने रखा और साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों का एक ऐसा व्यापक जनमोर्चा या 'संयुक्त जन मोर्चा' बनाने की मांग की जिसमें मजदूरों और किसानों को मध्यवर्गीय तत्वों के साथ, जिनका कांग्रेस में प्रतिनिधित्व है, एकताबद्ध किया जा सके। सभी दिशाओं में एक नई हलचल दिखाई पड़ने लगी थी। कांग्रेस के अंदर समाजवादी खेमा मजबूत होता जा रहा था। लखनऊ अधिवेशन में यह समाजवादी गुट संख्या की दृष्टि से तो छोटा था पर वैसे काफी महत्वपूर्ण था लेकिन 1936 में जब फैजपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उस समय कांग्रेस कमेटी के एक तिहाई सदस्य समाजवादी खेमें के ही थे। लखनऊ अधिवेशन में नेहरू ने प्रस्ताव रखा था कि मजदूरों और किसानों के संगठनों को सामूहिक तौर पर कांग्रेस के साथ संबंध कर दिया जाए पर यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। कांग्रेस कमेटी ने इस प्रस्ताव को 35 के विरुद्ध 16 मतों से नामंजूर कर दिया और इस विषय पर विस्तार से विचार करने के लिए एक 'जन संपर्क समिति' के गठन की बात कही। जनता और जनता के सामाजिक आर्थिक हितों के साथ घनिष्ठ संपर्क बनाने की जरूरत सभी लोग महसूस कर रहे थे। अभी तक सारा ध्यान चरखे पर और जनता का जीवनस्तर सुधारने पर केंद्रित था लेकिन अब किसानों की वास्तविक मांगों को लेकर एक ठोस कृषीय कार्यक्रम को व्यापक रूप देने की कोशिशें की जाने लगीं। फैजपुर अधिवेशन में एक 13 सूत्री अस्थाई कृषीय कार्यक्रम मंजूर किया गया। इसमें शामिल मांगों में लगान और मालगुजारी कम करने, कर्ज की राशि घटाने या समाप्त करने, बंधुआ मजदूरी और जमींदारों के पावने की प्रथा समाप्त करने, खेतिहर मजदूरों के लिए एक उचित मजदूरी निर्धारित करने तथा बहुत सामान्य रूप में ही सही किसानों को यूनियन बनाने का अधिकार देने की मांगें शामिल थीं।

अप्रैल 1936 में संपन्न लखनऊ अधिवेशन से ही राष्ट्रीय कांग्रेस का आधुनिक इतिहास प्रारंभ होता है। इस काल से कांग्रेस के कामों में जबरदस्त तेजी आई। दिसंबर 1936 में

फैजपुर अधिवेशन होने के समय तक कांग्रेस के सदस्यों की संख्या बढ़कर 636,000 हो गई। 1937 की समाप्ति तक, चुनावों और प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन के बाद यह संख्या 30 लाख से भी अधिक हो गई। फरवरी 1938 में जब कांग्रेस का हरिपुरा अधिवेशन हुआ तो सदस्यों की संख्या 3,102,000 तक पहुंच गई थी। 1938 खत्म होते होते 40 लाख से भी अधिक लोग कांग्रेस के सदस्य हो चुके थे। इनमें से अकेले संयुक्त प्रांत में साढ़े बारह लाख सदस्य थे। 1939 में कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन के समय सदस्यों की संख्या करीब करीब 50 लाख हो चुकी थी।

2. 1937 के चुनावों में विजय

नए संविधान के प्रति राष्ट्रीय कांग्रेस का क्या रवैया था इसकी सिद्धांत रूप में घोषणा 1934 में ही उस समय हो गई थी जब संविधान सभा की मांग को मंजूर किया गया था। आने वाले वर्ष में नए अधिनियम के तहत चुनाव लड़ने के फैसले को लखनऊ अधिवेशन ने अपनी स्वीकृति दे दी। अगस्त 1936 में, चुनाव घोषणापत्र जारी किया गया जिसका अनुमोदन फैजपुर अधिवेशन ने कर दिया। दिसंबर 1936 में फैजपुर कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्ताव ने, चुनाव लड़ने के संदर्भ में कांग्रेस के निश्चित दृष्टिकोण की घोषणा कर दी :

> देश की जनता की घोषित आकांक्षा के विरुद्ध भारत पर थोपे गए संविधान और 1935 के भारत रक्षा अधिनियम को यह अधिवेशन एक बार फिर पूरी तरह अस्वीकार करने की घोषणा करता है। अधिवेशन की यह धारणा है कि इस संविधान के साथ किसी भी तरह का सहयोग भारत के स्वतंत्रता संग्राम के साथ विश्वासघात होगा, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पकड़ को मजबूत बनाना होगा तथा साम्राज्यवादी प्रभुत्व के जुए तले बेहद गरीबी की चक्की में पहले से ही पिस रही जनता का शोषण और भी अधिक बढ़ाना होगा। इसलिए अधिवेशन एक बार फिर अपने इस संकल्प को दोहराता है कि कांग्रेस न तो इस संविधान के सामने आत्मसमर्पण करेगी और न इसके साथ सहयोग करेगी बल्कि वह विधानमंडल के बाहर और भीतर हर जगह इसके खिलाफ संघर्ष करेगी ताकि इसका अंत कर सके। कांग्रेस किसी विदेशी शक्ति या सत्ता द्वारा भारत के राजनीतिक और आर्थिक ढांचे को संचालित करने की बात को कभी मान्यता नहीं देती है और न देगी और इस तरह के हर प्रयास का भारतीय जनता के संगठित और दृढ़प्रतिज्ञ विरोध द्वारा मुकाबला किया जाएगा। भारतीय जनता केवल उस सांविधानिक ढांचे को अपनी मंजूरी देगी जिसका निर्माण स्वयं उसने किया हो और जो एक राष्ट्र के रूप में भारत की आजादी पर आधारित हो तथा जो उनकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार विकास का उन्हें पूर्ण अवसर दे।
>
> कांग्रेस भारत में एक ऐसे वास्तविक जनवादी राज्य की स्थापना के पक्ष में है

जिसमें राजसत्ता का हस्तांतरण कुल मिलाकर जनता को कर दिया गया हो और सरकार जनता के प्रभावकारी नियंत्रण में रहे। ऐसे राज्य की स्थापना संविधान सभा के जरिए ही हो सकती है जो बालिग मताधिकार पर आधारित हो तथा जिसके पास इतना अधिकार हो कि वह देश के संविधान के बारे में अंतिम तौर पर निर्णय करे। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस देश में काम कर रही है और जनता को संगठित कर रही है। विधानमंडल में कांग्रेस के प्रतिनिधियों को भी हमेशा यही बात ध्यान में रखनी होगी।...

नए संविधान के अंतर्गत विधानमंडलों के लिए निर्वाचित कांग्रेस सदस्य कोई पद स्वीकार करें या अस्वीकार करें, इसका फैसला प्रांतीय चुनावों के समाप्त होते ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी करेगी।

पद स्वीकार करने के मसले पर फैजपुर अधिवेशन में मतभेद था। बहुमत की राय यह थी कि इस विषय में किसी तरह के फैसले को अभी स्थगित रखा जाए। डांगे (मेरठ षडयंत्र के अभियुक्त और कम्युनिस्ट नेता) ने एक संशोधन पेश किया जिसमें संविधान सभा का गठन संभव बनाने के लिए जनसंघर्ष की तैयारी करने की बात थी लेकिन कांग्रेस कमेटी ने 45 के विरुद्ध 83 मतों से और कांग्रेस के पूर्ण अधिवेशन ने 62 के विरुद्ध 451 मतों से इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। कोई पद निश्चित रूप से स्वीकार न करने के बारे में प्रस्तुत संशोधन को कांग्रेस कमेटी ने 48 के विरुद्ध 87 मतों से नामंजूर कर दिया।

चुनावों में कांग्रेस ने एक ऐसे संगठन के रूप में भाग लिया जो अखिल भारतीय था। विभिन्न प्रांतों में कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव के मैदान में उतरने के लिए सांप्रदायिक और मौसमी पार्टियों का एक झुंड तैयार हो गया। ये पार्टियां जल्दी जल्दी बनाई गई थीं और इनको अप्रत्यक्ष रूप से सरकार का भी समर्थन प्राप्त था। लेकिन इन सबके बीच राष्ट्रीय कांग्रेस संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में डटी रही। इस राष्ट्रीय एकता, पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता के लक्ष्य की दृढ़ घोषणा, सामूहिक गिरफ्तारियों और गैरसांविधानिक तरीकों से चलाए गए जनआंदोलनों से भरे संघर्षों का इतिहास ही वह पहला कारण था जिसने चुनाव में कांग्रेस की विजय को संभव बनाया।

कांग्रेस का चुनाव घोषणापत्र एक ऐसा दस्तावेज था जिसने पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता और संविधान सभा की उपलब्धि के लक्ष्य को प्रमुख स्थान दिया। साम्राज्यवादी संविधान की बिना शर्त भर्त्सना की और विधानमंडल में अपने प्रतिनिधि भेजने का मकसद स्पष्ट किया कि 'वे वहां किसी भी प्रकार का सहयोग करने नहीं बल्कि अधिनियम के खिलाफ जमकर संघर्ष करने और उसे समाप्त करने जा रहे हैं।' इसके अलावा चुनाव घोषणापत्र सामान्य सिद्धांतों पर नहीं टिका था। इसने एक ठोस और तात्कालिक कार्यक्रम भी तैयार किया जिसमें नागरिक स्वातंत्र्य और समान अधिकारों की जनवादी मांगें थीं तथा एक ऐसा

सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम था जो जनता के व्यापक हिस्से को अनुकूल लगे। चुनावों में कांग्रेस की जीत का यह दूसरा कारण था।

कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणापत्र में जो सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया था वह बाद में गठित कांग्रेस मंत्रिमंडलों की नीतिनिर्धारण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। उसके प्रमुख अंशों में कहा गया था :

> कांग्रेस महसूस करती है कि इन विधानमंडलों से न तो आजादी प्राप्त की जा सकती है और न गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्याओं का कारगर हल ढूंढ़ा जा सकता है। फिर भी कांग्रेस भारत की जनता के सामने अपना आम कार्यक्रम रख रही है ताकि उन्हें पता चल सके कि कांग्रेस का दृष्टिकोण क्या है और कांग्रेस के हाथों में जब शासन की बागडोर होगी तो वह किन लक्ष्यों को प्राप्त करने की कोशिश करेगी।
>
> 1931 में कांग्रेस के कराची अधिवेशन में कांग्रेस के आम लक्ष्य को मौलिक अधिकारों से संबंधित प्रस्ताव में परिभाषित किया गया था। वह आम परिभाषा आज भी बनी हुई है। फिर भी पिछले पांच वर्षों में निरंतर बढ़ते संकट के कारण यह जरूरी हो गया कि गरीबी, बेरोजगारी तथा अन्य आर्थिक समस्याओं पर विस्तार से विचार किया जाए।
>
> देश के सामने सबसे महत्वपूर्ण और अत्यावश्यक समस्या है जबरदस्त गरीबी, बेरोजगारी और किसानों पर लदा कर्ज का बोझ। इनका बुनियादी कारण पुरातन और दमनात्मक भूमिव्यवस्था और लगान-प्रणाली है। इसके साथ ही हाल के वर्षों में खेतिहर उत्पादनों की कीमतों में आई जबरदस्त मंदी ने स्थिति को और गंभीर बना दिया है।
>
> कराची अधिवेशन में की गई अपनी घोषणा को कांग्रेस फिर दुहराती है : कांग्रेस जमीन की काश्त, मालगुजारी और लगान प्रणाली में सुधार की हिमायती है और खेतिहर भूमि पर पड़ने वाले बोझ की उचित व्यवस्था किए जाने के पक्ष में है। इसके लिए वह किसानों द्वारा भुगतान की जाने वाली लगान और मालगुजारी की राशि में उल्लेखनीय कमी कराने के पक्ष में है तथा मांग करती है कि अलाभकर जोतों को लगान और मालगुजारी से मुक्त रखा जाए।
>
> किसानों पर कर्ज का जबरदस्त बोझ है। इसपर तत्काल विचार किया जाना चाहिए और कोई ऐसी योजना तैयार की जानी चाहिए जिसमें ऋण स्थगन की घोषणा शामिल हो, कर्ज के बारे में जांच की जाए और उसका बोझ कम

किया जाए तथा राज्य द्वारा आसान ब्याज पर ऋण देने की सुविधा की व्यवस्था की जाए। यह राहत खेतिहर काश्तकारों, किसान भूस्वामियों, छोटी जोत वालों और छोटे व्यापारियों तक पहुंचाई जानी चाहिए।

जहां तक औद्योगिक मजदूरों का संबंध है कांग्रेस की नीति यह है कि उनका जीवनस्तर उन्नत किया जाए; जहां तक देश की आर्थिक स्थितियां अनुमति दें उनके काम के घंटे और श्रम की स्थितियां अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों के अनुसार निर्धारित की जाएं; कर्मचारियों और मालिकों के झगड़े निबटाने के लिए उचित व्यवस्था की जाए; वृद्धावस्था, बीमारी और बेरोजगारी के दिनों की आर्थिक तंगी के लिए उपाय किए जाएं तथा मजदूरों को यह अधिकार दिया जाए कि वे अपने हितों की रक्षा के लिए यूनियन बना सकें और हड़ताल कर सकें।

कांग्रेस ने पहले ही घोषित कर दिया है कि वह लिंग के आधार पर किसी को आयोग्य ठहराए जाने के पक्ष में नहीं है, चाहे यह कानूनी क्षेत्र में हो या सामाजिक क्षेत्र में अथवा सार्वजनिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में। इसने मातृत्व संबंधी सुविधाओं और महिला श्रमिकों की सुरक्षा के पक्ष में अपनी धारणा व्यक्त की है। भारत की महिलाओं ने स्वाधीनता संघर्ष में प्रमुख भूमिका निभाई है और कांग्रेस की दृष्टि में स्वतंत्र भारत में महिलाओं को भी पुरुषों जैसे ही विशेषाधिकार तथा दायित्व मिलने चाहिए।

कांग्रेस ने छुआछूत मिटाने तथा हरिजनों और पिछड़ी जाति के सदस्यों का सामाजिक और आर्थिक विकास करने पर जोर दिया है उसे सभी जानते हैं। कांग्रेस की धारणा है कि इन्हें सभी नागरिक मामलों में अन्यों की तरह समाज-अधिकार मिलने चाहिए।

खादी और ग्रामोद्योग को बढ़ावा देना भी कांग्रेस के कार्यक्रम की एक मुख्य योजना रही है। जहां तक बड़े उद्योगों का सवाल है, उन्हें सुरक्षा दी जानी चाहिए पर मजदूरों और कच्चे माल के उत्पादकों के अधिकारों को संरक्षण दिया जाना चाहिए और ग्रामीण उद्योगों के हितों को उचित सम्मान मिलना चाहिए।

इस व्यापक जनतांत्रिक कार्यक्रम ने, जिसमें किसानों और औद्योगिक मजदूरों की तात्कालिक मागें प्रत्यक्ष तौर पर मुखर हो रही थीं, चुनाव प्रचार में कांग्रेस द्वारा प्राप्त जबरदस्त जनसमर्थन (जो वास्तविक मतदाताओं से कहीं अधिक था) को सक्रिय बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई।

चुनाव के नतीजों से पता चला कि राष्ट्रीय कांग्रेस को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उससे

सरकारी और आधिकारिक खेमे के लोग दंग रह गए और इससे बहुत प्रभावशाली ढंग से यह पता चला कि जनता के अंदर आजादी की भावना कितनी जोर पकड़ चुकी है। सरकार ने कांग्रेस के विरुद्ध हर तरह की ताकत लगाने में कोई कसर न छोड़ी थी। चुनाव अभियान के बाद राष्ट्रीय कांग्रेस के महासचिव की रिपोर्ट के अनुसार कांग्रेस को हराने के प्रयास में सरकार ने सक्रिय रूप से अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया :

> सरकार के कान खड़े हो गए थे। उसे पता था कि कांग्रेस की सफलता नए संविधान के लिए अशुभ है। विरोधों के बावजूद वह चुनाव के दौरान परोक्ष और अपरोक्ष रूप से अपने प्रभाव का इस्तेमाल करती रही। उसने कई पार्टियों के गठन में मदद की। संयुक्त प्रांत की नेशनल ऐग्रिकल्चरलिस्ट पार्टी, पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी तथा अन्य कई स्थानों पर इस तरह की पार्टियों को प्रांतीय सरकारों का समर्थन प्राप्त था (कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में महासचिव की रिपोर्ट 1938)

संयुक्त प्रांत में कोर्ट आफ वार्ड्स के सचिव द्वारा एक पत्रक जारी किया गया :

> सामान्य तौर पर खेतीबारी से संबद्ध वर्ग और खासतौर से उस वर्ग के हित के लिए जिसका हम प्रतिनिधित्व करते हैं, कांग्रेस को जहां तक संभव हो सके करारी मात देना बहुत जरूरी है···इसलिए कोर्ट ने उस उम्मीदवार को समर्थन देने का फैसला किया है जो कांग्रेस का सक्रिय रूप से विरोध करेगा···जिले के अधिकारियों को निर्देश दिया गया है कि वे प्रांत के एक एक निर्वाचन क्षेत्र का व्यवस्थित ढंग से सर्वेक्षण करें और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में उस उम्मीदवार की मदद के लिए खुद को तैयार रखें जो सरकार के प्रति निष्ठावान हो।

इस पत्रक को जारी करने के संदर्भ में सरकारी तौर पर खेद व्यक्त किया गया लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि हर संभव प्रभाव का इस्तेमाल किया गया भले ही हर बार ऐसा इतना खुलकर न किया गया हो।

कांग्रेस को कितने बड़े पैमाने पर सफलता मिली इसकी जानकारी हम चुनाव परिणामों से पा सकते हैं। कांग्रेस द्वारा विजित कुल 715 सीटों का महत्व उस समय और बढ़ जाता है जब हम यह याद करते हैं कि कुल 1,585 सीटों में से, दरअस्ल, 657 सीटें ही ऐसी थीं, जो खुली प्रतियोगिता के लिए थीं और किसी विशेष वर्ग के लिए अलग नहीं की गई थीं।

कांग्रेस को मद्रास (ऊपरी सदन में भी), बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार (ऊपरी सदन में भी), मध्यप्रांत और उड़ीसा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। बंगाल और असम में इसे अकेली सबसे बड़ी पार्टी का दरजा मिला ; लिबरल पार्टी के लोगों को (अर्थात नरमदलियों को) हर जगह मात खानी पड़ी। 'जस्टिस पार्टी' (पुरानी गैरब्राह्मण पार्टी) का पूरी तरह सफाया

हो गया जबकि एक समय मद्रास में उसकी धाक जमी हुई थी। उसे कुल सीटों के बारहवें भाग से भी कम सीटें मिलीं। इस पार्टी पर सरकार की कृपा भी थी। इसी प्रकार सरकार की कृपाप्राप्त 'नेशनल ऐग्रिकल्चरिस्ट पार्टी' को संयुक्त प्रांत में और भी बुरे दिन देखने पड़े। कांग्रेस की हालत केवल पंजाब और सिंध में बुरी रही।

प्रांतीय चुनावों के परिणाम, 1937

प्रांत	कुल सीटें	सबके लिए सामान्य सीटें	कांग्रेस	मुस्लिम लीग	मुस्लिम सीटें निर्दलीय	अन्य
मद्रास	215	116	159	11	—	45[1]
बंबई	175	99	88	20	10	57
बंगाल	250	48	50	40	43	117[2]
संयुक्त प्रांत	228	120	134	27	30	37[3]
पंजाब	175	34	18	1	—	156[4]
बिहार	152	71	98	—	15	39
मध्य प्रांत	112	64	71	—	14	27
असम	108	40	35	9	14	50
सरहदी सूबा	50	9	19	—	2	29
उड़ीसा	60	38	36	—	—	24
सिंध	60	18	7	—	—	53
कुल योग	1,585	657	715	108	128	634

1. जस्टिस पार्टी सहित, 17। 2. प्रजा पार्टी सहित, 38।
3. नेशनल ऐग्रिकल्चरलिस्ट पार्टी सहित, 16। 4. ज्यादातर यूनियनिस्ट पार्टी।

कांग्रेस को जिन सीटों पर सफलता मिली, वे लगभग सारी सीटें 'सामान्य' वर्ग की थीं। जिन 58 मुस्लिम सीटों के लिए चुनाव हुआ उनमें से 26 पर कांग्रेस को सफलता मिली (15 सीटें सरहदी सूबे में)। मजदूरों, सिखों और ईसाइयों के लिए निर्धारित कुछ सीटों पर भी सफलता मिली। भूस्वामियों के लिए निर्धारित 4 सीटों और वाणिज्य तथा उद्योग के लिए निर्धारित 3 सीटें भी कांग्रेस को मिलीं।

चुनाव में कांग्रेस को मिली सफलता का साम्राज्यवादियों के सोच पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीय कांग्रेस को अभी तक एक 'मामूली अल्पमत' का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टी मानकर चलने वाले समाचारपत्र 'लंदन टाइम्स' को मजबूर होकर अपनी इस धारणा को पूरी तरह तिलांजलि देनी पड़ी और लिखना पड़ा :

एक बार फिर भारत के चुनावों ने दिखा दिया कि केवल कांग्रेस पार्टी ही ऐसी

> पार्टी है जिसका महज प्रांतीय आधार पर संगठन नहीं है। इसकी सफलताओं का लेखा जोखा अत्यंत प्रभावशाली है···कांग्रेस का काम कुल मिलाकर बहुत अच्छा रहा और हालांकि इसका श्रेय काफी हद तक कांग्रेस के उत्तम संगठन को और अपेक्षाकृत दकियानूस तत्वों की फूट तथा उनके संगठन की कमी को है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेस की इन तमाम सफलताओं का कारण महज यही बातें थीं···इस पार्टी के तमाम प्रस्ताव, अधिकांश विपक्षी पार्टियों के प्रस्तावों की तुलना में ज्यादा सकारात्मक और रचनात्मक रहे हैं। ग्रामीण निर्वाचन क्षेत्रों में, जहां इसे आश्चर्यजनक सफलता मिली है, इसने ग्रामीण सुधार का एक व्यापक कार्यक्रम सामने रखा···पार्टी को ऐसे मसलों के कारण विजय मिली जिनमें उन लाखों करोड़ों लोगों की दिलचस्पी है जो गांवों में रहते हैं और मतदाता हैं और जो मतदाता नहीं हैं ऐसे लाखों लोगों की भी दिलचस्पी है। ('दि टाइम्स', 9 मार्च 1937)

अंतिम मुद्दा विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। हालांकि साम्राज्यवादियों ने समूची चुनाव प्रणाली को खानों में बांटकर उसे अत्यंत सीमित कर रखा था, फिर भी मतदान में भाग लेने वाले 1 करोड़ 55 लाख लोगों तथा उनके द्वारा कांग्रेस को मिले अपार बहुमत से पता चलता है कि आजादी और सामाजिक प्रगति की देशवासियों को कितनी प्रबल आकांक्षा है। यह बताने की जरूरत नहीं कि यदि व्यापक जनता को, जिसके बारे में 'दि टाइम्स' भी स्वीकार करता है कि कांग्रेस के कार्यक्रम से बहुत प्रभावित थी, यदि वोट देने का अधिकार होता तो कांग्रेस को कितना विशाल बहुमत प्राप्त होता।

3. कांग्रेस के प्रांतीय मंत्रिमंडल

चुनावों के बाद उन प्रांतों में, जहां कांग्रेस को बहुमत मिला था, कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन का प्रश्न अंतिम रूप से हल किया जाना था। मार्च 1937 में, विस्तार से एक नियम तैयार किया गया और वह अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा स्वीकार कर लिया गया जिसमें कांग्रेस के सदस्यों को कुछ शर्तों के तहत पद स्वीकार करने का अधिकार दिया गया था :

> अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी उन प्रांतों में जहां के विधानमंडल में कांग्रेस का बहुमत है, अपने सदस्यों को यह अधिकार और अनुमति देती है कि वे पद स्वीकार करें लेकिन इसके साथ एक शर्त है। मंत्रिपद तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक विधानमंडल में कांग्रेस दल का नेता इस बात से आश्वस्त न हो जाए और सार्वजनिक रूप से यह घोषित करने योग्य न हो जाए कि मंत्रियों के सांविधानिक कार्यों के मामले में गवर्नर न तो हस्तक्षेप करने के अपने विशेषाधिकार का इस्तेमाल करेगा और न मंत्रियों की सलाह को दरकिनार करेगा।

यह नियम गांधी ने तैयार किया था और 70 के मुकाबले 127 मतों से इसे मंजूर किया गया था। समाजवादियों और वामपंथियों के बहुमत ने आमतौर से इस बात का विरोध किया था कि कांग्रेसजन किसी पद को स्वीकार करें। उन्होंने इसे साम्राज्यवादियों की तरफ से दी गई रियायत माना था और उन्हें इस बात का खतरा लगा था कि इससे जन-संघर्षों को छोड़कर लोग यही रास्ता अख्तियार करने लगेंगे। पद स्वीकार करने के विरोध में उन्होंने जो संशोधन पेश किया था वह 78 के मुकाबले 135 मतों से नामंजूर कर दिया गया। मोटे तौर पर इस विरोध का कारण यह था कि वामपंथियों और समाजवादियों का नरमपंथी संविधानपरस्त नेताओं में विश्वास नहीं था और उन्हें डर था कि इस तरह के नेताओं का वर्ग कांग्रेस की नीति को साम्राज्यवादियों के साथ अधिक से अधिक समझौता करने की नीति में बदल देगा।

कुछ शर्तों के तहत पद स्वीकार करने के पक्ष में लिए गए फैसले के तीन महीने बाद कांग्रेस मंत्रिमंडलों का गठन हुआ। कांग्रेस अपनी इस मांग पर डटी रही कि सरकार पहले इस बात की घोषणा करे कि गवर्नरों के विशेष अधिकारों का इस तरह इस्तेमाल नहीं किया जाएगा जिससे मंत्रियों के सांविधानिक क्रियाकलाप प्रभावित हों। इस बीच 1 अप्रैल को अर्थात 'मूर्ख दिवस' को (साम्राज्यवादी कार्यालयों के दिन मसखरे लोगों ने यह तिथि निर्धारित की थी इसका कोई इतिहास नहीं है) नए संविधान का उद्घाटन हुआ। इस अवसर पर देशभर में पूर्ण हड़ताल रही। चूंकि कांग्रेस तथा सरकार के बीच बातचीत में गतिविरोध अभी बना हुआ था इसलिए बिना बहुमतवाले अंतरिम मंत्रिमंडलों का गठन कर दिया गया। यह गतिरोध 22 जून को अंतिम तौर पर तब समाप्त हुआ जब वायसराय ने एलान किया कि सभी गवर्नरों की कोशिश यह होगी कि 'वे अपने मंत्रियों के साथ, चाहे वे किसी भी पार्टी के क्यों न हों, किसी तरह का संघर्ष तो पैदा होने ही नहीं देंगे, हां यदि इस तरह का कोई संघर्ष हो तो वे उसका समाधान करने में भी कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। 'इस तरह की समझदारी के बाद कांग्रेस ने पद स्वीकार किए हालांकि कार्यसमिति के अंतिम प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया गया कि वायसराय तथा अन्य अधिकारियों की घोषणाओं में यद्यपि कांग्रेस की मांग के साथ तालमेल बैठाने की इच्छा प्रदर्शित की गई है फिर भी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने जिन शब्दों में आश्वासन की मांग की थी उसकी पूर्ति यहां नहीं हो पाई है।

जुलाई 1937 में छः प्रांतों, बंबई, मद्रास, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत और उड़ीसा में कांग्रेस मंत्रिमंडलों का गठन हो गया। इन प्रांतों में निचले सदन में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त था। सरहदी सूबे में 8 गैरकांग्रेसी सदस्यों का एक गुट कांग्रेस में शामिल हो गया और इस गुट ने कांग्रेस का अनुशासन स्वीकार किया (एक हस्ताक्षरित घोषणा के द्वारा) जिससे कांग्रेस को इस प्रांत में भी पूर्ण बहुमत मिल गया और वहां भी कांग्रेस का मंत्रि-मंडल बन गया। इस प्रकार ब्रिटिश भारत के 11 जिलों में से सात जिलों में, जिनकी कुल आबादी लगभग 16 करोड़ (ब्रिटिश भारत की कुल आबादी का $\frac{3}{5}$ भाग और भारत की

कुल आबादी का लगभग $\frac{3}{8}$ भाग) थी, कांग्रेस मंत्रिमंडलों की स्थापना हो गई। बाद में असम और सिंध में भी कांग्रेस की मिलजुली सरकारें बन गई।

कांग्रेस के प्रांतीय मंत्रिमंडलों का दो वर्ष से भी अधिक समय तक अस्तित्व बना रहा। युद्ध के कारण उत्पन्न संकट एवं केंद्र सरकार के साथ अनबन के कारण इन मंत्रिमंडलों ने नवंबर 1939 में इस्तीफा दे दिया। इन दो वर्षों के अंदर कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने जो कुछ किया उससे राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर जबरदस्त विवाद पैदा हो गया।

प्रांतों में जो कांग्रेस मंत्रिमंडल थे उन्हें किसी भी आधुनिक संसदीय अर्थ में सरकार नहीं कहा जा सकता। अगस्त 1938 में गांधी ने 'हरिजन' अखबार में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने इन मंत्रिमंडलों के बेहद सीमित अधिकारों की बात साफ साफ कही और कहा कि इन्हीं कारणों से देश के वास्तविक मुक्तिसंग्राम में एक साधन के रूप में इन मंत्रि-मंडलों की विशेष भूमिका है :

> जनतांत्रिक ब्रिटेन ने भारत में एक उम्दा किस्म की प्रणाली स्थापित की है जिसे यदि आप उसके नग्न रूप में देखें तो पता चलेगा कि यह और कुछ नहीं बल्कि अत्यंत संगठित सैनिक नियंत्रण है। वर्तमान भारत सरकार अधिनियम के तहत यह किसी भी अर्थ में कम नहीं है। जहां तक वास्तविक नियंत्रण की बात है, ये मंत्रिमंडल महज साम्राज्यवादियों के हाथ की कठपुतलियां हैं। गवर्नर के आदेश मात्र से कोई कलक्टर या पुलिस अधिकारी मंत्रियों को उनके पद से हटा सकता है, उन्हें गिरफ्तार कर सकता है और जेल में डाल सकता है। इसीलिए मैंने कांग्रेस को यह सुझाव दिया है कि उसके सदस्यों ने पदों को स्वीकार किया है इसलिए नहीं कि उन्हें साम्राज्यवादियों के बनाए ढांचे के अनुरूप काम करना है बल्कि इसलिए ताकि वे जल्दी वह दिन ला सकें जब इस अधिनियम के स्थान पर भारत द्वारा सही अर्थों में निर्मित अधिनियम पेश किया जा सके।

लेकिन इस तरह की नीति का पालन कोई क्रांतिकारी नेतृत्व ही कर सकता था। मंत्रि-मंडलों में नरमदली नेताओं का प्रभुत्व था और यही वजह थी कि उन्होंने एक अलग नीति का ही पालन किया। व्यवहार में इन मंत्रिमंडलों ने 'अधिनियम' पर उसी तरह अमल करना शुरू किया जिस तरह की आशा अधिनियम के निर्माताओं ने की थी, और साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि भी अपने इस प्रयोग की 'सफलता' पर हुई खुशी को छिपा नहीं सके। नागरिक स्वातंत्र्य, कृषि के क्षेत्र से संबंधित कानून के निर्माण तथा सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक सुधारों की दिशा में किए गए प्रयासों के मामले में खासतौर से शुरू के वर्षों में कुछ सफलता मिली। इन सुधारों से साम्राज्यवादी प्रभुत्व और शोषण के प्रमुख आधारों तथा आम जनता की गरीबी पर कोई असर नहीं पड़ा। इन सुधारों की कीमत के रूप में कांग्रेस मंत्रिमंडलों का अस्तित्व बना रहा और आम जनता के खिलाफ

साम्राज्यवादी प्रशासन के एक अंग के रूप में उन्होंने दिन ब दिन खुलकर काम किया।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों को नागरिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण सफलता मिली। इस क्षेत्र में जो सफलता प्राप्त हुई वह खासतौर से शुरू के वर्षों की सफलता थी। एक एक करके लगभग सभी राजनीतिक बंदी रिहा कर दिए गए। 1921 और 1922 में क्रमश: चौरीचौरा कांड और मोपला विद्रोह में शामिल लोग इस समय तक जेलों में सजाएं काट रहे थे, उन्हें भी रिहा कर दिया गया। गढ़वाली सैनिकों को भी रिहा कर दिया गया। अनेक राजनीतिक संगठनों पर से प्रतिबंध हटा लिया गया (लेकिन केंद्र सरकार द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी पर लगाया गया प्रतिबंध जारी रहा)। राजनीतिक कार्यकताओं के एक स्थान से दूसरे स्थान जाने पर लगीं पाबंदी हटा दी गई। समाचारपत्रों से ली गई जमानत राशियां वापस कर दी गईं और उस सूची को रद्द कर दिया गया जिनमें ऐसे समाचार पत्रों के नाम थे जिन्हें उनकी राजनीतिक विचारधारा के कारण सरकारी विज्ञापनों आदि से वंचित कर दिया गया था। समाचारपत्रों तथा अन्य प्रकाशनों को आंशिक तौर पर स्वतंत्रता प्रदान की गई और इसका पता इस तथ्य से चलता है कि उन दिनों राजनीतिक विचारधारावाले साहित्य के प्रकाशन में जबरदस्त वृद्धि हुई।

तो भी, शुरू के दिनों से ही यह पता चलने लगा था कि कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने साम्राज्यवाद के पुलिस प्रशासन के अंग के रूप में अपनी भूमिका निभाना शुरू कर दिया है। शुरू के ही कुछ महीनों के दौरान लोग उस समय सकते में आ गए जब मद्रास सरकार ने एक प्रमुख कांग्रेस समाजवादी को राजद्रोह के जुर्म में छः महीने की सजा दी। कई मामलों में धारा 124 ए (राजद्रोहात्मक प्रचार के विरुद्ध) और धारा 144 (सभाओं आदि पर पाबंदी के लिए) का प्रयोग किया गया। इन दोनों घृणित धाराओं के खिलाफ पहले कांग्रेस जोरदार शब्दों में आवाज उठाया करती थी और दमन के इन तरीकों की भर्त्सना किया करती थी। इन घटनाओं से कांग्रेस संगठन के अंदर ही जबरदस्त विवाद पैदा हो गया। 'अहिंसा' के सिद्धांत में स्वभावतया अद्भुत लचीलापन था, 'हिंसा का प्रचार' करने वालों के विरुद्ध की जाने वाली पुलिस कार्यवाहियों और सजाओं को भी इस सिद्धांत के अंतर्गत शामिल कर लिया गया। दरअस्ल 'हिंसा का प्रचार' एक ऐसी शब्दावली थी जिसका मनमाने ढंग से इस्तेमाल उस मत के विरुद्ध किया जाता था जो मौजूदा प्रशासन के विरुद्ध होता था और जो जनसंघर्षों की हिमायत करता था। इस विवाद की जड़ में कांग्रेस के अंदर के उच्च और मध्यवर्गीय तत्वों की चिंताएं थीं जो मजदूरों और किसानों के तेजी से बढ़ते आंदोलन के कारण उत्पन्न हुई थीं।

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में नए मंत्रिमंडलों ने बहुत सीमित कार्यक्रम लागू करने का प्रयास किया। इन्होंने उन जबरदस्त अवरोधों से निबटने का प्रयास नहीं किया जिनका प्रतिनिधित्व साम्राज्यवादी प्रभुत्व के अंतर्गत वर्तमान भूमिव्यवस्था और आर्थिक

प्रणाली करती थीं। इन्होंने जमींदारों और धनवानों के प्रति काफी लिहाज बरती क्योंकि कांग्रेसी नेतृत्व के नरमदली खेमे पर इनका काफी असर था।

कानून की दृष्टि से खासतौर से किसानों के संदर्भ में कुछ तात्कालिक उपाय लागू किए गए। किसानों पर लदे कर्ज की समस्या ऐसी थी जिसका तत्काल समाधान जरूरी था। मद्रास ऐग्रिकल्चरिस्ट डेट रिलीफ ऐक्ट के जरिए कर्ज की बकाया राशि का एक अंश रद कर दिया गया। संयुक्त प्रांत और बंबई में तत्काल ऋण स्थगन की व्यवस्था की गई। ऋण की राशि कम करने और ब्याज की दर सीमित करने (सामान्यत: 6.9 प्रतिशत तक) के उपाय किए गए। काश्तकारी कानून लागू किया गया जिसका उद्देश्य बेदखली के खिलाफ एक निश्चित सीमा तक सुरक्षा देना, लगान की राशि में वृद्धि को रोकना, अनियमित पावने और जुर्माने को दूर करना और लगान की बकाया राशि पर ब्याज को सीमित करना था। कुछ मामलों में जमीन की मालगुजारी माफ कर दी गई। बंबई में 40,000 'दुबलों' या बंधुआ खेतिहर गुलामों को मुक्त कर दिया गया।

कृषि के क्षेत्र में जो कानून बने वे काफी अपर्याप्त थे और उनका क्षेत्र भी काफी सीमित था। इन्हें लागू करने के लिए किसानों को जबरदस्त आंदोलनों और प्रदर्शनों का सहारा लेना पड़ा। किसानों के इन प्रयासों का जमींदारों ने जमकर विरोध किया और इन्हें विफल बनाने के लिए अपने असर का इस्तेमाल किया। कर्ज की राशि में जो सचमुच कटौतियां हुई वह कर्ज की राशि समूची राशि की तुलना में बहुत कम थीं। काश्तकारी से संबंधित कानून ने काश्तकारों के एक अल्पमत को लाभ पहुंचाया (इस प्रकार बांबे टेनेंसी बिल के साथ संलग्न विवरण के अनुसार इस बिल से केवल 4 प्रतिशत काश्तकारों को लाभ होने की आशा थी)। खेतिहर मजदूर अप्रभावित रहे। हालांकि, मद्रास में वे कुल आबादी का 42 प्रतिशत थे पर उन्हें ऐग्रिकल्चरिस्ट डेटरिलीफ ऐक्ट से अलग रखा गया। किसानों के लिए जितने भी कानून बने थे उन सबमें इस तरह की सीमाएं स्पष्ट दिखाई देती थीं। इससे यह पता चलता था कि इस तरीके से छोटी मोटी तात्कालिक रियायतें तो हासिल हो सकती हैं, पर किसानों को कोई गंभीर राहत देने के लिए इन उपायों से कहीं अधिक बुनियादी और प्रगतिशील उपाय अमल में लाने जरूरी हैं। बिहार, उड़ीसा और संयुक्त प्रांत में किसानों का आंदोलन जबरदस्त होता गया क्योंकि जमींदारों के विरोध को रोकने में कांग्रेस के मंत्री असफल साबित हुए थे और इस स्थिति से किसान बेहद असंतुष्ट थे। बिहार में तथाकथित 'कांग्रेस जमींदार गठबंधन' की भर्त्सना की गई। कुल मिलाकर काश्तकारी कानून अत्यंत कम प्रभावकारी था और उसका लक्ष्य शिकमी काश्तकारों या बेदखल किए गए किसानों की बजाय बड़े किसानों के हितों की रक्षा करना था।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन से औद्योगिक मजदूरों की सक्रियता में काफी तेजी आई, उन्होंने अपने वेतन बढ़ाने की मांगें रखीं और ट्रेड यूनियन संगठन को मजबूत बनाने का

काम शुरू किया। 1937 में हुई हड़तालों में कुल 90 लाख काम के दिनों का नुकसान हुआ जो पिछले तीन वर्षों में हुए नुकसान के कुल योग से भी अधिक था और 1929 के बाद के आंकड़ों में सर्वोच्च था। इन हड़तालों में कुल 647,000 मजदूरों ने भाग लिया जो एक रिकार्ड है। कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने जहां मालिक और मजदूर के झगड़ों को समझौते से निपटाने की नीति को बढ़ावा दिया और इसके लिए श्रम विवाद अधिनियम (ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट) का इस्तेमाल किया वहीं उन्होंने मजदूरों की हालत सुधारने तथा वेतनवृद्धि कराने में अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया। बंबई कपड़ा मिलमजदूर जांच समिति ने मिलमजदूरों के वेतन में वृद्धि की सिफारिश की और मिलमालिकों के कुछ विरोध के बावजूद समिति के निष्कर्षों को लागू किया गया। संयुक्त प्रांत की कांग्रेस सरकार ने कानपुर में मजदूरों की हड़ताल समाप्त करने के लिए संपन्न समझौते में सहयोग किया लेकिन समझौते के लिए यह शर्त रखी कि मजदूरों के वेतन बढ़ाए जाएं और यूनियन को मान्यता दी जाए; और 1938 में जब मालिकों ने फैसले का विरोध करना चाहा तो कांग्रेस और मजदूरों की एकता के कारण ही मालिकों के खिलाफ उन्हें सफलता मिल सकी।

आंदोलन के रूप में हड़ताल का सहारा लेने के प्रश्न, हड़ताल के अधिकार से संबंधित प्रश्न और ट्रेड यूनियन को मान्यता देने के सवाल को लेकर बड़े तीखे मसले पैदा हो गए। मद्रास में मजदूरों और मालिकों के विवाद में सरकार ने जितनी बार भी हस्त-क्षेप किया वह हमेशा मजदूरों के खिलाफ ही रहा। शोलापुर में धारा 144 लगाने (जिसमें जुलूस निकालने या 5 से अधिक व्यक्तियों के एक साथ इकट्ठा होने पर प्रतिबंध लगाया गया था), हड़तालों के विरुद्ध अन्य प्रशासनिक उपायों के अमल में लाने तथा मजदूरवर्ग की गतिविधियों की स्वतंत्रता के संदर्भ में बंबई सरकार के सामने गंभीर कठिनाइयां पैदा हो गईं, जो 1938 के उत्तरार्ध में बांबे इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट बिल को लेकर काफी गंभीर हो गईं। इस बिल में कहा गया था कि विवाद हल करने के लिए जो समिति गठित की जाएगी उसे काम करने के लिए चार महीने की अंतरिम अवधि मिलनी चाहिए और इस अवधि के दौरान हड़ताल करना गैरकानूनी समझा जाएगा। इस प्रकार इस बिल ने हड़ताल के अधिकार को अत्यंत सीमित कर दिया। इसने यूनियनों के पंजीकरण के लिए ऐसे जटिल कायदे-कानून थोप दिए जो कंपनी की यूनियनों या मालिकों की समर्थनप्राप्त यूनियनों के ही अनुकूल थे। ट्रेड यूनियनों द्वारा इसका विरोध करने पर इसमें कुछ संशोधन कर तो दिए गए पर इसके मुख्य सिद्धांतों में कोई तब्दीली नहीं आई और 7 नवंबर को बंबई प्रांतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने इस बिल के विरोध में हड़ताल का आह्वान किया। इस हड़ताल का लोगों ने काफी समर्थन किया। हड़तालियों की पुलिस से मुठभेड़ हुई और कई मजदूर घायल हुए तथा एक मारा गया।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने स्थानीय स्तर पर शराबबंदी और नशीली दवाओं की रोक पर अपना सारा ध्यान केंद्रित कर दिया था (साम्राज्यवादी

सरकार अपनी अधीनस्थ एजेंसियों के जरिए शराब और नशीली दवाओं की बिक्री को प्रोत्साहन देती थी ताकि इससे उसे राजस्व मिले। इसलिए शराबबंदी का अर्थ भारी आर्थिक नुकसान था)। शिक्षा के क्षेत्र में भी सुधार करने के कार्यक्रमों की योजना तैयार करने के प्रयास किए गए, पर शिक्षा संबंधी किसी गंभीर कार्यक्रम के लिए धन की जरूरत थी और सरकार के पास पैसे का अभाव था। सामाजिक कानून बनाने के कुछ प्रयास किए गए जैसे संयुक्त प्रांत में कारखानों में काम करने वाली महिलाओं के लिए प्रसूति सुविधा की व्यवस्था की गई। अपनी आर्थिक सीमा के अंदर सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपाय शुरू किए। यह काम खासतौर से गांवों में शुरू किया गया ताकि गांवों में पानी की उचित सप्लाई हो तथा गांवों को स्वच्छ रखा जा सके।

हर कदम पर कांग्रेस मंत्रिमंडलों को जिस सर्वव्यापी समस्या और अवरोध का सामना करना पड़ता था वह थी वित्त की समस्या। दरअस्ल यही वह समस्या थी जिससे पता चलता था कि साम्राज्यवाद के नियंत्रण में ये मंत्रिमंडल कितने असमर्थ थे। वित्त की कमी के कारण उनपर कितनी सीमाएं थोप दी गई थीं इसे हम प्रांतीय सरकारों के बजट की छानबीन करके जान सकते हैं। यह देखा जा सकता है कि वास्तव में कितना काम पूरा किया जा सका।

शिक्षा पर व्यय

(हजार रुपयों में)

	1937-38	1938-39	1939-40
संयुक्त प्रांत	20,615	20,852	21,242
बंबई	16,805	19,064	20,017
मद्रास	25,796	26,198	26,357

सार्वजनिक स्वास्थ्य पर व्यय

(हजार रुपयों में)

	1937-38	1938-39	1939-40
संयुक्त प्रांत	2,252	2,458	2,365
बंबई	2,406	2,754	2,810
मद्रास	4,407	2,657	2,730

कांग्रेस के प्रांतीय मंत्रिमंडलों के गठन और इसके प्रारंभिक दिनों के अनुभव से इसमें मंत्रियों के काम का इतना हाथ न था जितना कि इसके द्वारा उत्पन्न आशा और उत्साह के कारण, राष्ट्रीय आंदोलन में काफी तेजी आई। लेकिन इसका नकारात्मक पहलू भी कम उल्लेखनीय नहीं है। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के दो वर्षों के अनुभव ने अत्यंत गंभीरता के साथ

वे खतरे उजागर कर दिए थे जो पहले से ही समझौतावादी सम्मान वाले नेतृत्व में अंतर्निहित थे। कांग्रेस संगठन और मंत्रिमंडलों पर नरमदली नेताओं का दबदबा था और वे व्यवहार में साम्राज्यवाद के साथ सहयोग को तेजी से विकसित करने में लगे थे, उच्चवर्ग के जमींदारों और उद्योगपतियों के हित में खुलकर काम कर रहे थे तथा सभी तरह के जुझारू जनसंघर्षों और अभिव्यक्तियों के विरुद्ध बहुत साफ तौर पर अधिकाधिक शत्रुतापूर्ण रवैया अख्तियार कर रहे थे। जैसे जैसे लोगों को इन मंत्रिमंडलों का व्यावहारिक अनुभव होने लगा, लोगों में असंतोष बढ़ता गया। यह बात अधिक से अधिक स्पष्ट होने लगी कि राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संघर्ष का निर्णायक कार्य सामने आ चुका है और यह कांग्रेस मंत्रिमंडल तंत्र से पूरा नहीं किया जा सकता। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन का एक नया संकट विकसित होने लगा।

4. संघीय संविधान और बढ़ता हुआ संकट

फरवरी 1938 में राष्ट्रीय कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन ने संविधान के संघीय अनुच्छेद और इसको अमल में लाने की कोशिशों के संदर्भ में कांग्रेस की नीति की व्याख्या की। सर्वसम्मति से पारित इस प्रस्ताव में कहा गया था :

> कांग्रेस ने नए संविधान को नामंजूर कर दिया है और एलान किया है कि देश की जनता को वही संविधान मान्य होगा जो स्वाधीनता पर आधारित हो और ऐसे संविधान की रचना स्वयं जनता करेगी। इस तरह के संविधान का निर्माण एक ऐसी संविधान सभा के जरिए होगा जिसमें किसी बाहरी सत्ता का हस्तक्षेप न हो। संविधान को अस्वीकार करने की इस नीति पर दृढ़ रहते हुए, कांग्रेस ने फिलहाल प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन की अनुमति, यह बात ध्यान में रखकर दी है कि इससे देश अपना स्वतंत्रता संघर्ष चलाने में मजबूत होगा। प्रस्तावित राज्यसंघ के संदर्भ में अस्थाई तौर पर या किसी खास अवधि के लिए भी इस तरह का लिहाज नहीं किया जा सकता और राज्य संघ के थोपे जाने से भारत को गंभीर क्षति उठानी पड़ेगी तथा इससे वे बंधन और मजबूत होंगे जिन्होंने भारत को साम्राज्यवादी प्रभुत्व के अंतर्गत गुलाम बना रखा है। राज्य संघ की यह योजना सरकार के महत्वपूर्ण जिम्मेदार कार्यों के दायरे से अलग है...
>
> इसलिए कांग्रेस एक बार फिर प्रस्तावित राज्य संघ योजना की भर्त्सना करती है तथा प्रांतीय और स्थानीय कांग्रेस कमेटियों के साथ साथ सामान्य तौर पर जनता से और प्रांतीय सरकारों तथा मंत्रिमंडलों से आग्रह करती है कि वे इसका उद्घाटन न होने दें। जनता की घोषित आकांक्षा के बावजूद यदि इसे थोपने की कोशिश की जाती है तो इस तरह के प्रयास का हर तरीके से मुकाबला किया जाना चाहिए और प्रांतीय सरकारों तथा मंत्रिमंडलों को चाहिए कि वे

इसके साथ सहयो॰ ॰रने से इंकार करें। यदि ऐसी कोई आकस्मिक स्थिति पैदा होती है तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को यह अधिकार और निर्देश दिया जाता है कि वह यह तय कर ले कि इस दिशा में कौन सी कार्यवाही करनी है।

यह देखा जा सकता है कि इस प्रस्ताव में संविधान के संघीय अनुच्छेद को पूरी तरह नामंजूर कर दिया गया है और समझौते के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई है। यह पूर्ण अस्वीकार इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि संघीय व्यवस्था से स्वराज्य के मार्ग पर कतई नहीं बढ़ा जा सकता; उल्टे इससे साम्राज्यवाद की पकड़ और भी मजबूत होगी।

साम्राज्यवादियों द्वारा संघीय संविधान थोपने की स्थिति में कांग्रेस की रचनात्मक नीति और कार्य की दिशा क्या होनी चाहिए? इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर, जिससे संघर्ष की नई अवस्था और आंदोलन के रूपों का समूचा मसला जुड़ा हुआ है, अभी तक हरिपुरा कांग्रेस ने भी, सिद्धांतवाक्यों के अलावा कुछ भी नहीं कहा है।

सरकारी क्षेत्रों की यह राय थी कि पूर्ण अस्वीकार की यह प्रारंभिक भंगिमा है और आगे चलकर किसी न किसी रूप में कांग्रेस इसे स्वीकार कर लेगी जैसा कि प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाने के सिलसिले में हुआ था। हालांकि यह अनुमान करते समय सरकार ने देश के विपक्ष की ताकत को कम करके आंका था फिर भी यदि नए और जबरदस्त संघर्ष के विकल्प के रूप में की गई तैयारियों का न होना हम देखें और कांग्रेस के नेतृत्व में असरदार प्रवृत्ति को देखें तो पता चलेगा कि उनके कथन आधारहीन नहीं थे। ये नरमदली तत्व अधिनियम की शर्तों में या उसके व्यावहारिक कार्यों में संशोधन करा मोलभाव की गुंजाइश निकाल सकते थे।

1938 के दौरान साम्राज्यवादियों के प्रमुख प्रतिनिधियों और कुछ कांग्रेस नेताओं के बीच कई बार बातचीत हुई और इस आशय की अफवाहें फैलाई जाने लगीं कि जल्दी ही कोई समझौता हो जाएगा। सरकार की किसी भी घोषणा में इस तरह की अफवाहों का कोई आधार नहीं था। फिर भी, यह सही है कि दक्षिणपंथी नेताओं ने अलग अलग वक्तव्य जारी किए जिनमें संशोधित संघीय संविधान के आधार पर संभावित समझौते की बात निहित थी। अनेक वामपंथी तत्वों ने पहले ही 'संशोधनवाद की तरफ झुकाव' के खतरे को समझ लिया था और यह जानते हुए कि 'हाई कमान' में दक्षिण॰थी तत्वों का बोल बाला है, उन्होंने आशंका व्यक्त की थी कि बहादुरी से भरे वक्तव्यों के बावजूद ये लोग आत्मसमर्पण कर देंगे।

दरअस्ल कांग्रेस का जन-आधार क्या है तथा मजदूरों और किसानों के बढ़ते जनसंघर्ष के साथ उसका क्या रिश्ता है, यह प्रश्न ही इन विवादों की जड़ में था। कांग्रेस अपने आधार

को जितना ही मजबूत करती और जनता के साथ उसका जितना ही ज्यादा सहज संबंध होता, उस ही अनुपात में उसके अंदर वह क्षमता आ पाती जिससे वह राज्यसंघ की योजना को विफल बना सकती और साम्राज्यवादियों पर अपनी शर्तें थोप सकती। नेतृत्ववर्ग के प्रमुख लोगों ने किसानों और मजदूरों के आंदोलन तेज होने पर जो चिंता व्यक्त की थी, वर्गसंघर्ष को 'अहिंसा' का उल्लंघन घोषित करके जिस प्रकार उसकी निंदा की थी और हड़तालों तथा असंतोष के खिलाफ की गई पुलिस की दमनात्मक कार्यवाही के पक्ष में दलील देने के लिए जिस प्रकार अपने को हमेशा तैयार रखा था उससे यह निश्चित हो गया था कि कांग्रेस ने ऐसा रास्ता अख्तियार कर लिया है जिसकी अंतिम परिणति साम्राज्यवादियों के साथ समझौता होगी।

ऐसी ही परिस्थिति में सुभाषचंद्र बोस ने, जिन्हें इससे पहले के वर्ष में कांग्रेस ने बिना चुनाव कराए अध्यक्ष पद के लिए नामजद किया था, 1939 में फिर कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव लड़ने का फैसला किया। उन्होंने इस पद के लिए चुनाव लड़ने का यह आधार बताया कि राज्यसंघ के प्रस्ताव का तथा कांग्रेस के मौजूदा दक्षिणपंथी नेतृत्व की समझौतापरस्त नीति का विरोध करने के लिए देशव्यापी आंदोलन शुरू किया जाना चाहिए और यही आज का राजनीतिक मसला है। यह पहला अवसर था जब अध्ययक्ष पद के लिए चुनाव हुआ। इस चुनाव का सबसे ज्यादा महत्व यह है कि अब तक कांग्रेस की कार्यसमिति या दल के शासक अंग के सदस्यों का चुनाव नहीं होता था—अध्यक्ष द्वारा उन्हें नामजद कर दिया जाता था। इसलिए अध्यक्ष का चुनाव किया जाना, सदस्यों को ऐसा सांविधानिक अवसर दिया जाना था जिसके जरिए वे कांग्रेस नेतृत्व के चरित्र के बारे में खुद को अभिव्यक्ति दे सकें। अध्यक्ष पद के लिए सुभाषचंद्र बोस के विरुद्ध जो सदस्य चुनाव लड़ रहा था उसे गांधी तथा पुरानी कार्यसमिति के अधिकांश सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। बोस को वामपंथी राष्ट्रवादियों, सोशलिस्टों तथा कम्युनिस्टों का समर्थन प्राप्त था। चुनाव में बोस को 1,376 मतों के मुकाबले 1,575 मतों से सफलता मिली।

कांग्रेस की आधिकारिक व्यवस्था के विरोध के बावजूद सुभाषचंद्र बोस के चुन लिए जाने से भीतरी तौर पर जबरदस्त संकट पैदा हुआ। दरअस्ल अध्यक्ष पद पर किसी का व्यक्तिगत रूप से चुन लिया जाना संगठन के सदस्यों की भावनाओं को नापने के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है लेकिन इसे किन्हीं भी अर्थों में एक निश्चित राजनीतिक फैसला नहीं समझा जा सकता और न ही यह माना जा सकता है कि सदस्यों का बहुमत वामपंथी दिशा की तरफ मुड़ रहा है। त्रिपुरी अधिवेशन की कार्यवाहियों ने इसे सिद्ध कर दिखाया। फिर भी चुनाव के परिणामों से यह संकेत तो मिलता ही है कि आमतौर से लोगों की विचारधारा वामपंथी दिशा ले रही थी। स्वयं गांधी ने सुभाष बोस के चुनाव को अपनी व्यक्तिगत पराजय माना और कहा : 'अब मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि कांग्रेस के प्रतिनिधिगण उन सिद्धांतों और नीतियों को नहीं मानते हैं जिनका मैं समर्थन करता हूं।' टाइम्स आफ इंडिया ने लिखा : 'श्री बोस का चुनाव एक ऐसी कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करता है

जो वामपंथी दिशा ले रही है।' बांबे क्रानिकल ने टिप्पणी की : 'इस चुनाव से कांग्रेस का उग्रवाद की ओर झुकाव और जनता की दृढ़ता का स्पष्ट संकेत मिलता है। यह बात ध्यान देने की है कि बंबई प्रांतीय कांग्रेस समिति के चुनावों में कम्युनिस्टों को मुख्य रूप से सफलता मिली। मेरठ षडयंत्र के अभियुक्त अधिकारी को शहर के किसी भी उम्मीदवार से ज्यादा वोट मिले और बंबई नगरपालिका के चुनावों में जिन चार कम्युनिस्ट उम्मीदवारों ने भाग लिया उन्हें सबसे ज्यादा वोट प्राप्त हुए।

अध्यक्ष पद के चुनाव के नतीजे ने गांधी तथा संगठन के प्रमुख नरमदली नेताओं को काफी निराश किया और वे लोग अपना क्षोभ छिपा नहीं सके। गांधी ने तुरंत एक बयान जारी किया और कांग्रेस पर आरोप लगाया कि वह एक 'भ्रष्ट संगठन' हो गया है और उसने 'फर्जी सदस्यों' को इकट्ठा कर लिया है। साथ ही गांधी ने यह भी धमकी दी कि बहुमत की नीति को यदि इन सदस्यों ने अस्वीकार किया तो संगठन के दक्षिणपंथी लोग संभवतः कांग्रेस से अलग हो जाएं : 'कांग्रेस की विचारधारा को मानने वाले जो लोग कांग्रेस के षडयंत्रों के कारण संगठन से बाहर हैं वे कांग्रेस का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए जो लोग कांग्रेस में बने रहने में असुविधा महसूस करते हैं वे बाहर आ सकते हैं।'

नतीजा यह हुआ कि कार्यसमिति के 15 सदस्यों में से 12 सदस्यों ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया और त्यागपत्र देने के साथ अपने वक्तव्यों में यह बताया कि वे सुभाषचंद्र बोस के लिए मैदान छोड़ दे रहे हैं ताकि बोस मनमाने ढंग से काम कर सकें। इन सदस्यों ने यह भी आरोप लगाया कि चुनाव प्रचार के दौरान बोस ने उनकी सदाशयता पर कीचड़ उछाला। जवाहरलाल नेहरू ने भी कार्यसमिति से इस्तीफा दे दिया लेकिन उन्होंने अलग से एक वक्तव्य जारी करके अपना खास दृष्टिकोण प्रकट किया (इस संकट के संदर्भ में उनके द्वारा जारी की गई पुस्तिका 'व्हेयर आर वी ?' में इसपर विस्तार से बताया गया है)।

मार्च 1939 में राष्ट्रीय कांग्रेस का त्रिपुरी अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन को संगठन की एकता बनाए रखने में सफलता मिली लेकिन वह इस विवाद को हल नहीं कर सका। 'राष्ट्रीय मांगों' से संबंधित मुख्य प्रस्ताव में इस बात की फिर घोषणा की गई कि कांग्रेस, भारत सरकार अधिनियम की संघीय मांग का दृढ़ता के साथ विरोध करती है और इसे थोपे जाने के विरुद्ध वह संघर्ष का संकल्प दोहराती है।

गांधी के समर्थकों ने नेतृत्व में पैदा फूट के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया जिसे काफी वादविवाद के बाद अंतिम तौर पर स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव में गांधी की नीतियों और उनके नेतृत्व में फिर से आस्था प्रकट की गई थी और अध्यक्ष से कहा गया था कि वह गांधी की इच्छा के अनुरूप अपनी कार्यसमिति के सदस्यों को नामजद करें। इस प्रकार व्यावहारिक रूप से गांधी की, जो कांग्रेस के सदस्य भी नहीं थे, व्यक्तिगत तानाशाही

को स्थापित किया गया। यह प्रस्ताव 135 के मुकाबले 218 मतों से विषय समिति में पारित कर लिया गया और कांग्रेस द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

त्रिपुरी अधिवेशन के बाद के अनुभवों से पता चलता है कि इस विवाद का कोई हल नहीं ढूंढ़ा जा सका था। कर समिति के गठन के बारे में गांधी और बोस के बीच बातचीत चलती रही लेकिन इस बातचीत का कोई नतीजा नहीं निकला और वह बीच में ही टूट गई। अप्रैल 1939 में सुभाषचंद्र बोस ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया और उनके स्थान पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने एक नए अध्यक्ष राजेंद्रप्रसाद का चुनाव किया। इसके बाद बोस ने कांग्रेस के अंदर उन विपक्षी लोगों को संगठित करना शुरू किया जो उनका समर्थन करते थे और एक नए संगठन को जन्म दिया जिसका नाम 'फारवर्ड ब्लाक' रखा गया। इस नए संगठन का लक्ष्य घोषित करते हुए कहा गया कि इसका उद्देश्य 'कांग्रेस के अंदर के प्रगतिशील और साम्राज्यवादविरोधी तत्वों को संगठित करना है।'

फारवर्ड ब्लाक ने संविधान, नीति और कार्यक्रम की कोई बुनियादी आलोचना नहीं की बल्कि उसने कांग्रेस के मौजूदा नेतृत्व के प्रति असंतोष जाहिर किया और स्वतंत्रता के लिए तथा भारत कोराज्यसंघ का दर्जा दिए जाने के विरुद्ध जबरदस्त संघर्ष की तैयारियां करने का आह्वान किया। 1939 की गर्मियों में इस विवाद ने और भी तीव्र रूप ले लिया। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक बैठक में कुछ प्रस्ताव पारित किए गए जिनमें कहा गया कि कांग्रेस के संविधान को और कठोर किया जाए, कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा किए गए कार्यों के संदर्भ में कांग्रेस की प्रांतीय समितियों के अधिकारों को सीमित किया जाए और कांग्रेस समितियों की उचित स्वीकृति के बिना अहिंसात्मक प्रतिरोध से संबंधित आंदोलनों का नेतृत्व करने से कांग्रेसजनों को रोका जाए। अंतिम तीनों प्रस्तावों का उद्देश्य कांग्रेस के कब्जे से किसानों और मजदूरों के दिनोंदिन बढ़ रहे स्वतंत्रता आंदोलन को छीनना था और इन प्रस्तावों की सबने यही व्याख्या की कि इसके जरिए किसानों और मजदूरों के संघर्षों को सीमित किया जाएगा। इस प्रस्ताव के विरोध में सुभाषचंद्र बोस तथा लैफ्ट कंसोलिडेशन कमेटी ने, जो विरोधी तत्वों के मिलेजुले संगठन का प्रतिनिधित्व करती थी, 9 जुलाई को प्रदर्शनों का आह्वान किया। बोस की इस कार्यवाही को कांग्रेस के अनुशासन का उल्लंघन माना गया और बोस को बंगाल कांग्रेस कमेटी की अध्यक्षता के अयोग्य ठहरा दिया गया। इसके साथ ही कांग्रेस संगठन में उन्हें तीन वर्षों तक कोई भी पद न देने का फैसला किया गया।

कांग्रेस के संगठन के भीतर की यह जबरदस्त फूट देश में बढ़ते हुए संकट का संकेत देती है। अब यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही थी कि कांग्रेस मंत्रिमंडलों का इस्तेमाल करके राष्ट्रीय आंदोलन के विकास की जो संभावनाएं सोची गई थीं वे लगभग समाप्त हो चुकी हैं और साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रीय आंदोलन के बीच एक बहुत बड़ी मुठभेड़ होनी है। कांग्रेस के नेतृत्व के उच्चवर्ग में पड़ी फूट से अभी तक किसी राजनीतिक तालमेल की

तस्वीर नहीं साफ हो पा रही थी क्योंकि इस फूट के पीछे अनेक व्यक्तिगत मसले भी थे। लेकिन कांग्रेस के आम सदस्यों के बीच तथा आम जनता के बीच बैचेनी बढ़ती जा रही थी। संगठन में मजबूत गांधीवादी नेतृत्व और कांग्रेस के अंदर बने गुट 'फारवर्ड ब्लाक' के बीच कार्यक्रम या नीति को लेकर कोई बुनियादी विभाजन नहीं था। सुभाषचंद्र बोस के शब्दों में 'फारवर्ड ब्लाक' श्री गांधी के व्यक्तित्व और अहिंसात्मक असहयोग के उनके सिद्धांत को पूरा सम्मान देता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कांग्रेस के मौजूदा हाई कमान में भी वह अपनी निष्ठा बनाए रखे।' जनआंदोलन के लिए अभी बुनियादी कार्यक्रम और नेतृत्व का विकास होना बाकी है लेकिन तथ्यों से पता चलता है कि राष्ट्रीय आंदोलन के एक नए चरण में प्रवेश के लिए स्थितियां तैयार हो गई थीं।

यही वह स्थिति थी जब युद्ध के छिड़ जाने से साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय आंदोलन के बीच एकत्र हुए संघर्ष अचानक चरम बिंदु पर पहुंच गए और उन्होंने नई समस्याएं सामने ला दीं।

16

द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत

भारत की भौगोलिक स्थिति उसे दिन ब दिन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की अगली पंक्ति में लाती जाएगी।—23 मार्च 1905 इंडिया कौंसिल में लार्ड कर्जन का भाषण।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रवाह ने भारत को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की धारा में पूरी तरह पहुंचा दिया। 1914 के विश्वयुद्ध में भारतीय सैनिकों और साधनों का भरपूर इस्तेमाल किया गया था फिर भी यह युद्ध भारत से अपेक्षतया काफी दूर चल रहा था। लेकिन 1942-44 के युद्ध और आक्रमण ने भारत के निकटतम पड़ोसियों को रौंद दिया और भारत की सीमाओं तक इसके धमाके सुनाई पड़ने लगे। 1914 के युद्ध ने भारत पर गंभीर आर्थिक दबाव डाला था लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध ने न केवल भारत की भयंकर आर्थिक लूट की बल्कि उसने भारत में जबरदस्त मुद्रास्फीति को जन्म दिया, आर्थिक संरचना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और इस युद्ध के कारण भारत को अकाल का सामना करना पड़ा। 1914 के युद्ध ने भारत के लिए राजनीतिक प्रश्नों को काफी तीव्र बना दिया। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध ने भारत की आजादी के बुनियादी प्रश्न को भारतीय राजनीति की अगली पंक्ति में ला खड़ा किया। इसने नए मसले, नई समस्याएं और नए संघर्षों को भारतीय राजनीति के मर्मस्थल तक पहुंचा दिया और हर तरह के राजनीतिक जोड़ तोड़ को प्रभावित किया।

1914 से पहले तक विश्व राजनीति में भारत की भूमिका के प्रश्न को यह समझा जा सकता था कि मूलत: यह प्रश्न ब्रिटेन की रणनीति और ब्रिटिश नीति से संबद्ध है। राष्ट्रीय

आंदोलन का पूरा ध्यान भारत में चलने वाले संघर्षों पर केंद्रित था और यह काफी स्वाभाविक भी था। यह बात काफी अतर्कपूर्ण लगती थी कि जब तक भारत आजादी न हासिल कर ले तब तक भारतीय जनता से इस बात की अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह विश्व की राजनीति में कोई स्वतंत्र भूमिका निभाए। लेकिन 1931 में विश्वव्यापी फासिस्ट आक्रमण के बाद से यह स्थिति बदल गई है। अब विदेश नीति का मसला राष्ट्रीय आंदोलन का एक प्रमुख मसला बन चुका है।

द्वितीय विश्वयुद्ध से संबद्ध विशेष मसलों पर विचार करने से पूर्व यदि हम पहले की घटनाओं का संक्षेप में जायजा लेने और विश्व राजनीति के संदर्भ में ब्रिटिश रणनीति में भारत की भूमिका तथा विदेश नीति से संबद्ध मसलों के प्रति राष्ट्रीय आंदोलन के रुख के बारे में थोड़ा विचार कर लें तो यह काफी उपयोगी होगा।

1. ब्रिटिश अंतर्राष्ट्रीय रणनीति और भारत

व्यापक अर्थों में देखें तो ब्रिटिश शासन के अधीन भारत का मसला विश्वव्यापी राजनीति का मसला रहा है और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है।

पिछले दो सौ वर्षों का इतिहास देखें तो यह बात स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई है कि अंगरेजों ने भारत को अपनी अंतर्राष्ट्रीय रणनीति की धुरी बना रखा था। ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा लग सकता है कि 18वीं सदी में यूरोप की बदलती हुई परिस्थितियां और नए गुट ही ब्रिटेन और फ्रांस के बीच युद्ध का कारण थे लेकिन वास्तविकता यह है कि इन युद्धों का मुख्य कारण नई दुनिया के लिए संघर्ष तथा भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने का संघर्ष था। ब्रिटेन के हाथ से जब अमरीका निकल गया तो उसके लिए भारत का महत्व और अधिक बढ़ गया। नेपोलियन ने जब मिस्र और सुदूरपूर्व की तरफ अपनी सेनाओं को बढ़ने का आदेश दिया तो उसके दिमाग में भारत की ओर बढ़ने की बात थी। 19वीं सदी के दौरान ब्रिटेन को हमेशा रूस का ही डर सताता रहा और उसे यह आशंका थी कि रूस कहीं एशिया में बढ़ता न चला जाए और इस प्रकार बढ़ते बढ़ते वह भारत तक न पहुंच जाए। 20वीं सदी के पूर्वार्ध में जब ब्रिटेन ने इन विकासक्रमों के प्रति उदासीनता की अपनी नीति छोड़ी तो उसने सबसे पहले जापान के साथ संधि की और जब इस संशोधित ब्रिटिश जापानी संधि का नवीकरण किया गया तो उसमें यह सूत्र भी शामिल किया गया कि भारत से ब्रिटेन का प्रभुत्व बनाए रखने में जापान मदद करता रहेगा। जर्मनी के साथ ब्रिटेन के संघर्ष का खास कारण यह था कि मध्य पूर्व पर किसका नियंत्रण रहेगा क्योंकि इसपर नियंत्रण रखने से ही भारत तक पहुंचने का रास्ता मिल सकता था।

भारत अंगरेजों के लिए हमेशा ऐसा अपार सुरक्षित कोष रहा है जिससे उन्हें अपने ही लिए नहीं बल्कि भारत की सीमाओं से परे एशिया में विस्तार की अपनी समूची नीति को अमल में लाने के लिए उन्हें मनचाहे सिपाही और धन मिल सके। भारत पर जो कर्ज

लदा हुआ है उसका एक बहुत बड़ा भाग इन युद्धों के कारण ही उसपर चढ़ा है। ब्रिटेन अपनी नीति के लक्ष्यों की सिद्धि के लिए दूसरे एशियाई देशों और एशिया की सीमाओं से दूर लड़ाइयां लड़ता था और इन सारे युद्धों का खर्च भारत को चुकाना पड़ता था। 1859 में ब्रिटेन के एक सैनिक अधिकारी ने लिखा :

> एशियाई देशों में हमने जितने युद्ध लड़े हैं उन सबका सैनिक और आर्थिक खर्च भारत सरकार ने दिया है हालांकि इन युद्धों का उद्देश्य, कुछ मामलों में शुद्ध रूप से ब्रिटेन के हितों की रक्षा करना था और कई अन्य मामलों में इनका भारत के हितों से कोई संबंध न था। (मेजर विनगेट, 'अवर फाइनेंशियल रिलेशंस विद इंडिया', 1859, पृष्ठ 17)

इसी आधार पर अफगानिस्तान, बर्मा, श्याम, चीन, फारस, मेसोपोटामिया, अरब, मिस्र और अबीसीनिया में युद्धों का संचालन किया गया।

19वीं सदी में जब ब्रिटेन अपने प्रभुत्व का विस्तार कर रहा था तब भारत के आधार पर विश्व में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की ब्रिटेन के सैनिक अधिकारियों की कितनी जबरदस्त आकांक्षाएं थीं और उन्होंने कितनी बेहिसाब गणनाएं कर रखी थीं इसका दृष्टांत हमें चार्ल्स नेपियर के कथन में मिलता है। चार्ल्स नेपियर 1857 के विद्रोह से पूर्व लार्ड डलहौजी के अधीन सेना के कमांडर इन चीफ थे :

> अगर मैं भारत का सम्राट होता तो मैं न जाने क्या क्या करता। मैं मास्को और पीकिंग को हिलाकर रख देता...भारत से इंग्लैंड तक नदियों और मैदानों का जाल बिछा है...पंजाब की पांचों नदियां, इंडस और सिंध, लालसागर और माल्टा इन सबको जोड़कर इंग्लैंड तक का रास्ता तैयार किया जा सकता है। अगर मैं इंग्लैंड का राजा होता तो दिल्ली के महल से मैं अपने घूंसे तानकर निकलता और रूस तथा फ्रांस के दांतों पर दे मारता। पश्चिम में इंग्लैंड के जंगी जहाजों के बेड़े और पूर्व में भारतीय सेना का एकछत्र राज्य होना चाहिए।

भारतीय सेना को जितना बड़ा बनाया गया था और इसपर जितना पैसा खर्च किया जाता था वह महज इसलिए नहीं कि भारत की जनता को गुलाम रखने के लिए यह जरूरी था बल्कि इसलिए कि भारत की सीमाओं से परे अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए जो युद्ध लड़े जाएं उनमें इस सेना का इस्तेमाल किया जा सके। 1885 में वायसराय की कौंसिल के सर कोर्टने इलबर्ट ने वर्तमान नीति के प्रति अपनी विरोधात्मक टिप्पणी में कहा था :

> अपने देश की जरूरतों के लिए जितनी बड़ी सेना की आवश्यकता है उससे बड़ी सेना

रखने से हम अपनी सीमाओं से परे आक्रमण करने का लोभ संवरण नहीं कर पाएंगे।
(सर कोर्टने इलबर्ट : विरोध टिप्पणी, 14 अगस्त 1885)

इसके तत्काल बाद बर्मा पर विजय प्राप्त करके और उसे भारत में मिलाकर यह भविष्य-वाणी पूरी कर दी गई। इसके बाद 1895 का छित्राल अभियान हुआ, तिराह का कुख्यात अभियान हुआ, 1900 में कर्जन के अधीन उत्तर पश्चिम सीमा प्रदेशों को हथिया लिया गया और 1904 में तिब्बत पर हमला किया गया।

1904-5 में बजट पर हुई बहस के दौरान सर ई० एलिस ने भारत के राष्ट्रीय नेता गोखले की आलोचनाओं के विस्तारवाद की नीति की वकालत की :

क्या सीमाओं पर खड़े पहाड़ों के पीछे अपने को छिपा लेने से ही हमें यह भ्रम पाल लेना चाहिए कि हम सुरक्षित हैं जबकि एशियाई राज्यों का तेजी से पतन होता जा रहा है···मैं समझता हूं कि एशिया में शक्ति संतुलन बनाए रखने के लिए भविष्य में निस्संदेह भारतीय सेना की प्रमुख भूमिका होनी चाहिए। भारतीय सेना को अब महज स्थानीय सैनिक दस्ता समझना, जो केवल स्थानीय रक्षा और कानून एवं व्यवस्था कायम रखने के लिए बनी हो, असंभव है।

इसी बहस के संदर्भ में लार्ड कर्जन ने जो बयान दिया उसमें उन्होंने अपनी बातें और भी स्पष्टता के साथ कहीं :

भारत एक बहुत बड़े किले के समान है जिसके दोनों तरफ विशाल सागर हैं और शेष दिशाओं में पर्वतमालाएं हैं। लेकिन इन दीवारों के पार, जो निश्चित रूप से इतनी ऊंची हैं जिन्हें पार नहीं किया जा सकता और इतनी मजबूत हैं जिनका भेदन नहीं किया जा सकता, विभिन्न लंबाई-चौड़ाई के ढाल हैं। हम उनपर कब्जा करना नहीं चाहते लेकिन हम यह भी नहीं देख सकते कि हमारे दुश्मन उसपर कब्जा कर लें। हमें इस बात से पूरा संतोष रहेगा अगर ये इलाके हमारे सहयोगियों या मित्रों के अधिकार में बने रहें। लेकिन हमारे प्रतिद्वंद्वियों और दुश्मनों का प्रभाव इन इलाकों पर बढ़ता गया और उन्होंने बिलकुल हमारी नाक के नीचे अपने को जमा लिया तो हम दखल देने पर मजबूर होंगे क्योंकि यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो इतना भयानक खतरा पैदा हो जाएगा जो एक दिन हमारी सुरक्षा को चौपट कर देगा। अरब, फारस, अफगानिस्तान, तिब्बत और पूरब में स्याम तक हमारी मौजूदा स्थिति का यही राज है।

लार्ड कर्जन की यह धारणा उनकी पुस्तक 'प्राबलम्स आफ दि फार ईस्ट' में विस्तार से देखी जा सकती है। लार्ड कर्जन के बाद जितने भी शासक भारत आए उन्होंने इन्हीं

नीतियों का आज तक पालन किया है और इसके संकेत हम ढूंढ़ सकते हैं :

> भारतीय साम्राज्य इस भूमंडल के तीसरे सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्से में सामरिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण केंद्र पर स्थित है···लेकिन उसकी केंद्रीय और संचालनकारी स्थिति को जितनी पूर्णता के साथ उन राजनीतिक प्रभावों में देखा जा सकता है जो वह निकट और दूर के अपने पड़ोसियों का भाग्य निर्धारित करने के लिए इस्तेमाल करती है और जिस सीमा तक उनकी किस्मत भारतीय धुरी की परिक्रमा करती रहती है, वह और कहीं संभव नहीं है। (माननीय जी०एन० कर्जन : 'प्राबलम्स आफ दि फार ईस्ट', 1894, पृष्ठ 9-10)

1913 में आर्मी इन इंडिया कमेटी ने कहा था : 'भारत को इसलिए अपनी सेना नहीं तैयार करनी है कि ब्रिटिश सरकार जब चाहे तब भारत से बाहर लड़ रहे युद्धों में इस सेना का इस्तेमाल करे, हालांकि, जैसा कि अतीत में हुआ है वह अपने सैनिकों को इन युद्धों के लिए उस स्थिति में भेज सकता है जब वे अन्यथा उपलब्ध हों।'

1914-18 के युद्ध ने पूरी तरह दिखा दिया कि भारत का यही इस्तेमाल है। लगभग 10 लाख सैनिकों, जिनमें से आधे से अधिक लड़ाकू सैनिक थे, फ्रांस, को पूर्वी अफ्रीका, मिस्र मेसोपोटामिया आदि में लड़े जा रहे युद्ध में हिस्सा लेने के लिए भेज दिया गया और भारत से हजारों लाखों पौंड की राशि वसूली गई। नए मध्य पूर्वी साम्राज्य की विजय के लिए भारत को आधार बनाया गया हालांकि बाद के वर्षों में टर्की के पुनरुत्थान और सऊदी अरब के मजबूत होने से यह विजय अधूरी ही रह गई।

1920 की ईशर कमेटी रिपोर्ट ने 1913 की आर्मी इन इंडिया कमेटी की तुलना में कहीं ज्यादा स्पष्टता के साथ भारतीय सेना के बारे में सरकारी धारणा को व्यक्त किया और इसे ऐसा अस्त्र बताया जिसे ब्रिटिश शासक भारत से बाहर इस्तेमाल करते हैं :

> हम भारत में स्थित सेना के प्रशासन को ब्रिटिश साम्राज्य की समूची सैन्य शक्ति से अलग नहीं मान सकते।

जैसा लार्ड रालिसन ने, जो पिछले विश्वयुद्ध के बाद 1921 में सेना के कमांडर इन चीफ थे, बताया था और बाद में 'दि आर्मी इन इंडिया ऐंड इट्स इवाल्यूशन' नामक सरकारी पुस्तिका (1924 में प्रकाशित) में जिसका विस्तार से उल्लेख किया गया है, आज भारत में सेना को तीन श्रेणियों में संगठित किया गया है :

1. थलसेना (फील्ड आर्मी) जो भारत से बाहर बड़े बड़े युद्धों में भाग ले।

2. रक्षात्मक सेना (कवरिंग ट्रुप्स) जो सीमाओं पर युद्ध का संचालन करे और बड़े युद्धों के समय एक ऐसे आवरण का काम करे जिसके पीछे समूची सैनिक गतिविधियां बेरोकटोक होती रहें।
3. आंतरिक सुरक्षा सेना (इंटरनल सिक्योरिटी ट्रुप्स) जो भारत के अंदर रक्षक दस्तें का काम करे।

थलसेना में चार डिवीजन और चार घुड़सवार ब्रिगेड (अब मशीन सज्जित) होते हैं और बताया जाता है कि किसी बड़े युद्ध की अवस्था में इन्हीं से दुश्मन पर भरपूर प्रहार किया जाता है।

1918 के युद्ध के बाद के वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य ने अपने सैनिक व्यय का बोझ कितने बड़े पैमाने पर भारत पर डाल दिया, इसका उदाहरण हम सैनिक खर्च के आनुपातिक आंकड़ों से देख सकते हैं। निम्न तालिका से पता चलता है कि 1913 से 1928 के बीच ब्रिटेन, भारत और डोमीनियन राज्यों के सैनिक व्यय में कितनी आनुपातिक वृद्धि हुई :

सैनिक व्यय, 1913-28

(लाख पौंड में)

	1913	1928	प्रतिशत वृद्धि
ग्रेट ब्रिटेन	770	1150	49
भारत	220	440	100
अन्य डोमीनियन	90	120	33
कुल योग	1080	1710	57

(ईस्टर्न आर्मामेंट्स सप्लिमेंट, 19 अक्तूबर 1929)

भारत पर (जिसे इस मामले में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था) यह बोझ दुगना कर दिया गया जबकि ब्रिटेन पर इस बोझ में आधा से भी कम और डोमीनियनों पर तो एक तिहाई से भी कम वृद्धि हुई। 1914 के युद्ध से पहले कुल बजट का 2/5 हिस्सा सैनिक कार्यों पर खर्च होता था। 1891-92 में यह व्यय 41 प्रतिशत और 1913-14 में 42.6 प्रतिशत था। 1914 के युद्ध से पहले कुल सैनिक व्यय औसतन 30 करोड़ रुपया था जो 1920-21 की बढ़ी हुई कीमतों के समय 87 करोड़ 40 लाख रुपया या कुल बजट का 51 प्रतिशत हो गया। 1925-26 तक कीमतों में कमी आने के साथ इस राशि में भी कमी आई और यह घटकर 56 करोड़ या 39 प्रतिशत हो गई। 1928-29 तक इस राशि में फिर वृद्धि हुई और यह बढ़कर 45 प्रतिशत हो गई। सरकारी अनुमान के अनुसार

1936-37 में यह राशि कुल केंद्रीय बजट का 54 प्रतिशत और केंद्र तथा प्रांतों के मिले-जुले बजट का 29 प्रतिशत थी।

ब्रिटेन के लिए भारत का सामरिक महत्व दो विश्वयुद्धों के बीच के वर्षों में काफी बढ़ गया। मध्यपूर्व में अंगरेजों का नया साम्राज्य और प्रभावक्षेत्र भारत के आधार पर ही बनाया गया था। भूमध्य सागर पर नियंत्रण खो बठने की संभावित स्थिति का मुकाबला करने के लिए अंगरेजों ने साइमंसटाउन में नया नौसैनिक अड्डा बनाया और कैप मार्ग पर जोर दिया तथा प्रशांत महासागर से हिंद महासार में प्रवेश करने के मार्ग पर कब्जा बनाए रखने के लिए सिंगापुर के तथाकथित अपराजेय नौसैनिक अड्डे पर जोर दिया। इन बातों से पता चलता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत पर और भारत जाने वाले मार्गों पर अपने अधिकार को अपने साम्राज्य की धुरी मानते थे। जैसे जैसे भूमध्यसागर और स्वेज नहर का रास्ता दिनोंदिन संकटपूर्ण होता गया वैसे वैसे ब्रिटेन को बगदाद, कराची, कलकत्ता और सिंगापुर तथा भारत और स्याम के जरिए सुदूर पूर्व होकर आस्ट्रेलिया से जोड़ने वाले ब्रिटिश हवाई मार्गों का रास्ता ब्रिटेन के लिए काफी महत्वपूर्ण हो गया। जैसे जैसे प्रशांत महासागर के क्षेत्र पर और चीन के समुद्रतट तथा जलमार्गों पर जापान का कब्जा बढ़ता गया वैसे वैसे बर्मा होकर जाने वाले रास्ते का महत्व ब्रिटेन के लिए बढ़ता गया।

इन सारी तैयारियों में दोष का पता द्वितीय विश्वयुद्ध में चल गया। एशिया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की ताकत ने नहीं बल्कि अमरीका, सोवियत संघ और ब्रिटेन की मिलीजुली मदद से धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों की विजय ने (जिसने अंतिम तौर पर जापान के खिलाफ शक्ति का केंद्रीकरण कर दिया) एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा झेले गए घाटे और विनाश का अंतिम तौर पर निराकरण कर दिया। लेकिन इस समय तक एशिया के उपनिवेशों में मुक्तिआंदोलनों में काफी तेजी आ गई थी और युद्ध के बाद पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था को फिर से स्थापित करने के प्रयासों को जबरदस्त प्रतिरोध का सामना करना पड़ा।

फिर भी यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भी ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय रणनीति में भारत का महत्वपूर्ण निर्णायक स्थान बना रहा। ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रभुत्व और प्रभावक्षेत्र के दो महत्वपूर्ण सिरों, मध्यपूर्व और दक्षिणपूर्व एशिया के बीच भारत एक धुरी का काम करता है और ब्रिटिश नीति के अनुसार यह एक ऐसा अड्डा है जो अपरिहार्य है। जुलाई 1944 में लेबर पार्टी के प्रमुख प्रवक्ता लार्ड पैथिक लारेंस ने हाउस आफ कामंस की बहस के दौरान बड़े साफ शब्दों में कहा :

> तमाम ऐसी घटनाएं सामने आई हैं जिनसे सातों समुद्रों में शांति कायम करने की ब्रिटेन की शक्ति पर संदेह पैदा होता है। और यह बात दुनिया के और किसी हिस्से में इतने साफ तौर पर नहीं देखी गई जितनी भारतीय उपमहाद्वीप के पड़ोस

में देखने में आई। जहां तक मेरी धारणा है, ब्रिटेन के लिए सैनिक दृष्टि से भारत एक महान बुर्ज है। (इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1914, खंड-2, पृ० 298)

एशिया में उपनिवेशवादविरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के खिलाफ ब्रिटेन को बहुत गंभीर लड़ाई लड़नी पड़ी और इसके लिए अंगरेजों ने अपने प्रमुख फौजी अड्डे के रूप में हमेशा भारत का इस्तेमाल किया। ब्रिटेन ने बर्मा, मलाया, इंडोनेशिया जैसे एशियाई देशों में मुक्तिआंदोलनों का दमन करने के लिए और इन देशों पर औपनिवेशिक शासन फिर से कायम करने के लिए न केवल भारत के साधनों का इस्तेमाल किया बल्कि अपनी फौजों के लिए वहां लोगों की भरती भी की (यह काम वह तब तक करता रहा जब तक इंडोनेशिया के विरुद्ध युद्ध का संचालन करने के लिए सैनिकों की भरती के काम में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतिरोध के कारण बाधा नहीं पड़ी)। अमरीका और ब्रिटेन की नीति में सोवियत संघ विरोधी जो खतरनाक प्रवृतियां थीं उनका भारत पर अप्रत्यक्ष रूप से जबरदस्त प्रभाव पड़ा। इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रिटेन द्वारा भारत भेजे गए कैबिनेट मिशन और 1946 में किए गए समझौता प्रस्तावों के पीछे सामरिक दृष्टि से की गई सोच की महत्वपूर्ण भूमिका थी। तथाकथित आजादी की बात के साथ साथ अंगरेजों ने भारत पर अपने सैनिक रणनीति नियंत्रण को और कारगर ढंग से मजबूत करने के व्यावहारिक उपायों को ही बढ़ावा दिया।

2. ब्रिटेन की अंदरूनी राजनीति में भारत का महत्व

ब्रिटेन के लिए भारत के सामरिक महत्व के साथ साथ जो बात घनिष्ठ रूप से जुड़ी है वह है ब्रिटेन के अंदरूनी सामाजिक और राजनीतिक संबंधों के समूचे ढांचे और स्वरूप के लिए भारत के शोषण और नियंत्रण का सामाजिक राजनीतिक महत्व। हमने यह देख ही लिया है कि किस सीमा तक भारत का विशेष शोषण करके ब्रिटेन की पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का क्रमशः निर्माण हुआ है। यह काम 17वीं और 18वीं सदी में भारत की लूट के प्रारंभिक दौर के जरिए हुआ जिसने औद्योगिक क्रांति के लिए शुरू के दिनों में पूंजी के संचयन को संभव बनाया। फिर 19वीं सदी में मशीन निर्माण के प्रमुख बाजार के रूप में और कच्चे माल के स्रोत के रूप में भारत का विकास किया गया और बाद के वर्षों में पूंजी का निर्यात करने वाले क्षेत्र के रूप में भारत को विकसित किया गया। इस घनिष्ठ आर्थिक संबंध की प्रतिक्रिया ब्रिटेन की आर्थिक संरचना पर ही नहीं बल्कि इससे मेल खाते सामाजिक और राजनीतिक ढांचे पर तथा ब्रिटेन की समूची राजनीतिक धारा पर भी अनिवार्य रूप से हुई।

सीले ने 'एक्सपेंशन आफ इंग्लैंड' में खुद ही बड़े उन्मुक्त क्षणों में कहा था कि 'इतिहास का प्रत्येक छात्र यह मानता है कि रोमन साम्राज्य के दुस्स्वप्न के कारण ही रोम की स्वतंत्रता नष्ट हो गई।' सीले की यह टिप्पणी काफी गहरी चोट करती है और इसके

निष्कर्ष जितने गंभीर हैं उन्हें वह शायद स्वयं स्वीकार करने को तैयार न हों। इंग्लैंड का आधुनिक इतिहास साम्राज्य और जनतंत्र के निरंतर संघर्ष से भरा पड़ा है।

18वीं सदी के मध्य में भारत की विजय काल से ब्रिटेन की घरेलू राजनीति पर साम्राज्य के प्रत्यक्ष प्रभाव के इस तत्व को निरंतर देखा जा सकता है। 18वीं सदी की राजनीति पर और सुधार आंदोलन के पूर्व वाले संसद के भ्रष्टाचार पर 'नवाबों' का कितना प्रभाव था, यह सभी लोग जानते हैं।

1783 में फाक्स के सुधारवादी मंत्रिमंडल को भारत के प्रश्न पर पराजय का सामना करना पड़ा और उसके स्थान पर प्रतिक्रियावाद का दीर्घकालीन शासन आरंभ हुआ, फ्रांसीसी क्रांति के प्रति दुराग्रहपूर्ण प्रतिक्रांतिकारी शत्रुता पैदा हुई और इंग्लैंड में जन-तांत्रिक सुधार का काम स्थगित हो गया। जब 1832 के सुधार विधेयक (रिफार्म बिल, ने पुरातन आधिपत्य को समाप्त कर 19वीं सदी के लंकाशायर के प्रभुत्व को स्थापित किया तो भारत के शोषण में लंकाशायर ने ही एक अहम भूमिका निभाई। इसने 19वीं सदी के उदारतावाद की आकांक्षाओं को निष्फल करने के साथ उसे ऐसी दिशा दिखाई जिसके प्रतिफलन के रूप में हमारे सामने उदार साम्राज्यवाद आया। तानाशाही शासन में प्रशिक्षित आंग्ल भारतीय शासकों के खेमे से ब्रिटेन की आंतरिक राजनीति में प्रति-क्रियावाद की शक्तियों की निरंतर भरती का काम जारी है और यह सिलसिला वेलिंगटन के शासनकाल से लेकर कर्जन और लायड के शासनकाल तक जारी है। कंजरवेटिव विचारधारा की अंदरूनी धाराओं और दरारों के बीच आंग्ल भारतीयों और कट्टरपंथियों के घनिष्ठ संबंध को निरंतर तलाशा जा सकता है।

ब्रिटेन के लेबर आंदोलन में जो विकृति और पतनशीलता आई उसकी मुख्य जिम्मेदारी ब्रिटिश साम्राज्य के उस प्रभाव को है जिसका असर सत्ताधारी वर्ग के ही नहीं बल्कि मजदूरवर्ग के सदस्यों पर भी पड़ा था। इसलिए अधिकारपत्रवाद (चार्टिज्म) की नई और शक्तिशाली धारा ने दुनिया के मजदूरवर्ग को वर्गों की मुक्ति के लिए खुलेआम वर्ग-संघर्ष के रास्ते पर लाकर तथा औपनिवेशिक जनता के हित को अपनाकर 19वीं सदी में मजदूरों ने उच्चवर्ग के घृणित समझौतों को स्थान दिया और उन्हें मालिकों का विनीत पिछलग्गू बना दिया। मार्क्स और एंगेल्स ने बार बार यह बताया है कि इस भ्रष्टाचार और पतन का मूल कारण यह है कि उपनिवेशों के शोषण से जो लूट का माल इकट्ठा होता है उनमें इन्हें भी हिस्सा मिलता है। इन उपनिवेशों में भारत का प्रमुख स्थान है। यही वजह है कि जब समाजवाद की जीवनदायी शक्ति ने नए सिरे से ब्रिटेन के मजदूरवर्ग में जागृति का संचार किया तो यह प्रगति उदार साम्राज्यवाद (लेबर इंपीरियलिज्म) के क्षयकारी प्रभाव से काफी हद तक कमजोर, विभाजित और विकृत हो गई। इसकी कीमत 1914 के युद्ध में और वर्तमान युद्ध में चुकानी पड़ी। भारत के मामले में लेबर पार्टी के कार्यों का शर्मनाक इतिहास देखने से पता चलता है कि ब्रिटिश मजदूरवर्ग को

आजादी से वंचित रखने वाला यह कैंसर लेबर आंदोलन के प्रमुख वर्गों की नसों में कितनी गहराई तक धंसा हुआ है। यह बात उन दोनों लेबर सरकारों के संदर्भ में भी सही है जिन्होंने एक जनतांत्रिक आंदोलन के दमन के लिए जारशाही के सभी तरीकों का इस्तेमाल किया। लेबर पार्टी जब विपक्ष में थी तब भी उसने भारतीय जनता के खिलाफ बार बार कंजरवेटिव पार्टी की सरकार के साथ तालमेल बैठाया। 1937 में बूर्नमाउथ में लेबर पार्टी के अधिवेशन की विषयसूची में एक प्रस्ताव था जिसमें कहा गया था कि भारतीयों को एक संविधान सभा के जरिए आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाए। यह एक ऐसी जनतांत्रिक मांग थी जिसका विरोध नहीं किया जा सकता था पर लेबर पार्टी के नेताओं ने इस बात की पूरी एहतियात बरती कि यह प्रस्ताव अधिवेशन में न लाया जा सके और इसपर मतदान न कराया जा सके।

यहां तक कि आज जब इस प्रभुत्व का आधार लड़खड़ा रहा है और फलस्वरूप मजदूरों के एक वर्ग की परोक्ष उपलब्धियां समाप्त हो रही हैं, साम्राज्यवाद के राजनेता अब भी ब्रिटिश साम्राज्य के मुनाफों को ब्रिटेन के मजदूरवर्ग तथा ब्रिटिश जनता के हितों के लिए अपरिहार्य बताकर बढ़ाए रखना चाहते हैं। इस संदर्भ में चर्चिल ने कहा है :

> विदेशों के साथ हमारे व्यापक संबंध, हमारे निर्यात व्यापार, जो अब आधा हो गया है, हमारी जहाजरानी जो इतने बड़े पैमाने पर ठप पड़ गई, और विदेशों में पूंजी लगाने से हुई आय जिनपर हमारी सामाजिक सेवाओं को बनाए रखने के लिए भार डाला जा रहा है इन सबके बिना जितने लोग रह सकते हैं उससे डेढ़ करोड़ ज्यादा लोग यहां हैं। मेरा ख्याल है कि इन द्वीपों में 20 या 30 लाख लोग उन परोपकारी सेवाओं से अपना जीवन बसर कर रहे हैं जो हमारे और भारत के बीच परस्पर चलती हैं। (हाउस आफ कामंस में विंस्टन चर्चिल का भाषण, 29 मार्च 1933)

> भारत को अभी ब्रिटेन के वेतनभोगियों के विषय में बहुत कुछ करना है। लंकाशायर के कपासकर्मियों ने अब उसे समाप्त पाया है। उनमें से 1 लाख व्यक्ति पहले से ही खैरात पर काम चला रहे हैं; और यदि भारत को हमने खो दिया, यदि हमारे साथ ब्रिटिशशासित भारत ने भी वही व्यवहार किया जैसा ब्रिटिशशासित आयरलैंड ने किया था तो ज्यादा आशंका इस बात की है कि इस देश में रोजीरोटी कमाने वाले 20 लाख लोग सड़कों की खाक छानने लगेंगे और लेबर एक्सचेंजों के बाहर लाइन लगाने लगेंगे। (भारत के बारे में विंस्टन चर्चिल का रेडियो प्रसारण, 29 जनवरी 1935)

यह तर्क व्यवहार में भी उतना ही गलत है जितना सिद्धांत में द्वेषपूर्ण। एक दुर्भाग्यग्रस्त और नष्ट हो रही इजारेदारी के टुकड़ों की रक्षा के लिए ब्रिटिश मजदूरों को स्वतंत्रता का

अपना जन्मसिद्ध अधिकार और अपने श्रम का भरपूर फल छोड़ देना पड़ेगा तथा गुलाम देशों की जनता के विरुद्ध अपने मालिकों की कतार में खड़ा होना पड़ेगा। इस नीति का नतीजा समृद्धि नहीं बल्कि बरबादी है। मौजूदा समय में यह बात व्यवहार में साबित हो चुकी है। भारत को आजादी नहीं दी गई है पर आजादी न देकर भी नौकरी के इच्छुक ब्रिटेन के 20 लाख लोगों को लेबर एक्सचेंजों के सामने लाइन लगाने से नहीं रोका जा सका। 19वीं सदी की पुरानी इजारेदारी अब दुर्भाग्य का शिकार हो चुकी है और उसे बचाया नहीं जा सकता। अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए शोषकों के साथ कंधा मिलाना और ब्रिटिश सरकार के ही नहीं बल्कि ब्रिटिश जनता के प्रति भी गुलाम देशों की जनता के बीच शत्रुता की भावना को तेज करना एक ऐसी हरकत है जिसका नतीजा यह होगा कि ब्रिटेन एकदम अलग-थलग पड़ जाएगा और ब्रिटिश जनता बरबाद हो जाएगी। इसके विकल्प की तलाश बिरादराना उत्पादन संबंधों पर ही की जा सकती है, इसके ही जरिए ब्रिटिश मजदूरों के सम्मानजनक और समृद्ध अस्तित्व का प्रयोजन पूरी तरह सिद्ध हो सकता है। वह आधार भी पाया जा सकता है लेकिन इसे पाने का आधार भी उन लोगों की समान मैत्री पर निर्भर होगा जो साम्राज्यवादी शोषण के पुराने संबंधों को समाप्त करके नए संबंध कायम करने में लगे हों।

साम्राज्यवादियों की आपसी होड़ का परिणाम हमने एक बार फिर एक नए घातक विश्व-युद्ध के रूप में देख लिया है। लेकिन इसके साथ ही ब्रिटिश मजदूरवर्ग और ब्रिटिश जनता के सामने विकल्प के रूप में एक नया मार्ग भी प्रशस्त हो गया है। यह मार्ग समान जनतांत्रिक अधिकारों, राष्ट्रीय स्वतंत्रता, विश्वशांति और फिर समाजवाद के लिए समान रूप से संघर्ष में जुटी भारतीय जनता और सभी गुलाम देशों की जनता के साथ एकता कायम करने का मार्ग है। इन मामलों पर ब्रिटिश जनता का सजग होना भारतीय जनता के सजग होने की तुलना में किसी भी माने में कम महत्वपूर्ण नहीं है।

3. राष्ट्रवाद और विदेशनीति

ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय नीति और ब्रिटेन की घरेलू राजनीति के लिए भारत का सामरिक महत्व क्या रहा है, इसपर विचार करें तो पता चलता है कि भारत की भूमिका हमेशा एक कठपुतली की रही है; उसने विश्वशक्तियों और संघर्षों के संतुलन में एक भूमिका बल्कि ये कहें कि एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है लेकिन इस भूमिका का चुनाव उसकी संसद से नहीं हुआ और न इसपर उसका कोई वश ही रहा। आज वह स्थिति समाप्त हो रही है। भारत की जनता आज भारतीय मामलों में ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भी अपने अधिकारों को दृढ़ता के साथ रख रही है।

1914 में युद्ध से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक मसलों के संदर्भ में कोई सक्रिय भूमिका निभाने की कोशिश नहीं की। उसकी यह कोशिश केवल इने गिने मामलों में ही रही जैसे विदेशों में रहने वाले भारतीयों का विशेष मसला और

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों की असमर्थताएं जिनका उन्हें शिकार होना पड़ता था।

इस युग में विश्व के प्रमुख राजनीतिक मसलों के संदर्भ में महत्व के इस बोध से इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि यह तटस्थता के अथवा सुविचारित अलगाव के कारण हैं। राजनीतिक आंदोलन में शामिल लोग और यहां तक कि इन आंदोलनों से काफी अलग पड़े लोगों के भी कुछ वर्ग विदेशों में घटित हो रही राजनीतिक घटनाओं में बेहद दिलचस्पी ले रहे थे और वे सोच रहे थे कि इन घटनाओं का भारत की मुक्ति पर क्या असर पड़ सकता है। ब्रिटिश साम्राज्य के कमजोर होने के हर संकेत को वे बड़ी उत्सुकता के साथ देखते थे और उनके अंदर आशा का संचार होता था। दक्षिण अफ्रीकी युद्ध इसका प्रमाण है। 1905 में जब जापान की जीत हुई तो उन लोगों ने इसका जोरदार स्वागत किया; उनके अंदर एक नया विश्वास पैदा हुआ और उन्होंने इसे पश्चिमी साम्राज्यवाद की अब तक अजेय समझी जाने वाली शक्ति पर किसी एशियाई देश की पहली सफलता के रूप में लिया। ब्रिटिश प्रभुत्व के खिलाफ मिस्र और आयरलैंड के संघर्ष, बड़ी शक्तियों की लूट-मार की योजना के खिलाफ संकटग्रस्त टर्की साम्राज्य के संघर्ष या विभाजन की ब्रिटिश-रूसी योजना के विरुद्ध फारस के संघर्ष के प्रति इन लोगों ने गहरी सहानुभूति दिखाई। 1905 की रूसी क्रांति, टर्की की क्रांति और चीनी क्रांति ने इनमें एक नए जीवन का संचार किया। इन सारी घटनाओं से इस बात का संकेत मिलता है कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक चेतना की शुरुआत हो चुकी है।

1914 के युद्ध ने और 1917 की रूसी क्रांति ने एक नई स्थिति को जन्म दिया। 1914 के युद्ध में राष्ट्रीय आंदोलन के बड़े नेताओं ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपना पूर्ण समर्थन दिया। उन्हें यह उम्मीद थी कि इस समर्थन के पुरस्कारस्वरूप उन्हें भारत को जनतांत्रिक दिशा में आगे ले जाने में मदद मिलेगी। जिस समय युद्ध की घोषणा हुई, राष्ट्रीय कांग्रेस का एक प्रतिनिधिमंडल लंदन में था जिसमें लाजपतराय, जिन्ना, सिनहा तथा कुछ अन्य लोग थे। इन लोगों ने 'ब्रिटिश साम्राज्य की शीघ्र विजय' के लिए अपने सहयोग की घोषणा करने में तनिक भी देर नहीं की। गांधी की भूमिका का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। युद्ध के प्रारंभिक वर्षों में जहां तहां राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेने वाले सरकारी प्रतिनिधियों की जयजयकार की गई।

हरदयाल, बरकतुल्ला जैसे जुझारू राष्ट्रवादियों के एक छोटे से गुट ने जर्मनी के साथ संबंध स्थापित किया और उन्होंने बर्लिन में एक भारतीय समिति का गठन किया, लेकिन इसका कोई बहुत बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। भारत के अंदर राष्ट्रीय आंदोलन के वामपंथी तत्व उग्र संघर्षों का संचालन कर रहे थे।

युद्ध समाप्त होने के समय तक भी राष्ट्रीय कांग्रेस के लोग यह आशा किए बैठे थे कि आत्मनिर्णय के व्यापक वायदों का लाभ शायद भारत को भी मिल जाए। वर्साई शांति

सम्मेलन में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने के लिए तिलक को चुना गया लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पासपोर्ट देने से इंकार कर दिया और वह इस सम्मेलन में भाग नहीं ले सके। इसके बाद तिलक ने शांति सम्मेलन के अध्यक्ष क्लेमैंसू के नाम एक पत्र लिखा ताकि भारत के दावों पर बल दिया जाए। अपने पत्र में उन्होंने लिखा :

> इस बात को विस्तार से बताने की कोई जरूरत नहीं है कि विश्व की भावी शांति और भारत की जनता की प्रगति के लिए भारतीय समस्या का हल किया जाना कितना महत्वपूर्ण है। भारत स्वतः पूर्ण है, दूसरे देशों की अखंडता के खिलाफ उसकी कोई योजना नहीं है और देश से बाहर उसकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। अपने व्यापक क्षेत्रफल, असीमित साधनों और अतिविशाल आबादी के कारण वह बड़े आराम से एशिया की प्रमुख ताकत बन सकता है। इसलिए वह दुनिया में शांति बनाए रखने के लिए और एशिया या और कहीं के शांति विरोधियों के हर तरह के आक्रमणों के खिलाफ ब्रिटिश साम्राज्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए राष्ट्र संघ का एक शक्तिशाली कारिंदा हो सकता है।

1919 का यह दस्तावेज अंतर्राष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का पहला दस्तावेज है और इससे पता चलता है कि उस समय किस तरह की विचारधारा हावी थी।

इन आशाओं को धूल में मिलना ही था। 'भारत' को राष्ट्रसंघ का मौलिक सदस्य बना लिया गया। ऐसे समय में जबकि भारत पर ब्रिटेन का पूरी तरह कब्जा हो और ब्रिटेन ही भारत की समूची नीतियों का निर्धारण करता हो तथा उसका प्रतिनिधित्व करता हो, इस तरह की 'सदस्यता' देना कितना असंगत है। प्रोफेसर ए० बी० कीथ ने इसपर बड़ी तीखी टिप्पणी की है :

> 1919 की बुनियादी गलती यह थी कि भारत को राष्ट्रसंघ में ऐसे समय स्थान दिया गया जब उसकी घरेलू और विदेशी नीति पर पूरी तरह ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण था। लीग की सदस्यता का औचित्य तभी ठहराया जा सकता था जब भारत को स्वायत्तता दी जाती : ग्रेट डोमीनियनों की बात के संदर्भ में इसकी बाकायदा भविष्यवाणी की जा सकती थी पर भारत के बारे में फिलहाल यह सच नहीं था और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस लक्ष्य को जल्दी प्राप्त किया जा सकता है। इन परिस्थितियों में यह स्वीकार करना ज्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण है कि भारत को फिलहाल राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बनाया जा सकता। हां, जब उसे स्वायत्तता प्राप्त हो जाएगी तब उसे उसका विशिष्ट सदस्य बना लिया जाएगा···अभी राष्ट्रसंघ में भारत की स्थिति स्पष्टतः असंगतियों से भरी है। ऐसा इसलिए क्योंकि उसकी नीतियां अभी

ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं और यह क्रम अभी अनिश्चितकाल तक जारी रहेगा। (ए० बी० कीथ : कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंडिया पृष्ठ 472-73)

एक तरफ तो राष्ट्रीय आंदोलन के बुजुर्ग नेतागण अब भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अपना स्वाभाविक नेता मान रहे थे और सार्वजनिक रूप से भारत को 'ब्रिटिश साम्राज्य को स्थिरता देने के एक शक्तिशाली कारिंदे' के रूप में पेश कर रहे थे (जैसाकि 1919 में लिखे तिलक के पत्र से स्पष्ट है) और दूसरी तरफ प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद से ही नई धाराएं विकसित हो रही थीं। 1917 की रूसी क्रांति, युद्ध समाप्त होने के बाद विश्व भर में चली क्रांतिकारी लहर और सभी गुलाम देशों में उपनिवेशवादविरोधी मुक्ति आंदोलनों ने दुनिया के सामने एक ऐसे नए युग का सूत्रपात किया जिससे भारत का बहुत घनिष्ठ संबंध था। पश्चिमी साम्राज्यवाद के पुरातन प्रतिक्रियावादी खेमे के विरुद्ध, सोवियत संघ के व्यापक समान हितों से, अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन से तथा उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन से विश्व की शक्तियां नए सिरे से पंक्तिबद्ध हुईं। विश्व के इस नए मोर्चे के प्रति भारतीय राष्ट्रवाद की सभी प्रगतिशील धाराओं ने बड़े उत्साह के साथ अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की।

1925-27 के दौरान चीन की राष्ट्रीय क्रांति के विकास पर भारत की जनता ने काफी उत्साहजनक प्रतिक्रिया व्यक्त की। 1927 में राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें चीनी क्रांति के विरुद्ध लड़ने के लिए भारतीय सैनिकों के शंघाई भेजे जाने का विरोध किया गया था। उसी वर्ष राष्ट्रीय कांग्रेस ने 'उत्पीड़ित जनता की साम्राज्यवाद विरोधी अंतर्राष्ट्रीय लीग' (इंटरनेशनल लीग आफ दि आप्रेस्सड पीपुल्स अगेंस्ट इंपीरियलिज्म) की स्थापना में भाग लिया और स्वयं को इस लीग के साथ संबंद्ध किया। इस सिलसिले में ब्रसेल्स में हुई कांफ्रेंस में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व नेहरू ने किया। उपनिवेशों की जनता और अंतर्राष्ट्रीय मजदूरवर्ग को जोड़ने वाली साम्राज्यवादविरोधी शक्तियों के सामूहिक मोर्चे के विकास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी।

फासिस्ट युद्ध अभियान के तेज होने के साथ तथा फासिस्ट हमले को सहयोग पहुंचाने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की सहापराधिता को देखते हुए, जिसकी परिणति एक विश्वयुद्ध में हुई, यह चेतना और भी आगे बढ़ी। राष्ट्रीय कांग्रेस ने अबीसीनिया की जनता का और स्पेन के जनतंत्र का पक्ष लिया और उन्हें व्यावहारिक मदद दी। कांग्रेस का प्रतिनिधित्व सितंबर 1936 में ब्रसेल्स में आयोजित वर्ल्ड पीस कांग्रेस में हुआ और राष्ट्रीय कांग्रेस ने भारतीय दृष्टिकोण के तहत अपने को अंतर्राष्ट्रीय शांति अभियान से संबंद्ध किया। भारतीय दृष्टिकोण यह था कि साम्राज्यवादी शोषण के आधार पर स्थाई शांति नहीं कायम हो सकती, किसी भी ऐसी संधि को पवित्र नहीं माना जाएगा जो साम्राज्यवादी

प्रभुत्व को बनाए रखने के पक्ष में हो और भारत राष्ट्रसंघ में एक स्वतंत्र सदस्य की हैसियत से काम करने के लिए आजादी चाहता है।

1936 में जब स्पानी जनतंत्र के विरुद्ध जर्मनी और इटली की आक्रामक कार्यवाहियों के संदर्भ में ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारें 'हस्तक्षेप न करने' की नीति का समर्थन कर रही थीं, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने दिसंबर 1936 में अपने फैजाबाद अधिवेशन में एलान किया :

> फासिस्ट आक्रमण बढ़ गया है। फासिस्ट शक्तियां यूरोप और समूचे विश्व पर अपना प्रभुत्व कायम करने तथा राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता का दमन करने के इरादे से आपस में गठबंदी और गुटबंधन कर रही हैं। कांग्रेस इस खतरे के प्रति पूरी तरह सजग है और इस विश्वव्यापी खतरे को वह दुनिया के प्रगतिशील राष्ट्रों तथा प्रगतिशील जनता के सहयोग से इस विश्वव्यापी खतरे का मुकाबला करने की आवश्यकता को पूरी तरह महसूस करती है।

फरवरी 1938 में, हरिपुरा अधिवेशन ने, 'सामूहिक सुरक्षा' के समर्थन की घोषणा की और फासिस्ट आक्रमण के साथ सहापराधिता की उस नीति की भर्त्सना की जो युद्ध के खतरे को दिनोंदिन नजदीक लाती जा रही थी। 1938 में जापानी माल का बहिष्कार करने की घोषणा की गई। 1938 के बसंत में राष्ट्रीय कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन ने स्पष्ट शब्दों में म्यूनिखनीति से भारत को अलग कर लिया :

> कांग्रेस ब्रिटेन की उस विदेशनीति को पूरी तरह नामंजूर करती है जिसकी चरम परिणति है म्यूनिख संधि, आंग्ल इतालवी समझौता, और विद्रोही स्पेन को मान्यता। इस नीति ने जानबूझकर जनतंत्र के साथ विश्वासघात किया है, बार बार अपने वादों को भंग किया है, सामूहिक सुरक्षा को समाप्त किया है, और उन सरकारों के साथ सहयोग किया है जो जनतंत्र और स्वतंत्रता की घोर दुश्मन हैं...कांग्रेस अपने को पूरी तरह उस ब्रिटिश विदेशनीति से अलग करती है जिसने निरंतर फासिस्ट शक्तियों की मदद की है और जनतांत्रिक देशों के विनाश में सहायता पहुंचाई है।

इस प्रकार काफी पहले 1939 में ब्रिटेन द्वारा जर्मनी के विरुद्ध की गई युद्ध घोषणा से पूर्व के नाजुक वर्षों में ही, जब ब्रिटिश सरकार फासिस्ट हमलावरों को व्यावहारिक और कूट-नीतिक मदद दे रही थी, भारतीय जनता ने अपने राष्ट्रीय नेताओं के जरिए फासीवाद के प्रति अपने विरोध का और विश्व की जनतांत्रिक तथा प्रगतिशील शक्तियों के प्रति समर्थन का एलान कर दिया था।

4. भारत और विश्वयुद्ध (1939-1942)

1939 में जब ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तो ब्रिटिश सरकार ने उसी नीति का पालन करना चाहा जो 1914 के युद्ध के समय अपनाई गई थी। भारत को ब्रिटिश नीति के हाथों की कठपुतली बना दिया गया जो अपने देश की जनता से सलाह-मशविरा किए बिना अपने आप ही ब्रिटेन के पीछे पीछे युद्ध में घिसटता चला गया।

युद्ध की घोषणा के कुछ ही घंटों के अंदर वायसराय ने भारतीय जनता के प्रतिनिधियों से किसी तरह का सलाह-मशविरा किए बिना भारत को युद्ध में शामिल घोषित कर दिया। ब्रिटिश संसद ने चटपट 11 मिनट के अंदर 'गवर्नमेंट आफ इंडिया अमेंडिंग ऐक्ट' पारित कर दिया जिसमें वायसराय को यह अधिकार दिया गया था कि वह प्रांतों की स्वायत्तता के प्रश्न पर भी संविधान के कार्यों को रद्द कर सकता है। 3 सितंबर 1939 के भारतरक्षा अध्यादेश ने केंद्र सरकार को यह अधिकार दे दिया कि वह राजाज्ञा (डिक्री) के जरिए शासन कर सकती है, ऐसे कानूनों की घोषणा कर सकती है जो 'ब्रिटिश भारत की रक्षा, जनजीवन की सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, युद्ध के कुशल संचालन या समाज के लिए आवश्यक सामानों और सेवाओं की सप्लाई बनाए रखने के लिए जरूरी समझे जाएं', सभाओं तथा प्रचार के अन्य तरीकों पर पाबंदी लगा सकती है, बिना वारंट किसी को भी गिरफ्तार कर सकती है और कायदे-कानूनों को तोड़ने के अपराध में जुर्माने कर सकती है। इनमें मृत्युदंड या आजीवन कारावास की सजा भी शामिल है।

11 सितंबर को वायसराय ने राज्यसंघ की तैयारियों को स्थगित करने की घोषणा की। भारत में निरंकुश शासनव्यवस्था को अब संविधान का कोई ढोंग रचे बिना जारी रखने की योजना बनाई गई और इसे अत्यंत व्यापक असाधारण अधिकारों के जरिए मजबूत बनाया गया। 25 वर्ष पहले की ही तरह एक बार फिर भारतीय जनता को ब्रिटिश सरकार के पीछे घिसटते हुए एक ऐसे युद्ध में शरीक हो जाना पड़ा जिससे बचने का उसके पास कोई रास्ता नहीं था और जिसके बारे में उसने लगातार उस नीति का विरोध किया था जिसके कारण युद्ध अनिवार्य बना।

घटनाक्रमों ने जल्दी ही दिखला दिया कि 1914 के मुकाबले भारत की स्थिति कितनी भिन्न थी। 14 सितंबर को राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यसमिति ने युद्ध के संदर्भ में अपना बयान जारी किया। इस बयान में कहा गया था :

> यह समिति एक ऐसे युद्ध से न तो स्वयं को संबद्ध कर सकती है और न इस युद्ध के साथ सहयोग कर सकती है जो साम्राज्यवादियों की नीति पर चल रहा

> हो और जिसका मकसद भारत तथा अन्य देशों में साम्राज्यवाद को मजबूत बनाना हो।

प्रस्ताव में यह मांग की गई :

> भारत की जनता को किसी बाहरी हस्तक्षेप के बिना एक संविधान सभा के जरिए अपने संविधान का गठन करके आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। उसे अपनी नीति स्वयं निर्धारित करने का अधिकार मिलना चाहिए।

इसलिए राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के लिए प्रत्यक्ष चुनौती प्रस्तुत कर दी :

> इसलिए कार्यसमिति ब्रिटिश सरकार को उस बात के लिए निमंत्रित करती है कि वह स्पष्ट शब्दों में बताए कि इस लड़ाई में जनतंत्र और साम्राज्यवाद के विषय में उसके क्या उद्देश्य हैं और खासतौर से जिस नई व्यवस्था पर विचार किया जा रहा है, उस संदर्भ में ये उद्देश्य कहां तक भारत पर लागू होने जा रहे हैं और मौजूदा स्थिति में उन्हें किस प्रकार कारगर बनाया जा रहा है। क्या इन उद्देश्यों में साम्राज्यवाद को समाप्त करना और भारत के एक ऐसे स्वतंत्र देश जैसा व्यवहार करना शामिल है जिसकी नीति देश की जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप निर्देशित हो ?

राष्ट्रीय कांग्रेस के इस सीधे सवाल के जवाब में ब्रिटिश सरकार ने जो जवाब दिया वह वस्तुतः नकारात्मक था। ब्रिटिश सरकार ने अपना वही पुराना वादा दुहराया जिसमें भविष्य में कभी 'डोमीनियन का दरजा' देकर किसी तरह की रियायत देने की बात कही गई थी (पिछले विश्वयुद्ध के समय भी ऐसी ही परिस्थितियों में इसी तरह के उसने किए गए थे जो आज तक पूरे नहीं हो सके) और इस तरह के वादों की आड़ लेकर वादे अपना तात्कालिक कार्यक्रम एक 'परामर्श समिति' का गठन करना घोषित किया। परामर्श समिति, भारत को गुलाम बनाए रखने और युद्ध के संचालन को बढ़ावा देने के लिए वायसराय को मदद पहुंचाने के वास्ते भारतीयों के लिए बनाई गई थी।

राष्ट्रीय कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के नेताओं के बीच की यह प्रारंभिक कूटनीतिक मुठभेड़ उस गहरे संघर्ष का पहला संकेत था जो अंदर ही अंदर पनप रहा था। कांग्रेस के नेतागण वायसराय के साथ इन कूटनीतिक वार्ताओं में लगे हुए थे जबकि जनता ने आंदोलन छेड़ दिया था। 2 अक्तूबर को बंबई के 90,000 मजदूरों ने युद्ध और साम्राज्यवाद के दमनकारी उपायों के खिलाफ एक दिन की राजनीतिक हड़ताल की। बंबई की सड़कें 'साम्राज्यवादी युद्ध का नाश हो', 'भारतीय आजादी अमर रहे', 'लाल झंडा की जीत हो' के नारों से गूंज उठीं। युद्ध में संलग्न किसी भी देश में हुई यह पहली युद्धविरोधी

जन हड़ताल थी। हड़ताल के अंत में कामगर मैदान में आयोजित आमसभा में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें कहा गया :

> यह सभा दुनिया के मजदूरों और दुनिया की जनता के साथ अपनी एकता व्यक्त करती है जिन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा अत्यंत विनाशकारी युद्ध में घसीटा जा रहा है। यह सभा वर्तमान युद्ध को मजदूरवर्ग की अंतर्राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती मानती है और घोषित करती है कि विभिन्न देशों के मजदूरों और लोगों का यह कर्तव्य है कि वे मानवता के विरुद्ध की गई इस साजिश को नाकाम करें।

बंबई के मिलमजदूरों के इस प्रस्ताव में भारतीय मजदूरवर्ग के संघर्ष को साम्राज्यवाद के खिलाफ अंतर्राष्ट्रीय मजदूरवर्ग द्वारा चलाए जा रहे संघर्ष का एक हिस्सा समझा गया।

वायसराय के नकारात्मक जवाब के कारण अक्तूबर 1939 में सभी कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया। 1940 के वसंत में रामगढ़ अधिवेशन में कांग्रेस ने अपना यह दृष्टिकोण प्रस्तुत किया :

> भारत के संदर्भ में ब्रिटिश सरकार की ओर से की गई हाल की घोषणाओं से पता चलता है कि ग्रेट ब्रिटेन मूलत: साम्राज्यवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही यह लड़ाई लड़ रहा है—इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि कांग्रेस परोक्ष या अपरोक्ष किसी भी रूप में युद्ध में शरीक नहीं होगी।

1940 की गर्मियों में यूरोप में नाजियों के बढ़ने के साथ और फ्रांस के पतन तथा युद्ध का संकट गहराने के साथ कांग्रेस ने ब्रिटेन के साथ सहयोग का प्रस्ताव किया, बशर्ते भारत को आजादी दे दी जाए और 'केंद्र में एक अस्थाई राष्ट्रीय सरकार' की स्थापना की जाए जो भले ही अस्थाई तौर पर हो लेकिन केंद्रीय विधानमंडल के सभी निर्वाचित सदस्यों का उसे विश्वास प्राप्त हो—यदि ये प्रस्ताव स्वीकार कर लिए गए तो देश की रक्षा के लिए कारगर संगठन बनाने के प्रयत्नों में कांग्रेस अपनी पूरी ताकत लगा देगी।' यह प्रस्ताव जिसे स्पष्ट रूप से गांधी की अहिंसा की नीति से अलग होना ही था, जुलाई 1940 में पूना में दो तिहाई बहुमत से स्वीकार किया गया। मतदान का परिणाम यह देखा गया कि 91 लोग अहिंसा की नीति को छोड़ने के पक्ष में थे जबकि 63 लोग इसके विपक्ष में थे; और 95 लोग ब्रिटेन के साथ सशर्त सहयोग करने के तथा 47 लोग सहयोग न करने के पक्ष में थे।

लेकिन ब्रिटिश सरकार ने एक बार फिर इस प्रस्ताव पर नकारात्मक रवैया अपनाया। 8 अगस्त 1940 को वायसराय के बयान में (इसे आमतौर से 'अगस्त प्रस्ताव' कहा जाता

है और बाद के वर्षों में क्रिप्स की योजना तथा नीति संबंधी अन्य वक्तव्यों का यही आधार बनाया गया था) घोषणा की गई कि 'भारत की शांति और खुशहाली को देखते हुए ब्रिटिश सरकार अपनी मौजूदा जिम्मेदारियों को किसी ऐसी सरकार को हस्तांतरित करने के बारे में नहीं सोच सकती थी जिसकी सत्ता को देश के राष्ट्रीय जीवन के बड़े और शक्तिशाली तत्व प्रत्यक्ष तौर पर न मानते हों', अर्थात मुस्लिम लीग और राजाओं-महाराजाओं को इस बात का अधिकार मिलना चाहिए कि वे भारत की किसी भी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना में वीटो का इस्तेमाल कर सकें। विकल्प के रूप में यह प्रस्ताव रखे गए :

1. नए संविधान की रूपरेखा तैयार करने के लिए भारत के राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख तत्वों की प्रतिनिधि संस्था की युद्ध के बाद स्थापना की जाए।
2. वायसराय की इक्जीक्यूटिव कौंसिल में कुछ और भारतीयों को नामजद करके इसे विस्तार दिया जाए।
3. देशी रियासतों के प्रतिनिधियों तथा अन्य भारतीयों को लेकर एक 'युद्ध सलाहकार परिषद' का गठन किया जाए।

यह उत्तर इतना असंतोषजनक था कि कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्व में एक व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ने का फैसला किया और अक्तूबर 1940 में यह आंदोलन छेड़ दिया गया।

साम्राज्यवाद के खिलाफ निर्णायक संघर्ष के लिए दबाव डालने वाली शक्तियों का विकास कितनी तीव्रता के साथ हो रहा था इसकी अभिव्यक्ति 1939-40 से मजदूरों, किसानों और उग्र राष्ट्रवादी तत्वों के खिलाफ सरकार द्वारा किए गए बर्बर दमन में ही नहीं बल्कि गांधी द्वारा शुरू किए गए अत्यंत सीमित और चारों तरफ से घिरे संघर्ष के स्वरूप में भी होती है। यह किसी भी रूप में आजादी के लिए किया जाने वाला संघर्ष नहीं था। यह बोलने की स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त करने के लिए शुरू किया गया एक सांकेतिक सत्याग्रह था। सविनय अवज्ञा आंदोलनकारियों के नाम की सूची गांधी के पास भेजी जाती थी ताकि वह पूरी तरह जांच लें और अपनी स्वीकृति दें। गांधी जिन नामों को अपनी स्वीकृति देते थे उनके लिए यह जरूरी था कि वे पहले से ही पुलिस को बता दें कि कब और किस जगह वे युद्ध के खिलाफ अपना सांकेतिक विरोध प्रकट करने जा रहे हैं। इसके बावजूद बाद के महीनों में लगातार बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां होती रहीं और लोग जेलों में डाले जाते रहे (एक सरकारी बयान के अनुसार 24 मई 1941 तक संयुक्त प्रांत के ही 12,000 लोग पकड़े जा चुके थे और अनुमानतः इस समय देश भर में गिरफ्तार लोगों की संख्या 20,000 तक पहुंच गई थी। गिरफ्तार लोगों में प्रांतीय विधानसभाओं के 398 सदस्य, 31 भूतपूर्व मंत्री और केंद्रीय विधानमंडल के 22 सदस्य थे)।

देश इसी प्रकार के गतिरोध की स्थिति में पड़ा था जब 1941 के उत्तरार्ध की घटनाओं से युद्ध के स्वरूप में जबरदस्त तब्दीली आई। ये घटनाएं थीं : सोवियत संघ पर जर्मनी का हमला, ब्रिटिश सोवियत संधि और सुदूर पूर्व में जापान का आक्रमण और ब्रिटेन, अमरीका, सोवियत संघ तथा चीन के नेतृत्व में ब्रिटिश सोवियत संधि का मित्र राष्ट्रों के मिलेजुले मोर्चे का रूप लेना।

इन तमाम कारणों से युद्ध के स्वरूप में बुनियादी परिवर्तन आ गया और भारत के लिए इसका महत्व बढ़ गया जिसपर भारत के राष्ट्रवादी जनमत ने तुरंत प्रतिक्रिया व्यक्त की। दिसंबर 1941 में जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की : 'दुनिया की प्रगतिशील ताकतें अब उस गुट के साथ पंक्तिबद्ध हैं जिसका प्रतिनिधित्व रूस, ब्रिटेन, अमरीका और चीन कर रहा है।'

युद्ध के बदले हुए स्वरूप पर राष्ट्रीय आंदोलन के सभी हिस्सों ने तत्काल इतनी निश्चित प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की। अब भी कुछ हिस्से ऐसे थे जो गांधी की 'अहिंसक' शांतिवादी विचारधारा का अनुसरण कर रहे थे। अन्य लोग ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ किसी प्रकार के सहयोग के प्रति सशंकित थे। लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख जिम्मेदार नेताओं ने, जिनका प्रतिनिधित्व कांग्रेस अध्यक्ष, मौलाना आजाद तथा जवाहरलाल नेहरू बहुमत के समर्थन से कर रहे थे, बराबरी के स्तर पर संयुक्त राष्ट्रों के मित्र राष्ट्र की हैसियत से सहयोग का आधार ढूंढ़ने की कोशिश की। स्पष्टतः यह ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों के हित में था कि वे इन शक्तियों के साथ समझौते का कोई आधार तलाशने की कोशिश करते। इस प्रकार 1941 के उत्तरार्ध से ब्रिटिश सरकार के सामने एक अनुकूल स्थिति पैदा हो गई बशर्ते वे एक नई भावना के साथ इस नई स्थिति का सामना करने को तैयार होते।

इन प्रस्तावों पर ब्रिटिश सरकार की पहली प्रतिक्रिया नकारात्मक थी। अगस्त 1941 में अतलांतिक चार्टर ने ब्रिटिश और अमरीकी सरकार की प्रतिभूत नीति का निर्धारण किया जिसका बाद में सभी संयुक्त राष्ट्रों ने पालन किया :

> वे सभी देशों की जनता के इस अधिकार का सम्मान करते हैं कि जिस सरकार के अधीन उसे (जनता को) रहना है उस सरकार का चुनाव वह अपनी इच्छानुसार करे; और वे चाहते हैं कि उन सभी लोगों को प्रभुसत्ता के अधिकार मिलें और स्वराज्य मिले जिन्हें इन चीजों से जबरन वंचित कर दिया गया है।

लेकिन 9 सितंबर 1941 को प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने अपने भाषण में सरकार की ओर से वक्तव्य जारी करते हुए खासतौर से कहा कि भारत, बर्मा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य हिस्सों पर अतलांतिक चार्टर लागू नहीं होता। उन्होंने कहा :

> अतलांतिक चार्टर के सिलसिले में हुई बैठक में हमारे दिमाग में मूलत: यूरोप के उन देशों को फिर से प्रभुसत्ता, स्वराज्य और राष्ट्रीय जीवन प्रदान करना था जो नाजियों के जुए तले पड़े हुए थे।

इस संशोधन से भारत के राष्ट्रीय जनमत को बहुत क्रोध आया और संयुक्त राष्ट्रों की विरोधी प्रवृत्तियों को बल मिला।

फिर भी दिसंबर 1941 में सरकार द्वारा कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को जेल से रिहा कर देना नए सिरे से बातचीत शुरू करने की दिशा में पहला कदम था। इससे सहयोग का आधार ढूंढने की दिशा में नई प्रगति हुई। दिसंबर 1941 की समाप्ति तक राष्ट्रीय कांग्रेस के बारदोली अधिवेशन ने (जनवरी 1942 में अभिपुष्ट) इस सिद्धांत की घोषणा की कि भारत संयुक्त राष्ट्रों के मित्र की हैसियत से फासिस्ट धुरी राष्ट्रों के खिलाफ हथियार लेकर लड़ेगा बशर्ते उसे यह अवसर मिले कि वह एक राष्ट्रीय सरकार के तहत जनता को गोलबंद कर सके। प्रस्ताव में कहा गया :

> यद्यपि भारत के प्रति ब्रिटेन की नीति में कोई तब्दीली नहीं आई है फिर भी समिति युद्ध के कारण घटित घटनाक्रमों पर तथा भारत के प्रति इसके रुख पर विचार करती है। कांग्रेस की सहानुभूति निश्चित रूप से उन्हीं लोगों के साथ होगी जो आक्रमण के शिकार हैं और गुलाम बनाए गए हैं तथा अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं; लेकिन एक स्वतंत्र और स्वाधीन भारत ही ऐसी स्थिति में हो सकता है कि वह राष्ट्रीय स्तर पर देश की रक्षा का दायित्व संभाल सके।

इस प्रस्ताव के पारित हो जाने के बाद राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व से गांधी की छुट्टी हो गई क्योंकि वह अहिंसा की नीति छोड़ने पर सहमत नहीं थे।

इस प्रस्ताव पर 'टाइम्स आफ इंडिया' ने यह टिप्पणी की :

> इस प्रस्ताव ने ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते का दरवाजा फिर से खोल दिया है। इस प्रस्ताव के साथ एक महत्वपूर्ण पहल की गई है और हम आशा करते हैं कि बदले में हमें भी ऐसा ही रुख प्राप्त होगा।

रास्ता खुला था; केवल ब्रिटेन की ओर से कुछ राजनीतिज्ञता तथा अनुकूल प्रतिक्रिया की दरकार थी।

फरवरी 1942 में जनरलिस्सिमो च्यांग काई शेक की भारत यात्रा से इस अनुकूल शुरुआत को और मदद मिली। उन्होंने साथ साथ ही ब्रिटेन और भारत से सार्वजनिक अपील की।

उन्होंने भारतीय जनमत के समक्ष यह जोर देकर कहा कि 'आक्रमणकारी और आक्रमण-विरोधी, इन दो खेमों के बीच का कोई मध्य मार्ग नहीं है।' अपने भाषण में उन्होंने ब्रिटेन से अनुरोध किया कि वह भारत की जनता को जितनी जल्दी संभव हो 'वास्तविक राज-नीतिक सत्ता' प्रदान करे ताकि इस देश की जनता अपनी समूची शक्ति के साथ युद्ध में हिस्सा ले सके। यह ध्यान देने की बात है कि जनरलिस्सिमो च्यांग काई शेक ने भारत की जनता को 'वास्तविक राजनीतिक सत्ता' देने की बात इसलिए कही है ताकि युद्ध में उसकी (भारत की) सहभागिता बढ़े अर्थात यह एक युद्ध संबंधी उपाय है न कि युद्ध के बाद का वादा। यह दृष्टिकोण भारतीय आंदोलन के दृष्टिकोण के अनुरूप है।

इसी प्रकार आस्ट्रेलिया के विदेशमंत्री ने फरवरी 1942 में यही विचार व्यक्त किया और अनुरोध किया कि युद्ध के दौरान भारत को स्वराज्य प्रदान किया जाए ताकि युद्ध में उसकी सहभागिता बढ़े :

> भारतीय जनता की स्वराज्यसंपन्न राष्ट्र होने की आकांक्षाओं के प्रति हमारी सहानुभूति है। स्वराज्यसंपन्न होने पर भारत एशिया में मित्र राष्ट्रों के हितों की रक्षा करने में भाग ले सकेगा। (आस्ट्रेलियाई राष्ट्रमंडल के विदेशमंत्री डा० एच० वी० एवट का आस्ट्रेलिया की संसद में भाषण, 27 फरवरी 1942)

22 फरवरी 1942 को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने बड़े साफ शब्दों में एलान किया कि अतलांतिक चार्टर 'समूची दुनिया' पर लागू होता है (इस प्रकार उन्होंने मौन भाव से चर्चिल के उस बयान को ठीक कर दिया जो उन्होंने सितंबर 1941 में दिया था) :

> अतलांतिक चार्टर केवल दुनिया के उन हिस्सों पर ही नहीं लागू होता जो अतलांतिक सागर के तट पर हैं बल्कि यह समूची दुनिया पर लागू होता है। (राष्ट्रपति रुजवेल्ट का रेडियो भाषण, 22 फरवरी 1942)

इस रेडियो भाषण के साथ ही राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने भारत को आजादी दिए जाने का समर्थन करते हुए ब्रिटिश सरकार के पास सीधे अपना संदेश भेजा। 1946 में अमरीका के भूतपूर्व विदेशमंत्री समनर वेलेस ने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन किया :

> 1942 में जब जापान का खतरा बहुत ज्यादा बढ़ गया था और भारत में असंतोष काफी तीव्र हो उठा था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने श्री चर्चिल से अनुरोध किया कि वे इस बात को मान लें कि भारत को आजादी दिए जाने में अब और अधिक देर करने की जरूरत नहीं है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अनुरोध किया कि भारतीय नेताओं को महासंघ की अमरीकी धाराओं (अमेरिकन आर्टिकिल्स आफ कानफेडरेशन) के आधार पर अपने राष्ट्रीय संविधान की रचना का अवसर

मिलना चाहिए। राष्ट्रपति की यह धारणा थी कि इस तरह की अंतरिम सरकार की स्थापना से भारतीय नेताओं को मिलकर काम करने का प्रोत्साहन मिलता और उन्हें अपने व्यावहारिक अनुभव से यह जानने का अवसर मिलता कि भारत की जनता की खास जरूरतों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थाई संविधान का स्वरूप क्या होगा। इस तरह के समाधान को तब शायद भारतीय नेताओं ने स्वीकार कर लिया होता। वर्तमान ब्रिटिश सरकार आज इस तरह के प्रस्ताव पेश कर रही है और उसे सचमुच इस बात का खेद होगा कि क्यों श्री चर्चिल ने इस तरह के प्रस्ताव को चार वर्ष पूर्व मानने से क्रोधवश इंकार कर दिया था। (क्रिश्चियन साइंस मानिटर में समनर वेलेस का वक्तव्य, जून 1946)

भारत की राष्ट्रीय मांगों के संदर्भ में अमरीका, आस्ट्रेलिया और चीन द्वारा डाले गए दबाव को समझना तथा संयुक्त राष्ट्रों के अंदर ब्रिटेन के अपेक्षाकृत अलग-थलग पड़े सरकारी दृष्टिकोण को जानना, जिसमें युद्ध के दौरान भी भारत में जिम्मेदार राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की मांग को नामंजूर किया जा रहा था, काफी आवश्यक है।

1942 का वसंत आते आते एक अनुकूल स्थिति तैयार हो गई थी। अब ब्रिटेन की बारी थी कि वह पहल करे। यदि ब्रिटेन के सरकारी खेमों में अब भी थोड़ी-बहुत हिचकिचाहट थी और कुछ लोग इसका विरोध कर रहे थे तो मार्च में जापानियों के रंगून तक पहुंच जाने से इस बाधा को दूर करने की आवश्यक प्रेरणा मिल गई। 8 मार्च को रंगून का पतन हो गया। 11 मार्च को क्रिप्स मिशन की घोषणा हो गई।

1942 के मार्च और अप्रैल महीनों में क्रिप्स मिशन की भारत यात्रा युद्ध के दौरान ब्रिटिश भारतीय संबंधों के संकट में एक संक्रांतिबिंदु साबित हुआ। क्रिप्स योजना या भारत के लिए सांविधानिक प्रस्तावों को ब्रिटेन के युद्धकालीन मंत्रिमंडल ने तैयार किया था और इन प्रस्तावों को सर स्टैफोर्ड क्रिप्स भारत लेकर आए थे ताकि वे इसे समझौते का आधार बनाकर भारतीय नेताओं के साथ विचार विमर्श कर सकें। क्रिप्स योजना के दो मुख्य भाग थे :

1. युद्ध के बाद के प्रस्ताव :

(क) एक नए भारतीय संघ के लिए डोमीनियन का दरजा जिसे यह अधिकार प्राप्त हो कि यदि वह चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से खुद को अलग कर ले;

(ख) युद्ध के तत्काल बाद एक 'संविधान का निर्माण करने वाले निकाय' का गठन किया जाए जिसमें प्रांतीय विधानसभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित कुछ सदस्य हों जिन्हें युद्ध के पश्चात समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर चुना जाए तथा कुछ सदस्य ऐसे हों जिन्हें देशी रियासतों के राजा

अपनी रियासत की आबादी के अनुपात में नामजद करें। ये लोग मिलकर देश का एक नया संविधान बनाएं।

(ग) ब्रिटिश भारत के किसी भी प्रांत को या रियासत को अलग रहने का अधिकार हो और या तो वे वर्तमान आधार पर बने रहें या समान अधिकारों वाले एक पृथक डोमीनियन के रूप में एक नए संविधान की रचना करें।

(घ) ब्रिटेन तथा 'संविधान का निर्माण करने वाले निकाय' के बीच एक संधि हो ताकि जातिगत और धार्मिक अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए ब्रिटेन की शाही सरकार द्वारा किए गए वादों के अनुरूप व्यवस्था की जा सके।

2. युद्ध के दौरान के तात्कालिक प्रस्ताव :

भारतीय प्रतिनिधियों के परामर्शक सहयोग के जरिए ब्रिटेन द्वारा अपने हाथ में सत्ता रखना।

लेकिन कांग्रेस युद्ध के दौरान ऐसी राष्ट्रीय सरकार चाहती थी जिसके पास काफी अधिकार हों और यह अंतिम मुद्दा ही वह नाजुक मुद्दा साबित हुआ जिसपर क्रिप्स वार्ता टूट गई।

यह देखा जा सकता है कि समाचारपत्रों द्वारा एक नए और युगांतरकारी प्रस्ताव के रूप में बहुप्रचारित क्रिप्स योजना ने ब्रिटिश नीति में किसी बुनियादी तब्दीली का नमूना नहीं पेश किया। इसने 1940 में वायसराय द्वारा पेश किए गए 'अगस्त प्रस्ताव' की पुरानी चिरपरिचित बातों को ही दुहराया जिसे भारतीय जनमत के प्रत्येक वर्ग ने पहले ही ठुकरा दिया था। क्रिप्स मिशन के अर्धसरकारी इतिहास ने इस सचाई को स्वीकार किया :

> घोषणा के मसौदे में सरकारी नीति में कोई जबरदस्त परिवर्तन की बात नहीं थी··· सिद्धांत के रूप में, घोषणा का मसौदा वस्तुत: 'अगस्त प्रस्ताव' से भी एक कदम आगे था। (प्रोफेसर आर० कूपलैंड : 'दि क्रिप्स मिशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1942 पृष्ठ 30)

उन्होंने आगे लिखा :

> घोषणा के मसौदे में युद्ध के दौरान संविधान के स्वरूप में किसी बड़े परिवर्तन की बात को निकाल दिया गया था। (वही, पृष्ठ 31)

बातचीत के दौरान कांग्रेस ने किसी मनमुताबिक समझौते की आशा में बेहद रियायतें देने की बात कही। कांग्रेस ने कहा कि यदि उन्हें सचमुच जिम्मेदारी और अधिकार दिए जाएं तो यह ब्रिटिश वायसराय के अधीन काम करने को तैयार हैं और वह एक ब्रिटिश कमांडर

इन चीफ को भी स्वीकार करने को तैयार हैं जो उनकी सेनाओं का संचालन ही नहीं करेगा बल्कि उस मंत्रिमंडल का सदस्य भी होगा।

लेकिन इन सारी बातों का कोई नतीजा नहीं निकला। उनसे कहा गया कि ब्रिटेन का प्रभुत्व और ब्रिटेन की तानाशाही पूरी तरह बनी रहेगी, उनसे कहा गया कि भारत के रक्षा-मंत्री को अधिक से अधिक कैंटीन और स्टेशनरी की देखभाल का काम दिया जा सकता है। जब उन्होंने (कांग्रेस सदस्यों ने) अपनी असहमति के क्षेत्र को कम करने की कोशिश की तो उनसे साफ शब्दों में कहा गया कि जो दिया जा रहा है उसे 'लेना हो तो लो नहीं तो जाओ'। 'लेना हो तो लो नहीं तो जाओ' की इस प्रवृत्ति से पता चलता है कि अंगरेजों का इरादा समझौता करने का नहीं बल्कि भविष्य के संघर्ष के लिए आधार तैयार करने का था।

7 अप्रैल को लार्ड हेलीफाक्स ने जो दुर्भाग्यपूर्ण भाषण दिया उससे यह धारणा और दृढ़ हो जाती है। लार्ड हेलीफाक्स का यह भाषण तभी सामने आया जब समझौते की बातचीत अभी जारी थी। उन्होंने अपने भाषण में पहले ही से यह अनुमान लगा लिया कि यह वार्ता विफ[illegible] हो जाएगी और कहा कि उस हालत में ब्रिटेन सरकार शासन की बागडोर अपने हाथ में बनाए रखेगी। उन्होंने यह भी कहा कि क्रिप्स मिशन ने भारत में ब्रिटिश शासन के भावी आलोचकों को एक अकाट्य मामला देकर अपना मकसद हल कर लिया होगा।

भारतीय जनमत के हर वर्ग के लोगों ने, यहां तक कि अत्यंत नरमदली विचारधारा के लोगों ने भी क्रिप्स योजना का जबरदस्त विरोध किया। कांग्रेस ने ही नहीं बल्कि सभी प्रमुख संगठनों ने क्रिप्स के प्रस्तावों को ठुकरा दिया। बातचीत भंग होने पर कलकत्ता के स्टेट्समैन ने लिखा :

> जब तक प्रस्तावों का मसौदा ब्रिटेन का भारतीय विभाग (इंडिया आफिस) और भारत सरकार द्वारा तैयार होता रहेगा तब तक किसी भी दूत को सफलता नहीं मिल सकती और तब तक इस देश के लिए हर घंटे बढ़ते खतरे से निबटने का तरीका नहीं ढूंढा जाएगा···
>
> सारा दोष इंडिया आफिस का और भारत सरकार के अधिकारीवर्ग का है।

5. अगस्त प्रस्ताव और उसके बाद (1942-45)

क्रिप्स मिशन के साथ बातचीत भंग हो जाने के बाद देश की राजनीतिक स्थिति में तेजी से गिरावट आई।

ब्रिटिश सरकार ने एलान किया कि इससे ज्यादा न दिया जा सकता था और उसने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को बदनाम करने के लिए अत्यंत पक्षपातपूर्ण ढंग का दुष्प्रचार शुरू

किया और दुनिया के सामने वही घिसा पिटा तर्क देना शुरू किया कि कांग्रेस जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती है, भारतीय जनता निराशाजनक रूप से राजनीतिक फूट का शिकार है और वह स्वराज्य पाने लायक नहीं।

कांग्रेस जब फासिस्टविरोधी युद्ध में अपनी इच्छा के बावजूद सहयोग करने में असफल हो गई तो कुछ समय तक हिचकिचाने और कोई निश्चित फैसला न करने के बाद उसने देश की मांग को पूरा कराने के उद्देश्य से असहयोग का रास्ता अख्तियार कर लिया।

कांग्रेस के एक वर्ग ने, जिसका प्रतिनिधित्व मद्रास के भूतपूर्व प्रधानमंत्री सी० राजगोपालाचारी कर रहे थे, यह तर्क पेश किया कि ब्रिटेन द्वारा भारत की राष्ट्रीय मांगों को नामंजूर कर दिए जाने के बावजूद मुस्लिमबहुल क्षेत्रों में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के आधार पर मुस्लिम लीग तथा अन्य संगठनों के साथ मिलकर एक राष्ट्रीय मोर्चा बनाने के लिए और रचनात्मक नीति अपनाई जाए ताकि जापान का खतरा होने पर संयुक्त रूप से मिलाजुला प्रतिरोध संगठित किया जा सके। इस प्रस्ताव को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने मई में 15 के विरुद्ध 120 मतों से नामंजूर कर दिया हालांकि कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद ने यह स्पष्ट कर दिया कि दोनों पक्षों को मान्य आधार तक पहुंचने के लिए कांग्रेस एक प्रतिनिधिमंडल को नामजद करने के लिए तैयार है जो मुस्लिम लीग के साथ समझौते की बातचीत कर सके। श्री राजगोपालाचारी ने कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया ताकि वह अपनी नीति के पक्ष में प्रचार कर सकें।

दिसंबर 1941 में ही गांधी के हाथ से कांग्रेस का नेतृत्व निकल चुका था लेकिन अब वह फिर गांधी के हाथ में आ गया। गांधी अपने शांतिवादी सिद्धांत के प्रचार में लगे थे जिसमें ये बातें शामिल थीं : 1. जापान का अहिंसात्मक प्रतिरोध, 2. ब्रिटिश अधिकारियों के साथ असहयोग, 3. फासिज्म के विरुद्ध संगठित देशों के मोर्चे के प्रति हमदर्दी, 4. भारत को संघर्ष से अलग रखने का प्रयास और नेहरू द्वारा प्रस्तुत हथियारबंद संघर्ष, छापामारों का गठन तथा 'घरफूंक नीति' की दलील का विरोध। कांग्रेस गांधी के शांतिवाद से सहमत नहीं थी पर भारत को आजादी दिलाने और इस प्रकार भारत की रक्षा को कारगर ढंग से संभव बनाने के लिए उसने गांधी के असहयोग संबंधी प्रस्तावों को एकमात्र हथियार मान कर अपना लिया। जून में गांधी, नेहरू और आजाद के बीच बातचीत के फलस्वरूप समझौते का आधार पा लिया गया जो 14 जुलाई को कार्यसमिति द्वारा पारित असहयोग संबंधी प्रस्ताव में प्रतिफलित हुआ। इस प्रकार फासिस्टविरोधी महत्वपूर्ण नेता, संयुक्त राष्ट्रों के साथ सहयोग के हिमायती लोग गांधी के पीछे और असहयोग आंदोलन छेड़ने के उनके खतरनाक प्रस्तावों के पीछे ऐसे समय चल पड़े जब जापानी हमले का खतरा बना हुआ था।

इससे धुरी राष्ट्रों को काफी खुशी हुई और उन्होंने कांग्रेस की वाहवाही की। सुभाषचंद्रबोस

के अनुयायियों को, जो धुरी राष्ट्रों के तत्वावधान में अपना प्रचार चला रहे थे, अपनी घुसपैठ बढ़ाने के लिए अनुकूल अवसर मिल गया जिसपर कांग्रेस ने काफी चिंता के साथ गौर किया ('इस निराशा का परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन के विरुद्ध बड़ी तीव्र और व्यापक दुर्भावना बढ़ी तथा जापानी सैनिकों की सफलता पर लोगों ने संतुष्टि महसूस की; कार्यसमिति इन घटनाओं को गंभीर आशंका के साथ देखती है।' कांग्रेस कार्यसमिति का प्रस्ताव, 14 जुलाई)

ब्रिटेन के सरकारी क्षेत्रों के अनैतिक प्रतिक्रियावादी दुष्प्रचार ने भी कांग्रेस को बदनाम करने के इस नए अवसर का लाभ उठाया। जिस नीति ने नेहरू और आजाद जैसे प्रमुख फासिस्टविरोधी तथा संयुक्त राष्ट्र के साथ सहयोग के हिमायती नेताओं को गांधी और असहयोग आंदोलन के पीछे चलने पर मजबूर किया उस नीति के दिवालियेपन को स्वीकार करने की बजाय इस नतीजे को सरकारी नीति का उल्लासपूर्ण समर्थन समझा गया। इस अवसर का लाभ उठाकर गांधी द्वारा शांतिवादी और तुष्टीकरण की नीति के समर्थन में कही गई अजीबोगरीब बातों को देश और विदेश में व्यापक प्रचार दिया गया। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि समूचे राष्ट्रीय आंदोलन को आत्मसमर्पणवादी और जापान के साथ संधि करने का इच्छुक घोषित कर दिया जाए। भावी संघर्ष की तैयारियों के लिए कौन सा तरीका इस्तेमाल किया जा रहा था इसका पता उन दस्तावेजों के धुआंधार प्रकाशन से चलता है जो पुलिस द्वारा मारे गए छापे के दौरान जब्त किए गए थे। इनके जरिए उन तथ्यों का भंडाफोड़ किया जा रहा था जो पहले ही गांधी ने सार्वजनिक रूप से लिखे अपने लेखों में दे दिए थे।

इसमें कोई शक नहीं कि गांधी द्वारा कांग्रेस का 'जनरलिस्सिमो, पद (यह उपाधि उन्हें दी गई थी) ग्रहण करना राष्ट्रीय आंदोलन के लिए एक बहुत बड़ा भार था और उसने विश्व जनमत की निगाह में काफी नुकसान पहुंचाया। विश्व जनमत ने गांधी की शांति-वादी और तुष्टीकरण की नीति तथा राष्ट्रीय आंदोलन की नीति को एक दूसरे के साथ मिला दिया। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि अहिंसा और तुष्टीकरण नीति के संदर्भ में गांधी के जितने भी व्यक्तिगत बयान आए उन्हें कांग्रेस के आधिकारिक वक्तव्यों और प्रस्तावों द्वारा साफ तौर पर अस्वीकार किया गया।

असहयोग संबंधी कांग्रेस प्रस्ताव जुलाई में लाया गया और 8 अगस्त को अंतिम रूप से संशोधित रूप में पारित कर दिया गया (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के विरोध में 13 वोट पड़े। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 22 जुलाई को उसके कानूनी अधिकार पुनः प्राप्त हो गए थे जिससे इस पार्टी के बढ़ते प्रभाव और ताकत का पता चलता है)।

इस प्रस्ताव में एक बार फिर संयुक्त राष्ट्र के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी और यह मांग दोहराई गई थी कि भारत में एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की जाए ताकि वह

एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में संयुक्त राष्ट्र के साथ कंधा मिलाकर फासिज्म के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष में भाग ले सके :

> भारत के हित और संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य की सफलता—इन दोनों बातों के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि भारत में ब्रिटिश शासन समाप्त किया जाए।
>
> भारत की आजादी की घोषणा के बाद एक अस्थाई सरकार का गठन किया जाएगा और स्वतंत्र भारत संयुक्त राष्ट्र के मित्र की हैसियत से फासिस्टविरोधी महान संघर्ष में उसकी हर तकलीफों और मुसीबतों तथा स्वाधीनता संघर्ष में हिस्सा लेगा।
>
> अस्थाई सरकार का गठन देश की प्रमुख पार्टियों और प्रमुख ग्रुपों के सहयोग के जरिए ही हो सकता है···इस सरकार का बुनियादी कार्य मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर अपने सभी हथियारों और अहिंसात्मक साधनों द्वारा भारत की रक्षा करना तथा हर तरह के आक्रमण का प्रतिरोध करना होगा···
>
> भारत और मित्र राष्ट्रों के आपसी संबंधों का निर्धारण इन सभी स्वतंत्र देशों के प्रतिनिधि आक्रमण का मुकाबला करने के सामूहिक कार्य में आपसी हितों और सहयोग के आधार पर विचार विमर्श के द्वारा करेंगे···
>
> कमेटी इस बात का ध्यान रखेगी कि किसी भी रूप में चीन या रूस का सुरक्षा में जिनकी आजादी बहुत अनमोल है और जिसे सुरक्षित रखने की जरूरत है—बाधा न पड़े या संयुक्त राष्ट्रों की रक्षात्मक क्षमता संकट में न पड़े।

यहां तक तो यह प्रस्ताव ऐसा था जो भारत तथा दुनिया के सभी जनतांत्रिक और फासिस्ट-विरोधी लोगों का समर्थन प्राप्त कर सकता था। लेकिन प्रस्ताव के अंतिम अंश में कहा गया था कि यदि राष्ट्रीय मांग को स्वीकार नहीं किया गया तो असहयोग का कार्यक्रम शुरू किया जाएगा :

> अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी एक बार फिर विश्व स्वाधीनता के हितों के इस अंतिम क्षण में ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र के सामने अपनी अपील दुहराती है।
>
> लेकिन कमेटी यह महसूस करती है कि अब इस बात का एकदम औचित्य नहीं है कि किसी राष्ट्र को साम्राज्यवादी और सत्तावादी सरकार के विरुद्ध, जो उस पर शासन कर रही हो और उसे अपने तथा मानव समुदाय के हितों में काम करने से रोक रही हो, अपनी आकांक्षा को बलपूर्वक कहने से रोका जा सके।

> इसलिए कमेटी यह निश्चय करती है कि स्वतंत्रता और स्वाधीनता के भारत के अभिन्न अधिकार की रक्षा के लिए बड़े से बड़े पैमाने पर जनसंघर्ष शुरू कर दिया जाए ताकि देश पिछले 22 वर्षों के दौरान चलाए गए शांतिपूर्ण संघर्ष के फलस्वरूप इकट्ठी की गई अहिंसक शक्ति का पूरी तरह इस्तेमाल कर सके।
>
> इस तरह का संघर्ष अनिवार्य रूप से गांधी जी के नेतृत्व में चलाया जाना चाहिए और कमेटी उनसे अनुरोध करती है कि वे इस संघर्ष का नेतृत्व अपने हाथ में लें तथा आने वाले दिनों में आंदोलन को दिशा प्रदान करें।

क्रिप्स मिशन की बातचीत असफल होने के बाद जो निराशा छाई थी उसका ही नतीजा था अगस्त प्रस्ताव। इस निराशा की अभिव्यक्ति नेहरू की 19 अप्रैल की घोषणा में हुई :

> मैं नहीं समझ पा रहा हूं कि क्या किया जाए लेकिन मैं एक बेचैनी की भावना से प्रेरित होकर तेज चल रहा हूं। यह सोचकर मैं बहुत परेशान हो जाता हूं कि भारत पर किसी दुश्मन द्वारा हमला किया जा रहा हो और इसमें अमरीका, ब्रिटेन तथा अन्य देश भाग ले रहे हैं, ऐसी स्थिति में मैं खुद को बहुत असहाय महसूस करता हूं।

अगस्त प्रस्ताव को लेकर बड़ी तीखी बहस चली है। इसकी कोई भी आलोचना करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि भारत के राष्ट्रीय नेता, जिनमें वे लोग भी शामिल हैं जो हमेशा अंतर्राष्ट्रीयतावादी और फासिस्टविरोधी रवैया अख्तियार करते रहे हैं, किस निर्मम धर्मसंकट में फंस गए थे और किन स्थितियों में उन्होंने निराश और विवश होकर यह रास्ता अख्तियार किया। वे अपनी इच्छा के विरुद्ध इस रास्ते पर खिंच आए थे क्योंकि वे स्वतंत्रता के आधार पर सहयोग करने की हर कोशिश हार गए थे और उनके सामने अब कोई ऐसा रास्ता नहीं बच रहा जिसके जरिए वे भारत की जनता को गोल-बंद कर पाते और युद्ध से उत्पन्न तात्कालिक संकट की हालत में कारगर ढंग से भारत की सुरक्षा कर पाते।

फिर भी यदि यह देखा जाए कि अगस्त प्रस्ताव का भारत पर और विश्व जनतांत्रिक लोकमत पर क्या प्रभाव पड़ा तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि यह एक भयंकर भूल थी। राजनीतिक दृष्टि से इस प्रस्ताव में एक ऐसी घातक विसंगति थी जिससे पता चलता था कि प्रस्ताव पारित करने वालों के मन में उद्देश्य स्पष्ट नहीं था। प्रस्ताव के आमुख और उपसंहार में बहुत स्पष्ट विसंगति थी और इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता था। प्रस्ताव में एक तरफ तो यह माना गया था कि 1941 के बाद से युद्ध का स्वरूप साम्राज्यवादी नहीं रह गया है, अब यह दो साम्राज्यवादी खेमों की होड़ से उत्पन्न युद्ध नहीं है और इसके परिणामों के प्रति तटस्थ नहीं रहा जा सकता, अब यह ऐसा युद्ध बन

गया है जिसमें कांग्रेस संयुक्त राष्ट्रों की विजय चाहती है जिससे प्रस्ताव में यह लक्ष्य शामिल करने की घोषणा की जा सके कि 'संयुक्त राष्ट्रों की जीत हो' तथा भारत को 'संयुक्त राष्ट्रों का सहयोगी बनना चाहिए।' प्रस्ताव में विशेष रूप से यह बात कही गई कि कांग्रेस को इस बात की बहुत चिंता है कि 'किसी भी रूप में चीन या रूस की सुरक्षा में बाधा न पड़े या 'संयुक्त राष्ट्रों की रक्षात्मक क्षमता संकट में न पड़े।' प्रस्ताव के अंत में जो कार्यक्रम पेश किया गया था उसे यदि अमल में लाया जाता तो मित्र राष्ट्रों के एक प्रमुख और बड़े देश में भयंकर अंदरूनी संघर्ष और अव्यवस्था शुरू हो जाती जो व्यवहार में संयुक्त राष्ट्रों की रक्षात्मक क्षमता को कमजोर करती और फासिस्ट शक्तियों की जीत में मदद मिलती।

युद्ध के शुरू के दिनों में जिस समय यह युद्ध अभी महज आंग्ल फ्रांसीसी साम्राज्यवाद और नाजी जर्मनी के बीच का युद्ध था, जब भारत अंगरेजों ने पीछे चलने के सिवा युद्ध से और किसी भी तरह संबद्ध नहीं था और उसपर आक्रमण का कोई खतरा नहीं था उस समय भी इस बात की पूरी कोशिश की गई कि कांग्रेस की किसी भी नीति से युद्ध के लिए आवश्यक तैयारियों में बाधा न पहुंचने पाए। 5 सितंबर 1939 को गांधी ने घोषणा की कि ब्रिटेन एक 'उचित कारण के लिए युद्ध' लड़ रहा है और भारत को इस युद्ध में 'बिना शर्त सहयोग' देना चाहिए :

> इसलिए मैं अभी, इस समय, भारत के उद्धार के बारे में नहीं सोच रहा हूं। लेकिन यदि इंग्लैंड और फ्रांस का पतन हो गया तो भारत का उद्धार किस तरह का होगा? ('हरिजन', 9 सितंबर 1939)

नतीजा यह हुआ कि ऐसे समय जब स्वयं कांग्रेस के ही शब्दों में युद्ध 'साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति' के लिए लड़ा जा रहा था और भारत को अपना संघर्ष तेज करने का बहुत अनुकूल अवसर मिला था, जनआंदोलन या सामूहिक सविनय अवज्ञा आंदोलन के हर प्रस्ताव को इस आधार पर नामंजूर कर दिया कि इसमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद की युद्ध संबंधी तैयारियों में अड़चन पैदा होगी। इसलिए व्यक्तिगत सत्याग्रह का विशुद्ध सांकेतिक तरीका अपनाया गया ताकि ब्रिटिश सरकार को किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े। अर्ध सरकारी इतिहासकार सर रेगिनाल्ड कूपलैंड ने ठीक ही स्वीकार किया है कि 'इस आंदोलन से सरकार को कुछ खास कठिनाई पैदा नहीं हुई।' ('इंडिया : ए रिस्टेटमेंट', 1945, पृष्ठ 206)

फिर भी जब युद्ध का स्वरूप पूरी तरह बदल गया और कांग्रेस ने इस बदलाव को मान लिया, जब भारत के आवश्यक हित रूस और चीन तथा संयुक्त राष्ट्रों की विजय के साथ जुड़ गए और जब भारत पर सीधे आक्रमण का खतरा पैदा हो गया तो इस अवसर को

जन प्रतिरोध आंदोलन छेड़ने का सबसे उचित अवसर माना गया जबकि 1939-40 में इसे छेड़ना संभव नहीं माना गया था।

यह सही है कि इस तरह का संघर्ष छेड़ने का कोई गंभीर इरादा नहीं था। नेताओं ने इसके लिए कोई तैयारी भी नहीं की थी। उन्होंने सिर्फ समझौते की बातचीत शुरू करने के लिए संघर्ष की धमकी दी थी। अपनी नीति के समर्थन में कांग्रेसी नेताओं ने इस तथ्य का बार बार उल्लेख किया है जिससे यही पता चलता है कि उन्होंने कितनी बुद्धिहीनता का काम किया। एक भयंकर युद्ध के नाजुक दौर में ऐसी नीति पर चलने का अर्थ यह था कि स्थिति को समझने में और साम्राज्यवादियों के दांव-पेंच से परिचित होने में वे धोखा खा गए।

जहां तक कार्यनीति का संबंध है यह प्रस्ताव बहुत अविवेकपूर्ण था। इस प्रस्ताव के जरिए साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादियों को एक बहाना मिल गया था जिससे वे अपना हमला कर सकते थे। यह काफी स्पष्ट है कि क्रिप्स मिशन के साथ बातचीत भंग हो जाने के बाद के वर्षों में साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादियों ने जो तरीके अपनाए उनका उद्देश्य कांग्रेस को दुविधा की स्थिति में डाल देना था और उससे ऐसे गलत कदम उठवाना था जिनसे उन्हें अपना दमनचक्र चलाने का एक बहाना मिल जाए। जहां तक कांग्रेस की पुरानी फासिस्ट विरोधी नीति की बात है साम्राज्यवादी अपने दांव-पेच में लाभप्रद स्थिति में नहीं थे। कांग्रेस ने शुरू से ही फासिस्टविरोधी नीति का पालन किया था और अपनी इसी नीति को एक ऐसी निर्णायक शक्ति में रूप में स्थापित किया था जो फासीवाद, साम्राज्यवाद तथा साम्राज्यवाद के फासिस्ट समर्थक संदेहास्पद कार्यों के खिलाफ दुनिया की जनता के सामूहिक संघर्ष में भारत की जनता को भी गोलबंद कर सके। ज्योंही यह प्रस्ताव पारित हुआ साम्राज्यवादियों को यह अवसर मिल गया कि वे अपने को भारत के रक्षक कहने का दावा कर सकें। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने कहा कि रक्षा व्यवस्था को भंग करने की कोशिशें की जा रही हैं, भारत का राष्ट्रीय आंदोलन फासिस्ट समर्थक और जापान समर्थक हो गया है और वह संयुक्त राष्ट्रों की युद्ध तैयारियों को बरबाद करना चाहता है। अंगरेजों ने इसी बात को राष्ट्रीय आंदोलन का दमन करने के लिए तैयार की गई प्रतिक्रियावादी नीति का राजनीतिक आधार बनाया।

इस प्रकार हमने देखा कि इस प्रस्ताव से भारत की स्वतंत्रता का रास्ता आसान नहीं हुआ बल्कि इस प्रस्ताव के जरिए राष्ट्रीय नेताओं ने साम्राज्यवादियों की भड़काने वाली कार्यवाही के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और इस प्रस्ताव को पारित करने का अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रीय आंदोलन साम्राज्यवादियों द्वारा फैलाए गए जाल में सीधे जा फंसा। दुर्भाग्य की बात यह है कि राष्ट्रीय नेता वास्तविक स्थिति से इतने बेखबर थे कि प्रस्ताव पारित करने के बाद वे वायसराय के साथ शांतिपूर्ण वार्ता की तैयारियां कर रहे थे। उन्होंने न तो इस बात की कल्पना की कि उनकी गिरफ्तारियां हो सकती हैं और न ऐसी

स्थिति से निबटने की कोई तैयारी ही की। उन्होंने इस तरह के कोई निर्देश भी नहीं दिए कि अगला कदम क्या हो।

कांग्रेस के एक अल्पमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया था और लगातार इसके दुष्परिणामों की ओर ध्यान दिलाया था। 26 जुलाई 1942 को कम्युनिस्ट पार्टी ने एक खुला पत्र लिखा जिसमें उसने कहा कि :

> आप अगर संघर्ष शुरू करेंगे तो उसका नतीजा क्या होगा ? वे आपको और हजारों सक्रिय कांग्रेस कार्यकर्ताओं को चुपचाप जेलों में डाल देंगे और बहुत भोलेपन के साथ इस बात का एलान कर देंगे कि भारत को फासिस्ट हमलावरों से बचाने के लिए उन्हें मजबूर होकर अपना फर्ज निभाना पड़ा है।

दुर्भाग्यवश इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया। कांग्रेसी नेताओं के संस्मरणों और वक्तव्यों को देखने से पता चलता है कि जब गिरफ्तारियां हुई तो वे आश्चर्यचकित रह गए। 14 अगस्त 1942 को गिरफ्तारी के तुरंत बाद गांधी ने वायसराय के नाम एक पत्र लिखा जिसमें कहा :

> भारत सरकार को कम से कम तब तक इंतजार करना चाहिए था जब तक मैं जनआंदोलन न शुरू कर देता। मैंने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की थी कि कोई भी ठोस कदम उठाने से पहले मैं आपको एक पत्र भेजूंगा।

राष्ट्रीय आंदोलन के जिन फासिस्टविरोधी मजदूरवर्गीय हिस्सों का प्रतिनिधित्व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी करती थी वे शुरू से ही देश के मुक्तिसंग्राम के संदर्भ में एक स्पष्ट और सुसंगत नीति का प्रचार कर रहे थे और कह रहे थे कि इस युद्ध से जो नए कार्य और दायित्व सामने आएं उनको आगे बढ़कर संभाला जाए। उन्होंने ठोस ढंग से यह दिखाया भी कि भारतीय जनता की लोकप्रिय या राष्ट्रीय मांगों का ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिरोध के बावजूद किस प्रकार एक रचनात्मक प्रतिक्रिया संभव और आवश्यक है। इस आधार पर उन्होंने वर्तमान नाजुक स्थिति में असहयोग के विकल्प के रूप में अपना रचनात्मक कार्यक्रम पेश किया :

1. कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा अन्य राजनीतिक पार्टियों को मिलाकर एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाया जाए जो मिलकर एक ही मंच से फासिज्म का मुकाबला करे।
2. इस तरह के राष्ट्रीय मोर्चे के आधार पर सभी पार्टियों के समर्थन से ब्रिटिश सरकार पर यह दबाव डाला जाए कि वह समझौते की मांग को मंजूर कर ले और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होने दे।

3. इस न्यायपूर्ण राजनीतिक मांग पर जोर देने के साथ साथ पूरी ताकत के साथ युद्ध संबंधी प्रयत्नों में भाग लिया जाए, जनता को गोलबंद किया जाए और जनता के युद्ध प्रयासों को मजबूत करने के लिए तथा फासिज्म के खिलाफ राष्ट्रीय प्रतिरोध की क्षमता को बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व में गैरसरकारी तौर पर जनता को एकजुट किया जाए ।
4. असहयोग की सभी नीतियों को दृढ़ता के साथ अस्वीकार किया जाए क्योंकि ये नीतियां भारतीय जनता के हितों के लिए घातक हैं ।

लेकिन उस समय लोग बहुत गुस्से में थे और ब्रिटेन का शासक वर्ग बड़े प्रतिक्रियावादी ढंग से राष्ट्रीय सरकार की मांग को पूरा करने से इंकार कर रहा था इसलिए यह नीति राष्ट्रीय आंदोलन के अधिकांश का समर्थन नहीं प्राप्त कर सकी ।

भारत के राष्ट्रीय नेताओं में से अधिकांश ने यह आशा की कि बहुत थोड़े समय तक अत्यंत तीव्र संघर्ष चलाकर राष्ट्रीय आजादी का लक्ष्य प्राप्त कर लिया जाएगा और जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए मजबूत स्थिति बना ली जाएगी तथा संयुक्त राष्ट्रों के कारगर मित्र के रूप में कार्य किया जा सकेगा (गांधी के प्रमुख सहयोगी वल्लभभाई पटेल ने कहा कि एक हफ्ते में आजादी हासिल कर ली जाएगी हालांकि गांधी ने इसके जवाब में कहा : 'यदि एक हफ्ते में आजादी मिल जाती है तो इसे चमत्कार ही कहा जाएगा') । उन्हें यह विश्वास था कि इस तरह की सफलता से वे अपनी कार्यनीति का औचित्य यह कहकर साबित कर लेंगे कि भारत की रक्षा इसी ढंग से हो सकती थी और फासिज्म के विरुद्ध विश्वव्यापी विजय में यही उनका सर्वोत्तम योगदान है। यह नीति कितनी आत्मघाती थी इसका पता चल गया । अहिंसा के इन पैगंबरों ने, जो अपने तरीकों से पिछले 22 वर्षों से ब्रिटिश राज्य सत्ता के गढ़ को हिलाने में सफल नहीं हो सके थे, अब यह आशा की थी कि दरवाजे पर दस्तक दे रहे जापानी हमलावरों का मुकाबला करने के लिए वे अपने इसी तरह के आंदोलन के जरिए कुछ ही सप्ताहों के अंदर पूरी राजसत्ता अपने हाथ में ले लेंगे। विकल्प के रूप में यदि उन्होंने यह आशा की हो कि उनका आंदोलन बढ़ते बढ़ते एक हिंसात्मक जनविद्रोह का रूप ले लेगा तो इससे यही पता चलता है कि अहिंसा का प्रशिक्षण प्राप्त कोई आंदोलन कितने मूर्खतापूर्ण ढंग से अपनी योजनाएं तैयार कर सकता है। यह सोचना सचमुच आश्चर्य की बात है कि जिस समय सीमाओं पर हमलावर सेनाएं खड़ी हों और युद्ध चल रहा हो, किसी देश की निहत्थी जनता राजसत्ता के लिए क्रांतिकारी संघर्ष बिना हिंसा का पाठ पढ़े, शुरू कर सकती है। वे इतनी आसान बात को नहीं समझ सके कि उनके आंदोलन से भारत को आजादी मिलना तो दूर देश के अंदर संघर्ष, अव्यवस्था और विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, जिससे भारत में फासिज्म की विजय का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने बिना किसी लागलपेट के कहा कि उनकी नीति 'खुद ही अपना गला

काटने वाली नीति है। इससे हमलावरों के विरुद्ध देश की रक्षा का काम कमजोर होता है और फासिस्टों का काम आसान हो जाता है।

असहयोग की नीति एक हताशाभरी नीति थी लेकिन इस नीति का पालन करने वाले नेतागण दरअस्ल सहयोग का कोई आधार ढूंढ़ने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने बड़े साफ शब्दों में कहा था कि वे पहले समझौते की कोशिश करेंगे और यदि समझौता संभव नहीं हुआ तभी आंदोलन छेड़ेंगे। ऐसी नीति की आलोचना करने के पर्याप्त आधार हमारे पास हैं जो इतनी नाजुक स्थिति में असहयोग आंदोलन छेड़ने की बात कर रही हो। सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति इस बात के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार है कि उसने भारत की न्यायोचित मांगों को ठुकराकर और समान शर्तों पर सहयोग की उनकी आकांक्षा का गला घोंटकर इस निराशाजनक परिणति को जन्म दिया।

जहां तक कांग्रेस की बात है उसने अंत तक अपनी यह इच्छा जाहिर की कि कोई समझौता हो जाए। व्यावहारिक सहयोग और समझौते की इच्छा पर जोर देने के लिए (ताकि फासिज्म के खिलाफ हथियारबंद संघर्ष में भाग लिया जा सके) प्रस्ताव में संशोधन किया गया। बहस के अंत में गांधी और नेहरू ने जो भाषण दिए थे उनमे समझौते की इच्छा पर ही जोर दिया गया था। नेहरू ने अपने भाषण में कहा था : 'यह प्रस्ताव कोई धमकी नहीं है; यह एक आमंत्रण है और अपनी नीति की व्याख्या है; यह एक सहयोग का प्रस्ताव है।' जुलाई में जनरलिस्सिमो च्यांग काई शेक के नाम लिखे गए गांधी के प्रकाशित पत्र में साफतौर पर कहा गया था :

> हम लोग जल्दबाजी में कोई कदम नहीं उठाएंगे और जो भी कदम उठाया जाएगा, यह ध्यान में रखकर उठाया जाएगा कि इससे चीन को कोई नुकसान न हो या भारत अथवा चीन पर जापानी आक्रमण के लिए बढ़ावा न मिले। मैं हर तरह से यह कोशिश कर रहा हूं कि ब्रिटिश सरकार के साथ किसी तरह का संघर्ष न पैदा हो।

यह बताया गया कि पहले कदम के रूप में कोई कार्यवाही शुरू करने से पहले वायसराय के नाम एक पत्र लिखा जाए जिसमें समझौते की बातचीत का प्रस्ताव हो।

कांग्रेस कमेटी की बैठक के तुरंत बाद पत्र लिखने का काम शुरू हुआ लेकिन इसे पूरा नहीं होने दिया। कुछ ही घंटों के अंदर बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां शुरू हो गईं और इन गिरफ्तारियों ने एक व्यापक संघर्ष की शुरुआत कर दी।

कांग्रेस ने 8 अगस्त को अपना प्रस्ताव पारित किया था। 9 अगस्त की सुबह सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया (148 लोग बंबई में पकड़े गए) जिनमें

गांधी, नेहरू, आजाद, पटेल, कृपालानी, राजेंद्रप्रसाद तथा अन्य लोग शामिल थे। इसके साथ ही कांग्रेस को गैरकानूनी संगठन घोषित कर दिया गया।

कार्यसमिति के सदस्यों को अहमदनगर किले में कैद रखा गया। लेकिन गांधी को अलग से आगा खान के महल में नजरबंद रखा गया। बेशक इस महल में आराम की सारी सुविधाएं थीं ('आपने मुझे एक ऐसे महल में रखा है जहां सारी सुख-सुविधाएं उपलब्ध हैं। मैंने इन सुख-सुविधाओं का उपभोग किया है लेकिन ऐसा करते समय हमेशा मुझे अपने कर्तव्य का बोध रहा है न कि आराम का'—वायसराय के नाम गांधी का पत्र, 31 दिसंबर 1942)। जेल में बंद नेताओं को काफी आराम से रखा गया और इसकी वजह यह थी कि वे इन नाजुक वर्षों में अपनी सक्रिय राजनीतिक भूमिका या नेतृत्व न कर सकें। और ऐसा ही हुआ भी। डा० सीतारमैया के संस्मरणों को देखने से पता चलता है कि इन वर्षों के दौरान कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों ने राजनीतिक मसलों पर बातचीत करने की कोशिश भी नहीं की, उन्होंने अपना सारा ध्यान धर्म, दर्शन और मनोरंजन में लगाया। इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन नेतृत्वविहीन होकर रह गया। इसकी वजह यह थी कि कभी इस बात की कोशिश नहीं की गई कि नेतृत्व की दूसरी पंक्ति तैयार की जाए अथवा नेताओं के गिरफ्तार हो जाने की अवस्था में आंदोलन को आगे चलाने के लिए कोई कार्यक्रम निर्धारित किया जाए।

राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी से देश भर में प्रदर्शनों और असंगठित संघर्षों का तथा अव्यवस्था का साम्राज्य कायम हो गया। इन प्रदर्शनों और संघर्षों का पुलिस ने बड़े हिंसात्मक और क्रूर ढंग से दमन किया। इस काम में सेना की भी मदद ली गई। अनेक लोग हताहत हुए। केंद्रीय विधानसभा के गृह सदस्य के सरकारी बयान के अनुसार 9 अगस्त 1942 से लेकर 31 दिसंबर 1942 तक 60229 व्यक्ति गिरफ्तार किए गए, 18000 लोगों को भारत रक्षा अधिनियमों के अंतर्गत नजरबंद किया गया, सेना और पुलिस की गोली से 940 लोग मारे गए और 1630 लोग घायल हुए। ('मार्च आफ इवेंट्स 1942-45', बंबई प्रांतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा प्रकाशित, 1945)

राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देश भर में रोष का जो वातावरण बना और जनता के जो व्यापक प्रदर्शन किए वे स्वतःस्फूर्त थे। लेकिन इस तरह की जो छिटपुट मुठभेड़ें हुईं, असंतोष फैला या अलग अलग गुटों और दलों की तरफ से जो परस्पर विरोधी और उलझन पैदा करने वाली हिदायतें जारी हुईं, वे कांग्रेस के किसी संगठित आंदोलन का प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। जैसाकि चर्चिल ने बाद में संसद में कहा, ये छिटपुट आंदोलन 'बड़े आराम से' दबा दिए गए। कांग्रेस ने इन आंदोलनों के लिए कभी अनुमति नहीं दी थी और गांधी ने सार्वजनिक रूप से यह कहा कि इन आंदोलनों से उनका कोई संबंध नहीं है। कांग्रेस ने आंदोलन छेड़ने का अधिकार केवल गांधी को दिया था। 23 सितंबर 1942 को गांधी ने वायसराय के नाम अपने पत्र में लिखा :

> ऐसा लगता है कि कांग्रेसी नेताओं की जबरदस्त धर-पकड़ से जनता इतने गुस्से में आ गई है कि वह नियंत्रण खो बैठी है। मैं महसूस करता हूं कि यह जो विध्वंस हुआ है उसके लिए कांग्रेस नहीं बल्कि सरकार जिम्मेदार है।

गृह विभाग के नाम लिखे गए 15 जुलाई 1943 के पत्र में गांधी ने लिखा :

> सरकार का देशव्यापी गिरफ्तारी का कदम इतना उग्र था कि जनता ने आत्मनियंत्रण खो दिया क्योंकि कांग्रेस के साथ उसकी सहानुभूति थी। आत्मनियंत्रण खोने का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि इसके पीछे कांग्रेस का हाथ था।

एक अनौपचारिक सर्कुलर में कहा गया था (अपने 15 जुलाई 1943 के पत्र में उद्धृत इन पंक्तियों में गांधी ने उनमें निहित नीति को हिचक के साथ किंतु पूरी तरह स्वीकार किया है) :

> कोई भी आंदोलन तब तक नहीं किया जाना चाहिए या कोई भी कार्यवाही तब तक नहीं की जानी चाहिए जब तक महात्मा गांधी इस विषय में कोई फैसला नहीं करते हैं। यदि आपने कोई आंदोलन छेड़ दिया और मान लीजिए कि उन्होंने कोई दूसरा फैसला लिया तो इस अकारण भूल के जिम्मेदार आप होंगे। हमेशा तैयार रहिए, तुरंत संगठित हो जाइए; हमेशा सतर्क रहिए लेकिन कभी कोई कदम न उठाइए।

21 सितंबर 1945 को कांग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल और गोविंदवल्लभ पंत के हस्ताक्षरों से एक आधिकारिक बयान जारी किया गया जिसमें कहा गया था ;

> कोई भी आंदोलन अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा या गांधी जी द्वारा आधिकारिक तौर पर कभी नहीं शुरू किया गया।

यह बाद की बात है कि एक अस्थाई और गुटबाजी से भरे राजनीतिक उद्देश्य के लिए अगस्त 1942 और उसके बाद के महीनों की नेतृत्वविहीन लड़ाई को 'अगस्त संघर्ष' का नाम देने की कोशिश की गई। इस संघर्ष को कांग्रेस द्वारा प्रेरित संघर्ष कहा गया जबकि कांग्रेस का एकमात्र अधिकृत नेता इस आंदोलन को अपना मानने से इंकार कर चुका था और इसकी भर्त्सना कर रहा था। हिंसा की निरंकुश घटनाओं को कांग्रेस की कार्यवाही कहा गया जबकि कांग्रेस की नीति सदा से अहिंसक थी; अगस्त प्रस्ताव में कही गई बातों का बिलकुल उलटा प्रचार किया गया था, इसमें बोस को और जापानी खेमे को समर्थन

दिया गया था तथा संयुक्त राष्ट्रों के मोर्चे की निंदा की गई थी फिर भी इसे कांग्रेस का प्रचार घोषित किया गया। और अंततः इस विरोधाभास की चरम उपलब्धि हम तब देखते हैं जब बुनियादी तौर पर इस कांग्रेस विरोधी आंदोलन में शामिल न होने को कांग्रेस का अनुशासन भंग करना माना गया जबकि कांग्रेस के अनुशासन में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कोई भी आंदोलन तब तक शुरू नहीं किया जाएगा जब तक गांधी की सहमति न हो। गांधी ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि इस संघर्ष के लिए उन्होंने कोई निर्देश जारी नहीं किए थे।

अगस्त की घटनाओं के बाद राष्ट्रीय आंदोलन में जो विघटन की स्थिति पैदा हुई, संगठित नेतृत्व का अभाव हुआ और कोई स्पष्ट नीति नहीं रही उससे बाद के वर्षों में राजनीतिक गतिरोध के साथ साथ एक निराशा और उलझन का दौर शुरू हो गया। यही वे दिन थे जब मुस्लिम लीग ने तेजी से अपनी ताकत बढ़ा ली।

अस्वस्थ होने के कारण 6 मई 1944 को गांधी को रिहा कर दिया गया। उन्होंने बाहर आते ही एलान किया कि 8 अगस्त 1942 के प्रस्ताव का सविनय अवज्ञा आंदोलन वाला अंश अपने आप ही रद्द हो गया है क्योंकि 1944 में वह 1942 की तरफ लौटकर नहीं जा सकते। फिर भी राजनीतिक गतिरोध जारी रहा क्योंकि सरकार ने कह दिया था कि जब तक अगस्त प्रस्ताव वापस नहीं लिया जाता तब तक सरकार किसी तरह के समझौता प्रस्ताव पर विचार नहीं करेगी। इसके साथ ही सरकार ने जून 1945 तक कार्यसमिति के सदस्यों को रिहा करने से इंकार कर दिया और कार्यसमिति के सदस्य ही अगस्त प्रस्ताव की समीक्षा करने तथा नीति संबंधी कोई नया वक्तव्य तैयार करने की स्थिति में हो सकते थे।

1945 की गरमियों में इस गतिरोध को दूर करने की एक बार फिर कोशिश की गई। केंद्रीय विधानसभा में कांग्रेस पार्टी के संसदीय नेता भूलाभाई देसाई (जो गांधी के परामर्श पर और उनकी स्वीकृति से यह पदभार संभाल रहे थे) और मुस्लिम लीग के संसदीय नेता लियाकत अली खां के बीच मई में एक अस्थाई समझौता हो गया जिसका आधार यह था कि जो अस्थाई राष्ट्रीय सरकार बनाई जाएगी उसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बराबर बराबर सदस्य रहेंगे (40 प्रतिशत कांग्रेस, 40 प्रतिशत मुस्लिम लीग और 20 प्रतिशत अन्य दल)। इस प्रस्ताव को वायसराय लार्ड वेविल के सामने रखा गया और वह सलाह लेने लंदन रवाना हो गए। लंबी बातचीत के बाद लार्ड वेविल जब लंदन से लौटे तो उनके साथ नीति संबंधी एक नया प्रस्ताव था जिसे ब्रिटिश सरकार ने 14 जून 1945 को घोषित किया था। इसमें अस्थाई राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की योजना तो थी लेकिन इसमें बहुत चालाकी के साथ एक परिवर्तन कर दिया गया था और इस सरकार में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के शामिल होने की बात को बदल दिया गया था। कांग्रेस और लीग की बराबरी के स्थान पर 'सवर्ण हिंदुओं और मुसलमानों की बराबरी'

शब्दावली का इस्तेमाल किया गया था। इस प्रकार इस सारे प्रश्न को एक सांप्रदायिक धरातल पर लाकर रख दिया गया था। ऊपर से देखने पर यह संशोधन बहुत मामूली संशोधन लगता था लेकिन इसने बातचीत भंग होने में मदद की। इस परिवर्तन का अर्थ यह था कि या तो कांग्रेस खुद को एक हिंदू संगठन के दरजे तक पहुंचा दे अथवा किसी मुसलमान कांग्रेसी के लिए एक मुस्लिम सीट की मांग करके लीग के साथ बराबरी के आधार का उल्लंघन करे। दूसरी तरफ लीग या तो उस मुसलमान कांग्रेसी को अपनी कोई मुस्लिम सीट दे दे और इस प्रकार बराबरी वाली बात छोड़कर कांग्रेस की तुलना में घाटे की स्थिति को स्वीकार करे। ऐसा न होने पर उसके सामने विरोध के अलावा और कोई रास्ता नहीं बच रहता और विरोध करने से सम्मेलन को भंग करने की सारी जिम्मेदारी उसके ऊपर आती है।

जून 1945 में कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा अन्य पार्टियों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन शिमला में आयोजित किया गया लेकिन जल्दी ही इस सम्मेलन की कार्यवाही में गतिरोध पैदा हो गया। बुनियादी योजना के लिए कोई संयुक्त मोर्चा बनाने के स्थान पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेता एक दूसरे के खिलाफ कुप्रचार में लग गए। शिमला सम्मेलन असफल साबित हुआ। इस तरह युद्ध के समाप्त होने पर जब समूची दुनिया के लोग आजादी और मुक्ति की दिशा में बढ़ रहे थे, भारत उसी प्रकार गुलाम बना रहा जैसा वह युद्ध से पहले था।

17
आजादी ?

> हमारी हड़ताल हमारे देश के जीवन की एक ऐतिहासिक घटना रही है। यह पहला अवसर है जब सैनिकों का खून आम आदमियों के खून के साथ समान हित के लिए बहा है। हम सेना के लोग इसे कभी नहीं भूलेंगे। हम यह भी जानते हैं कि आप, हमारे सभी बहन और भाई भी इसे नहीं भूलेंगे। हमारी महान जनता जिंदाबाद! जयहिंद!—नौसैनिक केंद्रीय हड़ताल समिति का अंतिम संदेश, 23 फरवरी 1946।

> बहुतों की यह राय है कि ब्रिटिश केबिनेट मिशन के भारत आने से पहले, भारत क्रांति के कगार पर खड़ा था। केबिनेट मिशन ने इस खतरे को दूर भले ही न किया हो लेकिन स्थगित तो कर ही दिया है। (भारतीय केंद्रीय विधानसभा में यूरोपीय ग्रुप के नेता पी० जे० ग्रिफिथ्स का लंदन में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन में भाषण, 24 जून 1946)

जून 1946 में लेबर दल के नेता, प्रधानमंत्री सी० आर० एटली ने अपनी पार्टी के अधिवेशन में भाषण करते हुए कहा था :

> हम दूसरों के लिए उसी आजादी की बात करते हैं जैसी हम अपने लिए चाहते हैं। हम इस आजादी की घोषणा करते हैं लेकिन हम केवल घोषणा तक ही इसे सीमित नहीं रखते हैं। हम इसको अमल में लाने की कोशिश करते हैं। इसका सबूत भारत है।

इसी प्रकार लेबर पार्टी के अध्यक्ष प्रोफेसर लास्की ने 23 मई 1946 को भारतीय समाचारपत्रों में प्रकाशित एक भेंटवार्ता में कहा था :

> आधुनिक इतिहास में किसी साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा किसी देश की जनता को इतने बड़े पैमाने पर अहिंसक तरीके से पद त्याग करते हुए नहीं देखा गया। मैं आशा करता हूं कि भारतीय राष्ट्रवादी नेता सोने की तश्तरी में दिए गए इस उपहार की प्रशंसा करेंगे।

दुनिया के अखबारों ने और खासतौर से ब्रिटेन और अमरीका के समाचारपत्रों ने 1946 के इन नए ब्रिटिश सांविधानिक प्रस्तावों को जोरदार प्रचार दिया। अभी तक आंग्ल अमरीकी समाचारपत्र ब्रिटेन द्वारा किए गए स्वार्थत्याग की प्रशंसा करने में डूबे हुए थे।

दूसरी तरफ इस विचारधारा को भारतीय जनमत ने किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। 1 जून 1946 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आधिकारिक समाचारपत्रक ने अपना विचार प्रकाशित किया :

> वही हुआ जिसका हमें डर था। कैबिनेट मिशन ने सांप्रदायिक और सामंती हितों को तरजीह देने की कोशिश में देश के व्यापक हितों को भुला दिया। ब्रिटेन के मंत्रियों ने, अपनी अच्छी नीयत के साथ अपनी तरफ से जितना कर सकते थे, उतना किया लेकिन दुर्भाग्यवश मार्च 1942 में सर्वश्री चर्चिल और ऐमेरी ने जो कुछ देने की इच्छा जाहिर की थी उससे बेहतर चीज हम नहीं पा सके…जिस आजादी का वादा किया गया है उसके चारों तरफ पाबंदियों का ऐसा घेरा डालकर रखा गया है कि इसे आजादी नाम देना ही गलत है।

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की आत्मप्रशंसा और भारतीयों के असंतोष को अभिव्यक्ति देने वाली विचारधारा के बीच पूरी तरह से विरोध का कारण क्या है? क्या 1946 के ब्रिटिश सांविधानिक प्रस्तावों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतिम तौर से पद त्याग और भारतीय आजादी की मान्यता का प्रतिनिधित्व किया है? अथवा वे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की बहुत दिनों से चली आ रही इन कोशिशों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जिनमें संविधान के आधार पर समझौते का कोई तरीका ढूंढ़ लिया जाए ताकि ब्रिटेन अपने आपको भारत की राष्ट्रीय मांगों के अनुरूप बदलती स्थितियों में ढाल ले और साथ ही इसका प्रभुत्व और शासन भी मूलतः भारत पर बना रहे? क्या ये नये प्रस्ताव भारतीय आजादी की अभिव्यक्ति करते हैं? अथवा वे भारत को आजादी देने का महज दिखावा करते हैं जिसे शर्तों, प्रतिबंधों और सीमाओं के अभेद्य जंगल ने व्यवहार में असंभव कर रखा हो?

1. बदलते हुए विश्व में भारत

1946 में केबिनेट मिशन को भारत क्यों भेजा गया ?

ब्रिटेन की नीति ने जो नई धारा ली थी उसके चार प्रमुख कारण हैं। पहली बात तो यह है कि विश्वयुद्ध की समाप्ति ने समूचे विश्व में जनविद्रोहों की लहर तैयार कर दी थी। आधुनिक युग के प्रतिक्रियावाद के मुख्य अगुआ, जनतंत्र के खिलाफ हमलावरों के प्रमुख नेता और नस्लवादी प्रभुत्व का खुले तौर पर अत्यंत निर्मम तरीके से प्रचार करने वाले तत्व अर्थात फासिज्म को जनतांत्रिक लोगों के संयुक्त संघर्ष ने करारी हार दी थी। जर्मन, इतालवी और जापानी साम्राज्यवाद का नामोनिशान मिटा दिया गया था। शेष बच रहे थे ब्रिटिश अमरीकी साम्राज्यवाद लेकिन उन्हें भी विश्व नेतृत्व में समाजवादी सोवियत संघ के साथ हिस्सा बंटाना पड़ा था और इस प्रकार विश्व की तीन शक्तियों की एक असुविधाजनक हिस्सेदारी कायम हो गई थी। सोवियत संघ को युद्ध में अपार क्षति उठानी पड़ी थी और इसका मुख्य भार लाल सेना तथा सोवियत जनता पर पड़ा था। इन सबके बावजूद उसकी विश्व में अपनी स्थिति और अपनी ताकत बड़ी तेजी से उभरी और यूरोप के जिन देशों को मुक्ति मिल गई थी वे पुरानी सामंती और सैन्यवादी तथा बड़ी व्यापारी शक्तियों के विरुद्ध प्रगतिशील जनतांत्रिक सत्ता के मार्ग पर बढ़ते रहे। इन घिनौनी शक्तियों ने राष्ट्रीय हित के साथ विश्वासघात किया था और हिटलर की जी हुजूरी की थी। चीन पर से जापान का शिकंजा हटा दिया गया और अमरीकी प्रतिक्रियावादियों द्वारा प्रगति के मार्ग में डाली गई तमाम बाधाओं के बावजूद चीन का राष्ट्रीय और जनतांत्रिक आंदोलन फिर से आगे बढ़ाया गया। सभी उपनिवेशों की जनता आंदोलन में जुट गई थी और वह उस आजादी की मांग करने लगी थी जिसके लिए उनके मुक्ति-आंदोलनों ने संघर्ष किया था। विश्व की इस नई और बदली हुई परिस्थिति में इस बात की कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी कि भारत में पुरानी निरंकुश और नौकरशाही शासनव्यवस्था को बिना बदले बनाए रखा जा सके। भारत ही ऐसा उपनिवेश था जो क्षेत्रफल के हिसाब से सबसे बड़ा था और जहां का राष्ट्रीय आंदोलन सबसे ज्यादा शक्तिशाली था।

दूसरी बात यह है कि जीत में बराबर की हिस्सेदारी के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्य बुनियादी तौर पर कमजोर हो गया था। ब्रिटेन की अंदरूनी अर्थव्यवस्था और अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में ब्रिटिश पूंजीवाद का अपेक्षाकृत पतन हो गया था और औपनिवेशिक साम्राज्यों पर से इसका दबदबा कम हो गया था। दो विश्वयुद्धों के बीच के दौर की यह एक उल्लेखनीय बात है। ब्रिटेन की विश्व में जो पुरानी महत्वपूर्ण स्थिति थी वह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से और खराब हुई। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के स्मट्स और चर्चिल जैसे पुराने राजनीतिज्ञों ने बड़ी चिंता के साथ इस बात पर गौर किया था कि नए विश्व की दो 'विशालकाय' शक्तियां—अमरीका और सोवियत संघ—अत्यंत प्रबल ढंग से बढ़ती जा रही हैं और मजबूत होती जा रही हैं और इस बात की आशंका पैदा हो गई है कि ब्रिटेन

अब दूसरे या तीसरे स्थान पर पहुंच जाएगा। मिस्र और फिलिस्तीन से लेकर बर्मा और मलाया तथा इंडोनेशिया तक ब्रिटेन के प्रभुत्व वाले क्षेत्र में हर तरफ से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से गुलाम बनाए गए लोगों की चुनौतियां ब्रिटिश साम्राज्य पर टूट पड़ी थीं।

ब्रिटेन की जनता ने इन नई परिस्थितियों को सतर्क होकर महसूस किया था और वह टोरीवाद से दूर हटती जा रही थी ताकि अपनी प्रगति और समृद्धि के लिए कोई नया रास्ता ढूंढ़ सके लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य के पुराने शासकों ने प्रभुत्व की इस टूटती आधारशिला को हर तरह से बनाए रखने की सारी संभव कोशिशें कीं। जैसाकि बर्मा, मलाया और इंडोनेशिया में हुआ, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इन फिर से विजित इलाकों में औपनिवेशिक दमन को पुनः स्थापित करने की कोशिश की। उन्होंने विश्व के बदले हुए संतुलन का मुकाबला करने के लिए नए साम्राज्यवादी गठबंधन किए। इस दिशा में उन्होंने सबसे पहले पश्चिम यूरोपीय गुट बनाने की कोशिश की लेकिन यूरोप की जनता के विरोध के कारण उन्हें इसमें असफलता मिली। इसके बाद उन्होंने सोवियत संघ के खिलाफ एक आंग्ल अमरीकी गुट के निर्माण की कोशिश की। इन सभी नई रणनीतिक जोड़तोड़ों में भारत का बुनियादी महत्व था। जर्जर हो रहे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए और उसकी आर्थिक जरूरतों तथा सैनिक योजनाओं के लिए भी यह बहुत जरूरी हो गया था कि वह भारत में बने रहने के लिए समझौते का कोई आधार ढूंढ़ ले। इसके जरिए राष्ट्रीय आंदोलन के उच्चवर्ग को संतुष्ट करके और यदि संभव हो तो उनपर विजय हासिल करके वह भारत को ब्रिटेन के आर्थिक और सामरिक दायरे में कैद रख सकता था।

तीसरी बात यह है कि विश्व के रंगमंच पर ब्रिटेन की स्थिति में आए परिवर्तन की झलक ब्रिटेन की घरेलू स्थिति में भी दिखाई पड़ रही थी। 1945 की गरमियों में टोरी पार्टी को चुनाव से जबरदस्त हार का सामना करना पड़ा हालांकि इन लोगों ने विजय के अवसर और चर्चिल की प्रतिष्ठा को खूब भुलाने की कोशिश की। पहली बार लेबर पार्टी बहुमत में आई और सत्तारूढ़ हुई। हालांकि नई सरकार का गठन करनेवाले लेबर पार्टी के नरम-दली दक्षिणपंथी नेताओं का व्यवहार में टोरी दल के ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के साथ घनिष्ठ संबंध था (और यह बाद के अनुभवों से जल्दी ही साबित हो गया), लेकिन चुनाव में जनता द्वारा टोरीवाद को नामंजूर करना इस बात का संकेत था कि ब्रिटेन की जनता पुराने साम्राज्यवादी आधार के स्थान पर किसी नए रास्ते की तलाश शुरू कर चुकी थी। लेबर पार्टी के अधिवेशन ने ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन के बाद कार्य-समिति के प्रारंभिक प्रतिरोध के बावजूद आंदोलन की ओर से पेश प्रस्ताव को पहले ही स्वीकार कर लिया था जिसमें भारत को आजादी देने की बात कही गई थी। इस प्रकार लेबर आंदोलन आधिकारिक तौर पर भारत को आजादी देने के लिए प्रतिबद्ध था और नई लेबर सरकार के लिए यह जरूरी हो गया कि वह भारत के संबंध में अब तक चली आ रही नीति से कोई अलग नीति अपनाए।

चौथी और निर्णायक दृष्टि से महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारत के अंदर तथा विश्व भर में भारत को तत्काल आजादी देने की मांग बहुत ज़ोर पकड़ती जा रही थी। साम्राज्यवाद के लिऐ अब यह संभव नहीं रह गया था कि वह पुराने तरीके से भारत पर अपना प्रभुत्व बनाए रखे।

2. 1945-46 का राष्ट्रीय उभार

फासीवाद की पराजय के बाद विश्व भर में लोकप्रिय आंदोलनों की जो जबरदस्त लहर आई थी उससे भारत भी प्रभावित हुए बिना न रहा। हालांकि भारत ने संयुक्त राष्ट्रों के साथ मिलकर उन महान मुक्ति आंदोलनों में हिस्सा नहीं लिया था जिन्होंने फासिस्ट अधिकृत देशों में सफलता हासिल करने के काम में और युद्ध के बाद राजनीतिक रूपांतरण के लिए मार्ग प्रशस्त करने के काम में शक्तिशाली भूमिका अदा की थी फिर भी भारत के अंदर भी राष्ट्रीय मुक्ति और जनतांत्रिक प्रगति की वही भावना काम कर रही थी। यहां तक कि धुरी राष्ट्रों के खेमे में सुभाषचंद्र बोस द्वारा तैयार की गई 'इंडियन नेशनल आर्मी' का उदाहरण और खासतौर से युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा इस सेना के प्रमुख अधिकारियों पर चलाए गए मुकदमों को देखें तो पता चलेगा कि भारत में जुझारू राष्ट्रभक्ति की दीपशिखा जल चुकी थी और यहां के सैनिकों में इसका विशेष प्रभाव था।

1945 की गरमियों में शिमला सम्मेलन का भंग होना इस बात का द्योतक है कि ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति किस तरह के दलदल में फंस गई थी। इसके साथ ही इस घटना से यह भी पता चलता है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एक इतनी गहरी खाई हो गई थी जिसका पाटा जाना असंभव था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग, इन दोनों दलों के नेताओं के लिए ब्रिटेन के खिलाफ कोई सामूहिक मोर्चा बनाने से ज्यादा आसान काम यह हो गया था कि वे एक दूसरे के खिलाफ शिकायत करके ब्रिटेन के साथ समझौते की बातचीत करें। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रीय मोर्चे की यह सबसे बड़ी कमजोरी थी। साथ ही प्रथम विश्वयुद्ध के बाद कांग्रेस लीग खिलाफत का जो संयुक्त मार्चा बना था, मौजूदा नीतियां उसकी नीति के एकदम विपरीत थीं। अंगरेजों ने इस कमजोरी का फायदा उठाया।

इसलिए युद्ध के फौरन बाद भारत में जनविद्रोह हुए, उन्हें किसी आधिकारिक राष्ट्रीय आंदोलन का संयुक्त और कारगर नेतृत्व नहीं मिल सका। जहां तक जनता की बात है, उसके अंदर साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एकता की इच्छा काफी प्रबल थी। इसका प्रमाण कलकत्ता, बंबई तथा अन्य प्रमुख शहरों में हुए विशाल प्रदर्शन हैं जहां जनता की भीड़ ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झंडे तथा कई स्थानों पर कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे एक साथ फहराए। दुर्भाग्य की बात है कि निचले तबके में जितनी एकता थी उतनी एकता नेतृत्ववर्ग में नहीं पाई गई।

फिर भी आंदोलन आम नागरिकों के बीच ही नहीं बल्कि सेना के जवानों के बीच भी तेजी से स्थान बनाता गया और तेज होता गया। भारत के लिए यह एक नई बात थी। उसके क्रांतिकारी महत्व को समझने में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों अथवा राष्ट्रीय आंदोलन के उच्चवर्गीय नेताओं में किसी ने भूल नहीं की। इससे पहले 1930 में गढ़वाली सिपाहियों ने गोली चलाने से इंकार कर ही दिया था। लेकिन अब फौजों में और खासकर वायुसेना तथा नौसेना में बड़े पैमाने पर हड़तालें हो रही थीं जिनसे यह पता चलता था कि अंगरेजों की ताकत का आधार और उनका शासनतंत्र पूरी तरह छिन्नभिन्न हो चुका है। फरवरी 1946 में भारतीय नौसेना के विद्रोह ने तो मानो बिजली की तरह चमककर भारतीय क्रांति की परिपक्व शक्तियों का परिचय दे दिया। महान क्रांतियों में नौसेना ने किस तरह हरावल दस्ते का काम किया है इसे हम 1905 में रूस में 'पोतेमकिन' 1917 में रूस के 'क्रोंसतात' या 1918 में जर्मनी में 'कील' विद्रोह में महसूस कर चुके हैं। 1946 में भारतीय नौसेना में जो विद्रोह हुआ और उसके समर्थन में देश में जनआंदोलन की जो लहर आई तथा बंबई के मजदूरों ने जितनी वीरता के साथ हड़ताली नाविकों का समर्थन किया उससे जाहिर हो गया कि भारत में एक नए युग का सूत्रपात हो चुका है और ये घटनाएं भारतीय इतिहास में मील का पत्थर हैं। फरवरी 1946 के उन ऐतिहासिक दिनों में यह बात सामने आ गई कि भारतीय जनता के प्रगतिशील आंदोलनों के कौन लोग दुश्मन हैं और कौन लोग दोस्त हैं।

शाही भारतीय नौसेना के नाविकों के विद्रोह का केंद्रबिंदु बंबई था लेकिन इसका विस्तार कराची और मद्रास तक था। इन शहरों में लोगों ने इन नाविकों का काफी समर्थन किया था। विद्रोह की शुरुआत 18 फरवरी की सुबह 'तलवार' प्रशिक्षण स्कूल से हुई थी जहां बहुत दिनों से लोगों की कुछ शिकायतें थीं जिन्हें अधिकारीगण दूर नहीं कर रहे थे। 19 फरवरी की सुबह तक यह विद्रोह बंबई में 12 तटवर्ती प्रतिष्ठानों तथा बंदरगाह पर खड़े 20 जहाजों तक फैल गया और इसमें सभी 20 हजार नाविकों ने भाग लिया। जहाज के मस्तूल पर से अंगरेजों का झंडा यूनियन जैक हटा दिया गया और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के झंडे फहराए गए। शहर में नाविकों ने कांग्रेस, मुस्लिम लीग और कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे लेकर जुलूस निकाले तथा नारे लगाए। उनके नारे थे, 'जय हिंद', 'इंकलाब जिंदाबाद', 'हिंदू मुस्लिम एक हों', 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नाश हो', 'हमारी मांगें पूरी करो', 'आई० एन० ए० के लोगों को और राजनीतिक बंदियों को रिहा करो', 'इंडोनेशिया से भारतीय सेना हटाओ'। यह हड़ताल भारतीय नौसेना के अन्य जहाजों तक भी फैल गई। इनमें कराची का 'हिंदुस्तान' जहाज भी शामिल था जिसने बाद में सशस्त्र संघर्ष में भी हिस्सा लिया।

विद्रोही नाविकों ने शुरू से ही कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के साथ संपर्क कायम किया था लेकिन इन नेताओं का न तो उन्हें कोई समर्थन मिला और न कोई व्यावहारिक मदद ही। इन विद्रोहियों ने एक केंद्रीय नौसेना हड़ताल समिति का गठन किया और

पूर्ण अनुशासन कायम रखा। बंबई की जनता ने इन हड़तालियों का जोरदार समर्थन किया और अपने घर से खाना बनवाकर जहाजों तक पहुंचाया। ब्रिटिश अधिकारियों को उस समय बहुत हैरानी हुई जब उन्होंने देखा कि आंदोलन का तेजी से विस्तार होता जा रहा है और फिर उन्होंने जबरदस्त दमन का सहारा लिया। जल्दी जल्दी भारी सैनिक और नौसैनिक टुकड़ियां बंबई तथा कराची भेजी गईं। इन टुकड़ियों के भारतीय जवानों ने जब अपने साथी हड़ताली नाविकों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया तब इस काम के लिए अंगरेज सैनिकों को बुलाया गया और 21 फरवरी को कैसिल बैरक के बाहर सात घंटे तक घमासान लड़ाई चलती रही। 21 फरवरी के तीसरे पहर एडमिरल गाडफ्रे ने रेडियो पर विद्रोहियों को अल्टीमेटम दिया और कहा कि 'सरकार तुम लोगों के खिलाफ अपनी जबरदस्त ताकत का पूरा पूरा इस्तेमाल करेगी···भले ही ऐसा करने में हमारी नौसेना पूरी तरह बरबाद ही क्यों न हो जाए।. केंद्रीय नौसेना हड़ताल समिति ने इस धमकी के जवाब में शहर की जनता से शांतिपूर्ण हड़ताल करने की अपील की। हालांकि उस समय जरूरत इस बात की थी कि हड़ताल का समर्थन करके अंगरेज अधिकारी की इस धमकी को विफल किया जाए और नौसेना के नाविकों का जीवन बचाया जाए लेकिन कांग्रेस नेतृत्व की तरफ से वल्लभभाई पटेल ने हड़ताल का समर्थन करने से इंकार कर दिया और उसके खिलाफ हिदायतें जारी कर दीं। फिर भी केंद्रीय नौसेना हड़ताल समिति की अपील का बंबई की ट्रेड यूनियनों और कम्युनिस्ट पार्टी ने समर्थन किया और 22 फरवरी को बंबई की मजदूर जनता ने इसके समर्थन में व्यापक हड़ताल की। अंगरेज अधिकारियों ने इस जनआंदोलन को विफल करने की कोशिश में सेना और पुलिस का सहारा लिया तथा जनता पर अंधाधुंध गोलियां चलाई गईं। 21 फरवरी से 23 फरवरी, तीन दिनों के अंदर सरकारी आंकड़ों के अनुसार 250 लोग मारे गए। घटना का विवरण एक प्रत्यक्षदर्शी ब्रिटिश अधिकारी ने प्रस्तुत किया है :

> शाम के चार बजे थे। मैं बंबई की मजदूर बस्ती परैल में एलफिस्टन रोड के कोने के पास सुपारीबाग रोड के बराबर में टहल रहा था।
>
> सड़क पर काफी लोग थे लेकिन उन्हें भीड़ नहीं कहा जा सकता था। कम्युनिस्ट पार्टी की सलाह पर इन लोगों ने अपने साथ कोई हथियार नहीं रखा था यहां तक कि इनके पास डंडे या पत्थर भी नहीं थे।
>
> अचानक बिना किसी चेतावनी के ब्रिटिश सैनिकों से लदी एक लारी एलफिस्टन रोड से गुजरी। इन सिपाहियों के पास राइफलें थीं और एक ब्रेनगन थी।
>
> लोग इधर उधर भागने लगे और मैं भी उन्हीं में शामिल हो गया लेकिन तभी गोरे सिपाहियों ने भागते हुए लोगों की तरफ गोली चलानी शुरू कर दी। बीस लोग घायल हुए और चार मारे गए।

इसके पीछे वजह क्या थी ?

ट्रेड यूनियनों ने नौसैनिक विद्रोह के समर्थन में आम हड़ताल का आह्वान किया था। यह हड़ताल सूती कपड़ा मिलों, कारखानों और रेलवे वर्कशापों में शतप्रतिशत सफल हुई थी।

किसी बड़े अधिकारी ने फैसला किया कि 'इन कलूटों को सबक सिखाया जाए', और उसके आदेश पर युद्ध के लिए तैयार हथियारबंद दस्ते लारियों में लादकर रवाना कर दिए गए और उन्हें आदेश दिया गया कि जहां भीड़ दिखाई दे फौरन गोलियां चला दो और किसी को पत्थर उठाने तक का मौका मत दो।

सड़कों पर कोई एंबुलेंस नहीं थी और लोगों को अपने ही आप अस्पताल जाना पड़ा।

बाद में डेलिजली रोड पर मैंने देखा कि गोरे सैनिक मजदूरों की चाल में घुस रहे हैं और घरों में बैठे लोगों पर गोलियां चला रहे हैं। इन चालों में चार लोग मारे गए और 16 घायल हुए।

परेल जिले में स्थापित किंग एडवर्ड मेमोरियल हास्पिटल में ही 50 व्यक्तियों की मौत हुई। परेल के अस्पतालों ने छः सौ घायलों में से दो सौ की चिकित्सा की।

तमाम अखबारों ने आपको 'गैरजिम्मेदाराना विद्रोह' की खबरें दी होंगी लेकिन इन अखबारों ने यह नहीं बताया होगा कि कैसिल बैरकों में अधिकारियों ने हड़तालियों को कैद कर दिया, उन्हें बिना खाना पानी दिए चारों तरफ से घेर लिया और अगर कोई पानी पीने बाहर निकला तो उसे गोलियों से भून दिया गया।

उन्होंने आपको भीड़ की हिंसा और उपद्रवी हरकतों के बारे में बताया होगा। उन्होंने यह नहीं बताया होगा कि जिस ट्रक पर सबसे पहले पथराव हुआ था उस ट्रक ने एक अनुशासनबद्ध जुलूस को अपनी तेज रफ्तार से रौंद दिया था।

अधाधुंध आतंक से अपनी जान और अपने परिवार की जान बचाने के लिए जनता द्वारा किया गया यह एक संयुक्त संघर्ष था।

वातावरण में एक ही शब्द गूंज रहा था और वह था, हम एक हैं। टोपधारी

सैनिकों को जिस दृश्य से सबसे ज्यादा घबराहट हो रही थी वह था कांग्रेस के तिरंगे झंडे, मुस्लिम लीग के आधे चांद वाले झंडे और कम्युनिस्ट पार्टी के लाल झंडे का जुलूस में एक साथ फहराया जाना। मुस्लिम लीग और कांग्रेस के झंडे 'नर्बदा' नामक जंगी जहाज के मस्तूल पर फहरा रहे थे।

जैसे ही हम अंदर घुसे और पीछे से सनसनाती हुई गोलियां निकल गईं, एक भारतीय ने मुझसे कहा—'यह है ब्रिटेन का समाजवाद जो इस समय अमल में है।' मेरी चिंता लेबर सरकार की प्रतिष्ठा को लेकर है जिसने 24 घंटों के अंदर वह समर्थन भी गंवा दिया जो इंडोनेशिया के बाद उसके पास बचा हुआ था।

सबसे बढ़कर मैं ब्रिटेन की जनता के सम्मान को लेकर चिंतित हूं। लगभग सारी गोलियां ब्रिटिश सैनिकों द्वारा चलाई गईं।

पुलिस को सबसे पीछे रखा गया था। मैंने एक भी भारतीय सैनिक नहीं देखा और मुझे बताया गया कि चूंकि सेना में भी असंतोष फैल गया है इसलिए सरकार ने डर के कारण दमन के इस कार्य में भारतीय सैनिकों को नहीं लगने दिया।

ब्रिटिश सैनिक किसी विशेष सैनिक दस्ते या सुरक्षा यूनिट के नहीं थे। वे साधारण रंगरूट थे और युद्ध के समय स्वयंसेवी सैनिकों के रूप में काम कर चुके थे। अर्थात वे वर्दी पहने ब्रिटिश मजदूर थे, लिसेस्टर रेजिमेंट, ऐसेक्स रेजिमेंट, दि रायल आर्टीलरी और दि रायल मैरींस के सैनिक थे।

अंत में 23 फरवरी को वल्लभभाई पटेल के दबाव से केंद्रीय हड़ताल कमेटी ने आत्मसमर्पण करने का फैसला किया। पटेल ने नाविकों को आत्मसमर्पण करने की सलाह दी थी और आश्वासन दिया था कि 'कांग्रेस इस बात की हर संभव कोशिश करेगी कि हड़ताली नाविकों से बदला न लिया जाए।' मुस्लिम लीग ने भी इसी तरह का आश्वासन दिया था। लेकिन दो दिनों के अंदर ही नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। हड़ताल समिति के अध्यक्ष ने अपने अंतिम वक्तव्य में कहा : 'हम भारत के सामने आत्मसमर्पण कर रहे हैं, ब्रिटेन के सामने नहीं।'

फरवरी में नौसेना के नाविकों के विद्रोह और बंबई की जनता के संघर्षों से यह बात काफी स्पष्ट हो गई थी कि 1946 में भारत में जो विस्फोटक स्थिति थी उसमें कौन सी शक्तियां किनके साथ थीं। एक तरफ तो इस आंदोलन से यह पता चला कि आंदोलन कितना विकसित हो चुका है, जनता में कितना जबरदस्त साहस और संकल्प है, और हिंदू मुस्लिम

एकता तथा कांग्रेस लीग एकता के लिए जनता कितनी व्यग्र है। यह भी पता चला कि आंदोलन का विस्तार सेना तक में हो गया है और अब ब्रिटिश शासन का आधार सुरक्षित नहीं रह गया है। दूसरी तरफ इस आंदोलन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि देश का वर्तमान नेतृत्व इन स्थितियों के लिए एकदम तैयार नहीं है और उसमें एकता का अभाव है और इसीलिए राष्ट्रीय संघर्ष का नेतृत्व करना उनके वश की बात नहीं है।

पहले मंच पर भाषण देने के लिए बराबर पहले जापानियों और फिर ब्रिटिश सेना के सामने आत्मसमर्पण करने के बाद सुभाषचंद्र बोस और उनकी इंडियन नेशनल आर्मी को, तथाकथित क्रांतिकारी राष्ट्रीय संघर्ष के प्रतीक के रूप में गौरवान्वित किया गया था। 1942 की घटनाओं को भी, जिन्होंने कभी जनसंघर्ष का रूप नहीं लिया, गौरवान्वित करने की काफी कोशिशें की गईं।

लेकिन अब, जबकि जनता का सही आंदोलन सचमुच शुरू हो चुका था, जब हिंदू मुस्लिम एकता कायम हो रही थी और उसपर अमल हो रहा था, जब सामूहिक राष्ट्रीय आंदोलन में सेना के जवानों ने आम नागरिकों के कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष शुरू कर दिया था और जब आजादी की सही लड़ाई ने ब्रिटिश शासन की जड़ें हिला दी थीं राष्ट्रीय आंदोलन के बड़े नेताओं के रुख में जबरदस्त तब्दीली दिखाई पड़ी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उच्चवर्गीय नेता जनआंदोलनों के खिलाफ हो गए और जनता के विरुद्ध कानून और व्यवस्था के प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पक्ष लिया। इन नेताओं की तरफ से एक के बाद एक बयान निकाले गए जिनमें 'हिंसा' की निंदा की गई थी, लेकिन यह निंदा उन साम्राज्यवादियों की हिंसा की नहीं थी जिन्होंने तीन दिनों के भीतर सैकड़ों लोगों को गोलियों से भूनकर मौत के घाट उतार दिया था बल्कि इनमें उन निहत्थे हड़तालियों की भर्त्सना की गई थी जिन्हें निर्ममतापूर्वक गोलियों से भून दिया गया था। वल्लभभाई पटेल ने एक बयान जारी किया जिसमें कहा गया था कि नौसेना के नाविकों को हथियार नहीं उठाना चाहिए था और पटेल ने यह भी कहा कि 'मैं कमांडर इन चीफ की इस बात से सहमत हूं कि नौसेना में अनुशासन जरूरी है।' कांग्रेस अध्यक्ष आजाद ने कहा :

> हड़तालों या देश की अस्थाई सरकार के आदेशों का उल्लंघन करने का अब समय नहीं है। इस समय विदेशी शासकों से किसी बात पर लड़ने का वक्त नहीं है क्योंकि वे देखभाल करने वाली सरकार के रूप में फिलहाल काम कर रहे हैं।

गांधी ने अपने एक महत्वपूर्ण बयान में हिंदुओं और मुसलमानों की 'नापाक एकता' की भर्त्सना की क्योंकि वह अहिंसा के सिद्धांत को ठुकरा कर स्थापित हुई थी :

> यदि वे ऊपर से नीचे तक एकताबद्ध होते तो बात मेरी समझ में आ सकती थी।

> तब निस्संदेह इसका अर्थ यह होता कि भारत को निकृष्ट कोटि के अव्यवस्थित लोगों के हाथों में सौंप दिया गया। मैं इस काम का अंजाम देखने के लिए 125 साल तक जीना नहीं चाहता। इसके बजाय मैं चिता की लपटों को समर्पित हो जाना चाहूंगा। ('हरिजन', 7 अप्रैल 1946)

इस प्रकार देश के सुधारवादी नेताओं और जनआंदोलन के बीच की खाई, जो पहले भी 1922 में चौरीचौरा कांड के बाद और 1931 में गांधी इर्विन समझौते के बाद प्रकट हो चुकी थी, अब और भी ऊंचे धरातल पर सामने आ गई। कांग्रेस शासकों के खिलाफ मिला-जुला संघर्ष चलाने के लिए हिंदुओं और मुसलमानों की एकता को देश की राष्ट्रीय आजादी का रास्ता न समझकर एक ऐसा खतरा समझा गया जिसको रोकने की जरूरत महसूस की गई क्योंकि ऐसी स्थिति में भारत में आम जनता की विजय होती ('भारत को निकृष्ट कोटि के अव्यवस्थित लोगों के हाथ में सौंपना, एक ऐसा उद्घाटक वाक्य है जो आम जनता के प्रति उच्चवर्गीय नेतृत्व की शत्रुता को प्रकट करता है)। भारतीय उच्चवर्ग ने अंगरेजों को दमनकारी शासक न समझ 'देखभाल करने वाला' शासक माना। उस संकट की घड़ी में भारत की स्थिति में छिपी क्रांतिकारी शक्तियों के भय से उच्चवर्ग का इतना पतन हो गया था कि वह साम्राज्यवादियों की ओर ही झुकता चला गया। पहले भी जब जब भारत में जनसंघर्ष अपने उत्कर्ष पर पहुंचता था यही स्थिति दिखाई पड़ती थी। और आज, जब भारत का स्वाधीनता संघर्ष अपने अत्यंत नाजुक दौर से गुजर रहा है, यह बात एक बार फिर सही साबित हो रही है।

अंगरेज शासकों ने राष्ट्रीय मोर्चे की इस कमजोरी को भांपने में तनिक भी देर न की और उन्होंने इस कमजोरी का पूरा लाभ उठाया। जैसा बाद की कैबिनेट मिशन की कार्यवाहियों से पता चला, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की संपूर्ण कार्यनीति कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को इस्तेमाल करने की हो गई। ब्रिटिश साम्राज्यवादी इन नेताओं में एक तरफ तो उनके अंदर यह आश्वासन पैदा करते थे कि सत्ता का हस्तांतरण शांतिपूर्ण ढंग से उन्हें कर दिया जाएगा और दूसरी तरफ वे उन्हें जनता का डर दिखाते थे तथा उनके आपसी मतभेदों और विद्वेषों का फायदा उठाते थे।

18 फरवरी को बंबई में नौसेना के नाविकों की हड़ताल शुरू हुई। 19 फरवरी को प्रधान-मंत्री एटली ने हाउस आफ कामंस में एलान किया कि एक कैबिनेट मिशन भारत भेजा जाएगा।

3. कैबिनेट मिशन

मार्च 1946 में कैबिनेट मिशन भारत पहुंचा। इसकी हिदायतों में उसी नीति पर अमल किया गया जिसका सितंबर 1945 में वायसराय ने अपने रेडियो प्रसारण में एलान किया था। सितंबर 1945 में वायसराय ने अपने रेडियो प्रसारण में कहा था :

सरकार का यह इरादा है कि जितनी जल्दी संभव हो संविधान का निर्माण करने वाले एक निकाय का गठन किया जाए। और इसके प्रारंभिक कदम के रूप में उसने मुझे यह अधिकार दिया है कि चुनावों के फौरन बाद में विभिन्न सूबों में विधानसभाओं के प्रतिनिधियों से बातचीत करके यह पता लगाऊं कि 1942 की घोषणा में शामिल प्रस्ताव स्वीकार्य हैं या कोई संशोधित अथवा वैकल्पिक योजना पसंद की जाएगी।

भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों के साथ भी बातचीत की जाएगी ताकि यह पता लगाया जा सके कि संविधान का निर्माण करने वाले निकाय में वे किस तरह अधिक से अधिक सक्रिय रह सकते हैं।

सरकार उस संधि की मुख्य बातों पर विचार करने को सोच रही है जो ग्रेट ब्रिटेन और भारत के बीच संपन्न होनी है।

जब तक ये तैयारियां पूरी नहीं हो जातीं भारत सरकार को अपना काम जारी रखना चाहिए···इसलिए ब्रिटेन सरकार ने मुझे इस बात का अधिकार दिया है कि प्रांतीय चुनावों के परिणाम प्रकाशित होने के फौरन बाद मैं एक ऐसी कार्यकारी परिषद का गठन करूं जिसको भारत की सभी प्रमुख पार्टियों का समर्थन प्राप्त हो···

यह देखा जा सकता है कि इस बयान में संशोधन की संभावना के साथ सामान्य तौर पर उसी नीति का पालन किया गया है जो 1942 में क्रिप्स प्रस्तावों में पेश की गई थी। वायसराय के रेडियो प्रसारण के साथ ही प्रधानमंत्री ने एलान किया :

भारत के प्रति ब्रिटिश नीति की जो व्यापक परिभाषा 1942 की घोषणा में दी गई है और जिसे इस देश की सभी पार्टियों का समर्थन प्राप्त है वह आज भी अपनी समग्रता और उद्देश्य में ज्यों की त्यों है।

1946 के शुरू के महीनों में चुनाव कराए गए। परिणानों को देखने से पता चला कि देश का जनमत दो बड़े राजनीतिक संगठनों के साथ है जो स्वाधीनता का लक्ष्य लेकर चल रहे हैं, सामान्य सीटों पर लोगों ने कांग्रेस को और मुस्लिम सीटों पर मुस्लिम लीग को पसंद किया है। इसके साथ ही यह भी पता चला कि अलग अलग खानों में बंटे छोटे-मोटे राजनीतिक गुटों का अस्तित्व अब अपेक्षाकृत समाप्त हो गया है। इन छोटे-मोटे गुटों में हिंदू महासभा या पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी और मद्रास में जस्टिस पार्टी जैसे राजनीतिक गुट हैं। केंद्रीय विधानसभा में (जिसका निर्वाचन अत्यंत सीमित मताधिकार पर हुआ था। इसमें ब्रिटिश भारत की आबादी के एक प्रतिशत के आधे से भी कम लोगों को वोट देने का अधिकार था) कांग्रेस को 56 स्थान मिले (जो पहले 36 थे) और उसे सभी सामान्य

सीटों पर 91 प्रतिशत तथा कुल वोट का 59 प्रतिशत भाग मिला। मुस्लिम लीग को सभी 30 मुस्लिम सीटों पर सफलता मिली (पहले उसे 25 सीटें मिली थीं) और उसे 86 प्रतिशत मुस्लिम वोट तथा कुल वोट का 27.6 प्रतिशत भाग मिला। प्रांतीय विधानसभा चुनावों में आबादी के 11 प्रतिशत लोगों ने और बालिग आबादी के 1/5 से 1/4 हिस्से ने भाग लिया। इनमें कांग्रेस को 930 सीटें मिलीं जबकि 1937 में उसे महज 715 सीटें मिली थीं और उसे कुल 55.5 प्रतिशत वोट मिले जबकि मुस्लिम लीग को 507 मुस्लिम सीटों में 427 सीटें प्राप्त हुईं जबकि 1930 में उसे महज 108 सीटें मिली थीं और कुल मुस्लिम वोट का 74.3 प्रतिशत उसने प्राप्त किया। यह पहला मौका था जब कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव में हिस्सा ले सकी और उसे 8 स्थान तथा 6,84,928 वोट प्राप्त हुए।

19 फरवरी को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने एलान किया कि तीन कैबिनेट मंत्रियों, भारतीय मामलों के मंत्री पैथिक लारेंस, बोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष स्टैफोर्ड क्रिप्स और नौपरिवहन मंत्री लार्ड एडमिरलिटी एलेक्जेंडर को भारत भेजा जा रहा है। इस घोषणा के साथ ही एक दूसरे बयान के जरिए कैबिनेट मिशन के विचारार्थ विषयों का एलान किया गया था जिसमें कहा गया कि मिशन का उद्देश्य भारतीय जनता के नेताओं के सहयोग से भारत में पूर्ण स्वराज्य शीघ्र स्थापित करने के काम को बढ़ावा देना है। इस दिशा में कैबिनेट मिशन को जो कदम उठाने थे उनमें ये बातें शामिल थीं :

1. ब्रिटिश भारत के निर्वाचित प्रतिनिधियों और देशी रियासतों के साथ प्रारंभिक बातचीत करना ताकि संविधान की निर्माण विधि पर सहमति की अधिक से अधिक गुंजाइश पैदा की जा सके।
2. संविधान बनाने वाले निकाय का गठन करना।
3. एक ऐसी कार्यकारी कौंसिल की स्थापना करना जिसको भारत की प्रमुख राजनीतिक पार्टियों का समर्थन प्राप्त हो।

15 मार्च को कैबिनेट मिशन की रवानगी के अवसर पर संसद के अधिवेशन में प्रधानमंत्री ने एक और नीति संबंधी वक्तव्य जारी किया (देखें पहला अध्याय) जिसकी दो बातों ने काफी लोगों का ध्यान आकर्षित किया। पहली बात तो यह थी कि इस वक्तव्य में 'स्वतंत्रता' शब्द का इस्तेमाल पहली बार किया गया था जिसे भारत के डोमीनियन राज्य चुने जाने के संभावित विकल्प के रूप में कहा गया था :

> भारत को खुद यह तय करना चाहिए कि उसकी भावी स्थिति क्या होगी और विश्व में उसका क्या स्थान होगा। मुझे आशा है कि भारत शायद ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत रहना पसंद करे, लेकिन इसके बजाय यदि वह स्वतंत्रता चाहता है, और हमारे विचार से उसे यह चाहने का पूरा हक है, तो हमें चाहिए कि हम इस हस्तांतरण को जहां तक संभव हो आसान और बाधारहित बनाएं।

दूसरी बात अल्पसंख्यकों के प्रश्न से संबद्ध थी :

> हम अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बारे में काफी सचेत हैं और अल्पसंख्यकों को भय से मुक्त वातावरण में रहने की सुविधा मिलनी चाहिए। दूसरी तरफ हम किसी अल्पसंख्यकवर्ग को इस बात की अनुमति नहीं दे सकते कि वह बहुसंख्यकवर्ग के विकास के खिलाफ अपने निषेधाधिकार का इस्तेमाल कर सके।

भारत के सांविधानिक विकास के एक संभावित लक्ष्य के रूप में 'स्वतंत्रता' के जिक्र का काफी स्वागत किया गया। इसे यह माना गया कि ब्रिटिश सरकार अब तक चली आ रही अपनी नीति से अलग हट रही है, साथ ही इसे भारत और ब्रिटेन के संबंधों में एक नए रुझान का प्रमाण माना गया। बहस में टोरी प्रवक्ताओं ने मतैक्यता का परिचय दिया जो बात काफी संदिग्ध थी। भारत में ब्रिटिश शासन के अत्यंत सक्रिय और घोर समर्थक व्यक्ति सर स्टैनले रीड जैसे लोगों ने भी कहा कि 'स्वतंत्रता शब्द का इस्तेमाल करने में किस तरह की हिचकिचाहट पैदा हो रही है?' फिर भी अत्यंत चौकस और परिकल्पित यह प्रस्ताव कि ब्रिटिश शासकों द्वारा निर्धारित की जाने वाली कार्यपद्धति और स्थिति से संपन्न अजनतांत्रिक संविधाननिर्माता निकाय को डोमीनियन और स्वतंत्रता में से चुनाव करना होगा, दरअसल नीति की कोई नई व्याख्या नहीं पेश करता था। 1942 में क्रिप्स द्वारा पेश किए गए प्रस्ताव में यह बात पहले ही कही जा चुकी थी जिसे टोरी बहुमतवाले मंत्रिमंडल ने अपनी स्वीकृति दे दी थी :

> ब्रिटिश सरकार का प्रस्ताव है कि भारत में जल्दी से जल्दी स्वराज्य कायम करने के उद्देश्य से एक ऐसे नए भारतीय संघ की स्थापना की दिशा में कदम उठाए जाने चाहिए जिसको पूरा पूरा डोमीनियन का दरजा प्राप्त हो और जो चाहे तो, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अपने को अलग कर सके।

राजनीतिक विकास रोकने के लिए अल्पसंख्यकवर्ग को वीटो की अनुमति देने से इंकार करने का वादा शिमला सम्मेलन की स्थिति से आगे बढ़ने का द्योतक है और इससे वर्तमान राजनीतिक गतिरोध को समाप्त करने के संकल्प का पता चलता है। लेकिन, बाद में सरकारी स्तर पर भारत में दी गई व्याख्याओं में बताया गया कि अल्पसंख्यकवर्ग का अर्थ यहां मुसलमानों से नहीं है और इस व्याख्या ने सरकारी नीति में तथाकथित परिवर्तन के महत्व को समाप्त कर दिया।

कैबिनेट मिशन ने शुरू के कुछ सप्ताहों की अपनी कार्यवाहियों के दौरान गवर्नरों, राजाओं, प्रांतों के प्रधानमंत्रियों तथा विपक्षी नेताओं और कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा अन्य संगठनों के प्रतिनिधियों से अलग अलग भेंट की और बातचीत की। इन लोगों से अलग अलग बातचीत करके दुनिया को यह दिखाया गया कि भारत में विभिन्न राजनीतिक गुटों और

खासतौर से कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच काफी मतभेद हैं और ये अलग अलग गुटों में बंटे हैं। ईस्टर की छुट्टियों के बाद मिशन की कार्यवाही का दूसरा चरण शुरू हुआ और मिशन ने कांग्रेस तथा लीग के बीच कोई समान आधार ढूंढने की दृष्टि से विचार विमर्श शुरू किया। मिशन ने इस तरह के आधार के लिए प्रस्ताव पेश किए और मिशन, कांग्रेस तथा लीग के बीच त्रिपक्षीय बातचीत के लिए आयोजित शिमला सम्मेलन को 5 मई से स्थगित करके 12 मई कर दिया गया। यह दूसरा शिमला सम्मेलन भी एक वर्ष पूर्व आयोजित शिमला सम्मेलन की ही तरह बिना किसी फैसले पर पहुंचे समाप्त हो गया। इस प्रकार कैबिनेट मिशन की कार्यवाहियों के प्रथम सात सप्ताहों ने ब्रिटेन के फैसले के लिए जमीन तैयार कर दी।

16 मई को कैबिनेट मिशन के वायसराय तथा ब्रिटिश कैबिनेट के साथ अपनी नीति से संबंधित एक वक्तव्य जारी किया। नीति संबंधी इस वक्तव्य में फैसले और सिफारिशें दोनों बातें थीं: संविधानसभा की स्थापना और इसके संघठन तथा इसकी कार्यपद्धति के संदर्भ में उठाए जाने वाले तात्कालिक कदमों के बारे में फैसले लिए गए थे तथा भावी संविधान के प्रबंध सिद्धांतों के संदर्भ में कुछ सिफारिशें की गई थीं। इन सिफारिशों में संविधान-सभा द्वारा संशोधन किया जा सकता था जबकि ये फैसले मंजूर या नामंजूर करने के लिए रखे गए थे। चूंकि तथ्य रूप में ये फैसले उन सभी महत्वपूर्ण कदमों को संचालित करते थे जिन्हें अनिवार्य रूप से संविधान के चरित्र को आगे चलकर निर्धारित करना था इसलिए नीति संबंधी यह वक्तव्य, दरअस्ल, ब्रिटेन द्वारा लिए गए एकतरफा फैसले द्वारा थोपा गया था (हालांकि शर्त से बचा गया था)।

कैबिनेट मिशन के साथ बातचीत में भारतीय प्रतिनिधियों की सबसे बड़ी कमजोरी यही थी कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग अलग अलग खेमों में बंटे हुए थे। चुनावों के परिणामों ने दोनों पार्टियों की ताकत की पुष्टि कर दी थी और इससे इस फूट को और बल मिला था। अगर कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने मिलजुलकर एक मंच से काम करने की कोशिश की होती तो कैबिनेट मिशन इतनी आसानी से आजादी की घोषणा करने और सत्ता का हस्तांतरण करने की व्यापक मांग से कतरा नहीं सकता था। दूसरी ओर कांग्रेस और मुस्लिम लीग, भावी संविधान पर तत्काल सहमत न होने पर भी, यदि मिशन के सामने कोई संयुक्त मोर्चा बना पाते और मिशन द्वारा अलग अलग चलाई जा रही बातचीत को नामंजूर करते तथा इस बात की मांग करते कि तत्काल आजादी की घोषणा की जाए और सत्ता का हस्तांतरण किया जाए (साथ ही संविधान के स्वरूप के बारे में अन्य तमाम प्रश्नों को यह मानकर छोड़ दिया जाता कि ये घरेलू राजनीति के मामले हैं और इन्हें बिना किसी तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप के देश के राजनीतिक संगठन स्वयं हल कर लेंगे) तो अंगरेज शासकों को पहल करने से रोका जा सकता था और ब्रिटेन के लिए एकतरफा फैसला लेना असंभव हो जाता। दुर्भाग्यवश कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों पार्टियों के नेतागण एक दूसरे की बजाय मिशन के साथ गोपनीय और घनिष्ठ बातचीत

के लिए ज्यादा उत्सुक थे और वे एक दूसरे के विरुद्ध अपने दावों की पूर्ति के लिए मिशन का समर्थन प्राप्त करना चाहते थे। इसलिए एक ऐसी स्थिति पैदा हो गई जिसमें अंगरेजी शासकों को दुनिया के सामने यह ढिंढोरा पीटने का मौका मिल गया कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग में जबरदस्त फूट है और यह फूट ही भारत को आजादी मिलने के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है। अपने इसी दुष्प्रचार के आधार पर ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को भारत की भावी राजनीति के बारे में अपना फैसला थोपने का मौका मिल गया जिसे उन्होंने अनिवार्य और एकमात्र फैसला घोषित किया।

4. 1946 के नए सांविधानिक प्रस्ताव

कैबिनेट मिशन ने 16 मई की अपनी घोषणा में निम्न प्रस्ताव पेश किए :

1. भावी संविधान के लिए सुझाव

(क) ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को मिलाकर भारत का एक संघ बनाया जाना चाहिए जो विदेश, रक्षा और संचार संबंधी मामलों की देखरेख करे तथा जिसके पास जनता के लिए आवश्यक वित्तीय साधनों की व्यवस्था करने का अधिकार हो।

(ख) संघ की अपनी कार्यपालिका और विधायिका होनी चाहिए जिसमें ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि शामिल हों।
विधानमंडल में किसी महत्वपूर्ण सांप्रदायिक मामले से संबद्ध प्रश्न पर फैसला लेने के लिए उपस्थित प्रतिनिधियों का बहुमत तथा दो प्रमुख समुदायों (कांग्रेस और मुस्लिम लीग) का मतदान जरूरी है—साथ ही सभी उपस्थित सदस्यों का बहुमत और मतदान जरूरी है।

(ग) संघ विषयों से अलग सभी विषय तथा अवशिष्ट अधिकार प्रांतों में निहित होने चाहिए।

(घ) संघ को सत्तांतरित विषय और अधिकारों के अलावा सभी विषय और अधिकार राज्य के होने चाहिए।

(ङ) प्रांतों को कार्यपालिकाओं और विधानांगों सहित समूहों के गठन की छूट होनी चाहिए और प्रत्येक समूह को यह अधिकार होना चाहिए कि वह प्रांतों के लिए समान विषय निर्धारित कर सके।

(च) संघ और समूहों के संविधानों में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे कोई प्रांत अपनी विधानसभा के बहुमत से कम से कम दस वर्षों के बाद और बाद में दस दस वर्ष के अंतराल से संविधान की शर्तों पर पुनर्विचार का दावा कर सके।

2. संविधान बनाने वाले तंत्र के लिए प्रस्ताव

(क) 389 सदस्यों की संविधानसभा बनाई जाए; इनमें से 292 सदस्य ब्रिटिश भारत के प्रांतों से लिए जाएं जिनका सामान्य, मुस्लिम और सिख समुदाय के लिए आबादी के अनुसार निर्धारित पृथक सीटों से सांप्रदायिक आधार पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन किया जाए और यह काम प्रांतों की मौजूदा विधान-सभाएं करें; रियासतों से 93 लोगों का चुनाव किया जाए और चुनाव का तरीका आपसी सलाह-मशविरे से तय हो।

(ख) प्रांतों का तीन भागों में विभाजन :

(अ) जो हिंदूबहुल क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करें (मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्यप्रांत और उड़ीसा)।

(ब) जो उत्तर पश्चिम के मुस्लिमबहुल क्षेत्रों का (पंजाब, उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत, सिंध और बलूचिस्तान) और उत्तर पूर्व के मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों का (बंगाल और असम) प्रतिनिधित्व करें। इन समूहों के प्रतिनिधि प्रत्येक समूह में संबद्ध प्रांतों के लिए संविधान निर्धारित करने के लिए अलग अलग मिला करेंगे। प्रांतों को नए संविधान के बनने तथा इस आधार पर प्रथम चुनावों के होने के बाद ही अपनी पसंद तय करने का अधिकार होगा।

(स) अपेक्षाकृत छोटे अल्पसंख्यकों के लिए सलाहकार समिति बनाई जाए।

(द) संघ का संविधान निर्धारित करने के लिए संघीय संविधानसभा बनाई जाए। महत्वपूर्ण सांप्रदायिक मसलों से संबद्ध प्रस्तावों के लिए उपस्थित प्रतिनिधियों के बहुमत की और दोनों बड़े समुदायों में से प्रत्येक के मतदान की आवश्यकता होगी।

3. राज्य

नए भारतीय संघ में राज्यों के सहयोग का आधार बातचीत द्वारा तय किया जाएगा। प्रारंभिक चरण में राज्यों के प्रतिनिधित्व के बारे में एक प्रबंधसमिति निर्णय लेगी।

स्वाधीनताप्राप्ति के बाद ब्रिटेन की सर्वोच्चता समाप्त हो जाएगी।

4. ब्रिटिश भारतीय संधि

संघीय संविधानसभा और ग्रेट ब्रिटेन के बीच एक ब्रिटिश भारतीय संधि संपन्न की जाएगी।

5. अंतरिम सरकार

'प्रमुख राजनीतिक पार्टियों के समर्थन से एक अंतरिम सरकार' के गठन की सिफारिश का काम वायसराय अपनी कार्यकारी कौंसिल के पुनर्गठन के आधार पर करेगा

कैबिनेट मिशन की योजना पर तात्कालिक प्रतिक्रिया मिश्रित थी। सामान्य तौर पर अंगरेजों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की और कहा कि ये प्रस्ताव भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने तथा भारतीय जनता को अपना संविधान स्वयं बनाने का अधिकार देने के वादे को पूरा करते हैं। टोरी पार्टी के दक्षिणपंथी खेमे के एक वर्ग ने जिसका प्रतिनिधित्व चर्चिल करते थे, अपनी आलोचना में इस आम दृष्टिकोण पर ही जोर दिया क्योंकि यह आलोचना भी उसी धारणा पर आधारित थी कि इस योजना में भारत को आजादी देने की बात निहित है।

इस मिशन के प्रति भारत में जो टिप्पणियां हुईं उनका दृष्टिकोण और भी विविधता लिए हुए था। गांधी ने शुरू से अंत तक बातचीत के दौरान इस कैबिनेट मिशन के और अंगरेज सरकार के सद्भाव और ईमानदारी की प्रशंसा करने में बेहद चुस्ती दिखाई थी ('वे हमें धोखा नहीं देंगे'—ये थे गांधी के शब्द जिनसे पता चलता है कि विद्रोह के लिए उठ खड़े देश के नेता का दमनकारियों के प्रति क्या रवैया था) उन्होंने इस योजना का स्वागत किया और कहा 'इसमें ऐसे बीज हैं जो इस दुखदर्दभरी धरती को एक ऐसी धरती में बदल देंगे जहां न दुख होगा और न यातना होगी।' कांग्रेस के अधिकांश प्रमुख नेताओं की टिप्पणियां समर्थन और आलोचना का मिलाजुला रूप थीं। मुस्लिम लीग ने तब तक अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने में बहुत सतर्कता बरती और एक अनिश्चित रुख दिखलाया जब तक जिन्ना ने एलान नहीं कर दिया कि इस योजना ने 'पाकिस्तान के लिए बुनियाद और आधार प्रदान किया है।' वामपंथी कांग्रेस के लोगों की राय खुलेआम विरोधात्मक थी। फ्री प्रेस जनरल ने इस योजना की भर्त्सना करते हुए इसे 'भारत के भविष्य को बिगाड़ने के लिए ब्रिटेन द्वारा प्रस्तुत योजना' बताया है। कम्युनिस्ट नेता पी०सी० जोशी ने इस योजना की निंदा करते हुए कहा : 'भारत को अपने उपनिवेशवाद का सबसे बड़ा आधार बनाए रखने के लिए ब्रिटेन की यह एक साम्राज्यवादी चाल है।' और इसके जरिए ब्रिटेन 'स्वाधीनता का क़ानून पारित होने से रोक रहा है ताकि भारत की जनता हमेशा आपस में लड़ती रहे।'

योजना की घोषणा के बाद लंबी बातचीत का दौर चला। 27 मई को कांग्रेस कार्यसमिति ने अपने रुख के बारे में एक अनंतिम बयान जारी किया। कांग्रेस के प्रस्ताव ने अंतिम फैसले को रोक लिया लेकिन कांग्रेस की नीति और योजना में अनेक विरोधी बातें दिखाई दीं जो खासतौर से अंतरिम सरकार की अवधि में सैनिक कब्जा बनाए रखने ('आजादी न देने की स्थिति में विदेशी आधिपत्य सेना की मौजूदगी बराबर बनी रहेगी'), संविधान-सभा में यूरोपीयों का प्रतिनिधित्व होने, प्रांतों का अनिवार्य वर्गीकरण करके प्रांतीय

स्वायत्तता का उल्लंघन करने, रियासतों में जनतंत्र की कोई गुंजाइश न होने तथा प्रस्तावित अंतरिम सरकार के अधिकारों के सीमित होने के संदर्भ में थीं।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी आधिकारिक समाचारपत्रक ने 1 जून को अपनी आलोचना विस्तार से प्रकाशित की और कहा कि इस योजना के जरिए :

> मार्च 1942 में ही सर्वश्री चर्चिल और एमेरी ने जो कुछ देने की इच्छा जाहिर की थी उससे बेहतर चीज हम नहीं पा सके।
>
> जिस आजादी का वादा किया गया है, उसके चारों तरफ पाबंदियों का ऐसा घेरा डाल रखा गया है कि इसे आजादी नाम देना ही गलत है। तथाकथित संविधानसभा यथार्थ में कोई प्रभुसत्तासंपन्न संस्था नहीं होगी बल्कि वह इसका दिखावा भर होगी। संघ और प्रांत दोनों, प्रांतों के कुछ मनमाने वर्गीकरण की दया पर निर्भर रहेंगे। सांप्रदायिक आधार पर विभाजित भारत में संभव लगभग सभी दोष इस योजना में हैं। पाकिस्तान के निर्माण की क्षतिपूर्ति के रूप में प्रांतीय इकाइयों को जो एकरूपता और संप्रभुता प्राप्त हो सकती थी उसकी भी कोई संभावना इसमें नहीं है।
>
> मुद्रा, बैंकिंग, चुंगी और योजना पर नियंत्रण न होने की वजह से केंद्र सरकार इतनी कमजोर होगी कि वह आधुनिक औद्योगिक परिस्थितियों में देश की आर्थिक प्रगति का दिशा निर्देश नहीं कर सकेगी…।
>
> राष्ट्रीय हित सांप्रदायिक ही नहीं बल्कि उससे भी ज्यादा सामंती हितों के मातहत हो गए हैं। केंद्र के साथ भविष्य में रियासतों के क्या संबंध होंगे इसका फैसला राजा साहब करेंगे न कि उनकी जनता… …
>
> यह योजना न तो आसान है और न आसानी से कार्यान्वित करने योग्य है।
>
> प्रभुसत्ता को इतने बढ़िया ढंग से संघीय केंद्र, उपसंघीय समूहों, प्रांतीय यूनिटों और राजाओं के बीच बांट रखा गया है (शाही सरकार की तो बात ही दूर जिसके आदेश संविधान बनने के बाद भी सर्वोपरि होंगे) कि इसकी तलाश हमेशा एक समस्या बनी रहेगी……
>
> प्रतिबंधों, शर्तों, सुरक्षा उपायों और एक के विरुद्ध दूसरे हितों के संतुलन के इस जंगल में एक मुक्त और स्वाधीन भारत की तस्वीर साफ साफ देख पाना बहुत कठिन है।

> अभी तक सांप्रदायिक और सामंती हित, भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी खेल का मुख्य सहारा रहे हैं। उन्हें तथाकथित स्वतंत्र भारत में एक स्थाई और प्रभावकारी विशिष्टताओं के रूप में बनाए रखने की कोशिश से यह संदेह पैदा होता है कि ब्रिटिश सरकार अपने पूर्ववर्ती शासकों की परंपरागत नीति त्यागने में असमर्थ है।

24 मई के कांग्रेस प्रस्ताव के जवाब में कबिनेट मिशन ने 25 मई को एक और वक्तव्य जारी किया तथा सफाई पेश की। इस वक्तव्य में अन्य मुद्दों के अलावा यह स्पष्ट किया गया था :

1. 'यह योजना अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत है' अर्थात् इसे पूरी तरह स्वीकार या अस्वीकार किया जाए।
2. प्रांतों को तब तक अपनी पसंद के अनुसार समूहों के चुनाव का अधिकार नहीं हो सकता जब तक एक संविधान की स्थापना न कर दी गई हो, उसे अमल में न लाया गया हो तथा चुनाव न हो गए हों।
3. भविष्य में भारत को प्रभुसत्ता दो शर्तों के अधीन दी जाएगी :
   (क) 'अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था'
   (ख) 'ब्रिटिश सरकार के साथ एक संधि करने पर सहमति जिसके अंतर्गत सत्ता हस्तांतरण से उत्पन्न सभी मसले आ जाएं।'
4. संविधानसभा में रियासतों के प्रतिनिधित्व के मसले को उनकी सलाह के जरिए ही हल किया जा सकता है और 'यह ऐसा मामला नहीं है जिसपर शिष्टमंडल कोई फैसला ले।'
5. अंतरिम सरकार की अवधि में वर्तमान संविधान जारी रहना चाहिए और इसीलिए अंतरिम सरकार कानूनी तौर पर केंद्रीय विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं होगी।
6. अंतरिम सरकार की अवधि में सैनिक कब्जा जारी रहना चाहिए। इस अवधि में ब्रिटिश संसद पर वर्तमान संविधान के अंतर्गत, भारत की सुरक्षा की पूरी जिम्मेदारी है और इसलिए यह जरूरी है कि ब्रिटिश सैनिक यहां बने रहें।

संविधानसभा के चुनावों के लिए बाद में जो तैयारियां की गईं उनसे पता चला कि संविधानसभा के सदस्यों को पहले से ही सांविधानिक योजना को स्वीकार और कार्यान्वित करने का संकल्प करना जरूरी था।

योजना के निहितार्थों से इसके वास्तविक चरित्र का और भी स्पष्टता से पता चला कि यह एक थोपा हुआ फैसला है और कांग्रेस तथा वामपंथी राष्ट्रीय विचारधारा के उल्लेखनीय हिस्सों में इस योजना के प्रति जबरदस्त विरोध की भावना पैदा हुई।

6 जून को मुस्लिम लीग ने अपना यह कथन दुहराते हुए कि 'पूर्ण प्रभुसत्तासंपन्न पाकिस्तान की स्थापना ही अब भी भारत के मुसलमानों का अटल उद्देश्य है', यह एलान किया कि 'जब तक इस योजना में पाकिस्तान की बुनियाद और इसका आधार निहित है, मस्लिम लीग दीर्घकालिक और अंतरिम दोनों प्रस्तावों को पूरी तरह स्वीकार करती है।

अंतरिम सरकार के संविधान के लिए बातचीत शुरू हो गई और इसके लिए अल्पसंख्यकों के मुख्य प्रतिनिधियों के रूप में कांग्रेस और लीग के मिलेजुले प्रतिनिधित्व को आधार बनाया गया। इन समझौता वार्ताओं से वे संघर्ष और मतभेद तत्क्षण सामने आ गए जो व्यवहार में योजना के कार्यान्वयन के लिए हर कदम पर निरंतर थे। अंतरिम सरकार के संघटन के बारे में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। समझौता होने की स्थिति में ब्रिटिश शासकों ने एक बार फिर वचन भंग किया और 16 जून के निर्णय की घोषणा की। अंतरिम सरकार के प्रस्तावित संघटन की घोषणा कांग्रेस के 5 प्रतिनिधियों (सभी हिंदू और कोई भी मुसलमान कांग्रेसी नहीं), मुस्लिम लीग के 5 प्रतिनिधियों तथा अल्पसंख्यकों के 4 प्रतिनिधियों (सिख, इसाई, हरिजन और पारसी। साथ में कांग्रेस को एक अतिरिक्त घूस कि हरिजन एक कांग्रेसी हरिजन है इस प्रकार कांग्रेस को 6 सीटें देकर) के आधार पर की गई थी। यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सरकार में शामिल होने का 'आधार यह होगा कि संविधान बनाने का काम 15 मई के बयान के अनुसार होगा।'

अंतरिम सरकार के इस प्रस्तावित संघटन का काफी विरोध हुआ, खासतौर से मुसलमान कांग्रेसी को अलग रखने के संदर्भ में जिसके कारण कांग्रेस एक हिंदू संस्था बनकर रह जाती थी। 24 जून को कांग्रेस ने अंतरिम सरकार की योजना को नामंजूर करने की घोषणा की लेकिन इसका अनुसरण उसने संविधान सभा में भाग लेना स्वीकार करके किया। कांग्रेस कार्यसमिति के 26 जून के प्रस्ताव में कैबिनेट मिशन की 'खामियों' पर जोर दिया गया था 'फौरन आजादी' और सामाजिक प्रगति का लक्ष्य प्राप्त करने की कांग्रेस की नीति को दुहराया गया तथा एलान किया गया कि इस योजना में इन लक्ष्यों का अभाव है। कांग्रेस के प्रस्ताव में योजना को स्वीकार करने की घोषणा नहीं की गई बल्कि एक 'स्वतंत्र संयुक्त और जनतांत्रिक भारत का संविधान बनाने के उद्देश्य से' प्रस्तावित संविधानसभा में शामिल होने का फैसला लिया गया। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वे इसमें अपनी व्याख्या और कानूनी सलाह के साथ शामिल होंगे तथा वे प्रांतों का अनिवार्य वर्गीकरण नहीं स्वीकार करेंगे।

इस घोषणा के बाद कैबिनेट मिशन और वायसराय ने एलान किया कि अस्थाई राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के सिलसिले में जब तक आगे बातचीत नहीं होती है, अधिकारियों की एक अंतरिम प्रभारी सरकार बना ली जाए।

29 जून को कैबिनेट मिशन भारत से रवाना हो गया।

दुनिया के सामने 1946 की नई सांविधानिक योजना को भारत की आजादी की योजना के रूप में पेश किया गया था। तो भी इसकी धाराओं की जांच-पड़ताल करें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि वस्तुतः 1942 की क्रिप्स योजना को ही दुहराया गया था और भारत को आजादी देने से या जनतांत्रिक ढंग से चुने गए जनप्रतिनिधियों को अपना भविष्य स्वयं निर्धारित करने के अधिकार से उसका कोई संबंध न था।

यह योजना निस्संदेह ब्रिटिश नीति को भारत की नई स्थिति के अनुरूप ढालने की निपुण कोशिश थी। मुख्य प्रस्तावों का उद्देश्य उस गतिरोध को तोड़ना था जिसने पूर्ववर्ती वर्षों में भारत में किसी तरह के सांविधानिक विकास को रोक रखा था हालांकि इस व्यवस्था का स्वरूप भी वैसा ही था जिसमें आने वाले दिनों में अनेक नए गतिरोधों की संभावना शामिल थी। इसने कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा मिलने वाले संभावित समर्थन और सहयोग के लिए आधार प्रस्तुत किया। इसने भावी स्वतंत्रता का एक काल्पनिक प्रस्ताव सामने रखा। इसने मुख्य पार्टियों पर आधारित अंतरिम सरकार के गठन का प्रस्ताव किया। ये प्रस्ताव 1942 के क्रिप्स प्रस्ताव, 1940 के अगस्त प्रस्ताव और 1935 के संघीय संविधान से संबंधित प्रस्ताव की नीतियों की तुलना में बहुत थोड़ा आगे थे। लेकिन इस योजना की सीमाएं काफी स्पष्ट थीं।

पहली बात तो यह है कि डोमीनियन का दरजा और आजादी के प्रस्तावों में से कोई एक चुनने की बात थी जो भारत की आजादी की तात्कालिक घोषणा से काफी अलग थी। देश के सभी राजनीतिक संगठन बिना किसी अपवाद के यह मांग कर रहे थे कि आजादी की फौरन घोषणा की जाए। दरअस्ल आजादी से संबंधित मसले को एक ऐसी अप्रतिनिधि संस्था के ऊपर फैसले के लिए छोड़ दिया गया था जिसका गठन और जिसकी कार्यपद्धति का निर्धारण ब्रिटेन के निर्णय द्वारा हुआ था और जिसका रुझान हमेशा प्रतिक्रियावादी दिशा की ओर रहता था।

दूसरी बात यह है कि संविधान के जनतांत्रिक चयन के लिए किसी अनिवार्य आधार की बात नामंजूर की गई थी अर्थात व्यापक मताधिकार पर आधारित जनतांत्रिक संविधान सभा के चुनाव को महज इस आधार पर अस्वीकार कर किया गया कि यह काम जल्दी होना है। सविधानसभा का गठन अजनतांत्रिक था क्योंकि इससे सांप्रदायिक भेदभाव बढ़ा था, इसका गठन विधानसभाओं के अप्रत्यक्ष निर्वाचन से हुआ था और यह निर्वाचन जिस निर्वाचनमंडल पर आधारित था वह आबादी के महज 11 प्रतिशत लोगों को लेकर बना था। इन सारी बातों के अलावा इस संविधानसभा में राजाओं के 93 नामजद सदस्य थे जो कुल सदस्यों का एक चौथाई हिस्सा था।

तीसरी बात यह है कि राजाओं के क्षेत्र में जनतंत्र के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी और भारत का एक तिहाई हिस्सा इन राजाओं के अधिकार में था। राजाओं के साथ प्रबंध की जिम्मेदारी पूरी तरह स्वैच्छिक बातचीत पर छोड़ दी गई थी। इनमें वे मामले भी शामिल थे जिनका संबंध संविधानसभा में उनके प्रतिनिधित्व से था। इन रियासतों पर बिलकुल हाथ नहीं लगाया गया था। इतना ही नहीं ब्रिटेन की सर्वोच्चता समाप्त होने तक यदि बीच के समय में राजाओं की सहमति से कोई समझौता नहीं हो पाता तो वे वैधानिक और राजनयिक रूप से स्वतंत्र प्रभुसत्तासंपन्न प्रदेश बन जाते।

चौथी बात यह है कि इस योजना ने भारत को चार क्षेत्रों में बांट दिया, एक हिंदूबहुल क्षेत्र, दो मुस्लिमबहुल क्षेत्र और चौथा राजाओं की रियासतोंवाला क्षेत्र। इस बंटवारे के बारे में एकदम एकतरफा निर्णय लिया गया और इन इलाकों में रहने वाले लोगों से सलाह-मशविरा करने की कोई व्यवस्था नहीं की गई। इस बंटवारे का आत्मनिर्णय के किसी सिद्धांत से कोई संबंध नहीं था।

पांचवीं बात यह है कि इस बंटवारे के आधार पर केंद्र की स्थिति बहुत कमजोर हो जाती थी और उसके अधिकार बहुत सीमित हो जाते थे। विशेष रूप से इस व्यवस्था के अंतर्गत समूचे भारत के आधार पर आर्थिक योजना तैयार करने या सामाजिक कायदे-कानून निर्धारित करने के लिए कोई अधिकार नहीं बच रहता था। किसी समाज के प्रगतिशील जनतांत्रिक विकास के लिए तथा व्यापक आर्थिक पुनर्निर्माण और सामाजिक स्तर के उत्थान के लिए ये चीजें बहुत जरूरी हैं।

छठी बात यह है कि इस अंतरिम अवधि के दौरान सत्ता के हस्तांतरण का कोई प्रस्ताव नहीं था, पुराने संविधान को जारी रखने की व्यवस्था की गई थी और अंतरिम सरकार वायसराय की परिषद का महज एक पुनर्गठित स्वरूप थी जिसके पास आवश्यकता पड़ने पर वीटो का अधिकार था और सर्वोच्च सत्ता थी।

सातवीं बात यह है कि इस अनिश्चित अंतरिम अवधि के दौरान ब्रिटिश सेना का अधिकार बनाए रखने की बात कही गई थी ताकि नए संविधान के निर्माण का काम सेना की देख-रेख में हो सके।

आठवीं बात यह है कि संविधानसभा को प्रभुसत्ता संपन्न नहीं माना गया था। इसके द्वारा तैयार किया गया नया संविधान तब तक मान्य नहीं होगा जब तक उसे ब्रिटेन की स्वीकृति न मिल जाए और ब्रिटेन की यह स्वीकृति दो शर्तों के पूरी होने पर निर्भर करती थी, अंगरेज शासकों का इस बात के प्रति संतुष्ट हो जाना कि अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए तथा भारत और ब्रिटेन के बीच होने वाली संधि को स्वीकार करने के लिए पर्याप्त

व्यवस्था की गई है। किसी भी तरह की प्रभुसत्ता प्रदान करने से पूर्व इन दोनों शर्तों का पूरा होना जरूरी है।

यह योजना निश्चित रू र्प एक ऐसे प्रयास की जानकारी देती है जो भारत में उच्चवर्ग के नेतृत्व के साथ तालमेल बैठाने का आधार ढूंढ़ रहा हो। सांविधानिक समझौतों के साथ साथ इस बात के लिए पूरे प्रयास किए जा रहे थे कि ब्रिटेन और भारत के बड़े पूंजीपतियों के बीच घनिष्ठ संबंध कायम कराया जा सके (बिड़ला न्यूफील्ड और टाटा-आई० सी० आई० समझौते आदि) जिसकी समीक्षा पहले ही छठे अध्याय में की जा चुकी है।

इन बड़े पूंजीपतियों के बीच गठबंधन कायम करने की कोशिशें भारत की आंतरिक स्थिति के संदर्भ में ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के संदर्भ में भी काफी महत्वपूर्ण हैं। उच्चवर्ग के नेतृत्व और जबरदस्त प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतीक राजाओं को महत्व देकर तथा इनके साथ गठबंधन के आधार पर भारत में किसी समझौते को बढ़ावा देने के पीछे उद्देश्य यह था कि जनता की उभरती हुई ताकतों को रोका जा सके और ब्रिटिश हितों की रक्षा की जा सके तथा इस प्रकार भारत की स्थिति को स्थिरता प्रदान करने के साथ साथ उसे एक ऐसे सैनिक अड्डे के रूप में बनाए रखा जा सके जो ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय नीति के संदर्भ में भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सहयोगी बना दे। भारतीय नेताओं के साथ ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपनी बातचीत चलाने के साथ साथ अंतर्राष्ट्रीय नीति में घोर प्रतिक्रियावादी, जनतंत्रविरोधी और सोवियतविरोधी रुख अपना रहे थे। इसे ध्यान में रखकर विचार करें तो ब्रिटिश नीति का यह पहलू और भी गंभीर प्रतीत होगा। जिन दिनों बातचीत चल रही थी, भारत में सोवियतविरोधी दुष्प्रचार बड़े जोर शोर से चलाया जा रहा था। आजादी की बातचीत के साथ साथ सैनिक और सामरिक तैयारियां भी काफी जबरदस्त ढंग से की जा रही थीं।

केंद्रीय विधानसभा में एक प्रश्न के दौरान जब यह मांग की गई कि दस वर्षों के अंदर भारतीय सेना का भारतीयकरण हो जाना चाहिए तो इसके जवाब में सेना के कमांडर इन चीफ ने कहा कि इस काम के लिए कोई समय नहीं निर्धारित किया जा सकता और भारतीयकरण के काम में बीस या इससे भी अधिक वर्ष लग सकते हैं। कैबिनेट मिशन द्वारा नीति संबंधी वक्तव्य जारी करने के फौरन बाद फील्ड मार्शल मांटगोमरी रणनीति से संबंधित विशेष मसलों पर विचार विमर्श के लिए भारत रवाना हुए। जाहिर है कि कैबिनेट मिशन की योजना के साथ साथ नीति से संबंधित यह पहलू भावी भारत के लिए बहुत गंभीर परिणामों को अपने अंदर समेटे हुए था हालांकि उन दिनों इन बातों पर जनता ने कम ध्यान दिया था।

इन बातों के सामान्य निष्कर्ष अपरिहार्य हैं। 1946 की सांवधानिक योजना में भारतीय राजनीतिक जीवन के विभिन्न तत्वों को व्यापक रूप से संतुलित रखने का वही पुराना

तरीका अख्तियार किया गया था। इसमें खासतौर से एक ऐसी राजनीतिक स्थिति के निर्माण की कोशिश थी जो सांप्रदायिक द्वेष पर आधारित हो। इसमें मुस्लिम लीग के मुकाबले कांग्रेस को संतुलित रखने की कोशिश की गई थी और राजाओं को एक ऐसी प्रतिक्रियावादी धुरी के रूप में स्थापित किया गया था जो व्यवहार में भारत को आजादी देने के तथाकथित प्रस्ताव को व्यर्थ कर दे और अंतिम तथा कारगर नियंत्रण उनके हाथों में बना रहने दे। नाजुक और अनिश्चित अंतरिम अवधि में ब्रिटेन का नियंत्रण बने रहने की व्यवस्था थी और इस बात की भी व्यवस्था थी कि वह भावी संविधान के समूचे स्वरूप को अपने अनुसार ढाल सके। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अभी तक भारतीय जनता के हक में सत्तात्याग नहीं किया था और भारत की जनता को सत्ता नहीं सौंपी थी। इसके बजाय उसने अपनी सारी चतुराई और सदियों पुराने राजनीतिक अनुभव का पूरा पूरा इस्तेमाल इस काम के लिए किया कि वह एक ऐसे व्यापक, जटिल और दुरूह शासनतंत्र की स्थापना कर सके जिसके जरिए भारत को विधिवत 'आजादी' देने का नाटक रचने के साथ साथ वहां के आर्थिक तथा सैनिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाए रखा जा सके। कैबिनेट मिशन की घोषणा के बाद समझौता वार्ताओं का लंबा सिलसिला 1946 की गरमियों तक चला और इस समय तक भारतीय जनमत बड़ी तेजी से यह समझ चुका था कि अंतिम तौर पर भारत की आजादी के लिए अभी आने वाले दिनों में संघर्ष चलाने होंगे।

खण्ड छः

निष्कर्ष

18
भविष्य

किसी भी व्यक्ति को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह राष्ट्र की प्रगति की कोई सीमा निर्धारित करे। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने देश से कहे : बस इस सीमा तक बढ़ो, इससे आगे नहीं—पारनेल

एक शताब्दी पूर्व मकाले ने भारत में ब्रिटिश शासन के बारे में कहा था कि वह एक 'महान और अति विशाल काम' में लगा है और यह काम है 'एक सड़े-गले समाज के पुनर्निर्माण का काम'। मैकाले ने बीते दिनों के भारत को महज एक ऐसे 'अरक्षित' साम्राज्य के रूप में देखा था जिसपर 'तेजी से एक के बाद एक अलारिक्स और अट्टिलास का राज्यारोहण' होता गया था लेकिन अपने जमाने के आत्मतुष्ट आशावाद के कारण वह यह जान ही नहीं पाए कि उन दिनों भारत में ब्रिटिश शासन अलारिक्स और अट्टिलास की तुलना में कहीं अधिक तेजी से प्राचीन भारतीय समाज को सड़ाने में लगा था; वह कहीं अधिक ताकत से सदियों से चली आ रही भारतीय जीवन-पद्धति को और भारतीयों के समूचे पुराने आधार को नष्ट करने में लगा था।[1]

आज यह तस्वीर उलटी हो गई है। आज खुद साम्राज्यवाद ही सड़ान की स्थिति में आ चुका है और फासिज्म के हाल के अनुभव ने एक ऐसे 'सड़े गले समाज' के चमत्कारिक दृश्य को बहुत साफ साफ दिखा दिया है जो यूरोपीय संस्कृति को पैरों तले रौंदते हुए 'अलारिक्स' और 'अट्टिलास' के तीव्र राज्यारोहण के दुःस्वप्न से संत्रस्त है।[2] साम्राज्यवाद, फासीवाद और प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध मुक्ति की दिशा में विश्व की जनता काफी प्रगति कर चुकी

है और इस विकास यात्रा में शामिल होकर अपना उचित स्थान प्राप्त करने के लिए भारतीय जनता तेजी से आगे आ रही है।

1. ब्रिटिश शासन के अंतिम दिन

भारत पर स्थाई तौर पर तानाशाही हुकूमत बनाए रखने के पुराने मंसूबे अब धूल में मिल चुके हैं। मौजूदा हालात में साम्राज्यवाद अधिक से अधिक यही उम्मीद कर सकता है कि वह नए राजनीतिक ढांवों की आड़ में अपने को इस तरह ढाल ले कि साम्राज्यवादी विशेषाधिकारों और शोषण को जारी रखा जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पिछले पचास वर्षों में सांविधानिक सुधारों की भरमार के साथ साथ लगातार और कभी कभी बहुत तीव्र दमनचक्र चलाया गया। यहां तक कि 1946 में 'आजादी' देने के विधिवत प्रस्ताव के जरिए जब इस नाटक की चरम परिणति हुई तब भी साम्राज्यवादी शासन भारत में समाप्त नहीं हुआ, यह नए राजनीतिक ढांचे के अनुरूप सांविधानिक तौर पर अपना रूपांतर करने की तमाम कोशिशों की अंतिम कड़ी साबित हुआ। वे दिन अब बीत गए जब कट्टर दक्षिणपंथी तत्व भारतीय समस्या के सहज समाधान के लिए 'सख्त कदम उठाने' की दुहाई देते थे। वे आज उन 'बीते हुए सुखद दिनों' की याद में आहें भर रहे हैं और उन दिनों के लौट आने के लिए तरस रहे हैं जब इन 'काले कलूटों' को (लार्ड सालसबरी ने ब्रिटिश संसद के पहले भारतीय सदस्य को यही कहा था) बता दिया गया था कि उनकी औकात क्या है; और अब वे अपने 'खोए हुए अधिराज्य' की याद में भावुकतापूर्ण शोकगीत लिखने में लगे हुए हैं। वे आज भी यही सोचते होंगे कि पश्चिम की असंगत संस्थाओं को शाश्वत पूर्व की कृतघ्न धरती में स्थानांतरित करने के लिए सचेष्ट संसदीय राजनीतिज्ञों को सुधारने के जोश के कारण ही हम 'भारतीय प्रदेश' से हाथ धो बैठे ('मेरा ख्याल है कि ड्यूक आफ वेलिंगटन ने एक बार कहा था : 'यदि भारत कभी हमारे हाथ से गया तो इसकी जिम्मेदारी पार्लियामेंट पर होगी जिसकी वजह से भारत को खोएंगे' लार्ड क्रोमर, 'एंशेंट ऐंड माडर्न इंपीरियलिज्म,' पृष्ठ 126)। लेकिन 19वीं सदी के प्रभुत्व को फिर से स्थापित करने के लिए एक सरलीकृत समाधान के रूप में जिस जबरदस्त दमन का सहारा लिया गया वह ब्रिटिश फासीवाद के शैशवकाल वाले इस आधुनिक युग में एक कार्यक्रम के रूप में खुलकर सामने आ सका।[3]

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के व्यवहारकुशल राजनीतिज्ञों ने बहुत पहले ही यह समझ लिया था कि महज दमन का तरीका इस्तेमाल करना ही पर्याप्त नहीं होगा, इसके साथ साथ राजनीतिक दांवपेंच के अधिकाधिक नए तरीकों की भी जरूरत है।

राष्ट्रीय विद्रोह के खिलाफ एक परकोटा तैयार करने की झूठी आशा के साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की प्रेरणा उग्र सुधारवादी लार्ड रिपन ने नहीं बल्कि लिबरल यूनियनिस्ट और अनुभवी पेशेवर कूटनीतिज्ञ लार्ड डफरिन ने दी थी। उग्र सुधारवादी लार्ड मोर्ले ने नहीं बल्कि टोरी पार्टी के लार्ड मिंटो ने राष्ट्रीय आंदोलन की सचाइयों का

मौके पर सामना किया था और 1909 के सुधारों के साथ मोर्ले की तुलना में वामपंथ से और भी दूर जाने की कोशिश की और ब्रिटेन की लिबरल सरकार ने इसे स्वीकार करने की तत्परता दिखाई। लिबरल नेता मांटेगु ने नहीं बल्कि उग्र कंजरवेटिव नेता कर्जन तथा आस्टिन चंबरलेन ने 1917 में जिम्मेदार सरकार की स्थापना के वादे वाली सरकारी घोषणा तैयार की ताकि रूसी क्रांति के बाद आई क्रांतिकारी लहर की चुनौतियों का मुकाबला किया जा सके। यह ठीक वैसे ही था जैसे मिलनर किंडरगार्टेन के 'गोलमेज ग्रुप' के शिष्यों ने अमल में लाने के लिए बड़ी खूबी के साथ 'द्विशासन' की अव्यवहार्य योजना तैयार की। 1935 के भारत सरकार अधिनियम को और संघीय संविधान को बाल्डविन की कंजरवेटिव सरकार ने सविस्तार प्रतिपादित किया था न कि दोनों में से किसी एक लेबर सरकार ने।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में शुरू से अंत तक कंजरवेटिव पार्टी की प्रेरणा और दिशा-निर्देशन में भारत में सांविधानिक 'सुधार' के जितने भी कदम उठाए गए उनके पीछे कोई यह मोह नहीं था कि सचमुच ही सुधार किया जाए बल्कि इन सारे क़दमों के पीछे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की बाढ़ को रोकने के लिए एक बांध तैयार करने की हताशापूर्ण कोशिश थी। और यह भी कहा जा सकता है कि लेबर सरकार के 1946 के सांविधानिक प्रस्तावों के जरिए भी 1942 की उस योजना में निहित आम नीतियों को ही आगे बढ़ाया गया जिसे विदेशमंत्री एमेरी और टोरी बहुमतवाले मंत्रिमंडल के तहत तैयार किया गया था।

राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की बाढ़ को रोकने के लिए एक के बाद एक बांध बनाकर और अस्थाई समझौतेवाले समाधानों तथा संक्रमणकालीन अवस्थाओं के लंबे सिलसिले के जरिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नेताओं ने अपना पृष्ठरक्षक युद्ध जीतने की आशा की है। उन्होंने नए राजनीतिक ढांचे के अनुरूप अपने को ढालने की प्रक्रिया पर अमल करने की जी जान से कोशिश की है। इसके ही जरिए वे भारत का शोषण करके अपने आर्थिक और वित्तीय हितों को और भारत पर अपने सैनिक प्रभुत्व को लंबी अवधि तक बनाए रखने की आज भी कोशिश कर रहे हैं। वे जनता को व्यवस्था के तहत रखने और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग का आधार बनाए रखने का काम धीरे-धीरे भारतीयों के हाथों में सौंपते जा रहे हैं।

लेकिन क्या वे इसमें सफल हो सकते हैं ?

यदि यह मान लिया जाए कि समस्या का अब वस्तुतः समाधान हो गया है और भारत में साम्राज्यवादी शासन की शर्तें निर्धारित हो चुकी हैं, तो यह एक बहुत बड़ी भूल होगी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अतिकुशल कूटनीतिज्ञों ने आजकल इस तरह के वक्तव्य देने शुरू कर दिए हैं कि भारत से अंगरेज अब जा रहे हैं, ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने बिना संघर्ष के

अपना प्रभुत्व समाप्त कर दिया और वह भारत में हाराकिरी करने को तत्पर है। लेकिन इन वक्तव्यों के फलस्वरूप जो भ्रम पैदा होगा उससे बड़ा भ्रम कोई नहीं हो सकता।

ब्रिटिश बुर्जुआ हितों के लिए भारत पर ब्रिटेन का प्रभुत्व बना रहना कितना आवश्यक है, इसे काफी पहले ही माना जा चुका है। साम्राज्यवाद के पतन के युग में जब विश्व बाजार में ब्रिटेन का एकाधिकार लड़खड़ा रहा था और ब्रिटिश उद्योगधंधों की पकड़ कमजोर पड़ रही थी, जब अंगरेजों के डोमीनियनों की आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता बढ़ रही थी, ब्रिटेन के सत्ताधारी वर्ग के लिए भारत पर एकाधिकारी प्रभुत्व को और उपनिवेशवादी शासन को न केवल बनाए रखना ही बल्कि इसका और अधिक विस्तार करना ज्यादा जरूरी हो गया। चर्चिल ने 1933 में इस बात को बड़े जोरदार शब्दों में कहा था। इन सारे वर्षों में चर्चिल भारत में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों के सबसे उग्र और हठधर्मी प्रवक्ता थे :

> ब्रिटेन के लोगों की खुशहाली के लिए भारत का बहुत महत्व है और जब मैं यह देखता हूं कि वे शक्तियां जिनपर हमारे देश की जनता काफी हद तक निर्भर करती है, धीरे धीरे समाप्त हो रही हैं तो मुझे बहुत चिंता होती है। विदेशी पूंजीनिवेश में धीरे धीरे कमी आती जा रही है और नौपरिवहन की स्थिति में भी काफी गिरावट आ गई है। इन नुकसानों के साथ यदि हम किसी न किसी रूप में भारत को खो देते हैं तो यहां ऐसी समस्याएं पैदा हो जाएंगी जैसी पहले कभी देखने में नहीं आईं। फिर यहां अतिरिक्त आबादी का ऐसा बोझ बढ़ सकता है जिसका भरण-पोषण करना सरकार के लिए काफी कठिन हो सकता है।
> (विंस्टन चर्चिल का एपिंग में भाषण, 8 जुलाई 1933)

भारत में साम्राज्यवादी हितों का निर्ममतापूर्वक दावा करने वाली यह पुरातन विचारधारा सुधारों और रियायतों के दौर में निरंतर जारी रही। उन बेलौस और सुपरिचित घोषणाओं का उल्लेख करने की जरूरत नहीं है जैसी अमृतसर कांड के समय पंजाब के लेफ्टीनेंट गवर्नर सर माइकेल ओ डायर ने की थी, उन्होंने उस कर्तव्य की दुहाई दी थी जो 'ब्रिटिश साम्राज्य, भारत में रहने वाले अंगरेज भाई बंधुओं और भारत में लगी हजारों लाखों की ब्रिटिश पूंजी के प्रति' है (सोसायटी आफ आर्थर्स में भाषण जिसे लार्ड ओलिवर ने 12 मार्च 1925 के 'मैनचेस्टर गार्जियन' में उद्धृत किया था) या जो लार्ड रोथरमीयर ने 16 मई 1930 के 'डेली मेल' में की थी कि 'अनेक अधिकारियों का अनुमान है कि ब्रिटेन का महत्वपूर्ण व्यापार, बैंकिंग और नौपरिवहन व्यवस्था का जो अंश प्रत्यक्षतः भारत के साथ हमारे संबंधों पर निर्भर है वह 20 प्रतिशत है···भारत ब्रिटिश साम्राज्य का ठोस आधार है। यदि हम भारत को खो देते हैं तो यह निश्चित है कि ब्रिटिश साम्राज्य ध्वस्त हो जाएगा, पहले आर्थिक रूप से फिर राजनीतिक रूप से।

तमाम कूटनीतिक भाषणों, अनिश्चित और अस्पष्ट वादों तथा अनिच्छापूर्वक दी गई रियायतों के जरिए हम आज भी यह पता लगा सकते हैं कि भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व को बनाए रखने के पीछे मुख्य उद्देश्य क्या है और इसे हम हर निर्णायक वक्तव्य में देख सकते हैं। अगस्त 1922 में लायड जार्ज की 'स्टील फ्रेम स्पीच' का महत्व यही था कि 'ब्रिटेन किसी भी हालत में भारत के प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं त्यागेगा और वह ऐसा कोई दौर देख पाएं जब 'भारत अपने को ब्रिटेन के दिशा-निर्देशन से अलग कर सके।' 1929 में बर्कनहेड की चेतावनी का यही महत्व था कि 'कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति किसी ऐसी तिथि का अनुमान नहीं लगा सकता जब हम भारत को डोमीनियन का दरजा प्राप्त करते देखें।' 1930 में चर्चिल ने जो चेतावनी दी थी उसका भी यही महत्व था कि 'ब्रिटेन का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि वह भारतीय जनता के जीवन और प्रगति पर से अपना प्रभावकारी नियंत्रण समाप्त कर दे।' 1935 के संविधान का उद्देश्य बताते हुए बाल्डविन ने जो व्याख्या प्रस्तुत की थी उसका भी यही महत्व था कि 'ग्रेट ब्रिटेन और भारत की एकता को मजबूत करने वाले बंधनों को कमजोर बनाने पर विचार करना तो दूर की बात है, हम चाहते हैं कि अब यह एकता इतनी प्रगाढ़ हो जाए जितनी पहले कभी नहीं थी।'

इधर हाल के वर्षों में अब भाषा बदल गई है। सरकारी बयानों में अब भारत को डोमीनियन का दरजा देने की दिशा में उठाए जाने वाले कदमों की लंबी सुची का जिक्र नहीं किया जाता। उल्टे, सरकारी बयानों में अब यह कहा जाता है कि ब्रिटेन अब पूरी तरह भारत पर से अपना शासन समाप्त कर लेगा और भारत को 'पूरी आजादी' दे देगा। लेकिन पिछले अध्याय में हमने 1946 के सांविधानिक प्रस्तावों की जो जांच-पड़ताल की है उससे यही पता चलता है कि इन प्रस्तावों को आजादी मान लेना असंभव है।

हम देख रहे हैं कि साम्राज्यवादी शोषण को वास्तविकताएं बरकरार हैं लेकिन अंगरेजों ने 'आजादी' और 'साम्राज्यवाद की समाप्ति' की बातें खूब बढ़चढ़कर शुरू कर दी हैं। साम्राज्यवादी नीति और प्रचार ने इधर हाल में जो पैंतरा बदला है उससे हम क्या नतीजा निकाल सकते हैं? इस सवाल का जवाब पाने के लिए हमें आधुनिक साम्राज्यवाद के विकास पर विस्तार से विचार करना होगा तथा भारत पर नजर डालनी होगी। साम्राज्यवादियों ने इधर एकदम हाल के वर्षों में एक नई तकनीक का इस्तेमाल शुरू किया है और इसका दिनोंदिन खूब प्रचार तथा इस्तेमाल किया है। इस तकनीक को 'औपचारिक आजादी' देने की तकनीक कहा जा सकता है। सिद्धांत रूप में यह अपने आप में कोई नई चीज नहीं है: दरअस्ल यह प्रच्छन्न शासन के उस पुराने सिद्धांत को ही जारी रखना है जो भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व के प्रारंभिक दिनों की खास बात थी; लेकिन आधुनिक युग में इसका और विस्तार किया गया है तथा इसे और परिष्कृत ढंग से प्रतिपादित किया गया है ताकि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की बढ़ती हुई ताकत का मुकाबला किया जा सके।

इस तकनीक को बड़ी खूबी के साथ 1922 में मिस्र के मामले में देखा गया। स्मरणीय है कि 28 फरवरी 1922 को प्रकाशित ब्रिटेन के एक नीति संबंधी वक्तव्य के तहत मिस्र को आजादी दी गई थी। लेकिन इस घोषणा में कहा गया था कि कुछ विषयों पर तब तक ब्रिटेन की महामहिम सरकार को फैसला लेने का पूरा पूरा अधिकार होगा जब तक उन विषयों के विनियमन के लिए ब्रिटेन और मिस्र की सरकारों के बीच कोई संधि नहीं हो जाती। इन खास खास विषयों में निम्न बातें शामिल थीं :

1. मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य की संचार व्यवस्था की सुरक्षा;
2. मिस्र की प्रतिरक्षा;
3. मिस्र में विदेशी हितों और अल्पसंख्यकों का संरक्षण;
4. सूडान;
5. अन्य देशों के साथ मिस्र के संबंध।

इन शर्तों को मिस्र के राष्ट्रीय आंदोलन ने नामंजूर कर दिया। फिर भी मिस्र को आजादी देने की घोषणा की गई; फुआद को राजा बनाया गया और एक उपयुक्त प्रधानमंत्री का चयन किया गया। 1923 के अगस्त तक मिस्र में ब्रिटिश मार्शल ला लागू रहा। इस तरह मिस्र एक 'आजाद' देश बन गया।

मिस्र से ब्रिटिश सैनिकों को हटाने का मसला 24 वर्ष बाद तक भी तय नहीं हो सका था और 1946 में भी ब्रिटेन और मिस्र की सरकारों के बीच इस विषय पर बातचीत चल रही थी। तब से आज तक 'आजादी' देने की साम्राज्यवादियों की इस नई तकनीक को और भी विस्तार दिया गया है और लागू किया गया है। इसे हम ईराक तथा अन्य देशों के मामले में देख सकते हैं।

इस प्रकार भारत में इस तकनीक को इस्तेमाल करने से पहले इसे काफी अच्छी तरह आजमा लिया गया था। जाहिर है कि औपचारिक 'आजादी' देने की इस तकनीक का उस मांग से कोई साम्य नहीं है जो भारतीय जनता आजादी के लिए कर रही है। साम्राज्य-वाद ने अभी तक अपनी जकड़ ढीली नहीं की है। संघर्ष अब भी जारी है।

लेकिन क्या साम्राज्यवादी शासक अपना प्रभुत्व बनाए रख सकते हैं ? यह अलग बात है। क्या वे उन उदीयमान युगांतरकारी शक्तियों पर काबू पा सकते हैं जो भारत में तेजी से विकसित हो रही हैं ? क्या वे भारत के जबरदस्त मुक्ति आंदोलन को रोकने के लिए नए स्वरूपों और सामाजिक आधार का सहारा प्राप्त कर सकते हैं ताकि साम्राज्यवादी शोषण को बनाए रखने के लिए वे परिवर्तन की इस प्रक्रिया को बांधकर रख सकें ? इस सवाल के जवाब पर ही भारत में साम्राज्यवाद के भविष्य का सवाल टिका हुआ है न कि

चमचमाते सांविधानिक सुधारों पर जो कि अत्यंत जटिलतापूर्वक राजनीतिक अभियानों की एक सार्वजनिक सूची मात्र हैं।

दरअस्ल बात यह है कि पुराना भारत अब नष्ट हो चुका है और वह अब कभी अस्तित्व में नहीं आएगा। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में पूंजीवाद की निर्मम घुसपैठ के कारण पुरानी समाजव्यवस्था की बुनियाद ध्वस्त हो चुकी है जिसकी वजह से परिवर्तन की सक्रिय शक्तियां गतिशील हो चुकी हैं और उन्होंने ऐसी प्रक्रिया की शुरुआत कर दी है जिसे अब रोका नहीं जा सकता। पुरानी बुनियादों के ध्वस्त होने के साथ ही अपेक्षाकृत धीरे धीरे, पर पूरी अनिवार्यता के साथ पुराने दृष्टिकोण और सामाजिक रूढ़िवादिता के विश्वास, पुराने संप्रदाय और पुराने अवरोध नष्ट होते जा रहे हैं।

जमशेदपुर के इस्पात कारखानों में या बंबई के शेयर बाजार में जाति की क्या भूमिका है? अपनी जमीन से बेदखल किए गए ग्रामीण सर्वहारा की बढ़ती हुई तादाद में (जो गांव की कुल आबादी के 1/3 से 1/2 भाग तक हैं) संयुक्त परिवार प्रणाली कौन सी भूमिका अदा कर सकती है? बुजुर्आ संपत्ति संबंधों का क्षयकारी तेजाब रीति रिवाजों और पद पर निर्मित सामाजिक संस्थाओं के तानेबाने को उतनी ही कठोरता से खाता जा रहा है जितनी कठोरता से ब्रिटेन या जापान में बने सस्ते मशीनी सामान लाखों हस्त-कर्मियों को मुसीबत में डालते जा रहे हैं और उन्हें दाने दाने का मोहताज बना रहे हैं।

भारत आज भी कालदोषों की धरती है। यहां आज भी सामंती और अर्धसामंती अवशेष मौजूद हैं, दुराचारी रजवाड़ों का अस्तित्व है, बेगार प्रथा कायम है, मोटरकारों, तारघरों और वायरलेस के साथ साथ कृषिदास प्रथा भी जारी है, पुरातन मंदिर हैं जिनमें अति-प्राचीन यज्ञीय अनुष्ठान हो रहे हैं और पास में ही आधुनिक गंदी बस्तियां हैं। आधार तो गायब हो चुका है पर इस आधार पर बने ऊपरी ढांचे का भूत अब भी छाया हुआ है। साम्राज्यवाद के मृत हाथ समूचे तानेबाने को एक स्थगित प्राणसंचारण और अवरुद्ध विकास की स्थिति में पकड़े हुए हैं और उनकी कोशिश महज यह है कि समाज की शक्तियों को भीतर से पुनर्जीवित किए बिना वे अपनी शोषण प्रणाली को ऊपर से थोप दें।

लेकिन 20वीं सदी के रूस के पुराने जारशाही दिनों की ही तरह यह केवल एक खोल है जो स्पर्श मात्र से टुकड़े टुकड़े हो सकता है। साम्राज्यवादी पतन के दिनों के पश्चिमी देशों के रोमानी बुद्धिजीवी, जिन्होंने आधुनिक सभ्यता के विकास से पैदा अपने दुखों से छुटकारा और शांति पाने की कोशिश में 'पुण्यदेश' रूस के घिनौने सुअरबाड़े को चिरंतन आध्यात्मिक मूल्यों का तीर्थस्थल माना और जनतंत्र तथा समाज की आधुनिक धाराओं से अछूते कल्पित विनीत तथा श्रद्धालु किसानों की भूमि माना, एक लाश की आराधना में लगे थे और जीवन की प्रचुर शक्ति तथा उस वास्तविक जनता की चेतना के प्रति अंधे थे

जो उनकी मृगमरीचिका को धूल में मिला देने के लिए तैयार बैठी थी। इसी प्रकार आज पश्चिम देश का कोई ढोंगी यात्री, जो भारत में स्मरणातीत पूर्व के दर्शन करने जाता है, वह चाहे पूर्वदेशीय उच्च आध्यात्मिक विचारों के कीचड़ भरे सोते से अपनी प्यास बुझा रहा हो या एक संरक्षक की तिरस्कार भरी मुद्रा में 'भारत माता' के पिछड़ेपन का भंडाफोड़ कर रहा हो, वह महज मध्ययुगीन कबाड़े के संग्रहालय के दर्शन कर रहा है और भारतीय जनता की जीवंत शक्तियों की ओर से आखें मूंदे हुए है।

भारतीय जनता की प्रगामी शक्तियां आज जिस संघर्ष का नेतृत्व कर रही हैं वह जात-पांत, निरक्षरता, अछूतों के अपमान, सांप्रदायिक भेदभाव, महिलाओं के गुलामी की जंजीर में जकड़े रहने तथा उन सभी चीजों के खिलाफ है जो जनता को पिछड़ेपन का शिकार बनाती हैं। जहां एक ओर पुराकालीन हिंदू सभ्यता और इसकी अपरिवर्तनशील विशिष्टताओं पर विद्वत्तापूर्ण भाषण दिए जा रहे हैं वहीं निर्विवाद रूप से भारतीय जनता के बहुमत का समर्थन प्राप्त यहां के प्रमुख राष्ट्रीय आंदोलन ने अपनी ध्वजा पर सार्वभौम समान नागरिकता का पूर्ण जनतांत्रिक कार्यक्रम अंकित कर दिया है। इस कार्यक्रम में जाति, धर्म या लिंग का कोई भेद नहीं बरता गया है, सभी विशेषाधिकारों और पद्धतियों को समाप्त करने की बात है, व्यापक बालिग मताधिकार और निश्शुल्क अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की योजना है, धर्म के मामले में राज्य के तटस्थ रहने की घोषणा है तथा भाषण करने, समाचारपत्रों के प्रकाशन, विचारों की अभिव्यक्ति, सभा करने तथा संगठन बनाने पर छूट है जो ब्रिटिश के अर्धजनतंत्र से काफी आगे है।

1936 के उत्तरार्ध में उदारवादी पत्र मैनचेस्टर गार्जियन ने 'दि फर्मेंट इन इंडिया' नामक लेख में मजबूरन यह स्वीकार किया कि भारत में क्रांति की झलक मिलनी शुरू हो गई है जो राजनीतिक राष्ट्रवाद की पुरातन विचारधारा के अनुयायियों द्वारा कल्पना की गई किसी भी बात से ज्यादा महत्वपूर्ण है :

> युद्धविराम के अठारह वर्षों बाद हम महसूस करते हैं कि भारत अब फिर विश्व की शक्तियों से अप्रभावित अपनी उस पुरानी स्थिर संतुलन की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है···ब्रिटिश राज के रूढ़िवाद ने अतिप्राचीन बुराइयों का अनुमोदन किया। प्रजातंत्र की नवपरिवर्तनशील चेतना, जो जनमत के लिए प्रतिद्वंद्विता करने वाले, मत शक्ति प्राप्त करने के लिए बलप्रयोग का सहारा लेने वाले राजनीतिक दलों के माध्यम से कार्य करती है, उन सभी प्राचीन विशेषाधिकारों (सुविधाओं) को समाप्त करने में सक्षम होती है जिनके पीछे तर्क, शक्ति और साहस का अभाव होता है, जाति के आधार पर विशेषाधिकार प्राप्त लोगों को पीछे हटना ही पड़ा है और यह पीछे हटना घोर पराजय जैसा दिखता है···यदि छुआछूत को समाप्त कर दिया जाए तो क्या जाति के आधार पर भेदभाव बना रह सकता है? इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदुओं की

शक्ति न तो विधानांगों में है और न मंदिरों में, यह घर के अंदर है। फिर भी महिलाओं को शिक्षा देकर आधुनिकता की भावना घर में पैदा करने की दिशा में सक्रियता बनी हुई है। जात पांत का प्रमुख परकोटा है हिंदुओं का संयुक्त परिवार और महिलाओं को शिक्षा देकर तथा उन्हें यात्रा की और बाहरी दुनिया से संपर्क की सुविधा देकर इस परकोटे की जड़ खोदी जा रही है। ('मैनचेस्टर गार्जियन वीकली', 4 दिसंबर 1936)

इस प्रकार जनतांत्रिक लहर की प्रगति राजनीतिक क्षेत्र से सामाजिक क्षेत्र में किसी भी अर्थ में कम नहीं है। जैसा कि उपर्युक्त लेख में ही स्वीकार किया गया है यह लहर निश्चित रूप से सफलतापूर्वक 'पूर्ण सामाजिक आर्थिक क्रांति' की जबरदस्त शक्तियों को इकट्ठा कर रही है ताकि उस बुनियादी समस्या का समाधान हो सके जिसे 'भारत की गरीबी' कहते हैं :

भारत की गरीबी पर पूरा ध्यान केंद्रित किया जाएगा। जो लोग भारत की आबादी की तुलना उसकी धन-संपत्ति पैदा करने की क्षमता से करते हैं वे यह कहने से बाज नहीं आएंगे कि यह रोग लाइलाज है। लेकिन साम्यवाद के प्रचारक इस दिशा में प्रयत्न की निराशावादी पक्ष को कभी नहीं स्वीकारते। उनमें असंभव को संभव बनाने की कोशिश करने का साहस है और भारत की पीड़ित जनता उतावलेपन के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराएगी। इसलिए हम यह देखने की आशा कर सकते हैं कि भारत के नए अधिकारीगण इस पक्की सामाजिक आर्थिक क्रांति का विरोध करने या उसे दिशा देने आगे आ सकते हैं।

क्या साम्राज्यवाद यह आशा कर सकता है कि वह इन शक्तियों को अपने जुए तले रख सकेगा और उनका इस तरह से पथ प्रदर्शन कर सकेगा जिससे शोषण की उसकी व्यवस्था मुकम्मल तौर पर बनीं रहे जो कि भारतीय जनता के शोषण की समूची व्यवस्था का गढ़ है? इस प्रश्न का उत्तर न तो उदारवादी साम्राज्यवादियों की विशुद्ध अटकलबाजी से भरी बहसों में मिलेगा और न वकीलों की सांविधानिक सुधारों की जटिलताओं से प्राप्त होगा, इसका जवाब साम्राज्यवाद की आर्थिक बुनियादों के ठोस तथ्यों में और भारतीय जनता की ज्वलंत आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं के साथ उनके अंतर्विरोधों में ही मिलेगा।

भारत की जनता को अत्यंत महान कार्य करने हैं। भारत एक रोगग्रस्त देश है, एक पिछड़ा देश है। यह ऐसा देश है जहां विकास की गति अवरुद्ध हो गई है। यह बीमारी, गरीबी, परोपजीविता और बरबादी से ग्रस्त देश है। इस क्षेत्र में दुनिया के किसी भी भाग से इसका मुकाबला नहीं किया जा सकता है। एक तरफ तो यहां असीमित प्राकृतिक संपदा का भंडार है और दूसरी तरफ जनता की भयंकर गरीबी और दुखदर्द है। यह विरोधाभास

हर प्रेक्षक की निगाह में कौंध जाता है चाहे वह किसी भी सामाजिक या राजनीतिक विचारधारा का क्यों न हो। दूसरा कोई देश ऐसा नहीं है जहां जनता की हालत खुद बताती हो कि सरकार ने अपनी कौन सी जिम्मेदारियां पूरी की हैं, और वह भी ऐसी सरकार जिसे विकास के एक सौ वर्षों से भी अधिक समय तक निरंतर जिम्मेदारी संभालने का मौका मिला हो। भारत की बुनियादी समस्या आर्थिक और राजनीतिक है। राजनीतिक समस्या राष्ट्रीय मुक्ति और जनतंत्र के लिए संघर्ष, महज इस समस्या की तात्कालिक ऊपरी अभिव्यक्ति है। यह वास्तविक लड़ाई का पहला चरण है। कृषि के क्षेत्र में प्रति वर्ष संकट गहरा होता जा रहा है और इस क्षेत्र के विशेषज्ञों का चाहे वे किसी भी विचारधारा के क्यों न हो, यही कहना है कि व्यापक कृषि क्रांति के अलावा इसके समाधान का कोई दूसरा उपाय नहीं है। लेकिन कृषि समस्या को औद्योगिक विकास से अलग रखकर नहीं हल किया जा सकता है। यह सभी लोग मानते हैं कि यहां जरूरत इस बात की है कि औद्योगिक विकास का वृहत कार्यक्रम हो, देश के बरबाद हो रहे साधनों का इस्तेमाल किया जाए, शक्ति के नए स्रोतों को काम में लाया जाए, देश के लाखों करोड़ों बेरोजगारों को काम पर लगाया जाए और गलत ढंग से इस्तेमाल हो रहे श्रम का सही इस्तेमाल किया जाए, राष्ट्र की समृद्धि के लिए बुनियादी उद्योगधंधों की शुरुआत की जाए और उत्पादन स्तर को इस सीमा तक ऊंचा उठाया जाए जिसकी तुलना किसी भी विकसित तकनीकवाले देश से की जा सके। शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई तथा जनता की बुनियादी जरूरतों के क्षेत्र में सामाजिक और राजनीतिक पैमाने पर बेहद काम करना है। भारत की जनता के सामने आज यह प्रश्न है कि पुनर्निर्माण के इस महानतम कार्य का नेतृत्व कौन करेगा ? इसे पूरा करने की शर्तें क्या हैं ? किन स्वरूपों और तरीकों के जरिए यह काम निष्पादित किया जा सकता है ?

निस्संदेह साम्राज्यवाद अब भी इस आशा में है और यह सोचे बैठा है कि वह भारत में अवश्यंभावी परिवर्तन की लहरों को नियंत्रित रख सकता है; वह यह सोच रहा है कि रियायतों और संचालन शक्तियों के सुविचारित संयोग से इस तरह के ढांचों और माध्यमों में होने वाले किसी भी रूपांतरण को दिशा दे सकता है, उसे पीछे ले जा सकता है या अपने अनुरूप ढाल सकता है जिससे सही अर्थों में स्वतंत्र भारत के उदय को रोका जा सके और ब्रिटिश पूंजी द्वारा निरंतर शोषण किए जाने के लिए भारत पर एकाधिकारी प्रभुत्व को बनाए रखा जा सके।

इसलिए आधुनिक युग में बहुप्रचारित सांविधानिक सुधारों के साथ साथ समूचे मोर्चे पर रणनीति और कूटनीति संबंधी जबरदस्त तैयारियां तथा रक्षा के सुरक्षित मोर्चों पर अच्छी तरह प्रतिपादित नीतियां देखी गई हैं। यह काम विशेष आयोगों और अनुवर्ती कानूनों के एक लंबे सिलसिले के जरिए किया गया है। 1916-18 में भारतीय औद्योगिक आयोग का गठन हुआ; 1921-22 में भारतीय राजकोषीय आयोग (इंडियन फिस्कल कमीशन), 1926-28 में भारतीय वित्त और मुद्रा संबंधी शाही आयोग, 1926-28 में भारतीय कृषि

संबंधी शाही आयोग और 1929-31 में भारतीय श्रम संबंधी शाही आयोग का गठन किया गया। 1935 तक बैंक आफ इंग्लैंड के साथ निजी साझेदारी के आधार पर रिजर्व बैंक आफ इंडिया की स्थापना की गई और इसे महाजनी पूंजी के नियंत्रण का निर्णायक गढ़ बनाया। इसे पूरी तरह ब्रिटेन के वायसराय के अधीन रखा गया ताकि 'राजनीतिक दबाव' (अर्थात भारतीय राजनीतिक दबाव) से अलग रखा जा सके। वायसराय को बैंक के गवर्नर और डिप्टी गवर्नर के पद के लिए नामांकन करने का अधिकार है और उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह बोर्ड के फैसलों को नामंजूर कर दे। रिजर्व बैंक आफ इंडिया को भारत सरकार अधिनियम की धारा 152 के तहत सांविधानिक सुधारों के मुख्यांश से खासतौर से अलग रखा गया और वायसराय को अनियंत्रित 'स्वनिर्णय' तथा 'व्यक्तिगत फैसले' का अधिकार देकर इसे सुरक्षा प्रदान की गई। इस प्रकार आधुनिक पूंजीवादी आर्थिक कार्य प्रणाली में शक्ति का मुख्य केंद्र ब्रिटिश महाजनी पूंजी के विशेष रूप से सुरक्षित क्षेत्र में बना रहने दिया गया।

ब्रिटिश बैंकिंग व्यवस्था की दमघोटू पकड़ का भारत में क्या भविष्य है ? इसमें कोई संदेह नहीं कि साम्राज्यवादी आर्थिक एकाधिकारिक हितों के अन्य महत्वपूर्ण मसलों की तरह यह भी काफी महत्वपूर्ण प्रश्न है जो सत्ता हस्तांतरण के तुरंत बाद पैदा होने वाले कुछ मामलों में से होगा और ब्रिटेन तथा भारत के बीच आने वाले दिनों में होने वाली संधि में इसे हल कर लेना जरूरी होगा। स्मरणीय है कि इस प्रस्तावित संधि को स्वीकार करने की घोषणा कैबिनेट मिशन ने 25 मई 1946 के अपने बयान में कर दी थी। उसने कहा था कि भारत की जनता को प्रभुसत्ता देने की दो अपरिहार्य शर्तों में से एक शर्त यह संधि भी होगी।

इसके साथ ही हाल के वर्षों में ब्रिटिश महाजनी पूंजी की सक्रिय गतिविधियों को भी देखा जा सकता है। यह बात खासतौर से इंपीरियल कैमिकल इंडस्ट्री, न्यू फील्ड्स जैसे बड़े न्यासों और एकाधिकारी कंपनियों के मामले में देखा जा सकता है जो नए युग की तैयारियों के लिए भारत में अपना आधार बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

इस प्रक्रिया में मिली सफलता को कम करके आंकना गलत होगा। आधुनिक युग में ब्रिटिश महाजनी पूंजी कुछ मामलों में जितनी मजबूती के साथ भारत पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए अपेक्षाकृत निपुण तरीकों का जो इस्तेमाल कर रही है उसे देखने में यदि कोई चूक हुई तो यह बहुत बड़ा राजनीतिक भोलापन होगा। यह राजनीतिक भोलापन सांविधानिक सुधारों की चकाचौंध में से आंखें बंद कर लेने या सत्ता द्वारा बड़े जोरशोर से प्रचारित की गई रियायतों को अथवा लंकाशायर के व्यापारियों द्वारा भारत में अपने एकाधिकार के खो जाने की चीख-पुकार को सही मान लेने से भी ज्यादा घातक होगा। इस प्रक्रिया का विश्लेषण हमने छठे अध्याय में किया है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान ब्रिटिश न्यासों द्वारा नियंत्रित कंपनियों के जरिए भारत का जो नया साम्राज्यवादी अतिक्रमण हुआ है (ये कंपनियां अपने आपको भारतीय औद्योगिक कंपनियां कहकर

पेश करती थीं) उसे हम युद्ध की पूर्व संध्या में महसूस कर चुके हैं। इसका प्रमाण हमें 1939 में सीनियर ट्रेड कमिश्नर फार इंडिया की रिपोर्ट में मिलता है। उन्होंने लिखा है :

> कुछ महत्वपूर्ण मामलों में, खासतौर से सिगरेट, दियासलाई, रबड़ टायर, साबुन, रंग-रोगन और कुछ दवाइयों के उत्पादन के मामले में, ये औद्योगिक संस्थान ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देशों की महत्वपूर्ण फर्मों की शाखाएं हैं। इन फर्मों ने यह फैसला किया है कि सीमा शुल्क के दायरे के भीतर रहते हुए और सरकारी खरीद-फरोख्त विभागों की जरूरतों के लिए टेंडर देते समय खुद को भारतीय मूल का बताकर यदि भारत के लोगों की मांगें पूरी की जाएं तो इसमें उन्हें (फर्मों को) काफी फायदा है। (भारत में ब्रिटेन के व्यापार की स्थितियों और संभावनाओं पर रिपोर्ट के लिए सर थामस एंसकफ की प्रारंभिक रिपोर्ट, 1939)

भारत के राष्ट्रवादी तत्वों की ये कटु शिकायतें हैं कि भारतीय उद्योग को संरक्षण देने का उद्देश्य इस प्रकार विफल होता जा रहा है और आरोप लगाया है कि सरकार और बैंक ब्रिटिश पूंजी का पक्ष ले रहे हैं जो अपने को भारतीय उद्योग के छद्म रूप में सामने प्रस्तुत कर रही है। भारतीय उद्योग के नाम पर बहुविज्ञापित वे सीमा शुल्क रियायतें उन्हें मिल रही हैं जिनके बारे में यह प्रचार किया जाता रहा है कि ये रियायतें भारतीय पूंजी-पतियों को दी जाएंगी। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश पूंजीवाद का और भी मजबूती से संस्थापन हो रहा है :

> इस संरक्षण का उद्देश्य भारतीय उद्योगों को विकसित करना है। भारतीय उद्योगों में वे उद्योग शामिल हैं जिनका स्वामित्व, नियंत्रण और संचालन भारतीयों के द्वारा होता है लेकिन भारत में गैरभारतीय उद्योगों के काम करने से संरक्षण का यह उद्देश्य विफल हो जाता है। विदेशी पूंजी जिस तरीके से भारत पर धावा बोल रही है वह बहुत गूढ़ और जटिल तरीका है...बहुधा इसे भारतीय रूप देने की कोशिश की जाती है जो महज एक प्रदर्शन-कला है। बहुधा देखा जाता है कि इन उद्योगों पर वास्तविक नियंत्रण और इन उद्योगों का वास्तविक संचालन गैर भारतीयों के हाथों में है जो प्रायः दिखावे के लिए कुछ भारतीय डायरेक्टरों को अपनी सहायता के लिए नियुक्त किए रहते हैं...
>
> यह बुराई महज आर्थिक नहीं है क्योंकि इस तरह के प्रत्येक निहित स्वार्थ सांविधानिक उपायों के जरिए अपनी घुसपैठ को निश्चित बनाने का तरीका निकाल लेंगे इसके जरिए वे भारतीय विधानमंडलों के अधिकार और शक्तियों को अत्यंत सीमित कर देंगे तथा महत्वपूर्ण उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का काम कठिन बना देंगे।

> उद्योग के क्षेत्र में इस तरह के तथाकथित भारत ब्रिटिश सहयोग का पलड़ा अंततोगत्वा राजनीतिक प्रतिक्रियावाद के पक्ष में भारी पड़ेगा और इस प्रकार वह वास्तविक आर्थिक स्वराज के लक्ष्य को एक स्वप्न बना देगा। (अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता में प्रकाशित लेख 'ए न्यू मिनेस', 11 नवंबर 1937)

1946 के सांविधानिक प्रस्तावों के साथ इधर हाल के वर्षों में ब्रिटिश पूंजी की आर्थिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति 'फाइनेंशियल टाइम्स' में प्रकाशित इन अंशों में देखी जा सकती है :

> आर्थिक दृष्टि से भारत अंगरेजों की मदद के बिना नहीं रह सकता और ब्रिटेन भारतीय बाजार का हाथ से निकलना नहीं बरदाश्त कर सकता। भारत के विकास में और भारत की समृद्धि में ब्रिटेन की आज भी उल्लेखनीय आर्थिक साझेदारी है। भारत को ब्रिटिश औजारों और अनुभवों की जरूरत है और स्टर्लिंग का व्यापक संतुलन होने के साथ ब्रिटेन के वित्तीय भविष्य में उसकी काफी दिलचस्पी है...यदि ब्रिटेन भारत को छोड़ता है तो उसे सभी संभव सद्भावना से अलग होना पड़ेगा। फिर ब्रिटिश हितों के प्रति अनुकूल रवैया अपनाने के लिए कौन से प्रमुख रक्षा उपाय बच रहेंगे ? क्या यह जुआ खेलना है ? समूची योजना अनेक चीजों को दांव पर लगाना है लेकिन निर्णय ले लिया गया है। मुमकिन है कि इससे साम्राज्यवादी हितों को नुकसान पहुंचे लेकिन यह भी हो सकता है कि इससे इन हितों को मजबूती मिले। फिलहाल इस संदर्भ में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। (फाइनेंशियल टाइम्स, 18 मई 1940)

इस प्रकार साम्राज्यवाद ने अपनी वर्तमान रणनीति को राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र की दिशा में मोड़ दिया है ताकि आने वाले नए युग में वह अपनी विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति को बनाए रखने में सफल हो सके। इससे उसे यह लाभ मिलेगा कि उस नए युग में ब्रिटिश झंडे के स्थान पर भले ही भारतीय झंडा फहरा दिया जाए लेकिन अंतिम शक्ति और शोषण का मुख्य लाभ जहां तक संभव होगा ब्रिटिश पूंजीवाद के हाथ में बना रहेगा।

> यही वह असली खतरा है जिसने राष्ट्रीय आंदोलन के पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने के लक्ष्य तक संघर्ष को जारी रखना आवश्यक बना दिया है। इस तरह की आजादी को पूरी तरह प्राप्त करने के लिए आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी आजादी प्राप्त करनी होगी, विदेशी पूंजी को दी जाने वाली सभी रियायतें रद्द करनी होंगी और उन सभी विदेशी उद्योगों, चाय बागानों, कारखानों, रेलवे, नौपरिवहन व्यवस्था आदि पर कब्जा करना होगा।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने आधुनिक युग में निस्संदेह बहुत ही कुशल और श्रमसाध्य रणनीति

अपनाई है लेकिन इसके बावजूद इस बात की कोई संभावना नहीं है कि आने वाले नए युग में भारत पर अपना प्रभुत्व और एकाधिकार बनाए रखने के ब्रिटेन के ये सपने कभी पूरे हो सकेंगे। भारत की उदीयमान शक्तियों को इतनी आसानी से उन रास्तों की ओर नहीं ले जाया जा सकता जिन्हें ब्रिटेन के निर्मम शासकवर्ग ने तैयार किया है। आज के भारत में प्रति वर्ष आर्थिक समस्याएं तेजी से बढ़ती जा रही हैं लेकिन साम्राज्यवाद की स्थितियों में इन समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। आधुनिक काल में साम्राज्यवादी नियंत्रण के तहत अथवा इस नियंत्रण द्वारा थोपे गए प्रतिबंधों के बावजूद होने वाला आर्थिक विकास जटिल, बाधित तथा विकृत विकास है और उसमें राष्ट्रीय पुनर्संरचना का कोई लक्षण नहीं है। ट्रेड कमिश्नर की रिपोर्ट में ब्रिटिश पूंजी के नियंत्रण और इसकी पहल के अंतर्गत जिन 'नए उद्योग धंधों' के विकसित होने का उल्लेख किया गया है वे मूलतः अप्रधान हल्के उद्योग धंधे हैं ('सिगरेट, दियासलाई, रबड़ टायर, साबुन, रंग-रोगन और कुछ दवाइयां') और उद्योगीकरण के लिए ये कोई आधार प्रस्तुत नहीं करते। भारत के अब तक छिपे हुए रासायनिक साधनों का पता लगाने और उनका इस्तेमाल करने के लिए कई योजनाओं की घोषणाएं की गईं और यह भी मानने के पर्याप्त कारण हैं कि सरकार ने 'आई० सी० आई० (इंडिया) लिमिटेड' को उल्लेखनीय रियायतें दीं। लेकिन भारी उद्योगों के विकास के लिए इस तरह का कोई उपाय नहीं किया गया। संभावनाओं और आवश्यकताओं के संदर्भ में देखें तो लोहा और इस्पात उद्योग का विकास बहुत दयनीय है। यह ध्यान देने की बात है कि यहां जो निर्णायक पथप्रदर्शक कार्य किया गया है वह ब्रिटिश पूंजी ने नहीं बल्कि टाटा की भारतीय फर्म ने किया। बाद में इसमें ब्रिटिश पूंजी इसलिए लगी ताकि इसपर वित्तीय दबाव बना रहे (इंडियन आयरन ऐंड स्टील कंपनी के अधिकांश शेयर ब्रिटिश स्वामित्व वाली बंगाल आयरन कंपनी ने खरीदे)। 1935 में लोहा और इस्पात उद्योग में लगे मजदूरों की कुल संख्या 32,000 थी। 1924 से 1939-40 के बीच इस्पात की सिल्लियों का उत्पादन 341,000 टन से बढ़कर 10,70,355 टन हो गया। इसी अवधि में सोवियत संघ में यह उत्पादन 1924 में 14,08,000 टन से बढ़कर 1936 में 16,300,000 टन हो गया।

पिछले युद्ध के दौरान यह पता चला था कि संकट के दिनों में भारत एक मोटर इंजन या हवाई जहाज भी नहीं बना सका था। यहां तक कि सरकारी कंपनी हिंदुस्तान एयर क्राफ्ट फैक्टरी, बंगलौर (जिसे थोड़ी अवधि के लिए अमरीकी सेना को सौंप दिया गया था) ने एक भी हवाई जहाज नहीं बनाया। युद्ध के बाद के दिनों में भी विकास की जो योजनाएं तैयार की गईं उनमें इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है। यह घोषणा की गई कि नई 'भारतीय' कार 'हिंदुस्तान-10' के निर्माण के लिए बिड़ला और न्यूफील्ड के बीच समझौते की बातचीत चल रही है लेकिन इस घोषणा के बाद पता चला कि इस कार के आवश्यक पुर्जों का निर्माण न्यूफील्ड्स करेंगे और इन्हें भारत में महज जोड़ा जाएगा। इसी प्रकार टाटा और आई० सी० आई० के बीच संपन्न समझौते की शर्तों से पता चलता है कि जब तक भारत आत्मनिर्भर नहीं हो जाता (आत्मनिर्भर होने की अवधि कम से कम बीस

वर्ष बताई गई) तब तक आवश्यक दवाएं इंग्लैंड से आयात की जाएंगी और उन्हें 'भारतीय' कहकर भारत में बेचा जाएगा। इस तथ्य को भी काफी प्रचारित किया गया है कि सिंहभूम का रेलवे वर्कशाप टाटा उद्योग समूह को सौंप दिया गया है ताकि वे भारतीय लोकोमोटिव इंजनों का उत्पादन कर सकें लेकिन अनुमान है कि पहला लोकोमोटिव इंजन बनने में अभी कई वर्ष लग जाएंगे। इस घोषणा को भी दुनिया भर में खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया जा रहा है कि हिंदुस्तान एयर क्राफ्ट फैक्टरी अब भारत सरकार के नियंत्रण और स्वामित्व में तथा ब्रिटिश इंजीनियरों के मार्ग निर्देशन में हवाई जहाजों का निर्माण शुरू करेगी। लेकिन जैसाकि इस घोषणा में स्वयं बताया गया है 'हवाई जहाजों के निर्माण के मामले में भारत कम से कम बीस वर्षों में पूरी तरह आत्मनिर्भर हो सकेगा।'

समन्वित आर्थिक विकास के लिए भारी उद्योग के आधार को विकसित करना एक बुनियादी शर्त है लेकिन इस काम में जो असफलता मिली है वह संयोगवश नहीं है, इससे साफ पता चलता है कि साम्राज्यवादी प्रभुत्व के तहत किसी देश की क्या स्थिति होती है। भारत मशीनों के लिए आज भी पूरी तरह दूसरे देशों पर निर्भर है। जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है 'धातुकर्मीय उद्योगधंधों के विकास का अर्थ है वास्तविक औद्योगिक क्रांति। इंग्लैंड, जर्मनी और अमरीका, इन सभी देशों ने अपने यहां कपड़ा बनाने वाले कारखानों की शुरुआत से पहले आधुनिक पैमाने पर लोहा और इस्पात उद्योग की नींव डाली।' (एल० सी० ए० नावेल्स, 'इकनामिक डेवलपमेंट आफ दि ओवरसीज इंपायर', पृष्ठ 443। विस्तार से अध्ययन के लिए पृष्ठ 160 देखें) यह प्रक्रिया सोवियत संघ में और भी तेजी से देखी जा सकती है। भारत में एकदम उल्टी ही प्रक्रिया है और इसमें उसकी औपनिवेशिक स्थिति प्रतिबिंबित होती है। भारत में भारी उद्योग के सही अर्थों में विकास के लिए सभी प्राकृतिक और तकनीकी संभावनाएं मौजूद हैं और इस विकास के लिए देश की स्थितियां फरियाद करती हैं लेकिन चूंकि यह एक उपनिवेश है इसलिए विकास की प्रक्रिया का औपनिवेशिक स्थिति से परस्पर विरोध है। यदि भारत में भारी उद्योग का विकास हो जाए तो दुनिया के पैमाने पर एक प्रमुख राष्ट्र के रूप में स्वतंत्र भारत के उभरने का आधार तैयार हो सकता है।

यही कारण है कि भारत में आर्थिक विकास की अनिवार्य आवश्यकताओं तथा साम्राज्य-वादी प्रभुत्व के जबरदस्त बंधनों के बीच संघर्ष दिन ब दिन तेजी से बढ़ता जाएगा और सद्भाव तथा सहयोग कायम करने के हर प्रयास को बेकार कर देगा।

एक शताब्दी पूर्व भारत में ब्रिटिश बुर्जुआ के शासन को उसके तमाम विध्वंसों और बर्बरताओं के बावजूद यह कहा जा सकता था कि वह पुरानी समाजव्यवस्था की बुनियादों को नष्ट करने में और नई समाजव्यवस्था के लिए स्थितियां तैयार करने में 'इतिहास के हाथों में एक अचेतन हथियार' की भूमिका अदा कर रहा था। आधुनिक साम्राज्यवाद

वर्तमान युग की घटनाओं के क्रम में, जब पुर्ननिर्माण के कार्यों को आगे बढ़ाना होगा, अब यह भूमिका अदा नहीं कर सकता।

भारत में साम्राज्यवाद के दिवालियेपन की कहानी भारत की वर्तमान स्थिति और यहां की जनता की हालत के रूप में लिखी हुई है। पिछले 25 वर्षों में सोवियत संघ ने जो उपलब्धियां की हैं और इसी अवधि के दौरान भारत की जो उपलब्धियां रहीं हैं उनके बीच कितनी विषमता है इसे देखे बिना नहीं रहा जा सकता। हम जब उन आंकड़ों पर विचार करते हैं जो लोहा और इस्पात उद्योग के बारे में ऊपर पेश किए गए हैं तब भारत और सोवियत संघ की प्रगति की विषमता का स्पष्ट पता चलता है। यही स्थिति अन्य मामलों में भी है। मसलन, सोवियत संघ में निरक्षरता का समाप्त हो जाना और भारत में बीस वर्षों में निरक्षरता में महज दो प्रतिशत की कमी होना, कृषि के विकास में और राष्ट्रीय आय की वृद्धि में दोनों देशों के बीच का अंतर अथवा सोवियत संघ में स्वास्थ्य और सामाजिक सेवाओं का निरंतर जाल विछते जाना तथा भारत में अत्यंत बुनियादी सेवाओं का लगभग पूरी तरह अभाव का होना। इन तथ्यों से भारतीय जनता को महत्व-पूर्ण सबक मिलता है और इस सबक को पूरी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए।

यह दिवालियापन किसी एक प्रशासक की योग्यता या यहां तक कि उसकी ईमानदारी अथवा सद्भाव का मामला नहीं है जिसने, यदि वह बहुत सजग प्रतिनिधि हुआ तो, इन निराशाजनक स्थितियों के खतरे को महसूस किया और यह समझ सका कि ये स्थितियां कौनसी दिशा ले रही हैं। यदि इन प्रतिनिधियों के भीतर कुछ अच्छा कर दिखाने की इच्छा भी रही तो साम्राज्यवादी शासन ने उन्हें ऐसी शक्ति नहीं दी थी कि वे कोई असामान्य नतीजे निकाल सकें। इसका कारण यह है कि साम्राज्यवादी शासन के बने रहने का सामाजिक आधार वही शक्तियां हैं जो भारत को पिछड़ेपन का शिकार बनाए हुए हैं। कृषि आयोग के समक्ष भारत में निरंतर बढ़ रहे कृषि संकट के बुनियादी प्रश्न पर विचार विमर्श करने के बारे में सरकारी तौर पर जो निषेधात्मक रवैया अपनाया गया वह भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दीवालियेपन का एक प्रतीक है। जब तक जमींदारी प्रथा से संबद्ध मसला हल नहीं कर लिया जाता, जब तक भूमि समस्या का कोई बुनियादी समाधान नहीं ढूंढ़ लिया जाता तब तक भारत की प्रगति की समस्या नहीं हल हो सकती, बुनियादी आर्थिक या सामाजिक पुर्ननिर्माण की संभावनाएं नहीं ढूंढ़ी जा सकतीं। लेकिन जमींदारी प्रथा पर आक्रमण करने का अर्थ यह है कि साम्राज्यवादी प्रभुत्व की बुनियाद पर आक्रमण किया जाए और उन सामाजिक शक्तियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया जाए जिनकी प्रगति का अर्थ है साम्राज्यवाद का विनाश। साम्राज्य-वाद ने अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए एक सामाजिक आधार पाने की कोशिश की है और इसके लिए उसने आबादी के उस हिस्से के विशेषाधिकारों और सुविधाओं को बना रहने दिया है जिनके हित आम जनता के हितों के प्रतिकूल हैं। इसी से पता चलता है कि अंगरेजी राज सामाजिक तौर पर कितना दकियानूस है और अत्यंत बुनियादी सुधारों के

मार्ग में वह किस तरह बाधाएं डालता है।[4] ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत में अपनी किस्मत को जमींदारवर्ग, राजाओं-महाराजाओं, सांप्रदायिक भेदभाव बनाए रखने वाले निहित स्वार्थी तत्वों तथा पिछड़ेपन और पतनशीलता की हिमायती प्रतिक्रियावादी शक्तियों की किस्मत के साथ बांध रखा है।

इधर हाल के वर्षों में भारत के औद्योगिक बुजुर्आवर्ग के साथ सहयोग कायम करने के लिए अंतिम बार किसी आधार को प्राप्त करने की कोशिश की गई है लेकिन जनता की सामाजिक प्रगति का विरोध करने वाले कुछ समान हितों के बावजूद यह आधार कभी स्थिर नहीं हो सकता। आने वाले दिनों में इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों को पतन से कोई नहीं बचा सकता और उन्हीं के साथ साम्राज्यवाद का भी विनाश निश्चित है।

इसलिए इस बात की पूरी संभावना है कि आने वाले दिनों में भारत को स्वाधीनता मिल जाएगी हालांकि अंतिम लड़ाई अब भी लड़नी बाकी है। यह आजादी जल्द या देर से प्राप्त होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि जनता में कितनी एकता है। राष्ट्रीय आंदोलन का जन आधार कितना मजबूत है तथा आंदोलन की अपने लक्ष्य के प्रति कितनी साफ दृष्टि है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भारत में पुर्ननिर्माण के अत्यंत आवश्यक कार्य होने बाकी हैं और इसे स्वयं भारत की जनता ही चला सकती है और उसी को यह कार्य पूरा करना होगा।

2. किस तरह का आजाद भारत ?

इस प्रकार भारत के भविष्य से संबंधित अन्य प्रश्न भारतीय जनता की आंतरिक शक्तियों पर आकर टिक जाते हैं। भारत की जनता समग्र रूप से सजातीय नहीं है। हमने देखा है कि कुछ ऐसी ताकतवर प्रतिक्रियावादी शक्तियां हैं जो अपने विशेषाधिकार बनाए रखने की आशा में साम्राज्यवादियों के साथ पूरी तरह सांठ गांठ किए हुए हैं (हालांकि साम्राज्यवाद के कमजोर होने के साथ ही इनमें से भी कुछ के अंदर अब अनिश्चय की भावना धर करने लगी है)। हमने भारतीय बुर्जुआ की ढुलमुल भूमिका को देखा है जिसका ब्रिटिश बुर्जुआ से जबरदस्त विरोध है : वह भविष्य के भारत को एक आजाद देश के रूप में देख रहा है और उसने राष्ट्रीय आंदोलन में एक शक्तिशाली ही नहीं बल्कि प्रमुख भूमिका निभाई है। फिर भी हर बार जब जनसंघर्ष तेज होने लगा है उसने राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में अवरोध का काम किया है और साम्राज्यवाद के साथ अस्थाई मोलभाव करने के बाद फिर संघर्ष में कूद पड़ा है। हमने औद्योगिक मेहनतकशों का उदय और किसानों का विद्रोह देखा है जिसके फलस्वरूप भारत के राजनीतिक रंगमंच पर नए सामाजिक मसले बड़ी तेजी से उभरकर सामने आए हैं। छात्र, बुद्धिजीवी युवक, शहरी निम्न पूंजीपतिवर्ग कोई स्वतंत्र भूमिका नहीं निभा सकते लेकिन वे एक सचेतन राजनीतिक आंदोलन को अत्यंत सक्रिय आंदोलनकारी और संगठनकारी अवयव प्रदान

कर सकते हैं। हमने देखा है कि बढ़ते हुए राष्ट्रीय और सामाजिक संकट के दौर में इन वर्गों में ये सभी परस्पर विरोधी धाराएं उद्घाटित हुई हैं।

क्या स्वतंत्रता के लिए लड़ी जा रही लड़ाई में साम्राज्यवाद को अंतिम रूप से पराजित करने तक राष्ट्रीय आंदोलन की एकता को सफलतापूर्वक बनाया रखा जा सकेगा? या बढ़ते हुए जनआंदोलन के भय से बुर्जुआवर्ग का राष्ट्रीय रूढ़िवादी तत्व आंदोलन से अपने को अलग करके साम्राज्यवाद के साथ सांठ गांठ कर लेगा और इस प्रकार साम्राज्यवाद को अस्थाई जीवनशक्ति दे देगा जिससे राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष की अंतिम विजय सामाजिक मुक्ति के लिए जारी जनसंघर्ष से जुड़ जाएगी? यदि आजादी हासिल होती है तो पुराने ब्रिटिशशासित भारत के स्थान पर किस तरह के नए भारत की स्थापना होने जा रही है? क्या नवीकृत ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा उद्योगवाद की सीमाओं पर आधारित आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप रूपांतरित पुनर्निर्मित हिंदू या प्राचीन भारतीय सभ्यता के पुनरुत्थानवादी समर्थक संघर्ष को आगे बढ़ा सकेंगे और अपने सपनों के भारत का निर्माण कर सकेंगे? या औद्योगिक बुर्जुआवर्ग तथा शिक्षित वर्ग में उनके प्रतिनिधि यह बीड़ा उठाएंगे और पश्चिम के पूंजीवादी देशों के नमूने पर आधुनिक पूंजीवादी भारत का निर्माण करेंगे? या टर्की की तरह ही नियंत्रित पूंजीवाद की पद्धति पर एकदलीय राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का अस्थाई दौर आ टपकेगा? या जनता का कठिन परिश्रम तथा जबरदस्त संघर्ष निकट भविष्य में ही समाजवाद के रास्ते पर बढ़ने वाले एक जनवादी भारत को जन्म देगा?

भारत से संबंधित विचारणीय विषयों में ऐसे और इस तरह के कई प्रश्न बड़ी तेजी से पैदा हो रहे हैं। ये ऐसे मसले नहीं हैं जो भविष्य के बारे में पूरी तरह अटकलों पर आधारित हैं क्योंकि भावी लक्ष्यों की अवधारणा और वर्तमान संघर्ष में समाज के अलग अलग वर्गों और शक्तियों की भूमिका का आकलन मौजूदा संघर्ष को और राष्ट्रीय आजादी की प्राप्ति की संभावनाओं को अत्यधिक प्रभावित करता है। भारत में वर्गसंघर्ष और राष्ट्रीय संघर्ष एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं और भारतीय राजनीति को समझने के लिए तथा भारतीय जनता के सामने मौजूद तूफानी सागर पर सफलतापूर्वक विजय प्राप्त करने के लिए इस अंतरसंबंध को समझना अत्यावश्यक है।

इन मसलों पर विचार करते समय उन वास्तविक सामाजिक या वर्ग शक्तियों के बीच (जिनकी सापेक्षिक शक्ति और जिनका पारस्परिक प्रभाव एक के बाद एक आने वाली अवस्थाओं तथा अंतिम निष्कर्ष को दरअस्ल संचालित करता है) तथा एकदम ताजा दृष्टिकोणों और विचारधाराओं के बीच फर्क करना जरूरी है जिनके जरिए फिलहाल ये शक्तियां स्वयं आंशिक रूप से अभिव्यक्त होती हैं और जो अनेक स्तरों पर विचारधाराओं के संघर्ष का स्वतंत्र आधार प्रतीत होती हैं।

राष्ट्रीय आंदोलन में आज तीन मुख्य प्रवृत्तियां या मुख्यतः तीन तरह के सामान्य सामाजिक दृष्टिकोण मौजूद हैं। इनमें पहली प्रवृत्ति को रूढ़िवादी (सामाजिक अर्थों में इसे रूढ़िवादी प्रवृत्ति कह सकते हैं लेकिन जरूरी नहीं कि राजनीतिक अर्थों में या साम्राज्यवाद के संदर्भ में भी यह प्रवृत्ति रूढ़िवादी हो) या पीछे की ओर देखने वाली प्रवृत्ति कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति अपना कार्यक्रम एक ऐसे आदर्श पुरातन भारतीय सभ्यता के आधार पर तैयार करती है जिसकी बुराइयों को मोटे तौर पर तो निकाल दिया जाता है पर जिसमें हिंदूवाद की बुनियादी संस्थाएं और इसके सिद्धांत बने रहते हैं। यह आधुनिक उद्योगवाद को बहुत खतरनाक समझती है (इसे बिना किसी भेदभाव के पूंजीवाद या साम्यवाद जितना खतरनाक मानती है) और चरखा लेकर तथा आदिम कृषीय जीवन को ही एक आदर्श स्थिति मानकर समझती है कि किसानों की आकांक्षाओं का सही प्रतिनिधित्व कर रही है।

दूसरी शक्तिशाली प्रवृत्ति औद्योगिक बर्जुआ की प्रवृत्ति है। औद्योगिक बुर्जुआ पश्चिम के नमूने पर आधुनिक पूंजीवादी भारत के निर्माण की कोशिश करता है लेकिन साथ ही वह औद्योगिक मजदूरों की अनिवार्य रूप से बढ़ती शक्ति तथा उनकी मांगों और किसानों के बीच बढ़ते असंतोष से भयभीत रहता है। नतीजा यह होता है कि वह अपने लक्ष्यों को कभी कभी एक अर्धसमाजवादी नारा देकर आदर्श साबित करने की कोशिश करता है। वह सामान्य तौर पर प्रचलित 'बिना वर्गसंघर्ष का समाजवाद' या 'भारतीय समाजवाद' नारा देता है जो एक बहुत अस्पष्ट मानवतावाद और वर्ग समझौतावाद को अभिव्यक्त करता है।

तीसरी प्रवृत्ति है समाजवाद की उभरती प्रवृत्ति जो अत्यंत स्पष्ट रूप में औद्योगिक मेहनतकशवर्ग के लक्ष्य की सचेतन अभिव्यक्ति का और भारतीय समाज के बुनियादी रूपांतरण का प्रतिनिधित्व करता है। राष्ट्रीय आंदोलन में इस प्रवृत्ति को दिनोंदिन काफी तेजी से खासतौर से युवावर्ग का समर्थन मिलता जा रहा है।

इन तीनों प्रवृत्तियों में से पहली प्रवृत्ति का महत्व आज भी बना हुआ है और हालांकि इसका न तो कोई ठोस सामाजिक आधार है और न अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की इसके पास कोई व्यावहारिक संभावना है फिर भी इसे कम करके नहीं आंका जाना चाहिए। इसका यह विश्वास एक बहुत बड़ा भ्रम है कि वह किसानों की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करती है और इसलिए 'वास्तविक जनता' तथा 'भारतीय समाज की संरचना' के काफी निकट है। यह भ्रम ठीक वैसा ही है जैसा एक जमाने में रूस में पापुलिस्टों ने तथा अन्य देशों में आंदोलनों के दौरान विभिन्न प्रवृत्तियों ने पाल रखा था। लेकिन जैसाकि रूस में या अन्य देशों में हुआ, औद्योगिक मजदूरवर्ग के साथ घनिष्ठ संबंध कायम करके जब कृषि क्रांति विकास करेगी तो ये भ्रम अपने आप ही चूर चूर हो जाएंगे। दरअस्ल जब निम्न पूंजीपतिवर्ग का एक उल्लेखनीय हिस्सा आर्थिक स्थिति में होने वाले

परिवर्तनों को बरदाश्त नहीं कर पाता, उससे परेशान हो जाता है तथा खतरा महसूस करने लगता है, उसके परिचित तटबंधों में जब दरार पड़ जाती है, संक्रमण और संघर्ष के तूफान में वह बिना किसी पथप्रदर्शक के फेंक दिया जाता है और सहारे के लिए किसी पुरातन अनिश्चितता की चट्टान तलाशने की असफल कोशिश कर रहा होता है तब प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के रूप में इसी तरह के भ्रम सामने आते हैं। अपने गूढ़तम अर्थों में वह उन सभी सामाजिक शक्तियों की बरबादी की अभिव्यक्ति है (उजड़े हुए हस्तकर्मी, जमीन से बेदखल किए गए किसान, दिवालियापन के शिकार छोटे व्यापारी) जिन्हें साम्राज्यवाद विनष्ट कर रहा है और जो 'पैशाचिक पश्चिमी सभ्यता' तथा मशीनों को ही अपना दुश्मन समझ रही हैं। यह अत्यंत दुखद दृष्टिकोण है जो मूलत: निराशावादी है। यह पृथ्वी के जीवन को दुखों और भ्रमों से भरा मानकर किसी दूसरे लोक के काल्पनिक आध्यात्मिक जगत में राहत तलाश करना है। यह चुकी हुई शक्तियों की अभिव्यक्ति है जो राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के भीतर भी एक हार रही लड़ाई लड़ रही हैं जबकि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का स्वरूप ही उदीयमान होता है और वह आशावादी आंदोलन होता है। लेकिन इसका वर्तमान महत्व है। महज इसलिए नहीं कि यह भारत में साम्राज्यवाद द्वारा की गई विनाश प्रक्रिया का एक सामाजिक लक्षण है बल्कि इसलिए भी कि यह आज भी उस पुरातनपंथी 'कट्टरवादिता' का आधार है जो कांग्रेस के अंदर मौजूद है और जो गांधी को मसीहा मानकर उसके चारों तरफ इकट्ठा हुई।

इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधियों ने रचनात्मक कार्यक्रम के नाम पर गांवों में पुनर्निर्माण का काम शुरू किया और उद्योगीकरण का विरोध किया।

> सही समाजवाद ग्रामोद्योगों के विकास में है। हम यह नहीं चाहते कि हम अपने देश में भी पश्चिमी देशों की तरह वैसी ही अव्यवस्थापूर्ण परिस्थितियां पैदा कर दें जो बड़े पैमाने पर उत्पादन की वजह से हुई हैं। (वल्लभभाई पटेल का अहमदाबाद में भाषण, 3 जनवरी 1935)

> अपनी संस्कृति के पुनर्विकास के लिए भारत, चीन और मिस्र को अपनी कृषि-सभ्यतावाले अतीत के दिनों को देखना चाहिए। (अखिल भारतीय ग्रामोद्योग एसोसिएशन के सचिव जे०सी० कुमारप्पा : 'व्हाई दि विलेज मूवमेंट', 1936, पृष्ठ 55)

आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों पर आधारित पुरानी 'भारतीय सभ्यता' (मार्क्स ने इसी के घिसे पिटे रूप के बारे में बताया था कि इसने पूर्वी देशों में तानाशाही, गुलामी, अंधविश्वास और जड़ता पैदा की) को एक ऐसा आदर्श माना गया जिसके पुनर्जीवन की जरूरत पर जोर दिया गया।

मेरा विश्वास है कि भारत ने जिस सभ्यता का विकास किया था उसका मुकाबला दुनिया का कोई भी देश नहीं कर सकता। (गांधी : 'इंडियन होम रूल', 1908, नई भूमिका के साथ पुनर्मुद्रित, 1919, पृष्ठ 66)

जैसाकि गांधी के शुरू के लेखों में देखा गया, बाद के वक्तव्यों में और भी जोरदार शब्दों में मशीन और आधुनिक विज्ञान की एक साथ भर्त्सना की गई :

यह मानना बहुत जरूरी है कि मशीन अपने आप में बुरी चीज है। पहले हम यह मान लें फिर धीरे धीरे इस योग्य हो जाएंगे कि उसके बिना भी काम चला लें। (गांधी : 'इंडियन होम रूल', पृष्ठ 124)

अस्पताल पाप का प्रचार करने वाली संस्था है। (वही, पृष्ठ 64)

1909 में अपने एक मित्र को लिखे 'कन्फेशन आफ फेथ' में गांधी की यह विचारधारा और भी स्पष्ट रूप से सामने आती है :

भारत पर अंगरेजों का शासन नहीं है बल्कि यह आधुनिक सभ्यता है जो अपनी रेलव्यवस्था, तार, टेलीफोन तथा सभी नए आविष्कारों के जरिए भारत पर शासन कर रही है। इन आविष्कारों को सभ्यता की विजय माना गया है…

यदि कल अंगरेजों के शासन के स्थान पर भारतीयों का शासन स्थापित हो जाए और यह शासन भी उन्हीं आधुनिक साधनों पर आधारित हो तो भारत की स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं होगी। हां, वह अपना कुछ पैसा जरूर बचा सकेगा जो अभी इंग्लैंड चला जाता है लेकिन तब भारत यूरोप या अमरीका के देशों में महज दूसरे या पांचवें राष्ट्र का स्थान पा सकेगा…

चिकित्साविज्ञान काले जादू का सारांश है। उच्च चिकित्साविज्ञान की कुशलता से जो ज्ञान हासिल होता है उससे नीम हकीमी कई गुना बेहतर है…

भारत का उद्धार इसी में है कि उसने पिछले पचास वर्षों के अंदर जो कुछ भी सीखा है, भुला दे। रेलव्यवस्था, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह के सभी साधनों को समाप्त होना होगा और तथाकथित उच्चवर्ग के लोगों को यह सीखना होगा कि वे किस तरह सचेतन ढंग से और धार्मिक रूप से साधारण किसानों का जीवन व्यतीत करें। (गांधी : 'ए कनफेशन आफ फेथ', 1909, 'स्पीचेज एंड राइटिंग्ज', पृष्ठ 1041-43)

जाहिर है कि यह कार्यक्रम भारत की गरीबी का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करता है बल्कि गरीबी को वह मानव जाति के बहुमत के लिए दैवी इच्छा मानकर आदर्श रूप प्रदान करता है।

> भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि किसी भी रूप में नैतिक विकास में सहायक नहीं होती है। (गांधी : 'ए कनफेशन आफ फेथ', 'स्पीचेज ऐंड राइटिंग्ज', पृष्ठ 1042)

> भौतिक सुख-साधन हमारे पास जितना ही अधिक रहेंगे उतना ही अधिक हम दुनिया की मोहमाया से बंधते जाएंगे। (कुमारप्पा : 'व्हाई दि विलेज मूवमेंट', पृष्ठ 39)

> सुख की प्राप्ति हमें भौतिक वस्तुओं की प्रचुरता से नहीं होती है। (वही, पृष्ठ 65)

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भूखी और असंतुष्ट जनता को दिए जाने वाले इस तरह के उपदेशों को भारत के बड़े बड़े उद्योगपतियों का भरपूर समर्थन और संरक्षण मिलता है। ये उद्योगपति स्वयं भी एक तरफ तो अपने फुरसत के समय में थोड़ा-बहुत चरखा कात-कर आम जनता के सादा जीवन के प्रति अपनी संतुष्टि का इजहार करते हैं और दूसरी तरफ मशीनों और औद्योगिक शोषण के जरिए अपार संपत्ति इकट्ठा करते हैं। संपत्ति के अधिकार के संदर्भ में गांधी ने अपने सामाजिक सिद्धांत में जो कहा था उससे भी हम अपरिचित नहीं हैं :

> मेरा सामाजिक सिद्धांत यह है कि हालांकि हम जन्म से एक समान हैं अर्थात हमें समान अवसर प्राप्त करने का अधिकार है तो भी हम सबकी सामर्थ्य एक जैसी नहीं है। कुदरती तौर पर यह असंभव है कि हम सब डीलडौल में एक जैसे हों, हमारी चमड़ी का रंग एक हो और हम सबके पास एक जैसी बुद्धि हो और इसीलिए स्वाभाविक तौर पर हममें से कुछ ऐसे होंगे ही जो दूसरों की तुलना में ज्यादा भौतिक समृद्धि जुटा सकेंगे। जिनके पास क्षमता है, वे अपनी क्षमता का इस्तेमाल इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए करते हैं। यदि वे अपनी क्षमताओं का इस्तेमाल अच्छी भावना के साथ करेंगे तो उनका काम जनता के कल्याण के लिए होगा। ये लोग 'न्यासधारी' (ट्रस्टीज) होंगे और कुछ नहीं। यदि कोई व्यक्ति बुद्धिमान है तो उसे अधिक से अधिक कमाने का मौका देना चाहिए और उसे अपनी योग्यता का इस्तेमाल करने में कोई बाधा नहीं पहुंचानी चाहिए। (चार्ल्स पेताश को दिया गया गांधी का इंटरव्यू, 'मोंद', 20 फरवरी 1932)

यहां आदर्शवाद की आड़ में उन्हीं जाने-पहचाने बुर्जुआ सिद्धांतों को पेश किया गया है।

इस कार्यक्रम की तत्काल व्यावहारिक रूप से जो अभिव्यक्ति हुई वह चरखा और तकली

के प्रचार में, राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में खादी के इस्तेमाल को बढ़ावा देने में तथा ग्रामोद्योग के विकास में दिखाई पड़ी। 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' को राष्ट्रीय कांग्रेस की एक महत्वपूर्ण सहायक संस्था के रूप में संगठित किया गया। इस आंदोलन के लिए आधार कितना व्यावहारिक था यह देखना जरूरी है। विकसित बुर्जुआ अर्थव्यवस्था के श्रेष्ठतम अर्थशास्त्री अपनी व्यवस्था की ज्ञानोद्दीप्त ऊंचाइयों से इस अत्यंत पिछड़ी धारणा का बड़े बेलौस ढंग से मजाक उड़ाते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था की विशाल समस्याओं को और उत्पादन की कमी को चरखा कातकर और आदिम तरीके अपनाकर हल कर लिया जाएगा। फिर भी इस आंदोलन को जो सीमित और आंशिक समर्थन मिला उसके कारण विशुद्ध सैद्धांतिक नहीं हैं, बल्कि व्यावहारिक समझ है। दरअस्ल भारत एक ऐसा देश है जहां कृषि के क्षेत्र में निराशाजनक रूप से विघटन की स्थिति मौजूद है जिसकी वजह से काफी बड़ी आबादी को इस तरह के श्रम में जुतना पड़ता है जिसमें तकरीबन वर्ष का आधा हिस्सा वह बेरोजगारी में काटती है और यहां औद्योगिक विकास न होने के कारण चरखा, हथकरघा और हस्तशिल्प उद्योग किसी भी रूप में एक उल्लेखनीय आबादी के लिए अस्थाई तौर पर राहत पहुंचा सकते हैं क्योंकि इसमें बहुत कम उपकरणों या साधनों का इस्तेमाल होता है।

फिर भी यह एक ऐसी दिलासा है जो भारतीय अर्थव्यवस्था की मौजूदा विकृति और अवरुद्धता की निकृष्टतम खामियों को स्वीकार करने पर आधारित है, और इसका मकसद इन बुराइयों को समाप्त करने के बजाय अपने को इनके अनुसार ढालना है। आर्थिक दृष्टि से देखें तो पूंजीवादी जगत में हस्तउद्योग को फिर से स्थापित करने के कृत्रिम प्रयास का कोई भविष्य नहीं है। कीमत के मामले में खादी का कपड़ा मिल में बने कपड़े का मुकाबला नहीं कर सकता और इसलिए यह अत्यंत निर्धनवर्ग की पहुंच के बाहर है। गांधी ने अपने पत्र 'हरिजन' के 19 जनवरी 1938 के अंक में शिकायत की थी कि कांग्रेस संविधान में खादी से संबंधित धारा का 'पालन से ज्यादा उल्लंघन किया जा रहा है' और उन्होंने अपने देशवाशियों से अपील की कि 'विदेशी कपड़ों जैसा मुलायम, आकर्षक तथा सस्ता न होने के बावजूद वे खादी का ही इस्तेमाल करें।' पहली दिक्कत (अर्थात मुलायम और आकर्षक न होना) को देशभक्तिपूर्ण अपीलों से दूर किया जा सकता है लेकिन दूसरी दिक्कत (सस्ता न होना) काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि आम भारतीय की मौजूदा आय बहुत कम है। यहां एक बात बहुत स्पष्ट है कि भारत जैसे अत्यंत गरीब देश में उत्पादन के ऐसे श्रमसाध्य और आदिम साधनों की जरूरत नहीं है जिससे अधिक से अधिक मेहनत से कम से कम उत्पादन हो बल्कि अत्यंत आधुनिक तकनीक और उपकरणों की जरूरत है जिससे काफी तेजी से अधिक से अधिक उत्पादन किया जा सके ताकि गरीबी पर काबू पाने के साधन उपलब्ध हों। बेशक यह ध्यान देने की बात है कि अपनी बाद की घोषणाओं में गांधी ने आधुनिक मशीनों के बारे में अपने विचारों में संशोधन किया और यह तर्क पेश किया जैसाकि उन्होंने ग्रामोद्योग के बारे में 'हरिजन' में अपने बाद के एक लेख में कहा कि 'मशीनीकरण उस स्थिति में अच्छा है जब निर्धारित काम

को पूरा करने के लिए बहुत कम हाथ हों। जब काम की जरूरत से ज्यादा हाथ हों तो मशीनीकरण एक बुराई है और भारत में यही स्थिति है।' इस तर्क में छिपी प्रतिक्रियावादी भ्रांति स्पष्ट है।

भारतीय समस्याओं के समाधान के लिए एक आदिम अर्थव्यवस्था का प्रचार करना महज इसलिए प्रतिक्रियावादी काम नहीं है क्योंकि यह सारी कोशिशों को मूल समाधान की विपरीत दिशा में ले जाता है (क्योंकि गरीबी और दुखदर्द की वर्तमान बुराइयों की जड़ आदिम तकनीक ही है और यह अपने आप में उस समाजव्यवस्था की जड़ में मौजूद है जो साम्राज्यवाद के तहत शोषण की शिकार है) बल्कि यह किसानों और आम जनता का ध्यान उन बुनियादी सामाजिक समस्याओं से हटाता है जो उनके सामने अपने भीषणतम रूप में खड़ी हैं। जब तक जमीन, जमींदारी प्रथा और जमीन के पुनर्वितरण की समस्या से नहीं निबटा जाता, तब तक कृषि के क्षेत्र में विकास असंभव है। लेकिन इस स्थल पर खेतिहर आदर्शवादियों और लुप्त ग्रामीण समुदाय के पुजारियों की आवाज धीमी पड़ जाती है, जबान लड़खड़ाने लगती है और जमींदारी प्रथा के पक्ष में अस्पष्ट संकोचपूर्ण दलील में डूब जाती है। गांधी ने संयुक्त प्रांत के जमींदारों से 1934 में कानपुर में जो बातचीत की थी वह काफी मशहूर है। जमींदारों द्वारा समाजवाद के खतरे का भय प्रदर्शित करने पर गांधी ने उन्हें आश्वासन दिया कि 'जमींदारों और काश्तकारों के बीच अच्छे संबंध बनाए जा सकते हैं और इसके लिए दोनों का हृदय परिवर्तन करना होगा। मैं कभी इस पक्ष में नहीं हूं कि तालुकेदारी या जमींदारी प्रथा को समाप्त किया जाए।' उन्होंने आगे कहा :

> मैं संपत्तिवान वर्गों को बिना किसी उचित कारण के उनकी निजी संपत्ति से वंचित कराने के कार्य में कोई भूमिका नहीं निभाऊंगा। मेरा लक्ष्य आपके हृदय तक पहुंचकर उसका इस तरह से परिवर्तन करना है ताकि आप अपनी सारी निजी संपत्ति को अपने काश्तकारों के लिए न्यास का रूप दे दें और इसका इस्तेमाल अब मुख्यतया उनकी खुशहाली के लिए करें··· मेरी कल्पना में जो रामराज्य है उसमें राजा और रंक दोनों के अधिकारों की गारंटी शामिल है। आप निश्चित रह सकते हैं कि किसी तरह का वर्गसंघर्ष रोकने में मैं अपने प्रभाव का भरपूर इस्तेमाल करूंगा···मान लीजिए कि आपको आपकी संपत्ति से वंचित करने का कोई अन्यायपूर्ण प्रयास होता है तो वैसी हालत में आप मुझे अपनी ओर से लड़ता पाएंगे। हमारा समाजवाद या साम्यवाद अहिंसा पर तथा श्रम और पूंजी एवं जमींदार और काश्तकार के बीच सद्भावपूर्ण सहयोग पर आधारित होना चाहिए। (गांधी की संयुक्त प्रांत के जमींदारों के शिष्टमंडल से भेंटवार्ता, जुलाई 1934, 'महरट्टा', 12 अगस्त 1934)

हमने पहले भी कई बार देखा है कि किस प्रकार गांधी ने इसी तरह से औद्योगिक पूंजीपति

का पक्ष लिया है और वर्गसंघर्ष पर आधारित मजदूर संगठनों का विरोध किया है।

यदि बड़े बुर्जुआ के दृष्टिकोण से देखें जो एक मुस्कान के साथ अपनी आदर्शवादी उत्कंठाओं और भोलीभाली अद्‌भुत कल्पनाओं को झेलना या कभी कभी प्रोत्साहित भी करता होता है तो इस उपदेश का व्यावहारिक महत्व समझ में आ जाएगा। वे जानते हैं कि अपने वर्गहितों की रक्षा के लिए और जनता को काबू में रखकर शांति बनाए रखने के लिए इनका व्यापारिक महत्व कितना है। आधुनिक युग की नाजुक संक्रमणशील स्थितियों में बुर्जुआ राष्ट्रवाद के अभीष्ट प्रतिनिधि और योग्यतम नेता के रूप में गांधी की ऐतिहासिक भूमिका का जो सामाजिक महत्व है, वह उनके सामाजिक दर्शन और बुर्जुआ दृष्टिकोण के बीच के सतही अंतर्विरोध के बावजूद, व्यवहार में उनकी राजनीतिक भूमिका से मेल खाता है। उनके भाषणों और प्रवचनों में जो अंतर्विरोध और दोष दिखाई देते हैं, जिसे कोई भी सामान्य आलोचक भांप सकता है वही दरअस्ल उनकी अद्‌भुत सफलता और उपलब्धि का रहस्य है। इस संक्रमणकाल में दूसरा ऐसा नेता न था जो राष्ट्रीय आंदोलन की वास्तविक बुर्जुआ दिशा और सजग होती हुई (किंतु जो उस समय तक पूरी तरह जागरूक न थी) जनता के बीच की खाई को पाट सकता। शुभ और अशुभ दोनों के लिए गांधी ऐसा कर सके थे। उन्होंने आंदोलन को नेतृत्व दिया, यहां तक कि ऐसा लगता था मानो आंदोलन को उन्होंने ही जन्म दिया था। उनकी यह भूमिका तभी समाप्त हुई जब जनता धीरे धीरे अपने वर्गहितों को स्पष्ट रूप से पहचानने लगी और भारतीय दृश्यपटल पर वास्तविक वर्गशक्तियों तथा वर्गसंबंधों ने काल्पनिक तथा धार्मिक आवरण का सहारा लिए बिना डटना शुरू किया।

फिर भी औद्योगिक बुर्जुआ ने गांधीवाद को यद्यपि बहुत खुलकर नाम के लिए अपना और जनता का नेता माना पर राष्ट्रीय आंदोलन के आवश्यक कार्यक्रम के रूप में प्रगतिशील औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं और लक्ष्यों की प्राप्ति के मार्ग में इसे कभी नहीं आने दिया। यहां सामाजिक रूढ़िवाद को सिद्धांत में चाहे यह कुछ भी उपदेश क्यों न दे व्यवहार में बदलना पड़ा। भारतीय मिलों में बने कपड़े के समान अधिकार को स्वीकार किया गया और 1930 के गांधी के 11 सूत्री प्रस्ताव को माना गया जो सामान्यतया बुर्जुआ व्यापारिक, औद्योगिक और वित्तीय कार्यक्रम था। जैसाकि 1938 के औद्योगिक नियोजन कार्यक्रम के बाद कांग्रेस द्वारा स्थापित राष्ट्रीय योजना आयोग से पता चलता है, राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रीय कांग्रेस एक साथ अत्यंत तीव्र औद्योगिक विकास की योजना में जुट गए।

औद्योगिक विकास के बारे में कांग्रेस के आधुनिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति कांग्रेस अध्यक्ष ने 1938 में इंडियन साइंस एसोसिएशन की वार्षिक बैठक में की। इस बैठक में प्रोफेसर साहा ने सवाल किया था :

क्या मैं जान सकता हूं कि आने वाले कल का भारत ग्राम्य जीवन के दर्शन को या बैलगाड़ी दर्शन को फिर से जीवित करने जा रहा है जिससे गुलामी को शाश्वत बनाया जा सके अथवा वह एक ऐसे आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र का रूप लेने जा रहा है जो अपने सभी प्राकृतिक साधनों का विकास करके गरीबी, अज्ञानता और सुरक्षा की समस्याओं को हल कर सके और राष्ट्रों के सौजन्य में सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर सभ्यता का एक नया चक्र शुरू कर सके ?

राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष सुभाषचंद्र बोस ने जवाब दिया :

राष्ट्रीय विकास का काम विज्ञान की मदद से ही संभव है···भारत आज भी विकास की पूर्व औद्योगिक अवस्था में है। कोई भी पुनरुज्जीवन या पुनरुत्थान तब तक संभव नहीं है जब तक भारत एक औद्योगिक क्रांति की यातना से न गुजरे। हम चाहे इसे पसंद करें या नहीं लेकिन हमें यह तथ्य मानना होगा कि आधुनिक इतिहास का वर्तमान युग औद्योगिक युग है। औद्योगिक क्रांति से बचने का कोई उपाय नहीं है। अधिक से अधिक हम यही तय कर सकते हैं कि यह क्रांति अर्थात उद्योगीकरण का काम ग्रेट ब्रिटेन की तरह अपेक्षतया धीरे धीरे हो या सोवियत रूस की तरह तेजी के साथ जिसमें अधिक प्रयत्न की जरूरत होती है। मैं समझता हूं कि इस देश में भी यह काम तेजी से होना है।

इस प्रकार व्यावहारिक अनुभव और विकास ने पुरानी आधिभौतिक अटकलबाजियों का जवाब दे दिया। सक्रिय राष्ट्रीय आंदोलन के क्षेत्र से सामाजिक रूढ़िवादिता अब जा रही है सिवाय कुछ पुराने भ्रमों के जो अब भी घिसट घिसट कर अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, पर वे अब नीतिनिर्देशन का दावा नहीं कर सकते। इस प्रकार यह बात सामने आई कि आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन में व्यावहारिक रूप में तीन नहीं बल्कि दो मुख्य प्रवृत्तियां, वर्गीकरण, कार्यक्रम और नीतियां हैं : एक तो प्रमुख औद्योगिक बुर्जुआ प्रवृत्ति जिसकी निम्न पूंजीपतिवर्ग के समूहों पर अलग अलग छाप है और दूसरी औद्योगिक मजदूरवर्ग की समाजवाद की प्रवृत्ति जो मजदूरों, गरीब किसानों और शहरी निम्न पूंजीपतिवर्ग के निचले तबके के हितों को अभिव्यक्त करती है। नीति विषयक इन दो प्रमुख धाराओं के बीच विभिन्न कार्यक्रम, नेतृत्व और वर्ग एक समूह बनाते हैं हालांकि इनकी नीति अक्सर बहुत साफ नहीं होती। इन वर्गों के आपसी संबंधों और शक्ति संबंधों पर, जो अपने भिन्न सामाजिक लक्ष्यों के बावजूद राष्ट्रीय संघर्ष और कुछ सीमा तक राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लक्ष्यों की दिशा में फिलहाल एक साथ बढ़ सकते हैं, भारतीय राजनीति के विकास का भावी मार्ग निर्भर है।

3. पुनर्निर्माण, उद्योगीकरण और समाजवाद

आधुनिक युग में राष्ट्रीय आंदोलन ने उद्योगीकरण को केंद्र में रखते हुए राष्ट्रीय पुनर्निर्माण

के दूरगामी कार्यक्रम की आवश्यकता को महसूस किया है। अक्तूबर 1938 में दिल्ली में प्रांतीय सरकारों के उद्योगमंत्रियों का सम्मेलन हुआ था जिसमें पेश प्रस्ताव में कहा गया था :

> उद्योगमंत्रियों के इस सम्मेलन की धारणा है कि गरीबी और बेरोजगारी, राष्ट्रीय सुरक्षा और सामान्य तौर पर आर्थिक पुनरुत्थान की समस्याएं उद्योगीकरण के बिना हल नहीं की जा सकतीं। उद्योगीकरण की दिशा में एक कदम के रूप में राष्ट्रीय नियोजन की एक व्यापक योजना तैयार की जानी चाहिए⋯
>
> विभिन्न प्रांतीय सरकारों के दृष्टिकोण पर विचार करने के बाद सम्मेलन की यह राय है कि जब तक व्यापक औद्योगिक योजना तैयार नहीं हो जाती तब तक के लिए अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय महत्व के निम्नांकित बड़े उद्योगों को शुरू करने की दिशा में कदम उठाने चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जहां तक संभव हो सभी प्रांतों तथा रियासतों को मिलकर प्रयास करना चाहिए :
>
> (क) सभी तरह की मशीनों, संयंत्रों और औजारों का निर्माण;
> (ख) मोटरगाड़ियों, मोटरचालित नौकाओं, आदि तथा इनके सहायक उपकरणों और परिवहन तथा संचार-व्यवस्था से संबंधित अन्य उद्योग;
> (ग) विद्युत संयंत्रों और इनके सहायक उपकरणों का निर्माण;
> (घ) भारी रसायन और उर्वरकों का उत्पादन;
> (च) धातु उत्पादन;
> (छ) बिजली पैदा करने और बिजली सप्लाई करने से संबंधित उद्योग।

इस प्रस्ताव के अनुरूप कांग्रेस कार्य समिति के निर्देशन में एक अखिल भारतीय राष्ट्री योजना समिति का गठन किया गया। इस समिति की सिफारिशों का सारांश पहले ही प्रकाशित किया जा चुका है।

पुर्ननिर्माण और नियोजित विकास के लिए अनेक महत्वाकांक्षी परियोजनाएं भारत में तैयार की जा रही हैं या इनपर विचार किया जा रहा है। भारतीय उद्योगपतियों की सबसे बड़ी योजना, 'ए प्लान आफ इकनामिक डेवलपमेंट फार इंडिया' (जिसे आमतौर से 'बंबई योजना' कहते हैं) का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। 1944 और 1945 में इसे दो भागों में प्रकाशित किया गया था। 100 अरब रुपये की वृहद पूंजी खर्च करने के कार्यक्रमवाली इस योजना के लक्ष्य के अनुसार 15 वर्षों के अंदर कुल राष्ट्रीय आय में तीन गुनी वृद्धि हो जाएगी जिससे इस अवधि में जनसंख्या में वृद्धि होने के बावजूद प्रति व्यक्ति आय दुगनी हो जाएगी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मुख्य रूप से उद्योग पर निर्भर रहा गया है। उपर्युक्त योजना के निर्माताओं ने प्रस्तावित किया था कि उद्योग से

होने वाली आय में 500 प्रतिशत, कृषि से होने वाली आय में 130 प्रतिशत और सेना से होने वाली आय में 200 प्रतिशत की वृद्धि की जाएगी ताकि कुल राष्ट्रीय आय में उद्योग का योगदान मौजूदा 17 प्रतिशत की बजाय 35 प्रतिशत, कृषि का योगदान मौजूदा 53 प्रतिशत की बजाय 40 प्रतिशत और सेना का योगदान मौजूदा 22 प्रतिशत की बजाय 20 प्रतिशत हो जाए। उन्होंने बुनियादी उद्योगों को वरीयता देने की मांग की है; इन उद्योगों में बिजली, खान, इंजीनियरिंग, रसायन, जहाजनिर्माण, आटोमोबाइल्स और विमान निर्माण आदि शामिल हैं। लघु और कुटीर उद्योगों के लिए पर्याप्त क्षेत्र की व्यवस्था की जाने की योजना है।

इस योजना में वैसे तो बड़े प्रशंसनीय उद्देश्य शामिल किए गए हैं लेकिन इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तों की उपेक्षा कर दी गई है। इस योजना में भारत में उद्योग-धंधों के विकास पर लगे बुनियादी बंधनों को जमींदारी प्रथा के जानलेवा नियंत्रण को तथा ब्रिटेन के निहित स्वार्थों के प्रभुत्व को समाप्त करने का कोई इरादा नहीं है। न तो राष्ट्रीय संपदा के समान वितरण की समस्या को किसी प्रभावकारी ढंग से हल किया गया है। यहां तक कि काफी हद तक वित्त की आपूर्ति मुद्रास्फीति और विदेशी पूंजी के जरिए करने की व्यवस्था है। सचाई यह है कि राष्ट्रीय हितों को बढ़ाने के लिए कोई स्वतंत्र औद्योगिक विकास का खाका सामने रखने की बजाय इस योजना में यह गंध मिलती है कि भारतीय बुर्जुआवर्ग अब ब्रिटिश महाजनी पूंजी के साथ मिलकर शोषण करने का प्रयास करेगा। जीवनस्तर उठाने के सिलसिले में जो बढ़-चढ़कर बातें की जाती थीं उनके पीछे असली इरादा क्या था यह उस समय बहुत स्पष्ट हो गया जब इस योजना के तीन प्रमुख प्रवर्तकों जे० आर० डी० टाटा, घनश्यामदास बिड़ला और सर श्रीराम ने ब्रिटिश पूंजीपतियों के साथ समझौते कर लिए।

भारत के सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उद्योगीकरण की आवश्यकता को एक मुख्य व्यापक कार्यक्रम के रूप में सामान्य रूप से और अधिकाधिक सुस्पष्टता के साथ स्वीकार कर लेना ही राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम है। लेकिन साथ ही यह भी जाहिर है कि इस तरह के कार्यक्रम के प्रश्न के साथ कुछ नए तरह के दूरगामी मसले पैदा हो जाते हैं जिनका संबंध आवश्यक स्थितियों तथा इस कार्यक्रम की पूर्ति के तरीकों से तथा इस कार्यक्रम को पूरा करने वाली सामाजिक शक्तियों की क्षमता से है। जैसाकि अनेक विकसित पूंजीवादी देशों में देखा गया है, आर्थिक संकट के सदमे के कारण तथा सोवियत संघ में समाजवादी योजना की सफलता से प्रेरणा पाकर अनेक देशों में 'योजना' की अवधारणा को स्वीकार किया गया है लेकिन यह काम बहुत अमूर्त तकनीक के साथ हुआ है और इस अवधारणा को स्वीकार करते समय न तो उन विभिन्न नियमों को ध्यान में रखा गया जो पूंजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था को संचालित करते हैं और न वास्तविक सामाजिक तथा वर्गशक्तियों को ही ध्यान में रखा गया। पूंजीवादी देशों के अनुभव ने इस तरह के दृष्टिकोण की कमजोरी को पूरी तरह साबित कर दिया है।

इस तरह का दृष्टिकोण अपनाना तो भारत जैसे देश में संभव भी नहीं क्योंकि भारत ऐसा देश है जो वस्तुतः क्रांतिकारी सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है और जहां भूखे मजदूरों तथा किसानों की मांगों को अनिवार्य रूप से परिवर्तन की निर्णायक प्रेरक शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान लेना होगा। आर्थिक पुनर्गठन के प्रश्न को बुनियादी सामाजिक और वर्गीय मसलों से अलग नहीं किया जा सकता।

भारत के उद्योगीकरण का काम और मौजूदा निर्धनताग्रस्त निम्न तकनीक के स्तर से उठाकर इसे विकसित तकनीकवाले देशों के स्तर तक पहुंचाने का काम एक ऐसा विशाल कार्य है जिसके लिए अत्यंत विराट शक्तियों की जरूरत है। इसके लिए समूची आबादी के सक्रिय सहयोग की जरूरत है। इसके लिए देश की आर्थिक और वित्तीय व्यवस्था के निर्णायक स्थलों पर राजसत्ता का अपने हाथ में होना जरूरी है।

क्या भारतीय बुर्जुआ यह काम पूरा कर सकता है? क्या भारत की जनता एक लंबे संघर्ष के द्वारा आजादी हासिल करने के बाद देश को मुट्ठी भर शोषकवर्ग को सौंपना और खुद को गुलामी की बेड़ियों में जकड़ना पसंद करेगी? यह सवाल पूछना इसलिए जरूरी है ताकि यह बताया जा सके कि भारत में आर्थिक और सामाजिक प्रगति का काम, उद्योगीकरण का काम तथा नए समाज की स्थापना का काम पश्चिमी देशों के प्रारंभिक पूंजीवाद के दिनों की औद्योगिक क्रांति की प्रक्रिया से बुनियादी तौर पर भिन्न होना चाहिए। पूंजीवाद के ह्रास तथा अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा क्रांति के विकास के दौर में भारत में हो रहे उद्योगीकरण और आर्थिक पुनर्गठन का काम निश्चित रूप से अपने अनुकूल स्वरूपों और तरीकों के जरिए पूरा होगा।

उद्योगीकरण का काम तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कृषि के क्षेत्र में पूरी तरह पुनर्गठन न हो। यह आज भी भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य समस्या है। ये दोनों प्रक्रियाएं दरअस्ल एक दूसरे की पूरक हैं। यहां तक कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थितियों में भी जब तक खेती में लगी जनता गरीबी की निम्नतम सीमा पर रहती है और औद्योगिक उत्पादनों के लिए देश में बाजार तैयार नहीं होता है तब तक औद्योगिक विकास बाधित और पंगु बना रहता है। इसकी उलटी स्थिति यह है कि कृषि के क्षेत्र में पुनर्गठन के लिए औद्योगिक विकास जरूरी होता है क्योंकि औद्योगिक विकास के जरिए ही खेती के लिए मशीनें मिलती हैं और मशीनें ही उत्पादन का स्तर ऊंचा उठाती हैं तथा बड़े बड़े बंजर पड़े खेतों को जोतती बोती हैं। इसके साथ ही औद्योगिक विकास से उन लाखों लोगों को काम मिलता है जो खेती पर जरूरत से ज्यादा बोझ होने के कारण गरीबी और अर्ध बेरोजगारी का जीवन बिता रहे होते हैं। कृषि के क्षेत्र में पुनर्गठन से खेती पर लदे अत्यधिक बोझ से छुटकारा मिलता है।

लेकिन जैसाकि इस समस्या से संबंधित स्थितियों की तीसरे अध्याय में की गई जांच

पड़ताल से पता चलता है, कृषि के क्षेत्र में पुनर्गठन के लिए जरूरी है कि जमींदारी प्रथा को समाप्त किया जाए, खेतिहर जोतों का बुनियादी तौर पर पुनर्वितरण हो, अलाभकर जोतों की दिवालिया प्रणाली को समाप्त किया जाए और खेती की आदिम छोटे पैमाने वाली तकनीक से धीरे धीरे बड़े पैमाने पर की जाने वाली सामूहिक खेती की दिशा में बढ़ा जाए। इसका कोई अधूरा समाधान यहां संभव नहीं है। कृषि के क्षेत्र में 'सुधार' की बात करना और जमींदारी प्रथा को ज्यों का त्यों बना रहने देना, 'विकसित' खेती का प्रवचन देना और वर्तमान भूमि वितरण व्यवस्था पर आंच न आने देना, इससे कोई लाभ नहीं हो सकता। भारत की जो वर्तमान निराशाजनक स्थिति है उसमें मौजूदा जमींदारी प्रथा और उपजमींदारी प्रथा की बेतहाशा परजीविता की, किसानों पर असीम बोझों की अथवा भूमि की वर्तमान जोत व्यवस्था तथा खेती की भयंकर बरबादी की न तो कोई गुंजाइश है और न इन खामियों को झेलने के लिए साधन ही उपलब्ध हैं। भारत के प्रमुख कृषि विशेषज्ञ प्रोफेसर राधाकमल मुखर्जी ने, जो अपने दृष्टिकोण में किसी भी अर्थ में समाजवादी नहीं हैं, तो 1935 में अपने आगरा एक्सटेंशन लेक्चर में यहां तक कहा है कि भारतीय कृषिव्यवस्था में तब तक कोई सुधार संभव नहीं है जब तक 'भारत के गांवों में बिखरी छोटी छोटी जोतों को मिलाकर एक सहकारी फार्म न बना दिया जाए और कृषि को एक सामूहिक सेवा न माना जाए।' यह काम महज एक छलांग में पूरा नहीं हो सकता। लेकिन इस दिशा में पहला कदम यह हो सकता है कि जमींदारी प्रथा समाप्त की जाए, और खेतिहर जोतों का पुनर्वितरण हो तथा इसके बाद सरकारी सहायता, सहकारी संस्था से ऋण सुविधाओं तथा कृषि तकनीक को उन्नत बनाने के लिए डिपो केंद्रों से खेती के काम आने वाली मशीनों को उधार के रूप में देने की व्यवस्था की जाए। कृषि क्रांति से कतराकर नहीं निकला जा सकता। यह परिवर्तन की मुख्य प्रेरक शक्ति है और नए भारत की आधारशिला है।

फिर भी, यही वह स्थल है जहां भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के भावी नेता के रूप में भारतीय बुर्जुआवर्ग की कमजोरी बहुत खुलकर सामने आती है। अपनी उन्नति और विकास की स्थितियों की वजह से भारत का औद्योगिक और व्यापारिक बुर्जुआवर्ग जमींदारवर्ग के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है; संपत्ति के हितों और स्वरूपों में एक अंतर्संबंध है। इसलिए प्रगतिशील बुर्जुआ ने भूमिव्यवस्था में बुनियादी सुधार की समस्या को हल करने में तथा जमींदारी प्रथा को समाप्त करने में हमेशा हिचकिचाहट दिखाई है भले ही ये चीजें भारतीय अर्थव्यवस्था या भारत के औद्योगिक विकास के लिए कितनी भी जरूरी क्यों न हो? 1946 के कांग्रेस के चुनाव कार्यक्रम में जमींदारी प्रथा की समाप्ति के सिद्धांत को मान लिया गया था लेकिन इसके लिए यह आधार तय किया गया था कि जमींदारों को बदले में 'उचित मुआवजा' दिया जाए जिसका अर्थ वस्तुतः किसानों पर बोझ का बना रहना ही है। इसी प्रकार 1946 में कांग्रेस की राष्ट्रीय योजना समिति के तत्वावधान में प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रम का जो मसौदा प्रकाशित हुआ था उसमें बड़े शांत भाव से यह प्रस्ताव रखा गया था कि किसानों को दिया

जाने वाला ऋण सरकार द्वारा निश्चिबद्ध होना चाहिए जिसका 10 प्रतिशत किसानों से लिया जाना चाहिए, जिसमें से 5 प्रतिशत भाग सूदखोरों को चला जाएगा और 5 प्रतिशत से प्राथमिक शिक्षा का खर्च चलेगा।

भूमिव्यवस्था की बुनियादी समस्या हल करने में भारतीय बुर्जुआवर्ग की हिचकिचाहट का मुख्य कारण महज यही नहीं है कि जमींदारवर्ग के हितों के साथ उसके हित मेल खाते हैं या जमींदारवर्ग के साथ उसका घनिष्ठ अंतर्संबंध है बल्कि इस हिचकिचाहट के पीछे यह भय भी काम करता है कि कृषि क्रांति से वे सामाजिक शक्तियां छूट निकलेंगी जो इस बुर्जुआ-वर्ग के विशेषाधिकारों, संपत्ति के पूंजीवादी स्वामित्व के समूचे आधार और शोषण को समूल नष्ट कर देंगी। भारतीय बुर्जुआ के साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष को पंगु बनाने के लिए और इस प्रकार राष्ट्रीय संघर्ष को भीतर से कमजोर करने के लिए साम्राज्यवादियों ने बड़ी चालाकी से और लगातार इस भय को खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया है। लार्ड हेली (तत्कालीन सर मैलकोम हैली) ने 1924 में ही स्वराज पार्टी को चेतावनी देने के लिए विधानसभा में यह तर्क पेश किया था :

> भारत में यदि सही अर्थों में क्रांति जैसी कोई घटना हुई तो इसका उस वर्ग पर बहुत घातक असर पड़ेगा जिसका इस समय विधानसभा और प्रांतीय कौंसिलों में प्रतिनिधित्व है; क्योंकि अज्ञानता में डूबी भारतीय जनता के बीच कोई भी राजनीतिक क्रांति बहुत कम समय में सामाजिक क्रांति का रूप ले लेगी।

इस वक्तव्य के साथ गांधी के इस स्पष्ट कथन की तुलना की जा सकती है जो जनवरी 1940 में उनके प्रत्र 'हरिजन' में छपा था :

> कांग्रेस के एक काफी प्रभावशाली सदस्य ने मुझसे कहा है कि इस बार जैसे ही मैं सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करूंगा मुझे बहुत आश्चर्यजनक प्रतिक्रिया देखने को मिलेगी। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि देश के अनेक हिस्सों के मजदूर किसान सविनय अवज्ञा आंदोलन के साथ ही हड़ताल छेड़ देंगे। मैंने उनसे बताया कि यदि ऐसा हुआ तो मैं बहुत उलझन में पड़ जाऊंगा और मेरी सारी योजना ही अस्तव्यस्त हो जाएगी⋯ मैं आशा करता हूं कि मुझसे यह अपेक्षा नहीं की जाती है कि मैं जानबूझकर कोई ऐसा संघर्ष छेड़ूंगा जिसकी परिणति अराजकता और रक्तरंजित तबाही हो।

सभी देशों के दकियानूस प्रतिक्रियावादी इसी बहुप्रचलित शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं कि मजदूरों और किसानों की कार्यवाही से 'रक्तरंजित तबाही' हो जाएगी और वे साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रीय बुर्जुआ के लिए एक ही मंच प्रदान करते हैं।

इस प्रकार भारतीय स्थिति के प्रत्यक्ष अनुभव ने और इसकी पहले के किसी भी दौर की तुलना में तीव्र आवश्यकताओं ने, राष्ट्रीय संघर्ष में बुर्जुआवर्ग के नेतृत्व की विफलता और कमजोरी के बार बार के अनुभव ने तथा इन सबसे बढ़कर मजदूरवर्ग की उदीयमान शक्ति, सक्रियता और चेतना ने तथा किसान क्रांति को संपन्न करने वाली शक्तियों की एकजुटता ने ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के आधुनिक दौर में समाजवाद के प्रश्नों को अपरिहार्य रूप से अगली पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया है। भारत में समाजवाद की अवधारणा भविष्य की कोई अमूर्त अटकलबाजी नहीं है जो विदेश से आयात की गई हो बल्कि यह भारतीय स्थितियों और भारतीय अनुभव का सीधा उत्पाद तथा परिणाम है जिसने हर देश की ही तरह विश्व आंदोलन के अनुभव, सिद्धांत और व्यवहार का इस्तेमाल किया है। भारत में मरदूरवर्ग का आंदोलन आज भी विकास की प्रक्रिया में है; यह आज भी अपने संगठन, अपने कार्यक्रम की स्पष्टता, अनुभव और जन आधार को मजबूत कर रहा है लेकिन सभी लोग यह मानने लगे हैं कि यह भविष्य की एक उभरती शक्ति है।

राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव को और राष्ट्रवाद के साथ समाजवाद के संबंध को प्रचारित करने के काम को पिछले दशक में 1929 और 1936-38 में कांग्रेस अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू की सांक्रांतिक स्थिति में विशिष्ट अभिव्यक्ति मिली। जवाहरलाल नेहरू हमेशा संगठित समाजवादी आंदोलन से बाहर रहे लेकिन उन्होंने उभरती हुई समाजवादी विचारधारा और अपेक्षाकृत पुराने नेतृत्व के बीच एक पुल का काम किया। नेहरू ने राष्ट्रीय मुक्ति और सामाजिक मुक्ति के बीच के घनिष्ठ संबंध को एकदम सामने ला दिया :

> विदेशी सरकार के स्थान पर यदि कोई देशी सरकार स्थापित होती है और उस समय भी निहित स्वार्थ ज्यों के त्यों बने रहते हैं तो यह आजादी की छाया भी नहीं होगी···
>
> इसलिए भारत का तात्कालिक लक्ष्य महज यही होना चाहिए कि उसकी जनता का शोषण समाप्त हो। राजनीतिक रूप से इसका अर्थ स्वाधीनता तथा ब्रिटेन के साथ संबंधों की समाप्ति अर्थात साम्राज्यव ी प्रभुत्व की समाप्ति होना चाहिए; आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से इसका अर्थ सभी खास वर्गों के विशेषाधिकारों और निहित स्वार्थों की समाप्ति होना चाहिए। (जवाहरलाल नेहरू : 'विदर इंडिया' ? 1933)

यह मानते हुए कि राष्ट्रीय संघर्ष में कांग्रेस समाजवादी और गैरसमाजवादी तत्वों के सहयोग का प्रतिनिधित्व करती है और गैरसमाजवादी तत्वों का फिलहाल बहुमत है, उन्होंने यह बताया कि किस प्रकार वह यह आशा करते हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन समाज-वादी दृष्टिकोण की दिशा में बढ़ेगा :

> मैं भारत की आजादी के लिए संघर्ष कर रहा हूं क्योंकि मेरे भीतर जो राष्ट्रीय तत्व है वह कभी विदेशी प्रभुत्व को बरदाश्त नहीं कर सकता; मैं आजादी के लिए इसलिए भी संघर्षरत हूं क्योंकि मेरे विचार से सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के लिए यह एक अनिवार्य कदम है। मैं चाहूंगा कि कांग्रेस एक समाजवादी संगठन का रूप ले और नई सभ्यता के लिए दुनिया की जो अन्य शक्तियां काम कर रही हैं उनके साथ कधे से कंधा मिलाए। लेकिन मैं जानता हूं कि कांग्रेस का आज जो स्वरूप है, उसमें अधिकांश कांग्रेसी शायद इसके लिए तैयार न हों…
>
> इस देश में समाजवाद के विकास की जबरदस्त इच्छा के बावजूद मैं इस प्रश्न का कांग्रेस पर थोपना नहीं चाहता और अपने स्वाधीनता संघर्ष में कोई कठिनाई नहीं पैदा करना चाहता। मैं खुशी खुशी आर अपनी पूरी ताकत के साथ उन लोगों के साथ सहयोग करूंगा जो आजादी के लिए काम कर रहे हैं भले ही वे समाजवादी समाधान से असहमत क्यों न हों। लेकिन मैं अपनी स्थिति बड़े साफ शब्दों में स्पष्ट करके ही ऐसा करूंगा और यह आशा करूंगा कि आने वाले दिनों में कांग्रेस को और देश को समाजवादी विचारधारा में ढाल लूंगा क्योंकि मैं जानता हूं कि ऐसा करके ही आजादी मिलेगी। (जवाहरलाल नेहरू, राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण, 1936)

यहां कांग्रेस के धीरे धीरे समाजवाद में रूपांतरित होने की एक तस्वीर पेश की गई है। समाजवाद में रूपांतरण के बीच की अवधि में एक अस्थाई संतुलन भी बनाए रखा गया। फिर भी इस अवधारणा में उन वर्ग शक्तियों के वर्तमान संघर्ष को परे रखा गया है जो अनिवार्य रूप से कांग्रेस के भीतर और कांग्रेस तथा आम जनता के बीच के संबंध के मसले में अभिव्यक्त होती हैं। परिणामतः यह अवधारणा राष्ट्रीय एकता के नाम पर वर्गों के बीच समझौते का सिद्धांत बन जाती है और इस तरह का वर्ग समझौता व्यवहार में उस राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व के इशारे पर चलता है जो सक्रिय राष्ट्रीय संघर्ष के विकास को पीछे खींचता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है, और यह प्रगतिशील भारतीय जनमत के दिमाग में अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि, भारत की समस्याओं को समाजवादी रास्ते पर चलकर ही हल किया जा सकता है। समाजवादी उद्योग और सामूहिक कृषि के जरिए ही अंतिम तौर पर वे साधन प्राप्त हो सकते हैं जो भारत को दुनिया भर के कूड़े-कचरे से उठाकर समृद्धि और उल्लास की धरती बना देंगे। अपने पूर्ण स्वरूप में विकसित और नेतृत्व की भूमिका प्राप्त मजदूरवर्ग तथा तमाम बंधनों से मुक्त मेहनतकश किसानवर्ग की जबरदस्त सामाजिक शक्तियां ही अत्यंत कुशाग्र बुद्धिवाले प्रगतिशील बुद्धिजीवियों और निम्न पूंजीवादी तबके

के लोगों को अपने साथ लेकर गंदगी से भरे अस्तबल को अंतिम तौर पर साफ कर सकेंगी और भारत में नए समाज का निर्माण कर सकेंगी।

दूर बैठे किसी प्रेक्षक को भले ही भारत के भविष्य के बारे में यह दृष्टि काफी दूर की बात लगे लेकिन बात ऐसी है नहीं। भारत के समाजवादी भविष्य की गतिशील शक्तियां, औद्योगिक मजदूरवर्ग और जागृत किसानवर्ग की शक्तियां पहले से ही एकजुट हो रही हैं और राजनीतिक रंगमंच पर दिन ब दिन बड़ी स्पष्टता के साथ अग्रिम पंक्ति में अपना स्थान बना रही हैं। एक बार जैसे ही मजदूरवर्ग ने मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त कर और वर्गसंघर्ष के दृढ़ आधार पर अपनी राजनीतिक पार्टी और ट्रेड यूनियन संगठन के जरिए संगठन और राजनीतिक नेतृत्व की परिपक्वता को प्राप्त कर लिया और जैसे ही उसने एक बार गरीब किसान जनता तथा अपने किसान संगठन बना रहे खेतिहर सर्वहारा के साथ संपर्क और सहयोग कायम कर लिया त्यों ही मेहनतकशवर्ग के भारतीय गणराज्य की प्राप्ति के लिए स्थितियां तैयार हो जाएंगी। यह गणराज्य मजदूरों और किसानों की जनतांत्रिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करेगा। इस गणराज्य में मजदूरों और किसानों के साथ होंगे प्रगतिशील बुद्धिजीवी तथा शहरी निम्न पूंजीपतिवर्ग के अन्य तत्व जो अपने सामूहिक प्रयास से उस रास्ते पर सामाजिक पुनर्निर्माण की नींव डाल सकते हैं जो समाजवाद की ओर जाता है।

इस संदर्भ में सोवियत संघ और वहां विकसित नए तरह के जनतंत्र के अनुभव का भारत जैसे देश के लिए बहुत महत्व है और इस अनुभव से लाभप्रद सबक लिया जा सकता है। क्रांति से पूर्व के पुराने जारशाही रूस और वर्तमान भारत की स्थिति के बीच बुनियादी मतभेद है और दोनों की स्थितियों में यांत्रिक ढंग से कोई तुलना नहीं की जा सकती। यह अंतर खासतौर से एक साम्राज्यवादी देश और एक उपनिवेश की स्थितियों के बीच का अंतर है फिर भी सामाजिक शक्तियों और रूस में पैदा हुई विशेष तरह की समस्याओं के संदर्भ में जिनका समाधान किया गया, दोनों देशों में महत्वपूर्ण साम्य है जिनका आज भारत के लिए बहुत महत्व है। भारत में हम एक ऐसे विदेशी तानाशाह शासन की तस्वीर देखते हैं जो दिनोंदिन कमजोर होता जा रहा है और जो प्रतिक्रियावाद सामंती शक्तियों को अपने टिके रहने का आधार बना रहा है। यहां हम एक कमजोर औद्योगिक बुर्जुआवर्ग को देखते हैं जो तानाशाही शासन का बड़े ढुलमुल ढंग से विरोध करके आगे बढ़ने की महत्वाकांक्षा तो रखता है पर साथ ही वह जनशक्ति से भी भयभीत है। यहां हम एक उभरते हुए मेहनतकशवर्ग को देखते हैं जो संख्या में तो कम है लेकिन बड़े पैमाने पर फैले औद्योगिक प्रतिष्ठानों में (अपेक्षाकृत अत्यंत सीमित महत्वपूर्ण केंद्रों में) जमा है और अत्यंत जुझारू वर्गचेतना तथा सक्रियता का परिचय दे रहा है। यहां हम आबादी के एक विशाल भाग के रूप में किसानों को देखते हैं जो पुरातन भूमिव्यवस्था की अत्यंत पिछड़ी स्थितियों में रह रहे हैं, जिन्हें अज्ञान और अशिक्षा की बेड़ियों में कैद रखा गया है, जिन्हें

निराशा के गहन अंधकार में ठेल दिया गया है पर जो कृषि के क्षेत्र में बुनियादी रूपांतरण के लिए आगे बढ़ रहे हैं।

भारत जैसी सामाजिक स्थितियों वाले देश में यह स्पष्ट है कि जनतंत्र का सर्वाधिक उचित स्वरूप संसदीय जनतंत्र न हो बल्कि ऐसा स्वरूप हो जो जनता की स्थितियों और जीवन के काफी अनुरूप हो और मेहनतकश किसानों की ग्रामीण परिषदों को कारखाना मजदूरों की परिषदों तथा अन्य ऐसे संगठनों से जोड़ता हो। जनतंत्र का यह स्वरूप ही सोवियत जनतंत्र है। सोवियत जनतंत्र आम जनता, कारखाना मजदूरों और ग्रामीण किसानों के काफी निकट है। किसी भी अन्य रूप की अपेक्षा सोवियत जनतंत्र ही मजदूरों, किसानों, बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों, तकनीशियनों और शहरी निम्न पूंजीपतिवर्ग की रचनात्मक शक्ति का उद्धार कर सकता है। समाज के इन वर्गों को अभी तक वर्तमान व्यवस्था में सबके कल्याण के लिए तथा नए भारत के निर्माण के सामूहिक काम में सहयोग करने के लिए अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल करने से रोका गया है।[5]

भारत के लिए और खास तौर से देश के पिछड़े इलाकों तथा देश के मूल निवासियों की शेष बची जातियों के लिए सोवियत संघ के मध्य एशियाई गणराज्यों का अनुभव विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जिन्हें जारशाही के दिनों में पूरी तरह राष्ट्रीय तथा सामाजिक अधीनता की स्थिति में रखा गया था। इन इलाकों में विकसित औद्योगिक मजदूरवर्ग के सहयोग से संस्कृति की अत्यंत आदिम अवस्था में भी जनता को संभावनाएं दिखाई गई हैं ताकि वह तेजी से विकास कर सके और बीच की पूंजीवादी व्यवस्था के बिना वह तकनीकी और सांस्कृतिक प्रगति के जरिए समाजवाद तक पहुंच सके।

4. भारत राष्ट्र के समक्ष महत्वपूर्ण कार्य

समाजवाद की दिशा में बढ़ रहे जनवादी भारत या मजदूरों और किसानों के भारत का यह परिप्रेक्ष्य ही आधुनिक विश्व में भावी भारत की तस्वीर प्रस्तुत करता है। इस परिप्रेक्ष्य के सहारे हम भारत में समाजवाद के निर्माण और अंततः ऐसे भावी वर्गरहित समाज के निर्माण की तस्वीर देख सकते हैं जिसमें राष्ट्रीयता के आधार पर भेदभाव (अनिवार्यतः स्वाधीनता और अलगाव की सांक्रांतिक स्थिति में एक देश द्वारा दूसरे देश को गुलाम बनाने की रीति खत्म करने के लिए) अंतिम तौर पर समाप्त हो जाएंगे और भारत संयुक्त विश्वव्यापी वर्गरहित समाज का एक हिस्सा बन जाएगा।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इस लक्ष्य को एक ही कदम में प्राप्त किया जा सकता है या भारत में तत्काल उठाया जाने वाला अगला ही कदम समाजवाद है। पहला महत्वपूर्ण काम है राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति। भारत की जनता के सामने तत्काल पूरा किया जाने वाला दूसरा काम है राष्ट्रीय स्वाधीनता पर विजय प्राप्त करना जो साम्राज्यवादी शासन को समाप्त करके और आबादी के अंदर इस शासन के सामंती प्रतिक्रिया-

वादियों का तख्ता पलटकर अर्थात जनतंत्र के लिए संघर्ष चलाकर पूरा किया जा सकता है।

लेकिन भारत में राष्ट्रीय मुक्ति और जनवादी क्रांति का काम ब्रिटिश शासन से भारतीयों के हाथ में सत्ता का महज हस्तांतरण करके और प्रभुसत्ता सौंपकर नहीं पूरा किया जा सकता। पहली बात तो यह है कि जैसा हमने देखा है, पूर्ण स्वाधीनता की कारगर ढंग से प्राप्ति और भारत में साम्राज्यवादी प्रभुत्व की समाप्ति का काम भारत में साम्राज्यवाद के राजनीतिक शासन के विधिवत समापन से ही नहीं पूरा होता। इसके लिए भारतीय जनता के जीवन, श्रम, साधन और विकास की स्वतंत्रता पर ब्रिटिश महाजनी पूंजी की दमघोंट पकड़ को छिन्नभिन्न करना होगा : अर्थात विदेशी पूंजी को फिलहाल दी जा रही रियायतें समाप्त करनी होंगी और सभी विदेशी उद्योगों, चाय बागानों, कारखानों, रेलों, जहाजों, सिंचाई कार्यों आदि का इस तरह राष्ट्रीयकरण करना होगा जो शक्तिसंबंधों के अनुसार राजनीतिक और कूटनीतिक दृष्टि से संभव हो ताकि कर्ज का बोझ उतारा जा सके।

दूसरी बात यह है कि जैसा हमने देखा है जनतांत्रिक रूपांतरण का काम कृषि क्रांति से जुड़ा हुआ है। उसमें जमींदारी प्रथा की समाप्ति होगी, भूमि का पुनर्वितरण होगा, किसानों पर से कर्ज का बोझ उतरेगा और खेती का आधुनिकीकरण होगा। तीसरी बात यह है कि भारत में आर्थिक और सामाजिक पुनर्निर्माण के तात्कालिक कार्यों के लिए, उद्योगीकरण और आवश्यक सांस्कृतिक प्रगति को स्वतंत्र भारत के एकमात्र आधार के रूप में संभव बनाने के लिए यह जरूरी है कि स्वाधीन भारतीय राज्य के अधिकार में अर्थव्यवस्था के मुख्य केंद्र हों (जैसाकि कांग्रेस के अधिकारों के घोषणापत्र में कहा गया था) अर्थात प्रमुख उद्योगों, सेना, खनिज साधनों, रेल व्यवस्था, जल मार्ग, जहाजरानी तथा सार्वजनिक परिवहन और बैंकिंग तथा साख के अन्य साधनों पर स्वाधीन भारतीय राज्य का नियंत्रण हो।

फिर भी इन कामों से समाजवाद की स्थापना नहीं हो जाती है हालांकि इनसे इसकी नींव जरूर पड़ जाती है। जाहिर है कि भारत में जिस जनतांत्रिक गणराज्य की स्थापना होगी, जो राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का वर्तमान लक्ष्य है, वह अनिवार्यत: एक नए तरह का जनतांत्रिक गणराज्य होगा जो पश्चिम के धनिकतंत्र साम्राज्यवादी अर्धजनतंत्रों से एकदम भिन्न होगा। यह एक ऐसा जनतांत्रिक गणराज्य होगा जो सामंतवाद और जमींदारी प्रथा की बुनियादों को समाप्त कर चुका होगा, जो राष्ट्रीय विकास के लिए अर्थव्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण केंद्रों पर अपना अधिकार कायम कर चुका होगा और जो मजदूरों तथा किसानों के संगठन और विकास के लिए खुला रास्ता प्रदान करेगा।

भारत में स्वतंत्रता के लिए निर्णायक संग्राम निकट भविष्य में होने वाले हैं। स्वतंत्रता

में यह संक्रमण तूफानी होगा और भारी कुरबानियों के बाद प्राप्त होगा, अथवा शीघ्र गति से और सहजता से होगा, यह केवल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की शक्ति पर निर्भर नहीं करता यह ब्रिटिश मजदूरवर्ग और जनतांत्रिक आंदोलन के सद्भाव तथा सक्रिय सहयोग पर निर्भर करता है। संघर्ष की चाहे जैसी भी स्थिति हो लेकिन हर हालत में यह संक्रमण ऐतिहासिक दृष्टि से निश्चित है और ब्रिटेन के मजदूरों तथा जनतांत्रिक शक्तियों के लिए यही अच्छा होगा कि वे इस सचाई को समय रहते मान लें। युद्ध ने उन मसलों को महज और तेज कर दिया है जो भारत में पहले से ही चरम बिंदु पर पहुंच रहे थे, ये मसले राष्ट्रीय मुक्ति के लिए और परिणामत: सामाजिक मुक्ति के लिए चल रहे निर्णायक संघर्ष से संबद्ध मसले हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि भारत में जनवादी शक्तियां आगे से बढ़ रही हैं। मजदूरों और किसानों की शक्तियां संघर्ष के जरिए शक्ति की चेतना की, महान रचनात्मक कार्य की, और एक सुखद भविष्य की ओर बढ़ रही हैं। समूची दुनिया की प्रगतिशील शक्तियों और विश्व के मजदूरवर्ग की सहानुभूति और सद्भाव भारतीय जनता के साथ है जो अपनी पूर्ण मुक्ति के लिए ऐसे संघर्ष में जुटी है जिसका विश्व के भविष्य के लिए बेहद महत्व है और जिसपर तमाम आशाएं टिकी हुई हैं। भारत की स्वतंत्रता का अर्थ मानव जाति की मुक्ति, समानता और एकता की दिशा में एक महान कदम है, साथ ही यह विश्व-शांति और विश्वसमाजवाद की दिशा में अंतिम विजय के लिए उठाया गया कदम है।

पादटिप्पणियां

1. 10 जुलाई 1833 को मैकाले ने भारत में ब्रिटिश शासन के वरदानों के पक्ष में और ईस्ट इंडिया कंपनी के गुणों की प्रशंसा में हाउस आफ कामंस में अपने भव्य शब्दाडंबरों से भरे विख्यात भाषण में जो कुछ कहा था उसका पूरा पूरा रसास्वादन करने के लिए उस समय विद्यमान परिस्थितियों से अवगत हो लेना जरूरी है। 17 अगस्त 1833 को मैकाले ने अपनी बहन को लिखा :
मुझे अवश्य जीना है; मैं केवल अपनी कलम के बल पर जी सकता हूं और किसी भी व्यक्ति के लिए यह असंभव है कि वह इतना अधिक लिखे जिससे वह प्रतिष्ठित जीवन बिताने के लिए पर्याप्त पैसे पा सके और साथ ही राजनीति में भी सक्रिय रूप से भाग ले सके। मैंने कभी अपने लेखन से प्रति वर्ष दो सौ से ज्यादा नहीं कमाया। मैं खुद पांच सौ से कम में आराम से नहीं रह सकता और तमाम संभावनाएं इस बात की हैं कि मुझे अन्य कई लोगों का भी खर्च चलाना होगा। हमारे परिवार का भविष्य, यदि इसकी संभावना है तो, पहले के किसी भी समय से ज्यादा अंधकारमय है।
अपने इसी पत्र में उन्होंने बताया है कि उनके भारत में विधि सदस्य के पद पर नियुक्त किए जाने की संभावना है और यदि ऐसा संभव हो गया तो उनकी समस्या हल हो जाएगी। इस पद पर 1834 में उनकी नियुक्ति की गई :
इसमें मुझे प्रति वर्ष 10 हजार पौंड वेतन मिलेगा। मुझे तमाम ऐसे लोगों ने जो कलकत्ता के बारे में खूब अच्छी तरह जानते हैं और कलकत्ता के श्रेष्ठतम तबके में तथा प्रेसीडेंसी के उच्चतम पदों पर रह चुके हैं, बताया है कि मैं वहां प्रति वर्ष 5 हजार पौंड में बड़े ठाठबाट के साथ रह सकता हूं और वेतन के शेष हिस्से को सूद के साथ बचा सकता हूं। मैं महज 39 वर्ष की उम्र में

जीवन की भरपूर उमंग के साथ इंग्लैंड वापस आ जाऊंगा और मेरे साथ 30 हजार पौंड की धनराशि होगी। इससे ज्यादा समृद्धि की मैंने कभी इच्छा भी नहीं की।

यह छोटा अंश जिससे साम्राज्यवाद और समूचे बुर्जुआ जीवन दर्शन के रहस्यों का पता चलता है, इस महत्वपूर्ण भाषण के प्रत्येक पुनर्मुद्रण में (खासतौर से स्कूलों के लिए तैयार किए गए संस्करण में) परस्पर समझौता संबंधी बातचीत के प्रकटीकरण के रूप में शामिल कर दिया जाना चाहिए। इस भाषण को आज भी भारत में ब्रिटिश उद्देश्यों की भव्यता की आदर्श अभिव्यक्ति माना जाता है। यदि उपर्युक्त अंशों को इस भाषण के साथ प्रकाशित कर दिया जाए तो खासतौर से इस तरह के अंशों के व्यक्त शब्दाडंबरों का पूरा पूरा जायका मिल जाएगा :

मैं श्रद्धा और उल्लास के साथ उस सम्माननीय गरीबी को देखता हूं जो जबरदस्त प्रलोभनों के बीच बनाकर रखी गई ईमानदारी का सबूत है। मैं यह देखकर प्रसन्नता का अनुभव करता हूं कि मेरे देशवासी, करोड़ों लोगों पर शासन करने के बाद·· पर्याप्त संपन्नता के साथ स्वदेश लौटते हैं।

2. मैकाले ने ब्रिटिश शासन के वरदानों के भारत में आने में पूर्व, 18वीं सदी के भारत में व्याप्त अराजकता और आतंक की जो अतिरंजित तस्वीर प्रस्तुत की है उसके समकक्ष चर्चिल का यह उद्धरण पेश किया जाता है जो उनके द्वारा 1914-18 के यूरोप के वर्णन से लिया गया है :

   जब सब कुछ समाप्त हो गया था तब उत्पीड़न और मानवभक्षण ही दो युक्तियां थीं जिनसे सभ्य वैज्ञानिक ईसाई राज्य बच सकते थे और इनकी उपयोगिता संदिग्ध थी। (विंस्टन चर्चिल : दि वर्ल्ड क्राइसिस 1, पृष्ठ 20)

   बीस वर्षों बाद उत्पीड़न का लोप कर देने से कोई कल्याण नहीं हुआ।

3. ब्रिटिश फासिज्म ने फासिज्म ऐंड इंडिया शीर्षक से प्रकाशित कार्यक्रम की घोषणा में, जिसकी राजनीतिक निरक्षरता से बुनियादी तथ्यों तक के बारे में भी उसकी अज्ञानता का पता चलता है, भारत में ब्रिटिश शासन के तेजी से विनाश के लिए अपना अचूक नुस्खा पेश किया है। फासिस्ट सूरमा इस तरह की दृढ़ घोषणाओं से शुरुआत करते हैं जो 'पूर्वी मानस' की समझ में आए, कि तत्काल या अंततः ब्रिटिश प्रभुत्व का ह्रास होने की कोई संभावना नहीं है, 'वे सांविधानिक सुधारों को मिटा देंगे, 'कल्याणकारी शक्ति' के रूप में 'बड़े जमींदारों' का समर्थन करेंगे; औद्योगिक विकास में बाधा उत्पन्न करेंगे (क्योंकि 'भारत का भविष्य मुख्यतया कृषि पर निर्भर है') और आधुनिक शिक्षा पर प्रतिबंध लगा देंगे ('सामान्य तौर पर भारतीयों को पश्चिमी ढंग की शिक्षा नहीं मिलनी चाहिए')। इस प्रकार भारत के दमन की भरपूर शक्ति की मदद से 19वीं सदी का पुराना स्वर्ग फिर स्थापित किया जाएगा : 'हम दोनों देशों के बीच सहज व्यापार संतुलन का विकास करेंगे, ग्रेट ब्रिटेन से तैयार माल आएगा और भारत से कच्चा माल तथा खाद्य सामग्री जाएगी' (मोस्ले : 'फासिज्म ऐंड काटन' 1934) जबकि 'फासिस्ट सरकार के तहत भारत पर्याप्त पूंजीनिवेश के लिए उपर्युक्त स्थितियां प्रस्तुत करेगा।' साम्राज्यवाद की सहज भूख की बिना किसी जिम्मेदारी के अभिव्यक्ति की गई है।

4. वर्ष 1912 के लिए इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के कागजातों को देखते समय मेरी निगाह एक विधेयक पर गई जिसमें विभिन्न जातियों के लोगों के बीच सिविल विवाह की छूट के लिए अनुमति मांगी गई थी। इस विधेयक को श्री भूपेंद्रनाथ वसु ने पेश किया था। ऐसा लगता है कि इस बिल में इससे ज्यादा कुछ नहीं कहा गया था कि लोगों को बिना यह घोषित किए कि 'वे भारत के किसी ज्ञात धर्म के अनुयायी नहीं हैं' 1872 के विशेष विवाह अधिनियम (जो संभवतः सिविल विवाह की छूट देता है) का लाभ उठाने की छूट मिलनी चाहिए। इस बिल पर बहस में एक अपवाद छोड़ केवल भारतीय सदस्यों ने ही भाग लिया। यह अपवाद थे गृह सदस्य जिन्होंने तपाक से एलान किया कि जब तक विधेयक के प्रस्तावक यह न साबित कर दें कि इस परिवर्तन के पक्ष में विशाल जनमत है तब तक सरकार इसका विरोध करेगी। श्री गोखले ने दलील दी कि

इस विधेयक को चयन समिति में भेज दिया जाए जिसमें सरकारी सदस्यों का बहुमत है लेकिन उनकी दलील अनसुनी कर दी गई। जवाब देने के बाद प्रस्तावक का 45 अन्य सदस्यों ने समर्थन किया। उसके खिलाफ बहुमत को देखकर गवर्नर जनरल और उनकी कौंसिल ने ब्रिटिश अधिकारियों के समूचे जत्थे को आदेश दिया कि वे सदन में जाएं और विधयक को पारित न होने दें...

इन विषयों पर सरकार का रुख समाजसुधारकों के सामने बाधाएं उपस्थित करना है जो बड़ी दुखद स्थिति है। (लायनेल कर्टिस : 'लैटर्स टु दि पीपुल्स आफ इंडिया आन रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट', 1918, पृष्ठ 140-42)

इसके बाद एक संशोधनकारी कानून पारित हुआ है लेकिन आज भी कोई सामान्य सिविल मैरिज ऐक्ट नहीं है (देखें नेहरू की 'आटोबायग्राफी', पृष्ठ 451 जिसमें उन कठिनाइयों का जिक्र किया गया है जो आज भी आबादी के विभिन्न भागों के बीच कृत्रिम अवरोधों का काम करती हैं)। एक अंगरेज साम्राज्यवादी की इस टिप्पणी के साथ नेहरू के अपने वक्तव्य की तुलना की जा सकती है :

समाजसुधारक की दृष्टि से देखें तो आधुनिककाल में स्थिति बदतर हुई है क्योंकि अंगरेज लोग अब दिनोंदिन इन बुराइयों की मौन प्राचीर का काम कर रहे हैं। ऐसा अत्यंत प्रतिक्रियावादी तत्वों के साथ उनके घनिष्ठ संबंध के कारण है। (नेहरू : 'आटोबायग्राफी', पृष्ठ 382)

जवाहरलाल नेहरू ने 1936 में राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में सोवियत जनतंत्र के प्रति जो सम्मान प्रकट किया, वह ध्यान देने योग्य है :

रूस के बारे में वेब्स की नई पुस्तक में प्रस्तुत ऐतिहासिक और प्रभावकारी विवरण काफी दिलचस्प हैं कि किस प्रकार सोवियत संघ का समूचा ढांचा एक विशाल और जीवंत जनतांत्रिक बुनियाद पर आधारित है। रूस को पश्चिमी देशों के नमूने पर तैयार जनतांत्रिक देश नहीं माना जाता है फिर भी हम देखते हैं कि उस देश में जनता में जनतंत्र के बुनियादी तत्व जितनी बड़ी मात्रा में मौजूद हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वहां 6 लाख गांवों और नगरों का विशाल जनतांत्रिक संगठन है, प्रत्येक की अपनी सोवियत हैं जो निरंतर नीतियां तैयार करने के लिए आपस में बहस, विचार-विमर्श, आलोचना और एक दूसरे की सहायता करते हैं और उच्च समितियों के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। इस संगठन में 18 वर्ष से अधिक उम्र के सभी नागरिक हैं। इसके अलावा जनता का एक और विशाल संगठन है जो उत्पादन में लगा है और तीसरा इतना ही बड़ा संगठन उपभोक्ताओं का है। लाखों पुरुष और महिलाएं सार्वजनिक मामलों से संबंधित बहसों में वस्तुतः देश के प्रशासन में निरंतर हिस्सा ले रहे हैं। अभी तक इतिहास में जनतांत्रिक प्रक्रिया का इतना व्यावहारिक उपयोग नहीं देखने में आया।

अनुक्रमणी

मूल्य : 45.00

M

मैकमिलन इंडिया लिमिटेड

नई दिल्ली बंबई मद्रास पटना।